जनवरी, १९६२

जीवन साहित्य

सत्साहित्य प्रकाशन

हे राम !

वर्ष २३ : अंक १

सम्पादक
हरिभाऊ उपाध्याय
यशपाल जैन

अहिंसक नवरचना का मासिक

जीवन-साहित्य

जनवरी, १९६२

विषय-सूची

आवश्यक

जिन ग्राहकों का वार्षिक शुल्क दिसम्बर अंक से समाप्त हो गया हो, वे आगे का शुल्क मनीआर्डर से भेज देने की कृपा करें। मनीआर्डर न मिलने पर वी० पी० भेजी जाय तो उसे अवश्य छुड़ा लें।

निवेदन

पाठकों से

- इस अंक से 'जीवन-साहित्य' का २३वां वर्ष आरंभ हो रहा है। पत्र का परिवार काफी फैला हुआ है, फिर भी अधिक विस्तार की आवश्यकता है।
- अपने क्षेत्र में आप कृपया इसके प्रचार और प्रसार में सहायक हों, उसकी चर्चा अपने मित्रों और संबंधियों में करें और उन्हें ग्राहक बनने की प्रेरणा दें।
- आपके यहां की कोई भी शिक्षा-संस्था और पुस्तकालय ऐसा नहीं रहना चाहिए, जिसमें 'जीवन-साहित्य' न जाता हो।
- कुछ ऐसे व्यक्तियों तथा संस्थाओं के नाम और पते भी भेजें, जिनसे ग्राहक बनने का हम लोग अनुरोध कर सकें।

लेखकों से

- 'जीवन-साहित्य' के लिए आप समय-समय पर पत्र की नीति के अनुसार किसी लोकोपयोगी विषय पर रचना भेज सकते हैं, लेकिन रचना बड़ी न हो, कागज के एक ओर साफ़-साफ़ अक्षरों में लिखी गई हो। उसके अंत में अपना पता अवश्य दें।
- रचना की प्रतिलिपि अपने पास रक्खें। यदि रचना भेजने के महीने भर के भीतर कोई उत्तर न मिले तो उसका उपयोग अन्यत्र कर सकते हैं। अस्वीकृत होने पर रचना वापस चाहते हों, तो उसके साथ आवश्यक डाक-टिकट भेजें।

विज्ञापन-दाताओं से

- पत्र में हम लोग चुने हुए विज्ञापन देने लगे हैं। आप अपने क्षेत्र से कुछ विज्ञापन भेजने और भिजवाने की कृपा करें।
- इतना ध्यान रक्खें कि विज्ञापन गांधी-विचार-धारा के प्रतिकूल न हों।
- पत्र प्रतिमास की ६ तारीख को निकल जाता है, अतः विज्ञापन पिछले मास की २० तारीख तक आ जाना चाहिए।

व्यवस्थापक

जीवन-साहित्य

सस्ता साहित्य मंडल, नई दिल्ली।

उत्तरप्रदेश, राजस्थान, मध्यप्रदेश, हिमाचल प्रदेश, दिल्ली, बिहार तथा पंजाब राज्य-सरकारों द्वारा कालेजों, लाइब्रेरियों तथा उत्तरप्रदेश की ग्राम-पंचायतों के लिए स्वीकृत

वर्ष २३
अंक १

जनवरी, १९६२

बापू

विनोबा

वैष्णव जन तो तेने कहिये, जे पीड़ पराई जाणे रे।
परदुःखे उपकार करे तोये, मन अभिमान न आणे रे।
सकल लोकमां सहुने वंदे, निंदा न करे केनी रे।
वाच काछ मन निश्चल राखे, धन-धन जननी तेनी रे।
समदृष्टि ने तृष्णा त्यागी, पर-स्त्री जेने मात रे।
जिह्वा थकी असत्य न बोले, परधन नव झाले हाथ रे।
मोह माया व्यापे नहि जेने, दृढ़ वैराग्य जेना तनमां रे।
रामनामशुं ताली लागी, सकल तीरथ तेना मनमां रे।
वणलोभी ने कपटरहित छे, काम क्रोध निवार्या रे।
भणे नरसैयो तेनुं दरसन करतां, कुल एकोतेर तार्या रे।।

यह भजन अब तो आसेतु हिमाचल, सब जगह गाया जाता है। यह नरसिंह मेहता का भजन है, लेकिन महात्मा गांधी ने उसका प्रकाश कुल भारत में अपने आचरण से फैलाया। उन्होंने इस भजन पर अपने जीवन से ही एक भाष्य लिख डाला और हमारे लिए एक विरासत की तौर पर यह भजन वह छोड़ गये हैं।

इसमें 'वैष्णव' की जो एक व्याख्या की है, यही व्याख्या एक शैव की है, यही एक क्रिश्चियन की है, यही एक मुसलिम की, एक बौद्ध की भी यही है। एक जैन की भी यही व्याख्या है कि 'जो पीड़ पराई जाणे रे।'—दूसरे की पीड़ा, दर्द जिसके हृदय में प्रकट होता है, प्रतिबिम्बित होता है, बल्कि और अधिक तीव्र बन जाता है; जिसको अपना दुःख तो बर्दाश्त होता है, सहन कर लेता है, लेकिन दूसरे का दुःख सहन नहीं होता। इसलिए दूसरे के दुःख से द्रवित होकर कुछ उपकार करता है।

मैंने बहुत दफा कहा है, आज भी कहता हूं कि यह 'उपकार' शब्द बहुत सुन्दर है। आज उसमें अहंकार की छटा आ गई है, लेकिन मूल में बहुत ही नम्र शब्द है। इसका अर्थ होता है, काया-वाचा-मन से दूसरे को मदद पहुंचाना, उसका संकट निवारण करना। अल्प-सा उपकार करेंगे यानी मर मिटेंगे, फिर भी गौण मदद होगी। मुख्य कार्य तो भगवान ही

करेगा। हम थोड़ी-सी सेवा करेंगे। उप यानी अल्प, कार्य यानी मदद।

थोड़ी-सी मदद उसे देंगे और उसका भी चित्त पर अहंकार चढ़ सकता है; इसलिए नरसिंह मेहता ने लक्ष्य बता दिया कि **"परदुःखे उपकार करे तो ये, मन अभिमान न आणे रे"**—दूसरे के दुःख की वेदना मन में प्रतिबिम्बित होना, उस वास्ते मदद को दौड़ना, जो भी मदद की वह अल्प है ऐसा मानना, उसका भी अहंकार न मानना, ऐसा पूर्ण लक्षण बताया है। ठीक यही लक्षण, भक्त के लिए भगवान् ने गीता में बताया है: **"अद्वेष्टा सर्वभूतानाम् मैत्रः करुण एव च, निर्ममो निरहंकारः।"** यह भक्त का लक्षण जो गीता में आया है, वही नरसिंह मेहता अपने पद्य में देता है और गांधीजी के जीवन में हमने वही चीज देखी है। बहुत ही पवित्र जीवन उनका है। उनका बार-बार स्मरण होता है तो आंखें गीली होती हैं। धन्य हैं हम जिनको उनके साथ काम करने का मौका मिला, उनकी सेवा करने का मौका मिला।

भगवान् शंकराचार्य ने तीन परम भाग्य बताये हैं: **"मनुष्यत्वम् मुमुक्षुत्वम् महापुरुष संश्रयः।"** यानी मानव-जन्म मिले, यह बहुत ही बड़ा भाग्य है। अनेक जन्मों के परिश्रम के बाद यह मिला है, यह पहला भाग्य हुआ। दूसरा, मुमुक्षुत्वम् यानी मोक्ष की इच्छा हो, बंधन तोड़ने की इच्छा हो, छटपटाहट हो कि यह मोहपाश का बंधन कब टूटेगा, तो यह दूसरा भाग्य। तीसरा भाग्य है, महापुरुष का आश्रय मिले, उसकी छाया में रहने का, बातचीत का, सेवा का, साथ रहने का और दर्शन का मौका मिले। परम भाग्य है यह।

कुछ लोग कहते हैं कि बड़ों के पास रहनेवाले छोटे बनते हैं, जैसे किसी बड़े पेड़ की छाया में दूसरा पौधा बढ़ता नहीं है, उसकी प्रगति कुंठित होती है। वह बढ़ता नहीं है, इसलिए दूर रहना चाहिए। दूर से लाभ होता है, नहीं तो वह पराधीन, परतंत्र होते हैं। यह उन बड़े पुरुषों पर लागू होता है, जो बड़े होते हुए भी स्वार्थी होते हैं, जैसे बड़ा पेड़ सारा पोषण, जो हवा से और धूप से मिलता है, वह चूस लेता है। इसलिए उसकी छाया में जो पौधा है, वह बढ़ता नहीं है। तो बड़ा पेड़ स्वार्थी हो गया। बड़े पुरुष अलग हैं, महापुरुष अलग हैं। बड़ों की छाया में रहने से विचार कुंठित होते हैं। लेकिन महान पुरुष गाय के समान वत्सल होते हैं। गाय बछड़े को दूध देती है, खुद क्षीण होती है; लेकिन बछड़े को बढ़ाती है।

महान पुरुष की संगत में छोटे बड़े बनते हैं, छोटे सच्चे बनते हैं। भर्तृहरि ने कहा है:

"वे बड़े-बड़े पहाड़ हिमालय, मेरु क्या उनकी महिमा है कि उनके आश्रय में जो पेड़ रहे, वे वैसे ही रह गये! हम तो मलय पर्वत की महिमा गाते हैं, जहां सामान्य पेड़ भी चंदन का पेड़ बनता है। तो यह महिमा मलय पर्वत की है। हिमालय मेरु महान् से भी महान् है, लेकिन दूसरे को महान् नहीं बनाता है, लेकिन मलय की छाया में जो पेड़ रहते हैं, वे चंदन के बन जाते हैं।"

यही महापुरुष का लक्षण है कि उनके आश्रय में रहनेवाले छोटे बड़े होते हैं, महान् होते हैं, जो गांधीजी के जीवन में हुआ। उनके जीवन में अनेक छोटे-छोटे लोगों का उदय हुआ और वे बड़े हुए।

पाकिस्तान की बागडोर अपने हाथ में रखने की ज़रूरत कायदे आजम जिन्ना को महसूस हुई। उसमें उनका स्वार्थ भी था ऐसा नहीं। वे जानते थे कि अगर वह अपने हाथ में बागडोर नहीं रखेंगे, दूसरे के हाथ में बागडोर जायगी तो पाकिस्तान इतना सुरक्षित नहीं रहेगा। उनके आश्रय में आये हुए पेड़ चंदन नहीं हुए थे। उनकी विकास-शक्ति कुंठित हुई। लेकिन महात्मा गांधी को इसकी जरूरत महसूस नहीं हुई और जब देश स्वतंत्र हुआ वह नोआखाली में गये। उन्होंने छोटे-छोटे लोगों को बहुत बड़ा बना दिया। ऐसे महान का चित्र इस भजन में मिलता है।

सहिष्णुता

●● श्रीमाताजी

सहिष्णुता तुम्हारा आदर्श मंत्र हो: अपनी अंतःस्थ प्राणशक्ति—अपने प्राणमय पुरुष—को सिखाओ कि वह शिकायत न करे, बल्कि महान् सिद्धि के लिए आवश्यक सभी अवस्थाओं को सहन करे। शरीर अत्यन्त सहिष्णु सेवक है, यह परिस्थिति के दबाव को, भारवाही पशु की भांति, चुपचाप सहता है। जो बराबर बुड़बुड़ाता और बेचैन रहता है वह तो प्राणमय पुरुष ही है। यह शरीर को जिस दासता और यंत्रणा में जकड़े रखता है, उसका कुछ हद-हिसाब नहीं। कैसे यह बेचारे शरीर को अपनी मनमौज और उमंग-तरंग के अनुसार तोड़ता, मोड़ता है, और बिगाड़ता रहता है, उससे ऐसी अनुचित मांग करता है कि प्रत्येक चीज मेरी सनक के अनुसार ही होनी चाहिए। परंतु सहिष्णुता का असली मर्म ही यह है कि प्राण को अपनी ओछी रुचि-अरुचियों का त्यागकर अत्यंत विकट परिस्थिति में भी समता कायम रखना सीखना चाहिए। जब कोई तुमसे रूखा व्यवहार करे या जब तुम्हारे पास अपनी बेचैनी दूर करने का कोई साधन न हो तब भी तुम्हें घबड़ाना नहीं चाहिए, बल्कि प्रसन्न बने रहना चाहिए। कोई भी चीज तुम्हें लेश-मात्र भी व्याकुल न कर सके। जब कभी प्राण अपने तुच्छ दुःखों को खूब बढ़ा-चढ़ाकर सुनाना शुरू करे तब जरा रुककर सोच तो लो कि इस संसार में बहुत-से लोगों की अपेक्षा तुम कितने अधिक सुखी हो। क्षणभर सोचो तो सही कि गत युद्ध में जिन सैनिकों ने भाग लिया, उन्हें कैसी-कैसी विपत्तियों में से गुजरना पड़ा। यदि तुम्हें वैसी कठिनाइयां झेलनी पड़तीं तो तुम अपनी शिकायतों की निपट मूर्खता समझ जाते। तो भी मैं नहीं चाहती कि तुम कठिनाइयां मोल लेते फिरो—मेरा मतलब यही है कि तुम्हें अपने जीवन के छोटे-मोटे, निरर्थक दुःखों को सहना सीखना चाहिए।

सहिष्णुता के बिना कभी भी कोई महान् कार्य सिद्ध नहीं होता। यदि तुम महापुरुषों के जीवन-चरित्र पढ़ो तो तुम देखोगे कि कैसे वे प्राण की दुर्बलताओं के सामने चट्टान की तरह अटल रहे। आज भी हमारी सभ्यता का सच्चा मर्म यही है कि हम प्राण में सहनशीलता के द्वारा शरीर पर प्रभुत्व प्राप्त करें। यह प्रत्यक्ष ही है कि जीवन के सभी क्षेत्रों में प्रफुल्लता और साहस के साथ तथा निधड़क होकर कठिनाइयों का सामना करने की आवश्यकता होती है। ये सभी गुण सहिष्णुता के इस आदर्श के अंग हैं। भौतिक विज्ञान की उन्नति भी अनगिनत कठिन कसौटियों एवं परीक्षाओं पर निर्भर करती हैं और सफलता की प्राप्ति के पूर्व उनमें से गुजरना आवश्यक होता है। निःसंदेह, इस आश्रम में जैसा गुरुतर कार्य हमने अपने ऊपर लिया है, उसमें भी हमें सहिष्णुता की कुछ कम आवश्यकता नहीं है। तुम्हें करना यह चाहिए कि ज्योंही प्राण विरोध करे त्योंही उसकी खूब खबर लो, क्योंकि जब शरीर का कोई मामला हो तो कुछ सोच-समझकर तथा सावधानी से बरताव करना उचित हैं, परंतु प्राण के संबंध में कठोर 'दण्ड' ही एकमात्र उपाय है। प्राण ने शिकायत की नहीं कि उसका घोर विरोध करो, क्योंकि जो क्षुद्र चेतना प्रकाश और सत्य की याचना करने के बजाय ऐश-आराम और सामाजिक सुख-सुविधाओं को इतना अधिक महत्व देती है, उससे मुक्त होने का और कोई तरीका नहीं।

प्राण की एक अत्यंत सर्वसाधारण मांग प्रशंसा की प्राप्ति होती है। यदि इसकी निन्दा की जाय और इसके साथ ऐसा बर्ताव किया जाय मानो यह एक तुच्छ वस्तु हो तो वह इसे बुरा लगता है। परंतु इसे डांट-फटकार के लिए बराबर तैयार रहना होगा और पूर्ण शांति से सहना होगा; इसे अपनी प्रतिष्ठा की ओर ध्यान नहीं देना चाहिए, यह कभी नहीं भूलना चाहिए कि कामना-पूर्ति की एक-एक चेष्टा 'असत्य के अधिपतियों की वेदी पर चढ़ावा चढ़ाने के बराबर है। प्राण-शक्ति के सूक्ष्म लोक की सत्ताएं, जिनसे हमारा प्राण संबद्ध है, अपने भक्तों की पूजा पर जीती और फलती-फूलती हैं, इसीलिए वे नये मतमतांतरों की प्रेरणा संचारित करती रहती हैं ताकि उनकी पूजा-प्रतिष्ठा और स्तुति के महाभोज कभी समाप्त न होने पावें। उसी प्रकार तुम्हारा अपना प्राणमय पुरुष तथा उसकी मूलवर्ती प्राण-शक्तियां दूसरों की की हुई चापलूसियों से पल-पुसकर पनपती हैं—

अर्थात्, और भी अधिक स्थूल अज्ञान में ग्रस्त हो जाती हैं। परंतु तुम्हें स्मरण रखना चाहिए कि हमारे समान अज्ञान के स्तर पर रहनेवाले मनुष्य हमारी जो स्तुति करते हैं, वह असल में कौड़ी काम की नहीं, वह उतनी ही निरर्थक है जितनी ऐसे आदमियों की की हुई हमारी निंदा। ऐसे लोग चाहे कितने ही आडंबरशाली क्यों न हों पर उनकी की हुई निंदा-स्तुति वृथा एवं निःसार होती है। तथापि दुर्भाग्यवश, प्राण अत्यंत गले-सड़े भोजन के लिए भी तरसता है और इतना लोभी होता है कि अयोग्यता के साक्षात् अवतारों से भी प्रशंसा-पत्र स्वीकार कर लेता है। यहां मुझे पेरिस की कला-प्रदर्शनी के उद्घाटन के वार्षिक समारोह का स्मरण हो आता है। उस अवसर पर वहां का राष्ट्रपति चित्रों का निरीक्षण करता है, जोर-जोर से बोलकर बताता है कि अमुक चित्र किसी दृश्य का है और अमुक किसी प्राणी का, वह इतनी लचर टिप्पणी ऐसे हाव-भाव से करता है मानों उसे चित्रकला का अत्यंत प्रगाढ़ मर्मस्पर्शी ज्ञान हो। चित्रकारों को खूब पता होता है कि यह टिप्पणी कैसी बेकार है और फिर भी वे राष्ट्रपति की साक्षी को अपनी प्रतिभा के प्रमाण-स्वरूप उद्धृत करने का मौका कभी नहीं चूकते। सचमुच ही, यश का ऐसा भूखा, लालची है मनुष्य का प्राण। परंतु जो चीज वास्तव में अमूल्य है, वह सत्यदर्शियों की सम्मति है। जब कोई व्यक्ति भागवत सत्य से संबंध प्राप्त कर लेता है और उसे प्रकट कर लेता है तो उसकी दी हुई सम्मति स्तुति या निंदा मात्र नहीं होती, वह होता है तुम्हारे संबंध में भगवान् का विचार, तुम्हारे गुणों का भगवान् द्वारा मूल्यांकन, तुम्हारे पुरुषार्थ पर भगवान् की अचूक मुहर छाप। तुम्हारी बस यही मनोकामना होनी चाहिए कि मैं सत्य के शब्द के सिवा और किसी चीज का मान न करूं; अपने मान-दंड को इस प्रकार ऊंचा करने के लिए तुम्हें अपने अंदर अग्नि प्रज्वलित करनी होगी, वह अग्नि जो रूपांतर के लिए आत्मा में धधकती हुई ज्वाला है। यह ध्यान देने की बात है कि जब अग्नि भड़क उठती है तब कैसे तुममें उन सस्ती प्रशंसाओं के प्रति एकदम घृणा पैदा हो जाती है, जो तुम्हें पहले इतना हर्षित करती है और कैसे साफ़-साफ़ तुम यह समझने लगते हो कि तुम्हारी प्रशंसा की चाह अरूपांतरित प्रकृति की निम्न चेष्टामात्र थी। अग्नि तुम्हें तुम्हारी वर्तमान त्रुटियों का तीव्र भान करके स्पष्ट दिखा देती है कि तुम्हारे सामने संभाव्य उन्नति का कैसा विशाल क्षेत्र खुला पड़ा है। दूसरे लोग सहस्र मुख से तुम्हारे जो गीत गाते थे उनके प्रति तुम्हें ऐसा वैराग्य हो जाता है कि उन प्रशंसकों के विरुद्ध तुममें तीव्र रोष का-सा भाव पैदा होता है जिन्हें तुम पहले कभी अपने मित्र मानते थे। इसके विपरीत, सब प्रकार की निंदा एवं आलोचना को अब तुम सत्य की ओर अपनी नम्र अभीप्सा के लिए आहुति समझकर उसका स्वागत-सत्कार करते हो। अब यदि दूसरे तुमसे वैर-विरोध करते हैं तो उससे तुम्हारे अंदर खेद व अपमान का भाव पैदा नहीं होता। कारण, कम-से-कम, अब तुम अत्यंत सुगमता से उसकी उपेक्षा कर सकते हो; अधिक-से-अधिक तुम उसे अपनी वर्तमान दशा का एक और प्रमाण समझते हो, जो तुम्हें उकसाता है कि भगवान् के प्रति समर्पण करके अपनी हीन अवस्था से ऊपर उठ जाओ।

अग्नि के प्रभाव के कारण तुम्हारे प्राण के रूपांतर का एक और अपूर्व क्षण यह होता है कि तुम अपनी कठिनाइयों और बाधाओं का मुस्कराते हुए सामना करने लगते हो। अब यदि तुम किसी क्षण सोलहों आने खरे नहीं उतरते तो तुम पहले की तरह अपनी भूलों पर पछताते हुए और अत्यंत उदास होकर शोक से मूर्च्छित नहीं हो जाते। तुम केवल मुस्कराकर उदासी को दूर खदेड़ देते हो। सैकड़ों भूलें हो जाने पर भी तुम उनकी कुछ परवा नहीं करते; मुसकराते हुए तुम उन्हें पहचानते हो कि तुमने भूलें की हैं और मुसकराते हुए ही तुम संकल्प करते हो कि ऐसी मूर्खता कभी नहीं करूंगा। सब प्रकार की उदासी और निराशा का कारण होती हैं विरोधी शक्तियां। वे तुमपर उदासी का पर्दा डालकर जितनी प्रसन्न होती हैं उतनी और कभी नहीं। निःसंदेह नम्रता एक और चीज है और उदासी बिल्कुल दूसरी चीज, पहली तो है दिव्य गति और दूसरी अंधकारमय शक्तियों की अत्यंत असंस्कृत अभिव्यक्ति। अतएव, अपने कष्टों का सहर्ष सामना करो, रूपांतर के मार्ग को घेरनेवाली विघ्न-बाधाओं का निर्विकार प्रसन्नता से मुकाबला करो। शत्रु के भगाने का सर्वोत्तम साधन है उसके मुंह पर हँस देना। तुम शायद दिनों तक उसके साथ मुठभेड़ और संघर्ष करते रहो और फिर भी कदाचित् उसका साहस क्षीण न

हो; किन्तु जरा एक बार उस पर हँसकर देख तो लो! वह उलटे पांव भाग खड़ा होता है। आत्मविश्वास और ईश्वर-विश्वास से भरी हुई हँसी शत्रु को बिलकुल चकनाचूर कर देनेवाली बड़ी-से-बड़ी शक्ति है—इससे शत्रु के नायकों का हौसला टूट जाता है, सेना में आतंक छा जाता है और तुम्हारी विजय का पथ प्रशस्त हो जाता है और तुम सफलतापूर्वक बढ़े चले जाते हो।

रूपांतरित प्राण को उपलब्धि के मार्ग में भी हर्ष अनुभव होता है। इस मार्ग की सभी अनिवार्य कठिनाइयों को वह सहर्ष स्वीकार करता है। जब उसके सामने सत्य प्रकट कर दिया जाता है और उसकी निम्न प्रकृति में होनेवाली असत्य की क्रीड़ा उसे साफ-साफ दिखा दी जाती है तब उसके हर्ष का पारावार नहीं रहता। वह योग को भार समझकर नहीं, बल्कि अत्यंत आनंददायक कार्य के रूप में करता है। रूपांतर के लिए अधिक-से-अधिक जो कुछ भी आवश्यक हो उस सबको वह हँसते-हँसते सहने को उद्यत होता है। वह न तो शिकायत करता है और न बुड़बुड़ाता है, बल्कि आनंदपूर्वक सहता है क्योंकि यह सब-कुछ वह भगवान् के लिए कर रहा होता है। उसे ध्रुवविश्वास होता है कि विजय होकर रहेगी। वह अपने इस विश्वास से कभी क्षणभर के लिए भी डांवाडोल नहीं होता कि श्री अरविन्द ने रूपांतर के जिस गुरुतर कार्य का बीड़ा उठाया है, वह पूरा होकर रहेगा। यह तो एक असंदिग्ध तथ्य है, इसमें लेशमात्र भी संशय नहीं कि जो कार्य हमने अपने हाथ में लिया है, वह फलीभूत होगा। हम अतिमानस का परीक्षणमात्र नहीं कर रहे बल्कि उसकी अनिवार्य अभिव्यक्ति साधित कर रहे हैं। रूपांतरित प्राण को भावी विजय का पहले से ही ज्ञान होता है, वह प्रगति के लिए ऐसा दृढ़ संकल्प बनाये रखता है, जो कभी पीछे मुड़कर नहीं देखता, वह अपने-आपको शक्ति से परिपूर्ण अनुभव करता है, और वह शक्ति पैदा होती है भगवान् की विजय में विश्वास से। वह जानता है कि भगवान् उसके अंदर सदा विराजमान रहकर जो आवश्यक है वह सब-कुछ कर रहे हैं और उसे अपने शत्रुओं का सामना करने तथा अंत में उन्हें परास्त करने के लिए अजेय बल से भर रहे हैं। वह भला निराश क्योंकर हो और क्यों वह अपने दुःख का रोना रोवे? रूपांतर तो होकर ही रहेगा। कोई भी चीज उसे कभी रोक नहीं सकती, सर्वशक्तिमान् का विधान टाले नहीं टलेगा। इसलिए सब प्रकार के भय, संशय और दुर्बलता को दूर भगाकर वीरतापूर्वक निरंतर सहते रहने का संकल्प करो, अंत में वह महान् दिन आ पहुंचेगा जब लंबा संग्राम स्थायी विजय में परिणत हो जायगा।

●

दीप जले, तिमिर ढले

●● कृष्णगोपाल शर्मा

दीप जले, तिमिर ढले।
जिंदगी में एक नया प्रकाश हो।
आगे बढ़ते रहने में विश्वास हो॥
कांटों की राह में भी बढ़ते चले।
सुहानी प्यार की जगी यह जोत है।
अविवेक अंधकार की तो मौत है॥
प्यार बढ़े, द्वेष मिटे!
दीप जो तूफान से भी अड़ गया।
उत्साह वर्त्तिका में नया बढ़ गया॥
मंद-मंद ज्योति से दीप यह सदा जले
दीप जले, तिमिर ढले।

●

हमारी धरोहर

●● सुशील

(१)

प्राचीनकाल में दो मुनि भरद्वाज और रैभ्य वन में पास-पास आश्रम बनाकर रहते थे। दोनों परम मित्र थे। रैभ्य के दो पुत्र परावसु और अर्वावसु बड़े विद्वान् थे। उनका यश चारों ओर फैला हुआ था, लेकिन भरद्वाज का पुत्र यवक्रीत नितांत मूर्ख था। वह देखा करता था कि ब्राह्मण लोग रैभ्य मुनि का जितना आदर करते हैं उतना मेरे पिता का नहीं करते। यह देखकर उसके मन में बड़ी जलन पैदा हुई और ईर्ष्या के कारण उसका शरीर जलने लगा। अपनी अविद्या को दूर करने के लिए उसने देवराज इंद्र की तपस्या आरंभ की। अपने शरीर को आग में खूब तपाया और खूब अपनेको यातना दी। धीरे-धीरे उसकी तपस्या बहुत कठोर हो उठी। देवराज बहुत दुखी हुए और उन्हें यवक्रीत पर दया आई। धरती पर आकर उन्होंने यवक्रीत से पूछा, "तुम इतना कठोर तप क्यों कर रहे हो?"

यवक्रीत ने कहा, "मैं संपूर्ण वेदों का ज्ञान पाना चाहता हूं—ऐसा ज्ञान जो आजतक किसीको न मिला हो। गुरु के यहां रहकर सीखने में बड़ी कठिनाई है। एक-एक छंद को बार-बार रटना पड़ता है। मैं चाहता हूं कि बिना गुरु के मुख से सीखे ही पंडित बन जाऊं।"

इंद्र हँसकर बोले, "ब्राह्मण कुमार तुम उल्टे रास्ते पर जा रहे हो। अच्छा यही है कि किसी योग्य आचार्य के पास जाकर परिश्रम से वेदों का अध्ययन करो। बिना पढ़े ज्ञान नहीं पाया जा सकता।"

इंद्र चले गए लेकिन यवक्रीत ने उनका कहना नहीं माना। तपस्या और कठोर कर दी। देवताओं को और कष्ट होने लगा। देवराज फिर धरती पर आये। बोले, "मुनि कुमार, शरीर को क्यों व्यर्थ कष्ट दे रहे हो। हठ करना ठीक नहीं है। तुम्हारे पिता वेदों के पंडित हैं, उनसे ज्ञान प्राप्त करो। वेद सीखकर पंडित बनो।" लेकिन यवक्रीत नहीं माना। बोला, "यदि आप मेरी इच्छा पूरी नहीं करेंगे तो मैं अपने शरीर का एक-एक अंग काटकर आग में डाल दूंगा।"

इंद्र ने फिर भी उसकी इच्छा पूरी नहीं की और यवक्रीत की तपस्या चलती रही। एक दिन जब वह गंगा-स्नान के लिए जा रहा था कि उसने देखा कि गंगा के किनारे बैठा हुआ एक बूढ़ा मुट्ठी भर-भरकर बालू बहती धारा में फेंक रहा है। उसे बड़ा अचरज हुआ। पूछा, "बूढ़े बाबा, यह क्या कर रहे हो?"

बूढ़े ने उत्तर दिया, "तुम नहीं जानते। उस पार जाने के के लिए लोगों को बड़ा कष्ट होता है। सोचता हूं कि रेत डालकर उस पार तक एक बांध बना दूं, जिससे लोग आसानी से आ-जा सकें।

यह सुनकर यवक्रीत बड़े जोर से हँसा। बोला, "बूढ़े बाबा, कैसी बातें करते हो। भला कहीं बहती धारा में रेत डालकर बांध बांधा जा सकता है? तुम्हारा यह परिश्रम बेकार ही नहीं, मूर्खतापूर्ण भी है। कुछ और काम करो।"

बूढ़े ने उत्तर दिया, "भला मेरा परिश्रम बेकार क्यों जायेगा। आप अपनेको भी तो देखिये। बिना गुरु से शिक्षा पाये आप वेदों का ज्ञान पाने के लिए तप कर रहे हैं। यदि आप इस तरह वेदों का ज्ञान पा सकते हैं तो मैं क्यों नहीं बाँध बांध सकता?"

यवक्रीत की आंखें खुल गई। सब-कुछ स्पष्ट हो गया। जैसे ज्ञान के कपाट खुल गये हों। उसने बूढ़े को पहचान लिया। विनम्र स्वर में बोला, "देवराज! अगर मेरी तपस्या व्यर्थ है तो फिर मुझे एक वर दीजिये।"

इंद्र बोले, "मांगों, क्या मांगते हो!"

यवक्रीत ने कहा, "आपकी कृपा से मैं वेदों का परम पंडित बनना चाहता हूं।"

इंद्र बोले, "तथास्तु। अभी से जाकर वेदों का अध्ययन शुरू कर दो। एक दिन तुम बहुत बड़े विद्वान् बनोगे।

वर पाकर यवक्रीत आश्रम लौट आया और मन लगाकर वेदों का अध्ययन करने लगा। शीघ्र ही वह भारी विद्वान् हो गया, लेकिन साथ-साथ उसे घमंड भी कम नहीं हुआ। उसके पिता भरद्वाज ने उसे बहुत समझाया कि घमंड के कारण शीघ्र ही विनाश हो जाता है।

लेकिन यवक्रीत की समझ में कुछ नहीं आया। एक

दिन उसने परावसु की सुन्दर पत्नी को देखा। उसके मन में कुवासना जाग उठी और धोखा देकर उसने उस अबला के साथ दुराचार किया।

आश्रम में लौटने पर रैभ्य मुनि को यह समाचार मिला। वह अतिशय क्रुद्ध हो उठे और अपने तप के बल से उन्होंने तुरंत दो पिशाचों को पैदा किया। एक परम सुन्दरी कन्या के रूप में था और दूसरा एक दैत्य के रूप में। मुनि ने दोनों को आज्ञा दी—जाकर यवक्रीत को मार डालो।

दोनों यवक्रीत के पास पहुंचे। सुन्दरी कन्या ने हाव-भाव से उसका मन मोह लिया और अवसर पाकर उसका कमंडल लेकर खिसक गई। उस समय पिशाच भाला लेकर यवक्रीत पर झपटा। यवक्रीत हड़बड़ा उठा। इधर-उधर देखा, कमण्डल गायब था। पानी न हो तो वह शाप कैसे दे सकता था। वह तालाब की ओर भागा। तालाब सूखा पड़ा था। झरना भी सूखा था। नदी भी सूखी थी। और पिशाच भाला ताने पीछे-पीछे आ रहा था। अंत में बेचारा पिता की यज्ञशाला में घुसने लगा। वहां का द्वार-पाल काना था। वह भयातुर यवक्रीत को पहचान न सका और उसने उसे अंदर जाने से रोक दिया। इसी समय पिशाच वहां पहुंच गया और उसने तुरंत भाले से यवक्रीत को मार डाला।

घमण्ड के कारण यवक्रीत ने जो पाप किया था, उसीका फल उसे मिला। इतना ही नहीं पुत्र को मरा देखकर भरद्वाज भी होश खो बैठे। उन्होंने रैभ्य मुनि को शाप दे डाला—तुम्हारी मृत्यु तुम्हारे अपने पुत्र के हाथ से होगी।

लेकिन जब होश आया तो बहुत दुःख हुआ। इतना दुःख कि वह पुत्र की चिता में जल मरे।

यवक्रीत की मूर्खता और घमंड ने सत्यानाश कर डाला।

(२)

रैभ्य मुनि के शिष्य राजा बृहद्युम्न थे। एक बार उन्होंने एक बहुत बड़ा यज्ञ करने का विचार किया। उन्होंने रैभ्य मुनि से प्रार्थना की वह यज्ञ करानेके लिए अपने दोनों पुत्रों को भेज दें। मुनि को क्या आपत्ति हो सकती थी। बस पिता की आज्ञा पाकर परावसु और अर्वावसु राजा के पास पहुंच गए। यज्ञ की तैयारियां होने लगीं। काफी दिन बीत जाने पर एक दिन परावसु के मन में आया—क्यों न मैं अपनी पत्नी से मिल आऊं। यज्ञ में तो अभी बहुत दिन हैं। बस यह सोच-कर वह चल पड़े। रातभर चलते रहे। प्रातःकाल जब धरती पर उषा का आगमन हुआ तो वह आश्रम में आ पहुंचे। आश्रम के पास एक झाड़ी थी। परावसु ने देखा वहां एक हिंसक पशु-सा कुछ मालूम होता है। उन्हें डर लगा और वह उसपर हथियार चला बैठे। लेकिन जब पास पहुंचे तो देखा कि वह तो उनके पिता रैभ्य मुनि थे। उन्होंने हिंसक पशु की खाल ओढ़ी हुई थी और उनके प्राण निकल चुके थे।

परावसु को बहुत दुःख हुआ। लेकिन भरद्वाज के शाप के कारण उनके पिता की मृत्यु इसी प्रकार होनी थी। यह सोच कर उन्होंने संतोष कर लिया। उसके बाद पिता का दाह-संस्कार किया और राजा बृहद्युम्न के पास लौट गए। अपने भाई अर्वावसु से उन्होंने सब हाल कहा और बोले, "मेरे इस पाप के कारण यज्ञ के काम में बाधा नहीं पड़नी चाहिए। मैं अकेला यज्ञ का काम चला लूंगा। तुम मेरे स्थान पर जाकर इस ब्रह्म-हत्या का प्रायश्चित्त कर आओ। शास्त्रों में लिखा है कि अनजाने की गई हत्या का प्रायश्चित्त हो सकता है। तुम अकेले यज्ञ का काम नहीं कर सकोगे, इसलिए मेरा जाना ठीक न होगा। तुम ही मेरे बदले व्रत रखो और प्रायश्चित्त पूरा करके लौट आओ।"

अर्वावसु बड़े धर्मात्मा थे। बड़े भाई की बात सुनकर वह बोले, "ठीक है, आप राजा का यज्ञ कराइये। सचमुच मैं अकेले यह काम नहीं संभाल सकूंगा। आपके स्थान पर ब्रह्म-हत्या का प्रायश्चित्त मैं करूंगा और जब व्रत समाप्त हो जायगा तो लौट आऊंगा।"

इतना कहकर अर्वावसु वहां से चले गए और विधि के अनुसार व्रत धारण करते हुए उन्होंने भाई की ब्रह्महत्या का प्रायश्चित्त पूरा किया। जब व्रत समाप्त हो गया तो वह यज्ञशाला में लौट आये। लेकिन परावसु ने अपने पिता की हत्या स्वयं की थी और उसका प्रायश्चित्त किया था अर्वावसु ने, इसलिए ब्रह्महत्या का दोष धुल नहीं सका। इसका परिणाम यह हुआ कि उनका मन अशान्त हो उठा। उन्हें बुरे-बुरे विचारों ने घेर लिया। जिस समय उन्होंने अर्वावसु को आते हुए देखा, तो उनका मन जल उठा। अर्वावसु के मुखमण्डल पर विशुद्ध ब्रह्म तेज की आभा फूटी पड़ती थी। परावसु ने उनके सामने अपने को बहुत ही छोटा अनुभव

किया। मनुष्य जब छोटा हो जाता है, तो वह बुरे-से-बुरा काम करने में भी नहीं हिचकता। परावसु अपने आज्ञाकारी छोटे भाई को अपमानित करने के लिए उद्यत हो उठे। उन्होंने चिल्लाकर राजा बृहद्युम्न से कहा, "अर्वावसु हत्यारा है। इसने ब्रह्म हत्या की है। यह इस पवित्र यज्ञशाला में कैसे प्रवेश कर रहा है।"

यह सुनकर राजा ने अपने सेवकों से कहा, "इस अर्वावसु को यज्ञशाला से बाहर निकाल दो।"

अर्वावसु हतप्रभ हो उठे। किसी तरह अपने को संभालकर उन्होंने विनम्र स्वर में राजा से कहा, "राजन्! मैं सच कहता हूं कि मैंने ब्रह्म-हत्या नहीं की। वास्तव में ब्रह्म-हत्या मेरे भाई परावसु ने की है। चूंकि मैं यज्ञ का भार अकेला नहीं संभाल सकता था, इसलिए मैंने उनकी ओर से प्रायश्चित्त किया है।"

लेकिन अर्वावसु की इस बात पर किसीने यकीन नहीं किया। भला कोई दूसरे के लिए प्रायश्चित्त क्यों करेगा। और उन्हें अपमानित करके यज्ञशाला से निकाल दिया गया। लोग तरह-तरह की बातें कहने लगे, "देखो तो कैसा अंधेर है। पहले तो ब्रह्म-हत्या की! उसका प्रायश्चित्त भी किया और फिर दोष लगाने लगे अपने भाई पर।"

धर्मात्मा अर्वावसु का हृदय हाहाकार कर उठा। चुपचाप यज्ञशाला से निकलकर वह गहन वन में चले गए और वहां उन्होंने घोर तपस्या आरंभ की। जब उनका तप बहुत कठोर हो उठा तो, देवताओं को बड़ा क्लेश हुआ, वे धरती पर आये और अर्वावसु से पूछा, "महात्मन्! आप किस कामना के लिए इतना कठोर तप कर रहे हैं?"

अर्वावसु जब अपमानित होकर यज्ञशाला से निकले थे तो, उनको अपने भाई पर बहुत क्रोध हो आया था। उनसे बदला लेने के लिए ही उन्होंने इतना कठोर तप किया था, लेकिन इस कठोर तप और साधना ने उनके मन को निर्मल कर दिया। उन्होंने देवताओं से प्रार्थना की, "मेरे भाई परावसु का सब दोष दूर हो जाय और मेरे पिता रैम्य फिर जीवित हो उठें।"

देवताओं ने प्रसन्न होकर कहा, "ऐसा ही होगा।"

अर्वावसु और परावसु दोनों एक पिता के पुत्र थे। एक महान् पिता के पुत्र। दोनों ने उन्हींसे विद्या प्राप्त की थी। लेकिन केवल विद्या से ही मनुष्य बड़ा नहीं होता। विद्या के साथ विनय भी चाहिए। भलाई को ग्रहण करने के लिए और बुराई से दूर रहने के लिए भले और बुरे का भेद समझना आवश्यक है। लेकिन यह ज्ञान विचारों में इस तरह से समा जाना चाहिए कि उसके कामों पर उसका कोई प्रभाव न पड़े। ऐसा होने पर ही विद्या विनय का रूप लेती है। ज्ञान गुण की जगह नहीं ले सकता। वह केवल जानकारी भर देता है। जैसे मनुष्य शरीर पर वस्त्र धारण करता है, लेकिन वस्त्र ही तो मनुष्य नहीं है। मनुष्य तो शील है, विनय है। तभी तो कहा है, "विद्या विनयेन शोभते।"

स्नेहावतार मालवीयजी

एक दिन पुत्रवधू विद्या भोजन बना रही थी और मालवीयजी भोजन कर रहे थे। विद्याजी अच्छी रसोई बनाती थीं, परन्तु उस दिन किसी असावधानी से दाल में नमक थोड़ा अधिक हो गया। मालवीयजी कुछ नहीं बोले, क्योंकि पास ही उनकी पत्नी कुन्दनदेवी बैठी थीं। मालवीयजी की सेवा में तनिक भी त्रुटि उन्हें असह्य थी। उन्हें पता चल जाता तो पुत्रवधू की खैर नहीं थी। तो अब क्या हो... कि सहसा कुन्दनदेवी की आंख किसी काम से दूसरी तरफ गई और मालवीयजी ने तुरन्त थोड़ा-सा जल दाल में मिला लिया। केवल पुत्रवधू विद्या ही उस दृश्य को देख रही थी। श्वशुर के इस स्नेह पर उनकी आंखों से आंसू बहने लगे।

ऐसी अगणित घटनाएं इस महापुरुष के जीवन में भरी पड़ी हैं। इसलिए सारे भारत ने गत मास उनकी सौवीं जन्म शताब्दी बड़े गर्व से मनाई थी।

बरदाश्त

●● महात्मा भगवानदीन

पिछले लेख 'गोपन' में हम जो-कुछ कह आये हैं, वे ऐसी बातें हैं, जिनकी सिद्धि हो जानेपर बरदाश्त एकदम खिल उठती है, यानी सहनशीलता या सहिष्णुता पराकाष्ठा को पहुंच जाती है। बरदाश्त के लिए कोशिश करने की जरूरत नहीं होती। कोशिश करने से बरदाश्त आती भी नहीं। यह किसे नहीं मालूम कि एक डाकू हँसते-हँसते फांसी पर लटक सकता है। एक चोर इतनी मार सह सकता है कि उसके प्राण निकल जायं, फिर भी वह अपने साथी का नाम नहीं बतायेगा। पर ऐसे पक्के डाकू और चोर भूख-प्यास से घबरा उठते हैं, जिस भूख-प्यास को जैन-घराने की साधारण महिला हफ्ते भर बादाश्त कर सकती है, एक पखवाड़ा खींच ले जा सकती है। जैन साधु नब्बे-नब्बे दिन बिना खाये रह सकते हैं। पानी तक छोड़ देते हैं। प्राण तक दे डालते हैं। उनका मरण 'समाधि-मरण' के नाम से प्रसिद्ध होता है। पर दूसरी ओर वही साधारण महिलाएं मामूली-मामूली बातों में असहिष्णुता दिखा बैठेंगी और यही हाल साधुओं का हो जायगा। इसलिए यह समझ लेना चाहिए कि कष्ट-सहन अभ्यास का विषय नहीं, श्रद्धा और ज्ञान का विषय है।

बरदाश्त एकतरफा नहीं होनी चाहिए। वह आजादी की राह में धोखा साबित होगी और एकतरफा बरदाश्त ही अभ्यास से सिद्ध हो सकती है। आजादी की राह में जिस चौतरफा बरदाश्त की जरूरत है, उसके लिए किसी अभ्यास की जरूरत नहीं होती। वह तो गुणों के सिलसिले में आपों-आप खिंचकर चली आती है। जिसके जी में अपनी आजादी या अपने देश की आज़ादी बस गई है, वह बिना अभ्यास के ही सब तरह की तकलीफ सहने के योग्य बन जाता है। मोहनदास करमचंद गांधी को तो बहुतों ने देखा है और पास से देखा है। देह के लिहाज़ से मुट्ठीभर हड्डियों के सिवाय वह थे ही क्या, पर बर्दाश्त थी उनमें इतनी, जिसका सौवां हिस्सा भी उसको नहीं प्राप्त था, जो अपनी छाती पर हाथी खड़ा कर लेता था और अपनी छाती और जांघों पर होकर उस छकड़े को निकाल देता था, जिसमें बीस आदमी बैठे होते थे। ये सब मोहनदास करमचन्द गांधी को इसलिए हासिल थी कि वह अपनी आजादी की चाह में सिर से पैर तक डूबा हुआ था और अपने देश की आजादी की लगन उसकी रग-रग में समा गई थी।

हां, तो यह सहिष्णुता या बरदाश्त आज़ादी का बहुत जरूरी हिस्सा है।

तकलीफ़ों का अगर विश्लेषण किया जाय तो वे दो ही तरह की हो सकती हैं—एक मानसिक, दूसरी दैहिक। जिसे मानसिक तकलीफ सहना आ गया, उसे दैहिक कष्ट सहना भी आ गया, पर जिसने दैहिक कष्ट सहना सीख लिया उसके लिए यह जरूरी नहीं कि वह मानसिक तकलीफ़ भी बरदाश्त कर सके। आत्म-हत्या मानसिक असहिष्णुता का परिणाम होती है। इस मामले में दूसरे महायुद्ध का जर्मन नेता हिटलर असहिष्णु सिद्ध हुआ, पर जापान का प्रधान मंत्री तोजो खरा निकला। उसने फांसी पर चढ़ने की बदनामी बरदाश्त कर ली, पर आत्म-हत्या नहीं की। इसका यह मतलब हरगिज नहीं है कि वह देह का कष्ट सहन नहीं कर सकता था, क्योंकि यह तो उसे फांसी लटकते समय सहना ही पड़ा।

दैहिक कष्टों की गिनती नहीं की जा सकती। फिर भी उनका वर्गीकरण किया जा सकता है। भूख-प्यास हमारी देह की कमी को पूरा करने के लिए लगती हैं। सर्दी-गर्मी, ये बाहर से आनेवाली चीजें हैं। मक्खी-मच्छरों का काटना, यह अपने किस्म की अलग तकलीफें हैं। कपड़े पहनने के लिए न मिलना दैहिक तकलीफ है, पर नंगे रहने में जो शरम लगती है, वह मानसिक तकलीफ है। अगर भीख मांगने के लिए किन्हीं कारणों से मजबूर होना पड़े तो यह दैहिक कष्ट है, पर भीख मांगना समाज में नीच कर्म समझा गया है, उस कर्म के करने से जो शर्म हमें लगती है, जिस लज्जा का हमें सामना करना पड़ता है, वह है मानसिक कष्ट। इसी तरह की अनेक तकलीफें आजादी की राह में आए दिन मिलती रहेंगी। आए दिन ही नहीं, आई घड़ी और आए क्षण मिलती रहेंगी। पर आजादी के दीवाने को वे सत्ता न सकेंगी। उससे टकराकर ऐसे निकल जायेंगी, जैसे जोर

का तूफान पहाड़ से टकरा कर निकल जाता है।

आजादी की राह में ये तकलीफें आती ही नहीं। कभी-कभी आज़ाद को इन तकलीफों का निमन्त्रण देना पड़ता है। उसमें होकर उसे घुसना पड़ता है। तैराक को डूबते हुए को जान बचाने के लिए मरने की जोखिम उठानी ही पड़ती है। वैसा उसका स्वभाव बन जाता है। बहादुरी आग में घुस कर लोगों को निकाल लाने के लिए मजबूर करती है। अमरीका के प्रेसिडेंट लिंकन की एक आपबीती सुनिये—

एक दिन लिंकन अपने दफ्तर में जांघों तक कीचड़ से लथपथ पहुंचा। सब अचरज में पड़ गये। वे समझ ही नहीं पाये कि आखिर मामला क्या है। अगर वह कहीं रपट पड़े होते तो उनकी पीठ या उनकी छाती भी तो कीचड़ से लथपथ होनी चाहिए थी। पर वैसा कुछ था नहीं। हां, उनके हाथ कोहनी तक जरूर कीचड़ से सने थे। एक-दो छींटें चेहरे पर भी थीं। लोगों से न रहा गया। पूछ बैठे, "श्रीमानजी, यह आपको क्या हुआ ?" लिंकन बोले, "अरे भई, हुआ कुछ नहीं। मैं जब दफ्तर आ रहा था तो रास्ते में देखता क्या हूं कि एक सूअर कीचड़ में फंस गया है और निकल ही नहीं पा रहा है। बस मैं उसे निकालने चला गया। इसीसे मेरे हाथ-पांव कीचड़ से लथपथ हो गये।

सब-के-सब एक स्वर में बोल पड़े, "आपने बहुत बड़ा काम किया। आप तो परोपकार की सीमा लांघ गये।"

लिंकन उत्तर में बोले, "परोपकार ! परोपकार तो यह किसी तरह भी नहीं। हां, इसे आप स्वोपकार कह सकते हैं।"

सब एक स्वर में बोल पड़े, "वह कैसे ?"

लिंकन बोले, "उसकी तकलीफ मुझसे न देखी गई। मेरे दिल को दुःख हुआ। अब मैं करता क्या ? मुझे अपना दुःख तो दूर करना ही था। उसको निकालने के सिवा दुःख दूर करने का और उपाय ही क्या था। क्या अपना दुःख दूर करना परोपकार समझा जायगा ?"

देखा आपने, मानसिक कष्ट के आगे दैहिक कष्ट कुछ होता ही नहीं। पर यहां तो यह बात हो रही है कि दैहिक कष्ट सहकर ही मानसिक कष्ट दूर किया जाता है। इस सिद्धान्त को समझकर ही हमें आजादी को समझना होगा।

आजाद हो जाना आजादी नहीं है। ऐसा होता तो जंगली पशु-पक्षी आदमियों से ज्यादा आजाद समझे जाते। पर वे आज़ाद नहीं हैं, क्योंकि वे दैहिक कष्ट सह सकते हैं और बड़े-से-बड़े कष्ट सह सकते हैं, पर विवश होकर, सहर्ष नहीं। हिरन या हिरनी, कभी-कभी गाय, अपने बच्चे की खातिर शेर का मुकाबला कर जाती है। उसे बहादुरी की संज्ञा नहीं दी जा सकती, क्योंकि यह क्रिया मोह-जन्य होती है। इसमें जो कष्ट सहना पड़ता है, वह उस बरदाश्त में शामिल नहीं है, जिसे हम आजादी की बरदाश्त के नाम से पुकारते हैं। और यही कारण है कि पशु-पक्षी आजाद नहीं समझे जाते। और न वे जंगली जातियां आजाद हैं, जो सभ्यता के चक्कर से दूर हैं। और न हम और आप आजाद हैं।

"न हम और आप आज़ाद हैं", कहकर क्या आप यह कहना चाहते हैं कि इस दुनिया में कोई आज़ाद ही नहीं है ? हां साहब, कहना तो यही चाहते हैं। आज जो भी देश आजाद हैं, वे पूरे आजाद नहीं हैं। एक देश दूसरे देश की अपेक्षा ज्यादा आजाद है। जापान के प्रधानमंत्री की आवाज कि उसे यह नहीं दिखाई देता कि जापान अमरीका की दोस्ती के बिना स्वतन्त्र रह सकता है, क्या यह नहीं बनाती कि जापान आजाद नहीं है। पर उसकी गिनती तो आजाद देशों में होती है।

थोड़ी देर के लिए आजादी को जानदार देवी मान लीजिये। जानदार होने के नाते उसे जीवित रहने के लिए खुराक जरूरी है। आजादी की खुराक है दूसरों को आजाद करना। आजादी का आनन्द है दूसरों को आजाद होते देखना।

अब कहिये, आजादी की राह में क्षण-क्षण पर कष्ट आपके सामने आयेंगे या नहीं ? इसलिए बरदाश्त बेहद जरूरी है या नहीं ? और प्रकृति सच्चे आजाद आदमी को यह बरदाश्त देती ही है। और कष्ट ही उसकी खुराक बन जाते हैं। जब भी वह किसीको दूसरों को आज़ाद करते देखता है तो वह आनंद मानता है। इस तरह बरदाश्त का हथियार लिए हुए आज़ाद कष्टों में होकर गुजरता रहता है और चैन की बंशी बजाता रहता है।

गाओ जीवन के नये गीत !

●● जगदीशचन्द्र शर्मा

छोड़ो यह मिथ्या बातचीत !
गाओ जीवन के नये गीत !

श्रम के निकुंज में ललक रही
मधुमय खुशहाली - हरियाली ;
जिसका चप्पा - चप्पा नवीन,
मोहक, विराट, वैभवशाली--

विचरो सदैव होकर अभीत !
गाओ जीवन के नये गीत !

त्यागो अविलंब अभी अपनी
संकीर्ण परिधियों का घेरा;
स्वागत् में तत्पर है विशाल
निस्सीम-समर्पण बहुतेरा--

आओ, देखो यह नई रीत !
गाओ जीवन के नये गीत !

अबतक जो था वह पराजेय;
यह परिवर्तन शाश्वत अजेय,
उन्नति-पथगामी प्राणों का
पावन - पुनीत सम्मान्य - श्रेय--

पाओ अपना विश्वस्त मीत !
गाओ जीवन के नए गीत !

सार्वभौम पारिवारिक जीवन

काका कालेलकर

बम्बई के एक सज्जन पूछते हैं, "राष्ट्रीय एकता की चिन्ता तो हम सबको है। तो इस उद्देश्य से आंतरप्रान्तीय, आंतर्जातीय लग्नों का पुरस्कार हम क्यों न करें?" पत्र अंग्रेजी भाषा में है। उसमें तीन शब्द हैं—inter-provincial, inter-communal and inter-caste marriages. Inter communal शब्द साधारण तौर पर भिन्न-भिन्न जाति के विवाह के लिए ही लगाया जाता है। लेकिन यहांपर शायद भिन्न-धर्मी विवाह का जिक्र होगा।

मैं तीनों के बारे में अपना अभिप्राय थोड़े में दूंगा।

आंतरप्रान्तीय विवाह के बारे में धर्म का विरोध नहीं है। सवाल या कठिनाई भाषा के बारे में है।

आंतर्जातीय विवाह का सवाल हिन्दुओं का है। इसमें भी धर्म का विरोध नहीं है। सवाल आता है सिर्फ आहार का। क्योंकि मांसाहारी और शाकाहारी लोगों की रसोई एकसाथ नहीं हो सकती। जाति-जाति में ऊपर की जाति, नीचे की चाति ऐसा भेद भी सोचा जाता है।

और आंतर्धर्मीय विवाहों के अंदर मुख्य सवाल धर्मान्तर का है। इसके साथ कभी-कभी भाषा का और आहार का भी सवाल आ जाता है। ये तीनों या चारों सवाल बड़े टेढ़े हैं। आसानी से इनका हल नहीं हो सकता।

मेरी स्पष्ट राय है कि आंतरप्रान्तीय, आंतर्धर्मीय विवाहों का हम तनिक भी विरोध न करें। अगर हमारे धर्म में, जाति में या प्रांत में ऐसा कोई विवाह हुआ तो समाज उसके बारे में नाहक का हो-हल्ला न करे। जिनको पसंद नहीं है, खामोश रहकर भगवान् से प्रार्थना करें कि ऐसा विवाह भी सफल हो, टूटे नहीं। और कोई दुखी न हो।

लेकिन साथ-साथ मैं यह भी कहूंगा कि ऐसे विवाहों को प्रोत्साहन देने के लिए हम प्रचार करने नहीं बैठें। प्रचार से चर्चा बढ़ती है, समाज में मनमुटाव पैदा होता है और छोटी-छोटी बातों को महत्त्व दिया जाता है।

आदमी विवाह करता है, परस्पर प्रेम के कारण; सह-जीवन के लिए और बच्चों को अच्छे-अच्छे संस्कार देने के हेतु। इसलिए विवाह का सवाल जितना नैतिक है उतना सामाजिक भी है। विवाह के बारे में प्रगति सोच-विचारकर धीमे-धीमे होनी चाहिए।

आहार के बारे में मेरी स्पष्ट राय है कि मांसाहारी और अन्नाहारी लोगों के बीच विवाह तब हो, जब दोनों में से एक पक्ष दूसरे पर जबरदस्ती नहीं करने का सिद्धान्त हृदय से कबूल करे। हमारे सामने बर्नाड शॉ का किस्सा है। वह अन्नाहारी थे। उनकी पत्नी मांसाहारी थी। वे अलग-अलग बैठकर खाते थे। बाकी के जीवन में कोई कठिनाई नहीं आई। पश्चिम भारत में सारस्वत एक ऐसी ब्राह्मण जाति है, जिसमें पुराने रूढ़िवादी लोगों में भी चन्द लोग मत्स्याहारी हैं (मछली खाते हैं)। और चन्द लोग बिलकुल अन्नाहारी हैं। तो भी इन्होंने इस कारण अलग-अलग दो जातियां नहीं बनाई। अगर पति मछली खाता है और पत्नी नहीं खाती तो उसपर खाने की जबरदस्ती नहीं होती। और वह भी पति के लिए मछली पकाकर देती है, ताकि उसको कठिनाई न हो। इससे उल्टा अगर पत्नी मत्स्याहारी है तो पति के घर पर वह अन्नाहारी रहती है। और जब जी चाहे मायके जाकर मछली आदि का स्वाद कर लेती है। आगे जाकर इससे भी ज्यादा सहूलियत हो जाती है, वह बात अलग। मुख्य नियम यही है कि किसीकी किसीपर जबर्दस्ती न हो और निन्दा तो बिल्कुल न हो।

भाषा के बारे में कोई खास नियम बनाने की जरूरत नहीं है। भाषा चीज ही सामाजिक है। पति-पत्नी जहाँ रहते हैं, जिस ढंग से रहते हैं, भाषा का सवाल हल होता जाता है। जो लोग अंग्रेजी भाषा के अभिमानी उपासक होते हैं, वे घर पर अंग्रेजी ही चलाने की बेवकूफी कर बैठते हैं। पति-पत्नी और उनके बच्चे जब अंग्रेजी में ही अपना व्यवहार चलाते हैं तब आस-पास के समाज के साथ उनका संबंध टूट जाता है। घर पर अंग्रेजी चलानेवाले लोगों की अलग जाति बन जाती है। देश में अंग्रेजी का वायुमंडल व्यापक तो होनेवाला है नहीं। इसलिए नौकरों की भाषा भी घर पर चलानी पड़ती है। ऐसे लोग संस्कारशून्य बनते हैं और अंग्रेजी के अभिमान के कारण ऐंठकर चलते हैं। वे देखते

नहीं कि उनका जीना हास्यास्पद बन जाता है।

जो अंग्रेज लोग यहां के होकर बसे हैं, उनकी संख्या कम है। उनमें से चन्द लोग यहां की भाषा सीख लेते हैं और अच्छी तरह से चलाते हैं। अंग्लो-इंडियन लोगों का सवाल वे अपने ढंग से हल कर रहे हैं। उनकी बात आज हम नहीं सोच रहे हैं। बच्चों को जिस प्रांत में रहना है, वहां की भाषा अपनानी होगी।

... ...

आंतर्धर्मीय विवाह हमारे यहां ज्यादा होनेवाले नहीं हैं। और हुए तो सारा वायुमंडल शुद्ध होने के बाद, सुधरने के बाद ही होंगे। आज मुख्य नियम यह होना चाहिए कि विवाह के कारण धर्मान्तर करने की सख्ती न हो। (दिल्ली के बादशाह ने अपनी जोधपुरी रानी के लिए एक हिंदू मंदिर भी बांध दिया था, ताकि उसे पूजा का संतोष मिले। वह मंदिर आज भी देखने को मिलता है।) आंतर्धर्मीय विवाह में जब जबरदस्ती नहीं होती तब एक खुशबूदार उदार वायुमंडल तैयार होता है, जिसमें दोनों धर्मों के प्रति आदर भी रहता है और अपने-अपने धर्म के रस्म-रिवाजों का आग्रह भी नहीं रहता। जब भगवान् ने अपनी दुनिया में सब धर्मों को और भले-बुरे विचारों को पनपने दिया है तब भगवान् का नाम लेनेवाले एक घर में और एक परिवार में सब धर्मों का परस्परानुकूल वायुमंडल क्यों न रहे? और भगवान् को न माननेवाले लोग भी अच्छे संस्कारी सज्जन ही होते हैं। हम उन्हें शैतान न समझें। भगवान के कारण मनुष्य-मनुष्य के बीच झगड़ा या मनमुटाव पैदा होना ही नहीं चाहिए।

ऐसे आंतर्धर्मीय विवाह के फलस्वरूप जब बच्चे पैदा होते हैं तब उनमें सब धर्मों के प्रति आदरभाव के संस्कार आ ही जाते हैं। कभी-कभी उपेक्षा आती है और वायुमंडल निधर्मी बनता है। उसमें भी अगर सज्जनता और संस्कारिता कायम रही तो किसी एक धर्म को न माननेवाले भी धार्मिकता की कदर करते हैं और अपने जीवन के द्वारा धार्मिकता की खुशबू फैलाते हैं।

... ...

आंतर्जातीय हिन्दू विवाहों का सवाल बिलकुल आसान है। अब वर्णभेद तो सिर्फ अभिमान ही रहा है। जातिभेद तोड़ने में तनिक भी मुश्किल नहीं आ सकती। कोई अपनेको श्रेष्ठ न माने, दूसरे को हीन न माने, समान भाव से एक-दूसरे के प्रति आदर रखे और सेवा-वृत्ति बढ़ाकर अपना जीवन आशीर्वाद-रूप बनावें।

मुसलमानों में और ईसाईयों में अपनी संख्या बढ़ाने का असंस्कारी आग्रह अगर कायम रहे तो आंतर्धर्मीय विवाह बढ़ेंगे नहीं, न बढ़ने चाहिए। हम खुदापरस्त बनें, धार्मिक बनें, यह अच्छा है। संख्यापरस्त और जमातपरस्त बनना खुदापरस्ती का द्रोही है। उसमें भी शिर्कका गुनाह आता होगा।

शादी करके दूसरी जमात को या धर्म को कमजोर करने की अगर नीयत रही तो वह मानवताकी द्रोह होगा। ऐसी चालबाजी धर्म को ही कमजोर करती है और मानवता को तोड़ देती है।

जिस तरह हम राष्ट्र-राष्ट्र के बीच शांति, प्रेम और सहयोग के द्वारा कौटुम्बिक भाव पैदा करना चाहते हैं, उसी तरह सब धर्मों के बीच भी परस्पर आदर और कौटुम्बिक भाव पैदा करना मानवता का तकाजा है। सब धर्मों के प्रति जिसके मन में आदर नहीं है, उसकी धार्मिकता संकुचित है, वह खुदा का प्यारा नहीं बन सकता।

भावात्मक एकता समिति ने हर स्कूल में वर्ष में दो बार देश-सेवा की जो शपथ लेने की सिफारिश की है, वह इस प्रकार है :

भारत मेरा देश है और सब भारतीय मेरे भाई-बहन हैं।

मैं अपने देश से प्यार करता हूं और उसकी समृद्ध और विविधतापूर्ण विरासत पर मुझे गर्व है।

मैं अपने माता-पिता, अध्यापकों तथा समस्त गुरुजनों का आदर करूंगा और सबके साथ सौजन्य का व्यवहार करूंगा। मैं प्राणियों के प्रति भी दयालु रहूंगा।

मैं अपने देश और अपने देशवासियों के प्रति निष्ठा की शपथ लेता हूं। उनकी सुख-समृद्धि में ही मेरी भी सुख-समृद्धि निहित है।

राजस्थान की कुछ ऐतिहासिक कहावतें

कन्हैयालाल सहल

प्रायः प्रत्येक देश की भाषा में ऐतिहासिक कहावतें मिलती हैं, किन्तु राजस्थान एक ऐसा प्रांत है जहां इस प्रकार की कहावतों का प्राचुर्य है। जहां के छोटे-से-छोटे गांव में थर्मापली और लियोनीदास के दृश्य उपस्थित हो चुके हों, उस प्रांत की अनेक घटनाएं यदि ऐतिहासिक कहावतों के रूप में प्रचलित हो गई हों तो इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं। राजस्थान में आज भी ऐसे अनेक व्यक्ति मिल जाते हैं जो अपने कंठाग्र कहावती दोहों की सहायता से राजस्थान के इतिहास की अनेक घटनाएं सुनाते चले जाते हैं। इस प्रकार की ऐतिहासिक कहावतें अनेक रूपों में उपलब्ध होती हैं :—

वार्तालाप या कथोपकथन के रूप में "नरां नाहरां डिगमरां पाक्यां ही रस होय" अर्थात् मर्दों, सिंहों और दिगंबरों (योगियों) में रस-परिपाक अवस्था पकने पर ही होता है। यह सूक्ति कहावत की भांति राजस्थान में प्रचलित है। किन्तु निम्नलिखित वार्तालाप को समझ लेने पर ही इस उक्ति का मर्म समझ में आता है।

बीकानेर के महाराज रायसिंहजी के छोटे भाई पृथ्वी-राज सुप्रसिद्ध "पीथल" कवि थे जिनकी "वेलि क्रिसन रुक्मिनी री" डिंगल का सर्वोत्तम काव्य समझा जाता है। इनकी रानी चांपादे को भी कवि-हृदय मिला था। कहते हैं कि एक बार महाराज पृथ्वीराज अपनी दाढ़ी संवार रहे थे। दाढ़ी में उनको एक सफेद बाल दिखाई पड़ा तो उसे उखाड़ कर फेंक दिया। पीछे से रानी चांपादे ने महाराज को ऐसा करते देख लिया। महाराज मुस्कराकर कविता में ही अपनी प्रिया से कहने लगे :

पीथल धौला आविया, बहुली लागी खोड़।
पूरे जोबन पदमणी, ऊभी मुक्ख मरोड़।।
पीथल पलीट भुक्कियां, बहुली लागी खोड़।
मरवण मत्त गयन्द ज्यूँ, ऊभी मुक्ख मरोड़।।

"पीथल कहता है कि सफेद बाल उग आये, यह तो बड़ी खोड़ (खोट, खराबी, त्रुटि) लग गई। बड़ा बुरा हुआ कि पूर्ण यौवन को प्राप्त पद्मिनी-सी मोहनी प्रिया खड़ी हुई मेरी ओर देखकर मुख मरोड़ रही है। पीथल कहता है कि दाढ़ी के बाल पकने लगे, बड़ा बुरा हुआ, जिसके कारण मदोन्मत्त हाथी के समान प्रिया मरवण खड़ी-खड़ी मुख मरोड़ रही है।" यह सुनकर चांपादे महाराज का भाव ताड़ गई और उनकी आत्म-ग्लानि के भाव को दूर करती हुई अपने पति के संतोषार्थ कहने लगी :

प्यारी कह पीथल सुणो, धौलां दिस मत जोय।
नरां नाहरां डिगमरां, पाक्यां ही रस होय।।

प्यारी कहती है कि "हे पीथल! सुनो; सफेद बालों की ओर न देखो—नरां नाहरां डिगमरां पाक्यां ही रस होय।"

इसी प्रकार "धर रहसी, रहसी धरम खप जासी खुरसाण" एक कहावती दोहे का अंश है। कहते हैं कि महा-राणा प्रताप के पुत्र महाराणा अमरसिंह के लिए मुगलों से युद्ध करते-करते जब ऐसी स्थिति उत्पन्न हो गई कि या तो उनको देश छोड़ना पड़ता या उनको कैद होना पड़ता तो उन्होंने अपने मित्र मिर्जा अब्दुर्रहीम खां खानखाना, जो हिंदी, फारसी, अरबी, संस्कृत आदि के विद्वान् होने के साथ-साथ अच्छे कवि भी थे, के पास निम्नलिखित दोहे लिख कर भेजे :

"गौड़ कछाहा राठवड़, गोरवां जोख करवन्त।
कहजो खानाखान ने, बनचर हुया फिरन्त।।
तंवरां सूँ दिल्ली गई, राठोड़ां कनवज्ज।।
अमर पयँपै खान ने, वो दिन दीसै अज्ज।।"

अर्थात् गौड़, कछवाहे और राठौड़ महलों के झरोखों में मौज उड़ा रहे हैं। खानखाना से कहना कि हम जंगलों में भटक रहे हैं। तंवर राजपूतों से दिल्ली गई, राठौड़ों से कन्नौज गया। अमरसिंह के लिए भी वह दिन आज दिखाई दे रहा है। इस संदेश के उत्तर में खानखाना ने नीचे लिखा हुआ दोहा लिख भेजा :

"धर रहसी, रहसी धरम, खप जासी खुरसाण।
अमर बिसम्भर ऊपरां, राखो नहचो राण॥"

अर्थात्, "धरती और धर्म रह जायंगे, खुरासानवाले मुगल खप जायंगे। हे राणा अमरसिंह, तुम विश्वंभर भगवान् पर भरोसा रखो। राज्य तो आते-जाते रहते हैं, धरती और धर्म ही हमेशा बने रहेंगे।" खानखाना के उत्तर की ये मार्मिक पंक्तियां आज भी अवसर पड़ने पर राजस्थान में लोकोक्ति की भांति व्यवहृत होती हैं। इस उत्तर से महाराणा का उत्साह बढ़ गया और वे निरंतर लड़ाइयां लड़ते रहे।

मनुष्य के जीवन में बहुत-सी ऐसी बातें हैं जो विवादास्पद हैं, जिनके विषय में निश्चयात्मक रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता। किन्तु जो पैदा हुआ है, उसकी मृत्यु निश्चित है, इसमें किसीको संदेह नहीं। निश्चयात्मकता के उपमान के लिए तो मृत्यु-जैसा अन्य कोई उपमान लाख माथापच्ची करने पर भी नहीं मिलेगा और वह मृत्यु कब आ जाय, इसका कोई ठिकाना भी नहीं। "प्रबन्ध-चिन्तामणि" में अपभ्रंश का एक दोहा मिलता है :

ऊग्या ताविउ जहि न किंउ, लखऊ भणइ निघट्ट।
गणिया लब्भई दीहड़ा, के दहक अहवा अट्ठ॥

अर्थात्, "कुशल लाखा का कथन है कि शत्रु का उदय होते ही यदि उसे नष्ट न किया जाय तो फिर न जाने भविष्य में क्या हो! गिने-गिनाये आठ-दस दिन ही तो जीने के लिए मिलते हैं।" संभवतः, प्रबंध-चिंतामणि के उत्तर पद्य के आधार पर ही राजस्थान में लाखा फूलाणी आदि का मार्मिक प्रवाद प्रचलित हुआ हो।

मरदो माया माणलो, लाखो कहै सुपट्ठ।
घणा दिहाड़ा जावसी, के सत्ता के अट्ठ॥

अर्थात्, "हे मनुष्यो! अधिक-से-अधिक सात या आठ दिन के लिए ही तो यह माया मिली है; क्यों नहीं इसका उपभोग कर लेते?" यह लाखा की स्पष्ट उक्ति है। इसपर लाखा की पत्नी कहती है :

फूलाणी फेरो घणो, सत्ता सूँ अठ दूर।
रोते देख्या मुलकता, वे नहिं उगते सूर॥

फूलाणी कहती है कि "स्वामिन्! सात और आठ में तो बहुत अंतर है। जिन्हें हमने रात्रि में हँसते हुए देखा था, वे प्रातःकाल होते ही उस लोक को चल दिये जहां से लौटकर कोई नहीं आता।" फूलाणी की पुत्री ने इसका प्रतिवाद करते हुए कहा :

लाखो भूल्यो लखपति, मा भी भूली जोय।
आंखां तणै फरूकड़े, क्या जाणूँ क्या होय॥

अर्थात्, "माता-पिता दोनों ने ही अच्छी तरह विचार कर बात नहीं कहीं। सच तो यह है कि आंखों के फड़कने में जितना समय लगता है, उसमें ही न जाने क्या-का-क्या हो जाय।" समय सुन्दर ने भी यही कहा था :

धरम विलंब न कीजियइ, खिण खिण त्रूटइ आय।
आंखि तणइ फरूकडइ, घड़ी धरू थल थाय॥

दासी ने तो, जो यह सब सुन रही थी, और भी सूक्ष्म दृष्टि का परिचय देते हुए कहा :

लाखो अंधो, धी अंधी, अंध लाखारी जोय।
सांस बटाऊ पावणों, आवे न आवण होय॥

अर्थात्, "लाखा, उसकी स्त्री, उसकी लड़की, इस प्रकार सब बातें करते हैं, जैसे उन्होंने दुनिया को देखा ही न हो। आंखों के फड़कने में भी तो समय लगता है। सांस के जाने में समय कैसा! अरे, यह सांस तो बटाऊ-पथिक के समान है, एकबार आकर फिर आये न आये, इसका कौन भरोसा!" श्वासोच्छ्वास के बीच का जो समय है, उसमें ही कितनी बड़ी घटना घटित हो जाय, जीव महाप्रयाण के लिए निकल पड़े!

नश्वर जीवन का तथ्य दासी की उक्ति में चरम सीमा पर पहुंच जाता है। "आंखा तणे फरूकड़े क्या जाणूं क्या होय", "और सांस बटाऊ पावणों आवे न आवण होय" दोनों ही लोक-प्रचलित उक्तियां हैं जो ऊपर के कहावती वार्त्तालाप में से जीवन-निष्कर्ष के रूप में निकल पड़ी हैं। कवि-कुल-गुरु की सूक्ति "मरणं प्रकृतिः शरीरिणाम्" से इन लोकोक्तियों की तुलना कीजिये। प्रवाद है कि राव चूंडा ने नागौर की विजय के बाद राज्य का प्रबंध अपनी नई रानी को सौंप दिया। रानी ने कई मदों में कटौती कर दी। घोड़ों को जो घी दिया जाता था वह भी बंद कर दिया। रावजी को जब इस बात का पता चला तो उन्होंने कहा :

"कलह करै मत कामणी, घोड़ां घी देतांह।
आडा कदेक आवसी, वाड़ेली वहतांह।।"[1]

अर्थात्, "हे कामिनी! घोड़ों को घी देते समय कलह मत कर। कभी तलवार चलाने का काम पड़ने पर, अर्थात् युद्ध का अवसर उपस्थित होने पर, ये घोड़े काम आयेंगे।"

वाक्-चातुर्य प्रदर्शित करते हुए रानी ने उत्तर दिया:

"आक वटूकै पवन भख, तुरियां आगल जाय।
मैं तनै पूछूँ सायबा, हिरण किसा घी खाय।।"

अर्थात्, "हे स्वामिन्! मैं आपसे पूछती हूं कि हरिण कौन-सा घी खाते हैं! वे तो आक चबाते हैं और पवन का भक्षण करते हैं। फिर भी दौड़ में घोड़ों से आगे निकल जाते हैं।"

रानी की इस कटौती की नीति से असंतुष्ट होकर सरदार भी एक-एक करके रावजी को छोड़कर चल दिये। रावजी ने रानी को कोसना शुरू किया; किन्तु अब उपाय ही क्या रह गया था! कहा जाता है कि शत्रुओं ने परिस्थिति से लाभ उठाकर रावजी पर विजय प्राप्त की। नागौर शत्रुओं के हाथ में चला गया और स्वयं रावजी भी इस युद्ध में खेत रहे।

वार्तालाप के रूप में प्रचलित इस प्रकार के कहावती प्रसंग राजस्थान में असंख्य हैं। विस्तार-भय से और उदाहरण नहीं दिये जा रहे हैं।

अनेक ऐतिहासिक कहावतें ऐसी हैं, जो घटनाओं के साथ संबद्ध हैं। उदाहरणार्थ:

भाग लल्ला! प्रथीराज आयो।
सिंह क सांथर स्याल व्यायो।।

अर्थात्, "हे लल्ला! पृथ्वीराज आगया। अब यदि अपनी खैर चाहता है तो भाग चल। सिंह की गुफा में गीदड़ ने बच्चा दिया है। कैसे निर्वाह होगा!

इतिहास में प्रसिद्ध है कि लल्ला नामक पठान ने सोलंकियों से "टोडा" छीन लिया था। महाराणा श्री रायमल्लजी के ज्येष्ठ पुत्र श्री पृथ्वीराजजी अत्यंत यशस्वी और प्रतापी राजा हुए। ये इस समाचार से कुपित होकर अकस्मात् टोडे जा पहुंचे थे और टोडा विजय करके इन्होंने सोलंकियों को दे दिया था। इस आकस्मिकता के कारण लोग इस बात का अनुमान भी न लगा सके कि क्योंकर महाराज इतना शीघ्र टोडा पहुंच सके। कहते हैं, उसी दिन से यह "उडणा" पृथ्वीराज के नाम से प्रसिद्ध होगये। उनकी वीरता का तो इतना आतंक छा गया कि उक्त पद्य ही कहावत के रूप में प्रचलित होगया।

अलाउद्दीन अपने जनरल महिमशाह से रुष्ट होगया था। बादशाह के रोष से अपनी रक्षा का कोई उपाय न देखकर महिमशाह रणथंभौर चला गया जहां के शासक राव हमीर चौहान ने उसे निर्भीकतापूर्वक शरण दे दी। बादशाह ने हमीर को लिखा कि वह पठान को अपने पास न रखे; किन्तु हमीर ने जो उत्तर भिजवाया वह केवल राजस्थान में ही नहीं, समस्त भारतवर्ष में कहावत की भांति समय-समय पर प्रयुक्त होता है।

सिंह संग सत्पुरुष बच, केल फलै इक बार।
तिरिया तेल हमीर हठ, चढ़ै न दूजी बार।।

अलाउद्दीन ने किले पर घेरा डाल दिया। वर्षों के युद्ध के बाद वीरता से लड़ते हुए हमीर ने अपने प्राण दे दिये। वह पठान भी जिसको हमीर ने शरण दी थी, अलाउद्दीन के विरुद्ध लड़ता हुआ काम आया।

---

[1] **कांदा खाया कमधजां, घी खायो गोलां।**
चूक चाली ठाकरां, बाजंतै ढोलां।।

इसी आशय को व्यक्त करनेवाला यह कहावती पद्य राजस्थान में अत्यन्त प्रचलित है।

मालवीयजी

तेरे कदम से रौनके शहरे प्रयाग है।
यानी तेरे ही दम से बुतों का सुहाग है।

—**अकबर इलाहाबादी**

सामा-चकेवा के गीत

● ● भगवानचन्द्र विनोद

'सामा-चकेवा' मिथिला का एक प्रसिद्ध सांस्कृतिक त्योहार है। कार्तिक शुक्ल पंचमी को इसका गीत प्रारंभ होता है और इसका अंत पूर्णिमा के दिन होता है। एक नये बांस की चंगेरी में 'सामा-चकेवा', 'चुगला', 'खिड़िरिच', 'सत भइया', 'भम्हरा', 'हलुआइन', 'ढोसिया', 'वृन्दावन', 'झांझी-कुत्ती' आदि का प्रतिरूप बनाकर रखा जाता है। मिथिला की गोरियां इन प्रतिरूपों को बड़े ही कलात्मक ढंग से गढ़ती हैं। इसका एक सेट इस पंक्ति के लेखक ने कलाकार श्री उपेन्द्र महारथी को भेंट किया था। देखते ही खुशी के मारे उछलते हुए उन्होंने अपने उद्‌गार व्यक्त किये थे—"वेरी गुड्, वेरी गुड् !"

चंगेरी में दीप जलाकर रख दिया जाता है और सखियां घर से झुण्ड बनाकर इन सामानों के साथ गीत गाती निकलती हैं। जहां हरी-भरी दूब मिलती है, सखियां बैठ जाती हैं और हरी-हरी दूब नोचकर पात्रों को खिलाती हैं और गीत गाती जाती हैं। फिर चंगेरी में सामान ठीक कर स्त्रियां घर लौट आती हैं। पूर्णिमा के दिन प्रतिमा का विसर्जन होता है। उस दिन बहन भाई को प्रेमपूर्वक बहुत-सी मिठाइयां खिलाती हैं।

'सामा' शब्द श्यामा का देहाती रूप जैसा लगता है। श्यामा एक पक्षी विशेष होता है, जिसकी बोली बड़ी सुरीली होती है। और 'चकेवा' भी एक पक्षी विशेष का नाम है। 'खिड़िरिच' शब्द खंजन शब्द का देहाती पर्याय है। सामा-चकेवा के गीत गाने के अवसर पर ही खंजन का आगमन हो जाता है। इसलिए सखियां इसे शरद् ऋतु का अग्रदूत समझती हैं और इसका मंगल गान करती हैं—(निरख सखी ये खंजन आये)। 'चुगला' इस खेल का एक विशेष मनोरंजक पात्र है। चुगला बड़ा दुष्ट प्रकृति का होता है। यह ऐसे व्यक्ति का प्रतीक है, जो घर-घर चुगलखोरी करके झगड़ा-झंझट लगाता फिरता है। आपस में लड़ा-भिड़ाकर इसको खुशी होती है। सच को झूठ और झूठ को सच बनाना इसके दायें-बांयें का खेल होता है। सखियां ऐसे दुष्ट स्वभाववालों का पुतला जलाकर उन्हें चेतावनी देती हैं। दरअसल इस खेल का उद्देश्य है—भाइ-बहन में सात्विकप्रेम-भाव का संचार करना। चुगला की जो मूर्त्ति बनाई जाती है—बिल्कुल बेवकूफ की तरह। उसकी कमर में आर-पार छेद कर पाट पिरो दिया जाता है, जिसको खेलते समय सखियां नित्य थोड़ा-थोड़ा करके जलाती हैं। वृन्दावन का प्रतीक जलाने का अभिप्राय यह हो सकता है कि कुछ लोग घर-गृहस्थी से ऊब कर वैराग्य धारण करना चाहते हैं। वह व्यर्थ है। अपनी घर-गृहस्थी सम्हालने और प्रेमपूर्वक रहने में ही बड़प्पन है। इसकी आकृति भी मनुष्य की तरह होती है और इसके मुंह में पतली-पतली सींकें लगा दी जाती हैं। पूर्णिमा के दिन विसर्जन के समय सखियां इसमें आग लगा देती हैं और ज़ोर-जोर से इन पंक्तियों की आवृत्ति करती हैं —

वृन्दावन में आगि लागल केयो ने बुझावय हे।
हमरा से कोन भइया तिनही बुझावय हे॥

—वृन्दावन में आग लगाई है, कोई नहीं बुझानेवाला है! हमारे अमुक भाइ हैं; जो इसे बुझायेंगे।

इस गीत के पात्रों को देखने से ऐसा प्रतीत होता है कि यह एक नाटकीय खेल है। किन्तु सखियां सिर्फ गीत गा-गाकर इसके भावों की अभिव्यक्ति करती हैं। हां, विसर्जन के दिन सखियां कुछ अभिनय प्रदर्शन करती-सी नज़र आती हैं।

न जानें कबसे मिथिला की बहनें इसे हर साल खेलती आ रही हैं। उनके स्वर में अनायास ही संगीत की लय बोल उठती है और साथ ही उनके मन और प्राण आनन्द में झम उठते हैं। सामा-चकेवा का यह गीत गंगा की धारा की तरह अनादिकाल से बहता चला आ रहा है। स्व० डा० अमरनाथ झा के कथनानुसार 'श्यामा-चकेवा' के संबंध में पाठकों को यह जानकर उत्सुकता होगी कि इसका उल्लेख 'पद्म-पुराण' में है।"

श्यामा-चकेवा के दर्जनों गीत बहनें गाती हैं, जिनमें से कुछका रसास्वादन यहां हम कराते हैं —

गंगा रे जमुन मा के चिकनियो माटी
आनि दियौ ललन भइया गंगा पइसी माटी

बनाय दियौ कनिया-भौजो सामा-हे-चकेवा
खेले जइती सुधा बहिनी चारो पहर राती
कथिकेर दियना कथिए सुत बाती
कथिकेर तेल जरय सारी राती
माटी केर. दियना पटम्मर सुत बाती
सरिसों के तेल जरय सारी राती
खेले लगलन सुधा बहिनो चारो पहर राती
जरे लागल दियना झमके लागल बाती

–गंगा और जमुना की चिकनी माटी होती है;
–अहो ललन भइया, गंगा पैठकर माटी ला दो।
हे कनियां-भौजी (छोटी-भौजी) तुम सामा-चकेवा बनादो।
सुधा-बहन चारों पहर रात खेलेंगी।
किस चीज का दीया बना है ? किस चीज की बाती ?
किस चीज का तेल जलेगा सारी रात ?
माटी का दिया है और रेशम की बाती।
सरसों का तेल सारी रात जल रहा है।
सुधा बहन चारों पहर रात खेलने लगी।
दीया जलने लगा, बाती झमकने लगी !

खेल शुरू होने पर पहले बहनें इस गीत को गाती हैं –

किनकर हरियर-हरियर डिभवा गे सजनी
कोन बहिनो के चरय छैन चकेवा गे सजनी
ललन भइया के इहो हरियर डिभवा गे सजनी
सुधा बहिनो के चरइछैन चकेवा गे सजनी
किनकर राज महाराज गे सजनी
-किनका राजे खेलवइ झुमरिया गे सजनी
किनकर राज दुखराज गे सजनी
किनकर राजे काटबइ चरखवा गे सजनी
बाबाक राज महाराज गे सजनी
भइया राजे खेलबइ झुमरिया गे सजनी
सासुक राज दुखराज गे सजनी
सामीक राज काटबै चरखवा गे सजनी

—हे सजनी, किसके खेत की डिम्भियां (कोंपल) हरी-हरी हैं ?
हे सजनी, किस बहन का यह चकेवा चर रहा है ?
हे सजनी, ललन भइया के खेत में यह हरी-हरी डिम्भियां हैं।
हे सजनी, सुधा बहन का चकेवा चर रहा है।
हे सजनी, किसका राज्य महाराज्य है ?
हे सजनी, किसके राज्य में झूमर गाऊंगी ?
हे सजनी, किसके राज्य में दुःख झेलना पड़ेगा ?
हे सजनी, किसके राज्य में चरखा कातूंगी ?
हे सजनी, बाबा (पिता) का राज्य महाराज्य होता है।
हे सजनी, भैया के राज्य में 'झूमर' खेलूंगी।
हे सजनी, सास का राज्य दुःख का राज्य होता है।
हे सजनी, अपने साजन के राज्य में चरखा कातूंगी।

सास-पतोहू का झगड़ा बहुत प्रसिद्धि पा चुका है। सास के राज्य में बहू का स्थान तुच्छ दाई से अधिक नहीं होता। सो सिर्फ भारत ही नहीं, अन्य देशों में भी पतोहू को कोई सम्मानपूर्ण स्थान नहीं दिया गया है। एक जापानी लोक-गीत में सास-बहू का जिक्र इस प्रकार किया गया है—

"बहू और सास,
दोनों ही दो प्रकार के शीशे हैं;
यदि एक ने दूसरे को छू दिया,
तो दोनों के टूटने का डर है।"[1]

इस गीत में चरखे का भी जिक्र आया है। एक जमाना था जब हमारे देश के प्रत्येक गांवों में नाना प्रकार के ग्रामोद्योग व गृह-उद्योग प्रचलित थे, जिससे गांव के लोग स्वावलम्बी होकर अपना सुखमय जीवन व्यतीत करते थे। कोई भी ऐसा घर नहीं था, जिसमें नाना प्रकार के उद्योग-धंधों के साथ अर्थ-स्वावलम्बन के स्तम्भ और ग्रामोद्योग के सूर्य चरखे की सुमधुर गुंजार न गुंजरित होती हो। स्त्रियां साजन के राज्य में चरखा कातती थीं और सुमधुर कंठ से गीत गाती थीं।

इतिहास बोलता है कि चरखा अति प्राचीनकाल से हमारे देश का गौरव रहा है। भारत में आर्यों के आगमन से पूर्व भी यह था। हमारे पुरखे इसे बराबर चलाते आये हैं। वैदिक युग में चरखे चलते थे, बौद्ध-युग में भी चरखे चलते थे, मध्य-युग में भी चलते थे और मुगल काल में तो

---

१. जापान के लोक-गीत—ले० रामसिंह रावल।

यह कला अपनी पराकाष्ठा पर पहुंच गई थी। सच बात तो यह है कि अंग्रेजों ने हमारे चरखे को जला दिया। फिर गांधी जैसा एक अवतारी पुरुष आया और इसे खोज निकाला।

'बहिन मोरा पाहुन हे !' गीत सुनिये। कितना मर्म-स्पर्शी है—

सामा खेले गेलौं बच्चन भइया अडना
कनिया भौजो लेत लुलुआय
छोड़ू ननदो आडना
इहां कहां आयल हे ?
जनि लुलुवाउ भउजो जनि पारू गारी
जयखन रहब माय-बापक राज
तयखन सम्मा खेलब हे
छुटि जयतय माइ-बापक राज
भउजो छुटि जयतय सखि सलहेर !
छोड़ब तोहर आडना हे !
बहुरि नहिं आयब हे !!
सुनइत में सुनलैन बच्चन भइया हे
भइया मारलनि बरछी घुमाय
बहिन मोरा पाहुन हे !

—बच्चन भइया के आंगन में सामा खेलने गई।
कनिया (छोटी) भौजी ने लुलुआ लिया;
अरी ओ ननद, मेरे आंगन से चली जा !
यहां कहां आई हो ?
ननद बोली—
अहो भौजी, मत लुलुआओ, मत गाली बको।
जबतक मां-बाप का राज है,
तबतक सामा खेलूंगी।
माता-पिता के बाद नैहर छूट जायगा,
अहो भौजी, छूट जायंगी ये सारी सखियां !
तुम्हारा आंगन भी आप-से-आप छूट जायगा !!
फिर कभी नहीं आऊंगी !
बच्चन भइया यह वार्ता सुन रहे थे।
भइया ने बरछी घुमाकर मारी और बोले—
बहन मेरा पाहुना है !
(इसका स्वागत करो)।

इस छोटे-से गीत में सामाजिक नियम पर एक चुटीला व्यंग कसा गया है। माता अपार कष्ट उठाकर बेटीको जन्म देती है। बड़े प्यार, परिश्रम और सतर्कता के साथ उसका पालन-पोषण करती है। उसे प्राणों से भी बढ़कर प्य र करती है और उसे सुख पहुंचाने के लिए अपने सुखों की आहुति दे देती है, पर जब वही बेटी विवाह के योग्य हो जाती है, तब उसे दो क्षण के लिए भी नहीं छोड़नेवाली माता हृदय पर पत्थर रखकर पराए घर भेज देती है। फिर जब तक माता-पिता जीवित रहते हैं दो दिन पाहुना बनकर आती है। माता-पिता के मरने के बाद नैहर से बिलकुल नाता टूट जाता है। इस प्रकार नारी जीवन के दो पहलू होते हैं—एक कुमारी अवस्था में और दूसरा विवाह के बाद। ये दोनों पहलू बिलकुल दो प्रकार के हैं और इसी बीच नारी जीवन का चरम विकास होता है।

खेल में भाई को सम्मानित करनेवाला गीत भी बहन गाती हैं—

धान-धान-धान त भइया कोठी धान
चुगला कोठी भुस्सा
आरे विरदावन जारे विरदावन
भइया मुख पान चुगला मुख कोयला
मटर-मटर-मटर त भइया कोठी मटर
चुगला कोठी फटर
आरे विरदावन जारे विरदावन
भइया मुख पान चुगला मुख कोयला
चाउर-चाउर-चाउर त भइया कोठी चाउर
चुगला कोठी छाउर
आरे विरदावन जारे विरदावन
भइया मुख पान चुगला मुख कोयला

—भइया की कोठी धान से भरे, धान से भरे ! धान से भरे !
और चुगला की कोठी में भूसा !
आओ वृन्दावन में आग लगावें, वृन्दावन में।
हमारे भइया के मुख में पान और चुगला के मुख में कोयला !
भइया की कोठी मटर से भरे, मटर से भरे !, मटर से भरे !

और चुगला की कोठी में फटर ! (अर्थात् कुछ नहीं !)
आओ वृन्दावन में आग लगावें, वृन्दावन में।
हमारे भइया के मूख में पान और चुगला के मुख में
कोयला !
भइया की कोठी चावल से भरे, चावल से भरे, चावल
से भरे !
और चुगला को कोठी छार (राख) से भरे !
आओ वृन्दावन में आग लगावें, वृन्दावन में !
हमारे भइया के मुख में पान और चुगला के मुख में
कोयला !

इस प्रकार प्रत्येक अनाज का नाम जोड़कर गीत की आवृत्ति की जाती है।

एक गीत में बहनें अपने पति को चोरी करते समय अपने भाई के द्वारा पकड़वा देती है, जो बहुत ही मनोरंजक दृश्य उपस्थित करता है--

सामा खेले गेलिअइ बच्चन भइया केर टोल
चन्द्रहार हेराइ गेल हो भइया डलवा लायगेल चोर
चोरवाक नाम गे बहिनी बताये देहु हे मोर
चोरवा-से-चोरवा भइया अनजानु रइया बरचोर
एक मुठी खरही गे बहिनो करहिन गे इंजोत
गाढ़े बान्ह बान्हिया हो भइया रेशम केर हे डोर
फूल साटि मारिहक हो भइया नयनमा ढरै हे नोर
एते नारि जनु मारहक हो सरबे बहनोइया होयबर तो !

--बच्चन भइया के टोला में मैं सामा खेलने गई।

हे भाई, वहां मेरा चन्द्रहार खो गया और मेरी चंगेरी किसीने चुरा ली।

भाई ने पूछा--बहन, चोर का कुछ पता बता सकती हो ? (किसीपर शक ?)

बहन बोली--हे भाई, अमुक राय बड़ा भारी चोर है। वही मेरा सब-कुछ ले गया होगा।

भाई बोला--हे बहन, एक मुट्ठी खर जला कर रोशनी करो, मैं चोर को पकड़ लूंगा।

(चोर पकड़ा भी जाता है।)

बहन मुस्कुराती है और कहती है--अहो भइया, रेशम की डोर से कसके बांधना और फूल की सोंटी (छड़ी) से खबर लेना। नयनों से आंसू झर-झर गिर रहे हैं बेचारे के !

चोर और कितनी मार खाये। बोला, "अरे साले ! अपने बहनोई को ही इतनी मार क्यों मार रहे हो ?

रहस्य खुल जाता है। सखियां सब ही-ही कर हँस देती हैं।

ससुराल में बन्दी-जीवन व्यतीत करती बहन भाई से मिलने के लिए व्याकुल हो उठी है। भरे लोचनों से गीत की पंक्तियां गुनगुनाते हुए बहन की आत्मा मानो स्नेह के स्वर्णिम प्रकाश से भर उठती है। और तब उसे लगता है, मानो सचमुच उसका भाई धूलभरी डगर होकर चला आ रहा है। कितना कोमल हृदय होता है बहन का ! भाई के देखते ही उसके चिर-संचित अश्रु झर पड़ते हैं और वह जार-बेजार रोने लगती है--भाई से जब उसकी व्यथा नहीं सही जाती तो कह उठता है, चुप रह, चुप रह ! तुम्हें बाबा की सम्पत्ति में आधा हक दे दूंगा--

चनन बिरिछ तर ठाढ़ि भेलि सामा बहिनो
ताकै बहिनो चकेवा भइया के बाट
अहि बाटे आवता भइया चकेवा
भइया देखब भरि अँखिया
डेनमा पसारि रोवे लागलि सामा बहिनो
देखि-देखि फाटे लागल भाय के छतिया
जनु कानू जनु खीझू हे सामा बहिनो
बाबा के सम्पतिया हे बहिनो
आधा के देबौ हे बांटि
बाबा के सम्पतिया हो भइया
तोहरे बाढ़हो हे राज
हम दूर देसनी हो भइया
पोटरिये केर हो आस
तोहरे सम्पतिया हो भइया
भतिजबा धरि हो आस
हम दूर देसनी हो भइया
सिनुरबे केर हो आस

--श्याम बहन चन्दन वृक्ष के नीचे खड़ी होकर चकेवा भइया की बाट जोह रही है। इसी बाट से (राह से) चकेवा भइया आवेंगे और मैं उन्हें नजर भरकर देखूंगी।

श्यामा बहन डैना फैलाकर रुदन करने लगी

(शेष पष्ठ २७ पर)

तुच्छ, फिर भी तुच्छ नहीं

●● रणजीत राय

मैं किसी प्रसिद्ध व्यक्ति की कथा सुनाने नहीं जा रहा हूं। किसी विदेशी की कथा भी नहीं। हमारे ही देश के एक तुच्छ लड़के की कथा है। नाम नहीं जानता। परिचय भी नहीं जानता।

ट्रेन से कलकत्ता जा रहा हूं। खूब भीड़ है। आदमियों, सन्दूक-बिस्तरों, और गठरियों से डिब्बा भरा हुआ है। गाड़ी का फर्श भी कूड़े से इतना भरा है कि बैठने की इच्छा नहीं होती। थूक, बादाम के छिलके, चना जोर गरम के फटे कागज और खाली पैकेट और आईसक्रीम की सींकें, सब इधर-उधर बिखरे पड़े हैं। किसी यात्री के अखबार में मुंह छिपाए बैठा हूं।

सामने की बैंच पर एक प्रौढ़ सज्जन बैठे हैं। उनके पास एक दस-ग्यारह वर्ष की आयु का लड़का बैठा है। शायद उनका नाती ही हो। प्रौढ़ सज्जन बैठे-बैठे पान खा रहे हैं। हठात् वह चिल्लाकर बोले, "ओ चाय वाले!"

गाड़ी में एक आदमी चाय बेच रहा था। जैसे ही उसने आकर एक कुल्हड़ चाय उनको दी, वह मुंह का पान फर्श पर थूककर चाय पीने लगे।

क्या देखता हूं कि दादा से छिपाकर लड़के ने उसे इकट्ठा कर लिया और उसके बाद मौका पाकर बाहर फेंक दिया। थोड़ा आश्चर्य हुआ। क्योंकि ऐसी बात प्रायः देखने को नहीं मिलती। थोड़ी देर बाद लड़के का कण्ठ-स्वर कान में पड़ा, "ओह दादा, अब कुल्हड़ भी यहीं फेंक दिया।"

देखा। दादा के मना करने पर भी लड़के ने फर्श से कुल्हड़ उठाकर बाहर फेंक दिया। और भी आश्चर्य हुआ। लड़के से पूछा, "क्या बात है बेटा, एक बार देखा कि तुमने चबाया हुआ पान फेंका। अब देखता हूं कि कुल्हड़ भी फेंक दिया। ऐसा न करते तो वे वहां पड़े ही रहते।"

लड़का कुछ देर मेरे मुंह की ओर देखता रहा। उसके बाद बोला, "गाड़ी पर हमलोग ही चढ़ते हैं। उसको गंदा करने से हमारी ही तो हानि होती है!"

मैं हँसकर बोला, "किन्तु गाड़ी के फर्श की ओर तो देखो। गंदा तो हो ही रहा है।"

लड़का भी हँस पड़ा। बोला, "सब गंदा करते हैं तो क्या इसीलिए हम भी करेंगे?"

मैं मुग्ध हो गया। उन प्रौढ़ सज्जन से बोला, "आपके नाती ने तो बड़ी अच्छी शिक्षा पाई है। हम स्वाधीन हो गये हैं, किन्तु आज तक भी स्वाधीनता का सम्मान करना नहीं सीखा। आज इस छोटे-से लड़के से मैंने वास्तविक स्वाधीन-मन का परिचय पाया है।"

गाड़ी के सभी लोग उस छोटे-से लड़के को देख रहे थे। शायद सोच रहे थे—यही तो नूतन दिवस का आलोक है। इसी प्रकार इन सब सुकुमार किशोरों के भीतर नया भारत नये रूप में जन्म ले रहा है।

(२)

एक दिन श्रीरामपुर के अस्पताल गया था। वहां का एक रोगी हमारा संबंधी था, उसे ही देखने जाना था। मिलने का समय संध्या के चार बजे था। लेकिन चूंकि मैं समय से कुछ पहले पहुंच गया था, इसलिए अस्पताल के आफिस में जा बैठा था और वहां के एक कर्मचारी के साथ बातें कर रहा था कि देखता हूं आठ-दस किशोरी कन्याएं अन्दर घुस आई हैं।

कर्मचारी ने उनसे पूछा, "तुम्हें क्या चाहिए?"

उनमें से एक लड़की आगे आई और बोली, "हमलोग 'शांतिकामी मनिमेला' से आ रही हैं। आज भाई-दूज है। हमने निश्चय किया कि इस अस्पताल के रोगी भाइयों को भैयादूज के उपलक्ष में कुछ फल भेंट करेंगी।"

लड़की की बात सुनकर कर्मचारी ने एक बार मेरे मुंह की ओर देखा। फिर धीरे-से बोला, "अद्भुत! ऐसा तो कभी नहीं देखा।"

इसके बाद वह उठा और उन्हें साथ लेकर रोगियों के कमरे की ओर चला। मैं भी पीछे-पीछे हो लिया।

एक छोटा-सा अस्पताल। एक हॉल में केवल पच्चीस रोगियों के रहने की व्यवस्था है। हम सब रोगियों के कमरे में जाकर हाजिर हो गये। कर्मचारी ने मुस्कराते हुए रोगियों के साथ लड़कियों का परिचय कराया और बोला, "ये लोग

भैया-दूज के उपलक्ष में आपलोगों की मंगल कामना के लिए कुछ फल देने आई हैं। आपकी इन नई बहनों के साथ मैं भी प्रार्थना करता हूं कि इनकी यह अपूर्व भैया-दूज सार्थक हो। आपलोग नीरोग होकर लौटें।"

स्तब्ध-मुग्ध होकर मैं उस अपूर्व दृश्य को देखने लगा। रोगियों के हाथ में फल देकर और प्रणाम करके वे लोग समवेत स्वर में बोली, "आपलोग नीरोग हो जायं।"

देखते-देखते मेरा मन भर आया। खुशी के प्रकाश से रोगियों के भी मुख और नेत्र चमक उठे। मन-ही-मन बोला, जिस देश की सुकुमारियों के प्राणों में इतनी ममता, सेवा का इतना बड़ा स्रोत छिपा है, उस देश को नये पथ पर चलने से कौन रोक सकता है। यही तेजस्वी प्राणवाली बालाएं तो नये भारत का कल्याण करेंगी और उसे उन्नति के मार्ग पर आगे बढ़ायेंगी।

(३)

श्रीरामपुर में नेताजी सुभाष रोड के ऊपर एक बंगाली होटल है। नाना कार्यों के लिए श्रीरामपुर जाना पड़ता था। बीच-बीच में वहीं खाना खाता था। उस दिन भी गया था। होटल में खाने बैठा था कि उसी समय एक किशोर वहां आकर खड़ा हो गया।

होटलवाला बोला, "यहां क्या करने आया है?"

कुंठित स्वर में लड़का बोला, "मुझे थोड़ा-सा भात खाने को देंगे?"

"भात! नहीं, नहीं, यह सब नहीं होगा। भिक्षा देने के लिए होटल खोलकर नहीं बैठा हूं।"

होटलवाले ने विरक्त होकर मुंह फेर लिया। लड़के की आंखें छलछला उठीं। हाथ जोड़कर बोला, "केवल आज के दिन बाबू। फिर कभी नहीं आऊंगा। कल से कुछ खाने को नहीं मिला है।"

इस बात पर होटलवाले का मन पिघल गया। उसने उसे सिर से पैर तक अच्छी तरह देखा। मैंने भी देखा। उसने एक फटी हुई पतलून और कमीज पहनी हुई थी। भूख और क्लान्ति से उसका मुंह सूख गया था। उसका भाव देखकर ऐसा लगता था कि वह इस तरह भीख मांगने का अभ्यस्त नहीं है।

होटलवाला बोला, "अच्छा आज तो खाना दे रहा हूं, किन्तु ऐसे भीख मांगने से कबतक चलेगा। तेरा शरीर स्वस्थ है। मेहनत करके क्यों नहीं खाता। भीख मांगना क्या अच्छी बात है।"

"कोई भी काम नहीं मिला, बाबू। आप मुझे कुछ काम देंगे?"

होटलवाला फिर विरक्त हो उठा। बोला, "मैं काम कहां से लाऊं। कहीं भी ढूंढ ले। इस समय एक मुट्ठी भात खाता जा।"

"नहीं बाबू।" बालक के कंठ में अचानक दृढ़ता भर उठी, "आपने ठीक ही कहा है। अब भीख का भात नहीं खाऊंगा। दया करके मुझे कुछ काम दीजिये। उसके बाद मैं खाऊंगा।"

मैं खाना भूलकर उसकी ओर ताकता रहा। लड़के ने किसी तरह नहीं खाया। अंत में होटलवाला बोला, "अच्छा बापू! तब तू उन सब बर्तनों को मांज डाल।"

लड़का एकदम राजी हो गया। कुछ बर्तन मांजने के बाद वह तृप्ति के साथ भोजन करने बैठा। होटलवाला भी मेरी तरह मुग्ध हो उठा। बोला, "क्यों, कल आयेगा?"

मृदुल हँसी हँसकर लड़का बोला, "हां बाबू, आपका काम करूंगा और खाऊंगा। समझ रहा हूं, बाबू। बिना काम किये भोजन की इच्छा करना ठीक बात नहीं।"

मेरे मन को चोट पहुंची। ऐसा प्रतीत हुआ मानो आज के परिश्रम से विमुख बंगालियों को रास्ता दिखाने के लिए यह किशोर कर्म के मार्ग पर उतर आया है। उसकी ही बात ठीक है। छोटे-बड़े काम का अंतर मिट जाना चाहिए। काम केवल काम ही होना चाहिए। **--अनु० स्नेहलता**

सब शुद्धियों में धन की पवित्रता ही श्रेष्ठ कही गई है, क्योंकि जो धन में शुद्ध है वही शुद्ध है। मिट्टी और जल द्वारा की गई शुद्धि शुद्धि नहीं है।

--मनुस्मृति

अहिंसा का पूर्णतया पालन

●● हरिकृष्णदास गुप्त 'हरि'

अहिंसा अमृत है। मानव की मानवता को अमरत्व इसीसे प्राप्त होता है। इसका जितना पालन किया जाय, थोड़ा।

मन में कभी किसीके प्रति तनिक-सा भी हिंसा-भाव न रखकर, व्यवहार में अहिंसक रहने के लिए सम्यक् सावधानी बरतने से अहिंसा का बहुत-कुछ पालन हो जाता है; परन्तु पूरा नहीं। सावधानी बरतते-बरतते भी अहिंसा हो जा सकती है, और फिर आहार में तो अनिवार्य रूप से हिंसा होती ही है। जीव ही तो जीव का जीवन ठहरा। मांसाहारियों पर ही यह बात लागू नहीं होती, शाकाहारी भी इसी कोटि में हैं। वनस्पति भी तो जीव-श्रेणी में ही है, जीवन-शून्य नहीं।

तो फिर प्रश्न यह है कि अहिंसा का पूर्णतया पालन कैसे हो!

प्रश्न गहरा है। गहराई में उतरकर ही कुछ हाथ लगेगा।

सबसे पहिले अहिंसा क्या है—इसे ठीक-ठीक समझें। किसीको किसी प्रकार भी कष्ट न पहुंचाना अहिंसा की परिभाषा की जाती है। जनसाधारण किसीका वध न करने को ही अहिंसा समझते हैं। यह भी उपरोक्त परिभाषा के अनुसार ठीक ही है, क्योंकि वध करने में प्राणों का शरीर से वियोग होता है और इससे प्राणी असीम कष्टानुभूति करता है। लेकिन विचारणीय तो यह है कि जब एक शल्य-चिकित्सक किसी रोगी को रोगमुक्त करने के लिए अपनी शल्य-क्रिया द्वारा उसे पीड़ा पहुंचाता है, तो इसे क्या हिंसा कहा जायगा? निश्चय से कदापि नहीं। ऐसे ही मीठी-मीठी बातों के प्याले में हलाहल भरकर कोई पिलाये—भले ही हलाहल की अनुभूति उस समय न हो रही हो—तो क्या उसका वह कार्य अहिंसात्मक कहा जायगा? उसे भी अहिंसात्मक नहीं कह सकेंगे। बात यह है कि किसीके प्रति कष्ट न होने का मुख्य लक्षण परिणाम में उसके लिए अनिष्टकर न होना है। अतः अहिंसा—परिभाषा का परिष्कृत रूप प्रत्यक्ष हुआ—किसी के प्रति किसी भी रूप में कदापि अहितकर न होना।

अहिंसा का स्वरूप ठीक-ठीक हृदयंगम कर लेने के बाद अब सवाल आता है उसके पूर्णतया पालन का। थोड़ा-बहुत पालन तो होता ही रहता है। यदि किसीके भी प्रति किसी भी रूप में कभी भी अहितकर न होने को साध लिया जाय, तो सहज अहिंसा का पूर्णतया पालन बन सकता है। हम किसीके प्रति अहितकर कब होते हैं? जब वह हमें हमारे प्रति अहितकर होता प्रतीत होता है अथवा जब हमें उसका हित अपने हित से टकराता लगता है। यह बात न हो तो हम कभी भी किसीके प्रति अहितकर न हों और सहज ही हमें अहिंसा-पालन की पूर्णता उपलब्ध हो जाय।

कोई हमारे प्रति अहितकर तभी होता है जब हम उसके प्रति कभी-न-कभी अहितकर रहे होते हैं। दुनिया में जो कर्मचक्र चल रहा है, उसकी धुरी 'अदले का बदला', 'क्रिया की प्रतिक्रिया' सिद्धान्त हैं। यदि हम उसके प्रति अहितकर न हुए होते, तो वह भी कभी हमारे प्रति अहितकर न हुआ होता। और अब हमारा पुनः उसके प्रति अहितकर होना चलते चक्र को और आगे चलाना मात्र है... उस दुःख-मूल चक्र को जो नितान्त अवांछनीय है। इसे कैसे उचित कहा जा सकता है? मान लिया जाय, वह हमारे प्रति बिना हमारे किसी अपराध के अहितकर होकर स्वयं चक्र का आरंभ कर रहा है। तब भी प्रतिक्रिया की रौ में बहकर हम क्यों चक्र को गति दें? सदा-सदा के लिए अपनेको चक्र-घूम में क्यों फंसाये! इसे बुद्धिमत्ता कौन कहेगा? हमारे अहितकर होने में ही हमारा अपना हित भी है। इसीसे हमारे प्रति उसकी अहितकरता समाप्त होगी। हमारे अहितकर न होने पर अडिग रहने से उसकी अहितकरता से भी हमारा हित ही होगा। वह हित में बदल जायगी।

जहांतक हितों के परस्पर टकराने की बात है, इसमें भी सार नहीं। यह भ्रान्त धारणा है। हित नहीं, स्वार्थ टकराया करते हैं। हित तो सबका समान होता है, एक होता है। हां, स्वार्थ की और बात है। वह स्व-पर का भेद खड़ा होने-पर जन्म लेता है। सापेक्ष दुःख-सुख से उनका सहारा

लेकर पनपता है। हित के यहां स्व-पर के भेद की गुंजायश नहीं। हित तो सापेक्ष दुःख-सुख से परे सत्य-सुखानुभूति की उपलब्धि में है और इसे सब उपलब्ध कर सकते हैं। किसीके लिए यह अनुभूति कम नहीं पड़ सकती। सब इसे पूरा-पूरा पा लें, फिर भी इसका पूरापन बना रहता है, ऐसी इसकी पूर्णता है। इधर तनिक और थाहने पर स्वार्थ के लिए स्थान ही नहीं बचता। सापेक्ष दुःख-सुख को लेकर वह चलता है, सो सापेक्ष वस्तुओं का अस्तित्व ही नहीं होता। अस्तित्व-विहीन वस्तुओं के चक्कर में क्यों पड़ा जाय? ऐसा ही जिस स्व-पर के भेद के खड़े हो जाने पर वह जन्म लेता है, वह भेद भी काल्पनिक है। 'स्व-पर' नाम से अलग-अलग कोई दो चीज नहीं हैं। सब सब तरह समग्र है—एक है। तन से, मन से, बुद्धि से (परे की बात फिलहाल जाने दें)। किसी तरह से भी क्या हम कह सकते हैं कि क्या कुछ (कुछ भी) केवल हमारा है ? कुछ-किसीको भी नहीं कह सकेंगे हम। हेर-फेरकर इसी बात पर आना होगा कि सब सबका का है... सब सब हैं। और जब यह बात है, तो स्वार्थ नाम की चीज ही नहीं बचती। हित टकराने का प्रश्न ही नहीं उठता।

इतना विचार लेने पर किसीके प्रति अहितकर होने में औचित्य-बुद्धि तो हमारी रहेगी ही नहीं। फिर भी अहितकर होना बनता है, तो समझ लेना चाहिए कि वह कु-अभ्यास के बल पर बनता है, उसका फल है। अभ्यास को अभ्यास से ही जीतना होगा। कु-अभ्यास को सु-अभ्यास में बदलना होगा। किसीके भी प्रति अहितकर न होने के लिए आपको सर्वभूत-हितकर होना होगा, सदा सतत सबके हित में लगे रहना होगा। और यह सहज है, स्वाभाविक है। अहितकर न हों हम किसीके प्रति और हितकर भी न हों उसके प्रति, यह चल नहीं सकता है। तटस्थता प्रतीत हो सकती है, पर है अस्तित्वविहीन वस्तु ही। अहित न करने में ही हित करना समाया रहता है।

तो निष्कर्ष यह निकला कि अहिंसा के पूर्णतया पालन के लिए हमें किसीके भी प्रति अहितकर न होकर सदा सतत सब के हित में लगे रहना चाहिए। इसीके लिए जीना चाहिए। यही जीवन है। इसीमें जीवन का रस है। और जब इसके लिए जीने की अपेक्षा मरना जरूरी हो जाय, तो खुशी-खुशी मर जाना चाहिए। वह मरना भी जीवन ही होगा, जीवन से भी बढ़कर, परम रसमय! सर्वभूत-हित के लिए विष-पान करनेवालों, फांसी के तख्ते पर झूलनेवालों एवं नानाविधि प्राण न्यौछावर करनेवालों के हृदयोल्लास का अनुमान कौन लगा सकता है? पर फिर भी क्या उसकी असीमता अविदित है? अविदित भी कहां-किसे है वह?

अहिंसा के पूर्णतया पालन का राजमार्ग खोजकर लेख तो एक प्रकार से समाप्त हो गया। फिर भी लेख के आरंभ में ही उठाई गई एक-दो बातों पर अभी और प्रकाश डालना होगा। एक बात तो सावधानी बरतते-बरतते हिंसा हो जाने की है। इसके संबंध में तो इतना ही कहना है कि उस हिंसा के लिए अहिंसा व्रतधारी नहीं, अपितु स्वयं हिंसित ही—उसका कर्म-चक्र ही—उत्तरदायी है। यह बात भी अहिंसा की केवल ऊपरी कष्टवाली व्याख्या को लेकर कही जा रही है। वैसे तो इस तरह भी उसका हित ही सधता है। सर्वभूतहितरतः के किसी प्रकार भी सान्निध्य में आकर, उसका साथ पाकर सहज सर्वभूत-हित यज्ञ में उसका साझा हो जाता है। उसकी जीवन-सार्थकता सहज उपलब्ध हो जाती है।

दूसरी बात आहारादि के रूप में अनिवार्य हिंसा की है। इसके संबंध में इतना ही कहना है कि अहिंसा-व्रत के पालनार्थ जबतक जीना मरने से अधिक महत्वपूर्ण हो, तबतक उचित आवश्यक आहारादि के रूप में जो हिंसा होती है, वह किसी भी तरह हिंसा नहीं है। वह तो उन्हें जिनका आहार किया जाता है, सर्वभूत-हितरतः की रसमयी मृत्यु प्रदान कर उनका जीवन सार्थक कर देना है, उनसे अपूर्व आत्मीयता में विभोर होकर एकाकार हो जाना है। लेकिन स्वयं को स्वयं ही छलना नहीं चाहिए। मरने से डरकर, जीवन-ध्येय के लिए जीवन से बढ़कर आवश्यक मृत्यु की अवहेलना करके जीवन लालसा से जीवित रहनेभर के लिए अथवा जिह्वा-लोलुपतावश भोगासक्त हो आवश्यकता से अधिक खाया-पीया गया, तो हिंसा, घोर हिंसा होगी ही। उसके फल-भोग से बचा नहीं जा सकता।

मानवता के नये चरण

●● रामनारायणसिंह चौहान

एक सफेद कुर्ता, सफेद पाजामा और घिस गई चप्पलें। तनिक लम्बी-सी नाक। श्यामवर्ण। बड़ी-बड़ी आंखें और अपनी विचारधारा में डूबा अपने रास्ते पर झपटकर चलता हुआ युवक यदि आपको भोपाल की किसी भी सड़क पर मिल जाय, तो आप विश्वास करलें कि यह कहानी उसीकी है।

और इस कहानी की नायिका अब भारत की राजधानी में रहती है, ऊंचे क़द की पतली-सी नाक, गौर वर्ण, छरहरा बदन और सौंदर्य कि स्पर्श करने का विचार रक्त के छल-छला आने के भय से भयभीत हो जाय।

दो साल पहले भोपाल के छात्रों, मनचले क्लर्कों और अवारा युवकों के मन पर इन दो साथियों की मित्रता ईर्ष्या के कारण सामाजिक अपवाद का आधार थी। कमला पार्क के आस-पास का क्षेत्र इस अपवाद-व्याख्यान का रंगमंच था—

"कैसे सड़ियल आदमी का साथ किया है।"

"कई बड़े-बड़े घरों की लड़कियां इसके पास आती हैं। यह उन्हें पढ़ाता है।"

"भाग्यशाली है। न रूप, न रंग और न पैसा। देखो न, इस नाज़नीन के साथ नौकर-सा लगता है।"

"लेकिन लड़की तो जैसे उसपर मर रही है। रात-दिन इसीके साथ घूमती है। अभी कल संध्या को स्टेशन पर देखा तो हैरान रह गया। कोई साहब था। गाड़ी से उतरा था। 'कुली-कुली' पुकारने लगा तो यही आगे बढ़ उसका सामान उठाकर बाहर लाने लगा। तब यह लड़की भी उसीके साथ साहब का सामान उठाने लगी। साहब भी हैरान था। बड़े गौर से इसे देख रहा था। जब बाहर टैक्सी पर दोनों ने सामान रख दिया तब साहब पांच रुपये का नोट देने लगा। लेकिन इन लोगों ने रुपया नहीं लिया। कह दिया, 'हम कुली नहीं है।'

"हां, तुम ठीक कहते हो। मैंने भी कई बार इन्हें स्टेशन पर कुली का काम करते हुए देखा है। लेकिन पैसा किसीसे भी नहीं लेते। लगता है कि स्टेशन के टी० टी० आई० भी इन्हें जानते हैं। वे कभी इन्हें रोकते नहीं। मैंने तो सुना है कि यह लड़की मुसलमान है। दोनों किसी प्रकार का छुआ-छूत नहीं मानते। तीन-चार दिन हुए, टी० टी० नगर में जो झोपड़े हैं, उनमें एक के यहां मैंने खाना खाते हुए भी देखा है। उस गंदे झोपड़े में यह लड़की ऐसे पसरकर बैठी थी जैसे कीचड़ पर प्रभात की पहली किरन।"

सभी कहकहा मारकर हँसने लगे। एक अबतक चुप था। संभवतः अधिक भरा था। उसने कहा, "उन झोपड़ों में ये बड़ा काम कर रहे हैं। जब इनके यहां छुट्टी होती है तब ये सारा-सारा दिन वहां पढ़ाने का काम करते हैं। वहां के लोग अब तो काफी सीख चुके हैं। पहले तो ये स्वयं ही उनके बच्चों को नहलाते थे। उनके कपड़े धोते थे। उन्हें स्कूल भिजवाते थे। गलियां साफ करते थे। यहांतक कि झोपड़ों के अंदर की व्यवस्था भी ठीक करते थे। अब तो केवल पढ़ाने का काम रह गया है। स्त्री औरतों और लड़कियों को पढ़ाती है और युवक, लड़कों तथा पुरुषों को।"

"मैंने तो सुना है कि इन्होंने एक पुस्तकालय भी वहां खोला है।" और वह नवागन्तुक जिज्ञासा से प्रवक्ता की ओर ताकने लगा।

"हां, खोला है। वहां मुफ्त पुस्तकें दी जाती हैं। लेकिन केवल झोपड़ेवालों को ही। ये स्वयं घर-घर किताबें दे आते हैं। उनको पढ़ने के लिए उत्साहित करते हैं और वापस भी लाते हैं।"

"काम तो अच्छा ही करते हैं। सुना है, शराब-बंदी पर अधिक ज़ोर देते हैं। घर-घर जाकर मज़दूरों को ऐसा समझाते हैं कि बस, वे हाथ से भी शराब न छूने की क़सम खा लेते हैं।"

"हां, यह तो सब सच ही है। ये उदार भी बहुत हैं। कल कोतवाली के सामने एक बुढ़िया ट्रक की चपेट में आगई थी। ये दोनों उसी समय बस से वहां उतरे थे। बस, पलक मारते ही एक टैक्सी बुलाकर उसे अस्पताल ले गये। भीड़ हक्का-बक्का होकर इन्हें देखती रही।"

एक अबतक चुप था। वह क्लर्क ही था, क्योंकि उसकी

जानकारी शून्य से अधिक न थी। पत्नी और बच्चे भी कुछ दूरी पर बैठे थे और बच्चे बार-बार उसके पास आ जाते थे। उसने पूछा, "लेकिन ये दोनों यहां क्या करते हैं ?"

"लीजिये ! आपको यह भी नहीं मालूम ! लड़का कॉलेज में है, एम० ए० में और लड़की मेडिकल कॉलेज में पढ़ती है। दोनों का अंतिम वर्ष है।"

क्लर्क ने फिर जिज्ञासा की, "तो क्या दोनों ने विवाह कर लिया है ?"

"विवाह तो अभी नहीं किया। रहते भी अलग-अलग हैं; लेकिन, एक ही मकान में। इसी गिन्नोरी रोड पर। ऊपर के तल्ले में लड़की, नीचे लड़का। लेकिन पति-पत्नी से भी अधिक घनिष्ठता है इनमें।"

"क्या पता विवाहित ही हों", अन्य ने कहा। "लोग तो ऐसा ही सोचते हैं और विवाह न किया हो तो और भी बुरा है। रहते तो साथ-ही-साथ हैं।"

कमला पार्क के आस-पास आते-जाते, घूमते-फिरते और उठते-बैठते ऐसी ही टीका-टिप्पणियां सुनते-सुनते मैं भी उस युवक और युवती से परिचित हो गया था। प्रातः मैं सदरमंजिल की ओर ट्यूशन पढ़ाने जाता था और यही इनके कॉलेज का समय था। अतः कॉलेज से लेकर कमला पार्क के मोड़ तक के फुटपाथ पर कहीं-न-कहीं ये दिखाई ही पड़ जाते थे।

और तब एक दिन मेरी आंखों की पुतलियों में एक महान् आश्चर्य झूल गया। देखा, अकेला युवक पुस्तकें बग़ल में दबाये एक पुस्तक को पढ़ता हुआ मन्थर गति से कॉलेज की ओर फुटपाथ पर ही चला जा रहा था।

"कॉलेज बंद हो चुका है क्या ?" मन ने पूछा।

हां, परीक्षाएं तो कबकी समाप्त हो चुकी हैं । मैं इधर एक सप्ताह से बाहर था। हो सकता है कि युवती अपने माता-पिता के पास दिल्ली चली गई हो। उसकी परीक्षा तो और भी पहले हो चुकी थी। लेकिन आज ग्यारहवां दिन ही तो है। उस दिन शाम को स्टेशन पर तो दोनों ही थे।

तभी युवक के बराबर सड़क पर चल रहे भैंसों के झुण्ड में एक भैंस दूसरी पर बिजली की तरह टूट पड़ी। जो निर्बल थी, वह जान छोड़कर भगी और युवक को एक करारा धक्का देती हुई निकल गई।

युवक, युवक ही था। उसके रक्त में यौवन का शौर्य प्रवहमान था। उसकी नसों में शक्ति की सम्पदा सम्पूर्ण हो रही थी। अतः भैंस के करारे धक्के के बाद भी वह गिरा नहीं, जैसे गिरना उसकी जीवन-शक्ति के लिए हेय था। लड़खड़ा भर गया और उसकी पुस्तकें छूटकर बिखर गईं।

युवक ने इधर-उधर देखा। सड़क पर भीड़ न थी। इक्के-दुक्के लोग ही आ-जा रहे थे। मैं ही उसके सबसे अधिक निकट था। युवक शीघ्रता से अपनी पुस्तकें उठाकर आगे अपनी दिशा को बढ़ चला। लेकिन मैं देख रहा था कि उसका कोई काग़ज रहा जा रहा है।

"यह कोई पत्र ही है"--मैंने सोचा। निकट चला गया। वह पत्र ही था, जो सड़क और फुटपाथ के बीच नाली के किनारे उसकी ऊंचाई के साथ खड़ा था। मैंने साइकिल घुमा दी। पास ही साइकिल खड़ाकर इधर-उधर देखने लगा, "कोई देख तो नहीं रहा है।" तब मैंने उसे सावधानी से उठा लिया। लेकिन अब मेरा मन पत्र पढ़े बिना ट्यूशन पर जाने के लिए तैयार न था। दूसरे ही क्षण मैं सदरमंजिल के सामने की ओर भोपाल ताल की सीढ़ियों पर आ बैठा और पत्र का पता पढ़ने लगा--

श्री गिरजाशंकर शर्मा, एम० ए०
गिन्नोरी रोड,
भोपाल (म० प्र०)

"अच्छा, तो आप शर्माजी हैं"--मन ने सोचा-समझा और एक गुदगुदी आ गई, जैसे उसने उनके रहस्यमय प्रेम के किसी प्रमुख सूत्र को पा लिया हो। अवश्य ही इस पत्र से युवती के प्रेम पर कुछ प्रकाश पड़ेगा। मैं मूल्यवान् काग़ज पर लिखे पत्र को बड़ी तल्लीनता से पढ़ने लगा--

११६ जी० ए० मोतीबाग,
नई दिल्ली-३
२३-५-'५६

आदरणीय भाई शर्माजी !

नमस्ते !

आपका कार्ड मिला। आज ही मैं बड़े भाई को बम्बई तक छोड़कर वापस आई हूं । वे विदेश प्रवास पर जा रहे हैं। उन्होंने आपको 'नमस्ते' भेजा है।

यहां का वातावरण नीरस है। वहां तो मैं आपके साथ

कितना व्यस्त रहती थी। अब पता नहीं कि आप इतना सारा काम वहां अकेले कैसे करते हैं। मुझे जब कभी आपकी और भोपाल की याद आती है, तब सोचती हूं कि भोपाल आप-जैसे हसीन जिन्दगीवालों की कार्यक्षमता से गुलज़ार है। आपकी आदतों के कितने ही गुलदस्ते मेरी आंखों में आज भी उतर-उतर आते हैं और मेरी जिंदगी का कोना-कोना महमहा उठता है। आपकी इंसानियत के कितने ही सबक़ मेरी आंखों के सामने खुले हैं और मैं हूं कि उन्हें पढ़ने में तल्लीन हूं। आपकी खुशनुमा सादगी के कितने ही जज़बात मेरे दिल-दिमाग़ पर छाये रहते हैं और मैं हूं कि उनपर चलने की कोशिश में खुशी की बहार बटोर लेती हूं। आपकी ईमानदारी, योग्यता और सचाई सब-के-सब मेरी जिंदगी के पहरेदार हैं और उन सारे लोगों की जिंदगी के, जो आपके साथ रहने का अवसर पा चुके हैं। मेरी मजबूरी को भी तो देखिये कि करीब-से-करीब रहकर आपको जितना देख सकी, उतना ही हर दूरी पर रहकर देखने के लिए लाचार हूं और इससे अलग कोई दूसरी हालत उन अपढ़ मज़दूरों की भी नहीं हो सकती, जिन्होंने अपनी अंधेरी ज़िंदगी को आपकी रोशनी से रोशन कर लिया है। इससे बड़ी कामयाबी किसी जिंदगी के पास और क्या हो सकती है।

बाकी मैं अच्छी हूं। बेकार बैठे-बैठे अच्छा नहीं लगता। नौकरी करना मुझसे होगा ही नहीं। कहीं निजी प्रैक्टिस करने का विचार है। दिल्ली में भी काम करने को काफ़ी है, लेकिन अकेले मैं क्या कर सकूंगी——यही सोचती हूं। अब आपका क्या विचार है? माताजी आपको याद करती हैं। कभी अवकाश निकालकर आइये न ! भाभीजी को मेरा नमस्ते कहें और प्रिय विजय को प्यार !

हां, पत्र का उत्तर शीघ्र देना। प्रतीक्षा करूंगी।

आपकी छोटी बहन,
अमीना"

पत्र समाप्त करते-करते मुझे पसीना आ गया। सामने दूर तक फैली हुई नीली जल-राशि पर एक छाया-सी उभर आई——वही सफेद कुर्ता, सफेद पाजामा और घिसी हुई चप्पलें। मैं श्रद्धावनत होकर प्रणाम ही करना चाहता था कि आकृति विलीन हो गई और उसी पृष्ठभूमि पर स्वतंत्र भारत का मानचित्र उभर आया।

(पृष्ठ २० का शेष)

रूदन सुनकर भाई की छाती फटने लगी
हे श्यामा बहन, मत रोओ, मत कपसो !
हे बहन, मैं तुम्हें बाबा की आधी सम्पत्ति बांट दूंगा।
अहो भैया, बाबा की सम्पत्ति से तुम्हारा ही राज्य बढ़े।
मैं तो दूर देश में रहनेवाली हूं;
मुझे एक पोटली भर (मिठाई) की आशा रहने देना।
अहो भैया, तुम्हारे पास अगर सम्पत्ति रहेगी
भतीजे तक मेरी आशा बंधी रहेगी। (वह भी मुझे पूछेगा।)
मैं तो दूर देश में रहनेवाली हूं।
अहो भैया, मुझे तो सिन्दूर की ही आशा है !
(मैं सदा सुहागिन बनी रहूं, यही मनाओ।)

इस गीत में भाई-बहन के प्रेम की सुन्दर अभिव्यक्ति की गई है। बहन भाई की सदा से मंगल कामना करती आई है। उसे भाई की सम्पत्ति में हिस्सा नहीं चाहिए, उसे चाहिए भाई का स्नेह। वह बराबर आता-जाता रहे और पोटली भर मिठाई से बहन का आदर करता रहे।

बहन तो भाई के आने पर पड़ोसिन से पूछ कर घी का अदहन देती है और घी से ही चौका लगाती है, भाई को खिलाने के लिए भोजन सामग्री तैयार करने के लिए। काश ! भाई के हृदय के किसी कोने में बहिन के प्रति स्नेह-प्यार होता ! आज तो बेचारी की गति बकरी के मेमने की तरह है !

इस प्रकार 'सामा-चकेवा' के गीतों में मिथिला की बहनों ने जितना भी गाया है, उसमें तैरती हुई सुख-दुःख की अनुभूतियां हैं, जो अनोखी हैं, और हृदय-स्पर्शी भी। जीवन की नाना घटनाओं को उसने अपने इन गीतों को पिरोया है।

हां, इन गीतों में आधुनिक कविता की तरह न तो शब्द-जाल है और न छन्दों का कोई बन्धन। जिस प्रकार नदी की धारा स्वच्छन्द कल-कल, छल-छल गति से बहती चलती जाती है, जंगल में फूल अपनी स्वाभाविक खुशी के साथ सौन्दर्य की सृष्टि करते हैं, ठीक इसी तरह मैथिली लोकगीतों में छन्द की कोई बाधा नहीं है, पर मधुरता और स्वरलहरी का अभाव कहीं नहीं खटकने पायेगा।

भारत में सत्य और अहिंसा

गौरीशंकर द्विवेदी 'शंकर'

भारतीय संस्कृति में सत्य और अहिंसा के आचरण पर युग-परंपरा से महत्वपूर्ण स्थान दिया गया, उसके द्वारा ही मानव, समाज और विश्व का कल्याण संभव है, ऐसा माना गया है।

सत्य और अहिंसा का जितना अधिक प्रभाव इस देश में रहा है, उतना शायद ही कहीं और रहा हो, इतिहास इसका साक्षी है।

हमारा ग्राम्य-जीवन भारत का प्रतिबिम्ब है और हमारे लोक-गीत उसके प्रतीक हैं, बहुत-सी बातें हमारे इतिहास-ग्रंथ नहीं बतला सकते, उनको हम लोक-गीतों में पा जाते हैं।

शोध करनेवाले इस तथ्य को भली प्रकार अनुभव करते होंगे कि हमारे असंख्य ग्राम-वासी अपने देश की प्राचीन संस्कृति को अब भी अपनाये हुए हैं। कितने ही संघर्ष उन्होंने झेलें, किन्तु अपनी परंपराओं को नहीं छोड़ा, दीन-हीन हो जाने पर भी सत्य से नहीं डिगे, यही कारण है कि देश की सांस्कृतिक रस-धारा सूखने नहीं पाई।

समूचे देश में गांव-गांव वर्षारम्भ चैत्र और मध्यवर्ष आश्विन में नव-रात्रि का उत्सव मनाया जाता है। इस अवसर पर शक्ति-साधना-संबंधी कितने ही गीत प्रायः दो सप्ताह तक गाये जाते हैं जो 'पंचारे' या 'माता के गीत' कहलाते हैं। शोध करनेवालों के लिए उन गीतों में प्रचुर सामग्री विद्यमान है।

प्रचलित अनेकानेक गीतों में से पाठकों को यहां केवल एक गीत से अवगत कराया जा रहा है।

ग्राम-वासी उस आदि-शक्ति को भवानी या भुमानी, भगवती, जगतारण मैया, देवी-माता, देवी-जालपा और दुर्गा आदि नामों से स्मरण करते हैं, किन्तु तात्पर्य उनका केवल उसी एक शक्ति से होता है, जिससे यह अखिल विश्व आलोकित होकर चल रहा है।

प्रस्तुत गीत में सुरहिन-गाय, उसके बछड़े और कजली-वन के शक्तिशाली सिंह का चरित्र-चित्रण है। यथा—

दिन की उंगन, किरन की फूटन,
सुरहिन वन को जाय, हो माय।
इक वनचाली सुरहिन, दुज वन चाली,
तिज-वन पहुंची जाय, हो माय।
कजरी-वन हरौ चन्दन-बिरछा,
जां सुरहिन मौं डारौ, हो माय।
इक मौं घालौ सुरहिन, दुज-मौं घालौ,
तिज-मौं सिंघा गुंजारे, हो माय।
अब की चूक बगस बारे सिंघा,
घर बछेरा नादान, हो माय।
को तोरौ सुरहिन लाग-लगनियां,
को तोरौ होत जमान, हो माय।
चन्दा-सुरज मोरे लाग-लगनियां,
बनसपति होत जमान, हो माय!
चन्दा-सुरज दोउ ऊंगै-अथैबैं,
बनसपती झर जाय, हो माय।
धरती के वासक मोरे लाग-लगनियां,
धरती होत जमान, हो माय।
इक वन चाली सुरहिन, दुज वन चाली,
तिज वन बगर रँभानी, हो माय।
वन की हेरी सुरहिन बगरन आई,
बछेरे रांभ सुनाई, हो माय।
आओ आओ बछरा, पी लो मोरौ दुदुआ,
सिंघा बचन वे आई, हो माय।
ऐसौ दुदुआ न पियौं मोरी माता,
चलौं तुमाये संग, हो माय।
आगे-आगे बछरा, पीछे-पीछे सुरहिन,
दोउ मिल वन कौं जांय, हो माय।
इक वन चाली सुरहिन, दुज वन चाली,
तिज वन पौंची जाय, हो माय।
उठ उठ हेरे वन कौ सिंघा,
सुरहिन अभउँ न आई, हो माय।
बोल की बांदी, बचन की सांची,
एक गई, दो आई, हो माय।
पैलें ममईयां हमइं कौं भख लो,

पीछें हमाई मताई, हो माय।
कौनें भनेजा तोय सिख-बुधदीनी,
कौन लगौ गुर-कान, हो माय?
देवी जालपा सिख-बुध दीनी,
वीर-लंगुर लगे कान, हो माय।
जौ कजरी-वन तोरौ भनेजा,
छुटक चरौ मैदान, हो माय।
सौ-गउ आँगें, सौ-गउ पाछें,
हुइयौ बगर के सांड़, हो माय।

अर्थात्--

प्रातःकाल सूर्य की किरण प्रकट होते ही सुरहिन गाय वन में चरने के लिए जाती है।

सुरहिन एक वन चली, दूसरे वन चली और तीसरे वन में पहुंच गई।

तीसरे वन (कजरी-वन) में चन्दन का हरा-भरा वृक्ष था, उसमें उसने मुंह मारा और चरने लगी।

सुरहिन ने पहला मुंह मारा, दूसरा मुंह मारा और तीसरा मुंह मारा ही था कि सिंह की दहाड़ सुन पड़ी।

सुरहिन गाय ने सिंह से अनुनय-विनय की कि इस बार उसे क्षमा मिल जाय, उसका दुधमुंह बछड़ा घर पर है।

सिंह ने कहा, "सुरहिन! तेरी बात का समर्थन करनेवाला और तेरी साख का जमानत देनेवाला भी कोई है?"

गाय ने कहा, "चन्दा और सूरज मेरी सत्यनिष्ठा से परिचित हैं, और ये हरी-हरी वनस्पति मेरी जमानत देंगी।"

सिंह ने कहा, "चन्द्रमा और सूर्य तो प्रतिदिन उगते और अस्त होते हैं, यह वनस्पति भी सूखकर झड़ जाती है, इनकी क्या जमानत।"

गाय ने कहा, "पृथ्वी को उठानेवाले वासुकि मेरी साख देंगे और स्वयं धरती-माता मेरी जमानत करेंगीं।"

सिंह ने जाने की अनुमति दे दी, सुरहिन एक वन चली, दो वन चली और तीसरे वन चलकर घर के बगर में रंभानी।

वन में गई हुई सुरहिन बगर में लौट आई, उसकी रांभ बछड़े को सुनाई दी। वह दौड़कर मां के पास आया।

सुरहिन ने कहा, "आओ मेरे बेटे! पेट भरकर मेरा दूध पी लो, फिर मुझे लौटना है। सिंह को वचन दे आई हूं।"

बछड़े ने कहा, "तू वचन-बद्ध है मैं ऐसा दूध नहीं पीता, तेरे साथ मैं भी चलूंगा।"

आगे-आगे बछड़ा और पीछे-पीछे गाय दोनों वन को चले।

एक वन चली, दो वन चली आखिर तीसरे वन में सुरहिन पहुंच गई। बिलम्ब होते देखकर सिंह उठ-उठकर देखता था कि सुरहिन अबतक नहीं आई है, तबतक उसकी दृष्टि सुरहिन पर पड़ी। उसने मन में विचार किया कि गाय बात की धनी है। अकेली गई थी और दो होकर लौटी है।

बछड़े ने सिंह के पास पहुंचते ही कहा, "मामाजी! आप पहले मुझे खा लीजिये, पीछे मेरी मां को।"

सिंह ने कहा, "मेरे प्यारे भानजे! तुमको इस प्रकार की सुबुद्धि किसने दी, ऐसा तेरा कौन गुरु है, जिसने कान फूंककर ऐसा उत्तम गुरु-मंत्र दिया है?"

बछड़े ने कहा, "देवी जालपा की साधना से सुबुद्धि मिली और वीरवर लंगुड़े मेरे गुरु हैं।"

सिंह ने कहा, "यह समस्त कजरी वन अब तुम्हारे अधिकार में है, स्वच्छंदतापूर्वक इसमें चरते रहना। मेरी अभिलाषा है, तुम इतनी शक्तिशाली बनो कि सौ गायें तुम्हारे आगे और सौ गायें तुम्हारे पीछे चलें और तुम उस समूह के शक्तिशाली सांड हो।"

गीत के कथानक में सुरहिन गाय की साख के साथ-ही-साथ बछड़े का त्याग और सिंह की भावना-परिवर्तन का मार्मिक ज्ञान मिलता है।

बुद्धिवादी वर्ग तर्क कर सकता है कि क्या यह भी संभव है? ऐतिहासिक तत्वान्वेषियों से यह छिपा नहीं है कि सरल पंचतंत्र आदि पुस्तकों में ऐसी घटनाएं हैं, जहां पशु-पक्षी प्रश्नोत्तर करते हैं, पहेलियां बुझाते हैं, और ज्ञान के ऊंचे-से-ऊंचे मर्म को व्यक्त करते हैं।

यह गीत सुरहिन और सिंह तक ही सीमित नहीं रहता। उससे समूचे देश की कोमल भावनाएं ध्वनित हो उठती हैं। भारतीय संस्कृति को जब हम दृष्टि में रखते हैं तो सिंह का विश्वास कर लेना, गाय का लौटकर आना और बछड़े के मामा कहने पर सिंह का हृदय-परिवर्तन हो जाना असंभव नहीं जान पड़ता। सत्याचरण से असंभव भी संभव हो जाता है, इसे इस गये-बीते युग में विश्व-वंद्य बापू ने स्पष्ट दिखलाकर विश्व को शान्ति और सुरक्षा का सर्वोत्कृष्ट मार्ग दिया है।

नवजीवन प्रकाशन मंदिर, अहमदाबाद के प्रकाशन

१. *मेरे सपनों का भारत* : लेखक : गांधीजी; संग्राहक : श्री आर० के० प्रभु; पृष्ठ-संख्या : ३३६; मूल्य : रु. २.५० नये पैसे।

२. *आशा का एकमात्र मार्ग* : लेखक : श्री रिचर्ड बी० ग्रेग; अनुवादक : श्री रामनारायण चौधरी; पृष्ठ-संख्या : २२२; मूल्य : २ रुपये।

३. *विचार-दर्शन* (दूसरा भाग) : लेखक : श्री केदारनाथ; अनुवादक : श्री रिषभदास रांका; पृष्ठ-संख्या : १४७; मूल्य : रु. १.५० नये पैसे।

४. *गीता-बोध* : लेखक : गांधीजी; अनुवादक : श्री अमृतलाल ठाकोरदास नाणावटी; पृष्ठ-संख्या : ७०; मूल्य : ५० नये पैसे।

५. *संरक्षकता का सिद्धान्त* : लेखक : गांधीजी; संग्राहक : श्री रवीन्द्र केलकर; पृष्ठ-संख्या : ४४; मूल्य : ३० नये पैसे।

६. *भारत की खुराक की समस्या* : लेखक : उपरोक्त; संग्राहक : श्री आर० के० प्रभु; पृष्ठ-संख्या : ६८; मूल्य : ५० नये पैसे।

७. *शराबबंदी होनी ही चाहिए* : लेखक तथा संग्राहक : उपरोक्त; पृष्ठ-संख्या : २८; मूल्य : २५ नये पैसे।

(१) मेरे सपनों का भारत में गांधीजी के उन ७५ लेखों तथा लेखांशों का संग्रह है जो यंग इंडिया, हरिजन, तथा हरिजन-सेवक पत्रों तथा दिल्ली-डायरी और मंगल-प्रभात पुस्तक में प्रकाशित हुए थे। इनमें स्वराज्य, समाजवाद, साम्यवाद, सर्वोदय, हड़ताल, वेकारी, संरक्षकता, सत्याग्रह, किसान, ग्रामोद्योग, गोरक्षा, स्वच्छता, शराबबंदी, नई तालीम, शिक्षा, राष्ट्रभाषा, संतति, नियमन, अस्पृश्यता, अल्प-संख्यकों की समस्या तथा भारत और विश्व-शांति आदि विषयों का संग्रह है। य सब उन विचारों पर प्रकाश डालते हैं, जिनके अनुसार वे भारत के भावी निर्माण का स्वप्न देखते थे। आज की परिस्थिति में इनपर कितना अमल हो सकता है, यह विवेक के साथ व्यावहारिक दृष्टि से सोचना चाहिए। पुस्तक का प्राक्कथन हमारे राष्ट्रपति राजेन्द्रप्रसादजी ने लिखा है, जो गांधीजी के विचारों की महत्ता को समझने में सहायक है। उन्होंने ठीक ही लिखा है, "यह पुस्तक इस विषय के साहित्य में एक भूल्यवान वृद्धि है।"

(२) **आशा का एकमात्र मार्ग**—श्री रिचर्ड बी० ग्रेग ने विज्ञान, शिल्प-विज्ञान, उद्योगवाद के बीच रहकर उनका अध्ययन किया है। वह एक अच्छे विचारक हैं और संसार की समस्याओं को समझते हैं। उनकी यह पुस्तक पहले १९५२ में प्रकाशित हुई थी और उसमें पूंजीवाद, साम्यवाद, समाजवाद पर गंभीर अध्ययनपूर्ण विचार प्रकट किये थे। प्रस्तुत पुस्तक में तीन अध्याय (१) भारत सरकार का कार्यक्रम, (२) विवेकपूर्ण उद्योगवाद की सिफारिश; और (३) गांधीजी का कार्यक्रम और जोड़ दिये हैं। भारत में इस समय जो आर्थिक तथा राजनीतिक परिवर्तन तथा प्रयोग हो रहा है, उसे संसार की समस्याओं की पृष्ठभूमि में समझने में यह पुस्तक अत्यंत सहायक होगी, ऐसा विश्वास है। पुस्तक चिंतन तथा मनन के लिए प्रचुर सामग्री देती है।

(३) **विचार-दर्शन** (दूसरा भाग)—श्री केदारनाथजी एक महान् विचारक हैं तथा सात्त्विक विचारों के द्वारा मानव के उत्थान में सहायक साहित्य की रचना कर रहे हैं। प्रस्तुत पुस्तक अनुवाद उनके मराठी लेखों के संग्रह से गुजराती में किया गया था। उसका यह हिन्दी-अनुवाद श्री रांकाजी ने किया। पुस्तक में चौबीस लेख तथा संवाद आदि हैं जिनमें जीवन के ध्येय, जीवन और धर्म, श्रेष्ठ जीवन की

शिक्षा, मानसिक नीरोगता, व्रतों की आवश्यकता तथा सब की भलाई में हमारी भलाई आदि लेख हैं। पुस्तक प्रेरणा-दायक तथा शिक्षाप्रद विचारों से पूर्ण है और सात्त्विक विचार-भोजन देती है। अनुवाद अच्छा प्रवाहपूर्ण है।

(४) **गीताबोध**—यह गांधीजी की प्रसिद्ध पुस्तक का गांधी हिन्दुस्तानी साहित्य सभा, दिल्ली द्वारा हिंदुस्तानी में तैयार किया हुआ संस्करण है। पुस्तक की भाषा सरल तथा सुबोध है और उसमें गीता के तात्पर्य को जनता के लिए उपयोगी तौर पर दिया गया है। साधारण पढ़ी-लिखी जनता के लिए यह सुन्दर तथा उपयोगी है।

(५) **संरक्षकता का सिद्धान्त**, (६) **भारत की खुराक की समस्या**, (७) **शराबबंदी होनी ही चाहिए** पुस्तिकाएं गांधी विचार-माला में प्रकाशित हुई हैं। इन सबके विषय उनके नामों से प्रकट हैं। पुस्तकें गांधीजी के विचारों को समझने में सहायक हैं और नव-साक्षरों, ग्रामीणों तथा प्रौढ़ों के लिए उपयोगी हैं। पुस्तकें अधिक-से-अधिक प्रचार के योग्य हैं। सभी पुस्तकों का मुद्रण, कागज तथा गेटअप आदि सुन्दर है और मूल्य बहुत कम है।

किताब-महल, इलाहाबाद के प्रकाशन

१. *अनचाहा* **(उपन्यास) : लेखिका : डा० कंचनलता सब्बरवाल; आकार : क्राउन अठपेजी; पृष्ठ-संख्या ३६०; सजिल्द, मूल्य दिया नहीं।**

२. *प्रेमिकाएं* **(उपन्यास) : श्री विश्वंभर 'मानव'; आकार क्राउन अठपेजी; पृष्ठ-संख्या : ३२४; मूल्य : ५ रुपये।**

३. *हमीर राव* **(खण्ड काव्य) : रचयिता : श्री सभामोहन अवधिया 'स्वर्ण सहोदर'; पृष्ठ-संख्या : ७६; मूल्य : रु. १.२० नये से।**

४. *नया समाज* **: लेखक : श्री चम्पालाल रांका; आकार डिमाई; पृष्ठ-संख्या : ५८; मूल्य : ७५ नये पैसे।**

५. *नया ज्ञान* **: लेखक : उपर्युक्त; पृष्ठ-संख्या : ४४; मूल्य : ७५ नये पैसे।**

(१) **अनचाहा** : डा० कंचनलता की प्रौढ़ लेखनी से रचित उत्सुकता तथा प्रवाहपूर्ण नया उपन्यास है, जिसमें ग्रामोद्योग तथा ग्रामोद्धार के कार्य में रत एक दम्पती की कहानी है। इसमें नेताओं, मिल-मालिकों तथा दूसरे कार्य-कर्ताओं के कामों पर अच्छा प्रकाश डाला गया है। इसका मुख्य पात्र सत्य का एकनिष्ठ पुजारी है और अपने आदर्श को नहीं छोड़ता। उपन्यास को पढ़ना आरंभ करने के बाद छोड़ने को जी नहीं चाहता।

(२) **प्रेमिकाएं** : श्री विश्वंभर 'मानव' का प्रेमविषयक उपन्यास है। इस उपन्यास में कालेज के कई छात्र और छात्राओं तथा दूसरी स्त्रियों को प्रेम की कहानी है। उपन्यास का मुख्य पात्र जगदीश है, जो आर्थिक कठिनाई के बावजूद पढ़ने के लिए चल पड़ता है, और एक वेश्या की लड़की नयन के मकान में रहता है; पर कई लड़कियों जैसे प्रीति, सीमा, कालिंदी, बानू आदि से प्रेम करता है। उसके और साथी भी प्रेम करते हैं। उपन्यास में कालेज के उन विद्यार्थियों के चरित्र का अच्छा चित्रण है जो अपने मां-बाप को धोका देकर रुपया एंठते हैं, मौज उड़ाते हैं और पथभ्रष्ट होकर प्रेम आदि के चक्कर में फंस जाते हैं। जगदीश नयन से भी प्रेम करता है, पर वह उससे कटी-कटी रहती है। पर जब उसे मालूम होता है कि वह वेश्या की लड़की है, तभी वह उसके मकान से चला जाता है। इसे जातीय संस्कारों की प्रबलता कहा जा सकता है, पर है यह प्रथम श्रेणी की कृतघ्नता। जगदीश ने प्रेम किया कई लड़कियों से, पर पाया किसीको नहीं और अंत में अपने जीवन को सारहीन बना दिया। पुस्तक में अंग्रेजी के इतने बड़े शब्द आ गये हैं, कि उन्हें बी० ए०, एम० ए० के छात्र-छात्राएं ही समझ सकते हैं, यद्यपि उपन्यास में अश्लीलता नहीं है, पर प्रेम की इतनी गहरी चाशनी है कि पढ़नेवाले नवयुवक तथा नवयुवतियां उसकी उन्मादक मधुर अनुभूतियों से अछूते नहीं रह सकते।

(३) **हमीरराव** एक ऐतिहासिक खंड-काव्य है, जिसमें एक त्यागवीर अमर पुरुष हमीरराव की जीवनी का एक अंश चित्रित किया है। इसमें हमीरराव तथा अलाउद्दीन खिलजी के युद्ध की कहानी दी गई है। हमीर के दुर्जन तथा कुटिल मंत्री 'सुरजन' का विश्वासघात तथा शरणागत मैहमशाह का चरित्र भी अच्छा बन पड़ा है। काव्य वीर-रस-पूर्ण है तथा राजपूतों की हठ और अदूरदर्शिता पर अच्छा प्रकाश डालता है।

(४-५) **नया समाज और नया ज्ञान** श्री चम्पालाल रांका की रचनाएं हैं जो नव-साक्षरों तथा विकास-खंडों के

पुस्तकालयों के लिए उपयोगी हैं। **नया समाज** में गरीबी, जातपांत, छूआछूत, वेश्यावृत्ति, रूढ़ियों, समाजोपयोगी तथा परदे आदि को दूर करने की बातें बताई गई हैं। **नया ज्ञान** में रेडियो, सिनेमा, समाचार-पत्रों, सभाओं, पुस्तकालयों, भ्रमण, बहस करने, प्रदर्शनी देखने तथा मनन करने आदि के द्वारा ज्ञान बढ़ाने की बातें हैं। पुस्तकें सचित्र, सरल तथा उपयोगी हैं और मोटे टाइप में मुद्रित हैं।

सभी पुस्तकों का कागज़, मुद्रण और गेट-अप आदि सुन्दर हैं।

नाम घोषा **(महापुरुष माधव-कृत) : सम्पादकः डा० महेस्वर नेओग; अनुवादक : श्री सुरेंद्रनाथ साहु; प्रकाशक : असम राष्ट्रभाषा प्रचार समिति, गौहाटी; पृष्ठ-संख्या : १५७; मूल्य : रु. ३-०६ न. पै.।**

प्रस्तुत पुस्तक असम के परम भक्त और वैष्णव कवि श्री माधवदेव की कृति नाम-घोषा का मूल तथा हिंदी अनुवाद है। इस संत कवि का जन्म सन् १४८९ में और महाप्रयाण सन् १५९६ में हुआ। उनकी जीवनी भी बड़ी रोचक तथा शिक्षाप्रद है। इन्होंने अपने भजनों द्वारा असम में वैष्णव मत का प्रचार किया। भजन भक्ति-रस से भरे हैं और हिंदी-भाषी इस पुस्तक से सुदूरपूर्व के एक संत के भजनों का स्वाद ले सकेंगे। इस समिति का यह कार्य बड़ा प्रशंसनीय है, कि वह अपनी अनुवाद योजना के द्वारा असमिया की मूल कृतियों का राष्ट्रभाषा में अनुवाद प्रकाशित कर रही है। पुस्तक का मूल्य अधिक है।

आलोचना तथा काव्य **: लेखक : डाः इन्द्रनाथ मदान; प्रकाशक : राजपाल एण्ड संस, दिल्ली; आकार क्राउन अठपेजी; पृष्ठ-संख्या : १६६; मूल्य : रु. २.५० न.पै.।**

प्रस्तुत पुस्तक में लेखक के दो निबंध हैं : (१) शुक्लोत्तर आलोचना की पद्धतियां और (२) उत्तर-छायावादी काव्य की प्रवृत्तियां। पहले निबंध में शुक्ल पद्धति, सौष्ठववादी पद्धति, मार्क्सवादी पद्धति तथा मनोविश्लेषणवादी पद्धति पर प्रकाश डाला गया है। दूसरे निबंध में छायावादी कविता, तथा प्रगतिवादी कविता का वर्णन देकर कुछ प्रगतिवादी कवियों जैसे सर्वश्री नरेन्द्र शर्मा, शिवमंगल सिंह सुमन, केदारनाथ अग्रवाल, त्रिलोचन तथा रांगेय राघव आदि का वर्णन तथा नई कविता के तत्त्वों का परिचय दिया है। श्री अज्ञेय के काव्य और बिहार के तीन कवियों नलिनविलोचन, केसरीकुमार तथा नरेश (नकेनवादी कवियों) के बारे में भी इसमें विवेचन है। हिंदी के प्रसिद्ध अधुनातन आलोचकों के मतों से विषय का प्रतिपादन किया गया है, जो पढ़ने योग्य है। लेखक ने इन पद्धतियों का विश्लेषण करते हुए यथासंभव तटस्थ तथा निष्पक्ष दृष्टि से काम लिया है, जिससे अधुनातन आलोचना और काव्य की उपलब्धियों, सीमाओं तथा सम्भावनाओं का मूल्यांकन हो सकता है। पुस्तक में लेखक के मौलिक दृष्टिकोण की झलक प्रचुर मात्रा में मिलती है और इस पुस्तक से हिंदी के नये काव्य-तत्त्वों को समझने में सहायता मिलेगी। हिंदी-काव्य की आलोचना पुस्तकों में यह पुस्तक अपना स्थान बनायेगी, ऐसा विश्वास है।

पुस्तक का मुद्रण, कागज तथा गेट-अप सुन्दर है।

—म. द. जैन

प्रागैतिहासिक मानव और संस्कृति **: लेखक : श्रीराम गोयल; प्रकाशक : विश्वविद्यालय प्रकाशन, गोरखपुर; पृष्ठ-संख्या १२७; मूल्य : ६.५० रुपए; छपाई और गेटअप : सुन्दर।**

भारतीय प्रागैतिहासिक साहित्य के क्षेत्र में भारतीय भाषाओं में पुस्तकों के अभाव को दृष्टिगत रखते हुए पुरातत्त्व और नृतत्वशास्त्र के विद्यार्थियों तथा साधारण जिज्ञासुओं के लिए यह पुस्तक लिखी गई है।

शीर्षक के अनुसार इसमें जीव-सृष्टि के आखिरी कल्प के, जिसे जीव-वैज्ञानिक 'चतुर्थ कल्प' भी कहते हैं, प्लीस्टोसीन और आधुनिक (होलोसीन) कालों की कहानी है। मानवी संस्कृति में चट्टानों का बड़ा महत्व रहा है। अर्ध-मानव से मानव बनते-बनते मनुष्य चट्टानों को तोड़-फोड़कर अपने काम में इस कदर लाया कि वे मानवी संस्कृति का अभिन्न अंग बन गईं। पाषाण-काल के उषःकाल से लेकर नवपाषाण काल तक और बाद में ताम्र-युग (या ताम्र-प्रस्तर-युग) और कांस्ययुग तक जहां मनुष्य ने अपनी प्रखर बुद्धि से पत्थरों को अधिकाधिक परिष्कृत उपकरणों का रूप दिया वहां उसकी वृत्ति शिकारी से कृषि-जीवन और पशुपालन की ओर मुड़ती गई और बाद में उद्योगों के वर्गीकरण के साथ नगर संस्कृति का विकास हुआ। इस प्रकार वह

जंगली जीवन से सुसंस्कृत जीवन बिताने लगे; गुफा से पहले झोपड़ी में और बाद में पक्की ईंटों की मकान में आकर बसा; खानपान और वस्त्र-परिधान में आमूलाग्र परिवर्तन होकर लिपि के विकास के साथ प्रागैतिहासिक काल एतिहासिक कालों में बदला। जंगली जीवन का आदी अर्ध-मानव पहले मनुष्य बना और बाद में सुसंस्कृत मानव। आधुनिक मानव के लिए यही प्रागैतिहासिक काल की महत्वपूर्ण देन है।

प्लीस्टोसीन के पहले का नरवानरों का और रीढ़-धारियों का इतिहास प्रारंभ में देकर लेखक ने सूझबूझ से काम लिया है। पृथ्वी के सृजन की कहानी आवश्यक नहीं थी, पर अप्रासंगिक भी नहीं है।

जहांतक वैज्ञानिक सामग्री का सवाल है, लेखक ने अद्य-यावत् सामग्री को प्रस्तुत किया है, यहांतक कि पिल्ट-डाऊन मानव के रूप में 'वैज्ञानिक जालसाजी' को भी प्रकाश में लाया है।

जटिल विषय को दृष्टिगत रखते हुए पुस्तक की भाषा विषयोचित ही कहनी पड़ेगी। कहीं-कहीं प्रकाशन की भूलें रह गई हैं। प्रयोग की गई पारिभाषिक शब्दावली भी काफी सुगम है। अन्तर्राष्ट्रीय शब्दों को केवल लिप्यन्तर के साथ रखने से और अंग्रेजी शब्द कोष्ठक में देने से भाषा दुरूह होनें से बची। इस प्रकार के प्रागैतिहासिक विषय पर लिखने का लेखक का प्रयत्न स्तुत्य एवं सराहनीय है।—**पी. जी. अडयाकर**

माटी हमारी मां : लेखक : ज्ञानेंद्र कुमार भटनागर; प्रकाशक : साहित्य वाणी, इलाहाबाद; पृष्ठ-संख्या : २८५; मूल्य : पांच रुपया।

भारत में पंचवर्षीय योजनाओं और निर्माण का जो कार्य हो रहा है, उसकी पृष्ठभूमि को लेकर प्रस्तुत उपन्यास लिखा गया है। एक नया इंजीनियर है—सोमेश्वर, जवानी के जोश और उच्च आदर्शों से भरपूर। भोपाल में भवन-निर्माण कार्य पर उसकी नियुक्ति होती है। अपने सिद्धान्तों के चौखटे में जड़ा सोमेश्वर यहां आकर पाता है कि ठेकेदार तिवारीजी से लेकर ओवरसियर, इंजीनियर, चीफ इंजीनियर तक तमाम अधिकारी भ्रष्ट हैं। एकाध मामले वह पकड़ता भी है, लेकिन कुछ होता-जाता नहीं। अचानक उसके पास चंडीगढ़ से अन्य नौकरी का बुलावा आता है और वह उसे स्वीकार कर लेता है। भोपाल के इतने दिनों के कटु अनुभवों के बावजूद वह एक मधुर स्मृति यहां की लिये जाता है—वह मधुर स्मृति है तिवारीजी की लड़की सरोज की।

लेकिन चण्डीगढ़ आकर सोमेश्वर जान गया कि जिस आदर्श को लेकर वह चला है, वह आज के युग में हवा की बात है। इसीलिए जब ठेकेदार खोसला ने एक दिन उनकी जेब में एक लिफाफा डालते हुए कहा; "इसमें आपके नाम एक खत है, पढ़कर जवाब दीजियेगा", तो वह एकाएक प्रतिवाद नहीं कर पाया; हालांकि वह जानता था कि एक खत उतना भारी नहीं हो सकता जितना वह लिफाफा था।

तभी उसे खबर मिलती है कि सागर के पास उसके गांव में काफी बड़ा एक बांध बनाया जा रहा है। वह अपनी बदली वहां करा लेता है। गांव पहुंचकर उसे पता चलता है कि इस बांध का ठेका भी तिवारीजी ने ही लिया है। वह निश्चय करता है कि वह अब अपने आदर्श से नहीं डिगेगा—और तिवारीजी का भंडाफोड़ करके ही रहेगा। लेकिन तभी उसके आदर्श और तिवारीजी के बीच आ जाती है—सरोज। वह सरोज को चुनता है, आदर्श से हट जाता है; कम सीमेंट और अधिक मिट्टी का बांध ऊंचा, और ऊंचा होता जाता है।

बांध बना, उद्घाटन हुआ, सब लोग चले गये—रह गया सोमेश्वर और दो-चार इंजीनियर। बरसात का मौसम—बांध पानी सह नहीं पाता, दरार पड़ती है, वह टूट जाता है। गांव-का-गांव बह जाता है। सोमू के बापू भी पानी के साथ ही चले जाते हैं। वह चाहते तो बचकर निकल जाते। लेकिन सोमू को उन्होंने कहा था कि माटी को धोखा देकर तुमने पाप किया है; मैं तुम्हारे पाप का प्रायश्चित्त करूंगा। सोमू की चेतना जागती है, वह जांच-कमीशन के सामने सारे तथ्य रखता है। तमाम संबंधित अधिकारी और तिवारीजी पकड़े जाते हैं। लेकिन तिवारीजी की आंख इस समय तक खुल जाती है। सरोज की नज़र में भी सोमेश्वर बहुत ऊंचा उठ जाता है, वह उसका हाथ पकड़ने की इच्छा प्रकट करती है।

'माटी हमारी मां' लिखकर उपन्यासकार ने निश्चय ही एक नये प्रकार का कथानक हिंदी के पाठकों को देने का प्रयत्न किया है। हालांकि अंत में आते-आते कथानक का प्रवाह बहुत धीमा हो गया है। प्रेस की भूलें बहुत चुभती हैं, कुछ शब्द अंग्रेजी के प्रयुक्त किये गए, जिनके हिंदी में बहुत सुन्दर पर्यायवाची शब्द मौजूद हैं। —**मुकुल**

हमारी राय

क्या व कैसे ?

जनवरी मास की स्मरणीय तिथियां

जनवरी मास की कई तिथियां हमें अपने विगत इतिहास की याद दिलाती हैं। ३० जनवरी को हमने राष्ट्रपिता महात्मा गांधी को खोया था। भारत उनका कितना ऋणी है और विश्व को उन्होंने क्या दिया, इसका मूल्यांकन करना आसान नहीं है। उनका समग्र जीवन सेवा का ज्वलन्त उदाहरण था। अपने देश को विदेशी सत्ता की गुलामी से मुक्त कराने के लिए उन्होंने जो त्याग-तपस्या की, वह तो स्मरणीय है ही, लेकिन उनकी सबसे बड़ी देन यह है कि उन्होंने मानव-मात्र को ऊपर उठाने का प्रयत्न किया। यह ठीक है कि वह भारत में जन्मे थे और उनका कार्य-क्षेत्र मुख्यत: उनका देश ही रहा; लेकिन अपने हृदय की विशालता से वह मानव-जाति के प्रतिनिधि बन गये। उन्होंने इंसान इंसान के बीच की दूरी को कम करने की अहर्निश चेष्टा की और उन मूल्यों पर ज़ोर दिया, जो दुनिया को स्थायी सुख और शान्ति प्रदान कर सकते हैं। अपने जीवन से उन्होंने बताया कि सच्चा जीना क्या है। राजनीति उनके लिए गौण थी। आजादी की लड़ाई लड़ते हुए उन्होंने कहा था, "यूरोप के पांवों में पड़ा हुआ अवनत भारत मानव-जाति को कोई आशा नहीं दे सकता, किन्तु जाग्रत और स्वतंत्र भारत दर्द से कराहती हुई दुनिया को शान्ति और सद्भाव का संदेश अवश्य देगा।"

आगे फिर उन्होंने कहा था, "मैं भारत का उत्थान इसलिए चाहता हूं कि सारी दुनिया उससे लाभ उठा सके।"

३० जनवरी गांधीजी की उन बातों की तो याद दिलाती ही है, जो उन्होंने कीं; लेकिन वह उन आशाओं की भी याद दिलाती है, जो उन्होंने स्वतंत्र भारत से रक्खी थीं। उन आशाओं को पूरा करना प्रत्येक भारतवासी का कर्त्तव्य हो, ऐसी उनकी अपेक्षा थी।

३० जनवरी आ रही है। बापू के जाने के बाद वह कई बार आई है। उस दिन देश में स्थान-स्थान पर उन्हें श्रद्धांजलि अर्पित की जाती है, पर कितने हैं, जो गंभीरता से इस बात का चिंतन करते हैं कि किसी भी व्यक्ति को उसका नाम रटकर नहीं, बल्कि उसके काम करके जीवित रक्खा जा सकता है? विदेशों से आर्थिक सहायता ले-लेकर हम कितनी ही भौतिक उन्नति क्यों न कर लें, लेकिन उससे गांधीजी का स्वप्न पूरा नहीं होने का। उनका स्वप्न तो तब पूरा होगा जबकि उनका देश सेवाभिमुख होगा, नीति-निष्ठ बनेगा और श्रम तथा सादगी को अपने जीवन में ऊंचा स्थान देगा।

३० जनवरी को हम बापू को श्रद्धांजलि अर्पित करते हुए इस दिशा में कुछ सक्रिय कदम उठाने का संकल्प करें तो अधिक अच्छा होगा।

... ...

२३ जनवरी : नेताजी सुभाष चंद्रबोस का जन्म-दिन। नेताजी का स्मरण होते ही एक महान सेनानी का चित्र आंखों के सामने आ जाता है। अपने प्रतिभाशाली जीवन को भारत-मां के चरणों में अर्पित करके अनुपम वीरता, महान त्याग तथा बेजोड़ कर्मठता की ऐसी मिसाल उन्होंने दुनिया के सामने रक्खी कि लोग चकित रह गये। अपने देश को गुलामी के चंगुल से छुड़ाने के लिए उन्होंने क्या-क्या नहीं किया? उन्होंने विदेशी सत्ता का अपने देश में तो डटकर मुकाबिला किया ही, अपनी जान हथेली पर रखकर अन्य देशों में गये और आजाद हिंद फौज को संगठित करके भारत को जल्द-से-जल्द आजाद कराने का प्रयास किया। अपने ध्येय में उन्हें कितने संकटों का सामना करना पड़ा, उसका हाल पढ़कर आज भी रोमांच हो आता है। वह देश के लिए जिये और देश के लिए ही उन्होंने अपने प्राणों का उत्सर्ग किया।

स्वतंत्र भारत के नागरिकों को उनका जीवन सतत प्रेरणा देता रहे, ऐसी हमारी कामना है।

... ...

२६ जनवरी : हमारा गणतंत्र-दिवस। यह वह ऐतिहासिक दिन है, जब आज से ३२ वर्ष पूर्व सारे देश ने पूर्ण

स्वाधीनता की प्रतिज्ञा की थी। १५ अगस्त को देश स्वतंत्र हुआ तो २६ जनवरी को वह गणतंत्र बना। यह राष्ट्रीय पर्व याद दिलाता है कि लोक-शक्ति से ही बड़े-से-बड़ा कार्य सम्पादित किया जा सकता है। ब्रिटिश सरकार के पास विनाशकारी अस्त्र-शस्त्र आदि की कमी न थी, लेकिन लोक-शक्ति के आगे उसका कुछ भी वश न चला।

यह पर्व भविष्य के लिए भी संकेत करता है कि बिना राष्ट्र की चेतना को प्रबुद्ध और शक्ति को संगठित किये देश की बुनियाद मजबूत नहीं हो सकती।

किसी भी राष्ट्र के लिए सबसे मूल्यवान वस्तु उसकी स्वाधीनता होती है और उसे सुरक्षित रखना प्रत्येक नागरिक का धर्म होना चाहिए। २६ जनवरी उसीकी यादगार है।

... ...

ये सब तिथियां हमारे देश के लिए प्रेरणा का अक्षय स्रोत बनें, ऐसी हमारी कामना है। आज सारा संसार बड़ी नाजुक घड़ी से गुज़र रहा है और भारत की ओर आशा की दृष्टि से देख रहा है। इससे हमारी जिम्मेदारी बहुत बढ़ जाती है। उस जिम्मेदारी को अनुभव करने और उसके लिए सक्षम बनने में हमारे इतिहास की उपरोक्त तथा अन्य तिथियों की प्रेरणाएं निस्संदेह बड़ा काम कर सकती हैं, बशर्ते कि हम उन प्रेरणाओं को ग्रहण करें।

एक विचारणीय प्रश्न

गोआ, दामन, दीव से अंततोगत्वा पुर्तगाली शासन का अंत हो गया। पाठक जानते हैं कि हमारे देश के ये हिस्से दीर्घकाल से पुर्त्तगाल के अधीन थे और आजाद होने के बाद से हमारा देश बराबर मांग कर रहा था कि पुर्तगाली सत्ता वहां से हट जाय; लेकिन पुर्तगाली शासकों ने उस ओर ध्यान नहीं दिया। आखिर उनके अत्याचारों से हैरान होकर भारत सरकार को अपनी सेनाएं वहां भेजनी पड़ीं और सैन्यबल के ज़ोर पर विदेशी सरकार को वहां से हटने के लिए मजबूर करना पड़ा। सच बात यह है कि भारत की स्वाधीनता तब-तक परिपूर्ण नहीं हो सकती थी जबतक कि उसका कोई भी भाग, भले ही वह कितना ही छोटा क्यों न हो, गुलामी की जंजीरों में जकड़ा रहता।

भारत-सरकार की इस सफलता पर देश में संतोष एवं आनंद की लहर दौड़ना स्वाभाविक है; लेकिन इस प्रकरण ने एक प्रश्न विचार के लिए खड़ा कर दिया है।

अपनी आजादी के लिए हमारे देश ने ब्रिटिश शासन से वर्षों तक लड़ाई लड़ी; लेकिन भारतीय नेताओं ने कभी संगठित रूप में हिंसात्मक बल का प्रयोग नहीं किया। कुछ अवसरों पर हिंसा अवश्य हुई, विशेषकर सन् १९४२ में, लेकिन उसके लिए स्वयं ब्रिटिश शासन जिम्मेदार था, हमारे नेता नहीं। पाठकों से यह छिपा नहीं है कि लड़ाई के जमाने में सारा देश जोश से भभकता था और यदि हमारे नेता चाहते तो ज़रा-सी देर में आग भड़का सकते थे, लेकिन वह उनके आदर्शों तथा सिद्धांतों के विपरीत होता। गांधीजी अहिंसा के महान् पुजारी थे और वह स्वप्न में भी हिंसात्मक प्रवृत्तियों की कल्पना नहीं कर सकते थे। अपने अहिंसा के अमोघ अस्त्र को लेकर उन्होंने देश में ऐसी परिस्थिति उत्पन्न कर दी कि ब्रिटिश सरकार को यहां से हटने के लिए विवश होना पड़ा।

कहने की आवश्यकता नहीं कि अहिंसा की शक्ति का वह एक ऐसा अभिनव प्रयोग था कि उसने संसार के इतिहास में एक बेजोड़ मिसाल पेश की और भारतीय नेतृत्व की अंतर्राष्ट्रीय जगत में धाक जमी। भारत का नाम ऊंचा हुआ, उसका मान बढ़ा।

लेकिन भारत के आजाद होने के इन चौदह वर्षों के भीतर अहिंसा की उस परंपरा को पग-पग पर चुनौती मिली और अंततः उस रास्ते को अंगीकार किया गया, जो उस परंपरा के सर्वथा विपरीत था। हमारे शासकों का कहना है कि हमने चौदह साल तक ऐसी कोशिश की कि शान्ति से गोवा का यह मामला निबट जाय, लेकिन जब हमारी बात नहीं सुनी गई तो लाचार होकर हमें यह कदम उठाना पड़ा।

इस तर्क में हिंसा का कितना औचित्य है, हम इस विवेचन में नहीं पड़ना चाहते। हमारा कहना केवल इतना है कि किन्हीं कारणों से सही, हमारी सरकार ने उस बल का प्रयोग किया, जिसके लिए हमारी आजादी की लड़ाई में गुंजाइश नहीं रक्खी गई थी।

गांधीजी ने अनेक बार कहा है कि अहिंसा के रास्ते पर चलना खांडे की धार पर चलने के समान है। उन्होंने स्वयं उसपर चलकर दिखाया, लेकिन उनके चले जाने पर हमारे शासक उतनी क्षमता, उतनी आस्था नहीं दिखा सके।

सच यह है कि आज के शासक बात अहिंसा की करते हैं, जबकि अपने छोटे-बड़े मसलों का हल दूसरे ही प्रकार से करते हैं। ज़रा-ज़रा-सी बात पर गोलियां चलती हैं और तनिक-सा मौका आने पर फौजों का इस्तेमाल होता है।

प्रश्न यह है कि क्या भारत सरकार के इस कदम ने फौजी ताकत के ज़ोर पर अपनी समस्याओं को सुलझाने का रास्ता नहीं खोल दिया? काश्मीर और भारत-चीन की सरहद के मसले क्या अब शान्ति से हल होंगे? संभव है, वैसा चमत्कार हो जाय; लेकिन इसमें शक नहीं कि अब देश में कुछ दूसरी ही प्रकार की हवा तैयार हो रही है। उसका आगे चलकर क्या परिणाम होगा, इसकी कल्पना सहज ही नहीं की जा सकती। केन्द्रीय प्रतिरक्षा-मंत्री श्री मेनन की यह घोषणा कि हम शांति अवश्य चाहते हैं, लेकिन हमने हिंसा को त्याज्य नहीं माना है, इस बात का द्योतक है कि हमारी नीति अब नया रुख और नया रास्ता अख्तियार कर रही है।

यदि भारत को विनाश के मार्ग से बचना है तो गांधीजी की अहिंसात्मक परम्पराओं का निष्ठापूर्वक अनुसरण ही एकमात्र उपाय है। हिंसा से थोड़ी-बहुत सफलता मिल सकती है; लेकिन उसका फल कभी टिकाऊ नहीं होगा।

आज का रोग और उसका इलाज

पिछले दिनों समाचार था कि राजस्थान के लोकप्रिय नेता श्री आदित्येन्द्र ने अपेक्षित चुनाव-क्षेत्र से टिकट न मिलने के कारण अपने यहां की कांग्रेस से विद्रोह कर दिया है। उनके साथ लगभग दो सौ कांग्रेसी सदस्यों ने कांग्रेस से इस्तीफा दे दिया है, और अब सुना है कि आदित्येन्द्रजी कांग्रेसी उम्मीदवारों के मुकाबिले स्वतंत्र उम्मीदवार खड़े करेंगे।

दूसरा समाचार है कि राज्यसभा के सदस्य डॉ० रघुवीर के शासन की आलोचना करने पर उनके विरुद्ध अनुशासन-भंग की कार्रवाही की गई और उन्हें कांग्रेस से हटा दिया गया। उसके बाद की खबर है कि वह जनसंघ में सम्मिलित हो गये।

ऐसी बीसियों मिसालें हमारे सामने हैं, जो बताती हैं कि आज हवा किस रुख चल रही है! श्री आदित्येन्द्र का सारा जीवन कांग्रेस की सेवा में व्यतीत हुआ है और डॉ० रघुवीर की साहित्यिक देन अद्वितीय है। लेकिन आदित्येन्द्रजी का कांग्रेस के विरुद्ध विद्रोह करना और डॉ० रघुवीर का जनसंघ में सम्मिलित होना इस बात के द्योतक हैं कि आज की हवा में वर्षों की तपस्या किस तरह उड़ जाती है। हर किसीका मनचाहा हो जाय, यह न पहले के किसी युग में संभव था, न आज के युग में संभव है। मतभेद भी सदा से होते आये हैं, आज भी होते हैं; लेकिन उससे स्थिति ऐसी बन जाय कि व्यक्ति अपने आदर्शों और मान्यताओं से ही मुंह मोड़ लें, यह स्वास्थ्य की निशानी नहीं है। आज जो भी कांग्रेस से निकलता है, वह वर्षों की अपनी कमाई पर पानी फेरकर विरोधी दल में शामिल हो जाता है और कांग्रेस को नीचा दिखाने का प्रयत्न करता है। बहुत-से नेताओं के दृष्टान्त हमारे सामने हैं, जो पहले कांग्रेस के जितने अनन्य भक्त थे, उससे अलग होने पर उतने ही कट्टर विरोधी हो गये।

इसका कारण क्या है? कारण यह है कि देश के आजाद होने के बाद हमारे सामने ऐसा कोई भी उत्कट ध्येय नहीं रहा, जो हमें एक-सूत्र में बांधकर रक्खे। हमारे सामने वह कसौटी, वह आस्था भी नहीं रही, जो हमें मतभेदों और वैयक्तिक आकांक्षाओं से ऊपर उठने का बल प्रदान करती थी। आज तो हमारे सामने निजी महत्वाकांक्षाएं हैं, पद हैं, दल हैं, सत्तात्मक राजनीति है, साथ ही यह अवसर भी कि हमारी न सुनी जाय तो हम विद्रोह कर दें। लोकतन्त्र में सब को अपना मत प्रकट करने की आजादी होती है, इसका मतलब स्वेच्छाचार नहीं, बल्कि दूसरे के मत के प्रति अधिक-से-अधिक उदार बनना है, विरोधी मत को आदर देना है।

आज जबकि देश के नव-निर्माण का गंभीर प्रश्न सामने है, आवश्यकता इस बात की है कि हमारी शक्ति संगठित हो और हम उस गुरुतर कार्य को मिल-जुलकर शीघ्रातिशीघ्र सम्पन्न करें; लेकिन हो इससे उलटा ही रहा है। कांग्रेस की शक्ति दिनोंदिन क्षीण होती जा रही है और कांग्रेसी नेताओं तथा कार्यकर्ताओं का बल तेजी से बिखरता जा रहा है।

इससे बचने का एक ही उपाय है और वह यह कि कांग्रेस पदों के स्थान पर सेवा को प्रमुख स्थान दे, धन के स्थान पर समाज में श्रम को प्रतिष्ठित करे और अधिकार की जगह कर्त्तव्य की भावना को महत्व प्रदान करे।

इसके लिए देश में एक नई हवा, नई चेतना उत्पन्न करनी होगी और लोक-शक्ति को जाग्रत करना होगा। यह काम कांग्रेस कर सकती है; क्योंकि अपनी कमजोरियों के बावजूद वही एक संस्था है, जिसे अधिकांश देशवासी जानते और मानते हैं।

इस दिशा में सामूहिक चिन्तन हो, ऐसी हमारी इच्छा है। अभी देश में बहुत काम करने को पड़ा है, इसलिए बिखरती शक्ति को बटोरने और बांधने के लिए जल्दी-से-जल्दी कुछ-न-कुछ होना चाहिए।

—य०

'मंडल' की ओर से

इस वर्ष की गांधी डायरी

इस साल 'गांधी डायरी' छोटे-बड़े दोनों आकारों में जितनी छपवाई थीं, उनके छपते ही सारी प्रतियां खप गईं और जिन्होंने बाद में आर्डर दिये, उन्हें निराश होना पड़ा।

डायरी की छपाई जून-जुलाई में आरंभ होती है और उससे पहले ही हम पुस्तक-विक्रेताओं आदि को सूचना दे देते हैं कि वे अपनी आवश्यकतानुसार प्रतियों का आर्डर हमें भेज दें। लेकिन अनुभव यह हुआ है कि उस ओर, पुस्तक-विक्रेताओं को छोड़कर, दूसरे लोग और संस्थाएं प्रायः ध्यान नहीं देतीं। वे सोच लेते हैं कि ऐन वक्त पर मंगा लेंगे। इससे हमारे लिए बड़े अनिश्चय की स्थिति पैदा होती है। इसलिए हमें लाचार होकर इस वर्ष यह निश्चय करना पड़ा कि जिनके आर्डर हमें हमारी सूचना के बाद मिल गये थे, उनके लिए ही हम डायरी की व्यवस्था रक्खें।

जिन्हें इस वर्ष डायरी नहीं मिल पाई, उनसे क्षमा चाहते हुए हम अनुरोध करते हैं कि अगले वर्ष मई मास के अंत तक वे अपना पक्का आर्डर हमारे पास भेजकर पहले से ही अपनी प्रतियां सुरक्षित करा लें।

भारत सरकार का गांधी-साहित्य हमसे लीजिये

पाठकों को ज्ञात होगा कि भारत सरकार की ओर से महात्मा गांधी का संपूर्ण साहित्य प्रकाशित करने की योजना चल रही है। उस योजना के अंतर्गत अबतक 'सम्पूर्ण गांधी वाङ्मय'-माला में पांच जिल्दें निकल चुकी हैं। यह तथा आगे आनेवाला साहित्य स्थायी महत्व का और संग्रहणीय है। उसका व्यापक प्रसार होना चाहिए। अतः उस तथा भारत सरकार के पब्लिकेशन डिवीजन की कुछ अन्य चुनी हुई पुस्तकों की बिक्री की व्यवस्था हमने 'मंडल' से की है। निम्नलिखित पुस्तकें हमसे ली जा सकती हैं :

संपूर्ण गांधी वाङ्मय, भाग १ (१८८४-१८९६), रु. ३.००
" " " भाग २ (१८९६-१८९७),
" " " भाग ३ (१८९८-१९०३), रु. ७.५०
संपूर्ण गांधी वाङ्मय भाग ४ (१९०३-१९०५), रु. ७.००
" " " भाग ५ (१९०५-१९०६), रु. ७.००
भारत में अंग्रेजी राज (सुन्दरलाल) रु. ८.००
महात्मा गांधी रु. १०.००
महात्मा (प्रत्येक भाग) रु. ११.००
भारत की एकता का निर्माण रु. ५.००

हमें आशा है कि पाठक इस सब साहित्य के प्रचार-प्रसार में पूरा योग देंगे।

नये वर्ष का संकल्प

इस मास से 'मंडल' का नया वर्ष आरंभ हो रहा है। हमारा देश नव-निर्माण के लिए अनेक योजनाओं को कार्यान्वित कर रहा है। लेकिन हम अनुभव करते हैं कि नव-निर्माण का कार्य तब पूर्ण होगा, जबकि देशवासियों के विचारों में क्रांति होगी। इसके लिए स्वस्थ साहित्य के प्रसार की बड़ी आवश्यकता है। पाठक जानते हैं कि 'मण्डल' ने बहुत-सा ऐसा साहित्य निकाला है, जो विचार-प्रेरक है।

हमने संकल्प किया है कि इस वर्ष में 'मंडल' के साहित्य को विशेष रूप से प्रचारित और प्रसारित किया जाय। बड़े-बड़े नगरों और कस्बों के पुस्तक-विक्रेताओं के यहां 'मंडल' की अधिकाधिक पुस्तकें रहें, ऐसा हमारा प्रयास होगा। इसमें पाठकों, शिक्षा-संस्थाओं तथा पुस्तकालयों के अधिकारियों का सहयोग अपेक्षित है। वे 'मंडल' की पुस्तकों की मांग अपने यहां के पुस्तक-विक्रेताओं से करें और आग्रह रक्खें कि 'मण्डल' की अधिकांश पुस्तकें उनके यहां सुलभ रहें।

दूसरे हम यह भी चाहते हैं कि पाठक प्रतिमास कुछ-न-कुछ बचाकर उत्तम साहित्य अवश्य खरीदें और उसे न केवल स्वयं पढ़ें, अपितु अपने परिवार के सभी सदस्यों को पढ़ने की प्रेरणा दें।

सत्साहित्य का देशव्यापी प्रसार देश की बुनियाद को मजबूत करने में सहायक होगा, इसमें संदेह नहीं।

हम आशा करते हैं कि नये वर्ष के हमारे संकल्प को पूर्ण करने में हमें सभी साहित्य-प्रेमियों का सक्रिय सहयोग मिलेगा।

मीटर नाप
को
अपनाइये
१ अक्तूबर से लम्बाई नापने के पैमाने के रूप में मीटर का प्रयोग शुरू हो चुका है । एक साल के बाद गज-फुट-इंच का प्रयोग कानूनी नहीं रहेगा ।
कपड़े पर अब मीटर के निशान लगाये जाते हैं और कीमतें भी प्रति मीटर के अनुसार बताई जाती हैं ।
मीटर, गज से ३½ इंच अधिक लंबा होता है
मीटर नाप के अनुसार खरीदिये
भारत सरकार द्वारा प्रचारित

हमारे नये प्रकाशन : दूसरों की दृष्टि में

कुछ पुरानी चिट्ठियां—लेखक : जवाहरलाल नेहरू, पृष्ठ : ७००, मूल्य : दस रुपये

जवाहरलालजी की कुछ पुरानी चिट्ठियों का यह संग्रह भारत की स्वाधीनता के इतिहास में दिलचस्पी रखनेवाले प्रत्येक व्यक्ति के लिए पठनीय है। जवाहरलालजी का संबंध पहले से ही अत्यन्त व्यापक रहा है। देश-विदेश के सार्वजनिक जीवन के प्रमुख व्यक्तियों से जो इनका पत्र-व्यवहार हुआ है, उसका यह एक सुन्दर संग्रह है। गांधीजी, सुभाष बोस, रविबाबू, बर्नार्ड शा, बर्ट्रेंड रसेल आदि अनेकविध व्यक्तियों के साथ का पत्र-व्यवहार इसमें है।

वाराणसी **—भूदान यज्ञ**

भारतीय स्वाधीनता-संग्राम का इतिहास—लेखक : इन्द्र विद्यावाचस्पति, पृष्ठ : ४१७, मूल्य : ५.५०

किसी भी देश के स्वाधीनता-संग्राम का इतिहास बहुत ही महत्वपूर्ण होता है। उस संबंध में जो विचार उस देश की जाति के होते हैं, उस जाति के भविष्य पर उनका प्रभाव पड़ता है।...इस इतिहास में उन्होंने प्रत्येक दल के साथ न्याय करने की चेष्टा की है।

नई दिल्ली **—योजना**

बंगला साहित्य दर्शन—लेखक : मन्मथनाथ गुप्त, पृष्ठ : ३१२, मूल्य : चार रुपये

'सस्ता साहित्य मंडल' ने इसके पहले तमिल और मलयालम के साहित्य पर एक-एक बहुत तथ्यपूर्ण सुन्दर पुस्तक निकाली है। यह पुस्तक उसी माला के अन्तर्गत तीसरी है।

नई दिल्ली **—योजना**

कहिये समय विचारि—लेखक : लक्ष्मीनिवास बिड़ला, पृष्ठ : ६२, मूल्य : एक रुपया

छोटे-छोटे नौ निबंधों का यह संग्रह जीवन को अच्छी तरह जीने के लिए मसाला देता है। लेखक के निष्कर्षों से और खास तौर से उसके पूंजीवाद के समर्थन से सहमत न होते हुए भी लेख पठनीय हैं।

वाराणसी **—भूदान यज्ञ**

आज का इंग्लिस्तान—लेखक : मुकुटबिहारी वर्मा, पृष्ठ : ११० मूल्य : दो रुपये

वर्माजी हिन्दी के मंजे हुए लेखक और पत्रकार हैं और उन्होंने अपनी इस यात्रा में अंग्रेजों की भूमि में जाकर उनके सधे हुए जीवन को निकट से देखकर जो कुछ लिखा है, वह पाठकों के लिए उपयोगी सिद्ध होगा। पुस्तक को उपन्यास की भांति मनोरंजक बना दिया गया है, जिससे वर्तमान इग्लैण्ड के संबंध में काफी जानकारी सहज ही प्राप्त हो जाती है।

नई दिल्ली **—गांधी-मार्ग**

बरगद की छाया में—लेखक : देवराज 'दिनेश', पृष्ठ : १७२, मूल्य : २.५०

सात एकांकी नाटकों का यह संग्रह ग्राम्य पृष्ठ-भूमि पर प्रेम, त्याग, परस्पर सहयोग, श्रम, कर्तव्य-पालन, निष्ठा आदि गुणों एवं प्रवृत्तियों के प्रकाश में इंसानियत का दर्शन कराता है। नाटकों की विशेषता इनकी सरल कथावस्तु है। ये कहीं भी बिना विशेष खर्च और साज-सज्जा के खेले जा सकते हैं।

वाराणसी **—भूदान यज्ञ**

सस्ता साहित्य मंडल, नई दिल्ली।

रजिस्टर्ड नं० डी

संस्कृत साहित्य सौरभ

प्रतिज्ञा यौगंधरायण

हमारी
नवीन
कृति

संस्कृत
साहित्य की
अनमोल देन

भास की सुविख्यात कृति का श्री रामचंद्र टण्डन द्वारा प्रस्तुत किया गया अत्यन्त रोचक एवं सुपाठ्य कथासार। 'संस्कृत साहित्य सौरभ'-माला की ३६वीं पुस्तक। यह पूरी माला हमारे संस्कृत-साहित्य की अमूल्य निधियों का स्मरण कराती है। सुन्दर छपाई, बढ़िया कागज, मू० प्रत्येक पुस्तक का चालीस न. पै.।

सस्ता साहित्य मंडल, नई दिल्ली

मार्तण्ड उपाध्याय मंत्री, सस्ता साहित्य मंडल, नई दिल्ली द्वारा न्यू इण्डिया प्रेस, नई दिल्ली में छपवाकर प्रकाशित।

फरवरी, १९६२

जीवन साहित्य

सत्साहित्य प्रकाशन

वर्ष २३ : अंक २

सम्पादक
हरिभाऊ उपाध्याय
यशपाल जैन

अहिंसक नवरचना का मासिक

जीवन-साहित्य

फरवरी, १९६२

●●●

विषय-सूची

आवश्यक

जिन ग्राहकों का वार्षिक शुल्क दिसम्बर अंक से समाप्त हो गया हो, वे आगे का शुल्क मनीआर्डर से भेज देने की कृपा करें। मनीआर्डर न मिलने पर वी० पी० भेजी जाय तो उसे अवश्य छुड़ा लें।

निवेदन

पाठकों से

- 'जीवन-साहित्य' का परिवार काफी फैला हुआ है, फिर भी इसके अधिक विस्तार की आवश्यकता है।
- अपने क्षेत्र में आप कृपया इसके प्रचार और प्रसार में सहायक हों, उसकी चर्चा अपने मित्रों और संबंधियों में करें और उन्हें ग्राहक बनने की प्रेरणा दें।
- आपके यहां की कोई भी शिक्षा-संस्था और पुस्तकालय ऐसा नहीं रहना चाहिए, जिसमें 'जीवन-साहित्य' न जाता हो।
- कुछ ऐसे व्यक्तियों तथा संस्थाओं के नाम और पते भी भेजें, जिनसे ग्राहक बनने का हम लोग अनुरोध कर सकें।

लेखकों से

- 'जीवन-साहित्य' के लिए आप समय-समय पर पत्र की नीति के अनुसार किसी लोकोपयोगी विषय पर रचना भेज सकते हैं, लेकिन रचना बड़ी न हो, कागज के एक ओर साफ़-साफ़ अक्षरों में लिखी गई हो। उसके अंत में अपना पता अवश्य दें।
- रचना की प्रतिलिपि अपने पास रक्खें। यदि रचना भेजने के महीने भर के भीतर कोई उत्तर न मिले तो उसका उपयोग अन्यत्र कर सकते हैं। अस्वीकृत होने पर रचना वापस चाहते हों, तो उसके साथ आवश्यक डाक-टिकट भेजें।

विज्ञापन-दाताओं से

- पत्र में हम लोग चुने हुए विज्ञापन देने लगे हैं। आप अपने क्षेत्र से कुछ विज्ञापन भेजने और भिजवाने की कृपा करें।
- इतना ध्यान रक्खें कि विज्ञापन गांधी-विचार-धारा के प्रतिकूल न हों।
- पत्र प्रतिमास की ६ तारीख को निकल जाता है, अतः विज्ञापन पिछले मास की २० तारीख तक आ जाना चाहिए।

व्यवस्थापक

जीवन-साहित्य

सस्ता साहित्य मंडल, नई दिल्ली।

उत्तरप्रदेश, राजस्थान, मध्यप्रदेश, हिमाचल प्रदेश, दिल्ली, बिहार तथा पंजाब राज्य-सरकारों द्वारा कालेजों, लाइब्रेरियों तथा उत्तरप्रदेश की ग्राम-पंचायतों के लिए स्वीकृत

वर्ष २३
अंक २

फरवरी, १९६२

शब्द-शक्ति की प्रतिष्ठा

विनोबा

'साहित्य' शब्द क्या सुझाता है? शब्द ही अपनी व्याख्या प्रकट करता है। वह कहता है कि मैं सहित चलने वाला हूं। किसके साथ जायगा? मनुष्य की बुनियाद में सत्य है। जो 'आसे' (असमी शब्द)—जो 'है', वही सत्य है। सत्य का अर्थ ही है कि वह है। सत्य के साथ जो चलेगा, वह है 'साहित्य'। रामजी के साथ लक्ष्मण जाते हैं, वैसे सत्य के साथ साहित्य जायगा। जितना व्याप राम का, उतना ही लक्ष्मण का। इतना ही है कि उसके पीछे-पीछे जायगा। सत्य जितना व्यापक होगा उतना ही साहित्य व्यापक होगा। ऋग्वेद में एक वाक्य आया है: **"यावत् ब्रह्म वेष्टितं तावती वाक्।"** ब्रह्म जितना व्यापक है, उतनी वाणी व्यापक है।

इन दिनों भारत में भाषा-समस्या पदा हुई है। वह लगभग हल हो गई है। उसके बारे में हमसे पूछा गया था। हमने कहा कि मनुष्य को भगवान् ने भाषा नहीं दी, वाणी दी है। श्री अरविन्द बचपन में इंग्लैण्ड गये थे—शायद सात साल की उम्र में ही वह गए थे। वहां उन्होंने अंग्रेजी, फ्रेंच, लेटिन, ग्रीक सीखी। चारों भाषाओं के पंडित हुए। लेकिन उसके साथ-साथ बंगला भाषा कतई भूल गये! वापस भारत आये तो बड़ौदा स्टेट में गायकवाड़ के पास उनको नौकरी मिली। वहां गुजराती, बंगला और हिंदी सीखीं, याने बंगला भाषा फिर से सीखनी पड़ी। उसके बाद बंगाल में उन्होंने आन्दोलन किया। फिर वह पांडिचेरी गये, वहां तमिल सीखी; याने भारत की सब भाषाएं फिर से सीखीं। वेद, उपनिषद्, गीता में पारंगत हुए। तीनों के विषय में उन्होंने लिखा है। उनके विचार मौलिक हैं। उनके पीछे अनुभव है। दूरदृष्टि से उन्होंने सब भाषाएं सीखीं। बंगला सीखी, लेकिन सर्वोत्तम ज्ञान उनको अंग्रेजी भाषा का था। जितना लिखा, सब अंग्रेजी में लिखा; लेकिन बहुत अच्छा लिखा। आखिर में उन्होंने 'सावित्री' नाम का महाकाव्य लिखा है, वह भी अंग्रेजी में लिखा। यदि भाषा ईश्वर-दत्त होती तो मनुष्य उसे इस तरह नहीं भूलता। मातृभाषा

के समान दूसरी भाषा मनुष्य सीख सकता है।

यह तो मैंने सहज उदाहरण दिया। इससे ध्यान में आयेगा कि भाषा एक बात है और वाणी दूसरी।

साहित्य का संबंध वाणी से आता है। मनुष्य की वाणी जितनी विकसित होगी, उतना उसका जीवन विकसित होगा। कुल जीवन का आधार वाणी है।

इसलिए भक्तों ने नाम-स्मरण की महिमा बताई। तुलसीदास ने लिखा है—"राम से राम का नाम बड़ा है।" यही बात माधवदेव ने लिखी है, **"बिना सेतुबंध करि नरे अपार संसार-समुद्रर होवे पार।"**—राम के नाम के बिना संसार-सागर पार नहीं कर सकते। संसार-सागर पार करने के लिए रामनाम एक सेतु है। राम से उसका नाम श्रेष्ठ है। ऐसा नाम-गौरव ऋषि ने गाया है।

हम मातृभाषा का अभिमान रखते हैं। लेकिन मातृभाषा में हम एक-दूसरे को गाली भी देते हैं। आपस-आपस में मातृभाषा में ही गाली दे सकते हैं, दूसरी भाषा में नहीं। मातृभाषा की उन्नति गाली देने से तो नहीं होगी। उन्नति वाणी से, विश्वास से होगी। वाणी सत्यमय और संयमशील हो तो वाणी में शक्ति आती है। इन दिनों भारत में हमने शब्द-शक्ति खोयी है। जहां शब्द-शक्ति खोते हैं, वहां शस्त्र-शक्ति के सिवाय गति नहीं होती है।

गांधीजी आये, उनके पहले अच्छे नेता हिन्दुस्तान में, थे, जिन्होंने आजादी की तरफ जनता का ध्यान खींचा। लेकिन लोगों में यह भावना थी कि नेता जो बोलते हैं, उससे दूसरा अर्थ उनके मन में होगा, याने वे द्वयर्थी बोलते हैं! उन दिनों अंग्रेज सरकार थी, इसलिए कानून में बैठनेवाली भाषा के लिए शायद वह वैसा बोलते होंगे। मतलब, नेताओं के शब्दों के अर्थ के विषय में लोगों के मन में भ्रम था। गांधीजी आये तो नया तरीका आरंभ हुआ। उन्होंने जैसा मन में है वैसा बोलना शुरू किया, याने दोनों में कोई भेद नहीं। अहिंसा की महिमा गांधीजी बताते थे। पंजाब में उन दिनों दंगे हुए। उससे भारत की जनता में क्रोधाग्नि भड़क उठी। उसके परिणामस्वरूप अहमदाबाद में भी घर जलाये गए। तब गांधीजी को बहुत दुःख हुआ। उन दिनों हम साबरमती में थे। उस वक्त हम छोटे थे। सन् १९१८ की बात है। २३ साल की हमारी उम्र थी। हमारे साथ दूसरे भाई भी थे। वे भी इसी प्रकार जवान थे। हमने शहर में जाकर गांधीजी का कहना लोगों को समझाना शुरू किया। लोगों से हम कहते थे, "आपने यह काम किया, देश में अशांति फैली है; पर ऐसा काम गांधीजी को पसंद नहीं है। उनको इससे दुःख होता है। गांधीजी आपको ऐसा काम करने लिए नहीं कहते हैं।" लेकिन लोग हमसे कहते थे, "तुम बच्चे हो! **'धर्मराज जो बोले छे एसो अर्थ भीम जाणे छे। तमे शुं जाणो?'** वे बोलते हैं अहिंसा-अहिंसा लेकिन उनके मन में दूसरा ही अर्थ होगा!"

उसके बाद गांधीजी साबरमती पहुंचे और इन घटनाओं के लिए उन्होंने उपवास किया। जब उपवास ही किया, तब लोग समझे कि गांधीजी जो बोलते हैं, वही अर्थ उनके मन में होता है। शब्द-शक्ति की प्रतिष्ठा नहीं थी, नेताओं के शब्द पर लोगों का विश्वास न था—याने वे जो बोलते हैं, उससे भिन्न अर्थ उनके मन में होता है, ऐसा लोग समझते थे। परंतु गांधीजी ने तप करके शब्द की प्रतिष्ठा बढ़ाई, कायम की। **"यद्यदेव वदति तत्तद् भवति।"** ऐसा मनुष्य जो-जो बोलता है, वही होता है। वह दैवी वाणी कहलाती है। गांधीजी के बारे में ऐसा ही हुआ। लेकिन आखिर-आखिर में गांधीजी के शब्द में सबका विश्वास नहीं रहा, याने कुछ लोगों का विश्वास नहीं रहा। उसका परिणाम आपने देखा। स्वराज्य तो अहिंसा से आया, लेकिन उसके बाद जो हिंसा हुई, वह किसी युद्ध से कम नहीं हुई। पचासों लाख लोग इधर-से उधर गये और उधर से इधर आये। तो आखिर-आखिर में गांधीजी के शब्द की शक्ति कम हुई।

उसके बाद चौदह साल हुए हैं। आज भारत में कोई नेता नहीं है, जिसके शब्द पर लोगों का पूरा विश्वास है। जो बोलेगा वही अर्थ अगर मन में हो तो 'पालिटिक्स' (राजनीति) में वह मूर्खता साबित होगी! ऐसा मनुष्य मूर्ख माना जाता है। जो मन में है, वही बोलता है, तो राजनीति का पेंच क्या रहा? छिपाने की कला होनी चाहिए! अंग्रेजी में हम जिसे 'केमाउफ्लाज' कहते हैं। दिखाना एक बात, करना दूसरी बात और मन में तीसरी बात होगी, तो वह उत्तम राजनीतिज्ञ है, ऐसा आज माना जाता है! इसलिए शंकरदेव ने वर्णन किया है—प्रह्लाद का गुरु शंडामर्क उसे राजनीति सिखाता है, राजनीति याने 'राक्षसर शास्त्र',

'राक्षसर विद्या' है। ऐसा शंकरदेव का अभिप्राय है। मेरा भी अभिप्राय इसके अनुकूल है। लेकिन मैं शंकरदेव के नाम से कहता हूं, ताकि उसके ज़रा वजन आये।

जहां शब्द-शक्ति गई, वहां अमोघता नहीं रही। फिर वहां शस्त्र-शक्ति के बिना गति नहीं रही। यह समझना चाहिए कि जहां शब्द-शक्ति कम हुई, वहां शस्त्र-शक्ति जोर करेगी और वहां साहित्यिक फीके हो जायंगे; क्योंकि साहित्य का सारा दारोमदार शब्द पर होता है। शब्द ही शस्त्र हैं और शब्द ही रत्न हैं। इसलिए शब्द-शक्ति कुंठित हो तो साहित्य निस्तेज होगा।

यह एक महत्व का विचार है। साहित्यिक का लक्षण क्या है? जिसका संपूर्ण चिंतन यथावत् शब्दों में प्रकट होता है, उसका एक-एक शब्द याने प्राण होता है। वह शब्द-शक्ति कुंठित होगी तो साहित्यिक के जीवन में रस नहीं रहेगा।

शंकराचार्य कहते हैं--**"केषाममोघवचनम्?"** किनकी वाणी की शक्ति अमोघ होती है? **"ये च पुनःसत्य--मौन-शमशीलाः"**--जिनमें सत्य होता है, जो मौन रहते हैं, जो शांति रखते हैं, उनकी वाणी अमोघ होती है। प्रश्नोत्तर के रूप में उन्होंने लिखा है--

"केषाममोघवचनम्?
ये च पुनः सत्य-मौन-शमशीलाः"

वाणी में सत्य रहेगा तो उस वाणी का फल प्रत्यक्ष प्रकट होता है। जहां नहीं बोलना है, वहां मौन की शक्ति होनी चाहिए। ऐसी शक्ति नहीं होगी तो वहां शब्द व्यर्थ जायगा। जहां क्षोभ का मौका है, वहां चित्त में शम नहीं रहा तो वाणी गड़बड़ करती है, सम्यक् नहीं रहती है। वाणी तो रामबाण जैसी होनी चाहिए। **"रामो द्विशरं नाभिसंधत्ते"**—राम दो बार बाण नहीं छोड़ता है। एक बार बाण छोड़ता है और वह सफल ही होना चाहिए, होता है। राम दो बार नहीं बोलता है—**'रामो द्विर्नाभिभाषते।"** यह शक्ति साहित्यिक की है।

अब साहित्य की खूबी किसमें है? शक्ति तो सत्य में, संयम में और शांति में है। यह उसकी शक्ति है। लेकिन साहित्यिक की खूबी किसमें है? लोक-हृदय में प्रवेश की कला कौन-सी है? वह है 'अहिंसा'। आप कहेंगे, बाबा जहां-तहां अहिंसा लाता है। जाहिर सभा में भी अहिंसा की बात की और साहित्यिकों की सभा में भी अहिंसा की बात करता है! साहित्य की खूबी व्यंजना में, लक्षणा में है, सूझाने में है। आज्ञा में नहीं है, साक्षात् उपदेश में नहीं है। जहां साक्षात् उपदेश होता है, वहां वह परिणाम नहीं करता है। जहां अप्रत्यक्ष उपदेश होता है, सूझाते हैं, साक्षात् आज्ञा नहीं करते, 'सजेस्टिव' होता है, वहां वह सर्वोत्तम साहित्य माना जाता है। इसकी मिसाल है 'वाल्मीकि-रामायण'। वह अप्रतिम कलाकृति है। वह आपको प्रत्यक्ष आज्ञा नहीं देती है, अप्रत्यक्ष रूपेण सुझाती है। ऐसी सृष्टि उसने निर्माण की है कि आपके चित्त में कारुण्य, सहानुभूति उत्पन्न होती है और सहज भाव से अनायास ऊंचे पहाड़ पर आप चढ़ जाते हैं। जैसे इंजीनियर करता है। चार हजार फुट ऊपर जाना है तो वह आहिस्ता-आहिस्ता ऊपर जानेवाला रास्ता बनायेगा। वह इतना सहज होगा कि इतने ऊपर हम चढ़े हैं, इसका भान नहीं होगा और आखिर चार-पांच हजार फुट ऊपर हम चढ़ेंगे। जिस तरह इंजीनियर कुशलता से आपको ऊपर ले जाता है, वैसे ही आपपर उपदेश का आक्रमण किये बिना कुशलता से आपके हृदय में सहानुभूति उत्पन्न करके आपको ऊपर ले जाते हैं।

'महाभारत' में मुख्य पात्र कौन है, यह कहना मुश्किल है! कथा, उपन्यास, नाटक आदि में मुख्य कौन है, यह तो स्पष्ट मालूम होता है। लेकिन 'महाभारत' में आप व्यास की प्रतिभा देखेंगे। कभी इच्छा होती है कृष्ण को मुख्य पात्र कहने की, तो कभी द्रौपदी मुख्य है, ऐसा भास होगा! कभी भास होगा कि अर्जुन मुख्य पात्र है, कभी युधिष्ठिर के लिए, कभी भीष्म के लिए यह भास होगा। कभी भास होगा कि कर्ण ही मुख्य है! आप निर्णय नहीं कर पायेंगे। उस-उस वक्त जैसा अनुभव आयेगा वैसा आप कहेंगे। इतनी विशाल सृष्टि बनाकर आपको अनुकूल बनाया है। दुर्योधन पर भीम गदा का प्रहार करता है। मरते-मरते दुर्योधन कहता है, "जिंदगी भर तेरे सामने मैंने सिर नहीं झुकाया है। धन्य है मेरा जीवन!" और फिर वह मर गया! वहां कृष्ण, युधिष्ठिर और अर्जुन खड़े हैं और उनके सामने उसके ये उद्गार निकले हैं। इसपर व्यास

(शेष पृष्ठ ४६ पर)

आवश्यकताएं और संस्कृति

●● नानाभाई भट्ट

मेरे विचार में यह व्याख्या बिलकुल भ्रामक है कि जीवन की आवश्यकताएं बढ़ाने से सभ्यता अथवा संस्कृति आगे बढ़ती है। जीवन की आवश्यकताओं का अर्थ क्या है? मानवीय जीवन को चरितार्थ करने के लिए तो उसकी शारीरिक आवश्यकताओं, मानसिक आवश्यकताओं, सांस्कृतिक आवश्यकताओं, सामाजिक आवश्यकताओं और इसी तरह आध्यात्मिक आवश्यकताओं का भी एकसाथ यानी समग्र दृष्टि से विचार करना चाहिए।

आप जीवन की जिन आवश्यकताओं के बारे में पूछ रहे हैं, उनमें तो मनुष्य की शारीरिक आवश्यकताओं का विचार ही मुख्य मालूम होता है। लेकिन मनुष्य केवल पशु-सहज आवश्यकताओं से ही अपने जीवन को सफल नहीं कर सकता। आज हम जीवन की आवश्यकताओं को बढ़ाने का जो विचार करने लगे हैं, उसके मूल में पश्चिम के आगे बढ़े हुए देशों के साथ हमारे संबंध का बंधन मुख्य है। इसमें कोई संदेह नहीं कि पश्चिमी देशों की जनता को जो पौष्टिक आहार मिलता है, जैसे मोटे और महीन वस्त्रों का उपयोग वे करते हैं, जिस तरह के औषधोपचार का लाभ उन्हें प्राप्त होता है और उनके बालकों को शिक्षा-संबंधी जो अनुकूलताएं सुलभ हैं, उन सबकी तुलना में, उन-उन बातों की दृष्टि से, हमें जैसी अनुकूलताएं सुलभ हैं, वे हमें अत्यन्त कम मालूम होती हैं।

हमें यह भी कबूल करना चाहिए कि हमारे गरीब लोगों में आज जिस तरह की बेकारी मौजूद है, उन्हें साल में छह महीने जिस तरह आधे पेट और अधनंगी हालत में रहना पड़ता है, जिस तरह रात सोने के लिए उन्हें साफ-सुथरी और सुहावनी जगह तक नहीं मिलती, कठिन-से-कठिन बीमारी के समय भी जैसे उन्हें कहीं से किसी का सहारा नहीं मिलता और जीवन को उन्नत बनाने के लिए उन्हें जिस तरह का जीवन-शिक्षण मिलना चाहिए, वह भी मिल नहीं पाता, यह सब बेमिसाल है और इसमें कोई सन्देह नहीं कि हरकोई यह चाहेगा कि गरीबों के ये अभाव दूर हों और जल्दी-से-जल्दी दूर हों। लेकिन अगर इस सारी परिस्थिति से ऊपर उठना हो, तो हम लोगों को एकसाथ मिलकर महान् पुरुषार्थ के लिए तैयार होना होगा।

अगर हम लोग यह मानते हों कि यह सब कल का कल ही हो जाना चाहिए और सो भी हम जैसे आज हैं, वैसे ही बने रहकर हो जाना चाहिए, तो मुझे कहना होगा कि यह बिलकुल असंभव है। अगर हम खुद यह मानते हैं और लोगों को भी यह समझाते हैं कि हमारा गरीब देश आज का आज ही गरीबी से उबर जाय, और देश के प्रत्येक स्त्री-पुरुष और बालक को कल से ही पोषक आहार आदि मिलने लग जाय, तो हमें समझना चाहिए कि ऐसा करके हम बड़ी भूल कर रहे हैं। यदि आज की अपनी स्थिति से ऊपर उठने का कोई भी एक रामबाण उपाय हो, तो वह यही है कि हम सब पूरा-पूरा पुरुषार्थ करें। आज जो राष्ट्र हमें इन मामलों में आगे बढ़ते दीखते हैं, उनके पूर्वजों ने पहले ऐसे ही पुरुषार्थ किये थे और उनके उन पुरुषार्थों का फल उनके वंशजों को आज मिल रहा है। मैं यह कबूल करता हूं कि पिछले कुछ सौ वर्षों में हमारी जनता को पुरुषार्थ के अवसर ही कम मिले हैं। और जनता समझ भी न सके, इस तरह से उसके हाथों से पुरुषार्थ के साधन छीन लिये गए हैं। यही कारण है कि हमारी जनता का एक बड़ा अंश मानव से भी हीन परिस्थि[illegible] में [illegible] सयाना हुआ है। इस जनता के लिए मानवता के अनुरूप जीवन-स्तर की व्यवस्था करना सरकार का और हमारे समान समझदार लोगों का धर्म है। इसके साथ ही यह जरूरी है कि हमारी जनता भी हमारा और सरकार का दिया हुआ ही लेने की दीनता से मुक्त हो और अपनी मेहनत से, अपने प्रचण्ड पुरुषार्थ से, आवश्यक सिद्धियां प्राप्त करे। इन सिद्धियों को प्राप्त कराने में हमें उसकी सहायता करनी ही चाहिए। यह तो हमारा धर्म है। ऐसा करके हम उसपर कोई उपकार नहीं करते।

लेकिन जो लोग आज जीवन-स्तर को ऊंचा उठाने की बात करते हैं, वे हमारे देश के इन दलित-पीड़ित लोगों के जीवन-स्तर को ऊंचा उठाने के बदले अपने जीवन-स्तर को उन्नत बनाने की बात ही करते मालूम होते हैं। ऐसे लोग

इस बात को बिलकुल ही भूल जाते हैं कि भारत जैसे गरीब देश की अधभूखी जनता के बीच रहकर इंग्लैंड अथवा अमरीका की जनता के जीवन-स्तर जैसा अपना जीवन-स्तर बनाने की बात सोचकर वे न केवल देशद्रोह करते हैं, बल्कि मानवता का द्रोह भी कर रहे हैं। जिस देश में हम जन्मे हैं, जिन कुटुम्बियों और ग्रामवासियों के बीच हम जीये हैं और जिस दुबली-पतली मां का दूध पीकर हम बड़े हुए हैं, उसी देश के और उसी मां के दूसरे बालक हमारे आस-पास गरीबी में अपने जीवन की घड़ियां गुजारें और हम उनके बीच समृद्ध देशों के जीवन-स्तर के साथ जीने की बात सोचें, और सो भी बिलकुल निर्लज्ज होकर, इससे बढ़कर अमानुषी जीवन और कौन-सा हो सकता है?

यह तो जीवन-स्तर को ऊंचा उठाने की बात करनेवाले एक पक्ष की चर्चा हुई। यदि हम अपने जीवन को उसके पूरे अर्थ में सफल और सार्थक करना चाहते हैं, तो हमें उसे उसके सब पहलुओं से संस्कारी बनना चाहिए। मतलब यह कि हमारा आर्थिक जीवन, सामाजिक जीवन, आध्यात्मिक जीवन, यानी हमारे जीवन के ये सारे पहलू आपस में एक-दूसरे से अपना तालमेल बैठाकर चल सकें, इस प्रकार का हमारा जीवन-स्तर बनाना चाहिए। जब हम इस तरह सोचते हैं, तो आज धन कमाने का जैसा पागलपन हमपर सवार हुआ है, उसे देखकर हँसी भी आती है और तरस भी आता है। मनुष्य की कमाई उसके जीवन का सर्वोत्तम माप नहीं बन सकती। धन कमाना जीवन का एक अंग है, दूसरे अंगों की तुलना में अधिक समय चाहनेवाला अंग है। किन्तु इसी कारण हम उसे मानव-जीवन का प्रधान अंग तो कदापि नहीं कह सकते।

हमारे देश में अबतक आम लोगों की आर्थिक समृद्धि औरों की तुलना में बहुत अधिक नहीं रही, लेकिन हमारे गांवों और शहरों का समग्र जीवन आपस में कुछ इस तरह गठित हो गया था कि हमारे लोक-जीवन में अमीरी और गरीबी के बीच बहुत बड़ा फर्क पैदा नहीं हो सका था। सच है कि समाज में कुछ वर्गों को जन्म से ही अधिक श्रेष्ठता मिलने लगी थी; लेकिन इसके कारण अलग-अलग वर्गों के जीवन में बहुत बड़ा अन्तर उत्पन्न नहीं हुआ था। हमारे ब्राह्मणों, हमारे व्यापारियों, हमारे राज्यकर्ताओं और हमारे मजदूरों आदि के बीच कोई भेदभाव न रहा हो, सो बात नहीं। लेकिन इन सब लोगों के जीवन में भेदभाव के रहते हुए भी एक प्रकार की सुसंवादिता थी, ऐसा प्रतीत होता है। आज हमारे जीवन के सब क्षेत्रों में जो भेदभाव दिखाई पड़ता है, वह जन्म के कारण उत्पन्न भेदभाव को भी भुलानेवाला है। गरीब और अमीर, शिक्षित और अशिक्षित, देहाती और शहरी, सरकारी नौकर और आम जनता, इन सबके बीच आज जो भारी भेदभाव दिखाई पड़ता है, वह किसी भी तरह दूर होना चाहिए और हमारे समूचे लोक-समाज को आज की अपनी कम समृद्धिवाली स्थिति में भी जो थोड़ी-बहुत सम्पत्ति है, यथोचित रीति से बांटकर जीना सीखना चाहिए। जब यह होगा तभी हमारे गरीब, अनपढ़ और दलित भाई-बहन हमारा विश्वास कर सकेंगे और तभी हम एक समूचे राष्ट्र के रूप में जीवन की अनेक दिशाओं में महान् पुरुषार्थ कर सकेंगे। जीवन-स्तर को उठाने का सच्चा अर्थ यही है कि आज जिनका जीवन-स्तर दूसरों की तुलना में बहुत ही गिरा हुआ है, उनके जीवन-स्तर को ऊंचा उठाया जाय और साथ ही जिनका जीवन-स्तर अधिक ऊंचा हो, उन्हें चाहिए कि वे अपनी रहन-सहन को अपने दूसरे भाई-बंधुओं की रहन-सहन के साथ मिलता-जुलता बनाये रखें।

लेकिन आपका प्रश्न यहीं समाप्त नहीं होता। आप तो यह पूछ रहे हैं कि क्या जीवन की आवश्यकताओं को बढ़ाते जाने से सभ्यता अथवा संस्कृति भी आगे बढ़ती है? इस बारे में मेरा विचार यह है कि जीवन की स्थूल आवश्यकताएं अमुक हद से भी कम पूरी होती हों, तो जिस तरह वह सभ्यता के विरुद्ध है, उसी तरह यदि उनकी पूर्ति जरूरत से ज्यादा होती हो, तो उसमें सभ्यता अथवा संस्कृति का नाश है। उदाहरण के लिए, मनुष्य को जितना आहार आवश्यक है, उससे कम आहार उसे मिले, तो जैसे यह हीनयोग स्वास्थ्य के लिए हानिकारक है, वैसे ही, आवश्यकता से अधिक आहार का अतियोग भी मनुष्य के लिए हानिप्रद ही है। जिस तरह आहार के मामले में, मनुष्य के प्राकृतिक आवेगों के मामले में और सारे मानव-जीवन के मामले में हीनयोग अथवा अतियोग दोनों हानिकारक होते हैं, उसी तरह जीवन की आवश्यकताओं को बढ़ाकर इन्द्रियों आदि को स्वैराचार के लिए खुला छोड़ देना भी मनुष्य के लिए और सारे मानव-

समाज के लिए बहुत हानिकारक है। यही कारण है कि आज पश्चिम के लोग जिस तरह का जीवन बिता रहे हैं, आगे चलकर उस तरह का जीवन बिताना उनके लिए भारी हो जायगा। यह बात पश्चिम के ही कुछ विचारक आज स्पष्ट रूप से मानने लगे हैं। इसलिए यह कहना मूलतः गलत है कि जीवन की आवश्यकताओं को बढ़ाने से सभ्यता या संस्कृति बढ़ती है।

मेरे मन में यह विचार इस तरह के दूसरे विचारों की भांति काफी देर में पैदा हुआ। जब अपने बचपन के वर्षों की याद करता हूं तो मुझे स्पष्ट ही याद पड़ता है कि मेरे ग्रेज्युएट होने तक हमारे परिवार में हम सबको प्रतिदिन रात को ब्यालू के समय एक छटांक दूध मिला करता था। मुझे अच्छी तरह याद है कि मेरे पिताजी ने एक बार हम सबसे जोर देकर कहा था कि मेरी शाम की कथा के बाद पोथी पर पैसे-दो-पैसे जो भी चढ़ेंगे, उन्हीं पैसों की साग-सब्जी हमें हर रोज खानी है। और लंबे समय तक हम चुस्ती के साथ इस नियम पर डटे रहे। हमें डटे रहना पड़ा! फिर भी अपने जीवन में मैंने कभी, किसी प्रकार की हीनता का अनुभव नहीं किया। एक बार मेरे विद्यालय के एक शिक्षक ने मेरा शिक्षा-शुल्क माफ कराने की बात आग्रहपूर्वक कही और माफी-पत्रक पर मेरे पिताजी के हस्ताक्षर लेने के लिए मुझे एक पत्रक भी दिया। किन्तु पिताजी ने उस पत्रक पर हस्ताक्षर करने से साफ इंकार कर दिया। उन्होंने कहा, "अगर हमें खाने को रोटी मिलती है, तो पढ़ने के लिए फीस भी क्यों न मिले ?" मुझे ऐसा लगता है, मानो अपने पिताजी की इस वृत्ति को मैंने अपने जीवन के साथ जोड़ लिया है। और **'ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत्'** का जो विचार आज समाज में रूढ़ होता जा रहा है, उसमें मैंने कभी श्रद्धा नहीं रखी। परन्तु जब मैं वयस्क हुआ, तो मुझे यह प्रतीति हुई कि जीवन को योग्य रीति से पुष्ट करनेवाले आहार से भी कम आहार करना और ऐसा करके भी अपनेको और अपने भाई-बहनों को इस प्रकार के हीन आहार से मुक्त करने के लिए प्रचंड पुरुषार्थ करना ही मेरे लिए और मेरे देश के अधिकांश मनुष्यों के लिए कर्तव्य रूप है।

आज भी दिन-प्रतिदिन मेरा यह विश्वास अधिक स्पष्ट होता जाता है कि हमारी वर्तमान समाज-व्यवस्था अमीर को अधिक अमीर बनाती है, और गरीब को अधिक गरीब बना रही है। इस व्यवस्था को मिटाये बिना जीवन-स्तर को उंचा उठाने की हवाई बातें करना, पुराने जमाने के किसी बेबूझ राजा की तरह भूखे आदमी से खाजा खाने को कहने जैसा है।

(पृष्ठ ४३ का शेष)

'कमेंट'—राय—नहीं प्रकट करता है। उसने इतना ही लिखा है कि यह सुनकर आकाश से देवताओं ने पुष्पवृष्टि की। यह पढ़कर आपकी सहानुभूति दुर्योधन की तरफ जाती है। कुछ प्रसंगों में दुर्योधन की तरफ तो कुछ प्रसंगों में दूसरों की तरफ आपकी सहानुभूति जाती है। याने व्यास यह करता है कि विश्व में जहां-जहां गुण है, वहां-वहां से लेकर उसने चित्र खड़े किये हैं। महाभारत का नाम ही है 'गुण-समूह'। व्यास हरेक के दोष भी बतायेगा। ऐसा पुरुष सामने नहीं रखेगा, जो केवल गुणमय है या जो केवल दोष-मय है। दुर्योधन के गुण भी बतायेगा और युधिष्ठिर के दोष भी बतायेगा। जब जहां दोष है, चाहे थोड़ा-सा है—वह किसी महापुरुष में है तो वह भी बतायेगा और छोटे के गुण भी बतायेगा। इस तरह जगह-जगह उपदेश दिया है, लेकिन अप्रत्यक्ष रूप में, प्रत्यक्ष उपदेश नहीं दिया है। जैसे पिस्तौल दिखाना वैसी ही आज्ञा करना एक हिंसा है। अहिंसा ऐसी ही आती है। हम बहुत नम्रता से आपको सुझाते हैं। शास्त्रकार आज्ञा दे सकता है। मास्टर सीधी आज्ञा देते हैं। मां कुशलता से सलाह देती है और सुझाती है तो, वह मां का शब्द हृदय में पैठता है। इसकी मिसालें मैं दे सकता हूं, लेकिन वह लंबा फासला होगा। सार इसका यही है कि अनाक्रमणकारी शब्द-रचना में अहिंसा होती है। इसलिए काव्य ध्वनिरूपेण प्रकट होता है। यह ध्यान में आना चाहिए कि साहित्य में हृदय-प्रवेश करने की जो अप्रत्यक्ष शक्ति है, वह है मधुरता में, मार्दव में, अहिंसा में नम्रता में और प्रत्यक्ष शक्ति है सत्य में। सत्य और अहिंसा के बिना वाणी समर्थ साबित नहीं होगी।

हमारी धरोहर

●● सुशील

(३)

इक्ष्वाकु-कुल के महाराज त्रैवृष्ण त्र्यरुण बहुत ही प्रभावशाली शासक थे। वह पराक्रमी भी थे और विद्वान् भी। उनके राज्य में सब प्रकार के सुख थे। सब कहीं शान्ति विराजती थी। उनके पुरोहित वृश अपनी विद्या के लिए संसारभर में प्रख्यात थे । वह सौम्य भी थे और उग्र भी। साम-गान में वह जितने कुशल थे, युद्धभूमि में वह उतने ही प्रतापी थे। रथ चलाने में तो वह इतने चतुर थे कि एक बार स्वयं महाराज ने उनसे प्रार्थना की, "महर्षि ! इस बार की युद्ध-यात्रा में आपको मेरा सारथि बनना होगा। यह मेरी हार्दिक इच्छा है।"

महर्षि बोले, "राजन्, आपने पुरोहित का मूल्य खूब समझा है। वह राष्ट्र की प्रतिष्ठा है। इसलिए मैं तुम्हारा सारथि बनूंगा।"

महाराज गद्‌गद् हो उठे और जिस समय उनकी विजय-यात्रा आरंभ हुई तो ऐसा लगा मानो ब्राह्म-तेज क्षात्र-बल के साथ संसार के कल्याण-साधन के लिए विजय-यात्रा पर निकला है। इस यात्रा में महाराज को अभूतपूर्व विजय मिली। चारों दिशाओं की विजय-यात्रा को समाप्त कर जब वह राजधानी की ओर लौटे तो उनके हर्ष का पारावार न था। प्रजा ने उनका अभूतपूर्व स्वागत किया। आगे-आगे विजयी इक्ष्वाकुओं की विशाल सेना की रण-दुन्दुभि का गंभीर निनाद, पीछे एक रथ पर आसीन राजा त्र्यरुण और उनके सारथि महर्षि वृश। उस दृश्य को देखने के लिए सभी नर-नारी अपना-अपना काम छोड़कर सड़क पर आ गये थे । भीड़ इतनी अधिक थी कि लोग एक-दूसरे पर टूटे पड़ते थे। ऐसे समय में अत्यन्त सावधानी रखने पर भी अचानक एक चंचल ब्राह्मण बालक राजा के रथ के नीचे आ गया। उसके प्राणों की रक्षा न हो सकी। रंग में भंग हो गया। दर्शक क्षुब्ध हो उठे। राजा और पुरोहित दोनों के हृदय भी विषाद से भर आये। लेकिन इस अपराध का दायित्व किसपर था, इसका निर्णय बहुत कठिन हो गया। राजा का कहना था कि मेरे रथ के घोड़ों की लगाम महर्षि के हाथ में थी। रथ का वेग धीमा करना या तेज करना उनके अधिकार की बात थी, मैं तो उनके हाथ की कठपुतली मात्र था; इसीलिए इस हत्या के दोषी वह ही हैं। महर्षि का तर्क था, "रथ के स्वामी आप हैं। आप रथी हैं और मैं सारथि हूं। मेरे हाथ में बागडोर जरूर है, लेकिन फल के अधिकारी आप ही हैं। आप विजय यात्रा के शुभ फलों के अधिकारी हैं तो अशुभ फलों के भी। जैसे मैं विजय का अधिकारी नहीं हूं; वैसे ही मैं हत्या का भी अधिकारी नहीं हूं। मैं तटस्थ हूं और तटस्थ व्यक्ति का कोई अपराध नहीं होता।"

इक्ष्वाकुओं ने दोनों पक्षों की बातें सुनीं। स्वार्थ और परार्थ में भयंकर द्वन्द्व मच उठा। परार्थ बुद्धि कहती, "वृश का कहना ठीक है। सारथि सेवक मात्र है, वह संचालक है, फलभागी नहीं।" स्वार्थ बुद्धि कहती, "महाराज हमारे पूज्य स्वामी हैं । उनपर दोषारोपण करना न्यायसंगत न होगा।"

इस प्रकार बहुत देर तक वे विवेचन करते रहे। परंतु अंत में स्वार्थ की जय हुई और उन्होंने स्वामी राजा को निर्दोष तथा सेवक पुरोहित को दोषी ठहराया। महर्षि ने निरपराधी होते हुए भी इस निर्णय के सामने सिर झुका लिया। लेकिन साथ ही अपने मंत्र के बल से उन्होंने उस बालक को फिर से जीवन-दान दिया। इसके बाद वह इक्ष्वाकु जनपद को छोड़कर चले गए।

उनके जाते ही जैसे जनपद का तेज चला गया हो। अग्नि या तो जलती ही नहीं थी और जलती भी थी तो उसमें तेज नहीं रह गया था। लोगों ने नाना प्रकार के उपाय किये, पर अग्नि में ज्वाला उत्पन्न नहीं हुई। राज्य भर में हाहाकार मच उठा। न तो गृहस्थी के घर में भोजन बन पाता था, न यज्ञशालाओं में यज्ञ हो पाते थे। धीरे-धीरे प्रजा राजा के विरोध में उठने लगी। उन्होंने कहना शुरू किया, "बालक की हत्या का दोष पुरोहित का नहीं था, राजा का था। राजा ने पुरोहित को दोषी ठहराकर जो पाप किया है, उसीके कारण अग्नि का तेज समाप्त हो गया है।"

राजा ने सबकुछ सुना। वह विचलित हो उठे। मंत्रियों से सलाह की। मंत्रियों ने प्रजा की बात का समर्थन

किया। राजा को सिर झुकाना पड़ा और उन्होंने महर्षि वृश को खोजने के लिए आदमी भेजे। वह आये। राजा ने उनके चरणों में सिर रख दिया। महर्षि उग्र थे तो, सौम्य भी थे। उन्हें प्रजा पर आई इस आपत्ति को देखा, तो क्षणभर में उनका कोप दया में परिणत हो गया और वह अग्नि के तेज के नष्ट होने का कारण खोजने लगे। अपनी सूक्ष्म दृष्टि से उन्होंने देखा, राजा की एक रानी पिशाचिनी है। पुरोहित के चले जाने पर उसीने तेज को अपने पास छिपा रखा है।

वह राजा को लेकर महल में पहुंचे और उस तेज को संबोधित कर नाना प्रकार से स्तुति करने लगे। उन्होंने ऋग्वेद के मंत्रों का उच्चारण किया। देखते-देखते अग्निदेव की ज्वाला धधक उठी। पिशाचिनी भस्म हो गई और घर-घर में अग्नि का प्रादुर्भाव हो गया। फिर से रसोई में भोजन बनने लगा। यज्ञशाला में होम की ज्वाला जल उठी? रात्रि का अंधकार दूर करने के लिए दीपक प्रज्वलित हो उठे। राजा सहित सब लोग समझ गये कि ब्राह्म-तेज के सहयोग से ही क्षात्र-बल जगत् का कल्याण कर सकता है। आध्यात्मिक शक्ति के अभाव में शारीरिक शक्ति एकदम व्यर्थ है। वह कोई काम पूर्ण नहीं कर सकती। इस प्रतीक कथा का यही अर्थ है।

(४)

इक्ष्वाकु-मंडल के अधिपति महाराज हरिश्चन्द्र बहुत दुःखी रहते थे। सौ रानियों के होते हुए भी उनके घर में एक भी पुत्र नहीं था। सूना राजमहल उन्हें काट खाने को दौड़ता। संयोग की बात है कि एक दिन महर्षि नारद उधर आ निकले। राजा के दुःख का कारण जानकर वह बोले, "पुत्र-प्राप्ति के लिए वरुण से सच्चे हृदय से प्रार्थना करो। वरुण सर्व-शक्तिमान् हैं, सर्वज्ञ हैं। सच्चे हृदय और सरल भाव से की गई प्रार्थना को वह अवश्य स्वीकार करेंगे।"

नारद की आज्ञा मानकर हरिश्चन्द्र ने गद्गद् स्वर में वरुण देव से प्रार्थना की, "भगवन्, यदि मेरे घर में पुत्र उत्पन्न होगा तो मैं उस पुत्र को ही आपकी सेवा में समर्पित कर दूंगा।"

वरुण ने महाराज की प्रार्थना स्वीकार की और उनके घर में सर्वगुणसम्पन्न एक पुत्र का जन्म हुआ। सारे राज्य में आनंद की मस्ती छा गई। तभी सहसा वरुण देव वहां आये। राजा से बोले, "अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार इस बालक को मुझे दे दो।" राजा ने नम्र भाव से कहा, "तुरंत का उत्पन्न बालक यज्ञ के उपयुक्त नहीं होता। आप दस दिन बाद आयें।"

वरुण दस दिन बाद आये। राजा ने इस बार भी उन्हें लौटा दिया। राजा बार-बार समय आगे बढ़ाते रहे और वरुण देव बार-बार आते रहे। राजकुमार का नाम रोहित रखा गया। उसके दूध के दांत टूट गये, नये दांत पैदा हो गये। फिर वह युवा हुआ। उसने कवच धारण किया। इस समय राजा ने अपने पुत्र को सबकुछ बता दिया। कहा, "वरुण की कृपा से तुम्हारा जन्म हुआ है। अब तुम युवा हो गये हो, पवित्र हो। मैं तुम्हें वरुण को दूंगा।"

रोहित ने यह बातें सुनीं और चुपचाप वह वहां से जंगल भी ओर चला गया। धीरे-धीरे बारह महीने बीत गये, पर वह नहीं लौटा। उसके अंग-अंग में वीर रस उमड़ रहा था। वह वरुण के पास नहीं जाना चाहता था। वरुण क्रुद्ध हो उठे और इस क्रोध का परिणाम यह हुआ कि राजा को जलोदर रोग ने आ घेरा। थोड़े दिनों में उनके प्राणों पर आ बनी। जंगल में रोहित ने भी यह समाचार सुना। वह बहुत दुखी हुआ और घर की ओर लौट पड़ा। लेकिन एक विचित्र पुरुष ने उसे रोक दिया। दूसरे वर्ष, तीसरे वर्ष, लगातार पांच वर्ष तक ऐसा ही होता रहा। राजा का रोग बढ़ रहा था। रोहित उनके पास आना चाहता था। लेकिन हर बार वह पुरुष उसे रोक देता था। ऐसे ही समय एक दिन उसने तीन पुत्रों के साथ एक ऋषि-दम्पती को देखा। अन्न न मिलने के कारण वे सूखकर कांटा हो रहे थे। ब्राह्मण का नाम अजीगर्त था। रोहित को सहसा सूझा—क्यों न इसके एक पुत्र को मैं खरीद लूं और अपने बदले वरुण को भेंट कर दूं। बस उसने ऋषि से निवेदन किया कि सौ गाय लेकर वह अपने एक पुत्र को उसे दे दें।

ऋषि ने अपनी पत्नी की ओर देखा और पत्नी ने ऋषि की ओर। दोनों इस प्रस्ताव से सहमत हो गये। लेकिन पिता ने कहा, "मैं अपने ज्येष्ठ पुत्र को नहीं दूंगा।" माता बोली, "मैं कनिष्ठ पुत्र को नहीं बेच सकती।" लाचार होकर रोहित ने मझले पुत्र शुनःशेप को ले लिया और घर लौट आया। राजा पुत्र को देखकर बहुत प्रसन्न हुआ और उसकी

बातें सुनकर उसने यज्ञ की तैयारी की। कई दिन तक यज्ञ होता रहा और चंदन तथा पुष्पमाला से सजा हुआ शुनःशेप अपने मरने की राह देखता रहा। एक दिन वह अवसर आ गया जब उसे यूप से बांधा जानेवाला था। ऋषियों का मन डोल उठा। लेकिन उसके पिता अजीगर्त ने अपने प्यारे पुत्र को रस्सियों से जकड़कर खंबे में बांध दिया। बदले में उसे सौ गायें मिलीं। इसके बाद बलि का समय आया। ऋषि लोग फिर कांप गये। लेकिन अजीगर्त सौ गायें लेकर अपने ही पुत्र का सिर काटने को तैयार हो गया। जनता कांप उठी—यह कैसा पिता है कि जिस पुत्र को उसने जन्म दिया, उसीको धन के लोभ से मारने को तैयार होगया है। तभी शुनःशेप ने ब्राह्मणों से सलाह की और वह परमात्मा की विभूतियों से प्रार्थना करने लगा। वेद-मंत्रों की ध्वनि से सारा मंडल गूंज उठा। उस प्रार्थना में इतनी करुणा थी कि सहसा शुनःशेप के शरीर के सब बंधन टूट गये। वह मुक्त हो गया और देखते-देखते राजा हरिश्चन्द्र का रोग भी दूर हो गया। ऋत्विक् लोग बहुत प्रसन्न हुए और उन्होंने शुनःशेप से ही यज्ञ में पूर्णाहुति दिलवाई। यज्ञ सानन्द समाप्त हो गया। लेकिन अपने पिता के इस व्यवहार से शुनःशेप के हृदय को बहुत ठेस लगी और वह उनको छोड़कर विश्वामित्र की गोदी में जा बैठा। पिता ने कहा, "हे पुत्र, मेरे रहते तुम विश्वामित्र को अपना पिता कैसे मान सकते हो।" क्रुद्ध होकर शुनःशेप ने उत्तर दिया, "शूद्र लोग भी अपने पुत्र का वध नहीं करते, लेकिन आपने ३०० गायों की कीमत मुझसे अधिक समझी और तलवार से मेरा सिर काटने को तैयार हो गये।" पिता ने कहा, "मैं बहुत दुखी हूं। पश्चात्ताप से मेरा हृदय जल रहा है। यह गायें तुम्हारी हैं।" पुत्र ने उत्तर दिया, "सदाचारी एक बार भी भूल करता है तो वह महा अपराधी होता है। पिता ही जब पुत्र का वध करने को तैयार हो जाय तो उसे कभी क्षमा नहीं किया जा सकता।"

महर्षि विश्वामित्र ने भी शुनःशेप का समर्थन किया। और कहा, "तुमने भरे समाज में पुत्र को मारने के लिए तलवार उठाई थी। हे धन के लालची, तुम अब इसके पिता नहीं रहे। यह अब मेरा पुत्र है।"

महर्षि के ऐसे कठोरपर सत्य वचन सुनकर अजीगर्त का सिर झुक गया और शुनःशेप हमेशा के लिए उससे छिन गया।

मैं यह सोचना गलत मानता हूं कि इस प्रकार की समस्याओं का हल ईश्वरीय शक्तियों की गोद में छिपा हुआ है! जरूरत इस बात की है कि जो उचित समझा जाय, उसपर अमल किया जाय। घटनाएं शान्ति-पात्र और भूदान-ग्रामदान के लक्ष्य की पूर्ति की प्रतीक्षा नहीं कर सकतीं। अगर एक भी सत्याग्रही होता तो उसको गोआ जैसी स्थिति में सक्रिय होना चाहिए था। सक्रियता ही हमको मजबूत बना सकती है, न कि निष्क्रियता। ऐसा मानने का कोई कारण नहीं है कि हजारों-लाखों लोग अहिंसक सत्याग्रह के लिए तैयार न होते, अगर उनको समय पर आवाहन किया जाता। कमी है नेतृत्व की। मैं उम्मीद करता हूं कि इस विषय में हम अपने हृदय को टटोलेंगे और इस समस्या पर पुनर्विचार करेंगे। युद्ध और शान्ति का मामला केवल सरकारों पर नहीं छोड़ा जा सकता। किसी सरकार से अहिंसा को मानने की अपेक्षा नहीं की जा सकती। अगर कोई अहिंसक कदम उठाना है तो केवल जनता ही उठा सकती है और दुनिया में इस काम के लिए भारतीय जनता से अधिक योग्य किसी दूसरे देश की जनता नहीं है।

—जयप्रकाश नारायण

विनोबा के दो पावन प्रसंग

●● कमलनयन बजाज

विनोबाजी के संपर्क में आने का मुझे बचपन से ही अवसर मिला है। इस लंबे अरसे में उनका मुझपर जो असर पड़ा है, उससे संबंधित दो प्रसंग आपको सुनाता हूं।

सन् १९३०-३१ की बात है। एक दिन विनोबाजी चर्खा कात रहे थे, और साथ ही हम दो-तीन विद्यार्थियों का वर्ग भी ले रहे थे। इसी बीच किसीने डाक से आया एक लिफाफा उनके हाथ में दिया। उस लिफाफे के आकार, कागज के प्रकार और पत्र के पीछे से दिखाई देती हुई लिखावट से मैंने यह ताड़ लिया कि यह पत्र बापूजी का लिखा हुआ है। विनोबाजी ने उसे एक बार पढ़ा और फाड़ दिया। जितने भी पत्र उनके पास आते, उन्हें वह एक बार पढ़ जाते और दोपहर को दुबारा पढ़े बिना सबका जवाब दे देते। आश्रम से संबंधित पत्रों को वह कार्यालय में भिजवा देते। शेष को फाड़ देते। अपने पास कुछ भी न रखते। मैं उनकी इस आदत से परिचित था। लेकिन यह पत्र तो बापू का था। इससे मेरे मन में कुछ कौतूहल और शंका हुई। मैंने फाड़े हुए पत्र के टुकड़े को साथ में रखकर पढ़ा। किसी संदर्भ में बापू ने विनोबाजी को कुछ इस प्रकार लिखा था, "तुमसे महान् अन्य किसी आत्मा से मेरा संपर्क नहीं हुआ।" बापू के साधारण पत्रों को भी लोग संभालकर रखते थे। यहांतक कि उनके हस्ताक्षर तक को मंढ़वा लेते थे। लेकिन विनोबाजी ने बापू का लिखा हुआ यह पत्र इस तरह फाड़ दिया, इससे मुझे बहुत रोष हुआ। मैं कुछ आवेश में उनसे पूछ बैठा, "आपने पत्र को क्यों फाड़ डाला?" उन्होंने सहज भाव से कहा, "अपने आत्मीय और गुरुजन से भी गफलत या स्नेह के कारण कुछ भूल हो गई हो तो उसको कायम रखना भी ठीक नहीं। उसमें मोह है और हिंसा भी।" मैंने उसी आवेश में कहा, "बापूजी ने भूल की है, यह कहनेवाले आप कौन?" उन्होंने उसी सहजता से जवाब दिया, "बापू को लाखों लोग मिले हैं तथा एक-से-एक महान् विभूति और आत्माएं मिली होंगी, यदि बापू उन्हें नहीं पहचान पाये, या पहचानकर भी भूल गये हों तो उससे उन लोगों की महानता कम नहीं हो जाती। हमें इतना ही समझना चाहिए कि बापू ने स्नेह या मोह के कारण मेरे प्रति काफी कुछ लिख दिया है। उसमें भूल है; उसे सहेजकर रखने की जरूरत क्या?" मैंने दोहराया, "भूल क्यों कहते हैं? बापू ने समझ-बूझकर ही लिखा होगा।" विनोबाजी ने धीरज के साथ कहा, "मान लिया उन्होंने जो लिखा, वह सत्य ही है; उससे मुझे लाभ क्या? यदि कुछ हो सकता है तो घमंड ही। जिससे अपना कुछ लाभ न हो, उसे रखने से मतलब?" मैंने फिर कहा, "बापू जैसे महापुरुष की लिखी हुई चीज़ आपको आप ही के बारे में क्यों न लिखी गई हो, यह केवल आपके लिए नहीं, दुनिया के लिए है—उसे फाड़ने का आपको क्या अधिकार?"

विनोबाजी ने कुछ अधिक समझाते हुए फिर से कहा, "ऐसा कहने में हमारा मोह ही है। उसमें काम की चीज़ जो स्नेह है उतना हमने ले लिया। बाकी को नष्ट कर देने में ही लाभ है। माना यदि वह सच भी हो तो मेरे उस पत्र को फाड़ डालने से वह बात मिट नहीं जाती। सत्य तो सत्य ही रहेगा—फाड़ने से फटेगा थोड़े! लेकिन यदि वह मोह है, तो उसे रखने में नुकसान ही होगा। इसलिए उसे फाड़ डालने में कोई जोखिम नहीं, न रखने से कोई लाभ।"

विनोबाजी की बात मेरे दिल में पैठती ही चली गई। मेरा रोष काफूर हो गया। इस घटना ने मेरे जीवन को एक मोड़ दिया। कुछ 'दुर्गुण' भी इसकी वजह से मुझ में आ गये। अच्छी-से-अच्छी चीजों और पत्र-व्यवहार के प्रति संग्रह की आदत नहीं रही। कुछ लापरवाही भी आ गई। लेकिन जीवन में एक बहुत बड़ा समाधान और संतोष इस घटना से मुझे मिला, जिसे मैं अपने जीवन की एक बड़ी कमाई मानता हूं।

दूसरा प्रसंग लीजिये।

गीता, ज्ञानेश्वरी, रामायण आदि ग्रंथों में से किसी विशेष प्रश्न या विचार को लेकर विनोबाजी चर्चा छेड़ देते थे। जिस छंद में मूल श्लोक हो उसी छंद में हिन्दी, मराठी, या गुजराती में उसका सरल भाषान्तर अथवा भावार्थ कर देते। यह भी उनके पढ़ाने का एक तरीका था। इस प्रकार तत्काल

रूपान्तर करने के बावजूद कई बार वह मूल से भी अधिक स्पष्ट और अच्छा हो जाता था। यह सब वह अक्सर कागज के टुकड़ों पर लिखते थे और काम हो जाने पर फाड़ देते थे।

अहिंसा के विषय को समझाते हुए मराठी में एक श्लोक उन्होंने बनाया। उसकी शब्दावलि तो मुझे याद नहीं, लेकिन उसका भावार्थ मेरे दिल पर ज्यों-का-त्यों अंकित हो गया। वह कुछ ऐसा था, "पत्थर ने फूल से कहा, 'मैं तुझे कुचल डालूंगा।" फूल ने जवाब दिया, "मेरी सुगंध को दुनिया में फैलाने का मौका देकर मुझपर अनन्त उपकार करोगे।" पत्थर का घमंड चूर-चूर हो गया। नम्रता और दृढ़ता के साथ फूल ने दोनों तरह से जीत कर ली। कुचला जाता तो उसकी जीत थी ही, और बच गया तो उसने किसीको दुखाये बिना अपने शील की रक्षा की। अहिंसा का इससे अधिक सरल, सुन्दर तथा गहन विश्लेषण आज तक मेरे देखने में नहीं आया—ऐसा विश्लेषण जो सीधा मानस पर उतरता चला जाय।

लेकिन कागज के टुकड़ों को फाड़ देने से मुझे बहुत वेदना होती। अंत में जब मुझसे नहीं रहा गया तो एक दिन पूछ ही बैठा, "आप इन कागज़ों को फाड़ क्यों देते हैं? यदि इन्हें जमा करके प्रकाशित किया जाय तो साहित्य के अलावा अनेक विद्यार्थियों को भी इसका लाभ मिल सकता है।"

उन्होंने कहा, "मनुष्य अमर नहीं है। जब वह स्वयं अमर नहीं तो किसी अमर कृति का निर्माण उससे हो ही कैसे सकता है? फिर भी यह संभव है कि जीवन की अनुभूति और विचार-मंथन के बाद ऐसी कोई कृति बन जाय, जो लगभग अमरत्व को प्राप्त कर सके। लेकिन यदि वह कृति ऐसी न हो तो उसे रखने से क्या लाभ? अंत में तो समाज अथवा काल उसे नष्ट कर ही देगा। यह कष्ट समाज या काल को क्यों दिया जाय? इसमें हिंसा है, और खुद का अपमान भी। अपमान इसलिए कि मैं तो रचना करूं और दूसरे उसे नष्ट करें। इससे तो अच्छा यही है—और इसमें हमारे स्वाभिमान की रक्षा भी होती है कि जबतक ऐसी कोई अच्छी चीज़ न बन जाय, हम स्वयं ही उसे नष्ट कर दें। अच्छा रसोइया तो वही माना जायगा, जो अच्छी बनी रसोई को ही परोसे।"

मैंने कहा, "आपने यह कैसे परख लिया कि जो कुछ लिखा गया वह लगभग अमरत्व को प्राप्त कर सकनेवाली कृति नहीं है? हमें तो वह बहुत अच्छी लगती है। जो मर्म आप समझाना चाहते हैं, वह आसानी से हृदय में उतरता चला जाता है। इस तरह हजारों लोगों को उससे लाभ मिले तो कितना अच्छा हो?

वह बोले, "आखिर मैं जब कुछ लिखता हूं तो जानता भी हूं कि उस चीज़ की क्या कीमत है। यदि वह अमरत्व को प्राप्त कर सकनेवाली कृति है तो नष्ट करने से भी नष्ट कैसे हो सकती है? वह तो जमाने के साथ ही प्रवाहित होती रहेगी—मुझसे तुममें, तुमसे और किसीमें—इस तरह उसका चलन होगा। उसमें सत्य है तो अमरत्व है, और अमरत्व है तो जमाने पर हमेशा असर करती रहेगी—सारे वातावरण में फैल जायगी।"

कितना सरल और कितना गहरा विचार है? दूसरों को कष्ट भी न दूं, समाज के सामने अधकचरी चीज़ भी न लाऊं और मेरे स्वाभिमान की भी रक्षा हो। एक विचार यदि बन गया है, और वह शक्ति रखता है, तो वह नष्ट नहीं हो सकता। यही सत्य की कसौटी है। ऐसी श्रद्धा और विश्वास से हम जैसे सामान्य लोगों की भी, भले ही क्षण भर के लिए क्यों न हो, आभास तो हो जाता है, कि सत्य अमर है, अटल है।

विनोबाजी की 'गीताई' यद्यपि गीता का भाषान्तर ही है, फिर भी कहीं-कहीं वह मूल से भी अधिक सुन्दर बन पड़ी है। 'गीताई' को उनके इसी तरह के पूर्व-प्रयत्नों का अंतिम फल समझना चाहिए।

●

सहज है इन्सान को अब थाह पाना, चांद, सागर, अगम की दूरी मिटाना।
दूर मुझको आज भी लगता मगर है—आदमी को आदमी का खोज पाना॥

—वेदप्रकाश 'वटुक'

●

जीवन और दर्शन

●● डा० इन्द्रसेन

जीवन से यहां अर्थ है मानव-जीवन। निश्चित ही दर्शन मानव-जीवन की वस्तु है। मानव ही विचार करता है, आगे-पीछे तथा दूर की सोचता तथा समग्र स्वरूप और भाव को जानना चाहता है। इसीसे दर्शन का जन्म होता है। दर्शन का विषय तथा उद्देश्य है समग्र सत्ता और इसका साधन तथा उपयुक्त करण है चिंतनशील बुद्धि। अतः मानव-जीवन और दर्शन का बड़ा घनिष्ठ संबंध है। मानव-जीवन से ही दर्शन का जन्म होता है और इसके जन्म की स्थिति ही इसके उद्देश्य को जतला देती है। जीवन के किसी कष्ट, विरोध तथा संकट से ही चिंतन तथा विचार प्रेरित होते हैं और उनका समाधान-उपाय ही चिंतन-विचार का उद्देश्य होता है। चिंतन-विचार अनेक शैलियों तथा श्रेणियों का हो सकता है। कभी तो यह बिलकुल तात्कालिक प्रयोगात्मक समाधान को खोजता है, कभी किसी दृष्टि-विशेष, सामाजिक-राजनैतिक आदि से, कुछ गंभीर स्पष्टीकरण चाहता है और कभी-कभी एक आत्यन्तिक दृष्टि से मूल-तत्व के समग्र स्वरूप को जानना चाहता है। अंतिम शैली का यह आत्यान्तिक, मूलतत्व—समग्र स्वरूप—उद्दिष्ट चिंतन-विचार ही दर्शन होता है। प्रत्यक्ष ही, इसका उद्देश्य जीवन का आत्यन्तिक तथा मूलतत्व और समग्र-स्वरूप-प्रतिष्ठित पथ-प्रदर्शन है।

इस प्रकार अपने जन्म तथा उद्देश्य से दर्शन जीवन के साथ घनिष्ठतया संबद्ध है।

परंतु जीवन से यह दूर भी हट सकता है और अपने इतिहास में बहुत बार हटता रहा है। समग्रता दर्शन की विशिष्ट प्रेरणा है। विज्ञान तथा कलाएं आंशिकता से प्रेरित तथा आंशिकता में प्रतिष्ठित होते हैं। परंतु समग्रता के भी अनेक पक्ष हैं—सत्ता एक है, ज्ञान दूसरा है, भाषा तीसरा है। सत्ता-पक्ष की खोज में कष्ट अनुभव होने से दार्शनिक जिज्ञासा ज्ञान-पक्ष को प्राथमिकता दे सकती है। ज्ञान-अन्वेषण में भाषा की प्राथमिकता अनुभव हो सकती है। इस प्रकार कभी-कभी लंबे समय के लिए भी दर्शन अंतिम सत्ता और सत्य, समग्र सत्ता और सत्य को छोड़कर अन्य प्रश्नों की खोज में पड़ सकता है। इससे जीवन और दर्शन का साक्षात्-संबंध ओझल भी हो सकता है और अनेक बार ऐसा हो चुका है। परंतु पुनः-पुनः जीवन का प्रश्न उठकर दर्शन को सचेत कर देता है और चिन्तक नये सिरे से पूछने लगते हैं कि क्या जीवन के समग्र भाव का निरूपण तथा पथ-प्रदर्शन दर्शन का विशेष कर्तव्य और उद्देश्य नहीं है?

विषय के अंदर के प्रश्नों में इधर-उधर हो जाना ही दर्शन को जीवन से अलग नहीं कर देता। इससे कहीं अधिक दर्शन का अपने करण से मोह इसे विपथ पर ले जाता है। बुद्धि और चिंतन मानव-जीवन की विशेष उपलब्धियां हैं और इनकी शक्ति भी बहुत बड़ी है। यह अपने-आपमें आनंद भी बहुत प्रदान करते हैं। दार्शनिक इनके रस से मोहित होकर दर्शन का उद्देश्य ही बदल देता है। वह कहने लगता है सत्य की खोज, सत्य की उपलब्धि से ज्यादा महत्वपूर्ण है। वस्तुतः यह कितनी अयुक्तियुक्त बात है। सत्य की खोज यदि सत्य की उपलब्धि के लिए नहीं तो किसलिए है और सत्य की खोज की जांच क्या इसीसे न होगी कि क्या और कैसे सत्य उपलब्ध हुआ। जहां सत्य की उपलब्धि कभी दृष्टि से ओझल नहीं होती वहीं दर्शन जीवन का यथोचित पथ-प्रदर्शन करने में सफल होता है और वहीं यह अधिकतम सृजनशील और महत्वपूर्ण भी रहता है, वहीं दर्शन बुद्धि से महत्तर अन्य-अन्य करणों को भी उपलब्ध करता और गवेषणा में अधिकाधिक कृतकार्यता प्राप्त करता है।

भारतीय दर्शन के इतिहास में जिस कृतकार्यता तथा सत्योपलब्धि का भाव देखने में आता है वह योरुपीय दर्शन के इतिहास में, विशेषकर आधुनिक युग के इतिहास में, नहीं आता। यहां विचारों का बाहुल्य, उनकी विभिन्नता, अपना विस्तीर्ण रस प्रस्तुत करते हैं, परंतु ज्ञान की निश्चयता तथा सत्योपलब्धि का संतोष नहीं। कारण, यहां बुद्धि और बुद्धि की चेष्टा और इस चेष्टा का रस अधिक महत्वपूर्ण रहे हैं और सत्य, सत्य जैसा कि वह है, समग्र और पूर्ण, और सर्वाधार, उस तीव्रता से, उस अनिवार्यता से अनुभव नहीं हुआ।

वर्तमान समय का सामान्य सांस्कृतिक वातावरण बौद्धिकता-प्रधान है। इसमें बौद्धिक मूल्य अधिक प्रभावशाली हैं। बुद्धि, चिंतन, विचार आदि उद्देश्य रूप अनुभव हो रहे हैं। आज सत्य, जीवन, सत्ता, सर्वाङ्गिता आदि प्रधान प्रेरणाएं नहीं हैं, इस वातावरण में दर्शन ने भी बौद्धिक स्वरूप को ही विकसित किया है और यह प्रवृत्ति इतनी बढ़ गई है कि दर्शन ने सत्ता-विषयक गवेषणा को ही तिलांजलि-सी दे दी है। फलस्वरूप, जीवन पथ-प्रदर्शन से ही वंचित अनुभव करने लगा और दर्शन यह अनुभव करने लगा कि उसका महत्व जाता रहा है। इस अद्भुत सांस्कृतिक स्थिति में दर्शन की ओर से और जीवन की ओर से भी ये प्रश्न पैदा हुए हैं कि जीवन और दर्शन का संबंध क्या है, क्या दर्शन जीवन के लिए नहीं, क्या जीवन दर्शन के लिए नहीं, क्या दर्शन केवल बौद्धिक विश्लेषणमात्र है, इत्यादि।

पश्चिम के दार्शनिक इतिहास पर यहां थोड़ा और गंभीरता से विचार कर लिया जाय। पश्चिम के दार्शनिक चिंतन का आदि दृष्टांत सुकरात है और उसके जीवन का स्वरूप जैसा कि उसके प्रिय शिष्य प्लेटो ने अपालोजी (Apology) क्रीटो (Crito) तथा फीडो (Pheado) नामक संभाषणों में चित्रित किया है देखते बनता है। वहां जीवन और दर्शन एकरस हैं, वहां चिंतन जीवन में से पैदा होता है और जीवन को उन्नत और समृद्ध करना ही उसका उद्देश्य है और कितना प्रभावशाली था वह व्यक्तित्व सुकरात का और कितना फलप्रद था उसका दर्शन और कितना सृजनशील था उस समय का यूनानी जीवन। प्लेटो निश्चित ही बौद्धिक रूप में अधिक संपन्न व्यक्तित्व था। परंतु यह व्यक्तित्व सुकरात के सामने अंत तक नत-मस्तक रहा। अरस्तु बौद्धिक भाव में और आगे बढ़ा। उसने अनेक विज्ञानों को जन्म दिया और आज का विज्ञान-युग विशेष उसे ही स्मरण करता है परंतु समग्र जीवन की जो प्रेरणा प्लेटो में है, वह अरस्तु में नहीं।

आधुनिक विज्ञान-युग में दर्शन ने भी विज्ञान का अनुकरण किया है, इसने भी विश्लेषण को अधिक अपनाया है, फलस्वरूप, दर्शन एकांगी प्रश्नों में उलझ गया है। जीवन समग्र भाव को खोकर पथ-प्रदर्शन नहीं पा रहा बल्कि विज्ञान-जनित सर्वनाश की आशंका से ग्रस्त हो रहा है। प्रत्यक्ष ही, जीवन और दर्शन आज एक क्रियात्मक प्रश्न बन रहा है। बिना निश्चयतापूर्ण समग्र पथ-प्रदर्शन के, जीवन का संचालन कैसे हो और कैसे एकांगी विज्ञानों को अपना-अपना उचित स्थान दिया जाय तथा वैज्ञानिक विकास का उचित लाभ उठाया जाय?

भारतीय दर्शन का पथ-प्रदर्शन इसमें अत्यंत अपूर्व है। भारतीय दर्शन का प्रथम आग्रह है सत्य, समग्र सत्य, एकमात्र सत्य, क्योंकि सत्य सत्तावान् है और इसके बिना सबकुछ सत्ताविहीन। यह सत्य उपलब्ध होना चाहिए, जैसे भी हो प्राप्त हो, बुद्धि से तथा अन्य संभव साधनों से। यहां विश्लेषण की जगह समग्रता-साधक संश्लेषण अधिक प्रिय साधन है। फिर यह संश्लेषणात्मक अंतर्दृष्टि वैयक्तिक विकास की अपेक्षा करती है। बुद्धि के प्रशिक्षण के रूप में तो वैयक्तिक विकास सामान्य रूप से स्वीकृत है ही, परंतु यहां समग्र जीवन का विकास अपेक्षित है। इसका अर्थ है दर्शन का योग से अनिवार्य संबंध।

इस प्रकार सत्य-उद्दिष्ट जीवन समग्र विकास का अनुशीलन करते हुए अंतर्दृष्टि से समग्र सत्य का दर्शन करे। यह दर्शन जीवन-आधारित, जीवन-प्रेरित होने से जीवन के पथ-प्रदर्शन में समर्थ होगा ही। भारतीय इतिहास में यह होता रहा है। क्या यह पथ-प्रदर्शन आज वांछित नहीं है? और इसका निरूपण क्या विशेष रूप से भारतीय दार्शनिकों से ही अपेक्षित न होगा?

दर्शन के इस दृष्टिकोण पर कि जीवन और दर्शन के बीच घनिष्ठ संबंध है तथा दर्शन जीवन-उद्दिष्ट और जीवन-प्रतिष्ठित होना चाहिए कई सैद्धान्तिक आपत्तियां भी उठाई जाया करती हैं। उनके समाधान के बिना भी इस प्रश्न के संबंध में पूरा संतोष नहीं हो सकेगा। अब उनपर विचार कर लें।

पहले तो यह अनुभव किया जाता है कि दर्शन यदि जीवन-उद्दिष्ट होगा तो वह प्रयोगात्मक हो जायगा, उसमें शुद्ध ज्ञान की दृष्टि नहीं रहेगी। शुद्ध ज्ञान की दृष्टि के संबंध में भारत और पश्चिम में मौलिक भेद है। पश्चिम शुद्ध ज्ञान बौद्धिक ज्ञान को मानता है। बुद्धि की ज्ञान-जिज्ञासा-तृप्ति इसके लिए उच्चतम ध्येय है। भारत के लिए बौद्धिक ज्ञान की दृष्टि से भी, बुद्धि का शोधन अनिवार्य है और बुद्धि का

शोधन तब होता है जबकि राग-द्वेष, काम-क्रोध आदि उद्वेग शांत कर दिये जायं। यदि मनुष्य के अंदर ये अहंकार के उद्वेग बलवान् हों तो वह निष्पक्ष और निर्व्यक्तिक सत्य को जानने का अधिकारी नहीं। पश्चिम सामान्य रूप से बुद्धि का अनुशीलन और परिमार्जन तो स्वीकार करता है, परंतु उसके साथ में यह भावों और उद्वेगों का संशोधन स्वीकार नहीं करता। अब मनोविज्ञान के क्षेत्र में मनोविश्लेषण ने यह सप्रमाण सिद्ध तो जरूर कर दिखाया है कि सामान्यतया बुद्धि जीवन की आधारभूत अन्ध प्रवृत्तियों की (विशेषकर काम की) दासमात्र होती है, परन्तु यह सत्य वहां दार्शनिक जीवन के अनुशीलन में स्वीकृत नहीं हुआ। भारत में यह सदा से ही स्वीकृत रहा है। अतः यहां शुद्ध ज्ञान का आदर्श केवल बुद्धिमूलक ज्ञान नहीं बल्कि जीवनमूलक ज्ञान है। इसका अर्थ है वह ज्ञान, जो समग्र जीवन के परिशोधन तथा विकास से बुद्धि तथा अंतर्दृष्टि द्वारा सत्य के रूप में उसके निज रस और आनंद के लिए खोजा तथा पाया जाय। यह ज्ञान अपने अनुरूप कर्म तथा भक्ति को पैदा करनेवाला होता है और मानव जिज्ञासा में भी तीनों पक्षों के विकास की अपेक्षा करता है। इस अवस्था में ज्ञान कर्म का साधन-मात्र नहीं होता। वस्तुतः जहां ज्ञान, कर्म और भक्ति से विच्छिन्न होता है वहां ज्ञान अभी अपूर्ण और निःशक्त होता है। वास्तविक ज्ञान अनुरूप कर्म और भक्ति से युक्त होना चाहिए ही। ऐसा ज्ञान ही भारतीय दृष्टि से उद्देश्य हो सकता है और यही अंतिम मूल्य है अपने-आपके लिए, जिसमें किसी व्यक्तिगत स्वार्थ का आभास भी नहीं होना चाहिए।

परंतु बौद्धिक ज्ञान के आदर्श में ज्ञान, कर्म और भक्ति के संश्लिष्ट सत्य की भावना नहीं। उसका सत्य बौद्धिक विचारात्मक सत्य है। उसे इसलिए जीवन-विकासात्मक प्रेरणाएं प्रयोगात्मक अनुभव होने लगती हैं।

पश्चिम की यही दृष्टि बुद्धि को ऐसा करण मानती है कि यह अपनी शुद्ध क्रिया द्वारा अपने आप सत्य को उपलब्ध कर सकती है। जहांतक भौतिक जगत् के स्थूल तथ्यों की गवेषणा का प्रश्न है वहां तो अनेक प्रकार के बाह्य प्रतिबंधों की सहायता से यह अच्छी हद तक निर्व्यक्तिक सत्य को उपलब्ध करने में सफल हो जाती है, पर जहां जीवन तथा मानस-तत्व के सूक्ष्मतर तथ्यों का प्रश्न है वहां इसकी सफलता बहुत सीमित हो जाती है।

परंतु विचारणीय बात यह है कि क्या मानव-जीवन में बुद्धि, जीवन के अन्य तत्वों से संबद्ध है या नहीं और यदि है तो क्या उनकी शुद्धि-अशुद्धि से यह प्रभावित होगी या नहीं? बाह्य प्रतिबंधों का प्रयोग करने से, भौतिक तथ्यों के संबंध में सामान्य शिक्षित बुद्धि एक अंश में जरूर सफल हो सकती है परंतु दार्शनिक आदर्श के रूप में क्या यह पर्याप्त है?

जीवन और दर्शन का प्रश्न आज की सांस्कृतिक अवस्था में से पैदा होता है। यह एक गहरे सांस्कृतिक संकट का भी द्योतक है। और यह एक गंभीर और संतोषजनक उत्तर की अपेक्षा रखता है।

●

"···जातियां तोपों और बंदूकों से बलशाली नहीं होतीं, बड़ी-बड़ी फौजें उन्हें प्रभावशाली नहीं बनातीं और नाहीं साइन्स के आविष्कार उनकी कीर्ति को फैलाते हैं; अपितु जो जाति चरित्र-वान् नर-नारी उत्पन्न करती है, जिसमें धीमान्, दृढ़व्रती, सत्यवक्ता और न्यायशील सदस्य उत्पन्न होते हैं, वही जाति--वही राष्ट्र--उन्नत-मुख किये साभिमान अपनी संस्कृति का प्रसार करती है।"

--स्वामी सत्यदेव परिव्राजक

('ज्ञान के उद्यान' में)

●

हमारा गोवा : एक परिचय

काका कालेलकर

आजकल सब लोग गोवा का ही नाम लेते हैं। गोवा-मुक्ति पर खुशी मनाते हैं। लेकिन गोवा के बारे में जानते हैं कम।

इतना तो सबको पता है कि गोवा भारत के पश्चिम किनारे बंबई के दक्षिण में और मंगलूर के उत्तर में एक छोटा-सा प्रदेश है। इसका दूसरा नाम है गोमंतक। इसके अन्दर छोटी-छोटी नदियां और समुद्र की खाड़ियां इधर-उधर घूमती हैं, इसलिए उसे गोवा कहते हैं। बड़ा सुहावना प्रदेश है। एक तरफ सह्याद्रि पर्वत और दूसरी ओर पश्चिम समुद्र, इन दोनों के बीच जो उत्तर-दक्षिण समतल भूमि दूर तक फैली हुई है उसे कहते हैं कोंकण। बंबई से लेकर दूर कोचीन तक यह कोंकण की संकरी समतल भूमि फैली हुई है, उसीके बीच के एक छोटे-से प्रदेश को गोवा कहते हैं। गोवा कोंकण के बीच का एक छोटा-सा हिस्सा है। जो कोंकण का जीवन, वही गोवा का जीवन है। इस सारे कोंकण में जो भाषा बोली जाती है, उसे कोंकणी कहते हैं।

चन्द लोग कहते हैं कि कोंकणी मराठी की एक बोली है। शायद उनकी बात सही है, लेकिन कोंकणी के अभिमानी कहते हैं कि कोंकणी और मराठी एक ही परिवार की भाषाएं हैं। कोंकणी मराठी से पुरानी है। हमारे लिए इन झगड़ों का कोई महत्व नहीं है। मराठी जाननेवाले सब लोग कोंकणी आसानी से नहीं समझ सकते। और कोंकणी बोलनेवाले लोगों को बाकायदा मराठी सीखनी पड़ती है इतना दोनों में फर्क है। फिर कोंकणी को स्वतन्त्र भाषा कहें या मराठी की शाखा कहें, कोई फरक नहीं होता।

गोवा के उत्तर में जो कोंकणी बोली जाती है, उसमें मराठी का हिस्सा ज्यादा है। उस कोंकणी को जाननेवाले लोग जरूर कह सकते हैं कि कोंकणी मराठी की एक बोली है। गोवा के दक्षिण में जो कोंकणी बोली जाती है, उसकी शैली कुछ अलग है और उसमें कन्नड़ भाषा का प्रभाव अधिक है। मामूली तौर पर गोवा-कारवार तरफ की कोंकणी ही शुद्ध कोंकणी मानी जाती है।

गोवा में जब पोर्तुगीजों का राज शुरू हुआ तब उन्होंने बहुत लोगों को जबर्दस्ती ईसाई बनाया। चन्द लोग राजी-खुशी से भी ईसाई बने होंगे। उस इतिहास में हमें नहीं जाना है।

आज गोवा में आधे से ज्यादा लोग हिन्दू हैं। आधे से कुछ कम रोमन कैथोलिक ईसाई हैं। ईसाई लोग आधे से कुछ कम हैं सही, लेकिन वे ज्यादा संगठित और प्रभावशाली हैं। पोर्तुगीज राज धर्माभिमानी होने के कारण ईसाइयों को विशेष प्रतिष्ठा मिली। उनके धर्म-गुरुओं ने उनका संगठन अच्छा किया। शिक्षा प्राप्त करके नौकरियां हासिल करने की प्रवृत्ति उनमें ज्यादा रही। ये ईसाई लोग बंबई, करांची, कलकत्ता, मद्रास, बंगलोर आदि शहरों में भी फैले हुए हैं। ब्रिटिश ईस्ट अफ्रीका में भी गये हैं। अंगोला, मोझांबिक आदि पोर्तुगीज अफ्रीका में भी वे पहुंचे हैं। जबतक भारत पराधीन था और भारतीयों को परदेश में प्रतिष्ठा नहीं थी, बल्कि कठिनाइयां महसूस करनी पड़ती थीं तब गोवा के ईसाई परदेश में अपनेको पोर्तुगीज बताते थे। यह सब स्वाभाविक था। जब भारत आजाद हुआ और उसकी प्रतिष्ठा बढ़ी और भारतीय होने के नाते सहूलियतें मिलने लगीं तब गोवा के ईसाईयों को अपनेको भारतीय कहते संकोच नहीं रहा।

गोवा के हिंदू, ईसाई, मुसलमान (इनकी संख्या बहुत ही कम है) और दूसरे सब आपस में कोंकणी भाषा ही बोलते हैं। गुजराती, महाराष्ट्री आदि जो लोग बाहर से वहां जाकर रहते हैं उन सबको गोवा में कोंकणी में ही बोलना पड़ता है।

इस कोंकणी की तीन लिपियां हैं। गोवा के सब हिन्दू कोंकणी के लिए देवनागरी चलाते हैं। ईसाई लोग कोंकणी रोमन लिपि में लिखते हैं और गोवा के दक्षिण में मंगलूर की ओर लोग कोकणी के लिए कन्नड़ लिपि का प्रयोग करते हैं।

गोवा के ईसाई लोग अपने अखबार रोमन लिपि में ही प्रकाशित करते हैं। उनकी कोंकणी में पोर्तुगीज और अंग्रेजी शब्द ज्यादा रहते थे। वाक्य-रचना भी कभी-कभी अंग्रेजी ढंग की करते थे। गोवा के हिन्दू लोग कोंकणी के

लिए देवनागरी ही चलाते हैं। और कोंकणी में साहित्य कम होने के कारण और गोवा के आसपास बेलगाम, सातारा, पूना, बंबई, रत्नागिरि आदि सारे प्रदेश में मराठी ही चलती है, इसलिए वे मराठी सीखने का आग्रह रखते हैं। गोवा में खानगी तौर पर चलाई हुई मराठी शालाएं बहुत हैं।

इसलिए गोवा के हिन्दुओं में दो पक्ष हैं। एक पक्ष कहता है कि गोवा के सब लोगों की बोली कोंकणी है। कोंकणी के द्वारा ही गोवा की एकता सिद्ध हो सकती है। उसीको हम चलायेंगे और उस कोंकणी को धीरे-धीरे मराठी की ओर खींचते ले आयेंगे। कोंकणी भाषा स्वतंत्र हो या मराठी की बोली हो उसका विकास मराठी के सहयोग से ही होगा। गोवा के इर्द-गिर्द महाराष्ट्र फैला हुआ है। गोवा के लोगों के शादी-ब्याह के संबंध और तिजारत के संबंध महाराष्ट्र से और खासकर के बंबई से अधिक है। और गोवा के उत्तर में जो कोंकणी बोली जाती है, उसमें मराठी का अनुपात ज्यादा है। इन सब कारणों से कोंकणी का विकास मराठी के सहयोग से करना ही अच्छा है। कोंकणी के द्वारा ही गोवा के ईसाई समाज को हम धीरे-धीरे मराठी की ओर खींच सकेंगे। अगर ऐसा हमने नहीं किया तो गोवा के ईसाई पोर्तुगीज और अंग्रेजी के द्वारा अपनी सारी शिक्षा प्राप्त करते ही हैं। घर पर और व्यवहार में कोंकणी बोलते हैं। वे लोग मराठी नहीं सीखते हैं। उनपर मराठी का अगर दबाव किया तो वे उसका विरोध करेंगे। वे अब हिंदी सीखने लगे हैं, वे कहेंगे (आज कहते ही हैं।) कि गोवा अलग रहकर केन्द्र के द्वारा शासित रहे, इसीसे हमें संतोष रहेगा। कराची में जो गोवा के ईसाई रहते हैं, उनपर अपना प्रभाव डालने की कोशिश पाकिस्तान की ओर से हो रही है।

गोवा के हिन्दुओं में एक पक्ष है, जो कहता है कि सारे गोवा की बोली तो कोंकणी है। इसका इंकार हो नहीं सकता। प्रारंभिक शाला में विद्या का प्रारंभ आप कोंकणी में करें तो शायद हम विरोध नहीं करेंगे। लेकिन गोवा की भाषा तो मराठी ही होनी चाहिए। प्रारम्भिक शाला के तीन-चार साल कोंकणी चलानी है तो भले चलाइए। लेकिन आगे जाकर सभी पढ़ाई मराठी में ही होनी चाहिये। हिन्दुओं का बहुमती है। गोवा के ईसाइयों को आप ज्यादा महत्व नहीं देंगे तो वे बहुमती के सामने सिर झुकाकर मराठी सीखेंगे ही। जैसे आपके महाराष्ट्र के ईसाई मराठी सीख रहे हैं। ईसाइयों को ज्यादा महत्व देने से वे ज्यादा तकलीफ देंगे।

अब इन दोनों पक्षों की एक बात स्पष्ट है। दोनों को मराठी का प्रभाव इष्ट है। पहला कोंकणीवाला पक्ष ईसाइयों को साथ लेकर उनका अनुनय करके कोंकणी के स्रोतों को धीरे-धीरे मराठी की ओर लाना चाहता है। इसमें ईसाइयों का विरोध नहीं होगा, क्योंकि वह स्वाभाविक और क्रमशः विकास होगा। दूसरा पक्ष संख्या की बहुमती के जोरों पर ईसाइयों की उपेक्षा करना चाहता है। वह कहता है कि आपने मुसलमानों का महत्व बढ़ाया और दुःखी हुए, उसी तरह ईसाइयों का महत्व बढ़ाकर पछताओगे। परधर्मी लोग अनुनय से नहीं मानते हैं इत्यादि।

कोंकणी और मराठी साथ चलानेवाला पक्ष कहता है कि धर्म की बात बीच लाकर ही हम फूट पैदा करते हैं या बढ़ाते हैं। भारत में इस्लाम और ईसाई धर्म दृढ़मूल हुए हैं। अब वे पराये धर्म नहीं रहे। भारत में हिन्दू, ईसाई, मुस्लिम, यहूदी, बौद्ध आदि सब धर्मों का एक विशाल परिवार बन चुका है। उसके अंदर झगड़ा पैदा करने से किसी भी धर्म का हम नाश, उच्चाटन या बहिष्कार नहीं कर सकते। सब धर्म यहां रहेंगे। आपस में झगड़ा किया तो देश कमजोर होगा। धर्म की बात ही हम न छेड़ें। जिसको जो धर्म प्यारा है चलायेगा। धर्मभेद होते हुए भी हम एक राष्ट्र हैं। एक समाज बन सकते हैं। भारत के लिए यह बात कठिन नहीं है। वैष्णव, शैव, शाक्त, लिंगायत, जैन, सिख, ब्राह्मण, आर्यसमाजी आदि भिन्न-पंथी, भिन्न-भाषी, भिन्नवंशी लोग अगर हिन्दू के नाम से एक समाज हो सकते हैं तो ईसाई, यहूदी, मुसलमान, आस्तिक-नास्तिक सब कोई भारतीय होने के नाते एक राष्ट्र तो क्या एक समाज भी बन सकते हैं।

परस्पर उदारता, आत्मीयता, क्षमा, सेवा और स्वार्थ-त्याग के द्वारा ही भारत की एकता सिद्ध हो सकती है वह गांधीजी ने करके बताया। इसलिए बहुमती के संख्या-बल से किसीको दबाने की कोशिश हम न करें। सबको साथ लेकर चलें, इसमें सबका कल्याण है।

शायद बहुत थोड़े लोगों को मालूम होगा कि करीब डेढ़ सौ साल के पहले पोर्तुगाल के राजा ने बंबई टापू अंग्रेजों को दे दिया और यहांपर अंग्रेज सरकार का राज शुरू हुआ तब पहले तीन-चार साल बंबई का सब व्यवहार पोर्तुगीज भाषा में होता था। बाद में धीरे-धीरे अंग्रेजी आई। इसी तरह अगर स्वतन्त्र गोवा में कुछ साल के लिए पोर्तुगीज भाषा और और पोर्तुगीज कानून राज्य शासन के लिए प्रजा ने पसंद किये तो हम उसे मंजूर करें। मैं जानता हूं कि गोवा के लोग तीन साल के लिए भी ऐसी सहूलियत नहीं मांगेंगे। गोवा के हिन्दुओं के और ईसाइयों के शादी-ब्याह के संबंध बाकी के भारत के साथ है। उनके लिए भारत में चलनेवाले कानून ही ज्यादा अनुकूल होंगे।

गोवा में राज-व्यवहार अगर पोर्तुगीज भाषा में चला तो वहां के सरकारी नौकर गोवा के बाहर जा नहीं सकेंगे। नौकरी में बढ़तियां उनको नहीं मिलेंगी। गोवा के ईसाई और हिन्दू दोनों राजकर्मचारी कहेंगे हम सब अंग्रेजी सीखते आये ही हैं। हमारा राज शुरू से अंग्रेजी में चले तो हमें कठिनाई नहीं है, इसलिए राज्य का जरिया पोर्तुगीज के बदले अंग्रेजी बनाते आठ महीने से अधिक समय नहीं लगना चाहिए।

आखिरकार गोवा का प्रदेश है भी कितना? और वहां की तादाद भी है कितनी? गोवा का प्रदेश है कुल १३०१ चौरस मील और वहां की लोकसंख्या है छः लाख। सब लोग नौकरी की दृष्टि से और तिजारत की दृष्टि से शादी ब्याह के लिए, शिक्षा और उद्योग-हुनर के लिए इधर बंबई आते-जाते रहते हैं और उधर मंगलोर भी जाते हैं। आज भी गोवा के करीब करीब दो लाख लोग बंबई में बसे हुए हैं। गोवा के संगीतकार, चित्रकार, साहित्यिक, अखबार नवीस, सब-के-सब भारत में फैल कर ही अपनी उन्नति प्राप्त कर रहे हैं। गोवा की अलग संस्कृति है नहीं। जो धर्मभेद गोवा में है वही मंगलोर, बेलगाम, पूना, बंबई में है। वही है कलकत्ता और दिल्ली में भी।

गोवा में शायद पोर्तुगीज संगीत और नृत्य कुछ विशेष फैला होगा। लेकिन भारतीय संगीत की उपासना जितनी श्रद्धा से और निष्ठा से गोवा में हो रही है, इससे ज्यादा अन्यत्र कहीं भी नहीं मिलेगी। यूरोपीय संगीत और नृत्य की जो स्थिति भारत में है, वही गोवा में रहेगी।

खाने-पीने के देशी और परदेशी पदार्थ बनाने में गोवा और कोंकण के लोग बड़े प्रवीण होते हैं। (यहांतक कि बाहर के बहुत लोगों का ख्याल था कि गोवा तो बबरचियों का ही प्रदेश है।)

गोवा की संस्कृति के इस हिस्से को हमेशा अभयदान है ही। गोवा के पिन्टो, डिसोझा, फरनान्डीस, डिसिलवा सारे भारत में फैले हुए हैं। भारत के करीब सब होटलों में उनकी कदर है ही। उनका संगठन अच्छा है।

गोवा के लोग कोई भी नई भाषा आसानी से सीखते हैं। गोवा के साहित्यिक लोगों ने संस्कृत, अंग्रेजी, पोर्तुगीज, लेटिन, फ्रेंच, मराठी, कन्नड़ आदि अनेक भाषाओं के ग्रन्थ तैयार किये हैं। अगर ये लोग बाहर के झगड़े गोवा के अन्दर दाखिल न करें तो गोवा की संगठित प्रजा, भारत की उत्तम सेवा करते हुए अपनी उन्नति आसानी से साध सकेगी। आज भी गोवा के एक ही खानदान के चंद लोग ईसाई और चंद हिन्दू पाये जाते हैं। शादी-ब्याह के दिनों में एक-दूसरों को याद करते हैं, घर पर बुलाते हैं, सौगात लेते-देते हैं। एक-दूसरे के मंदिरों में भी जाते हैं। आज की हालत ऐसी है। इस बारे में भारत गोवा से सबक सीख सकता है। भारत के साम्प्रदायिक झगड़े और संकुचितता लेकर गोवा नाहक तबाह न हो जाय। गोवा भारत का ही एक अविभाज्य हिस्सा है। सरोवर का बिंदू अलग था। फिर से सरोवर में आकर एक चीज और एक जीवन हो गया।

●

मस्तिष्क में भरे हुए ज्ञान का जितना अंश काम में लाया जाय, उतने ही का कुछ मूल्य है, बाकी सब व्यर्थ बोझा है।

—महात्मा गांधी

●

समस्या का स्रोत

गुरुशरण

जिस आर्थिक तंत्र में कम-से-कम हाथ और ज्यादा से-ज्यादा मशीनें लगकर एक या कुछकी मालिकी होती है, उस इंडस्ट्री को हैवी इंडस्ट्री कहा जाता है! उसके लिए प्रदेश सरकारें केंद्र से नित-नूतन आग्रह करती रहती हैं, पर जिस उद्योग में बूढ़े से लेकर बच्चों तक के बड़े-छोटे हाथ लगते हैं, जिसमें निश्चित घंटे न होकर सतत काम चलता रहता है, एक दाना जमीन पर गिरता है और हजार की शक्ल में उगता उभरता है, उसे इस देश में उद्योग नहीं माना जाता। अधिक अन्न उपजाओ के नारे और पर्चे खूब बंटते हैं, पर उपजानेवाले हाथों में वृद्धि नहीं होती बल्कि दिन-प्रतिदिन उपजाने की बात कहनेवालों की संख्या में ही वृद्धि होती रहती है। चीजों के भाव बढ़ते रहते हैं, महाजन के ब्याज और चक्र ब्याज का चक्कर जोर पकड़ता रहता है, पर नागरिक मांग यही होती है कि अन्न सस्ता हो जाय, चाहे भले किसान पिस जाय, जिसकी जनसंख्या इस देश में छियासी प्रतिशत है। लगता है राम-राज्य, ग्राम-राज्य, स्वराज्य, ग्राम-स्वराज्य पंचायती राज आदि ये सब निराकर ईश्वर-सी कल्पना मात्र बनकर रह जायंगे। किसान जमीन जोतते रहेंगे, बोते रहेंगे। फसल होगी, खलिहान में नाज का ढेर लगेगा पर उसे पैदा करनेवालों को सुख, सुविधा और आराम न मिलेगा क्योंकि यह मर्ज बढ़ता ही जायगा। अब तो किसान का लड़का पढ़कर शहर में बाबूगीरी करेगा, अपनी पत्नी को वहीं रखकर मेमसाहब बनायेगा और उसका तथा उस जैसों के बाप और बिना पढ़ी माताएं तथा नाबालिग बच्चे ही सिर्फ खेती करते रहेंगे। खानेवाले मुंह तो बढ़ते जायंगे पर पैदा करनेवाले हाथ कम होते जायंगे। हां, ज्यादा पैदा करो, अधिक उपजाओ कहनेवाले साहब, बाबू और चपरासी दिन प्रतिदिन बढ़ेंगे।

स्वराज्य के पहले अवध के किसानों का गीत स्वराज्य के बाद भी वैसा ही है और न जाने कबतक ऐसा ही रहेगा ?

नीमक घटिगे, कुरता फटिगे, धोतिया भइल पुरान!
चुल्हिया में लकड़ी घटिगे; भूखा रहले प्रान।
छटपटि करके बेटवा छटक, भूख से नीपट निदान।
हाथ-माथ धरि मेहरि रोवै, दया करो भगवान।
गमछी पहिन के दिन कटोला, सहली सब अपमान।

मेरा निश्चित मानना है कि तुलसी के रामचरित मानस पढ़े जानेवाले इस देश में अभी राम-राज्य, ग्राम-राज्य, पंचायती राज्य आदि का कोई दूसरा विकल्प नहीं है। एक वैक्युम-सी स्थिति है। यदि वह चलती ही रही तो निश्चित ही एक दिन भयंकर सामूहिक विस्फोट होगा कि सब राख हो जायगा। अकेले एक स्व० बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' का ही वह स्वर न रहेगा, यह इस राष्ट्र का बच्चा-बच्चा कहेगा—

जगपति कहां अरे सदियों से; वह तो हुवा राख की ढेरी।
वरना समता संस्थापन में; लग जाती इतनी देरी॥
छोड़ आसरा अलख शक्ति का; रे नर स्वयं जगतपति तू है।
तू यदि झूटे पत्ते चाटे; तो तुझ पर लानत है, थू है॥

जो सब भगवान् की माया कहनेवाले हैं, बड़े आस्तिक हैं, उनको आंख खोलकर देखना चाहिए कि देश में रोज-रोज उपवास, सत्याग्रह और जबलपुर-अलीगढ़ आदि के साम्प्रदायिक दंगे उस स्थिति के डेन्जर सिगनल हैं कि जख्म में अभी कितना मवाद भरा है?

आप शौक से कह सकते हैं कि यह सब बकवास है, पुराना रोना है। आप रोज अखबार पढ़ते हैं, आंकड़े देखते हैं कि पहले पांच वर्ष में इतनी तरक्की हुई—दूसरे में इतनी हुई और तीसरे में इतनी होगी और इसी हिसाब से इतने वर्षों में तरक्की ही-तरक्की होकर ग्राम राज्य हो जायगा। आंकड़े दुरुस्त हैं फिर भी कुनबा क्यों डूबा जा जा रहा है, यह मैं आपको बता सकता हूं। उस नदी किनारे खड़े बुद्धिहीन को देखकर जो नदी की गहराई ८ हाथ सुनकर खुद को, अपनी बीबी को और बच्चों को नाप कर कहता है हम अठारह हाथ लम्बे हैं, नदी पार कर जायंगे, क्योंकि वह तो आठ हाथ ही है। जब सारा कुनबा डूब गया और वह भी डूबने लगा तब भी वह कहता रहा आंकड़े तो दुरुस्त थे। सामुदायिक विकास बड़े-बड़े हाथों से देश में शुरू हुआ। शासन ने खुले दिल से मंगल योजनाओं और

(शेष पृष्ठ ६३ पर)

वचन

●● सुमेरसिंह दइया

एक था राजा—विलासी, दुष्ट और अत्याचारी! उसने अपने राज्य-काल में जनसाधारण के हित के लिए किसी भी प्रकार का कार्य नहीं किया। दमन और शोषण यही उसके आदर्श थे और वह कठोरतापूर्वक उनका पालन भी करता था।

जनता भयभीत थी—उसके आतंक से सहमी हुई थी। उन्नति के मार्ग अवरुद्ध थे। दासता की मोटी-मोटी बेड़ियां उनके पैरों में पड़ी थीं यद्यपि वे कभी-कभी अत्यंत दुःखी होकर राजा को गालियां देकर कोसते। बस, इससे आगे उनका प्रतिरोध शून्य के बराबर था।

परंतु एक दिन उस राजा को यमराज के दूतों ने घेर लिया। वह अत्यंत घबराया। मृत्यु के आतंक से वह पीला पड़ गया। उसका समस्त गौरव, शौर्य और प्रतिभा आंधी में टिमटिमाते दीपक की तरह जैसे कंपकंपाने लगी—शीघ्र ही एक वायु के तीव्र झोंके से वह बुझ जायगी।

अंतिम समय निकट है। मरणासन्न की आंखें पथरा रही हैं। सांस घुटती है। नाड़ी डूबती है; मगर थोड़ी देर के बाद जिंदगी की सांस रुक-रुककर पुनः चलने लगती है।

उपस्थित व्यक्तियों का समूह विस्मय से देख रहा है।

राजकुमार ने आगे बढ़कर पूछा, "आपको क्या कष्ट है?"

आंखों में नीर भरकर राजा ने कातर स्वर में कहा, "बेटा! मैंने जीवन में बहुत पाप किये हैं। जनता को बड़ी पीड़ा पहुंचाई है। उनकी आहें, चीखें और दर्दनाक पुकारें आज भी मेरे कानों में गूंज रही हैं. . .मुझे डर-सा लगता है, प्राण निकल नहीं रहे हैं। यदि तुम शपथपूर्वक कहो कि मेरे मरने के बाद तुम कुछ ऐसे कार्य करोगे, ताकि जनता मेरे कुकर्मों को भूल जाय तभी मेरे प्राण छूट सकते हैं।"

साहसी तथा सुयोग्य पुत्र ने वचन दिया।

राजा स्वर्गवासी हुआ। राजकुमार सिंहासन पर बैठा। वह नया राजा घोषित कर दिया गया।

उसे लम्बा-चौड़ा राज्य मिला—असीम सम्पत्ति मिली। राज-दंड का अधिकार भी मिला। इसके उपलक्ष में जनता को कुछ देने का प्रस्ताव आया तो नया राजा सोच में पड़ गया। कारण उसे अपने पिता को दिया गया वचन अभी तक स्मरण है। बड़े विचार-विमर्श के बाद उसने निर्णय कर लिया।

:o: :o: :o:

"राम-नाम सत्य है. . . राम-नाम. . .!"

"ठहरो।"

"कौन हैं?"

"हम राज्य के कर्मचारी हैं!"

"आप क्या चाहते हैं?"

"हम राजाज्ञा से इस मुर्दे का क़फ़न उतारेंगे।"

"क़फ़न?"

उपस्थित जन-समुदाय प्रश्न-वाचक दृष्टि से एक-दूसरे का मुंह देखने लगा।

राज कर्मचारी बोला, "अर्थी नीचे रखो; वरना हमें बल-प्रयोग करना पड़ेगा।"

लोगों ने दबी ज़बान से विरोध प्रकट किया। राज-कर्मचारी की मुद्रा एकाएक कठोर हो गई। उसने क्रोधित होकर कहा, "देखते क्या हो, क़फ़न का कपड़ा उतार लो।"

बस, बात-की-बात में, एक छोटी-सी घटना भिन्न-भिन्न रूप धारण करके सारे राज्य में फैल गई। प्रजा को नये राजा से बड़ी आशाएं थीं। वे सब निर्मूल सिद्ध हुईं। उनके विश्वास का सम्बल हिल उठा और वे रोष में कहने लगे, "यह नया राजा तो पुराने राजा से भी अधिक दुष्ट है। उसने कष्ट तो दिये पर मुर्दे के साथ कभी अन्याय नहीं किया। यह तो क़फ़न भी छीनता है। ओह! पहलेवाला राजा भला था. . .और. . .यह तो. . .!"

दो गीत ●● अनन्तकुमार पाषाण

(१)

मैं उजियाला बन फैल गया,
मेरा विस्तार किन्तु जनता।
मैं बिन फैले केवल प्रदीप--
अपनत्व मात्र क्या निर्धनता?

जीवन का जीवन अंगरूप,
हम एक दूसरे के सदस्य।
आदर्श प्रगति के स्वर अनूप,
सुविकास कथा का चिर-रहस्य।

उन्मथित सिंधु, अमृत-मन्थन;
स्वेदित तन, क्लान्त अचेतन कर।
सागर रत्नाकर जग-जीवन,
अमृत नवयुग का सत्य अमर।

मैं उजियाला बन फैल गया;
था एक किरण, पर जग-प्रकाश
में मिलकर पा विस्तार नया
बन गया व्यक्ति का अग विकाश।

(२)

रे गति उन्नति मानव।
मधुर परिष्कृति मानव।

सुरुचि-गीत जीवन में
घुल जाय, जन-मन में।
मानव - संघर्षण में
शोभा जागी अभिनव।

नवजीवन विपिन सुघर
कला आपगा सुन्दर—
छन्द-बांध रे जर्जर—
जय-नादित सर्वसुभव।

पद-पद निर्माण-रेख
देख मनुज, देख, देख।
विजड़ित नर-नियति लेख,
भूशायी विस्मित शव।

●

अमरीका में माध्यमिक शिक्षा

●● शमसुद्दीन

संयुक्त राज्य अमरीका में माध्यमिक शिक्षा की अवधि छः वर्ष की होती है। इसमें जूनियर तथा सीनियर हाई-स्कूल की शिक्षा सम्मिलित रहती है। हाईस्कूल में प्रवेश करने के पूर्व विद्यार्थी को छः वर्ष में प्राइमरी शिक्षा पूरी करनी पड़ती है। अमरीका में अधिकांश नवयुवकों को हाई-स्कूल याने माध्यमिक स्तर तक की शिक्षा अनिवार्य रूप से ग्रहण करनी पड़ती है। इस दिशा में सबसे पहला कदम मेसेचुसेट्स राज्य ने उठाया और पब्लिक हाई स्कूल प्रारंभ किये। बाद में 'पब्लिक हाई स्कूल एक्ट' लागू हुआ और पूरे राज्य में कई हाई स्कूल प्रारंभ हो गये। ये स्कूल जनता के द्वारा जनता की भलाई के लिए खोले गये, अतः इनसे लोगों को बड़ी प्रेरणा मिली और बड़ी संख्या में छात्र इनमें प्रवेश लेने लगे। धीरे-धीरे इनकी मांग इतनी बढ़ने लगी कि कई निजी तौर पर चलाये जानेवाले स्कूल भी खुलने लगे। जहांतक माध्यमिक शिक्षा की मांग का प्रश्न है, परिस्थिति में अभी भी कोई विशेष अंतर नहीं हुआ है और सरकार के आगे एक समस्या है कि वह जनता की इस बढ़ती हुई मांग को जल्दी से-जल्दी किस प्रकार पूरा करे।

संयुक्त राज्य अमरीका में शिक्षा का विषय प्रधान रूप से राज्य द्वारा संचालित तथा नियंत्रित होता है। केन्द्रीय सरकार तो केवल जरूरत पड़ने पर मदद देती है। सिवाय इसके, वहां कई शैक्षणिक संस्थाएं हैं, जो पूरी तरह से निजी संस्थाओं द्वारा चलाई जाती हैं। इस प्रकार संयुक्त राज्य अमरीका में माध्यमिक शिक्षा स्थानीय विषय है तथा इसका शासन प्रबन्ध और नियंत्रण भी स्थानीय सरकार के द्वारा होता है। वहां शिक्षा पर खर्च किये जानेवाले प्रत्येक डालर का ३½ सेन्ट्स फेडरल सरकार के द्वारा, ३८ सेन्ट्स राज्य सरकार के द्वारा तथा बाकी स्थानीय स्कूल डिस्ट्रिक्ट से दिया जाता है। डिस्ट्रिक्ट में यह पैसा जनता के द्वारा कर के रूप में लिया जाता है, जो हरेक व्यक्ति को देना पड़ता है। अर्थ की इस व्यवस्था के परिणामस्वरूप ही अमरीका में माध्यमिक शिक्षा में कुछ विशिष्टताएं उत्पन्न हो गई हैं। सबसे पहली विशेषता तो यह है कि वहां लोग अपने बच्चों की शिक्षा के प्रति अधिक सजग और जिम्मेदार हैं। हरेक माता-पिता अपनी इच्छा और खुशी से शिक्षा-कर पटाकर शिक्षण कार्य में आर्थिक मदद पहुंचाते हैं। दूसरी विशेषता यह है कि चूंकि जनता शिक्षा-कार्य के लिए आर्थिक मदद देती है, वह शिक्षण-व्यवस्था के प्रति सतर्क और आलोचनात्मक दृष्टि रखती है। वह यह देखती है कि उनके बच्चे बराबर अच्छी शिक्षा प्राप्त कर रहे हैं या नहीं। वहां हरेक माता-पिता को अपने बच्चों के लिए उपयुक्त और विशिष्ट प्रकार की शिक्षा प्राप्त करने का अधिकार है।

स्थानीय नियंत्रण के परिणामस्वरूप अमरीका की माध्यमिक शिक्षा में एक और विशेषता आ गई है और वह यह कि वहां शिक्षा स्थानीय आवश्यकताओं और परिस्थितियों के अनुकूल ही दी जाती है। वास्तव में वहां के प्रत्येक हाईस्कूल का अपना स्वतंत्र पाठ्यक्रम, संगठन तथा शासन-प्रबन्ध की व्यवस्था होती है और इन सबका उद्देश्य उस विशेष स्थान में रहनेवाले छात्रों की आवश्यकताओं की पूर्ति होता है। वहां माध्यमिक शिक्षा की व्यवस्था इतनी लचीली है कि उसमें समाज की बदलती हुई आवश्यकताओं के अनुसार परिवर्तन की पूरी-पूरी गुंजाइश रहती है। साथ ही वहां सबके लिए निःशुल्क शिक्षा होने के कारण बड़े-छोटे अथवा अमीर-गरीब का भेदभाव नहीं है। अमेरिका में प्रत्येक बालक को प्राथमिक तथा माध्यमिक स्तर तक की शिक्षा प्राप्त करने का अधिकार है। राज्य द्वारा निर्मित कानूनों के अनुसार एक निश्चित उम्र तक के बालकों के लिए शाला में उपस्थिति अनिवार्य होती है। अमरीका में माध्यमिक शिक्षा की दूसरी विशेषता यह है कि वहां विद्यार्थी बहुत बड़ी संख्या में माध्यमिक स्कूलों में प्रवेश लेते हैं तथा डिप्लोमा प्राप्त कर लेने पर शिक्षा समाप्त कर देते हैं। वहां माध्यमिक शिक्षा का उद्देश्य छात्रों को किसी उद्योग के लिए तैयार करना नहीं है और न ही उसका उद्देश्य उन्हें महाविद्यालयीन शिक्षा के लिए तैयार करना है; यद्यपि काफी बड़ी संख्या में विद्यार्थी माध्यमिक शिक्षा समाप्त करने के बाद विशेष शिक्षा

प्राप्त करने अथवा महाविद्यालयीन शिक्षा प्राप्त करने हेतु युनिवर्सिटियों में जाते हैं। वहां तो माध्यमिक शिक्षा का उद्देश्य छात्रों को ऐसी सामान्य शिक्षा देना है, जिससे वे अमरीका के अच्छे भावी नागरिक बन सकें। इस प्रकार वहां माध्यमिक शिक्षा छात्रों को आगे आनेवाले जीवन के लिए तैयार करती है।

अमरीका में कुछ थोड़े-से विशेष हाई स्कूल हैं। बाकी सामान्य स्कूल हर तरह के सामाजिक तथा आर्थिक वर्ग के एक विशेष उम्र के बालक व बालिकाओं के लिए खुले हैं। वहां के असंख्य छात्रों की विभिन्न आवश्यकताओं की पूर्ति को ध्यान में रखते हुए माध्यमिक शालाओं में करीब तीन सौ विषय या पाठ्यक्रम रखे गये है। इनमें शैक्षणिक, सामान्य, व्यापारिक, औद्योगिक, घरेलू कला-कौशल-संबंधी विषयों का ज्ञान सम्मिलित रहता हैं। वहां भाषा, गणित, सामाजिक विज्ञान तथा शारीरिक शिक्षण विषय प्रत्येक को समान रूप से लेने पड़ते हैं, किन्तु इनके सिवाय और भी कई प्रकार के विषय होते हैं, जिन्हें छात्र अपने भावी धंधे को ध्यान में रखते हुए शिक्षकों और पालकों के मार्ग-दर्शन में चुनते हैं। कुछ स्थानों पर ऐसे भी पाठ्यक्रम रखे गए हैं जैसे शासकीय समस्याएं, स्वयं-चालित मोटरें, पाक-विज्ञान, सार्वजनिक भाषण, उद्योग, हस्त-कौशल आदि। इस प्रकार हाई-स्कूलों से पास होकर निकलनेवाले हजारों विद्यार्थी या तो आगे की महाविद्यालयीन शिक्षा के लिए तैयारी करते हैं या फिर किसी भी धंधे में लग जाते हैं। अमरीका में शिक्षित नवयुवकों के लिए अनेक धंधे उपलब्ध रहते हैं।

अमेरिका में भी माध्यमिक स्कूल की दिनचर्या चालीस-चालीस मिनट के सात काल-खंडों में विभाजित रहती है। प्रत्येक विषय विशेष योग्यता-प्राप्त शिक्षक द्वारा पढ़ाया जाता है तथा प्रत्येक काल-खंड के बाद छात्रों को कमरे बदलने पड़ते हैं और एक स्थान से दूसरे स्थान की ओर जाना पड़ता है। अध्ययन-काल-खंडों के अंत में एक काल-खंड अन्य विविध कार्य-क्रमों के लिए रहता है। शाम के समय कुछ छात्र, जो किन्हीं खास खेलों में विशेष रुचि अथवा योग्यता रखते हैं, शाला के मैदानों पर उनका अभ्यास करते हैं तथा कुछ छात्र शाला बंद होते ही अर्थोपार्जन के लिए किसी-न-किसी काम में लग जाते हैं। वहां छात्र खाली समय में काम करके अपनी शिक्षा का खर्च निकाल लिया करते हैं। शालाओं में अन्य विविध कार्यों के अंतर्गत विद्यार्थी-परिषद (स्टूडेंटस काऊंसिल) के कार्य विशेष उल्लेखनीय है। छात्रों के द्वारा बनाई गई यह परिषद छात्रों के समस्त कार्यों को संचालित करती है। विद्यार्थी-परिषद के प्रतिनिधि कक्षाओं से साल में दो बार चुने जाते हैं। इनकी संख्या शाला-विद्यार्थियों की संख्या पर निर्भर रहती है। विद्यार्थियों द्वारा चुने गए प्रतिनिधि विद्यार्थी-परिषद के अन्य कार्यकर्ताओं को चुनते हैं। विद्यार्थियों के कार्यक्रमों तथा उनके अनुशासन-संबंधी अनेक महत्त्वपूर्ण अधिकार इस परिषद को प्राप्त रहते हैं। कभी-कभी विद्यार्थी-परिषद चंदे के रूप में धन एकत्र करती हैं तथा उसे छात्रों में बांटती है। कभी-कभी विद्यार्थी-परिषद, शाला के अधिकारियों को शैक्षणिक योजनाएं निर्माण करने तथा उन्हें शाला के भीतर अथवा बाहर समाज में कार्यान्वित कराने में मदद देती है। इनके सिवाय विद्यार्थी-परिषद का शासन-प्रबन्ध, नियंत्रण और कार्य-प्रणाली छात्रों को प्रजातंत्रीय शासन-व्यवस्था का व्यावहारिक ज्ञान तथा महत्वपूर्ण अनुभव देती है जो उन्हें भावी जीवन में उपयोगी होते हैं।

विद्यार्थी-परिषद वर्ष के अंत में शाला की पत्रिका भी निकालती है, जिसके द्वारा छात्रों को साहित्यिक अनुभव प्राप्त होते हैं। इस पत्रिका में लेख और निबंधों के सिवाय शाला की महत्वपूर्ण घटनाओं का विवरण, शाला की अंतिम कक्षाओं के छात्रों के ग्रुप फोटोग्राफ, शाला की खेल की टीमों का विवरण, शाला का प्रतिवेदन इत्यादि भी सम्मिलित होता है। इस वार्षिक पत्रिका के सिवाय अमरीका के स्कूलों में कुछ समय के अंतर से सूचना-पत्र निकलते रहते हैं। इनमें भी दिन-प्रतिदिन होनेवाली शैक्षणिक, खेल-कूद-संबंधी तथा अन्य विविध कार्यों की प्रगति की सूचना दी जाती है। शाला के अन्य विविध कार्यक्रमों के अंतर्गत बैंड और वाद्य-संगीत, वाद-विवाद, टिकिट तथा सिक्कों का संग्रह आदि भी सम्मिलित रहते हैं। ये सब कार्य छात्रों द्वारा स्वयं किये जाते हैं। शिक्षक केवल वहीं आते हैं, जहां छात्र उनकी सलाह अथवा सहायता चाहते हैं।

संयुक्त राज्य अमरीका में स्कूलों की इमारतें बहुत अच्छी

रहती हैं तथा उनमें साज-सज्जा की सम्पूर्ण सामग्री उपलब्ध होती है। शाला की इमारत में कक्षा के अनेक कमरों के सिवाय बच्चों के भोजन का कमरा, व्यायाम-स्थल, वाचनालय कक्ष, तथा मनोरंजन कक्ष आदि होते हैं। कुछ बड़े स्कूलों में तैरने के लिए जलाशय तथा बड़े-बड़े खेल के मैदान रहते हैं। अमेरिका के स्कूलों में कई प्रकार के दृश्य-श्रव्य-साधनों के प्रयोग से शिक्षा को अधिक उपयोगी और प्रभावशाली बनाया जाता है। वहां टेलिविजन की सहायता से एक अनुभवी और चतुर शिक्षक सैंकड़ों विद्यार्थियों को एक साथ शिक्षा का लाभ दे सकता है।

संयुक्त राज्य अमरीका में माध्यमिक शिक्षा की महत्ता का मूल्यांकन करने के लिए आवश्यक है कि उनकी शिक्षा के अन्तिम ध्येय पर दृष्टिपात किया जाय। अमरीकी शिक्षक के शब्दों में, "एक शिक्षित व्यक्ति वही है, जिसका व्यक्तित्व सुसंगठित है, जो समयानुसार बुद्धि और चातुर्य से कोई भी कार्य कर सकता है, जो समय की आवश्यकता के अनुसार अपनी शक्तियों का सदुपयोग कर सकता है तथा जो स्वास्थ्य और चरित्र की अच्छी आदतों से युक्त है।" शिक्षा के इस उद्देश्य को दृष्टि में रखकर संयुक्त राज्य अमरीका की माध्यमिक शालाएं व्यक्ति की योग्यताओं का विकास करने तथा उन्हें आधुनिक जीवन के लिए तैयार करने में सफल हुई हैं।

●

(पृष्ठ ५८ का शेष)

कल्याण कार्यक्रमों में पानी की तरह पैसा बहाया। हजारों की तनख्वाह पानेवाले आला अफसर नियुक्त हुए, जिन्होंने जीप पर जा-जाकर लम्बे-लम्बे भाषण किये और बताया गांववालों तुम मालिक हो और हम तुम्हारे नौकर हैं।

इन भाषणों को समझ सकने लायक गांवों में जो पढ़े-लिखे लोग थे, उन्होंने खूब फायदा उठाया। सारी हिकमतें समझीं और बड़ी सिफत से सरकारी सहायता का उपभोग किया, बेचारे अंगूठा छाप भोले किसान और मजदूर तो बड़े और छोटे हुजूरों की सिर्फ हाजिरी बजाते रहे। उन्हें कभी मिली भी तो तकावी, जो खिड़की दर खिड़की होते-होते उनतक तीन चौथाई या आधी आई और वापस करते-करते चौबे जी छबे बनने के बजाय दुबे ही रह गये।

गांव-गांव स्कूल खुले, विद्या फैली। अब उस विद्या के बारे में कुछ न कहना ही ठीक है। हँसी आती है अपने देश के कर्णधारों पर, जो अंग्रेजी की पढ़ाई का तरीका अब भी चलाये जा रहे हैं। उन्होंने तो कुछ गुलामों की जरूरत के लिए इसे यहां शुरू किया था और आज अपने देश जैसे किताबी-शिक्षण को उन्होंने इंग्लैण्ड से कतई समाप्त करके शिक्षण को क्रिया के साथ सम्बद्ध कर दिया है, पर हम उस लकीर को ही पीटे चले जा रहे हैं और उसे अनिवार्य रूप से गांव-गांव तक पहुंचाना चाहते हैं। उस किताबी-शिक्षण में कुछ गांधीजी की सीख-सिखावन जोड़कर तथा कल्याण योजनाओं को गांधीजी के जन्म-दिन से आरंभ करके ऐसा अनुमान करते हैं कि सारे अभाव समाप्त हो जायंगे। मैं अधिक बुद्धि तो नहीं रखता सिर्फ इतना ही कहना चाहता हूं मेहरबानी करके समस्याओं को देखने का अपना चश्मा साफ कर लीजिये। मर्यादाओं और किनारों की बातें छोड़िये, समस्या के स्रोत को पहचानिये।

●

तुच्छ, फिर भी तुच्छ नहीं

●● रणजीत भट्टाचार्य

(४)

उस दिन अचानक एक मनिआर्डर मिला। केवल ७५ नये पैसे का मनिआर्डर था। कूपन पर आड़ी-तिरछी कच्ची लिखावट में लिखा था, "नाश्ते का पैसा बचाकर भेज रहा हूं। मेरा प्रणाम लीजिये।"

मेरा मन एक गंभीर शान्ति से भर आया। कुछ मास पहले की बात याद हो आई। उसे लगभग भूल ही गया था।

स्थान का नाम है चापाडांगा। वहां अपने एक डाक्टर मित्र के घर मिलने गया था। उस दिन दामोदर बांध के साथ योंही धीरे-धीरे घूम रहा था। देखा कि एक दस-ग्यारह साल का लड़का बांध के ठीक नीचे, रास्ते के पास खड़ा-खड़ा रो रहा है। कौतुहल हुआ। नीचे उतरा। लड़के के हाथ में एक खाली बोतल थी। उसके साथ और कोई नहीं था। पूछने पर पता लगा कि वह दूकान से तेल खरीदकर ला रहा था। यहां अचानक ठोकर खाकर गिर जाने से सारा तेल बिखर गया, इसलिए रो रहा है। मैं बोला, "गिर गया तो अब क्या हो। घर से फिर पैसे ले आओ।"

"फिर से पैसा मांगने पर मामी-मां खूब मारेंगी।"

मैंने पूछा, "तुम्हारे कौन-कौन हैं?"

"मामा, मामी-मां, पद्म दी और बच्चा। मैं मामा के घर रहता हूं।"

क्षण भर सोचा। फिर लड़के की भीगी आंखों की ओर देखकर बोला, "अच्छा चलो, मैं तुम्हें तेल खरीद देता हूं। तब तो तुम्हें मार नहीं खानी पड़ेगी?"

रोना बन्द कर वह मुँह उठाकर बोला, "क्यों? आप क्यों खरीदेंगे?"

"मैं कुछ दे ही तो रहा हूं। उसमें कोई बुराई है?"

"नहीं, आपके पैसे से क्यों खरीदूं?" उसका स्वर दृढ़ था। मेरा मन आन्दोलित हो उठा। शायद मैंने इतने निष्पाप शिशु-हृदय को भिक्षा देना चाहकर उसका अपमान किया है। किन्तु फिर भी बोला, "यह बात है तो तेल का पैसा मुझसे उधार ले लो। बाद में दे देना। क्यों ठीक है न?"

"कैसे दूंगा?"

"क्यों मनीआर्डर कर देना। मैं तुम्हें अपना पता दे देता हूं।"

पता लिखे हुए छोटे कागज को पढ़कर लड़के ने मेरी ओर मुंह उठाकर देखा। उसके मुंह पर हँसी थी और आंखों में जल। केवल इतना ही बोला, "अच्छा।"

वही मनि आर्डर आज आया है। लड़के ने कितने दिनों तक नाश्ते के पैसे बचा-बचाकर उस दिन का ऋण चुकता कर दिया है। कितने दिन तक उसने स्वयं को नाश्ते से वंचित रखा, फिर भी भीख लेने के सरल पथ पर वह नहीं उतर सका। सोचने लगा उस लड़के में आत्म-मर्यादा का इतना ज्ञान कहां से आया। क्या यह स्वाधीनता का दान है?

(५)

चूंचड़ा स्टेशन। गाड़ी के आने में देर थी। सो एक मित्र के साथ चहल-कदमी करते-करते बातचीत कर रहा था। पास ही एक किशोर-स्वर गूंज उठा, "जूते पर पालिश करवायेंगे बाबू, केवल छह नये पसे।"

बोला, "नहीं भाई, जरूरत नहीं है।"

"करवा लीजिये न बाबू। बहुत अच्छी पालिश है।"

ऐसा लगा कि उसकी आवाज बहुत बार सुनी है। देखा तो अनुमान सच निकला। लड़का परिचित था। ट्रेन में उसे नियमित रूप से भीख मांगते हुए देखा है। बिना एक शब्द भी कहे जूते समेत पांव उसके सामने बढ़ा दिया। ज़रा देर बाद बोला, "तू ट्रेन में भीख मांगा करता था ना?"

"हां, बाबू! परंतु अब वह काम छोड़ दिया है। वह काम इज्जतवाला नहीं था।"

मित्र आश्चर्य के साथ बोल उठा, "क्या कहता है रे?"

लड़का पालिश करते-करते ही बोलता चला, "हां बाबू, उस लड़कियों के कालेज की एक दीदी ने मुझे भीख मांगने से मना कर दिया है। कहती थीं—भीख मांगना छोटा काम है। उससे अच्छा तो जूतों पर पालिश करना है। उस दिन उन्होंने मुझे एक अठन्नी भी दे दी थी। बाबू, वह मां के

(शेष पृष्ठ ६६ पर)

वरना क्या बात कर नहीं आती !

●● राजेन्द्र तृषित

यह बम्बई-आगरा राजपथ का एक चौराहा है। एक मील पूर्व पथ पर—मुरैना की बस्ती, पश्चिम पथ पर ग्रामीण बस्तियां, उत्तर पथ पर तेरह मील चम्बल की उन्मत्त लहरें और उसके कगार, दक्षिण पथ पर चौबीस मील प्रसिद्ध सांस्कृतिक नगर ग्वालियर, उसका ऐतिहासिक दुर्ग। संभवतः आपकी ग्वालियर दर्शन की इच्छा तीव्र हो उठी है। अवश्य पहुंचिये, निहाल हो जायंगे। किन्तु मुझे आज्ञा दीजिये, मैं अभी-अभी ग्वालियर से ही यहां पहुंचा हूं। वह देखिये, मध्य प्रदेश पुलिस। वह जीप, जो पश्चिम की ओर जानेवाले पथ पर धूल के बादलों से अठखेलियां करती सरपट दौड़ी चली जा रही है, उसीसे अभी-अभी उतरा हूं—अच्छा, अलविदा।

ये मुरैना की गलियां हैं। लगभग एक मील की परिधि में बसा हुआ यह उपनगर क्रमशः प्रगति की ओर उन्मुख है। आज रविवार होने के कारण बाज़ार की अधिकांश दूकानें बन्द हैं। नगर-परिक्रमा करके स्टेशन से आगरा-बम्बई मार्ग को मिलानेवाली सड़क पर आ पहुंचा हूं। आसमान में काले-काले मेघ घिर चले हैं—तीव्र वायु के झकोरे चल रहे हैं—वर्षा के आसार हैं।

जिस स्थान पर मैं खड़ा हूं—सामने की पट्टी पर तीन-चार हलवाइयों की दूकानें हैं। दो-तीन चाय के होटल और एक पान की दूकान है। पान की दुकान में लगी घड़ी ढाई बजा रही है। अभी मैंने भोजन नहीं किया है। स्मरण आते ही एक हलवाई की दूकान की ओर बढ़ चला हूं।

बाहर वर्षा हो रही है, मूसलाधार वर्षा, और ऐसी कि बन्द होने का नाम ही नहीं लेती। वर्षा बन्द हो, और मैं चलूं, यह सोचते-प्रतीक्षा करते एक घंटा बीत गया है। कुछ और प्रतीक्षा के बाद अब बूंदें हलकी हो चली हैं, और मैं दूकान से निकलकर सड़क पर आ गया हूं। कुछ दूर ही बढ़ पाया हूं, कि यह क्या! वर्षा पुनः मूसलाधार होने लगी है। आस-पास बचाव के लिए कोई ठहरने का स्थान भी नहीं। क्या करूं? विवश बढ़ रहा हूं, भीगता हुआ।

चम्बल की ओर जानेवाले पथ के चौराहे पर पहुंचा हूं। एक ट्रान्सपोर्ट ट्रक का ऐंजिन चम्बल की ओर बढ़ने के लिए घरघरा उठा है। मैं भीगता हुआ ट्रक से आगे बढ़ गया हूं—मन में सोच रहा हूं, क्या ही अच्छा होता, यदि ट्रक ड्राइवर मुझे चम्बल तक के लिए लिफ्ट दे देता। साथ ही कुछ लोगों के वाक्य भी स्मरण हो आये हैं—"मुरैना से चम्बल के बीच का मार्ग बहुत ख़तरनाक है। फिर आपके कपड़े भी पुलिस विभाग जैसे हैं। किसी डाकू ने निशाना बना लिया, तो आपकी यात्रा वहीं पूरी हो जायगी।" स्मृति के साथ ही एक सनसनाहट दौड़ गई है, किन्तु साथ ही मन के किसी कोने से कोई यह कह उठा है, "नहीं, नहीं ऐसा कुछ नहीं है, फिर यह भी तो एक बहुमूल्य अनुभव होगा।" आगे बढ़ रहा हूं—आस-पास ऊबड़-खाबड़ भूमि है, ऐसी कि जहां से आखेट के लिए पूरे बचाव हैं। दूर तक घना वन-प्रदेश ऐसा कि महीनों कोई आगे-आगे बढ़ता जाय, और पीछे भागनेवाला कुछ ऐसी भूलभुलैया में फंसता जाय कि आगेवाले को पकड़ने की बात तो स्वप्न, यदि वह स्वयं उसका आखेट बन जाय, तो कोई आश्चर्य नहीं किया जा सकता। मैं बुदबुदा उठा हूं—दस्यु-ग्रस्त क्षेत्र होने का यही रहस्य क्या कम है?

पीछेवाला ट्रक बगल से गुज़रकर तीन-चार गज आगे जाकर रुक गया है, और—"कहां जाना है, आओ बैठ लो!"

अप्रत्याशित रूप में ड्राइवर की आवाज सुनकर चौंक पड़ा हूं और मन में उठनेवाली अभिलाषा की तात्कालिक पूर्ति को सोचकर प्रसन्नता के साथ कुछ आश्चर्यचकित भी हुआ हूं।

अधिक कुछ सोचने का अवसर कहां है। वर्षा के थपेड़े, बीहड़ वन-प्रदेश के मध्य से गुज़रता हुआ पथ और उस यह मनोवांछित सुविधा—और अब मैं ट्रक की आगे की सीट पर बैठा हूं, ट्रक गीली सड़क पर सपाक-सपाक की ध्वनि के साथ आगे बढ़ रहा है।

आस-पास अन्धकारमय ऊंची-नीची खाइयां, टीले और घना वन। तीनों के मिश्रण ने एक रहस्य की सृष्टि हो रही है और दस्युराज मानसिंह की मुखाकृति तथा उसके

कलाप--स्थान चयन का उसका बौद्धिक पक्ष--फिर उसे बन्दी बनाने के लिए सरकार के अनगिनत विफल यत्न--सब एक साथ मानस में टकरा गये हैं और मैं उनमें खो गया हूं। इसी बीच ट्रक चम्बल पहुंचकर खड़ा हो गया है। ड्राइवर द्वारा ध्यान आकर्षित करने पर देख रहा हूं--ट्रकों-कारों के जमघट के बीच एक रेतीले स्थान पर खड़ा हूं मैं। ड्राइवर को धन्यवाद देकर आगे बढ़ चला हूं।

वर्षा थम गई है। थोड़ा चलकर मैं चम्बल के तट पर आ गया हूं। निचाई इतनी है कि तट पर खड़े होकर दोनों ओर जानेवाली सड़कों को देखकर ऐसा प्रतीत हो रहा है, जैसे किसी पहाड़ी स्थान पर पहुंच गया हूं। चम्बल के दोनों ओर ट्रकों, कारों का जमघट है। बड़ी-बड़ी नावें इस ओर के ट्रकों में लदे सामान को भरकर उस पार के ट्रकों में पहुंचा रही हैं और उस ओर के सामान को इस पार। बीच में हलके वाहनों और पद-यात्रियों के लिए काठ का पुल है। चम्बल यहांपर विशेष गहरी नहीं है, किन्तु प्रवाह तीव्र है।

और वह क्या, उस ओर...? कुछ दूर पर हो रहे किसी निर्माण-कार्य पर दृष्टि पड़ते ही मैं चम्बल के किनारे लगभग आधा फर्लाङ्ग चलकर यहां पहुंचा हूं, और जो-कुछ देख रहा हूं, उससे मन प्रसन्नता से झूम उठा है--यह है सहस्रों श्रमिकों के रक्त और पसीने से निर्मित हो रहा विशाल पुल--जो तैयार होने पर बम्बई-आगरा राजपथ को चम्बल के उन्मत्त वक्ष पर मिलायेगा, और तब...? तब संभवत चम्बल के दोनों ओर आज जो जमघट दिखाई पड़ रहा है--न होगा। छोटे-छोटे चाय के होटल, चम्बल के दोनों ओर महाभारत के गौरव पाण्डवों के सदृश डटा हुआ यह जनसमूह--यह सब स्मृति मात्र रह जायगा--और तब चम्बल का यह यात्री पड़ाव पूर्ण रूप से दो मील दूर स्थित धौलपुर में समाहित हो जायगा।

वर्षा पुनः आ धमकी है और मेरी कल्पना के पर टूट गये हैं। अभी मुझे आगे बढ़ना है। अतः मैं काठ के पुल की ओर बढ़ चला हूं। पुल के निर्माण में लगे श्रमिक वर्षा के कारण काम बन्द कर पुल के नीचे जाकर एकत्र हो रहे हैं। मेरे अन्तर में एक प्रश्न उभर रहा है--क्या ताजमहल के शिल्पियों की भांति एक दिन हम इनके रक्त-श्रम-बिन्दुओं और बलिदानों को भी न भूल जायंगे?

तभी किसी कोने से कोई कह उठा है--किन्तु ये कगार सदैव इनकी कथा दुहरायेंगे, और जब भी कभी कोई जिज्ञासु यात्री यहां आकर दो पल के लिए ठिठकेगा, और इस विशाल पुल को पढ़ना चाहेगा, तब यह पुल अपने निर्माण के मध्य हुए बलिदानों का स्मरण करता हुआ कह उठेगा--जो सुन सकेंगे, सुनेंगे, पुल कह रहा है--

बात कुछ ऐसी ही है कि चुप हूं--
वरना क्या बात कर नहीं आती।[1]

---

१. पुल का निर्माण हो चुका है। क्या कभी आप उस ओर गये हैं और सुना है आपने?

●

(पृष्ठ ६४ का शेष)

समान हैं। उनकी बात मन में समा गई। इसीसे इस रास्ते पर चला आया।"

उसे छह नये पैसे देकर बोला, "फिर तो भीख नहीं मांगेगा ना?"

"नहीं बाबू। खूब गुजारा हो जाता है। अब समझ रहा हूं कि भीख मांगना वास्तव में छोटा काम है। वह काम अब नहीं करूंगा।"

वह चला गया। मैं मित्र से बोला, "लड़के का नया जन्म हुआ है।"

मित्र केवल हँस दिए। विश्वास किया या नहीं कौन जाने। किन्तु मेरा मन आनन्द से भर आया। मनुष्य की हीनतम वृत्ति को छोड़कर वह एकदम परिश्रम के पथ पर उतर आया है, इसे मैं तुच्छ कैसे मानूंगा। वह किशोर-वाहिनी का एक अनजान सैनिक है। स्वाधीन देश की एक नवीन सम्पत्ति है।

--अनु० स्नेहलता

●

असमी लोक-कथाओं में 'परशुराम-कुण्ड'

● ● कन्हैयालाल मिंडा

महर्षि जमदग्नि के पांच पुत्र थे, उन्होंने सबको बुलाया और परीक्षा लेने के लिए कहा कि तुम अपनी मां का वध करो। चारों पुत्र तो यह कहकर नट गये कि हमने मां का वध करने के लिए जन्म नहीं पाया! फिर परशुराम को बुलाया और कहा, "वचन दो कि तुम मेरा कहना मानोगे ?" परशुराम ने वचन दे दिया। तो बोले, "अपनी मां का सिर धड़ से अलग कर दो।" पशुराम तेजस्वी थे। पिता की आज्ञा शिरोधार्य कर फरसा लेकर सीधे मां के पास गये और उसके दो टुकड़े कर दिये। मातृ-हत्या के पाप से फरसा परशुराम के हाथों में ही चिपक गया। वह सब तीर्थों में स्नान करते घूमते फिरे तब भी फरसा हाथ से नहीं छूटा तो पुनः अपने पिता के पास आये और बोले, "पिताजी मातृ-हत्या के पाप से फरसा मेरे हाथों में चिपका हुआ है।" इसपर पिताजी ने आज्ञा दी कि तुम अमुक ब्रह्मकुण्ड में जाकर स्नान करो। पिता की आज्ञा के अनुसार परशुराम ने ब्रह्मकुण्ड में स्नान किया। तबसे फरसा हाथ से पृथक हो गया और परशुराम मातृ-हत्या के पाप मुक्त हो गये। स्नान करने के पश्चात् पशुरामजी अपने गुरु महामुनि वशिष्ठ के दर्शन करने गये और ब्रह्मकुण्ड से कह गये कि तुम मेरे लौट आनेतक यहीं ठहरना। परन्तु जब परशुरामजी लौटकर आये तो देखा कि ब्रह्मकुण्ड से जल प्रवाहित हो गया है। अपनी आज्ञा का उल्लंघन देख परशुराम बहुत क्रोधित हुए और उन्होंने शाप दिया कि तुम्हारा जल मूत्र-जैसा बन जाय। अस्तु, तत्क्षण ही जल का रंग लाल व मैला हो गया। तब ब्रह्मकुण्ड ने साक्षात् होकर कहा, "भगवन्! आपने मुझ निरपराध को ही शाप दे दिया! यदि मैं प्रवाहित न होता तो एकत्रित हुआ घोर जल महा अनिष्ट का कारण बन जाता।" कुण्ड की प्रार्थना स्वीकार करते हुए परशुराम ने कहा कि जो शाप दे दिया, वह तो लौटाया नहीं जा सकता, परंतु एक किनारे पर फरसा मारते हुए कहा कि यहां से पवित्र जल की धारा बहेगी और इसमें स्नान करनेवाले प्राणी पाप से मुक्ति पायेंगे। कहते हैं कि असमी लोगों की मान्यता है कि चैत शुक्ला अष्टमी को ब्रह्मकुण्ड से निकली इस धारा में स्नान करने से पाप-तापों से मुक्ति होती है और शरीर को रोगों से निवृत्ति मिलती है। माघ से चैत्र शुक्ला अष्टमी तक देश के अन्य भागों से तो यहां हजारों यात्री प्रतिवर्ष आते ही हैं, असमी लोग भी हजारों की संख्या में सपरिवार परशुरामकुण्ड में स्नान करते हैं।

... ...

किसी समय एक कृषक ब्राह्मण एक बैल और गाय से हल जोतकर खेती करता था। हल जोतने के बाद वह उन्हें घर में चारा-दाना नहीं खिलाता और चरने के लिए जंगल में छोड़ देता था। जंगल से भरपेट घास न मिलने के कारण गाय और बैल दोनों भूखे रहते थे। भूख के मारे वे दुर्बल हो गये, परंतु ब्राह्मण इनके चराने की ओर फिर भी कोई ध्यान नहीं देता था और बड़ी ही निर्दयतापूर्वक उनसे कसकर काम लेता था। इसपर दुखी होकर बैल ने गाय से कहा कि मैं तो इस अत्याचार को सहन नहीं कर सकता! मालिक हमारा ध्यान ही नहीं रखता, कड़े परिश्रम के कारण हमारा शरीर सूखकर पंजर हो गया है और यह हमलोगों के हांड़-मांस से अपनी स्वार्थ-सिद्धि करता जा रहा है। मैं तो इसे मारूंगा। गाय ने कहा, "यह ब्राह्मण है, इसे मारने से ब्रह्महत्या का पाप लगेगा। तो फिर क्या करोगे ?" बैल बोला, "अपने पास में पहाड़ी पर एक कुण्ड है, उसमें स्नान करने से पापी प्राणी पाप-मुक्त हो जाता है। मैं उसमें स्नान करके मुक्त हो जाऊंगा। अगले दिन जब ब्राह्मण हल में जोतने के लिए बैल के पास आया तो उसने ब्राह्मण के पेट में सींग मारकर उसकी हत्या कर दी। ब्रह्महत्या के पाप से बैल काला हो गया। तब वह भागा-भागा परशुरामकुण्ड में गया और वहां स्नान किया तो ब्रह्महत्या के पाप से मुक्त हुआ और उसका शरीर पुनः पूर्ववत् हो गया।

●

हिन्द पाकेट बुक्स प्राइवेट लि०, शाहदरा-दिल्ली की दस पुस्तकें। मूल्य : एक रुपया प्रति पुस्तक।

इन पुस्तकों में सबसे पहली पुस्तक स्टीफेन ज्विग की लम्बी कहानी 'एक अनजान औरत का खत' का अनुवाद है। यह कहानी इतनी प्रसिद्ध है कि इसकी चर्चा करना व्यर्थ है। कथा इतनी मार्मिक है और इसमें एक मासूम हृदय की व्यथा का इतना हृदयग्राही चित्रण हुआ है कि पढ़ते ही बनता है। अनुवाद में वह व्यथा और मार्मिकता अक्षुण्ण रही है। (२) 'काबुलीवाला' में रवीन्द्रनाथ ठाकुर की नौ कहानियों का संकलन है। इसमें उनकी 'काबुलीवाला', 'क्षुधित पाषाण', 'छुट्टी', 'नयन जोड़ के बाबू', और 'पोस्ट मास्टर' आदि अति प्रसिद्ध कहानियां आ गई हैं। इनमें कवि-गुरु के करुणाप्लावित हृदय, उनकी सूक्ष्मदृष्टि और मार्मिक अभिव्यक्ति का परिचय मिल जाता है। उनकी यथार्थता स्वयंसिद्ध है। (३) मेघदूत : कवि-कुल-गुरु कालिदास के इस सबसे अधिक लोकप्रिय काव्य-रचना का अनुवाद डाक्टर भगवतशरण उपाध्याय ने प्रस्तुत किया है। वियोग श्रृंगार की इस रसभरी कहानी में पाठक जैसे डूब जाता है। (४)डाक्टर लक्ष्मीनारायण लिखित 'योगासन और स्वास्थ्य' उन लोगों के लिए जो स्वस्थ और सुन्दर बने रहना चाहते हैं, बहुत उपयोगी है। (५) 'क्रांतिकारी' नवयुवक लेखक जयन्त का एक सुन्दर लघु उपन्यास है। जयन्त का 'क्रांतिकारी' दिल में प्यार और सिर पर कफन बांधे सदा कुछ करने को आतुर रहता है। वास्तव में वह सब किसीको प्यार करता है, उनके प्यार में स्वार्थ कहीं नहीं है। इस तथ्य को समझने में ज़रा देर लगती है और इसी देर में उपन्यास की कथा उभरती है, जो बड़ी मार्मिक बन पड़ी है। (६) ख्वाजा अहमद अब्बास का उपन्यास 'प्यार की पुकार' सचमुच एक नये किस्म का उपन्यास है। विश्व के सभी मानव समान हैं और सह-अस्तित्व हर स्थिति में संभव है, इस संदेश को लेकर ख्वाजासाहब ने अमरीका, चीन, रूस, पाकिस्तान के गेहूं के दानों के माध्यम से सचमुच ही रोचक और मार्मिक कथा कही है। इसका आदर्शवाद मन को छूता है। (७-८) 'बहूरानी' और 'दो बहनें' रवीन्द्रनाथ की प्रसिद्ध रचनाएं हैं। 'बहूरानी' में इतिहास का आश्रय लेकर कठोर हृदय पिता और कोमल हृदय पुत्र के संघर्ष की कहानी कवि-गुरु ने अपनी लालित्यमयी भाषा में प्रस्तुत की है। संघर्ष की यह कथा जितनी कठोर है उतनी सरस भी है। 'दो बहनें' में मातृरूपा और प्रियतमा—दो प्रकार की नारियों का अन्तर्द्वन्द्व मुखरित हुआ है। दो बहनों के साथ-साथ रासमणि का बेटा भी इस संग्रह में है। मातृ हृदय की यह करुण कथा पत्थर हृदय को भी पिघला देती है। (९) 'हिंदी के सर्वश्रेष्ठ प्रेमगीत' पुस्तक में क्षेमचन्द्र 'सुमन' ने राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त से लेकर दिनकर, पंत, निराला, बच्चन, दिनेश, चिरंजीत, अजितकुमार, त्यागी, दोषी, आदि तक सौ कवियों के सौ गीतों का संग्रह किया है। अपने प्रकार की यह अनोखी पुस्तक है और प्रेम के नाना रूपों का एलबम है। (१०) 'गाता जाये बंजारा' में लोकप्रिय उर्दू शायर तथा फिल्मी दुनिया के मशहूर गीतकार साहिर लुधियानवी के चुने हुए रोमांतिक और भावपूर्ण गीतों का संग्रह हुआ है। उर्दू शायरी की लोच और हिंदी गीतों का रस दोनों का ही समन्वय इस पुस्तक में देखने को मिलेगा। भाषा बहुत ही प्यारी है। और कहीं-कहीं बैले के दृश्य भी दृष्टिगोचर होते हैं।

भारत में अंग्रेजी राज—दो खंड : लेखक–पंडित सुन्दरलाल; प्रकाशक : प्रकाशन-विभाग, सूचना और प्रकाशन मंत्रालय, दिल्ली–८; पृष्ठ-संख्या : १०२० रायल साइज; मूल्य : दोनों का १६ रुपये।

भारत सरकार ने इस प्रसिद्ध पुस्तक का प्रकाशन करके सचमुच एक सुन्दर काम किया है। इस पुस्तक का इतिहास बड़ा रोमांतिक है—ब्रिटिश सरकार ने इसे जब्त कर लिया

था क्योंकि इसमें उसका सच्चा रूप प्रस्तुत किया गया था। वास्तव में इस पुस्तक में भारत में अंग्रेजी राज के सौ वर्षो के इतिहास का जितना विस्तृत और यथार्थ वर्णन हुआ है, उतना कहीं और देखने को नहीं मिलता। पंडितजी की दृष्टि गहरी ही नहीं है, सत्य को परखनेवाली भी है। भारतीय इतिहास को नई दृष्टि से लिखने की जो आज पुकार लगी है उसके लिए यह पुस्तक अनुकरणीय है। इसकी सामग्री और चित्र प्रामाणिक हैं। शैली संतुलित है। इस संस्करण में पंडितजी ने भाषा की दृष्टि से कुछ फेरफार किये हैं,जो न भी होते तो पुस्तक की उपयोगिता में कोई अन्तर नहीं आनेवाला था। पुस्तक स्थायी साहित्य की सम्पत्ति है।

भारतीय नवोदय के अग्रदूत : लेखक—विभिन्न; प्रकाशक : वि० वैदिक० शोध संस्थान, होश्यारपुर (पंजाब); पृष्ठ-संख्या : ३०४

प्रस्तुत पुस्तक में पांच लेखकों ने नये भारत का निर्माण करनेवाले इन पांच सुधारकों की जीवनी प्रस्तुत की है। सर्वश्री राजा राममोहनराय, दयानन्द, विवेकानन्द, रामतीर्थ और अरविन्द। इसमें कोई संदेह नहीं कि नये भारत का जो रूप आज हमारे सामने है, उसकी रचना करने में इन पांच महापुरुषों का महान् योग था। इनकी रोचक जीवन-कहानी उनके प्रेरणादायक कार्य और सन्देश के साथ पाठकों को एकसाथ मिल जाती है। अखिल विनय द्वारा लिखित राममोहनराय की जीवनी बहुत ही सुन्दर बन पड़ी है।

कलाकार कैदी : लेखक : अलैग्जैण्डर ड्यूमा; ; अनुवादक: सिद्धगोपाल काव्यतीर्थ; प्रकाशक : हिन्दी ग्रंथ रत्नाकर, हीराबाग, गिरगांव, बम्बई, ; पृष्ठ-संख्या : २३०; मूल्य : ३.५० नये पैसे।

अलैग्ज़ैण्डर ड्यूमा विश्व-प्रसिद्ध उपन्यासकार हुए हैं। उनका यह प्रस्तुत उपन्यास अनेक दृष्टियों से सुन्दर, रोचक और कलापूर्ण है। तत्कालीन फ्रांस के जीवन की यह सुन्दर झांकी तो है ही, कलाकार कैदी के अद्भुत पुष्प-प्रेम की रोमांचक कहानी भी है। उसकी साधना जहां उसे काले रंग का 'गुलेलाला' का फूल पैदा करने में सफलता प्राप्त कराती है, वहां उसे उसकी सुन्दर प्रियतमा भी मिल जाती है। साधना और संघर्ष की इस कहानी में चरित्र-चित्रण भी सुन्दर हुआ है। विशेषकर रोज़ा का।

भारतीय ज्ञानपीठ, काशी की चार पुस्तकें :

(१) माखनलाल चतुर्वेदी : लेखक : ऋषि जैमिनी कौशिक बरुआ; पृष्ठ-संख्या : ४६०; मूल्य : ६) रुपये।

हिंदी में जीवनी-साहित्य का लगभग अभाव है। माखनलालजी साहित्यिक क्षेत्र में जितने लोकप्रिय हैं, राजनीति में भी उतने ही प्रमुख रहे हैं। बरुआजी ने उनके जीवन की विस्तृत झांकी प्रस्तुत करके सचमुच एक सुन्दर कार्य किया है। स्थानाभाव के कारण हम इसकी विस्तृत आलोचना नहीं कर सकते। लेकिन यह निश्चय ही कहा जा सकता है कि पुस्तक में रस है और उसका कारण यह है कि इसका एक बड़ा भाग कवि के अपने शब्दों में है। माखनलालजी की भाषा इतनी रसमयी है कि पाठक विभोर हो उठता है। लेखक ने अन्त में कवि की कुछ रचनाएं भी दी हैं, जिससे पुस्तक का मूल्य बढ़ गया है।

(२) सांस्कृतिक निबंध : लेखक : डॉ० भगवतशरण उपाध्याय; पृष्ठ-संख्या २०४; मूल्य : ३ रुपये।

प्रस्तुत पुस्तक में विद्वान् डाक्टर के १९ अध्ययनपूर्ण सांस्कृतिक निबंध संकलित हैं। ऋग्वेदकालीन भारतीय समाज से लेकर अफ्रीकी, यूनानी, मिस्री और काबुल के जीवन की व्यापक झांकी इन निबंधों में प्रस्तुत की गई है। लेखक की गहरी और खोजपूर्ण दृष्टि, सरल और सुलझी हुई भाषा तथा प्राजल शैली के कारण ये निबंध पाठक के लिए बहुत ही ज्ञानवर्द्धक और उपयोगी हो गये हैं।

(३) आत्मने पद : लेखक : अज्ञेय ; पृष्ठ-संख्या : २६४; मूल्य : ४) रुपये।

लेखक ने प्रस्तुत पुस्तक को 'अत्यन्त आत्म-चेतन' रचना माना है। लेकिन पढ़ने के बाद हमें उससे इस बारे में कोई असहमति नहीं है कि अपने बारे में होकर भी यह पुस्तक अपने में डूबी हुई नहीं है। अपने में से होकर दूसरे के भीतर देखने की सूक्ष्म-सशक्त दृष्टि भी इसमें है। इन २८ निबंधों में काव्य, आख्यान, आलोचना, स्थिति और मन इन सबके संदर्भ से जो कुछ लिखा गया है, वह लेखक की कलाप्रियता, सूक्ष्म गहन दृष्टि और पांडित्यपूर्ण अध्ययन का साक्षी तो है ही, पाठक को एक नई दृष्टि भी देता है, सोचने-समझने की, अपनेको अभिव्यक्त करने की दृष्टि।

(४). मानव मूल्य और साहित्य : लेखक : धर्मवीर भारती; पृष्ठ-संख्या : १८०; मूल्य : २॥) रुपये।

भारती ने प्रस्तुत पुस्तक में 'मानवीय तत्वों का विघटन' और 'नई मर्यादा का उदय' को लेकर विभिन्न समयों पर जो निबंध लिखे हैं, उन्हींका संकलन हुआ है। लेकिन यह संकलन नहीं जान पड़ता। इसके चिन्तन में सहज विकास की गति है। साधारणतया अभी तक मानव-मूल्य के संदर्भ में साहित्य का विश्लेषण और आकलन नहीं के बराबर हुआ है। इस दृष्टि से यह पुस्तक महत्वपूर्ण है। विचारों में मतभेद हो सकता है, विशेषकर उन स्थलों से जहां उन्होंने पिछले 'युग बोध' द्वारा नये 'युग-बोध' पर अशोभन आक्रमण की चर्चा की है। वस्तुतः यह भी शृंखला का एक अंग मात्र है। अन्तर केवल दृष्टि का है, जो परिवर्तन की प्रणाली को आक्रमण का रूप देती है। लेकिन इसमें कोई संदेह नहीं कि इस अध्ययन के पीछे सत्य की खोज परिलक्षित होती है। और लेखक की मान्यता है कि किसी भी तथ्य को तबतक स्वीकार नहीं करना चाहिए जबतक वह तमाम 'प्रश्न' चिह्नों और 'शंकाओं' से मुक्त नहीं हो जाता। वैसे यह स्थिति भी सदा सापेक्ष ही रहेगी। कुछ भी हो, लेखक के विचार स्पष्ट और शक्ति से पूर्ण हैं।

वसंत और पतझड़ : लेखक : विनोदचन्द्र पांडे; प्रकाशक ; अनुराग प्रकाशन, गोरखपुर; पृष्ठ-संख्या : ६८; मूल्य : १॥) रुपये।

प्रस्तुत पुस्तक में ६० लघु कविताओं का संग्रह हुआ है। ये कविताएं अत्यंत सरल और परिमित शब्दों में व्यक्त हुई हैं, लेकिन इसीसे उनका प्रभाव अपरिमित है। इनकी संक्षिप्तता ही जैसे हृदय को अनुभूति की विराटता से ढक देती है। 'उबटन' नाम की कविता ही लीजिए :

> बरस रही है चांदनी
> फूलों-सी तुमपर;
> खोलो सांवला तन
> लगा दूं
> चांदनी का उबटन !

सचमुच इन कविताओं को पढ़-सुनकर सादगी और सरलता का महत्व समझ में आ जाता है। और मन विभोर होकर ऐसा अनुभव करता है कि जैसे अभी-अभी वर्षा के बादल छट गये हों।

मेघदूत : (हिंदी नाट्य रूपान्तर) : लेखक : शंभूदयाल सक्सेना; प्रकाशक : नवयुग ग्रंथ कुटीर, बीकानेर; पृष्ठ-संख्या : १०२; मूल्य : २॥) रुपये।

प्रस्तुत पुस्तक में लेखक ने मनुष्य की चिर-नवीन विरह-मिलन की आकांक्षा के सर्वोत्तम काव्य का नाट्य रूपान्तर प्रस्तुत किया है। साथ ही लगभग ५० पृष्ठों में इस अमर काव्य की समीक्षा भी की है। रूपान्तर मंच पर प्रस्तुत हो सके, यह दृष्टि रखी गई है। प्रयत्न सुन्दर है, लेकिन हमें आशंका है कि गद्य में यह नाटक अपने काव्य के अनुरूप प्रभावशाली हो सकेगा।

अरुणोदय : लेखक : विराज; प्रकाशक : नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई सड़क, दिल्ली; पृष्ठ-संख्या : १३६; मूल्य : ४ रुपये।

प्रस्तुत पुस्तक में श्री विराज के १३४चतुष्पद संकलित हुए हैं। सदा की तरह इन चतुष्पदों की सरलता भी मन को भाव-विभोर करनेवाली है। ये चतुष्पद अन्तर को छूते हैं, क्योंकि इन्होंने कवि के अन्तर-प्रेम में से ही विकास पाया है। कवि ने नव जागरण को लक्ष्य में रखकर विश्व के शोषितों को समर्थन देने का प्रयत्न किया है। ये चतुष्पद राह की चट्टानों को तोड़कर मार्ग बनाने और फिर से नये उद्यानों का निर्माण करने का संदेश देते हैं।

कवियों में सौम्य संत : सुमित्रानंदन पंत : लेखक : बच्चन; प्रकाशक : राजपाल एंड संज, कश्मीरी गेट, दिल्ली; पृष्ठ-संख्या : ३०८; मूल्य : ५)।

बच्चन ने पंतजी पर समय-समय पर जो निबंध लिखे हैं और पंतजी ने पिछले २० वर्षों में उन्हें जो पत्र लिखे हैं, उन्हींका संकलन पुस्तक में हुआ है। एक कवि का मूल्यांकन दूसरे कवि ने किया है, यह दृष्टि निबंधों में स्पष्ट है। इसलिए इनमें व्यर्थ की उखाड़-पछाड़ और छीछालेदर नहीं है, बल्कि एक भावाकुल हृदय दूसरे भावाकुल हृदय की अभिव्यक्ति को आत्मसात् करने के प्रयत्न में है। पंतजी के पत्र उनके कवि हृदय के अनुरूप बहुत ही सहानुभूतिपूर्ण और आत्मीयतापूर्ण हैं। पंतजी को समझने के लिए यह पुस्तक अत्यन्त उपयोगी है।

क्या वह पागल था : लेखक : बालज़क; अनुवादक : शिवदानसिंह चौहान; प्रकाशक : वही; पृष्ठ-संख्या : १८०;

मूल्य : २॥) रुपये।

बाल्ज़क निस्सन्देह संसार के महानतम उपन्यासकारों में से हैं। इस पुस्तक में उनके दो लघु उपन्यास 'क्या वह पागल था' और 'गॉबसैक' अनूदित होकर हमारे सामने आये हैं। पहला उपन्यास जहां नारी मनोविज्ञान के अपूर्व चित्रण के लिए प्रसिद्ध है,वहां जज पोपिनो जैसे अमर चरित्र के चित्रण के लिए भी महत्वपूर्ण है। सामन्ती फ्रांस की खोखली संस्कृति का जैसा चित्रण इस उपन्यास में हुआ है वैसा शायद और कहीं हुआ हो। जज पोपिनो ऊपर से अनगढ़-असंस्कृत भले ही लगता हो, लेकिन उसके अंतर में सत्य और ईमानदारी जिस प्रकार मूर्त्त हुई हैं, वह अद्भुत है। झूठे आरोप का खंडन करना भी वह अपनी शान के खिलाफ समझता है। यह उपन्यास सचमुच ही हृदयग्राही है। इसमें मार्क्विस ऐस्पा जैसे उदात्त चरित्र जिस प्रकार मन को छूते हैं,'गॉबसैक' में उसी प्रकार 'गॉबसैक' स्वयं हमारे हृदय को झंझोड़ देता है। यह सूदखोर विश्व-साहित्य में अमर है। उसकी कंजूसी और चालाकी शेक्सपीयर के शाइलौक को भी मात कर देती हैं। लेकिन इस चरित्र में जो नाटकीयता है वह इस उपन्यास को पढ़कर ही जानी जा सकती है। ये दोनों लघु उपन्यास मानव-मन की विचित्रताओं के प्रतिबिंब हैं।

लहरों के बीच : लेखक : हरमन मेलविल ; अनुवादक : यादवचंद्र जैन; प्रकाशक : ३७६ वही; पृष्ठ-संख्या : मूल्य : ३) रुपये।

प्रस्तुत पुस्तक 'मौबीडिक' का, जो विश्व-साहित्य में एक क्लासिक के रूप में अमर है, अनुवाद है। यह पुस्तक बहुत ही अद्भुत और रोमांचकारी यात्रा-विवरण के एक साथ भयानक तथा नाटकीय अनुभवों का संग्रह भी है। व्हेल शिकार के लिए जानेवाले एक जहाज और उसके जीवन की यह भ्रमण-कहानी प्रकृति और मानव मन के अंतर में पैठने की अद्भुत क्षमता से पूर्ण है। ऐसा लगता है जैसे पाठक स्वयं उस अद्भुत नाटक में जी रहा है और एक नया संसार जो भयानक सौंदर्य से परिपूर्ण है, उसकी आंखों में उभर आया है।

सागर की खोज : लेखक : रसैल कार्सन; अनुवादक : आनन्द-प्रकाश जैन; प्रकाशक : वही; पृष्ठ-संख्या : २६४, मूल्य : ३ रुपये।

प्रस्तुत पुस्तक कह सकते हैं भूगोल का काव्य रूप है। भूगोल जैसे शुष्क विषय को इतने रोचक रूप में प्रस्तुत करना कला की एक चरम उपलब्धि है। 'सागर की खोज', उसी उपलब्धि से पूर्ण है। जो सागर आकारविहीन एवं शून्य अंधकार में खोया हुआ था, जो ऋतुएं लौट-लौटकर आती हैं, जिन गहरी कंदराओं में सभी हवाएं नींद में मग्न पड़ी हैं, जहां हरे-भरे द्वीपों का होना अपरिहार्य है, जिस समुद्र के साथ वायु के पग प्रभासित हैं, उन्हीं भूगोल तत्वों की यह खोज सचमुच पठनीय है। किसी समृद्ध और विचित्र वस्तु में परिवर्तित हो जानेवाला सागर हर किसीको आकर्षित कर सकता है। यही इस पुस्तक का संदेश है।

साहित्य और कला : लेखक : डा० भगवतशरण उपाध्याय; प्रकाशक : आत्माराम एंड संज, कश्मीरी गेट, दिल्ली; पृष्ठ-संख्या : २०४ डिमाई, मूल्य : ६ रुपये।

समय-समय पर भारतीय और विश्व-साहित्य को लेकर जो निबंध डॉ० भगवतशरण उपाध्याय ने लिखे हैं और कला के संबंध में जो विचार प्रकट किये हैं, उन्हीं सबका संग्रह इस पुस्तक में हुआ है। कहा जा सकता है लेखक साहित्य को केवल मनोरंजन का साधन नहीं मानता बल्कि समाज के हितों का साधक मानता है। इसी दृष्टि से उन्होंने कवि, नाटककार, कथाकार, आलोचक, चित्रकार, मूर्त्तिकार आदि की समीक्षा करते हुए उनके कार्य-क्षेत्र की व्याख्या की है। इन क्षेत्रों में आनेवाले नवागंतुकों के लिए यह पुस्तक बहुत उपयोगी है।

महाकवि कीट्स का काव्य-लोक : लेखक : यतेन्द्रकुमार; प्रकाशक : आत्माराम एण्ड संज, कश्मीरी गेट, दिल्ली; पृष्ठ-संख्या : ३०२ डिमाई; मूल्य : ७॥) रुपये।

सौंदय और प्रेम के अमर गायक कीट्स के संबंध में अबतक ऐसी कोई पुस्तक उपलब्ध नहीं थी, जो उनके काव्य-लोक के साथ-साथ जीवन-वृत्त के संबंध में संपूर्ण जानकारी दे सके। इस दृष्टि से यह पुस्तक संपूर्ण है। कवि के जीवन के साथ-साथ उनके काव्यलोक और उनकी काव्य-साधना की पूरी जानकारी इसमें दी गई है। उनके अमर पत्र भी इसमें आ गये हैं, जो उन्होंने फेनी ब्राउन तथा अपने समकालीन कवि मित्रों को लिखे हैं। अपने २५ वर्ष के अल्प जीवन में, जब यौवन साधारण मानव के जीवन को झकझोरता हुआ

आता है, कीट्स ने अपनी प्रतिभा का अद्‌भुत विकास पा लिया था। उसका काव्य मानव मात्र के हृदय में सौंदर्य और प्रेम की जैसे जीवंत प्रतिमा बनकर रम जाता है। खलील ज़िब्रान के शब्दों में 'कीट्स ने स्वर्ग के आनंद पर अपना नाम अग्नि के अक्षरों में लिख दिया था।' वह कवि अपने ही हृदय की गहराई की जिस निर्मम साहस के साथ शोध करता है, वह विश्व-साहित्य में बेजोड़ है। उसका दर्द विश्व-मात्र के प्रेम का दर्द है। प्रत्येक साहित्यिक के लिए यह पुस्तक अनिवार्य है, क्योंकि उसके सौंदर्य का सृजन सचमुच ही मानव की अनुपम थाती है। उसके काव्य को पढ़कर यह अनुभव किया जा सकता है कि सुन्दरता की वस्तुएं चिरकाल का आनंद हैं।

मिट्टी की लोथ : लेखक : हरिप्रकाश; प्रकाशक : साहित्य संस्थान, दिल्ली; पृष्ठ-संख्या : १८२; मूल्य : ४ रुपये।

हरिप्रकाश हिंदी साहित्य के क्षेत्र में नवागंतुक हैं। उनकी ११ कहानियों का यह पहला संग्रह उनकी प्रतिभा, साहित्य-साधना, सूक्ष्म दृष्टि, व्यापक अनुभूति और अभिज्ञता का निश्चय ही परिचायक है। ये कहानियां अपने विविध और व्यापक कैनवास के कारण सजग पाठक को विस्मित कर सकती हैं। हरिप्रकाश दुःसाहसी व्यक्ति हैं। खूब घूमे हैं। किसी वाद या विचारधारा से नहीं बंधे हैं। उनकी दिलचस्पी नये लेखक की तरह केवल बौद्धिक नहीं है, इसलिए इन कहानियों में ताजगी है, घुटन नहीं है। संग्रह की पहली कहानी 'मालिक कौन' तथा अन्तिम कहानी 'मिट्टी की लोथ' 'ग्रामीण जीवन को लेकर लिखी गई है। आजकल ग्रामीण कहानियां इसीलिए ग्रामीण होती हैं कि उनमें कुछ आंचलिक शब्दों और मुहावरों का प्रयोग होता है लेकिन ये दोनों कहानियां सचमुच गांव की मिट्टी में से उभरी हैं। इनका सारा वातावरण झड़बेरी और करौंदों की झाड़ियों में झिंगुर की झांय-झांय से गुंजित हैं। भाषा बड़ी सरस, प्रभावमयी और आडम्बर-हीन है। जैसे धरती की कविता हो।

जिस शक्ति के साथ हरिप्रकाश ने ग्रामीण जीवन का चित्रण किया है, उसी शक्ति के साथ उनमें शहर के असफल प्रेम की कथा भी कही है। 'बस का सफर' और 'डब्ल्यू टी' एक दूसरा पृष्ठ खोलनेवाली सफर की कहानियां हैं लेकिन उनमें भी लेखक की सूक्ष्म दृष्टि और मानव-प्रेम की व्यापकता का परिचय मिलता है। विविधता के लिए 'एक दर्द, एक खत'-एक पत्रात्मक कथा भी इस संग्रह में है, पर वह केवल विचार मात्र है।

कुल मिलाकर प्यारी-प्यारी सौंधी गंधवाली भाषा में लिखी गई ये कहानियां कलात्मक अभिव्यक्ति, सहज-स्वाभाविक अनुभूति और गहन मानव सहानुभूति से परिपूर्ण हैं। बार-बार पढ़ने को मन करता है।

—सुशेष

(पृष्ठ ७५ का शेष)

कार्यों तथा कार्यकर्त्ताओं को उन्होंने जो प्रोत्साहन दिया, वह बेमिसाल था। बापू के सान्निध्य में वह अपने जीवन को उत्तरोत्तर ऊर्ध्वगामी बनाने का प्रयत्न करते गये और उन्होंने लोगों के हृदयों में वह स्थान बना लिया, जो एक प्रकार से दूसरों के लिए दुर्लभ था।

गोपालकृष्ण गोखले (१९ फरवरी) भारत के बेजोड़ नेता थे। उनके विषय में गांधीजी ने लिखा है, "सर फिरोजशाह तो मुझे हिमालय जैसे मालूम हुए, लोकमान्य समुद्र की तरह और गोखले गंगा की भांति। . . .राजनैतिक क्षेत्र में गोखलेजी ने जीतेजी जैसा आसन मेरे हृदय में जमाया और जो उनके देहान्त के बाद अब भी जमा हुआ है, वैसा फिर कोई न जमा सका।"

कस्तूरबा (२२ फरवरी) का जीवन नारी-समाज के लिए सदा एक प्रेरणादायक दृष्टान्त रहेगा। अपने व्यक्तित्व को बापू के चरणों में समर्पित करके उन्होंने जो सेवा की, उसकी मिसाल ढूंढ़े भी नहीं मिलेगी।

कमला नेहरू (२८ फरवरी) ने थोड़ी ही उम्र पाई; लेकिन वह स्वयं अपने प्राणों को देकर बता गई कि जीने की कला क्या होती है।

इन सबको हमारे शत-शत प्रणाम। —य०

क्या व कैसे ?

चुनाव के संबंध में सर्व-सेवा-संघ के सुझाव

हमारे देश के स्वतंत्र होने के उपरान्त शासन-संचालन के लिए संसदीय लोकतंत्र-प्रणाली को अपनाया गया है और संविधान के बनने के बाद अबतक दो आम चुनाव हो चुके हैं। तीसरे आम चुनाव इस फरवरी महीने में होने जा रहे हैं। चुनाव की हलचलें आरंभ हो गई हैं और जबतक यह अंक पाठकों के हाथों में पहुंचेगा, सारा देश चुनावों के तूफान का सामना कर रहा होगा।

इसमें संदेह नहीं कि जनतंत्र की बुनियाद जन है और उस प्रणाली की सफलता व्यक्ति की योग्यता पर निर्भर करती है। परन्तु पिछले दो आम चुनावों में हम देख चुके हैं कि किस प्रकार चुनाव के समय विवेक पर पर्दा पड़ जाता है और नैतिकता को तिलांजलि दे दी जाती है। तपे-तपाये नेता भी किसी-न-किसी रूप में नीति की कसौटी पर असफल हो जाते हैं। वे भूल जाते हैं कि गांधीजी ने कहा था कि शुद्ध साध्य के लिए शुद्ध साधनों का भी होना आवश्यक है। लोकमत को शिक्षित करके परिष्कृत करने के बजाय उल्टे-सीधे तरीके से उससे अपना मतलब साधा जाता है और हर तरह की गंदगी को प्रोत्साहन दिया जाता है।

सर्व-सेवा-संघ ने इन चुनावों के संबंध में जो प्रस्ताव स्वीकार किया है, उसमें मतदाताओं से कहा है कि "वे अपने स्वतंत्र विवेक से काम लें और हिंसा, जाति, पंथ, सम्प्रदाय, भाषा आदि की संकीर्ण भावना से प्रभावित होकर अपने वोट या मत का उपयोग न करें। मतदान की पवित्रता का अर्थ यह है कि जो व्यक्ति जीवन के राजनैतिक, सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक आदि महत्वपूर्ण पहलुओं के बारे में प्रतिनिधित्व नहीं करता है, उसे पक्ष, पैसा या अन्य किसी बात के दबाव या आकर्षण में पड़कर मत न देना। यदि ऐसा कोई उम्मीदवार उपलब्ध न हो तो अपना मत किसीको न देना मतदाता का कर्त्तव्य हो जाता है।"

इसके साथ ही राजनैतिक पक्षों को 'सर्व-सेवा-संघ' ने ये सुझाव दिये हैं:

"१. राजनैतिक प्रचार के प्रवाह में दूसरे पक्षों की टीका-टिप्पणी करनी हो, तो उनके नीति-नियम और कार्यक्रम पर प्रमुखतया विचार करना चाहिए। उसी तरह दूसरे पक्षों के नेताओं या कार्यकर्ताओं की टीका-टिप्पणी करते समय उनके सार्वजनिक जीवन से संबंध न रखनेवाले व्यक्तिगत मामलों में असत्य या मिथ्या प्रचार नहीं करना चाहिए।

२. ऐसी कोई बात न की जाय, जिससे जाति-जाति, धर्म-धर्म या वर्ग-वर्ग में द्वेष पैदा हो या उनमें कटुता बढ़े।

३. राजनैतिक पक्षों को चाहिए कि अन्य पक्षों की सभा, जुलूस आदि कार्यक्रमों में बाधा पैदा न करें या दंगा करके उनको अस्त-व्यस्त न करें।

४. चुनाव के बाद एक पक्ष के 'टिकट' पर चुने गए व्यक्ति को बिना अपनी जगह का त्याग-पत्र दिये हर दूसरे पक्ष को चाहिए कि उसे अपने पक्ष में प्रवेश न दें।

५. चुनाव-प्रचार के किसी भी काम में १८ वर्ष से कम उम्रवाले किशोरों का उपयोग न हो, इसका ध्यान रहे।

६. चुनाव के समय पालन योग्य कोई आचार-मर्यादा भंग हो जाय, तो उक्त पार्टी को, स्वयं ही प्रकट कर देना चाहिए तथा उसकी पुनरावृत्ति न हो, ऐसा उसे ध्यान रखना चाहिए।"

हम इन सुझावों का न केवल अभिनंदन करते हैं, अपितु मतदाताओं तथा राजनैतिक दलों से अनुरोध करते हैं कि वे इनके अनुसार अमल करें। चुनाव जीतना जितना महत्वपूर्ण है, उससे भी अधिक महत्वपूर्ण बात है सही व्यक्ति का, सही ढंग से, चुनाव करना। हिसाब के शुरू में दो और दो पांच करके सही परिणाम नहीं पाया जा सकता।

ओह, कितनी विभूतियां चली गईं !

पिछले दिनों कई ऐसे व्यक्ति हमारे बीच से उठ गये हैं, जिन्होंने सेवा के बल पर अपना ऊंचा स्थान बना

लिया था। साहित्य-जगत् की तो अपार क्षति हुई है। सर्वश्री सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला', नलिन विलोचन शर्मा, स्वामी सत्यदेव परिव्राजक, रामनरेश त्रिपाठी, देवव्रत शास्त्री प्रभृति को हिन्दी-जगत् में कौन नहीं जानता ! इन सब महारथियों ने अपने-अपने ढंग पर हिन्दी के भंडार को श्री-सम्पन्न किया था।

शिक्षा के क्षेत्र में नानाभाई भट्ट का गुजरात ही नहीं, सारा देश ऋणी है। अपने गंभीर तथा मौलिक चिन्तन तथा प्रयोगों से उन्होंने बताया कि हमारे देश के लिए किस प्रकार की शिक्षा और शिक्षा-प्रणाली उपयुक्त हो सकती है। उन्होंने उस विषय का बहुत-सा साहित्य भी प्रस्तुत किया।

गणित के विशेषज्ञ और हिंदी के अनन्य प्रमी डॉ० गोरखप्रसाद की सेवाएं सर्वविदित हैं।

साम्यवादी नेता अजय घोष ने अपने दल की कितनी निष्ठापूर्वक सेवा की और अपनी कर्मठता से भारत के राजनैतिक क्षेत्र में कितनी लोकप्रियता प्राप्त की, यह किससे छिपा है !

इन सबके निधन से ऐसी रिक्तता हो गई है, जिसकी पूर्त्ति नहीं हो सकती। वैसे तो जो जन्म लेता है, उसे एक-न-एक दिन जाना ही होता है, लेकिन आज जबकि देश के नव-निर्माण का कार्य हमारे सामने है और उसे सम्पन्न करने के लिए प्रत्येक क्षेत्र में अनुभवी, कर्मठ तथा प्रामाणिक व्यक्तियों की आवश्यकता है, इन तथा ऐसी विभूतियों का अभाव विशेष रूप से अखरता है।

हम इन सब पुण्य-पुरुषों के प्रति अपनी श्रद्धांजलि अर्पित करते हैं और प्रभु से प्रार्थना करते हैं कि उनका जीवन और उनका कार्य वर्तमान पीढ़ी के लिए प्रेरणादायक बने।

'सरस्वती' का 'हीरक-जयंती'-समारोह

व्यक्ति का अभिनंदन करने की परिपाटी हमारे देश में ही नहीं, संसारभर में बहुत समय से चली आती है। अपने महापुरुषों का सभी देश आदर करते हैं और उन्हें सार्वजनिक रूप से अभिनंदन देते हैं। लेकिन बहुत-सी ऐसी मूक वस्तुएं भी हैं, जो व्यक्ति का निर्माण करती हैं और युग-युगान्तर तक मानव-समाज को उच्च संस्कार तथा प्रेरणाएं प्रदान करती हैं। उनके सम्मान की ओर कम ही लोगों का ध्यान जाता है। यह ठीक है कि वे मान-सम्मान की प्रत्यक्ष अभिव्यक्ति की अपेक्षा नहीं रखतीं, फिर भी उनके प्रति कृतज्ञता प्रकट करना हमारा परम कर्त्तव्य है।

कुछ साल पहले श्री जगदीशचन्द्र माथुर ने इस दिशा में महत्वपूर्ण कदम उठाया था। उन्होंने व्यक्ति के अभिनन्दन की प्रचलित प्रथा से भिन्न भारत के एक प्राचीन आध्यात्मिक केन्द्र वैशाली की अभ्यर्थना करते हुए 'वैशाली अभिनंदन ग्रंथ' निकाला था।

इसी प्रकार का एक दूसरा आयोजन 'सरस्वती हीरक-जयंती समारोह' के रूप में हाल ही में हुआ है। राजनीति और पत्रकार-जगत् में स्व० चिन्तामणि घोष के नाम से सारा देश परिचित है। उन्होंने सन् १९०० में हिंदी में उस पत्रिका का श्रीगणेश किया, जिसने अपनी दीर्घकालीन सेवाओं से न केवल हिन्दी-साहित्य की गति-विधि को प्रभावित किया, अपितु उसे शक्तिशाली तथा महिमायुक्त भी बनाया। प्रयाग की यह 'सरस्वती' वास्तव में सरस्वती ही थी। उसके प्रथम सम्पादक-मण्डल में बाबू राधाकृष्ण दास, बाबू कार्त्तिकप्रसाद खत्री, श्री जगन्नाथदास रत्नाकर, श्री किशोरीलाल गोस्वामी और बाबू श्यामसुन्दर दास जैसे साहित्य-महारथी थे। सन् १९०३ में आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी के हाथ में पहुंचकर 'सरस्वती' अपने-आपमें एक संस्था बन गई। अनेक साहित्यकारों की प्रथम रचनाएं इस पत्रिका में प्रकाशित हुई और बहुत-से लेखकों के निर्माण में 'सरस्वती' का महत्वपूर्ण योगदान रहा। द्विवेदीजी के उपरान्त श्री पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी और पं० देवीदत्त शुक्ल ने पुरानी परम्परा को आगे बढ़ाया और अब श्री श्रीनारायण चतुर्वेदी उसके सम्पादन का कार्य कर रहे हैं।

इस प्रकार अपने जन्म से लेकर यह पत्रिका अबतक हिंदी-साहित्य की अनवरत सेवा करती आ रही है। हिंदी में पत्रों का जीवन अधिक स्थायी नहीं होता। ऐसी अवस्था में 'सरस्वती' का दीर्घायु होना निस्संदेह बहुत बड़ी बात है।

श्री श्रीनारायण चतुर्वेदी अपनी कर्मठता तथा सूझबूझ के लिए साहित्य-जगत् में विख्यात हैं। 'सरस्वती' के हीरक-जयंती समारोह की योजना का श्रेय मुख्य रूप से इन्हींको है। इस अवसर पर उन्होंने कुछ ऐसे कार्य किये, जिनका स्थायी महत्व होगा। उन्होंने 'सरस्वती' का विशाल विशेषांक निकाला, जिसमें मौलिक लेखों के साथ-साथ बहुत-सी ऐसी

रचनाएं भी दी हैं, जो सुविख्यात लेखकों की पहली रचनाएं हैं और 'सरस्वती' में निकली थीं। इसी प्रकार 'सरस्वती' के पुराने अंकों में से कुछ चुनी हुई कला-कृतियां भी दी गई हैं। इस विशेषांक की पहली प्रति राष्ट्रपति-भवन, नई दिल्ली में ३१ दिसम्बर १९६१ को राष्ट्रपति को भेंट की गई थी।

इसके अतिरिक्त इलाहाबाद में आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी की कांस्य प्रतिमा प्रतिष्ठित की गई और उसका अनावरण राष्ट्रकवि श्री मैथिलीशरण गुप्त ने ११ जनवरी १९६२ को किया। उन्हींके हाथों, उसी अवसर पर, स्व० चिन्तामणि घोष तथा स्व० श्यामसुन्दर दास के चित्रों का भी अनावरण हुआ।

जिन साहित्यकारों ने 'सरस्वती' के प्रारंभिक २० वर्षों में उसकी सेवा की थी, उनमें से जीवित कतिपय साहित्य-कारों का एक दुशाला, विशेषांक की एक प्रति, एक फाउंटेन पेन आदि से मान करना समारोह का प्रमुख अंग था। उस अवसर पर सर्वश्री गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी, वियोगी हरि, दिवेकरजी, कानखोजेजी, रामनरेश त्रिपाठी, हरिभाऊ उपाध्याय, मैथिलीशरण गुप्त, देवीदत्त शुक्ल, जी० एस० पथिक, प्रभृति की उपस्थिति ने दर्शकों के हृदय को गद्गद् कर दिया।

इस दूरदर्शितापूर्ण आयोजन के लिए हम उसके संयोजकों को साधुवाद देते हुए आशा करते हैं कि हिंदी में इस परम्परा को आगे बढ़ाया जायगा और व्यक्तियों के साथ उन संस्थाओं को मान दिया जायगा, जो व्यक्ति से भी बड़ी हैं और जिनके पास अपनी बात कहने के लिए स्थूल जिह्वा नहीं है।

महामना मालवीयजी को श्रद्धांजलि

पिछले दिनों हमारे देश में कई जयंती-शताब्दियों की धूमधाम रही है। उनमें कुछ तो विदेशी साहित्यकारों की थीं, जैसे ताल्सताय तथा चेखव की और कुछ भारतीय महापुरुषों की। रवीन्द्रनाथ ठाकुर को भारत में ही नहीं, सारे संसार में लोग असामान्य आदर की दृष्टि से देखते हैं। उन्होंने न केवल भारतीय संस्कृति की ही प्रतिष्ठा की, अपितु अपनी कृतियों द्वारा उन आदर्शों को विश्व के सामने रक्खा, जिनपर चलकर मानव-जाति स्थायी सुख और शांति प्राप्त कर सकती है।

महामना मालवीय की जन्म-शताब्दी सारे देश में मनाई गई। मालवीयजी ने विविध क्षेत्रों में जो सेवा की, वह भारत के इतिहास में चिर-स्मरणीय रहेगी। राजनीति, शिक्षा, समाज, साहित्य आदि का कोई भी क्षेत्र ऐसा नहीं था, जो उनकी सेवाओं से अछूता रहा हो। 'काशी विश्वविद्यालय' के रूप में उनकी महान् देन तो उनकी कीर्त्ति-पताका को युगों-युगों तक ऊंचा करती रहेगी।

मालवीयजी का जीवन धर्म की बुनियाद पर निर्मित था, उसीको वह भारत की राष्ट्रीयता और शिक्षा की आधार-शिला बनाना चाहते थे। उसके लिए उन्होंने भगीरथ प्रयत्न भी किया। उनके विश्वविद्यालय ने ऐसे अनेक व्यक्तियों का निर्माण किया, जो आज जिम्मेदारी के पदों पर आसीन हैं और जिनके सामने भारतीय संस्कृति का उच्चादर्श है।

मालवीयजी की जयंती-शताब्दी यों जगह-जगह मनाई गई; लेकिन हमें यह देखकर बड़ी निराशा हुई कि उनकी सेवाओं के अनुरूप कोई भी स्थायी कार्य नहीं किया गया। किसी भी महापुरुष का नाम ले लेना, बड़े-बड़े शब्दों में उनकी प्रशंसा कर देना ही पर्याप्त नहीं है। उनके प्रति सच्ची श्रद्धांजलि तो उनके कार्य को आगे बढ़ाकर ही अर्पित की जा सकती है।

हम महामना मालवीयजी के प्रति अपनी हार्दिक श्रद्धांजलि अर्पित करते हुए देशवासियों से अनुरोध करते हैं कि वे मालवीयजी द्वारा प्रतिष्ठित आदर्शों को सामने रक्खें और अपने देश का नव-निर्माण इस प्रकार करें कि भारत की भारतीयता बनी रहे और वह विश्व को अपनी सांस्कृतिक देन प्राचीन काल की भांति देता रहे।

पुण्य-स्मरण

इस मास के साथ हमारे देश की कई विभूतियों के विछोह की दुखद स्मृति जुड़ी हुई है। पं० मोतीलाल नेहरू (६ फरवरी) महान् पुत्र के न केवल पिता थे, अपितु वह स्वयं भी भारत के स्वातंत्र्य-संग्राम के अद्वितीय सेनानी थे। उनकी-सी तेजस्विता, निर्भीकता और त्याग कम ही लोगों में मिलता है।

स्व० जमनालाल बजाज (११ फरवरी) तो अपनी सेवाओं के बलपर बापू के पांचवें पुत्र बन गये थे। रचनात्मक

(शेष पृष्ठ ७२ पर)

'मंडल' की ओर से

हमारी अल्पमोली पुस्तक-माला

'मंडल' से अबतक जितनी पुस्तक-मालाएं निकली हैं, वे सब बहुत ही उपयोगी तथा संग्रहणीय हैं, लेकिन हम उनमें से अल्पमोली-माला की पुस्तकों की ओर पाठकों का ध्यान विशेष रूप से आकृष्ट करना चाहते हैं। पाठकों को पता ही है कि इस माला का श्रीगणेश एक विशेष उद्देश्य से किया गया है। हम चाहते हैं कि कुछ ऐसी पुस्तकें, जो सर्व-साधारण के लिए बहुत काम की हों, विशेष रूप से सस्ते मूल्य में निकाली जायं, जिससे मामूली हैसियत के लोग भी उन्हें खरीद सकें। अबतक इस माला में निम्नलिखित पुस्तकें निकल चुकी हैं :

जीवनी-संस्मरण

१. इंगलैण्ड में गांधीजी	महादेव देसाई	१.२५
२. गांधी की कहानी	लुई फिशर	१.५०
३. कोई शिकायत नहीं	कृष्णा हठीसिंग	१.५०
४. इतिहास के महापुरुष	जवाहरलाल नेहरू	१.५०
५. बापू की कारावास-कहानी	सुशीला नैयर	२.५०
६. सूफ़ी संत-चरित	भगवान	१.५०

विचार-साहित्य

१. सर्वोदय-संदेश	विनोबा	१.५०
२. संघर्ष नहीं, सहयोग	क्रोपॉटकिन	२.००
३. प्राकृतिक जीवन की ओर	जस्ट	१.५०

सुभाषित और काव्य

१. आंसू और मुस्कान	खलील जिब्रान	१.००
२. अमृत की बूंदें	संकलन	१.००
३. सूक्ति-रत्नावली	संकलन	१.५०

इतिहास

१. अठारहसौ सत्तावन	हर्डीकर	१.२५
२. भारत-विभाजन की कहानी	जान्सन	१.५०

कथा-कहानी-उपन्यास

१. दशरथ-नंदन श्रीराम	राजाजी	२.५०
२. तूफ़ान और ज्योति	सुमति धनवटे	१.५०
३. खंडित पूजा	विष्णु प्रभाकर	१.५०
४. रेबेका	दाफ्न द्यू मोरिये	२.००
५. सिपाही की बीवी	मामा वरेरकर	१.५०
६. अनोखा	विक्टर ह्यूगो	२.५०

यात्रा

१. रूस में छियालीस दिन	यशपाल जैन	१.५०
२. यूरोप यात्रा	विट्ठलदास मोदी	१.५०

इनके अतिरिक्त कई पुस्तकें प्रेस में हैं।

कहने की आवश्यकता नहीं कि ये सभी पुस्तकें न केवल सुपाठ्य एवं सुरुचिपूर्ण हैं, अपितु विचार-प्रेरक भी हैं। सबकी छपाई बहुत ही साफ-सुथरी है और आवरण सादा पर आकर्षक है।

पाठकों से हमारा अनुरोध है कि वे इनसब पुस्तकों को मंगाकर पढ़ें और अपने संबंधियों तथा मित्रों से खरीदने का अनुरोध करें। इतना उत्तम साहित्य, इतने सस्ते मूल्य में अन्यत्र नहीं मिलेगा।

—मंत्री

जल्दी से
जल्दी
डाक छांटने और बांटने का काम जल्दी से जल्दी करने के लिए बड़े-बड़े शहरों को डाक वितरण क्षेत्रों या जोनों में बांट दिया गया है। यदि आप अपनी चिट्ठियों पर पता पूरा लिखने के साथ ही ज़ोन नम्बर भी लिखा करें, तो आपकी डाक बहुत शीघ्र पहुंचेगी।
आप स्वयं पत्र लिखते समय अपने पते में ज़ोन नम्बर लिखना न भूलें।
ज़ोन
नम्बर

इन पुस्तिकाओं की सहायता से अपनी जीविका का ठीक चुनाव कीजिए

कृषि अधिकारी
सलोतरी
फारेस्ट रेंजर
विमान इंजीनियर
खनन इंजीनियर
रासायनिक उद्योगविद्
भू-वैज्ञानिक
धातु-वैज्ञानिक
औज़ार कारीगर
वाष्पित्र परिचर
औज़ार निर्माता
मिलर (मैटल)
वातानुकूलन तथा प्रशीतन यांत्रिक
मशीनमैन (प्रिण्टिंग)
चिकित्सक
दांत का डाक्टर
नर्स
समाज शिक्षा आयोजक
व्यायाम शिक्षक
शिल्प शिक्षक
लेखाकार (एकाउण्टेण्ट)
जीवन बीमा एजेण्ट
सांख्यकीविद्
सामुदायिक विकास योजनाओं में व्यावसायिक अवसर
आफ्टर इण्टर साइन्स ह्वाट ?

इस से अधिक महत्वपूर्ण और क्या बात हो सकती है कि आप अपने लिए ऐसी जीविका चुनें जो आपकी प्रतिभा के अनुकूल हो और जिसमें आप निरन्तर प्रगति कर सकें।

अंग्रेजी या हिन्दी में ये पुस्तिकाएं प्राप्त करने के स्थान

रोजगार दफ्तर और
सरकारी पुस्तक विक्रेता

रोजगार और प्रशिक्षण महानिदेशालय

भारत सरकार

DA 61/587

हमारे नवीन प्रकाशन

कुछ पुरानी चिट्ठियां	जवाहरलाल नेहरू	१०.००
खंडित पूजा (कहानियां)	विष्णु प्रभाकर	३.००
पुष्पोद्यान	शंकरराव जोशी	३.००
'कहिये समय विचारि'	लक्ष्मीनिवास बिड़ला	१.००
जानवरों का जगत	सुरेशसिंह	२.००
विनोबा के जंगम विद्यापीठ में	कुंदर दिवाण	२.५०
शारदीया (नाटक)	जगदीशचंद्र माथुर	१.५०
सर्वोदय-संदेश	विनोबा	१.५०
पत्र-व्यवहार भाग ३	संपा० रामकृष्ण बजाज	३.००
जड़ जगत की कहानियां	नंदलाल जैन	२.००
भा० स्वाधीनता-संग्राम का इतिहास	इन्द्र विद्यावाचस्पति	५.५०
प्राकृतिक जीवन की ओर	एडोल्फ जस्ट	१.५०
आधुनिक सहकारिता	विद्यासागर शर्मा	२.००
कर भला, होगा भला	भगवानचन्द्र 'विनोद'	१.५०
बरगद की छाया	देवराज दिनेश	२.५०
नवीन चिकित्सा	महावीरप्रसाद पोद्दार	१.५०
गांधीवादी संयोजन के सिद्धान्त	श्रीमन्नारायण	५.००
सूफ़ी संत-चरित	महात्मा भगवान	३.००
सरल योगासन	धर्मचंद सरावगी	२.५०
आज का इंग्लिस्तान	मुकुटबिहारी वर्मा	२.००
बालकों का पालन-पोषण	डॉ० आचार	२.५०
यूरोप-यात्रा	विट्ठलदास मोदी	१.५०
रेबेका	दाफ़्न द्यू मोरिये	५.००
सिपाही की बीवी	मामा वरेरकर	२.५०
प्रतिज्ञा यौगंधरायण (कथासार)	भास	०.४०
अनोखा	विक्टर ह्यूगो	२.५०
दिव्य जीवन	स्वेट मार्डेन	१.५०
व्यवहार और सभ्यता	गणेशदत्त शर्मा	१.५०
संघर्ष नहीं, सहयोग	क्रोपाटकिन	२.००
अतलांतिक के उस पार	रामकृष्ण बजाज	२.५०
सूक्ति-रत्नावली	संपादक-आनंदकुमार	१.५०
नीरोग होने का सच्चा उपाय	ट्राल	१.००
गुरुदेव और उनका आश्रम	शिवानी	१.००
संतों का वचनामृत	रं. रा. दिवाकर	६.००
पुरंदरदास के भजन	कुमठेकर	३.५०
बोधि-वृक्ष की छाया में	भरतसिंह उपाध्याय	२.५०
सेतुबंध	बनारसीदास चतुर्वेदी	२.००

समाज-विकास-माला

प्रत्येक का मूल्य ०.३७ न. पै.

१३१. बाल गंगाधर तिलक, १३२. लाल किला, १३३. रवींद्रनाथ ठाकुर, १३४. कुदरत की मिठाइयां, १३५. संत एकनाथ, १३६. मछेरा और देव, १३७. लाला लाजपतराय, १३८. एवरेस्ट की कहानी, १३९. गणेशशंकर विद्यार्थी, १४०. चतुराई की कहानियां, १४१. शेरे पंजाब, १४२. वसीयत, १४३. अर्जीज़न, १४४. गोलकुंडा का किला, १४५. मिर्ज़ा ग़ालिब, १४६. अजंता-एलोरा, १४७. हमारा हिमालय, १४८. हारिये न हिम्मत, १४९. गोमुख, १५०. गांधीजी के आश्रम-१, १५१. गांधीजी के आश्रम-२,

शीघ्र छप रही हैं

भारतीय दर्शन-सार	बलदेव उपाध्याय
बाल राम-कथा	सुदक्षिणा
धरती के देवता	खलील जिब्रान
रूसी युवकों के बीच	रामकृष्ण बजाज
आओ, विमान चलायें	
आकृति से रोग की पहचान	लुई कूने
अफ्रीका जागा	प्रे० एन्क्रूमा की आत्मकथा
कीड़े-मकोड़े	सुरेशसिंह
विनोबा के पत्र	संपा० रामकृष्ण बजाज

पुनर्मुद्रण

आत्म-रहस्य	रतनलाल जैन	३.५०
हमारे गांव की कहानी	रामदास गौड़	२.००
जीवन-प्रभात	प्रभुदास गांधी	५.००

सस्ता साहित्य मंडल, नई दिल्ली।

रजिस्टर्ड
नं० डी-२२८

मार्तण्ड उपाध्याय, मंत्री, सस्ता साहित्य मंडल, नई दिल्ली द्वारा न्यू इण्डिया प्रेस, नई दिल्ली में छपवाकर प्रकाशित।

जीवन साहित्य

सत्साहित्य प्रकाशन

अमर शहीद गणेशशंकर विद्यार्थी

वर्ष २३ : अंक ३

सम्पादक
हरिभाऊ उपाध्याय
यशपाल जैन

अहिंसक नवरचना का मासिक

जीवन-साहित्य

मार्च, १९६२

विषय-सूची

आवश्यक

जिन ग्राहकों का वार्षिक शुल्क दिसम्बर अंक से समाप्त हो गया हो, वे आगे का शुल्क मनीआर्डर से भेज देने की कृपा करें। मनीआर्डर न मिलने पर वी० पी० भेजी जाय तो उसे अवश्य छुड़ा लें।

निवेदन

पाठकों से

- 'जीवन-साहित्य' का परिवार काफी फैला हुआ है, फिर भी इसके अधिक विस्तार की आवश्यकता है।
- अपने क्षेत्र में आप कृपया इसके प्रचार और प्रसार में सहायक हों, उसकी चर्चा अपने मित्रों और संबंधियों में करें और उन्हें ग्राहक बनने की प्रेरणा दें।
- आपके यहां की कोई भी शिक्षा-संस्था और पुस्तकालय ऐसा नहीं रहना चाहिए, जिसमें 'जीवन-साहित्य' न जाता हो।
- कुछ ऐसे व्यक्तियों तथा संस्थाओं के नाम और पते भी भेजें, जिनसे ग्राहक बनने का हम लोग अनुरोध कर सकें।

लेखकों से

- 'जीवन-साहित्य' के लिए आप समय-समय पर पत्र की नीति के अनुसार किसी लोकोपयोगी विषय पर रचना भेज सकते हैं, लेकिन रचना बड़ी न हो, कागज के एक ओर साफ़-साफ़ अक्षरों में लिखी गई हो। उसके अंत में अपना पता अवश्य दें।
- रचना की प्रतिलिपि अपने पास रक्खें। यदि रचना भेजने के महीने भर के भीतर कोई उत्तर न मिले तो उसका उपयोग अन्यत्र कर सकते हैं। अस्वीकृत होने पर रचना वापस चाहते हों, तो उसके साथ आवश्यक डाक-टिकट भेजें।

विज्ञापन-दाताओं से

- पत्र में हम लोग चुने हुए विज्ञापन देने लगे हैं। आप अपने क्षेत्र से कुछ विज्ञापन भेजने और भिजवाने की कृपा करें।
- इतना ध्यान रक्खें कि विज्ञापन गांधी-विचार-धारा के प्रतिकूल न हों।
- पत्र प्रतिमास की ९ तारीख को निकल जाता है, अतः विज्ञापन पिछले मास की २० तारीख तक आ जाना चाहिए।

व्यवस्थापक

जीवन-साहित्य

सस्ता साहित्य मंडल, नई दिल्ली।

उत्तरप्रदेश, राजस्थान, मध्यप्रदेश, हिमाचल प्रदेश, दिल्ली, बिहार तथा पंजाब राज्य-सरकारों द्वारा कालेजों, लाइब्रेरियों तथा उत्तरप्रदेश की ग्राम-पंचायतों के लिए स्वीकृत

वर्ष २३
अंक ३

मार्च, १९६२

मालिक नहीं, सेवक बनें

विनोबा

शंकरदेव असम के प्रेरणा-स्रोत थे। जो भी चीज आप यहां लेंगे, उसका मूल वहांतक पहुंचेगा ही। साहित्यिक साहित्य की चर्चा करगे तो शंकरदेव के साहित्य तक पहुंचेंगे, समाज-सेवक समाज-सेवा की बात करेंगे तो शंकरदेव की प्रेरणा से करेंगे। धार्मिक चर्चा में तो वह आयेंगे ही। लगभग हर चर्चा में वह आयंगे। नाटक की चर्चा में भी उनका नाम आयगा, क्योंकि उन्होंने नाटक भी लिखा था। वह ऐसे पुरुष थे कि उन्होंने जीवन की हर शाखा में कुछ-न-कुछ लिखा।

फिर भी एक बात याद रखनी चाहिए। महापुरुषों के जो गुण होते हैं, वे कभी-कभी उनके मूल स्वरूप को ढंक देते हैं। शेक्सपियर की चर्चा चलेगी, तो उनके साहित्य के बारे में होगी। शंकरदेव के बारे में भी साहित्यिक उनको साहित्यिक समझकर उनके साहित्य की चर्चा करेंगे। यह मैं उनका दुर्दैव मानता हूं, हालांकि मैं किसी साहित्यिक को ऐसी चर्चा से रोकूंगा नहीं। स्कूल में प्रतियोगिता चलेगी कि शंकरदेव की जन्मतिथि पर कौन सबसे अच्छा निबंध लिखता है। कहीं शंकरदेव का नाटक खेलेंगे। कवि-सम्मेलन होगा तो उसमें भी शंकरदेव के साहित्य की चर्चा होगी। इसे मैं शंकरदेव का दुर्दैव ही मानता हूं। हम अगर उनके साहित्य के बारे में ही सोचेंगे तो उनका लाभ हमें नहीं मिलेगा। इस दृष्टि से सबसे भाग्यवान नंबर एक निकले तो वह मुहम्मद पैगंबर। उनकी चर्चा में उनको साहित्यिक समझकर चर्चा नहीं होगी। वह साहित्यिक नहीं थे, क्योंकि वह न पढ़ना जानते थे, न लिखना। इसलिए वह बच गये। लेकिन उनका भी एक अन्य दुर्दैव था। वह राज्य-संस्थापक होगये। इसलिए राजनीतिज्ञ चर्चा करेंगे तो उनकी भी चर्चा करेंगे। एक राजनीतिज्ञ के नाते और एक योद्धा के नाते उनकी चर्चा होती है।

जिनकी ऐसी चर्चा नहीं चलती है—न साहित्यिक के नाते, न राजनीतिज्ञ के नाते—ऐसे भाग्यवान भारत में हो गये गौतम बुद्ध! वह थे विद्वान्, लेकिन उन्होंने लिखा नहीं। इसलिए साहित्यिक उनकी चर्चा नहीं करते। वह राज्य छोड़-

कर चले गए, इसलिए उनकी राजनीति के बारे में चर्चा नहीं होगी। उनके जन्म-दिन पर ऐसी कोई चर्चा नहीं चलेगी, शुद्ध धर्म-चर्चा ही चलेगी।

यह भाग्य शंकरदेव को हासिल नहीं है। इसलिए उनके बारे में विविध चर्चा चलेगी और लोग उसमें विविध रस लेंगे।

महापुरुषों की महानता का माप मैं उनके साहित्य से नहीं करूंगा। उन लोगों ने जो साहित्य लिखा है, वह उस वक्त की परिस्थिति के परिणाम से लिखा है। उसमें उनका सर्वस्व नहीं होता है। वह सर्वस्व उनके हृदय में होता है, उनके सद्‌गुणों में प्रकट होता है। महापुरुषों की दया, वात्सल्य, करुणा, सत्यनिष्ठा, ये गुण हमें लेने होते हैं।

पर उसके बदले में उनके साहित्य और काम की तरफ ही हमारा ध्यान जाता है। आपने आम देखा, उसके रंग और रूप की बखान की, रस निचोड़कर कटोरी में रखा। कितना सुन्दर रस है! वह सब किया, लेकिन खाया नहीं तो आपने क्या किया? जो अक्लवाला होगा, वह रंग-रूप में नहीं पड़ेगा, चखना आरंभ कर देगा। ये साहित्यिक शंकरदेव को चख नहीं सकते। ये उनका रंग-रूप, याने साहित्य ही देखते रहेंगे। समाज-सेवक उनके काम के बारे में चर्चा करेंगे, लेकिन उनका रस उसमें नहीं है। उनकी परमेश्वर पर श्रद्धा थी, उसमें उनका रस है। उनका सर्वस्व परमेश्वर में उनकी जो श्रद्धा है, वह है।

आज के दिन हम जरा सोचें कि हम शंकरदेव जैसे ही मानव हैं। भगवान् ने उन्हें जो चीज दी थी वही हमें दी। कोई कमी नहीं है। इसलिए उनमें जो निष्ठा थी, वह हममें हो सकती है। लोग समझते हैं कि शंकरदेव तो महापुरुष थे, हर मनुष्य थोड़े ही महापुरुष हो सकता है? मैंने इसपर हिम्मत से लिखा है। मैंने लिखा है कि हर मनुष्य स्थितप्रज्ञ हो सकता है, हालांकि हरेक मनुष्य राष्ट्रपति या गामा पहलवान नहीं हो सकता। कहते हैं कि शंकरदेव ने हाथी को नमाया था हम या आप हाथी को नमा नहीं सकेंगे। लेकिन आप और हम चाहें तो उनके जैसे निष्कलंक बन सकते हैं। यह बहुत आसान है। सिर्फ हम जो करते हैं, वह न करने की बात है। हम क्रोध करते हैं, हाथ भी उठाते हैं, पत्थर भी फेंक देते हैं। इस तरह गुस्सा करने में बहुत शक्ति खर्च होती है। इस सबसे आप बचें, याने यह कुछ करना नहीं। आप और हम झूठ बोला करते हैं। इससे छिपाओ, उससे छिपाओ, इसके कान में यह बात न पहुंचे, उसके कान में वह बात न पहुंचे! पर किसीने कहा कि 'सत्य बोलो', तो कुछ करना ही नहीं पड़ेगा। याने सच्चे 'आलसी' बन जाइये। किसीसे गुस्सा मत करो, यह बात आलसी को भी सधेगी, क्योंकि इसमें न करने की ही बात है।

यहां तो सब करने की ही बात है। रावण ने कामवासना रखी तो कितनी तकलीफ भोगनी पड़ी! चार साल का बच्चा कामवासना नहीं रखता। जो चीज चार साल के बच्चे को भी सधी है, वह हमें नहीं सधेगी? अगर मन में द्वेष हो तो रात में अच्छी नींद नहीं आयेगी। द्वेष करते हैं तो उसका नुकसान कैसे करना, यह सारा सोचना पड़ेगा। इसलिए घंटों नींद नहीं आयगी। किसीका मत्सर, द्वेष मत करो तो आनंद-ही-आनंद रहेगा और रात में आठ बजे आराम से सो जाइये। यह तो बिलकुल आलसी को भी सध सकता है। इससे मनुष्य शांति पायेगा।

इसलिए हम भगवान् से ऐसी प्रार्थना करें कि हे भगवान्, हम ऐसा पुरुषार्थ करेंगे कि अगले जनम सब करें, याने न करने लायक कुछ न करें। ऐसी प्रेरणा आज मिले तो शंकरदेव का जन्म-दिन सार्थक है। नहीं तो उनका साहित्य कैसा है, उनमें वीर रस, शृंगार रस कैसा है, इस चर्चा में से हमें कोई लाभ नहीं होगा!

असम में आने के बाद एक सभा में मैंने कहा था कि असम मेरे पिता की जायदाद है। हां, मैंने यह महसूस किया कि यह मेरा ही घर है। शंकरदेव मेरे बाप हैं और मैं उनका बेटा हूं। हम सब ऐसे महापुरुषों की संतान हैं, यह हम पहचानें और उसके लायक हम बरतें तो उनका आशीर्वाद हमें हासिल होगा। भगवान् और महापुरुष, दोनों मदद के लिए तैयार रहते हैं। लेकिन हम काम ही ऐसा करते हैं कि उनकी मदद लेते ही नहीं, याने ऐसा काम करते हैं कि जिसमें शंकरदेव की मदद की जरूरत ही नहीं है। अगर आप मदद लेंगे तो वह तैयार हैं। आपके आगे रहेंगे, पीछे रहेंगे, ऐसा प्रकाश देंगे कि हम गिरेंगे नहीं।

यही राजमार्ग हम आपके सामने रख रहे हैं कि अपने सुख

(शेष पृष्ठ ८५ पर)

हमारी धरोहर

●● सुशील

(५)

प्राचीन काल में वाराणसी में राजा ब्रह्मदत्त राज्य करते थे। उस समय बोधिसत्व विसयह नाम के सेठ हुए। वह बहुत धनी थे, साथ ही दानी और पाँच शीलों का पालन करनेवाले भी थे। उन्होंने नगर के चारों ओर दरवाजों पर, नगर के बीच में और अपने दरवाजे पर भी दान देने के लिए दानशालाएं बनवा रखी थीं। प्रतिदिन ६ लाख मोहरों का खर्च होता था। सारे जम्बू द्वीप में उनकी चर्चा थी। उनकी यश गाथा सुनते-सुनते एक दिन शक्र का सिंहासन भी डोल उठा! वह सोचने लगा, "यह कौन है, जो मुझे मेरे पद से गिराना चाहता है।"

उसने ध्यान लगाया तो मालूम हुआ कि वह विसय्ह नाम का सेठ है। उसके दान की सारे जम्बू द्वीप में चर्चा हो रही है। हो सकता है कि अपने दान के प्रताप से मुझे सिंहासन से हटाकर वह स्वयं शक्र बन जाय। मैं उसके धन का नाश करके इसे दरिद्र बना दूंगा। तब वह दान नहीं कर सकेगा।

और उसने ऐसा ही किया। सब धन-धान्य, तेल, मधु शक्कर, स्त्रियां, नौकर-चाकर सबको उसने अपने मंत्र-बल से अन्तर्ध्यान कर दिया। दान का प्रबंध करनेवालों ने सेठ से आकर कहा, "स्वामी, दानशालाएं खाली हो गई हैं। जहां जो-कुछ रखा हुआ था, वहां वह दिखाई नहीं देता। न जाने सारी सामग्री कहां चली गई?"

सेठ ने उत्तर दिया, "दान देना मत रोको। धन यहां से ले जाओ। उससे और सामग्री खरीद लो, पर दान नहीं रुकना चाहिए।"

और उसने अपनी पत्नी को बुलाया। बोला, "भद्रे, दान चालू कराओ। इन्हें धन दो।"

पत्नी ने सारा घर खोज डाला, लेकिन कहीं भी उसे कुछ दिखाई नहीं दिया। आकर बोली, "आर्य, हम जो वस्त्र पहने हुए हैं, उनको छोड़कर हमारे घर में अब कुछ नहीं रहा। रत्नों से भरे जो सात कोठे थे उनको खोलकर देखा तो वहां भी कुछ दिखाई नहीं दिया।"

सचमुच यही बात थी। सेठ और उसकी पत्नी को छोड़कर नौकर-चाकर तक गायब हो गये थे। सेठ ने फिर अपनी पत्नी से कहा, "भद्रे, कुछ भी हो, दान बन्द नहीं किया जा सकता। फिर खोजो। कुछ-न-कुछ तो निकलना ही चाहिए। कहीं कुछ छिपा पड़ा होगा।"

उसी समय ऐसा हुआ कि एक घसियारा दरांती, बहंगी और घास बांधने की रस्सी दरवाजे के अंदर फेंककर भाग गया। पत्नी ने उन्हींको उठाकर सेठ को दे दिया और कहा, "स्वामी, इनके अतिरिक्त घर में अब कुछ नहीं है।"

सेठ ने उत्तर दिया, "भद्रे, अब से पहले मैंने कभी घास नहीं काटी, लेकिन मैं आज घास काटने जाऊंगा और उसे बेचकर दान करूंगा।"

दान देना बंद न हो जाय, इस डर से वह दरांती, बहंगी और रस्सी लेकर नगर से निकला और वहा पहुंचा जहां घास थी। बेचारे सेठ घास खोदना क्या जाने, पर उन्होंने बिना किसी संकोच के काम शुरू कर दिया और धीरे-धीरे घास छीलकर उसने दो ढेरियां बांधीं। फिर उन्हें बहंगी पर रखकर नगर में बेचने ले गया। मन-ही-मन सोचा कि जो धन मुझे मिलेगा, उसका एक भाग दान करूंगा और दूसरे भाग से अपना काम चलाऊंगा।

उसने ऐसा ही किया। जो धन मिला, उसका एक भाग उसने याचकों में बांट दिया। याचक बहुत थे। "मुझे भी दो, मुझे भी दो", कहकर चिल्लाने लगे। यह देखकर उसने दूसरा भाग भी बांट दिया और अपनी पत्नीसहित उस दिन वह निराहार ही रहा। इस प्रकार करते-करते छः दिन बीत गये। सातवें दिन जब वह घास लेकर आ रहा था तो निराहार रहने के कारण धूप में उसकी आंखें चकरा गईं। देखने में असमर्थ वह वहीं गिर पड़ा। घास चारों ओर बिखर गई। शक्र सब-कुछ देखता हुआ घूम रहा था। आकाश में खड़े होकर उसने कहा, "विसयह, तूने पूर्व समय में बहुत दान दिया है। दान देते-देते तेरा सभी धन खर्च हो गया। यदि तू भविष्य में दान न देने की प्रतिज्ञा करे तो मैं तेरा सब धन तुझे लौटा दूंगा।"

सेठ ने बात सुनी। फिर आंखें खोलकर पूछा, "तू कौन है?"

शक्र ने उत्तर दिया, "मैं शक्र हूं।"

सेठ बोला, "तू शक्र है! शक्र तो स्वयं दान देकर, शील का पालन कर, उपोसथ कर्म कर, सात व्रत पूरे कर, शक्रत्व को प्राप्त हुआ है, लेकिन तू जो दान को रोक रहा है, यह अनार्य कृत्य है। मैं दान देना बन्द नहीं कर सकता।"

शक्र जब उसे दान देने से न रोक सका तो उसने पूछा, "तू किसलिए दान देता है?"

सेठ ने उत्तर दिया, "मुझे न तो शक्रत्व की इच्छा है, न ब्रह्मत्व की। मैं तो सर्वज्ञता के लिए दान देता हूं।"

शक्र ने यह सुना तो वह बहुत प्रसन्न हुआ। उसने सेठ की पीठ पर हाथ फेरा। देखते-देखते बोधिसत्व का शरीर पहले की भांति हो गया, जैसे उसने उपवास किया ही न हो। यही नहीं शक्र ने उसका सारा धन भी लौटा दिया। और अपने पास से और भी अपरिमित धन दिया और फिर अपने लोक को लौटते हुए उसने कहा, "हे महासेठ, अब तू प्रतिदिन बारह-बारह लाख का दान दे सकता है।"

(६)

राजा अम्बरीष सूर्य वंश के राजा त्रिशंकु के पुत्र थे। उनके विषय में यह प्रसिद्ध है कि वह जिस प्रकार राज्य-शासन के कार्य में वह दक्ष थे, उसी प्रकार आध्यात्मिक जीवन में भी उन्हें यश प्राप्त था। धीरे-धीरे उन्होंने अपने शासन को उत्तम और आदर्श बना दिया। उसके बाद उन्होंने राज्य को मंत्रियों को सौंप दिया और स्वयं यज्ञ और स्वाध्याय के कार्य में लगे रहने लगे। वह सच्चे त्यागी पुरुष थे, इसलिए इतना करके ही संतुष्ट नहीं हुए। एक दिन सबकुछ छोड़कर वन में चले गए और घोर तपस्या करने लगे।

उनकी तपस्या की कोई सीमा नहीं थी। वह इतनी कठोर थी कि सुननेवाले भी कांप-कांप उठते थे। उनकी एसी निष्ठा देखकर स्वयं भगवान् उनके पास आये। लेकिन इससे पहले उन्होंने राजा की परीक्षा लेने के लिए इन्द्र का रूप धारण किया और बार-बार वर मांगने के लिए कहने लगे। परंतु अम्बरीष तो अम्बरीष थे। उन्होंने देवराज से स्पष्ट शब्दों में कहा, "देवराज, आप मुझे प्रलोभन मत दीजिये। मैंने किसी वर के लिए नहीं, भगवान् की प्राप्ति के लिए तपस्या की है। उनके दर्शन किये बिना मैं कुछ नहीं कर सकता।"

तब भगवान् अपने रूप में प्रकट हुए और बोले, "वत्स अम्बरीष, मैंने ही तुम्हारी परीक्षा लेने के लिए इन्द्र का रूप धारण किया था। अब तुम निस्संकोच वर मांग लो।"

अम्बरीष बहुत प्रसन्न हुए। बोले, "भगवन्, आपके दर्शन कर लिये, अब मांगने को और क्या रह जाता है। फिर भी मेरी एक यही आकांक्षा है कि सारे संसार में वैष्णव भावना का प्रचार हो।"

भगवान् बोले, "ऐसा ही होगा। इसके अतिरिक्त मैं तुम्हें यह भी वर देता हूं कि मेरा सुदर्शन चक्र सदा तुम्हारी रक्षा करेगा।"

यह वर पाकर अम्बरीष फिर अयोध्या लौट आये और राज का काम देखने लगे। उनके राज्य में सद्गुणों का प्रचार और भी बढ़ गया। अकाल का नाम भी कोई नहीं जानता था। पृथ्वी धन-धान्य से भरी रहती थी। सब कहीं प्रजा-जन सुख और शान्ति से रहने लगे थे। राजा ने सौ वाजपेय यज्ञ भी किये।

एक बार राजा ने कार्तिक महीने की एकादशी का व्रत किया। व्रत के बाद द्वादशी के दिन पारायण करने को तैयार हुए। उसी समय महाक्रोधी दुर्वासा ऋषि वहां आ पहुंचे। राजा ने उनका विधिपूर्वक आदर-सत्कार किया और भोजन करने की प्रार्थना की। दुर्वासा बोले, "मैं यमुना में स्नान किये बिना भोजन नहीं कर सकता, इसलिए स्नान करने जा रहा हूं। दोपहर तक लौट आऊंगा, तब भोजन करूंगा।"

दुर्वासा चले गए। अब राजा उनको भोजन कराये बिना स्वयं पारायण नहीं कर सकते थे। राह देखते-देखते दोपहर बीत गया, सन्ध्या भी बीतने लगी। राजा व्याकुल हो उठे। व्रत का पारायण कैसे हो? और अतिथि से पहले वह भोजन कैसे करें।

तभी ब्राह्मणों ने कहा, "महाराज, दुर्वासा ऋषि तो न जाने कबतक आयें, आप तबतक चरणामृत लेकर पारा-यण कर लीजिये। उनके आ जानेपर फिर अन्न ग्रहण कीजिये। भगवान् का चरणामृत लेने में अतिथि से पहले भोजन करने का पाप नहीं लगता।"

राजा ने ब्राह्मणों का आदेश मानकर चरणामृत ले लिया। ठीक इसी समय दुर्वासा ऋषि आ पहुंचे। अपने तपोबल से वह सब कुछ जान चुके थे। इसलिए क्रोध से उबल पड़े और राजा को अपशब्द कहने लगे। इतना करने पर भी उनका क्रोध शांत नहीं हुआ तो उन्होंने राजा को मारने के लिए एक पिशाचिनी पैदा की। परंतु राजा की रक्षा तो स्वयं भगवान् के चक्र सुदर्शन कर रहे थे। जैसे ही वह पिशाचिनी राजा को मारने के लिए बढ़ी, सुदर्शन चक्र ने अपने तेज से उसको जला डाला और फिर वह दुर्वासा ऋषि की ओर बढ़ा।

यह देखकर तो दुर्वासा ऋषि कांप उठे। भागने के अलावा अब और कोई मार्ग नहीं था। यमलोक, ब्रह्मलोक, शिवलोक, जहां भी वह जाते, चक्र उनके पीछे-पीछे पहुंच जाता। किसी भी देवता ने उन्हें शरण नहीं दी। अंत में वह भगवान् विष्णु के लोक में पहुंचे और करुण स्वर में प्रार्थना करने लगे, "भगवन्, आप अशरणशरण हैं। चक्र से मेरी रक्षा कीजिये। मैं तो आपके भक्त अम्बरीष की प्रशंसा सुनकर उनकी परीक्षा लेने गया था। इस चक्र से मेरी रक्षा कीजिये।"

भगवान् बोले, "ऋषिवर, मैं आपकी रक्षा नहीं कर सकता। आप अम्बरीष की ही शरण में जाइये। मैं तो भक्तों के वश में रहता हूं। उन्हींके पास जाइए। वह अवश्य आपकी रक्षा करेंगे।"

दुर्वासा ऋषि अयोध्या लौटे और उन्होंने बड़े दीन भाव से राजा अम्बरीष से क्षमा याचना की और कहा, "इस चक्र से मेरी रक्षा कीजिये।"

राजा अम्बरीष तो भगवान् के परम भक्त थे। उन्होंने दुर्वासा ऋषि का पूर्ववत् आदर-सत्कार किया। अपने पास बैठाया। फिर सुदर्शन चक्र से प्रार्थना की, "अपना तेज समेटकर ऋषि को अभय कर दो।"

यह सुनकर सुदर्शन चक्र ने ऋषि दुर्वासा का पीछा करना छोड़ दिया और इसके साथ ही महाक्रोधी दुर्वासा का घमंड भी छूट गया।

●

(पृष्ठ ८२ का शेष)

से सुखी और अपने दुःख से दुःखी यह मनुष्य का नहीं, जानवर का लक्षण है। हिरन की चिंता घोड़े को नहीं होती है। यह पशु का लक्षण है कि अपने सुख से सुखी और अपने दुःख से दुःखी। यह भक्ति-मार्ग नहीं है। भक्ति-मार्ग यह है कि दूसरे के सुख से सुखी और दूसरे के दुःख से दुःखी, जिससे कि हम दूसरों की सेवा करें, दासों के दास बनें, नम्र बनें। लेकिन यहां मालिक बन बैठते हैं। हम सेवक हैं और ये सारे नर-नारी, बालक हमारे स्वामी हैं। महापुरुषों के स्मरण से यह शक्ति आ जाय तो जीवन का सोना बन जाय, ऐसी शक्ति हममें पड़ी है।

लोग पूछते हैं कि हम क्या करें? हम खुद बहुत दुःखी हैं। पर समाज में ऐसे गरीब दुःखी पड़े हैं कि जो जन्तु के समान जी रहे हैं, उनकी उपेक्षा हो रही है। उनकी सेवा हमें करनी है। इससे बेहतर सेवा, इससे बेहतर रसमय भक्ति कौन-सी होगी? संतों ने कहा, हमें मुक्ति नहीं चाहिए। आत्मा मुक्त है। हम देह धारण करने क्यों आये हैं? सेवा करने, रसमय भक्ति करने आये हैं।

●

जन्मदिनोत्सव गीत

श्री० श्री०

तेलुगु

मरचि पोयिन साम्राज्यलकु
चिरिगिपोयिन जेंडा चिन्हं
मायमैन महासमुद्रालनु
मरुभूमिलोनि अनुगु जाड स्मरिस्तुंदि
शिथिलमैन नगराल्नि सूचिस्तुंदि
शिलाशासनम् मौनंगा
इंद्रधनस्सुनु पील्चे इवालटि मन नेत्रं
सांद्र तमस्सुनु चील्चे रेपटि मिनुगुरु पुरुगु
करपूर धूम धूपंलांटि
कालं कालुतूने उंटुंदि
एक्कडो एव्वडो पाडिन पाट
एप्पुडो एंदुको नव्वे पाप
बांबुल वर्षालु वेलिसिपोयाक
बाकुल नाट्यालु अलसिपोयाक
गड्डि पुव्वुलु हेलनगा नव्वुतायि
गालि जालिगा निश्वसिस्तुंदि
पोलंलो हलंतो रैतु
निलुस्ताडिव्वाल
प्रपंचान्नि पीडिंचिन पाड कलनि
प्रभात नीरजातंलो वेदककु
उत्पातं वेनुकंज वेसिंदि
उत्साहं उत्सवं नेडु
अवनीमात पूर्णगर्भला
आशियाखण्डं मुप्पोगिंदि
नवप्रपंच योनिद्वारं
भारतं मेलुकुंटोंदि
नेस्तं मन दुखालकु वाइदावेद्दां
असौकर्यालु मूटकट्टि अवतल पारेदां
इंकोमाटु वाग्वादं इंकोनाड कोट्लाट
इव्वालमात्रं आह्लादं इवाल तुरुफासु ॥

हिन्दी

मटमैले साम्राज्यों के
मिटते निशान फटे-पुराने झंडे
सुप्त महासागरों का सदा स्मरण करतीं
मरुभूमि की पल-पल तपती पदचापें,
बोल उठते हैं भग्नावशेष
शिथिल महानगर के
मौन शिलालेख में
आज का हमारा नयन जो
आह्वान करता इंद्रधनुष को,
कल जुगुनु बन जगमगाता
घोर तिमिर को चीरता
कर्पूर धूम धूप जैसा
काल नित जलता रहता
सुन कहीं किसीका मधुर गीत
देख किसी नन्हें की मन्द मुस्कान
बमों की बारिश रुकने पर
तलवारों की झंकार थमने पर,
तृणपुष्प हँसेंगे अवज्ञा से
हवाएं चलेंगी रुआं सी
नाचेंगे किसान खेतों में
हाथों में हल धरे
पापी पंकिल स्वप्नों को
जग पीड़ित था जिनसे
खोजो मत, उषा के कुहासे में
अब मन्द पड़ा उत्पात
अब बरस पड़ा उत्साह
उमड़ आया एशिया सारा,
भू मां का पूर्ण गर्भ जैसा
नव जग का मुखद्वार
जाग रहा है भारत,
बन्धु, भुला दो अपने दुखों को
फेंक दो गठरी बांध असुविधाओं को
फिर कभी वाग्विवाद
फिर कभी लूट-पाट
आज तो आह्लाद, आनन्द
आज हमारा सितारा बुलन्द ।

—अनु० राघवराव

लोकशैलीका युग

●● काका कालेलकर

जब हम प्रजाहित की बात सोचते हैं और भविष्य के प्रवाह का खयाल करते हैं तब हमें अपने प्रिय-से-प्रिय खयाल भी छोड़ देने पड़ते हैं। ऐसा करते अगर दिल को दर्द होता है तो ऐसा दर्द भी बरदाश्त करके हमें अपनी प्रजा-निष्ठा और भविष्य की निष्ठा संभालनी ही पड़ती है। जो ऐसा नहीं करते, वे न सच्चे सेवक हैं और न सच्चे ज्ञानी।

दुनिया के––यानी दुनिया के सब देशों के, सब धर्मों के और सब संस्कृतियों के प्रवाह को देखते हुए स्पष्ट होता है कि आइंदा की दुनिया शिष्ट लोगों की नहीं, किन्तु सामान्य लोगों की है। क्लासिज़ का युग समाप्त हो चुका; मासिज़ का युग शुरू हुआ है। जिन्हें हम इतरेजन कहते थे और जिनके प्रति अस्पष्ट या प्रकट अनादर दिखाते थे, उन्हींको अब प्रतिष्ठा देनी होगी अथवा उनकी प्रतिष्ठा अब चुपचाप और प्रसन्नता से मंजूर करनी होगी।

न केवल शिष्टाचार में और राजनैतिक व्यवहार में, किन्तु सांस्कृतिक मूल्यों में भी और खास करके भाषा की शैली में आमफहम रिवाजों को ही मान्यता देनी होगी।

हम स्वयं जाती तौर पर संस्कृत भाषा, संस्कृत साहित्य और संस्कृत शैली के कायल हैं। संस्कृत के उत्तरकाल में पंडितों ने संस्कृत की जो दुर्दशा कर डाली, उसके तो हम कभी भी कायल नहीं थे। जिन्होंने संस्कृत की शैली जटिल, दुरूह और महाकान्तार के जैसी बनाई वह तो संस्कृत के शत्रु ही थे। उन्हींके हाथों संस्कृत की मौत निपजी। उनमें विद्वत्ता चाहे जितनी हो उनकी रसिकता कृत्रिम थी, बेजान थी और सच कहा जाय तो निरस थी, विकृत थी।

जिस संस्कृत के हम कायल हैं वह तो रामायण, महाभारत, अन्यान्य पुराण और हितोपदेश, पंचतन्त्र आदि सद्ग्रन्थों में पाई जाती है। उपनिषदों की संस्कृत आदर्श संस्कृत थी। भास, कालिदास, भवभूति और 'वेणीसंहार' के कर्ता भट्ट नारायण की शैली तक हम जा सकते हैं। 'मृच्छकटिक' की संस्कृत हमें भाती है और इन्हीं ग्रन्थों के अध्ययन का असर हमारी आज की भारतीय भाषाओं पर पाया जाता है।

संस्कृत के कारण हमारी आधुनिक भारतीय भाषाएं संस्कारी, समृद्ध और विपुलार्थवाही बनी हैं और इस संस्कृत के असर के कारण ही भारत की सांस्कृतिक एकता बनी है और टिकी है। संस्कृत के असर को कभी भी खोना नहीं चाहिए।

अगर साहित्य-सेवियों में लोकनिष्ठा कायम रही तो उसका अच्छा असर लोगों पर और साहित्य पर कैसा हो सकता है इसका उदाहरण हम बंगला भाषा में पाते हैं। पूर्व बंगाल के मुसलमान भी आज बंगाल की जिस शैली में लिखते हैं, उसमें संस्कृत का निःसंकोच असर देखकर हम चकित हो जाते हैं।

संस्कृत के प्रति हमारा पक्षपात, हमारी भक्ति और हमारी अभिरुचि इस तरह साफ करने के बाद हमें कहना चाहिए कि अब संस्कृत के दिन कम होनेवाले हैं और इसमें दोष संस्कृत का नहीं, किन्तु संस्कृत का ठेका लेकर बैठे हुए शिष्ट समाज का है।

संस्कृत की सादगी, संस्कृत की निसर्ग-मधुरता कायम रखना उनके हाथ की बात थी। लेकिन उन्होंने संस्कृत को लोकसुलभ बनाने की कोशिश नहीं की। इतना ही नहीं, किन्तु विद्या, ज्ञान, साहित्य और संस्कारिता का लाभ सामान्य जनता तक पहुंचाने के बारे में अपनी अरुचि ही बताई।

अब जब सामान्य जनता का युग शुरू हुआ और जिन्हें आज तक हम असंस्कारी कहते आये, वे सामान्य लोग जब अपनी निजी भाषा में बोलने लगे तब शिष्ट जनों ने आक्रन्दन शुरू किया है कि इस प्रयास से भाषा असंस्कारी होगी, भ्रष्ट होगी, निरस होगी, उसका सामर्थ्य, उसकी अर्थवाहिता क्षीण होगी।

इस परिस्थिति के लिए जो जवाबदार हैं, उनको तो यही कठोर जवाब मिलेगा कि भाषा की हालत जो होगी सो होगी। उसपर रोना है तो रो लो, लेकिन परिस्थिति अब आपके काबू में नहीं रही।

लेकिन उनका रोना व्यर्थ है। सारी दुनिया और

दुनिया की भाषाएं जीवनस्वामी भगवान् के हाथ में सुरक्षित हैं। भाषा का मार्दव, भाषा की संस्कारिता और शैली का प्रवाह भाषा पर निर्भर नहीं; किन्तु मनुष्य-हृदय पर निर्भर है। दुनिया में असंख्य भाषाएं प्रचलित हैं। सब-की-सब अपने-अपने विकास के लिए संस्कृत की आभारी नहीं हैं। अगर हमारा हृदय संस्कारी है, हमारे कंठ और कान संस्कारी हैं, तो जो भी शैली हम बोलेंगे, लिखेंगे या प्रचलित करेंगे, उसमें संस्कारिता, प्रतिभा और ओजोगुण के सब तत्व आ ही जायंगे।

महाराष्ट्र में यह सवाल उठा है कि मराठी की जो अन्यान्य बोलियां हैं उनका साहित्य के लिए उपयोग करें या न करें? लोकसत्ता का, जनता-युग का और समाजवाद का पुरस्कार करनेवाले लोग भी कभी-कभी लोकबोलियों के प्रचलन से डरते हैं। उनका कहना है कि मराठी की जो शैली आज की कविता में, उपन्यासों में, अखबारों में और पाठ्य-पुस्तकों में चलती है उसीको लेकर हमें चलना चाहिए। उपन्यासों में और लघुकथाओं में प्रादेशिक बोलियों के थोड़े शब्द आप ले आयें तो हमें एतराज नहीं है। प्रादेशिक बोलियों की थोड़ी कहावतें भी प्रचलित करने को हम तैयार हैं। लेकिन सारा साहित्य प्रादेशिक बोलियों की शैली में अगर लिखा गया तो भाषा की बड़ी हानि होगी। उसे हम हरगिज मंजूर नहीं कर सकते।

इस शिकायत में वजूद है जरूर। सबसे पहले इस बात को स्वीकार करना चाहिए कि प्रादेशिक बोलियों में शैली की एकता नहीं है। शब्दावलि भी अधिकांश आमफहम नहीं पाई जाती। और सबसे बड़ी कठिनाई तो यह होगी कि ऐसी शैली में लिखा हुआ साहित्य पढ़नेवालों की संख्या अत्यल्प होने के कारण उसका प्रचलन ही रुक जायगा और बेहद महंगा हो जायगा।

आज का युग जैसा जनता का युग है वैसा ही यन्त्र-सृष्टि का भी युग है। यन्त्रों की मदद से हम अपना साहित्य बिलकुल सस्ता कर सकते हैं। किसी भी लोकप्रिय ग्रंथ की एक आवृत्ति २५ हजार नकलों से कम होनी ही नहीं चाहिए। इसीलिए तो हम अपनी लिपि को यन्त्रानुकूल बनाने का इतने आग्रह के साथ पुरस्कार करते हैं। प्रचलन की होड़ में अगर देशी लिपियों को सुधारकर हम बचा नहीं सके तो हमारी सब लिपियां परास्त होकर हमारे देश में लोगों की इच्छा के विरुद्ध अंग्रेजी लिपि ही सार्वभौम बन जायगी।

आज के युग में भाषा की शैली वही चलेगी, जिसे हजारों और लाखों लोग समझ सकें और अपना सकें।

इस निर्विवाद सिद्धान्त को स्वीकार करते हुए भी हम कहेंगे कि आज की मराठी अधिकाधिक लोकसुलभ बनानी ही चाहिए और प्रादेशिक बोलियों की प्रतिष्ठा बढ़ने पर उनका असर लोकमान्य मराठी शैली पर पड़ेगा ही। और आज की मराठी के द्वारा ही प्रादेशिक शैलियों का प्रचलन बढ़ेगा और सार्वत्रिक होगा। अगर लेखक-प्रकाशक व्यवहारकुशल रहे तो आज की शैली में देखते-देखते काफी परिवर्तन हो सकेगा। पानी पर तेल की एक बूंद गिरते ही जिस तरह वह पानी के सारे पृष्ठ भाग पर तुरंत फैल जाती है उसी तरह लोकभाषा के प्रादेशिक शब्द भी लोकमान्य भाषा के द्वारा देखते-देखते सार्वत्रिक हो जाते हैं। (परदेशी भाषा के शब्दों की बात मैं नहीं करता हूं। मेरे बचपन में मराठी भाषा में 'टिंगल' शब्द नहीं था। दो-चार साल के अन्दर वह सारे महाराष्ट्र में फैल गया। लोगों के संभाषण में भी वह पहुंच गया और साहित्य में भी रूढ़ हो गया।) लोकमान्य शब्द लोक-शैली में जिस तेजी से फैल जाते हैं, उसे संस्कृत में कहा है—"तैलबिन्दुरिवाम्भसि"। (इसके विरुद्ध या विपरीत जो शब्द या विचार फैलते नहीं, सिकुड़कर बैठ जाते हैं, उनके लिए मिसाल दी जाती है पानी में गिरी हुई घी की बूंद की —घृतबिन्दुरिवाम्भसि।)

महाकवि, साहित्यस्वामी और संस्कृतिधुरीण कविवर रवीन्द्रनाथ शुरू-शुरू में शिष्टमान्य साधुशैली की बंगला में ही लिखते थे और कविता करते थे। बंकिमचन्द्र चटर्जी की स्वाभाविक साधु-शैली के वह कायल थे। लेकिन बाद में उन्हींके स्नेही और शिष्य के आग्रह के असर के नीचे आकर उन्होंने अपनी शैली बदल दी और लोगों की बोलचाल की भाषा को स्वीकार करके उसकी प्रतिष्ठा उन्होंने बढ़ा दी। शिष्टशैली के भक्तों ने काफी शिकायत और टीका की। लेकिन उनकी चली नहीं। रविबाबू की ही चली। रविबाबू पूर्व बंगाल की शैली में लिखने लगे। लेकिन इससे उनके साहित्य का प्रचलन पूर्व बंगाल तक सीमित नहीं रहा। पश्चिम बंगाल के लोग भी रविबाबू की नई शैली के

गीत कंठ करने लगे।

गांधीजी की गुजराती पर सौराष्ट्र की शैली का थोड़ा कुछ असर होना स्वाभाविक था। लेकिन गांधीजी अपनी स्वाभाविक शैली में ही लिखते थे। श्री झवेरचन्द मेघाणी जैसे समर्थ लेखकों ने सौराष्ट्र की शैली का जोरों से प्रतिपादन और समर्थन किया। उनकी उस शैली के प्रचलन में कोई बाधा नहीं आई। लेखक में अगर लोक-भक्ति है, विचार-प्रचार का मिशनरी आग्रह है, लोगों की नब्ज पहचानने की कुशलता है तो उसके सामने कुछ कठिनाई टिकती नहीं। मराठी की कहावत स्पष्ट करती है—'मारे उसकी तलवार और करे उसका कारभार।' (चलावे उसकी हुकूमत)।

जब निम्न स्तर के लोकसमाज में से ही लोक-सेवक तैयार होंगे और लोगों के हृदयों पर अपना अधिकार स्थापित करके लोगों की भाषा में बोलने लगेंगे तब उन्हींकी भाषा और शैली का प्रभाव फैलेगा। वही भाषा और शैली लोक-मान्य बनेगी और देखते-देखते वह शिष्टमान्य और सरकार-मान्य भी बन बैठेगी।

लोक-शैली का जमाना आ गया है। अब उसे कोई रोक नहीं सकता। संस्कृत शैली को उसके सामने सिर झुकाना ही पड़ेगा। लेकिन लोकप्रभाव के कारण उर्दू भाषा या शैली को भी अधिकाधिक स्वदेशी बनना पड़ेगा।

और लोक-भाषा और लोक-शैली के सामने आज के अंग्रेजीदां लोगों को भी परास्त होना पड़ेगा।

आज के हिन्दीवाले शायद अंग्रेजी की बाढ़ को रोक नहीं सकेंगे। (रोकने की इच्छा भी उनमें कहां दीख पड़ती है?) लेकिन लोक-भाषा, लोक-शैली और लोक-प्रभाव की बाढ़ में अंग्रेजी देखते-देखते डूब जायगी और कूड़े के जैसी किनारे पर फेंक दी जायगी। अंग्रेजी साहित्य का अध्ययन तो चलेगा, काफी चलेगा। लेकिन राष्ट्र का जीवन व्यक्त करने का साधन तो एकमात्र लोक-भाषा का होगा।

पाठक या समालोचक कुछ कहें उसके पहले ही हम कबूल करते हैं कि हिन्दी हमारी जन्मभाषा नहीं है। हिन्दी पर हमारा इतना काबू नहीं कि हम लोक-शैली में लिखें। जो शैली हमें आती है उसीके द्वारा और उसीके पराभव के लिए हम अपने शुद्ध लोकहित के विचार प्रकट करते हैं। 'कंटकेनैव कंटकम्' के न्याय से शिष्ट शैली का व्यवहार करके ही हम शिष्ट शैली को उसके स्थान से हटाना चाहते हैं, ताकि लोक-शैली की विजय हो।

●

(पृष्ठ ९६ का शेष)

मेरा मन भी खुशी से भर गया। बोला, "तब तो तुम जीत गये।"

लड़के के मुख पर लजीली हँसी थी। उसने केवल चुपचाप गर्दन हिला दी। मैं फिर बोला, "किन्तु तुम लोगों के मन में यह बात आई कैसे?"

वह बोला, "एक दिन साइकिल पर चढ़कर प्लेट-फार्म पर से जा रहा था। स्टेशन-मास्टर ने मुझे मना किया। बोले, 'यह कानून के विरुद्ध है।' उस दिन से मैं प्लेटफार्म पर साइकिल पर नहीं चढ़ता। शायद उन्होंने आपको भी मना किया है?'

किशोर की सरलता के सामने अपनी सच्चाई प्रकट करने में मुझे झिझक हुई। स्नेह के स्वर में बोला, "हां भाई, तुम्हारी तरह मुझे भी एक दिन उन्होंने मना किया था। इसीसे मैं भी तुम्हारी तरह कानून मानकर चलता हूं।

उस दिन सारे रास्ते केवल यही बात सोचता रहा। सोचा—नया भारत क्या इन्हीं कुमार-किशोर प्राणों के भीतर से नये रूप में आविर्भूत होगा। कितनी ही बार देखता हूं, कितने शिक्षित मनुष्य, कितने विद्या-अभिमानी युवक उपेक्षा से इस प्रकार के छोटे-मोटे कानून तोड़ते रहते हैं। कोई लज्जा या अपराध अनुभव नहीं करते।

हमारे देश के पारसमणि ये हैं। इनके स्पर्श से हमारे मन की जड़ता कटे और हमारे मन में एक सच्ची स्वाधीन जाति का जन्म हो, इसके अतिरिक्त कामना करने के लिए और क्या है।

—अनु० स्नेहलता

●

जब कन्या विदा होती है

●● तारकेश्वरप्रसाद

करुणा गीत की जननी है। मनुष्य के जीवन में साधारण से साधारण प्रसंग में भी काव्य रहता है। उसको रसमय बनाकर प्रकट करना तथा जनता में सुरुचि उत्पन्न करना लोक-गीतों की विशेषता है। स्वाभाविकता ही इन गीतों का प्राण है। इसीसे ये सीधे हृदय तक पहुंच जाते हैं। भोजपुरी क्षेत्र में जो गीत प्रचलित हैं, उनमें करुण रस के गीत, जो कन्या की विदाई के अवसर के हैं, अत्यन्त मर्म-स्पर्शी हैं। कन्या जब विवाहोपरान्त ससुराल जाने लगती है, उस समय का करुण दृश्य किस पाषाण हृदय को नहीं हिला देता। संसार के साहित्य में करुण रस की कमी नहीं है। परन्तु भारतीय साहित्य में जैसा इस दृश्य का सुन्दर एवं हृदयग्राही वर्णन है, वह अत्यन्त दुर्लभ है।

संसार के सर्वश्रेष्ठ नाटकों में 'अभिज्ञान शाकुन्तलं' का महत्वपूर्ण स्थान है। चतुर्थ सर्ग में वर्णित शकुन्तला की विदा का दृश्य सर्वोत्तम है। सभी कन्याओं के पिता का हृदय कण्व के ही जैसा है। कोई भी कन्या अपने पिता के लिए शकुन्तला से कम नहीं है। नीचे कुछ गीतों में इस अवसर की भावना का एक संक्षिप्त अध्ययन प्रस्तुत किया जा रहा है।

"बार्टाह चुनरी धुमिल भइले बाबा सेनुर भइले समतूल हे,
चिटुकी सेनुरवा के कारने ए बाबा छोरलों में नगर तोहार हे,
आहे बाबा के छोरिले आटन पाटन अमा के सोर हो दुलार हे,
आहे भइया के छोरिले लाख दुहइया भउजी के सोलहो सिंगार हे,
लाली लाली डरिया[1] के सबुजी ओहरिया लागि गइले बतीसो कहांर हे,
आहे रोएले बाबा हो रोएली अमा रोएला लोग परिवार हे,
आहे हमरा करेजवा के पलई कवन सुभई केरे लीहल संग जाइ हे,
आहे कोहली का सबदे धिआ मोरा रोएली तिआ विहरि मोरा जासु हे,
आहे चिउँटि का सबदे धिआ मोरा जाले पुरइन[2] पात झहराई हे।"

कन्या ससुराल जाते समय पिता, माता, भाई और भौजाई के स्नेह-भाव को याद कर दुखित हो रही है। सभी लोग अश्रु-विसर्जन कर रहे हैं। रोते-रोते कन्या की चुनरी धुमिल हो जाती है तथा नव परिधान—सिन्दुर भी आंसू पोंछते-पोंछते फैल जाता है। रोती हुई कन्या कहती है कि एक चिटुकी सिन्दुर के कारण ही मुझे अपने परिवार से विलग होना पड़ रहा है। माता के हृदय का क्या कहना! माता कन्या को अपने हृदय-रूपी वृक्ष के पल्लव से एवं उसके रुदन को कोयल की कुहुक से तुलना करती है। उसके सुन्दर मुख पर बिखरित अश्रु बून्दें मानो कमल पत्र पर पड़े जलकण हों। इस प्रकार की उपमाएं साहित्यिक दृष्टि-कोण से अनूठी हैं।

इस अवसर का दूसरा गीत देखें—

"धोती जे कांपेला पोथी जे कांपेला कांपेला कुसवा परास हे,
धिआ लेले कांपेले बाबा हो कवन बाबा मोरा कुले धिआ जनि होसु हे,
कलसा के ओते ओते बोलेली कवन देई सुनि सामी वचन हमार हे,
करेजवा के पलई बेटी हो कवन देई जनि प्रभु विआहि दूर देस हे,
धिअवा के कारने ए धनिआँ नगर मोरा उजरे अउरु करेजवा में सूल हे।"

पिता कन्यादान कर रहा है। मन में कारुण्य-धारा का स्रोत जो उमड़ रहा है, वह अत्यन्त मर्मस्पर्शी है। पिता की ममता जग पड़ती है और कन्यादान करते समय ही कन्या की विदाई उसे याद पड़ जाती है और उस दुख की संभावना से वह कांपने लगता है। मन-ही-मन कहता है कि अब मेरे कुल में किसी के भी कन्या न हो। उसकी स्त्री धैर्य दिलाती है और कहती है कि जब कन्या की जुदाई इतना कष्टकर है तो उसका ब्याह दूर देश में क्यों रचाया? पिता का हृदय तो विदीर्ण हो रहा है। उसके लिए तो घर तथा नगर शून्य हो रहे हैं।

एक अन्य मर्मस्पर्शी गीत देखें—

"जहिआ से बाबा मोरा लगन सोंचावे ले

---
१. डोली। २. कमल पत्र।

बाबा अंखिआ निंदिओ ना होए हे,
इअरि पिअरि पेन्हि निकलेली कनिआ बेटी
काहे बाबा के बदन मलीन हे,
दिनवां के हरलु हे बेटी भुखिआ पिअसिया
रतवा के हरलु सुख नींद हे,
जानते त रहलीं ए बाबा धिअवा कुमार होइहें,
काहे लागि कइलीं दुलार हे,
पोखरा खनइतीं ए बाबा घाट बन्हइतीं
घने के लगवतीं आमवा के बाग हे,
अवइत बटोहिया बाबा बइठइत जुरि छहिंआं
पिअते पनिआं लिहित बाबा के नाम हे।"

उपरोक्त गीत में पिता-पुत्री का सम्वाद बहुत ही सुन्दर ढंग से वर्णित है। पुत्री जब अपने पिता से उदासी का कारण जानना चाहती है तब पिता उसके विवाह की ओर लक्ष्य करते हुए कहता है कि तुम्हारे ही कारण न तो रात को नींद आती है और न दिन में भूख लगती है। पुत्री का उत्तर भी अत्यन्त मार्मिक तथा हृदयग्राही है। वह कहती है कि पुत्री के जन्म से ही तो विदित था कि एक दिन उसका विवाह करना ही होगा। तब कन्या को स्नेह-दान ही क्यों किया? इससे तो अच्छा होता कि पोखरा खुदवाकर उसके निकट आम का एक घना बाग लगवा देते। बटोही अपनी प्यास बुझाकर शीतल छाया में बैठकर गर्मी की भीषणता से त्राण पाता और आपका यश गान करता।

इस अवसर का एक अन्तिम गीत जो अत्यन्त मर्मस्पर्शी है, प्रस्तुत किया जा रहा है--

"घर में से निसरेली बेटीहो कवन बेटी भइली देवढिए धइले ठाढ़ हे,
सुरुज के उगले किरनियां छिटकले हो गोरी वदन कुम्हलाए हे,
कहतु त मोरो बेटी छत्र छववतीं नांहि तनवती ओहार हे,
कहतु त ए बेटी सुरुज अलोपतीं गोरी वदन रह जाइन हे,
काहे के मोरे बाबा छत्र छवइब काहे के तनइव ओहार हे,
काहे के हे बाबा सुरुज अलोपब अब एक दिनवां के बात हे,
आजु के दिनवां हो बाबा तोहरे मंड़उआ बिहने सुनर वर साथ हे,
खोरवन[1] खोरवन बेटी दुधवा पिअवनीं दहिया खिअवनीं सढ़िआर[2] हे,
दुधवा के नीरवा नांहि देलु ए बेटी चललु सुनर वर साथ हे,
काहे के मोरे बाबा दुधवा पिअवल दहिया खिअवल सढ़िआर हे,
जानते रहल ए बाबा बेटी पर घर जइहें नांहके कइल दुलार हे।

इस गीत में भी पिता-पुत्री का संवाद ही वर्णित है। कन्या जब घर से निकलकर बाहर खड़ी होती है, तो सूर्य की प्रचंड किरण से उसका शरीर मलिन हो जाता है। पिता के लिए यह असह्य हो जाता है। वह कहता है कि यदि तुम कहती तो मैं यहां छत्र बनवा देता या सूर्य को ही किसी प्रकार आलोपित करा देता और छाया में रहने से तुम्हारा सौंदर्य नहीं बिखरता। पुत्री कहती है कि अब काहे को छत्र छवाया जायगा या सूर्य को आलोपित किया जायगा। अब तो एक ही दिन की बात है। अब तो आज ही भर मैं यहां हूं, कल तो मुझे अपने वर के साथ उसके घर चलो ही जाना है। पिता को कन्या के प्रति किये हुए प्यार तथा उसका पालन-पोषण सभी याद आ जाते हैं। वह कहता है कि मैंने तुझे खूब दूध तथा दही खिलाकर पाला-पोसा, क्या इसी दिन के लिए कि तुम मुझे दुखी बनाकर चली जाओ। पुत्री ने उत्तर दिया--आप तो जानते ही थे कि पुत्री एक दिन दूसरे के घर चली जायगी, तो उसके लिए इतना स्नेह प्रदर्शन क्यों किया?

उपरोक्त गीतों में कारुण्य का जो प्रवाह है, वह दुर्लभ है। लोक-साहित्य की यही विशेषता है कि वह मानव-जीवन की विभिन्न परिस्थितिओं का सच्चा चित्र समाज के सामने रख देता है। नपे-तुले तथा सरल शब्दों में जिन तथ्यों का विश्लेषण उपरोक्त गीतों में हुआ है, वह सराहनीय ही नहीं, साहित्य की अनुपम निधि है।

---

१. कटोरा। २. छालीवाली दही।

स्वामी सत्यदेव परिव्राजक

सत्यदेव विद्यालंकार

"मैं अपने प्रभु में लीन होकर अपनेको भूल जाता हूं और नित्यप्रति अपनेको उसमें विलीन करने के प्रयत्न में लगा रहता हूं। मुझे ऐसा मालूम होता है जैसे कि मृत्यु मुझे पराजित नहीं कर सकती—दिसम्बर-जनवरी की कठोर सर्दी में भी मैं लंगोट बांधकर बाहर खुले में खड़ा होकर व्यायाम करता हूं। सर्दी मुझे स्पर्श नहीं कर सकती। ऐसा निर्द्वन्द्व और निर्लेप जीवन बिताता हूं कि अपने में ही मस्त रहता हूं।" ये शब्द, जो उन्होंने मुझे तब कहे थे जब मैं उनसे उनके सत्यज्ञान-निकेतन में अपनी पिछली हरिद्वार-यात्रा में मिला था। मुझपर उनकी विशेष कृपा थी। इसलिए पत्र-व्यवहार में व बातचीत में भी वह मेरे साथ खूब खुल जाते थे और परस्पर कुछ भी संकोच न करते थे। उनके इन शब्दों में आत्म-विश्वास की जो ध्वनि निकलती थी, वह सदैव मेरे कानों में गूंजती रहती थी। तब वह अपनी आयु के अस्सी वर्ष पार कर चुके थे और अब वह तिरासीवें वर्ष में हमलोगों में से विदा हो चुके हैं। इसका अर्थ यह नहीं कि उनके आत्म-विश्वास ने उनका साथ नहीं दिया। जिस आत्मा को अजर, अमर, अविनाशी और शाश्वत बताया गया है, उसके नाते उन्होंने अपने इस जीवन में ही अमर पथ प्राप्त कर लिया था और वह मरकर भी अमर हैं।

स्वामी सत्यदेवजी परिव्राजक का आत्मा की अमरता में यह विश्वास भारतीय संस्कृति की देन है। स्वामी दयानन्द, स्वामी विवेकानन्द और स्वामी रामतीर्थ आदि संत महापुरुषों का भी यही विश्वास था और यह विश्वास स्वामीजी में पूर्णरूप में प्रकट हुआ था। सनातनी घर में जन्म लेने पर भी उनके परिवार पर स्वामी दयानन्द और आर्य-समाज का जो प्रभाव पड़ा, उसका रंग स्वामीजी के जीवन में पूर्ण रूप से निखरा। अपनी भारतीय वैदिक संस्कृति में उनकी निष्ठा इस अद्‌भुत रूप में जाग्रत हुई कि उसकी ज्योति उनके सामने हमेशा ही बनी रही। चार वर्ष की आयु में सगाई हो गई; परंतु उन्होंने इसी कारण भरी बिरादरी में विवाह करने से स्पष्ट इंकार कर दिया। पिता ने विवाह करने का जब आग्रह किया तब वह स्वामी दयानंद की तरह चुपचाप घर से निकल गये और पैदल ही लाहौर से अमृतसर पहुंच गये। विवाह के लिए आग्रह न किये जाने की शर्त पर घर लौटे। पिता ने रेलवे की नौकरी के लिए जोर डालना शुरू किया और उनके दबाव के कारण नौकरी स्वीकार कर ली, परंतु उनके मन में वैदिक आदर्श के अनुसार संस्कृत पढ़ने की जो तीव्र इच्छा पैदा हुई,उसके कारण वह गुरु की खोज करते-करते जयपुर पहुंचे और वहां से भी एक दूर देहात में जाकर एक गुरु के पास रहकर संस्कृत का अभ्यास किया। वहां डेढ़ वर्ष बिताने के बाद संस्कृत पढ़ने के लिए ही चार वर्ष बनारस में बिताये। यह स्वावलम्बन और घुमक्कड़पना उनके इतना काम आया कि इसमें कुछ भी अत्युक्ति नहीं है कि इन गुणों के ढांचे में ही उनके सफल जीवन का निर्माण हुआ।

सम्भवतः स्वामी दयानन्द की तरह स्वामी विवेकानन्द के जीवन का भी उनपर बड़ा गहरा प्रभाव पड़ा और अमरीका तथा यूरोप जाने की प्रेरणा उनसे ही प्राप्त हुई। उनका अमरीका जाने का उद्देश्य वहां कुछ अध्ययन करना था। एक बार तो उन्होंने पी-एच०डी० की डिग्री प्राप्त करने का भी संकल्प कर लिया था। स्वामी दयानंद की स्वदेश, स्वधर्म तथा स्व संस्कृति के प्रति जो उत्कट भावना थी, उसके अंकुर उनके हृदय में कुमारावस्था में कुछ इस प्रकार प्रस्फुटित हो चुके थे कि वह अमरीका में स्वामी विवेकानन्द की तरह उनका संदेश फैलाने में लग गये। अमरीका में २३०० मील की इसी उद्देश्य से पैदल यात्रा की। यह सैलानीपना उनके बड़ा काम आया। १६०५ से १६११ तक के छः वर्ष उन्होंने अमरीका में बिताये।

जब वह अमरीका के लिए रवाना हुए, तो उनकी जेब में केवल १५ रुपये थे। जहाज पर खलासी या कुली का काम करने में उन्होंने संकोच नहीं किया। शिकागो विश्वविद्यालय में पढ़ते हुए भी वह होटलों में बैरे का काम करते रहे और २३०० मील की पैदल-यात्रा में भी इसी प्रकार नौकरी-चाकरी करते हुए खर्च पूरा किया। यह था अनूठा स्वावलम्बन, जिसकी गहरी नींव पर उन्होंने अपने सफल जीवन की ऊंची मीनार खड़ी की।

अपनी अमरीका यात्रा पर 'सरस्वती' में जो लेख उन्होंने लिखे और स्वदेश लौटकर जिस साहित्य का निर्माण किया, उससे न मालूम देश के कितने नौजवानों ने क्रांति का पाठ सीखा। वैसी ओजस्वी भाषा में उससे पहले वैसा प्रेरक व स्फूर्तिदायक साहित्य नहीं लिखा गया था। १९११ से १९१८ तक उनके साहित्य की प्रायः सारे ही देश में धूम रही। जो-कुछ वह लिखते. वह गरम रोटियों की तरह बिक जाता। वह जैसे यशस्वी लेखक थे वैसे ही ओजस्वी वक्ता भी थे। १९११ में लाहौर में उनके व्याख्यान पर पुलिस ने कुछ प्रतिबंध लगाया तो शहर की सीमा के बाहर रावी के तट पर उन्होंने स्वयं अपने व्याख्यान का ऐलान किया और एक पेड़ पर चढ़कर वहां एकत्रित नौजवानों को अपना क्रांति का संदेश सुनाया। उनमें अधिक संख्या विद्यार्थियों की थी और वे उनके व्याख्यान सुनने के लिए आतुर रहते थे।

उन दिनों के उनके साहित्य में 'अमरीका भ्रमण' 'यूरोप की सुखद स्मृतियां, 'नई दुनिया के मेरे अद्‌भुत संस्मरण', 'अमरीका पथ-प्रदर्शक', 'मेरी कैलास यात्रा', 'मेरी जर्मन यात्रा' और 'आश्चर्यजनक घंटी', पुस्तकों की चारों ओर धूम थी। उनमें यात्राओं का वर्णन कहानियों से भी अधिक रोचक होता था। नाटक व उपन्यास की भाषा का सौंदर्य व आकर्षण उनमें स्वाभाविक रूप में रहता था। इतिहास व भूगोल की ऐसी अनोखी जानकारी उनमें रहती थी कि पाठक उसमें पूरी तरह रम जाता था। देशभक्तिपूर्ण संस्मरण स्वतन्त्रता का कुछ ऐसा अद्‌भुत संदेश लिये रहते थे कि नौजवान पढ़कर स्वाभिमान तथा स्वदेशाभिमान से झूम उठते थे। उस साहित्य का ठीक-ठीक रूप उपस्थित करने के लिए 'मेरी कैलास यात्रा' का कुछ उल्लेख करना आवश्यक है। इसका अपना एक इतिहास है। आजकल जिस रूपकुंड और वहां अपनी सेना के साथ मृत्यु का ग्रास बननेवाले जोरावरसिंह की इतनी चर्चा है, उसका पहली बार स्वामीजी ने ही इस पुस्तक में उल्लेख किया था और कैलास का पैदल मार्ग खोजनेवाले भी वह पहले भारतीय थे।

१९१६ में की गई कैलास-यात्रा के बाद यह लिखी गई थी। उसके संबंध में इतिहास के विद्वान् श्री जयचंद विद्यालंकार ने लिखा कि वह जीवट-जगानेवाली तथा ज्ञान देनेवाली कहानी है, जो हिंदी की पहली मौलिक पोथी थी। उसमें स्वतंत्र पुरुष द्वारा अपरिचित रास्ते की खोज की कहानी और उसकी जागरूक आंखों, कानों द्वारा बटोरी गई और सुलझे दिमाग से जानकारी की विवरणी थी। भारत और कैलास प्रदेश के सदियों पुराने संबंध का और उस संबंध को साल-बसाल बनाये रखनेवाले कुमाऊं, गढ़वाल के उत्तरी छोर के निवासी भोटियों के अद्‌भुत सरल जीवन का जो चित्र सत्यदेवजी ने दिया, वह अत्यंत रुचिकर और आंखें खोलनेवाला था। इसके अतिरिक्त १८४१ ई० में पंजाब के सिक्ख राज्य के सेनापति जोरावरसिंह की मानसरोवर प्रदेश पर चढ़ाई के बारे में उस प्रदेश में चली आती अनुश्रुति को जो ठीक सुन समझकर उन्होंने दर्ज किया, वह ऐतिहासिकों के लिए स्थायी काम की चीज है। हाल ही में गोरखाली इतिहास का अनुशीलन करते हुए मैंने उनके उस वृत्तान्त को जांचा और साथ ही जांचा अलमोड़े के कमिश्नर चर्ल्स शेरिंग द्वारा दस बरस पहले लिखे हुए उसी विषय के वृत्तान्त को। मैंने देखा कि स्वामी सत्यदेव ने कितनी सचाई से अनुश्रुति को दर्ज किया है और शेरिंग ने उसमें कितना झूठ जान-बूझकर मिलाया था। इस शताब्दी के शुरू में तिब्बत पर अंग्रेजों के दांत गड़े हुए थे। तिब्बत पर चढ़ाई करने से पहले दुनिया को यह बताना जरूरी था कि तिब्बती कैसे जंगली थे और कि उन्हें सभ्यता सिखाने के लिए ही अंग्रेज उस देश में जा रहे हैं। इस अभिप्राय से इतिहास को झूठलाने का काम शेरिंग ने अपने जिम्मे लिया। यह सब देखते हुए स्वामी सत्यदेव की 'मेरी कैलास यात्रा' को हिन्दी वाङमय के भंडार में टिकाऊ रत्न मानना होगा।"

स्वामीजी की राष्ट्रीय सेवा, साहित्य-सेवा के ही समान बड़ी उद्‌भट है। कुली प्रथा के विरुद्ध देश में जो आंदोलन हुआ, उसके पुरस्कर्त्ताओं में स्वामीजी का प्रमुख स्थान था। १९१८ में चम्पारन के निलहे गोरों के अत्याचारों के विरुद्ध गांधीजी के सत्याग्रह में स्वामी जी उनके साथ रहे। उसके बाद १९२०-२१ में अलमोड़ा में रहकर पहाड़ी प्रदेश में 'कुली-उतार' और 'बेगार' की जो निर्दय प्रथा जारी थी उसके विरोध में स्वामीजी ने जो लोकमत जाग्रत किया उसका शुभ परिणाम १९२१ के जनवरी के मास में बागेश्वर के मेले में सरयू स्नान के अवसर पर प्रकट हुआ। वहां एकत्रित किसानों ने प्रण किया कि वे कुली उतार और बेगार भविष्य में नहीं देंगे। यह दोनों प्रथाएं लगान वसूली का हिस्सा समझी

जाती थीं और उनसे इनकार करना लगान न देने के समान अपराध माना जाता था। वहां एकत्रित पटवारियों ने भी कुली उतार और बेगार संबंधी आदेशों के सब सरकारी कागज-पत्र सरयू की भेंट कर दिये। यह था जादू का-सा चमत्कार, जिसका सारा श्रेय स्वामीजी को था।

राष्ट्र-भाषा हिन्दी के प्रति स्वामीजी का प्रेम और उसकी सेवा अनुकरणीय है। उन्होंने अपने समस्त साहित्य का निर्माण केवल हिंदी में किया और जीवन की अंतिम घड़ी तक वह निरंतर हिंदी की ही सेवा में लगे रहे। 'हिंदी-संगठन का बिगुल', 'सत्यज्ञान-सीरीज़', 'लहसून बादशाह', 'स्वतंत्रता की खोज' तथा अन्य ऐसे ही अनेक ग्रन्थ लिखकर उन्होंने हिंदी-साहित्य के भंडार को अनेक अमूल्य रत्न प्रदान किये। गांधीजी की प्रेरणा पर अनेक वर्ष दक्षिण में हिंदी-प्रचार में लगाये। जीवन के अंतिम दिनों में हरिद्वार के समीप ज्वालापुर में जिस 'सत्यज्ञान निकेतन' की स्थापना की उसकी लाखों की जायदाद के साथ काशी की नागरी प्रचारिणी सभा को केवल इसलिए भेंट कर दिया कि वह वहां हिंदी के अनुसंधान व प्रचार के लिए एक बड़ा केन्द्र कायम हुआ देखना चाहते थे। अपने समस्त जीवन में उन्होंने हिंदी के सिवाय किसी दूसरी भाषा को नहीं अपनाया।

उनकी सबसे बड़ी देन है वह बुद्धिवाद, जिसके साथ उन्होंने अपने जीवन में कभी कोई समझौता नहीं किया, यहां-तक कि स्वामी दयानन्द और आर्य-समाज से सबसे अधिक प्रभावित होने पर भी वह वेद को अपौरुषेय नहीं मानते थे। इसीपर आर्यसमाज ने उनकी उपेक्षा की और उनके सफल जीवन तथा महान् व्यक्तित्व से कोई लाभ नहीं उठाया। परंतु वह अपने विचार से टस-से-मस नहीं हुए। वह मानव की बुद्धि को गुरुडम के किसी भी खूंटे के साथ बांधने के कट्टर विरोधी थे। महात्मा सुकरात का उनपर सबसे अधिक प्रभाव पड़ा था और सत्यज्ञान-निकेतन की स्थापना से पहले उन्होंने सुकरात के नाम से ही बुद्धिवाद का नारा बुलंद किया था। अपने जीवन में परम आस्तिक होते हुए भी वह बुद्धिवाद को आस्तिकता से कहीं अधिक ऊंचा स्थान देते थे। फिर भी हिंदू वैदिक संस्कृति में उनकी बड़ी गहरी श्रद्धा थी। इसीपर उनका गांधीजी से अन्य अनेक क्रांतिकारी नेताओं के समान मतभेद हुआ और, इसी कारण नेहरू सरकार की धर्म-निरपेक्ष-नीति से भी वह सहमत नहीं थे, फिर भी संकीर्ण साम्प्रदायिकता उनको छू तक न गई थी। हिन्दू सभा के साथ भी उनकी इसीलिए नहीं पटती थी कि उसकी साम्प्रदायिकता से उनका गहरा मतभेद था। हिंदू समाज को बुद्धिवादी रंग में रंगकर वह उसको जन्मगत जात-पांत आदि की संकीर्णता से ऊंचा उठा हुआ देखना चाहते थे।

इसमें तनिक भी संदेह नहीं कि जब भावी इतिहासकार १८५७ की राज्य-क्रांति की विफलता के बाद के राजनीतिक पुनर्जागरण का इतिहास लिखेगा तब वह राष्ट्रीय नवजागरण के संदेशवाहकों में राजा राममोहन राय, स्वामी दयानन्द, स्वामी विवेकानन्द, स्वामी रामतीर्थ तथा ऐसे ही अन्य राष्ट्र महापुरुषों में स्वामी सत्यदेव परिव्राजक का विशेष रूप से उल्लेख किये बिना न रह सकेगा। गांधीजी के लिए जिन महापुरुषों ने अनुकूल भूमि तैयार की उनमें उनका प्रमुख स्थान था। बीसवीं सदी के दूसरे शतक के इतिहास का तो उनको निर्माता कहा जा सकता है, उन्होंने गोखले, तिलक, मालवीय, मोतीलाल नेहरू और राजर्षि पुरुषोत्तमदास टंडन आदि का वैसे ही विश्वास सम्पादन किया था जैसे कि गांधीजी का। राष्ट्रपति डॉ॰ राजेन्द्रप्रसादजी ने उनके निधन पर जो श्रद्धांजलि अर्पित की है, वह उनके कृतज्ञ देशवासियों की ही उनके प्रति कृतज्ञताभरी श्रद्धांजलि समझी जानी चाहिए।

●

दुनिया में सबसे बड़ी शक्ति है लोकमत, और वह सत्य और अहिंसा से ही पैदा हो सकती है।

—मो. क. गांधी

●

तुच्छ, फिर भी तुच्छ नहीं

●● रणजीत भट्टाचार्य

(६)

उस दिन हावड़ा शहर के एक व्यस्त रास्ते पर एक छोटी-सी घटना ने मेरे मन को चंचल कर दिया। रास्ते के किनारे म्युनिसिपैलिटी का एक नल है। पता नहीं सुबह से ही वह नल किसने खोल दिया था। परिणामस्वरूप पानी बह-बहकर रास्ते में इकट्ठा होने लगा। मैं उसी रास्ते से ग्रा रहा था। वहां ग्राकर रुकना पड़ा। रास्ते में बहुत पानी इकट्ठा हो गया था। कुछ कीचड़ भी भर गया था। कितने ही लोग ग्रा-जा रहे थे। ग्रत्यंत सावधानी से ग्रपने जूते-कपड़े बचाकर, नाली फांदकर वे चले जा रहे थे। किन्तु ग्रसली समाधान की ग्रोर किसीकी दृष्टि नहीं थी। क्षणभर में निश्चय करके नल की ग्रोर पैर बढ़ाया किन्तु फिर रुकना पड़ा। रास्ता चलते हुए लड़कों के दल में से एक तीव्र स्वर गूंज उठा, "देखता है, रास्ते की क्या दशा हो गई है। कितने लोग ग्रा-जा रहे हैं। क्या कोई भी नल बंद नहीं कर सकता था।"

एक किशोर के कीचड़ पार कर नल बंद करने से पानी बंद हो गया। लड़कों का दल शोर मचाता हुग्रा फिर रास्ते पर चला गया।

मैं भी चल पड़ा। परंतु मेरा हृदय भर ग्राया था। उस रास्ते पर कितने लोग ग्राये ग्रौर गये। उनमें कितने ही पढ़े-लिखे पंडित होंगे। कितने ही राजनीतिज्ञ होंगे। किन्तु यह छोटा-सा लड़का ग्राज मानों उन सबके पांडित्य ग्रौर राजनीति का उपहास कर गया। स्वाधीनता हमने प्राप्त कर ली है। परंतु स्वाधीन-जाति के गुण कितनों ने पाये हैं? स्वाधीन भारत के नागरिकों को कहां खोजते फिरेंगे। उत्तर भी मिल गया। ग्रनजान ग्रपरिचित किशोरों के मन में ही नया देश जन्म ले रहा है। उनकी साधना, उनका त्याग ग्रौर उनके हृदय का उत्ताप, ये ही सब भारत को पृथ्वी पर महान बनायेंगे।

(७)

हुगली जिले के एक शिक्षक-शिक्षण विद्यालय का विशाल छात्रावास। हम ४० विद्यार्थी एक साथ रहते थे। इस शिक्षण-विद्यालय के साथ जुड़े हुए प्राथमिक विद्यालय के छात्र-छात्राग्रों को हम व्यावहारिक ज्ञान प्राप्त करने के उद्देश्य से पढ़ा रहे थे। वहां हमें कितने ही दुष्ट, कितने ही चंचल ग्रौर कितने ही सुन्दर लड़के-लड़कियों को देखने का मौका मिला। उनमें से ही एक लड़की की कहानी ग्राज सुनाऊंगा।

एक छोटी महाप्राण लड़की। जिस महान् जीवन का संकेत उसने पाया वह हजारों पढ़े-लिखे मनुष्यों में भी नहीं देख सका। लड़की का नाम था सुधा। गरीब की बेटी थी। उसके परिवार में रोगी पिता, मां ग्रौर कई भाई-बहन थे। घर की गाय का दूध बेचकर खर्च चलता था। रोज तीसरे पहर को उसे दूध का लोटा लेकर छात्रावास में ग्राते हुए देखा करता था। उस दिन साधारण-सा ज्वर था, इसलिए उससे कहा, "सुधा रानी! ग्राज शाम से पहले मुझे ग्राध सेर दूध दे जाना। तुम्हारा दूध ग्रच्छा तो है?"

"हां, मास्टरसाहब! ग्राप पीकर देखिये!"

ठीक समय पर वह दूध दे गई। संध्या के समय मेरा एक मित्र दूध को उबालने के लिए स्टोव जला रहा था कि उसी समय सुधा रानी ग्राकर हाजिर हो गई। मैं चुपचाप बिस्तर पर लेटा था। पास ही उसका व्याकुल कंठ-स्वर सुनाई पड़ा, "मास्टरसाहब!"

"सुधा रानी! इस समय! क्या बात है?"

"क्या ग्रापने दूध पी लिया?"

"नहीं। क्यों, बताग्रो तो?"

"मास्टरसाहब, दूध मुझे वापस दे दीजिये। उसे ग्राप न पीजिये।"

जैसा कि स्वाभाविक था, मुझे ग्राश्चर्य हुग्रा। पूछा, "क्यों?"

"मास्टरसाहब!"

सुधारानी का गला भर्रा गया ग्रौर वह ग्रागे न बोल सकी। मैं उठकर बैठ गया ग्रौर स्नेह के साथ उसकी ठोडी पकड़कर बोला, "बोलो सुधारानी, दूध क्यों लौटाना चाहती हो, क्या हो गया?"

स्नेह के स्पर्श से उसकी ग्रांखों से जल टपकने लगा।

भरे गले से बोली, "वह दूध अच्छा नहीं है। उसमें दूध का पाउडर मिला हुआ है। घर में मां की बातों से मुझे पता लग गया है। मास्टरसाहब आप उसे न पीजिये।"

मित्र बोले, "परंतु वही दूध तो सबको देती हो!"

भर्राए हुए गले से वह बोली, "हां, मैं नहीं जानती थी कि मां ऐसा काम करती है। मैं अब दूध न लाऊंगी, मास्टर-साहब।"

किन्तु मैं उसे मना न कर सका। उतनी शक्ति भी नहीं थी। सारी छाती पीड़ा और आनन्द से आन्दोलित हो उठी। आंखें सजल हो आईं। चुपचाप छोटी-सी सुधा रानी को स्नेह से पास खींच लिया। सुना है, दूध बेचकर ही मां गुजारा करती है। शायद अभाव की चोट सहकर ही उन्होंने इस बुरे रास्ते को अपनाया है। किन्तु मैं यह समझ सका कि इस गरीबी के बीच भी इस छोटी-सी लड़की का हृदय देवकन्या जैसा कैसे बन गया। केवल मन-ही-मन बोला, "असंख्य बुराइयों की कीचड़ के बीच कमल के फूल के समान लड़की जिस देश में जन्म लेती है, वह देश अवश्य फिर एक दिन धरती का श्रेष्ठ देश हो उठेगा।

(८)

उस दिन कलकत्ते में ट्राम में बैठकर श्याम बाजार से धर्मतल्ला की ओर जा रहा था। भीड़ का समय था। गाड़ी में बहुत-से लोग खड़े थे। इसी भीड़ में एक गुदड़ी के लाल के दर्शन हुए।

"आप यहां बैठिये!"

पीछे एक किशोर स्वर सुनकर मुड़ा और देखा—एक किशोर अपने स्थान से उठकर एक प्रौढ़ सज्जन से वहां बैठने का अनुरोध कर रहा था। प्रौढ़ सज्जन ने उस लड़के को अत्यन्त प्यार से गोद में खींचकर बैठा लिया और पूछा, "तुमने मेरे लिए जगह क्यों छोड़ दी, भाई?"

लड़का लज्जा के कारण कुछ नहीं बोला। केवल धीमे-से मुस्कराकर गर्दन मोड़ ली। प्रौढ़ सज्जन अत्यन्त प्यार से बोले, "तुम कौन-सी क्लास में पढ़ते हो? कौन-से स्कूल में?"

"सातवीं क्लास में। शारदाचरण की पाठशाला में।"

"वाह!" गंभीर स्वर में प्रौढ़ सज्जन बोले, "तुम्हारे जैसे समझदार लड़के आजकल कम ही दिखाई पड़ते हैं। धन्य हैं तुम्हारे मां-बाप और सार्थक हैं तुम्हारे शिक्षकगण। मैं भी शिक्षक हूं किन्तु लगता है तुम्हारे जैसा छात्र मैं आजतक भी तैयार नहीं कर पाया। मैं केवल भाषा की शिक्षा देता हूं। मनुष्य बनने की शिक्षा देना मैंने नहीं सीखा।"

प्रौढ़ सज्जन की बात से मेरा मन भर आया। शिक्षित और अशिक्षित मनुष्यों से भरी हुई गाड़ी पर जिस अमूल्य हृदय का परिचय पाया है, उसे किस तरह तुच्छ माना जा सकता है। हम लोग जो आयु और शिक्षा की बड़ाई करते हैं, नये भारत के नवजीवन के प्रति क्या गहरी श्रद्धा प्रकट न करेंगे?

(९)

रास्ते पर घूमना ही मेरा नशा है। उस दिन नशा मिटाने गया तो फिर एक अमूल्य रत्न का परिचय मिला।

काभार कुण्डु स्टेशन तारकेश्वर-वर्दमान लाइन का जंकशन स्टेशन है। साइकिल लेकर सिर झुकाये उसीके प्लेटफार्म को लंबे-लंबे कदमों से पार कर रहा था। दूसरे किनारे जाकर बड़ा रास्ता पकड़ूंगा। प्लेट-फार्म के बड़े-बड़े बैंच यात्रियों से भरे थे। बहुतों ने छोटे-छोटे पेड़ों के नीचे भी आश्रय लिया था। सब प्रकार के फेरीवाले इधर-उधर घूम रहे थे। प्लेट-फार्म लगभग पार कर ही चुका था कि दो किशोरों के आ जाने से रुकना पड़ा। एक ने पूछा, "अच्छा, आप साइकिल पकड़कर क्यों ले जा रहे हैं?"

उसके चपल प्रश्न से मुझे कौतुक हुआ। बोला, "क्यों बताऊं?"

"बताइये न।" लड़का मुस्कराता हुआ बोला, "हममें बहस हो गई है। यह कहता है कि आपकी साइकिल खराब हो गई है। परंतु मेरा विचार कुछ और है। आप बताइये न।"

मेरी उत्सुकता बढ़ गई। लड़के की आंखों में मुझे एक नये प्रकाश की झलक मिली। धीरे-धीरे बोला, "रेलवे-स्टेशन के प्लेटफार्म पर साइकिल पर चढ़कर जाना, रेलवे विधान की ओर से मना जो है, भाई। उसका पालन करना हमारे लिए उचित नहीं है क्या?"

"देख लिया?" किशोर आनन्द से प्रफुल्लित होकर अपने साथी से बोला, "मैंने कहा था न?"

(शेष पृष्ठ ८९ पर)

भारत की भावनात्मक एकता

●● बाबूराव जोशी

विश्व-कवि रवीन्द्रनाथ टैगोर ने भारत को 'एई भारतेर महामानवेर सागर तीरे' कहकर महामानवों का महासागर कहा है। उनका आशय यह था कि भारतीय संस्कृति किसी एक जाति की रचना नहीं है। उसकी रचना और विकास में अनेक जातियों का योगदान रहा है। इतिहासकार बताते हैं कि आर्यों के आगमन के पूर्व यहाँ द्रविड़ जाति के लोग रहते थे और उससे भी पहले ओष्ट्रिक एवं नीग्रो जाति के। समय के साथ ओष्ट्रिक एवं नीग्रो जाति की विभेदक रेखाएं क्षीणतर होती गईं और अन्ततः उनके अंतर को पहचानना ही कठिन हो गया। आर्यों के आगमन पर द्रविड़ों से उनकी टक्कर हुई, किन्तु यह टक्कर भी दोनों को बहुत देर तक एक-दूसरे से दूर नहीं रख सकी। थोड़े ही समय में वे एक-दूसरे से घुल-मिल गये। यहांतक कि उनकी संस्कृति भी एक हो गई और आज तो यदि हम यह देखना चाहें कि हमारी वर्तमान संस्कृति में कौन-सा तत्व आर्यों का है और कौन-सा द्रविड़ों का तो यह बताना ही कठिन हो जायगा। श्री रामधारी सिंह 'दिनकर' के शब्दों में—"आर्य-परिवार की सभी भाषाओं ने उस एक ही घाट का पानी पिया है, जो व्यास और वाल्मीकि का घाट है, उन्होंने विचारों के उस एक ही भंडार से प्रेरणा ली है, जो वेदों और उपनिषदों का भंडार है और उनके भीतर सुरों एवं नरों के उस एक ही चरित्र का यशोगान है, जो ब्रह्मा, विष्णु और महेश अथवा राम, कृष्ण, बुद्ध और महावीर का चरित्र है।"

मुसलमान तो अभी हजार बारह सौ वर्ष पूर्व ही इस देश में आये। प्रारंभ में गजनी और गौरी के कृत्यों से इस देश के निवासियों को बड़ी ठेस पहुंची, किन्तु जैसे-जैसे समय बीतता गया वे एकता का मार्ग खोजते गए। कबीर पहला आदमी था जिसने एकता के प्रश्न पर चिन्तन किया। एकता का दूसरा चिन्तक था सम्राट् जलालुद्दीन अकबर और तीसरा राष्ट्र-पिता महात्मा गांधी। यद्यपि गजनी, गौरी और औरंगजेब के नाम पर विद्वेष और घृणा भी फैलाये गई तथा कबीर को जीवन भर हिन्दु-मुसलमान दोनों का विरोध सहना पड़ा; अकबर से सभी मुल्ला-मौलवी नाराज हो गये और गांधीजी को तो उन्हींके एक धर्म-बन्धु की गोली का शिकार होना पड़ा तथापि मानवता की भागीरथी जमाने भर की गंदगी एवं कूड़े-कर्कट को उदरस्थ करके भी आगे-ही-आगे बढ़ती रही।

इतिहास बताता है कि भारतीय संस्कृति का प्रवाह सदैव सामासिकता, सहिष्णुता और एकता की ओर रहा है और यही हमारे भविष्य का मार्ग है। धर्मों और सम्प्रदायों के बाह्याचारों ने इस एकता को बार-बार चुनौती दी। किन्तु धर्म आत्मा की वस्तु है, वह बाह्याचार या छुआछूत में नहीं बसता। कवीन्द्र रवीन्द्रनाथ ने कहा था, "धर्म को पकड़े रहो, धर्मों को छोड़ दो।" किन्तु हमारा दुर्भाग्य है कि भारतीय संस्कृति का यह संदेश आज बहरे कानों पर पड़ता हुआ प्रतीत होता है। अपने एक राष्ट्र के दो राष्ट्र बनवाकर, मानवता की इस भूमि को रक्त-रंजित करके तथा इस बीसवीं शताब्दी को एक बार फिर बर्बरता के दिन दिखाकर भी विघटनकारी शक्तियों को संतोष नहीं हुआ है। धर्म के नाम पर देश के दो टुकड़े करवाकर अब वे भाषावाद के नाम पर संगठित हो रही हैं। यह उन्हींकी करामात है कि दक्षिणवालों को अंग्रेजी तो पसन्द है किन्तु हिंदी का नाम भी अच्छा नहीं लगता और उत्तरवालों के पास दक्षिण को समझने का समय ही नहीं रहता। भाषावार प्रांत के नाम पर गुजराती महाराष्ट्र का दुश्मन बना, असमी बंगाली का, और जब भाषावार, प्रान्त की रचना भी हो गई तो कहीं विदर्भ का विवाद प्रारंभ हुआ, कहीं अकाली सूबे की आवाज बुलन्द हुई। एक समस्या हल होते-न-होते चार नई समस्याएं खड़ी हो जाती हैं और एकता एवं सद्भावना के सारे प्रयत्नों को हवा में उड़ा देती हैं।

ऐसा लगता है कि यदि यही स्थिति रही तो मद्रास के विश्वविद्यालय में उत्तर भारत तो दूर आन्ध्र का भी कोई प्रोफेसर दिखाई नहीं देगा और बनारस के विश्वविद्यालय में उत्तर प्रदेश तो दूर किसी विशेष जाति और विशेष कुल के ही लोग रखे जायंगे। इस संकुचित मनोवृत्ति के कुछ उदाहरण हमारे सामने आने भी लगे हैं। अब धीरे-धीरे सभी

प्रदेशों में यह भय भी घर करता जा रहा है कि कहीं हमारे यहां दूसरी भाषा या सम्प्रदाय के लोग बड़ी संख्या में न आ बसें। क्या देश के सभी विचारशील व्यक्तियों के सामने यह प्रश्न चिह्न नहीं है? विज्ञान के प्रयत्न से आज जबकि देश और काल की दूरी निरन्तर कम होती जा रही हो और 'एक विश्व' की चर्चा चलने लगी हो तब यह संकुचित मनोवृत्ति, या यह भाषाई सम्प्रदायवाद, यह प्रान्तवाद और इसके पीछे छिपा हुआ सत्तावाद चिन्ता का कारण नहीं है? क्या यह हमारी राष्ट्रीय एकता के लिए चुनौती नहीं है?

यदि मैं कहूं कि इस सबसे उदासीन होकर चुप बैठे रहना जीवन और जगत के प्रति ही उदासीनता का द्योतक है तो अतिशयोक्ति न होगी। अतः हम सबको इस चुनौती को स्वीकार करना चाहिए। सौभाग्य से कबीर, गांधी और अकबर की बहाई हुई धारा अभी जीवित है। देश के अनेक गण्यमान्य नेता विचारक और समाज-सेवी हमारे सामने खड़े हुए इस खतरे को देख रहे हैं और इसके विरुद्ध अपनी आवाज बुलन्द कर रहे हैं। भारतवर्ष एक अखंड देश है और वह हमें अपने पूर्वजों से इसी रूप में उत्तराधिकार में मिलता है। जब राष्ट्रीयता का विचार भी नहीं जगा था और लोगों में एकता की प्रतीति भी नहीं थी तब भी कभी एकता के विषय में प्रश्न नहीं उठा। भारत का प्रत्येक साधारण व्यक्ति आज भी स्नान करते समय 'गंगेच यमुनेच' कहकर भारत की सभी नदियों का स्मरण करता है और चारों धामों की यात्रा कर अपनेको कृतकृत्य मानता है। ऐसी स्थिति में इन विघटनकारी शक्तियों को अपनी बीभत्सता का प्रदर्शन करने के लिए मुक्त कर देना क्या एक जघन्य अपराध न होगा?

प्रश्न यह होगा कि इन विघटनकारी शक्तियों को कैसे उखाड़ फेंकें? कैसे देश में एकता, सहिष्णुता, और पारस्परिक सद्भावना की स्थापना करें। गहराई से विचार करने पर हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि चाहे जातिवाद हो, चाहे भाषावाद और चाहे सम्प्रदायवाद हो, चाहे प्रान्तवाद; इन सबके पीछे जाति, भाषा, प्रान्त, परम्परा अथवा संस्कृति के लगाव की ही भावुक प्रवृति तो होती ही है किन्तु इसके मूल प्रेरक हैं किसी व्यक्ति अथवा समह के हित। जब-जब व्यक्तिगत स्वार्थों या महत्वाकाक्षाओं को चोट पहुंचती है, तब-तब वे जातिवाद, भाषावाद आदि का बाना पहनकर उठ खड़े हो जाते हैं। इसीलिए जिस प्रकार रक्त की अशुद्धि के रोग का इलाज जगह-जगह उठनेवाले फोड़ों पर मरहम लगाकर नहीं किया जा सकता, उसके लिए तो रक्त को शुद्ध बनानेवाली औषधि का ही सेवन करवाना होगा, उसी प्रकार इस विघटनकारी शक्ति का इलाज है एक सशक्त गतिशील एवं व्यापक आर्थिक प्रणाली की व्यवस्था, जिसमें वैषम्य और अभाव के लिए नाममात्र का ही स्थान हो। जब ऐसी आर्थिक प्रणाली स्थापित हो जायगी तब ये विघटनकारी प्रवृत्तियां अपना सारा जादू खो बैठेंगी। इसमें कोई संदेह नहीं कि यह एक बहुत बड़ा कार्य है किन्तु जबतक यह नहीं होता, जनता का अभाव किसी-न-किसी रूप में फूटता ही रहेगा।

दूसरी बात है सांस्कृतिक शिक्षा। कवीन्द्र रवीन्द्रनाथ ने भारतीय संस्कृति की तुलना एक पूर्ण विकसित कमल से की है। उन्होंने कहा है कि इसकी विभिन्न पंखुड़ियों में विभिन्न क्षेत्रों की संस्कृतियां प्रवाहित होती हैं और इन पंखुड़ियों का समन्वित रूप पूर्णकमल हमारी अविभाज्य किन्तु अनेकपक्षीय भारतीय संस्कृति का प्रतीक है। कवीन्द्र के शब्दों में यदि इसकी एक भी पंखुड़ी विक्षत हो जाती है अथवा अविकसित या अर्ध-विकसित रह जाती है तो इसका पूरे फूल के सौंदर्य पर प्रभाव पड़ेगा। स्पष्ट है कि पूर्णता की यह भावना, यह विशाल दृष्टिकोण ही हमारी संकुचित मनोवृत्ति, स्वार्थपरता और लगाव की भावुक प्रवृत्ति का इलाज कर सकेगी।

पूर्णता की भावना लाने के लिए हम बहुत-सी बातें कर सकते हैं। उदाहरणार्थ, पड़ोसी राज्यों के बीच गहरा सम्पर्क स्थापित करना, उनकी भाषा, संस्कृति और साहित्य का अध्ययन करना तथा पारस्परिक सहयोग और सद्भावना का विकास करना। भले ही गुजरात में शिक्षा का माध्यम गुजराती हो और बंगाल में बंगला, किन्तु गुजरात में चंडीदास और रविबाबू के गीतों का वही सम्मान हो जो नरसी मेहता और मीराबाई के गीतों का है। इसी प्रकार पंजाब में ज्ञानेश्वर और तुकाराम के अभंग उसी श्रद्धा से गाये जायं जिस श्रद्धा से गुरु नानक और अंगद के भजन गाये जाते हैं। इसी प्रकार मद्रास में लक्ष्मीबाई की मूर्ति लगाई जाय, राजस्थान में शिवाजी की। आंध्र में गुरु नानक की जयंती मनाई जाय

(शेष पृष्ठ ११५ पर)

जीवन में श्रम का महत्व

●● गंगाप्रसाद 'विमल'

श्रम गतिवान क्रिया है। गति जीवन है, जड़ता मृत्यु। गतिमयता जीवन का लक्षण है। अतः गति जीवन के लिए अत्यावश्यक है। जड़ जंगम-स्थिरता में गति नहीं, गति है चलायमान क्रिया में, जो समस्त चेतन सृष्टि में आवश्यक और स्वाभावतः होती है। श्रम बाह्यारोपित भी है और वह तभी अपेक्षित है जब व्यक्ति का अन्तर-बाह्य का संतुलन बिगड़ जाय। श्रम की दूसरी आवश्यकता विकास के लिए है। प्रकृति या चेतन में विकास होता है एक निरन्तर गतिशील श्रम-प्रक्रिया से वही गतिशीलता परिवर्तन यथा आरोपित श्रम है। श्रम विकासोन्मुखी प्रवृति के लिए नितान्त आवश्यक है, यह कई विचारकों का मत है, क्योंकि स्वयं श्रम में 'गतिशील' विकास के बीज छिपे हैं। हमारे प्राचीन (साहित्य) ग्रन्थों में श्रम का महत्व प्रतिपादित है। श्रम की अभ्यर्थना तक की गई है। श्रम यदि सत्व भाव से (निष्कामादि भावों से) किया जाय तो वह कीर्ति, धन, बल और सच्चा जीवन देनेवाला है। श्रमजीवी सदैव सुखी, स्वतन्त्र और स्वस्थ होता है। श्रम-देव का आराधक प्रतिनिधि किसान भारतीय सांस्कृतिक जीवन का प्रतिनिधि तथा प्राचीन भारत से वर्तमान भारत तक का गौरव है। प्राचीन भारत के ऋषि-महर्षि श्रम के महत्व को जानते थे। उन्हें ज्ञात था कि श्रम ही इस अमूल्य जीवन-साफल्य का मूल मंत्र है, उनका श्रम साधना था, श्रम स्वयमेव साधनाविहीन नहीं। श्रम का महत्व सर्वदेशीय-सार्वकालीन समान रूप से है, प्राचीन सभ्यता के मूल में श्रम था, उस समय व्यक्ति यन्त्रावलम्बन पर नहीं था, अपितु उसे अपने श्रम पर ही अमिट विश्वास था।

आज स्थिति परिस्थितियों के परिवर्तन से श्रम के संबंध में भी कुछ बदलाव नज़र आता है। श्रम की परिभाषा कुछ समय के कारण बदली है। अर्थशास्त्र के अनुसार श्रम-उत्पादन का एक अंग है। और यह श्रम है मानवीय श्रम। बौद्धिक श्रम भी उत्पादक है किन्तु उसका उत्पादन ठोस और नियमित नहीं माना जाता।

विज्ञान श्रम के ढांचे में परिवर्तन कर डालता है। व्यक्ति बैठे-बैठे जब अपनी आवश्यकता की वस्तुएं लेने लगेगा तब श्रम की क्या आवश्यकता? इस प्रकार आरामतलबी, आलस्य और अकर्मण्यता का एक जाला बुनकर वैज्ञानिक-प्रगति व्यक्ति को पंगु, खोखला और अन्य रूपों में कमजोर बना डालती है। यहां व्यक्ति का अस्तित्व न रहकर केवल यन्त्र का अस्तित्व रहता है। यन्त्र प्रधान है, व्यक्ति गौण। जो भी हो यन्त्र जहां हमारी परस्पर दूरी कम, परस्पर कार्य सुविधाओं का सृजन करता है वहांतक स्वागत है किन्तु व्यक्ति को पंगु बना डालना—जीवन के सही अर्थ से दूर जाना है। वस्तुतः वैज्ञानिक प्रगति से व्यक्ति श्रम-प्रिय न होकर, श्रम से बचनेवाला, आलसी, अकर्मण्य हो गया है। आज जो कार्य व्यक्ति करता भी है, उखड़े मन, उखड़ी लगन से श्रम से बचने के लिए ही करता है, विज्ञान बहुत-कुछ बचाव का माध्यम है। हम मानते हैं कि विज्ञान की प्रत्येक क्षेत्र में उपादेयता है। विज्ञान स्वयमेव प्रगतिशील ज्ञान-कोश है। जो अणु-अणु में चलायमान क्रिया की प्रेरणा को शक्ति मानता है। यही शक्ति जीवधारियों में भी निरन्तर विकासोन्मुख प्रक्रिया है। सिद्धान्ततः शक्ति ही श्रम का निर्धारण करती है। कितना श्रम व्यक्ति (किसी इकाई के लिए) समाज और राष्ट्र के लिए आवश्यक है और कितना व्यक्ति की शक्ति दे सकती है, ये दोनों बातें विचारणीय हैं, वैज्ञानिक हैं। सूक्ष्मावलोकन पर श्रम का अर्थ कुछ बदल-सा जायगा। लोग कहेंगे कि जो श्रम परिहार्य है, वह प्रकृति प्रदत्त है और व्यक्ति-जीव उतना विकास के साथ-साथ करता जाता है। किन्तु यथार्थ जगत् की वस्तु-स्थिति को देखकर श्रम के व्यावहारिक रूप का अवलोकन वांछनीय है।

जितने भी विश्व-प्रसिद्ध कार्य हैं, मानव, जीवन के साफल्यावलोकन हेतु कार्य हैं, राष्ट्र-निर्माण के कार्य हैं यथा व्यक्ति की सुख-कामना के कार्य हैं। वे सब श्रम से अनुप्राणित हैं। उनमें श्रम का रक्त बोलता है। श्रम ही एक ऐसी विद्या है, जो कार्य को सफलता के चरम पर ले जाती है। आज विज्ञान का युग है, विज्ञान की सभी प्रगतियों के पीछे दिन-रात का अनवरत श्रम ही है। श्रम सभी प्रगतियों के मूल में है। अब ज़रा श्रम की व्युत्पत्ति का अवलोकन

कीजिये--कर्म है, जिसमें शक्ति या श्रम अपेक्षित है, कर्म जीवन के लिए आवश्यक है। जीने, सुखी रहने तथा अपने अस्तित्व के लिए। कर्म के कई दर्शन हैं। भौतिकवादी कर्म पदार्थ-प्राप्ति की प्रेरणा से अनुप्राणित है। अध्यात्मवादी कर्म निष्काम लोकमंगल की भावना से अनुप्राणित है। दोनों में अंतर है। परंतु कर्म करना दोनों का मन्त्र है। गीता में कर्म-दर्शन का विवेचन सिद्धान्त और व्यक्ति-कर्तव्य की दृढ़ आधार-भूमि पर हुआ है। यह दृष्टान्त व्यक्ति की चेतना के विकसित रूप का है। आज यद्यपि मस्तिष्क-विकास अधिक हो गया है, तथापि लगता है कि श्रम-शक्ति का वहां उपयोग नहीं होता।

श्रम उत्पादन का अंग या उत्पादन का मूल उत्स है। भूमि है, पूंजी है, साहस है किन्तु यदि श्रम नहीं तो कुछ भी नहीं। श्रम का कर्ता सभी कुछ प्राप्त करने की क्षमता रखता है। परन्तु यहां श्रम से मेरा तात्पर्य उत्पादक श्रम होते हुए भी स्वभावकृत श्रम से हैं, तथा जीवन के लिए आवश्यकतानुसार श्रम का मिश्रण अधिक गण्य है। श्रम, देखा जाय तो, मानव-मनकी केन्द्रीभूत अवस्था है और मन को एकाग्र रखनेवाले व्यक्ति के पास समय नहीं होता कि वह विकृतियों की कल्पना तक करे, वह उदात्त जीवन व्यतीत कर सकता है। मनोवैज्ञानिक रूप से भी यह सिद्ध है कि अपने मन में कुंठा और ग्रन्थियों को स्थान न दे, जो व्यक्ति निष्काम सेवा-कार्य करता है, वह अधिक उदात्त होता है। अतः यह निर्विवाद है कि श्रम एक अवस्था है जब मानव सद्भावना से प्रेरित हो, एकाग्र चित्त हो, कोई कार्य करता है तब विकास की अवस्था नहीं रहती। अर्थात् श्रम एक तत्व है, मानव के विकारों के निष्कासन में। एक अवस्था है सद्भावनाओं की। यों तो विकृति-प्रेरित श्रम भी श्रम हो सकता है, किन्तु न वह आर्थिक रूप से उत्पादन में सहयोगी होता है, न मानसिक रूप से चेतना की ऊंची अवस्था होती है, न सामाजिक रूप से मान्य होता है।

श्रम की यों तो अनेक कोटियां हैं। पहले कह चुके हैं कि शक्ति के अनुसार श्रम, और लक्ष्य या माध्यम के अनुसार अपेक्षित श्रम ही उत्पादित श्रम या मान्यता-प्राप्त श्रम या व्यक्ति का स्वमान्य वृत्ति-परक श्रम है। पूज्य राष्ट्रपिता महात्मा गांधी ने श्रम के महत्व को समझा और इसीलिए उन्होंने ऐसे सर्वोदय-समाज की कल्पना की, जिसमें व्यक्ति पंगु न बन जाय, प्रत्येक व्यक्ति सश्रम अपने हित तथा समाज के हित की अपेक्षा करता है अर्थात् व्यक्ति श्रम से ही 'स्व' तथा 'पर' प्रगति करता है। श्रमविहीन समाज की कल्पना संसार के किसी व्यक्ति ने भी नहीं की। स्पष्ट है, अन्तःस्तल में प्रत्येक व्यक्ति श्रम के महत्व को जानता है और छोटी-सी प्रेरणा मिलने पर वह श्रम करने के लिए कटिबद्ध हो जाता है। श्रम के मुख्यतया दो उद्देश्य हो सकते हैं--१. उत्पादन में योगदान देनेवाला श्रम; २. निष्काम सेवापरक श्रम, जो फल की आकांक्षा नहीं रखता, किन्तु अनायास ही फल-प्राप्ति हो जाती है।

उक्त दोनों उद्देश्य क्रमशः भौतिक और आध्यात्मिक विचारों का प्रतिनिधित्व करते हैं। परंतु मूलरूप में दोनों एक-दूसरे के पूरक हैं, क्योंकि अन्ततः महत्ता श्रम की है। पदार्थवादी दृष्टिकोण जीवन के बाह्यपक्ष की ओर अधिक ध्यान देता है, वह व्यक्ति के जीवन में सुख, शान्ति और ऐश्वर्य के निमित्त कार्यलग्न हो श्रम करता है। व्यक्ति को समाज में रहना है,अपने सुख के अतिरिक्त उसे समाज के सुख की भी लालसा होती है--एक तो अपने सुख की रक्षार्थ दूसरे प्रत्येक इकाई के सुखी होने पर मानसिक शांति के निमित्त--यहीं हमारे अध्यात्मवादी विचार की भी पुष्टि हो जाती है। इसलिए श्रम व्यक्ति के निर्माण से उसे सशक्त बनाने की प्रबल चेष्टा है,जिससे उसमें सद्भाव जागे, अपने से इतर की सुख-कल्पना उसमें हो, यथा वह विकृतियों से दूर रहे एवं ऐसा उत्पादन करे, जिससे उसे तथा समाज को लाभ हो।

वर्तमान युग निर्माण का युग है। पिछड़े देशों में निर्माण-कार्य द्रुत-गति से हो रहा है। यह निर्माण देश, समाज और व्यक्ति के हितों को देखते हुए हो रहा है। इसमें कल्याणकारी भावना निहित है, अर्थात् निर्माण में जो शक्ति-श्रम व्यय हो रहा है, वह सार्थक है। उसमें ध्वंसात्मक प्रवृत्ति नहीं, आलस्यात्मक प्रवृत्ति नहीं, अपितु काम करते रहने की एक उत्कट प्रेरणा है। यह श्रम उपादेय है, उत्पादक है। आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न होना एक लक्ष्य है। निर्माण के मूल में भी यही है। व्यक्ति से समाज और समाज से राष्ट्र सम्पन्नता की शृंखला है। अर्थात् निर्माण का प्रथम

सोपान है व्यक्ति, और व्यक्ति की सम्पन्नता निहित है उसके परिश्रम पर। व्यक्ति जितना श्रम करेगा—अपने लिए तो वह फल पायेगा ही, प्रच्छन्न रूप से उसकी सम्पन्नता का प्रभाव समाज पर पड़ेगा। यही क्रम धीरे-धीरे चलेगा। विकास के पथ पर श्रम का योगदान व्यक्ति के रूप में है। यही उसका महत्वपूर्ण योगदान है।

मानवीय श्रम का एक दूसरा पहलू भी है, जिसकी ओर गांधीजी ने ध्यान दिलाया। गांधीजी दूर द्रष्टा थे। वैज्ञानिक प्रगति के वह विरोधी नहीं थे, किन्तु यान्त्रिकता से उपज रही विषमता की कल्पना उन्होंने पहले ही कर ली थी—एक ऐसी विषमता जो समाज के समान भ्रातृत्व वर्ग के दो टुकड़े कर डालेगी। एक यन्त्र स्वामी जो न स्वयं परिश्रम करेगा और न दूसरे श्रमिकों को कार्य करने देगा, दूसरा श्रमिक वर्ग, जिसका श्रम किसी भी कीमत पर खरीदा नहीं जायेगा (अर्थात् नीची-सी-नीची मजदूरी)। अर्थात् मोटे रूप में दो वर्ग बन जायंगे। एक शोषक-पूंजीपति वर्ग तथा दूसरा सर्वहारा श्रमिक वर्ग। और फिर दोनों वर्गों की आपसी टकराहट कभी सुख और शान्ति नहीं व्यापने देगी। आपसी टकराहट हिंसा को जन्म देगी। हिंसा विध्वंसक यन्त्र-निर्माण के लिए प्रेरित करेगी और इस प्रकार दोनों वर्ग निर्माण की ओर न जाकर नाश की ओर चले जायंगे। अबतक विश्व में, राजनीति में, यही विज्ञान-यान्त्रिकता व्यक्ति के अस्तित्व को ठोकर मारती हुई ध्वंस की ओर खींचती है। मजदूर-वर्ग कार्य न मिलने पर क्या करेगा? यह एक श्रमिक ही नहीं, व्यक्ति के लिए भी प्रश्न है—एक विकट प्रश्न, एक कुंठाग्रस्त झुंझलाहट का सूत्रपात, जिससे न व्यक्ति का विकास होता है, न उसके व्यक्तित्व को स्वाधीन विकास का अवसर मिलता है, न उसके शरीर का समुचित विकास होता है, इस प्रकार अकर्मण्य, पंगु, श्रमविहीन व्यक्ति बिना किसी बाह्यारोप के नाश के मुख की ओर चला जाता है। अन्ततः यह समस्या समाज से राष्ट्र, और राष्ट्र से अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्रों में फैल जाती है। यदि मान लिया जाय—मूल धुरी अर्थ है, अर्थ के लिए हम कार्य करते हैं, श्रम करते हैं। किन्तु अर्थ का यह विषम विभाजन क्यों होता रहता है? कौन-सी ऐसी प्रक्रिया है? निश्चित रूप से उत्तर है कि यन्त्र, बेकारी और परिश्रम-हीनता इसके कारण हैं। बात अर्थ-विषमता की नहीं, अर्ध-विकसित राष्ट्र के व्यक्तियों के जीवन की है, उनके धन, शरीर तथा चरित्र तीनों का विकास निर्भर करता है उचित श्रम पर। और वह उचित श्रम-विभाजन उसी सीमा तक ठीक है जबतक वह समान, समानभोजी और समान फल-दायक व्यक्ति श्रम, शक्ति और समय के अनुसार है।

भारत का प्रश्न है विकास के लिए। यन्त्र-विकास किसी सीमा तक आवश्यक है, उस सीमा तक जबतक वह श्रमिक के श्रमाधिकारों, श्रमावश्यकताओं की सीमा का अतिक्रमण नहीं करता, किन्तु हमारे देश में कार्य और श्रम के महत्व को उसी रूप में नहीं पहचाना जा रहा है। यही कारण है कि देश के नवयुवक शरीर-श्रम क्या, मानसिक श्रम (अध्य-यन—स्वाध्याय, मनन, चिन्तनादि) से भी दूर भागता है। मानसिक श्रम व्यक्ति के मस्तिष्क के विकास में सहायक होता है। परन्तु उससे पूर्व शरीर का श्रम एक ऐसी क्रिया है, जिससे स्वास्थ्य, संतोष, दृढ़ चारित्रिकता तथा आत्मविश्वास का जन्म होता है। शरीर-श्रम से शरीर और मस्तिष्क दोनों का समान रूप से विकास होता है। जीवन के लिए यह स्वास्थ्य यह विकास आज के समय में नितान्त आवश्यक है। जबतक हम भारतवासी श्रम के इन सभी महत्वों को सामने नहीं रखते तबतक हम सब पंगु हैं, जो पराश्रित हैं। अपना श्रम एक ऐसी शक्ति है, जो दूसरे को दी तो जाती है, परंतु अपने-आप ली नहीं जाती। एक ऐसा स्वाभिमान है, जो व्यक्ति की प्रवृत्ति बहिर्मुखी-अन्तर्मुखी कर आत्मविवश्वास की दृढ़ता मानता है। ऐसा श्रम जो अहिंसा के दर्शन पर आधारित हो, जिसमें लालसा का अंश न हो, जिसमें विकास का समुचित अवसर मिले, जीवन के लिए अत्यावश्यक है। इसके बिना व्यक्ति का जीवन ही व्यर्थ है। विश्वविद्यालयों तथा विद्यालयों में श्रम के महत्व पर विद्यार्थियों को प्रशिक्षित कर—उन्हें सत्यतः जीवन के क्षेत्र में छोड़कर—दूसरों को श्रम करने के लिए प्रेरित करे। निःसन्देह वही व्यक्ति जीवन-संग्राम में सफल होगा, जो श्रम के वास्तविक अर्थ और महत्व को समझ पायगा। श्रम एक प्रकार की साधना-पद्धति है जो समाज-रूपी भूमि पर विशेष रूप से निष्पक्ष मस्तिष्क, स्वस्थ विचारो-त्तेजना तथा जीवन के लिए महत्वपूर्ण है।

दक्षिण के मंदिर

●● अवधनंदन

दक्षिण की समस्त संस्थाओं में यहां के मंदिर सबसे प्राचीन तथा गौरवपूर्ण हैं। तमिलनाडु में शायद ही कोई गांव ऐसा होगा, जिसमें मंदिर न हो। दक्षिण में यह लोकोक्ति प्रचलित है कि जिस गांव में मंदिर नहीं वह गांव निवास के योग्य नहीं। प्रागैतिहासिक युग में भी प्रत्येक गांव में मंदिर होते थे और प्रायः ये गांव के समीप किसी सुन्दर तथा रमणीक स्थान में, आम्र अथवा नारिकेल के वृक्षों के कुंज में अथवा नदी-तट पर बने रहते थे। मंदिरों से सटा हुआ स्वच्छ जल का तालाब होता था, जिसमें स्नानादि से पवित्र होकर भक्तजन मंदिर में भगवान् के दर्शन तथा पूजा करने जाते थे। आरंभ में ये मंदिर बहुत छोटे थे, पर ज्यों-ज्यों उनकी प्रसिद्धि बढ़ी, त्यों-त्यों उनका कलेवर भी बढ़ा और बड़े-बड़े मंडप, संपथ, ऊंची चहारदीवारियां, छोटे-छोटे देवालय तथा दूर से ही यात्रियों को आकर्षित करनेवाले गगनचुम्बी गोपुर बनवाये गए।

ऐसा प्रतीत होता है कि ईसा की छठी शताब्दी तक दक्षिण में कोई बड़ा मंदिर नहीं था और जो थे वे या तो लकड़ी के थे या ईंट-गारे से बने थे, जिससे वे अल्पकाल में ही नष्ट हो गये। प्राचीन युग के ईंट-गारे से बने मंदिर का नमूना आज एकमात्र कांची में कैलाश भगवान् का मंदिर है। बड़े-बड़े मंदिर बनवाने का कार्य ईसा की सातवीं सदी में आरंभ हुआ और अठारहवीं सदी तक चलता रहा। ईसा की सातवीं शताब्दी में कांची पर पल्लव-वंशी राजा राज करते थे। इसी वंश में नरसिंह वर्मन नाम का एक राजा ई० सन् ३३० में कांची के सिंहासन पर बैठा। उसका दूसरा नाम महामल्ल भी था। उसने मंदिर-निर्माण में क्रांति उत्पन्न की और ईंट-गारे का त्याग कर पत्थर के चट्टानों को काटकर मंदिर बनवाने की नई प्रथा आरंभ की। महामल्ल ने अपने राज्य में अनेक मंदिर बनवाये, जिनमें से अधिकांश, मद्रास से ३२ मील की दूरी पर समुद्र के किनारे महाबलीपुरम् नामक स्थान में तथा कुछ कांची में बनवाये गए। पल्लवकालीन मंदिरों की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वे पूरे-पूरे पत्थरों से ही बनाये गए हैं और उनके निर्माण में ईंट या गारे का उपयोग नहीं के बराबर हुआ है। इस युग के मंदिर भी हमें दो रूपों में दिखाई देते हैं, कुछ तो पत्थर के पूरे चट्टान को काटकर बनाये गए हैं जैसे महाबलीपुरम् में अर्जुन, भीम, द्रौपदी आदि के रथ और कुछ पत्थरों के टुकड़ों को जोड़ कर, जिसका नमूना भी महाबलीपुरम् में ही वहां के समुद्र तटवाले मंदिर (शोर टेम्पुल) में मिलता है। शिल्प-कला के विकास की दृष्टि से पल्लव-युग अत्यन्त महत्वपूर्ण था, क्योंकि उन्हींकी दी हुई नींव पर आगे चलकर बड़े-बड़े मंदिरों का निर्माण हुआ।

पल्लवों के बाद चोल राजाओं ने मंदिर-निर्माण का कार्य अग्रसर किया। चोल वंश कावेरी नदी की उपत्यका पर शासन करता था, जिसमें आजकल तंजावूर, तिरुच्चिरापल्ली तथा दक्षिण आरकाट के जिले शामिल हैं। यह उपत्यका अत्यन्त उपजाऊ है और 'दक्षिण का अन्नकोष' के नाम से आज भी प्रसिद्ध है। चोल राजाओं ने अपने राज्य में दो सौ से अधिक मंदिर बनवाये। इस वंश की कृतियों में महाप्रतापी राजराज चोल (सन् १००९) द्वारा बनवाया हुआ तंजौअर में बृहदीश्वर का मंदिर और राजराजा के पुत्र राजेंद्र चोल (सन् १०३०) द्वारा बनवाया हुआ गंगैकोण्डचोलपुरम् में शिव का मंदिर चोल कालीन शिल्प-कला के अद्भुत तथा भव्य उदाहरण हैं। किन्तु शिल्प-कला और मंदिर-निर्माण का चरम विकास तो विजयनगर के महाराजाओं के समय में हुआ। यह राज्य वर्तमान बेल्लारी जिले में तुंगभद्रा नदी के तट पर ईसा की १४वीं शताब्दी में हरिहर और बुक्क नामक दो भाइयों द्वारा स्थापित हुआ था। लगभग साढ़े तीन सौ वर्षों तक इस राज्य ने दक्षिण में हिंदू धर्म और हिंदू संस्कृति को मुसलमानों के आक्रमणों से सुरक्षित रखा और उसे आगे बढ़ाने का साहसपूर्ण कार्य किया। मुसलमानी राज्यों के साथ निरंतर युद्ध में संलग्न रहने पर भी इस वंश ने समस्त दक्षिण भारत में भाषा, साहित्य, ललित कला, शिल्प, वाणिज्य आदि को जो प्रोत्साहन दिया, वह दक्षिण के इतिहास का गौरवपूर्ण अध्याय माना जाता है। इसी वंश में कृष्णदेव राय नामक महाप्रतापी नरेश उत्पन्न

हुए थे, जिनकी सर्वतोमुखी प्रतिभा, कला-प्रेम, हिंदू धर्म तथा संस्कृति के प्रति अगाध श्रद्धा और आदर्शपूर्ण निर्माण-कार्य आज भी इतिहास के पृष्ठों को अलंकृत कर रहे हैं। विजय-नगर के महाराजाओं का प्रोत्साहन पाकर दक्षिण में अनेक नये मंदिरों का निर्माण हुआ। पुराने मंदिरों के कलेवरों में अत्यधिक वृद्धि हुई, उनमें हजार खंभोंवाले मंडप, कल्याण-मंडप, नृत्य-शालाएं, ऊंचे प्राकार, गगनचुम्बी गोपुर और दूसरे अनेक प्रकार के कलात्मक महल बनवाये गए। इस युग के मंदिरों में सबसे बड़ी विशेषता है कि उनमें लगे हुए पत्थरों के कलापूर्ण स्तंभ, प्राकारों के सिंह-द्वारों पर बने हुए विशाल गोपुर तथा पत्थर की दीवारों पर कढ़े हुए बेल-बूटे। विजयनगरकालीन शैली के मंदिर सारे दक्षिण भारत में फैले हुए हैं। वेलूर, कुम्बकोणम, कांचीपुरम्, श्रीरंगम आदि के मंदिर इसी शैली पर बने हैं, परन्तु इस शैली का सर्वोच्च तथा सर्वोत्तम नमूना तो विजयनगर की उजाड़ बस्ती में ही 'विट्ठल' और 'हज़ार राम' के मंदिरों में देखने को मिलता है। विट्ठल के मंदिर में लगे हुए कलापूर्ण स्तंभ की कारीगरी देखकर दर्शक आश्चर्य और विस्मय में पड़ जाता है। उन्हें गढ़ने में कितना समय लगा होगा, कितनी सहिष्णुता और निपुणता के साथ कारीगरों ने कार्य किया होगा, इसकी कल्पना करना कठिन है।

दक्षिण के मंदिरों के निर्माण में करोड़ों की संपत्ति लगी हुई है, कहीं-कहीं इनके दाताओं के नाम मंदिर की दीवारों तथा स्तंभों पर खुदे हुए मिलते हैं। कभी-कभी ताम्र पत्रों तथा शिला-लेखों पर भी इस प्रकार के विवरण उत्कीर्ण मिलते हैं। ये वस्तुएं दक्षिण का प्राचीन इतिहास लिखने में अत्यंत सहायक हुई हैं।

तमिलनाड के मदुरा और तिरुनेलवेली के जिलों पर पांडिय-वंशी राजाओं का राज्य था। उन्होंने भी अपने राजत्वकाल में अनेक मंदिर बनवाये। विजयनगर साम्राज्य के पतन के बाद मदुरा पर नायक राजाओं ने राज्य किया था। नायक राजाओं में भी मंदिर बनवाने का बड़ा शौक था। उन्होंने मदुरा, रामेश्वर तथा दक्षिण के अनेक स्थलों में मंदिरों के गोपुर और प्राकार बनवाये थे। मदुरा के मंदिर और उसके बाहरी प्राकार के सिंह-द्वारों पर बने हुए विशाल गोपुर इन्हीं नायक राजाओं के कीर्त्ति-स्तंभ हैं। मदुरा का मंदिर नायककालीन स्थापत्य-कला का सर्वोत्तम नमूना है। इसी वंश की मंगम्मा नामक एक रानी ने तिरुच्चिरा-पल्ली की पहाड़ी पर एक सुन्दर मंदिर बनवाया, जो मातृ-भूतेश्वर के नाम से प्रसिद्ध है।

दक्षिण के मंदिरों के संबंध में यह कहना कठिन है कि किस मंदिर की स्थापना कब हुई और किसने की। ऐसा प्रतीत होता है कि इनमें से अधिकांश मंदिर प्रागैतिहासिक युग में भी वर्तमान थे, किन्तु उनका कलेवर इतना विशाल एवं विस्तृत नहीं था, जितना कि आज हम देखते हैं। धीरे-धीरे जब उनकी प्रसिद्धि और लोकप्रियता बढ़ी तब राजाओं और धनी व्यक्तियों का ध्यान उनकी ओर गया। उन्होंने मंदिरों का कलेवर बढ़ाने तथा उनकी श्रीवृद्धि करने के हेतु ऊंचे प्राकार, गोपुर बड़े-बड़े महल और छोटे-छोटे देवताओं के लिए देवालय बनवाये, जिससे जो मंदिर पहले एक साधारण देवल था, अब एक विशाल क्षेत्र बन गया। वैष्णव और शैव संतों ने भी इस कार्य में सम्पूर्ण योग दिया। वे अपने-अपने इष्टदेव के क्षेत्रों में जाकर उनकी प्रशंसा में पद रचते और उन्हें गाकर भक्त-मंडली में सुनाते थे। उन संतों ने भी धन संग्रह करके बहुत-से मंदिरों का जीर्णो-द्धार किया और कुछ नये मंदिर भी बनवाये। कथा है कि एक वैष्णव संत 'तिरूमंगैआलवार' ने नागप्पट्टिणम के बौद्ध मंदिर से सोने की बुद्ध-प्रतिमा चुराकर उसके मूल्य से श्रीरंगम के मंदिर का जीर्णोद्धार कराया था।

भारतीय संस्कृति, कलाकृतियों तथा धार्मिक भावनाओं के संरक्षण और विकास में दक्षिण के मंदिरों ने अभूतपूर्व कार्य किया है। यहां के प्रायः सभी मंदिरों में पाठशालाएं होती थीं जिनमें वेदों, आगमों और पुराणों का अध्ययन तथा अध्यापन कराया जाता था और हज़ारों छात्रों को मुफ्त में भोजन तथा वस्त्र दिये जाते हैं। राजाओं तथा जमींदारों ने उस कार्य के लिए जागीरें दे रखी थीं जिनसे छात्रों की शिक्षा और भरण-पोषण की व्यवस्था होती थी। इन मंदिरों की सहायता से हजारों व्यक्ति, संगीत, नृत्य, वास्तु, शिल्प, मूर्ति-निर्माण आदि कलाओं में प्रवीणता प्राप्त करते थे। आज भी अनेक मंदिरों में यह क्रम चालू है। आगे चलकर जब आल-वारों (वैष्णव संत) की रचना 'दिव्य प्रबंधम्' के नाम से और शैव संतों की रचनाएं 'तेवारम' (भजनों की माला)

के नाम से संगृहीत की गई तब इन पाठशालाओं में इन्हें भी सिखाने और लय से गाने का प्रबंध किया गया। इन मंदिरों के द्वारा लाखों व्यक्तियों की जीविका चलती थी, प्रत्येक मंदिर में सैकड़ों राज, मज़दूर, कारीगर, शिल्पी तथा चित्रकारों को रोजी मिलती थी, युद्धों और राजनैतिक उपद्रवों के समय मंदिर की ऊंची और सुदृढ़ चहारदीवारियां लोगों की रक्षा करती थीं और मंदिर के अन्न-कोष दुष्काल के समय जनता को भोजन देते थे। मंदिरों के खर्च के लिए राजाओं और अमीरों ने अपार संपत्ति अर्पित की थी और मूर्ति के शृंगार के लिए हीरे-जवाहरात और सोने के उत्तम आभूषण प्रदान किये थे। उत्सव के समय आज भी इन आभूषणों का उपयोग होता है और भगवान् की मूर्ति इनसे सुसज्जित और आभूषित होकर रथ या भिन्न-भिन्न वाहनों पर सवार होकर बाहर निकलती है। इन रत्नाभूषणों की शोभा को देखकर दर्शकों की आंखों में चकाचौंध छा जाता है।

उत्तर भारत में तीर्थ-क्षेत्रों को जो महत्व और प्रतिष्ठा प्राप्त है वही महत्व तथा प्रतिष्ठा दक्षिण में मंदिरों को है। इन मंदिरों ने पिछले दो सहस्र वर्षों तक प्राचीन हिंदू संस्कृति तथा हिंदू आचार-विचारों की रक्षा की है और मानव-हृदय में पवित्र विश्वास, धार्मिक चेतना तथा आध्यात्मिक जागृति को प्रोत्साहन दिया है। सहस्रों मनुष्यों ने इनके दर्शन करके सांत्वना एवं शान्ति प्राप्त की है, घोर आपत्तियों और दुःखों के समय में जनसमाज ने इनसे धीरज और बल प्राप्त किया है।

दक्षिण के मंदिर प्रायः किसी गांव के पास, या पवित्र स्थान पर या किसी नदी के किनारे बने थे। धीरे-धीरे उनके आस-पास आबादी बढ़ती गई और आज अनेक मंदिरों के चारों तरफ पूरा नगर बस गया है। श्रीरंगम और जंबुकेश्वर के मंदिरों के प्राकारों के भीतर तो पूरा शहर आबाद है। ये मंदिर सार्वजनिक जीवन के भी केंद्र थे। सवेरे से शाम तक यहां दर्शकों तथा पुजारियों की भीड़ लगी रहती थी। पूर्व-काल में सामाजिक, धार्मिक तथा आर्थिक समस्याओं पर भी विचार करने के लिए सार्वजनिक स्थान के तौर पर इन मंदिरों का उपयोग होता था।

मंदिरों का शासन और प्रबन्ध ठीक उसी प्रकार होता था जिस प्रकार किसी राज-भवन या राज्य की व्यवस्था होती है। उसके प्रत्येक मंदिर के प्रबंध के लिए ट्रस्टी तथा पुजारियों के एक दल के अतिरिक्त अनेक दूसरे व्यक्ति भी नियत थे, जिनका कार्य मंदिर को आवश्यक वस्तुएं पहुंचाना होता था। माली भगवान् की पूजा के लिए फूल लाता था, गंधी मूर्ति के शृंगार के लिए चंदन, अतर और गुलाब जल पहुंचाता था और ग्वाले नैवेद्य तथा दीप जलाने के लिए घी लाते थे। आगम शास्त्रों के ज्ञाता पंडित भगवान् की पूजा करते थे और वाद्यकर ढोल और कर्णमधुर नागस्वरम् (शहनाई) बजाकर भक्तों और उपासकों को पूजा के समय की सूचना देते थे। इस प्रकार प्रत्येक मंदिर वहां के निवासियों के धार्मिक तथा सामाजिक प्रवृत्तियों का एक प्रधान अंग बन गया था। आज भी दक्षिण के प्रायः सभी मंदिरों में ये दृश्य दृष्टिगोचर होते हैं।

दक्षिण के मंदिरों की रचना शिल्प तथा आगम शास्त्रों के अनुसार हुई है। ये वास्तु-कला, स्थापत्य-कला तथा मूर्ति-कला के अद्भुत नमूने हैं। अधिकांश मंदिर मज़बूत शिलाखंडों से बने हैं और प्रायः सबकी रचना हिसाब से एक निर्धारित पद्धति पर हुई है। उनमें लगे हुए कलापूर्ण स्तंभ, सुन्दर एवं सजीव मूर्तियों और शिल्प-कला के अद्भुत नमूने उनके निर्माताओं की श्रद्धा-भक्ति एवं कुशलता का प्रमाण देते हैं। बड़ी-बड़ी चट्टानों को काटकर उनसे विशाल तथा कलापूर्ण खंभे बनाने, उनमें मूर्तियां गढ़ने तथा पत्थर के पट्टियों को खोदकर उनमें बेल-बूटे बनाने में दक्षिण के कारीगर कितने चतुर थे, इस बात की कल्पना करके आजकल के कुशल इंजीनियरों की भी बुद्धि चकरा जाती है।

दक्षिण के मंदिर प्रायः शिव, विष्णु या सुब्रह्मण्यम के नाम पर बने हैं। ये ही तीन यहां के सर्वप्रिय देवता हैं जिनकी पूजा भिन्न-भिन्न नामों से दक्षिण भारत में होती है। विष्णु के प्रचलित नाम रंगनाथ, वेंकटेश, अनन्त शयन, सारंगपाणि, चक्रपाणि, वरदराज, श्रीनिवास, गोविन्द, पेरुमाल आदि हैं। अंतिम नाम पूरा-पूरा तमिल है। इसी प्रकार शिव के भी अनेक नाम हैं, जिनमें प्रधान हैं—ईश्वर, बृहदीश्वर, कुंभेश्वर, सोमेश्वर, सुन्दरेश्वर, नटराज, त्यागराज, अर्धनारीश्वर, कपालीश्वर, एकाम्बरेश्वर, जम्बुकेश्वर, आदि। प्रत्येक मंदिर में उसके अधिष्ठाता देवता और देवी के देवालय अलग-अलग, कभी-कभी एक ही प्राकार के भीतर और कभी-

कभी अलग-अलग अहातों में होते हैं। मुख्य देवालय के अतिरिक्त मंदिर के प्राकार के भीतर अनेक छोटे-छोटे देवालय भी होते हैं जिनमें देवी-देवताओं की मूर्तियां रखी रहती हैं। प्राय: वैष्णव मंदिरों में विष्णु और लक्ष्मी के देवालयों के अतिरिक्त गरुड़, हनुमान्, आण्डाल (मीराबाई के समान ही प्रसिद्ध एक वैष्णव भक्त) तथा आलवारों के लिए छोटे-छोटे देवालय अथवा उनकी मूर्तियां होती हैं। आलवार लोग वैष्णव संत और भगवान् विष्णु के परम भक्त थे। इनकी संख्या बारह है और इनका जन्म ईसा की छठी शताब्दी से लेकर नौवीं शताब्दी के बीच हुआ था। इन्होंने भगवान् विष्णु के भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में जाकर उनकी प्रशंसा के पद रचे थे, जिनका संग्रह 'नालायिर प्रबन्धम्' (चार हजार छंद) या 'दिव्य प्रबन्धम्' के नाम से प्रसिद्ध है। ये आलवार भगवान् विष्णु के शंख, चक्र, गदा आदि आयुधों के अवतार माने जाते हैं, जो लोक-कल्याण के लिए पृथ्वी पर अवतरित हुए थे।

शिव के मंदिरों में ईश्वर तथा पार्वती के देवालयों के अतिरिक्त नटराज, सुब्रह्मण्यम्, गणेश, चंडिकेश्वर आदि देवताओं के भी देवालय होते हैं। मंदिर में एक ओर शैव संतों की मूर्तियां कतार में रखी रहती हैं। इन शैव संतों की संख्या तरेसठ है। इन्होंने शिव की प्रशंसा में हज़ारों पद रचे, जिनका संग्रह 'तेवारम्' और 'तिरुवाचकम्' नामों से किया गया है। नृत्यमुद्रा में खड़े भगवान् शिव का नाम ही नटराज है। शिव के सभी मंदिरों में नवग्रहों की मूर्तियों के लिए भी एक स्थान नियत रहता है, जहां ये अलग-अलग दिशाओं में मुंह फेरे खड़े दिखाई देते हैं। शिव-मंदिरों में नन्दी (बैल) का स्थान प्रमुख है। नन्दी की मूर्ति प्राय: एक ही पत्थर को काटकर बनाई जाती है और देवालय के द्वार के सामने विराजती रहती है।

विष्णु के मंदिरों में शिव और शिव-भक्तों की मूर्तियां नहीं रहती, परन्तु कहीं-कहीं शिव के मंदिरों में विष्णु के लिए भी स्थान होता है।

दक्षिण के देवताओं में सबसे अधिक लोकप्रिय देवता हैं सुब्रह्मण्य। यह शिव के पुत्र माने जाते हैं और उत्तर भारत में कार्तिकेय के नाम से प्रसिद्ध हैं। यह वीरता और सौंदर्य के प्रतीक हैं। इनकी मूर्ति अक्सर हाथ में दंड धारण किये हुए होती है, इसलिए इन्हें दण्डायुदपानी भी कहते हैं। इनके भी अनेक नाम हैं, जिनमें षणमुखन, कमारन्न, दण्डपाणी, वेलायुधन, दक्षिणामूर्ति, आदि अधिक प्रचलित हैं। इनका एक नाम 'मुरुगन' भी है, जो तमिलनाड में प्रचलित है। प्राचीन तमिल साहित्य में सुब्रह्मण्य पहाड़ी प्रदेश के देवता माने गए हैं। इसलिए इनका मंदिर प्राय: किसी पहाड़ी के ऊपर या ऊंचे टीले पर बना होता है। मदुरा जिले में पलनी और तिरुनेलवेली जिले में त्रिचंदूर में इस देवता के प्रसिद्ध मंदिर हैं। दक्षिण में विश्वास है कि इनकी दो पत्नियां थीं, जिनके नाम हैं देवयानी और वल्ली। वल्ली दक्षिणी नाम है जिसका अर्थ होता है 'लता'।

शिव की पूजा प्राय: लिंग के रूप में और विष्णु की पूजा मूर्ति के रूप में होती है। किसी-किसी मंदिर में विष्णु शेष-नाग की पीठ पर लेटे हुए दर्शन देते हैं, जैसे श्रीरंगम् के मंदिर में।

शिव, विष्णु और सुब्रह्मण्य के मंदिरों के अतिरिक्त भी दक्षिण में कुछ देवताओं की पूजा प्रचलित है और उनके मंदिर कहीं-कहीं मिलते हैं। इन देवताओं में मारी अम्मन (शीतला देवी), पिल्लैयार (गणेश), आंजनेय (हनुमान्) और शास्ता के नाम विशेष प्रचलित हैं। ये मंदिर स्थानीय महत्व रखते हैं और बहुत कम उत्तर भारतीय यात्री इन मंदिरों की यात्रा करते हैं। शास्ता या अय्यघन का प्रभाव क़ेरल प्रान्त में अधिक है।

दक्षिण के मंदिरों की एक महत्वपूर्ण विशेषता यह है कि यहां किसी-किसी मंदिर में देवता की अपेक्षा देवी का हत्वम और प्रभाव अधिक माना जाता है। उदाहरण के लिए मदुरा में मीनाक्षी और कांचीपुरम् और कुम्बकोणम में कामाक्षी देवी के मंदिरों की अधिक प्रतिष्ठा है। स्थल पुराण के अनुसार इनमें से कुछ तो मानव-शरीर से उत्पन्न हुई थीं, जिनके प्रेम, भक्ति और तपस्या से प्रभावित होकर शिव और विष्णु ने मानव-शरीर धारण कर उनके साथ विवाह किया था और नाना प्रकार की लीलाएं कीं। भक्तों में यह विश्वास प्रचलित है कि मीनाक्षी मदुरा के किसी पांडिय-राजा की कन्या के रूप में अवतरित हुई थीं, जिन्होंने तपस्या करके शिव को प्रसन्न किया था और शिव ने मनुष्य रूप धारण करके उनका पाणिग्रहण किया था। इस प्रकार भगवान् और उनके भक्तों के बीच निकट संबंध स्थापित करके मानव-

हृदय में भक्ति और पवित्रता का उद्रेक किया गया है।

दक्षिण के प्रत्येक मंदिर में दो मूर्तियां होती हैं। १. विग्रह मूर्ति, और २. उत्सव मूर्ति। विग्रह मूर्ति प्रायः पत्थर, अष्टधातु, सोने या तांबे की बनी होती है और सदा अपने स्थान पर विराजमान रहती है। उत्सव मूर्ति छोटी होती है और सोना, तांबा या अष्टधातु की बनी होती है। मंदिर में उत्सवों के समय उत्सव-मूर्ति रथ या भिन्न-भिन्न प्रकार के वाहनों पर बिठाकर सर्वसाधारण के दर्शनार्थ शहर में फिराई जाती है। मंदिरों में भगवान् की उत्सव मूर्ति मूल विग्रह के पास ही रखी रहती है और यथानियम उसकी भी नित्य पूजा होती है। मंदिरों में उत्सव के दिन नियत रहते हैं और बड़े-बड़े मंदिरों में उन दिनों में दर्शकों की अपार भीड़ इकट्ठी होती है। नाना प्रकार के बहुमूल्य आभूषणों और वस्त्रों से अलंकृत करके जब भगवान् की सवारी निकलती है, तब उसकी शोभा निराली होती है।

दक्षिण में मंदिरों की रचना में असाधारण समानता देखने में आती है। पर भीतरी समानता होने पर भी बाहरी तौर पर देखने से अनेक विभिन्नताएं देखी जाती हैं। यह भेद विशेष रूप से पल्लव, चोल और विजयनगर-कालीन मंदिरों की रचना में दृष्टिगोचर होता है। चोलकालीन मंदिरों की अपेक्षा पल्लवकालीन मंदिर छोटे और अधिक सादे हैं और विजयनगर-कालीन मंदिर बहुत विशाल, विस्तृत तथा कलात्मक हैं। चोल और विजयनगर-कालीन मंदिरों में यह भी भेद देखने को मिलता है कि चोलों द्वारा बनवाये गए मंदिरों में सबसे ऊंचा और प्रधान शिखर प्रधान देवालय के ऊपर बना हुआ होता है जबकि विजयनगर-कालीन मंदिरों में प्राकारों के मुख्य द्वारों पर बने हुए गोपुरों को अधिक प्रधानता दी गई है। गोपुर की अपेक्षा देवालय बहुत छोटा और अप्रधान मालूम होता है। यह भेद हम तंजौर और मदुरा के मंदिरों में देख सकते हैं।

दक्षिण के बड़े-बड़े मंदिर किसी एक क्षेत्र में या जिले में सीमित नहीं हैं, बल्कि तिरुपति से लेकर कन्याकुमारी तक सारे दक्षिण भारत में फैले हुए हैं। किन्तु उनकी सबसे बड़ी संख्या मद्रास में चेंगलपट, दक्षिण आरकाट, तंजाऊर, तिरुचरापल्ली, मदुरा, रामनाद और तिरुनेलवेली के जिलों में हैं। यही प्रदेश प्राचीन काल में पल्लव, चोल तथा पांडिय राजाओं के राज्य के अंतर्गत थे। इन जिलों से होकर दक्षिण रेलवे की छोटी लाइन गुजरती है और प्रायः सारे क्षेत्र रेल-मार्गों पर ही अवस्थित हैं।

दक्षिण के प्रायः सभी मंदिर एक समकोण चतुर्भुज घेरे के बीच में बने हैं, जिनके चारों तरफ ऊंचे और सुदृढ़ प्राकार या चाहरदीवारी होती है। बड़े-बड़े मंदिरों में प्राकारों की संख्या सात तक होती है जिन्हें 'सप्त-प्राकार' कहते हैं। इन्हीं प्राकारों के भीतर प्रधान देवालय, छोटे-छोटे देवताओं के मंदिर और दूसरी इमारतें होती हैं। प्रधान देवालय घेरे के ठीक मध्य में होता है और दूसरे भवन उसके आस-पास होते हैं। मंदिर का पूर्वी प्रवेश-द्वार सबसे प्रधान और उसपर बना हुआ गोपुर सबसे ऊंचा और विशाल होता है। यह गोपुर नींव से लेकर पहले मंजिल तक पत्थर से बना होता है और उसका ऊपरी भाग ईंट और गारे से। खंभों और दीवारों में सुन्दर मूर्तियां तथा बेलबूटे उभरे रहते हैं। पहली मंजिल के चारों तरफ एक सुन्दर तथा कलापूर्ण छज्जा होता है। गोपुर के मध्य में एक विशाल द्वार होता है, जिसमें लकड़ी के बड़े-बड़े किवाड़ होते हैं; इन किवाड़ों को सुदृढ़ बनाने के लिए उनमें लोहे की बड़ी-बड़ी कीलें जड़ी रहती हैं। पहली मंजिल के ऊपर कई मंजिलें होती हैं, जो क्रमशः छोटे और संकीर्ण होती जाती हैं। ऊपर की मंजिलें प्रायः छोटी-छोटी ईंटों से बनी होती हैं और उनपर अनेक प्रकार सुन्दर मूर्तियां बनी रहती हैं। गोपुर की तिल-तिल भूमि मूर्तियों से भरी होती है जिनमें कई पौराणिक घटनाएं चित्रित रहती हैं। मुख्य द्वार के गोपुर को छोड़ कर बाकी गोपुर छोटे-छोटे होते हैं। प्रधान देवालय के ऊपर के गोपुर को 'विमान' कहते हैं और यह विमान नीचे से ऊपर तक अत्यन्त सुन्दर मूर्तियां से सुसज्जित होता है। कभी-कभी इसका कलश सोने के चादर से ढका रहता है, जो दूर से देखने में अत्यन्त भव्य तथा आकर्षक दीखता है।

मंदिर का प्रधान देवालय मंदिर के सबसे भीतरी प्राकार के मध्य में स्थित रहता है। प्रायः यह एक चौकोर छोटा-सा कमरा होता है, जिसको 'गर्भगृह' कहते हैं। इसीमें भगवान् की मूर्ति रहती है। इसके अंदर काफी अंधकार रहता है और दीपक के प्रकाश में ही मूर्ति के दर्शन होते हैं। इस

(शेष पृष्ठ १११ पर)

हिन्दू-मुस्लिम दो क्यों हैं ?

केदारनाथ 'कोमल'

१. मां कहती
ऊका अछूत है
छूना मत--हां
भ्रष्ट हो जाओगे !

२. ऊका--
वह काला-सा
मतवाला-सा
मानव है वह
क्या हुआ यदि
भंगी है वह ?
क्या भंगी
मानव नहीं होते ?

३. मां कहती
उसे छूना पाप है
पाप--
पाप भला क्या होता है ?
मानव इतना पुनीत
होकर भी
क्यों रोता है ?
इस क्रन्दनमय जग में क्या
ऊंचे घर में पैदा होकर ही
पुण्य होता है !

४. मां कहती
वह भंगी है
गंदगी साफ करना
काम है उसका
तो क्या
वह काम नहीं है ?

५. कितने युगों से
जकड़ा है वह
दासता की बेड़ियों में
कौन है इसका उत्तरदायी !

६. सब एक हैं
केवल एक--सब
राम-रहीम--के बंदे
ईश्वर कब
किससे लड़ता है ?
अल्लाह कब किससे
लड़ता है ?
ईश्वर-अल्लाह बना
एक जब तो
हिन्दू मुस्लिम
दो क्यों हैं ?'

७. आज पैंतालीस कोटि 'मोहन'
जाति-पांति की
अंधेरी चट्टानों से
टकरा रहे हैं,
मिटा रहे हैं
अपने रक्त का
दीप जलाकर !

केवड़ा और केतकी

तेजकुमार बम्ब 'निर्मोही'

सुंदरपुर में एक छोटा-सा परिवार रहता था, जिसमें दो भाई और एक बहन थी। इनके मां-बाप इन्हें छोटी उम्र में छोड़कर मर गये थे। तीनों भाई-बहनों में बड़ा प्रगाढ़ प्रेम था! वे एक-दूसरे को देखे बिना न रह सकते थे। साथ-साथ सोते, उठते और भोजन करते थे। दोनों भाइयों का अटूट स्नेह बहन पर था और बहन का अपार सेवामय प्रेम भाइयों पर था। दोनों भाई खेत पर जाकर काम करते और बहन सारे घर का कार्य निबटाती थी।

एक दिन भाई खेत पर गये हुए थे और बहन ने सोचा कि पास के बाड़े (बग़ीचे) से आल तोड़कर ले आये और उसकी सब्जी तैयार करे।

बहन आल लाकर उसे चाकू से सुधारने लगी। यकायक तेज़ चाकू उसकी अंगूली पर लगा तो खून बहने लगा। जब रक्त बह रहा था, तब बहन ने विचारा की रक्त को कहां पोंछे? यदि दीवार से पोंछती है, तो भाई बात करेंगे! यदि कपड़े से पोंछती है, तो भाई कुछ कहेंगे। यदि धरती माता से बहता रक्त पोंछती है तो भाई अफसोस करेंगे। यह सोचकर उसने अपना रक्त आल की सब्जी से ही पोंछ दिया और उसे बंघारकर रख दिया। जब सब्जी बनकर तैयार हो गई तो उसमें से एक बड़ी तेज गंध निकली।

संध्या को दोनों भाई घर आये। बहन ने खाना परोसा। भाई खाने की प्रशंसा कर रहे थे और स्वादिष्ट होने की बात कह रहे थे।

बहन ने इसका उत्तर देते हुए कहा, "राग और रसोई का क्या ठिकाना? कभी बढ़िया बना तो कभी घटिया।"

किन्तु इस उत्तर से भाइयों को संतोष कहां होता? उन्होंने कहा, "बात कोई ऐसी जरूर है जो, बहन तुम छिपा रही हो?"

तब बड़े संकोच से बहन ने कहा, "आज आल सुधारते समय चाकू से मेरी अंगुली कट गई थी। मैंने विचारा कि अंगुली का खून इधर-उधर कहीं पोंछूगी तो आपलोग अफसोस करेंगे। अतः मैंने अपने खून को आल के साग से ही पोंछ डाला और उसे बंघार डाला! यही कारण हो सकता है कि आज की सब्जी ऐसी स्वादिष्ट हुई है।

यह सुन दोनों भाई स्तब्ध रह गये!

रात्रि को बड़े भाई के मन में एक कुविचार जागा कि जिस बहन के दो बूंद खून में इतना स्वाद है, तो उसका मांस कितना स्वादिष्ट होगा? यह कल्पना कर वह सो गया।

सवेरा हुआ, तब बड़े भाई ने अपने छोटे भाई को बुलाकर कहा, "बहिन को सुनसान-एकांत वन में ले चलो! वहां हम इसे मारकर मांस पकाकर खायेंगे।"

छोटा भाई इससे सहमत न हो सका। उसने कहा, "नहीं भैया! हमारे दोनों के बीच में यही तो एक बहन है, हम इसे नहीं मारेंगे!" कहते-कहते उसकी आंखों में आंसू छलछला आये!

बड़े भाई की दाढ़ में तो खून चढ़ गया था। वह कब माननेवाला था! उसने आंखें तरेरते हुए कहा, "यदि तुम मेरा साथ न दोगे, तो मैं तुम्हें भी मार डालूंगा!"

यह सुनकर छोटा भाई भयभीत हो गया और कांपने लगा। बड़ा भाई बहन के पास जाकर बोला, "बहन, तुम्हारी ससुरालवालों ने तुम्हें बुलाया है। चलो, हम तुम्हें पहुंचा आयें।"

बहन मृग-सी चंचल और सारस-सी सीधी थी। भाई की आज्ञानुसार तैयार हो गई और साथ चल पड़ी।

जब तीनों बहन-भाई एक घने वन में होकर गुजर रहे थे तब बड़े भाई ने एक हंसिया निकालकर बहन को मार डाला और वहींपर मांस पकाने लगा! छोटा भाई यह सब देखकर रोने लगा।

जब मांस पककर तैयार हो गया, तब बड़े भाई ने उससे आकर कहा, "रोना-धोना छोड़कर अब मांस खाओ!"

यह सुनकर वह और जोर-जोर से रोने तथा विलाप करने लगा!

इसपर बड़े भाई ने कड़ककर कहा, "यदि तुमने रोना बंद न किया तो मैं तुम्हें भी मार डालूंगा।"

छोटे भाई को भी मांस परोसा गया तो उसने विवश

होकर मांस-पिंड ले लिया लेकिन आंख बचाकर पास के ही एक 'बिल' में डाल दिया, और कहा, "मैं खा चुका।"

दोनों भाई बहिन को मार-काटकर वापस घर लौट आये।

जिस 'बिल' में छोटे भाई ने बहन का मांस डाला था वहांपर एक 'केतकी' का एक सुन्दर-सा पौधा उग आया और उसकी सौरभ दूर-दूर तक उड़ने लगी। धीरे-धीरे 'केतकी' का पौधा बड़ा हुआ और उसमें से नित्य रात्रि को एक लड़की निकलती और गांव में जाकर वह करुण-स्वर में गाती। उसके स्वर इस प्रकार थे —

"दो भाइयों की एक बहन थी,
प्यार में पली-बड़ी हुई,
मां-बाप बचपन में मर गये,
भाई की प्यारी बहन मैं थी,
एक दिन 'आल' की सब्जी बनाई,
उंगली कटी और लहू लग गया,
लहू का स्वाद भाइयों को लग गया,
भाई मुझे वन को ले गये,
वहांपर मुझे मार कर मांस पकाया,
बड़े ने खाया, छोटे ने बिल में फेंक दिया,
बिल से उगा केतकी का पौधा,
मैं हूं रानी केतकी, मैं हूं रानी केतकी!"

जब बड़े भाई ने यह गीत सुना तो उसने जान लिया कि यह सब छोटे भाई के कारण ही हुआ है। वह छोटे भाई को वन में ले गया और उसे भी हंसिये से मार डाला। उसका मांस खाकर हड्डियां वहींपर फेंक आया।

जहां उसने हड्डियां फेंकी थी, वहांपर एक सुन्दर-सा केवड़े की पौधा ऊग आया! इस पौधे से भी रात्रि को नित्य एक लड़का निकलने लगा! नित्य अर्ध-रात्रि को दोनों भाई-बहन केवड़े और केतकी के पौधे से निकलते और गांव के सूने चौपाल पर जाकर रुंधे स्वर में गाते—

"हम माता-पिता के दुलारे,
भाई-बहन!
स्वाद के लोभ में,
औ' स्वाद के लोभ में,
हमें, भाई ने मारकर,
मांस पकाकर खाया,
दुनियावालों, तुम्हें,
पता भी नहीं यह करुण कहानी,
यह करुण कहानी!
हम तो सुनाते हैं अपनी कहानी!
ओ, अपनी कहानी!"

इसके बाद दोनों भाई-बहन मिलकर विलाप करते वापस वन को लौटकर अपने-अपने पौधों में जा बैठते!

यह खबर हवा की तरह सारे गांव में फैल गई कि रोज रात्रि को दो लड़के-लड़की आकर गांव के चौपाल पर बड़ा ही करुण गीत गाते हैं। बाद में वे 'केवड़े' और 'केतकी' के पौधे में जाकर लुप्त हो जाते हैं!

जब यह खबर गांव के मुखिया को लगी तो उसने सभी सुन्दरपुरवासियों को बुलवाया और उनसे परामर्श किया।

एक रात मुखिया और कुछ लोग गांव के चौपाल पर छिपकर उनकी प्रतीक्षा करने लगे! ठीक आधी रात को दोनों भाई-बहन वहां आकर करुण-गीत का स्वर छेड़ने लगे। मुखिया ने कड़ककर कहा, "ऐ बच्चो! बोलो, तुम कौन हो! तुम्हारी कथा-व्यथा क्या है? तुम्हारी इस करुणा से सारा गांव परेशान है।"

तब दोनों भाई-बहनों ने अपनी कथा मुखिया को कह सुनाई और विलाप करने लगे!

मुखिया ने उन्हें सांत्वना देते हुए कहा, "तुम्हें, चिंतित होने की जरूरत नहीं! दुष्ट को अवश्य उसके कु-कर्म का दण्ड मिलेगा।"

दूसरे दिन मुखिया ने गांववालों के सामने बड़े भाई को एक गढे में जिन्दा गड़वा दिया और दोनों भाई-बहन को अपने घर रख लिया। मुखिया के कोई संतान न थी! इसलिए उसने उन्हें पुत्रवत् स्नेह देकर पाला और बहन को अपनी बेटी समझकर उसका योग्य वर से विवाह कर दिया।

●

आत्मोत्सर्ग की भावना

●● गौरीशंकर द्विवेदी 'शंकर'

विश्व के मानव, विज्ञान के द्वारा इस युग में अपनी उत्तरोत्तर उन्नति करते जा रहे हैं, ऐसी धारणाएं नित्य-प्रति पढ़ने और सुनने में आती हैं। स्पुतनिक, एटम-बम और उद्‌जन-अस्त्र इस उन्नति के प्रमाण हैं।

चन्द्र-लोक में मानव भेजने की तैयारियां हो रही हैं और विज्ञान के विविध चमत्कारों को प्रकाश में लाने की होड़ लग रही है।

विश्व के बड़े-बड़े राष्ट्र एक ओर तो युद्ध-बहिष्कार, निःशस्त्रीकरण और शांति की बड़ी-बड़ी बातें करते हैं, दूसरी ओर हिरोशिमा-कांड को बड़े-से-बड़े पैमाने पर करने के लिए तत्पर हैं। उनका अनुमान है कि समूचे विश्व को नष्ट करने के लिए आठ अणु-बम पर्याप्त हैं, जबकि उनके पास बारह-बम तैयार हैं। ऐसी विनाशकारी भावनाओं से न तो विश्व-शांति ही हो सकती है, और न जन-जन का कल्याण।

वैज्ञानिक ही क्या यह तो साधारण बुद्धिवाला मानव भी भली प्रकार अनुभव करता होगा कि यदि अणु-बमों का प्रयोग युद्ध में किया गया तो विश्व रेगिस्तान बन जायगा और प्राणियों का तो कहीं नाम-निशान भी न मिलेगा।

विज्ञान की चकाचौंध और भौतिकवाद के प्रभाव में अन्य राष्ट्र भले ही भूले रहें और दंभपूर्ण बढ़-बढ़कर बातें करते रहें किन्तु उनके द्वारा विश्व-कल्याण संभव नहीं। उसके लिए तो उनको भारतीय दर्शन की ही शरण लेना होगी।

भारतीय दर्शन और धर्म जन-जन में नैतिक जीवन की उच्चता और आध्यात्मिक विकास पर बल देता है। संक्षेप में उनका सार रूप यही है कि जो व्यवहार स्वयं को आपत्तिजनक हो उसको दूसरे के साथ भी नहीं करना चाहिए।

भारतीय परंपरा में धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष मानव-जीवन के चार प्रमुख अंग माने गए हैं। संसार में जन्म लेकर मानव को अपने धर्म द्वारा व्यावहारिक, सामाजिक और नैतिक कर्म करके अर्थ और काम का उपार्जन करने के पश्चात् ही मोक्ष की अभिलाषा करनी चाहिए। जिसने जीवन में कर्म करके उपार्जन नहीं किया वह क्या त्याग करेगा। त्याग वही कर सकता है जो सांसारिक-जीवन में सफल हो गया हो।

सांसारिक जीवन-यात्रा में भी मानव को यह कभी न भूलना चाहिए कि उसके आचरण में दान, दया और कर्म का सदैव ही समन्वय रहे। पराई स्त्री को अपनी माता के समान पूज्या, दूसरे की सम्पत्ति को क्षुद्र मिट्टी के समान तुच्छ और संसार के प्राणिमात्र को अपने ही समान समझे।

इन भावनाओं का परिपाक होते रहने से ही युग-युगों से इस देश में ऐसी संस्कृति का प्रचार और प्रसार हुआ, जिससे मानव-चरित्र दिन-पर-दिन उज्ज्वल होता गया और उनमें धर्म के प्रति इतनी दृढ़ आस्था हो गई कि वे अपना आत्मोसर्ग तक करने के लिए प्रस्तुत हो गये, इसके अनेकानेक उदाहरण पौराणिक काल से लेकर इस युग तक के दिये जा सकते हैं। विश्व-वंद्य बापू उसी विशाल शृंखला की एक कड़ी थे।

इस छोटे-से लेख में यह संभव नहीं है कि युग-युगों में आत्मोसर्ग करनेवाले महापुरुषों का विस्तृत विवरण दिया जाय। अधिकांश पाठक महाराजा रघु, दिलीप, बलि, मोरध्वज, प्रह्लाद, दानी कर्ण, वीरांगना लक्ष्मीबाई और चन्द्रशेखर आजाद के आत्मोसर्गों से परिचित हैं ही।

भारतीय परम्परा के अनुसार राजा-महाराजा ऐसे यज्ञ किया करते थे, जिनमें वे अपना सर्वस्व दान कर देते थे। उस यज्ञ को विश्वजित् यज्ञ कहा जाता था। एक बार महाराजा रघु विश्वजित् यज्ञ करके निश्चित ही हुए थे कि कौत्स मुनि उनके अतिथि हुए। उन्होंने देखा कि रघु के पास केवल कुशासन और भोजन के लिए मिट्टी के पात्र ही बच रहे हैं, अतएव वह बिना याचना किये ही राजा से विदा लेने लगे।

रघु के पूछने पर कौत्स ने कहा कि उनको चौदह करोड़ स्वर्ण-मुद्राएं गुरु-दक्षिणा के लिए अपेक्षित हैं और वे इसे पूरा कर सकेंगे यह संभव प्रतीत नहीं होता।

रघु ने आग्रहपूर्वक कौत्स को रोका और द्रव्य-प्राप्ति के लिए कुबेर को पराजित करने की आयोजना बनाई।

रघु दूसरे दिन प्रातःकाल जब युद्ध-यात्रा पर चलने ही वाले थे कि कोष के रक्षकों ने सूचना दी कि राज-कोष स्वर्ण-राशि से रातभर में भर गया है।

रघु ने तुरंत कौत्स मुनि से निवेदन किया कि वह वह सब

सोना ले जायं किन्तु कौत्स ने कहा, "महाराज! मुझे तो केवल चौदह करोड़ स्वर्ण-मुद्राएं गुरु-दक्षिणा देने के लिए चाहिए, इतना सोना मुझे नहीं चाहिए।"

रघु ने कहा, "यह सब सोना आपको अर्पित हो चुका है, आप इसका जो-कुछ भी उपयोग उचित समझें, वह करें, इसे मैं राज-कोष में नहीं रख सकता।"

सत्यवादी राजा हरिश्चन्द्र के सत्याचरण की परीक्षा लेने के लिए मुनिवर विश्वामित्र ने कितने कौतुक किये, राज-पाट छीना, राजकुमार रोहिताश्व को छीना, राजा और रानी को बेचा, राजा ने मरघट की रखवाली करते समय कर्तव्यवश अपनी रानी को उस समय पुत्र को जलाने की अनुमति दी जब मरघट-कर प्राप्त कर लिया। वह कसौटी में खरे ही उतरे। राजा दिलीप नन्दिनी की सेवा करते हुए अपना बलिदान करने के लिए प्रस्तुत हो गये थे।

दानी कर्ण से मरणासन्न अवस्था में जब दान की याचना की गई तो उन्होंने अपने मुंह से दांत तोड़कर दे देना चाहा था क्योंकि उनके पास उस समय और कुछ शेष न था। उनके दांत में सोना लगा हुआ है।

इस गये-बीते युग में भी अमर शहीद श्री गणेशशंकर विद्यार्थी ने दो सम्प्रदायों की भड़की हुई आग को बुझाने में अपने जीवन को हँसते-हँसते उत्सर्ग कर दिया था।

आत्मोसर्ग का सबसे उत्कृष्ट उदाहरण है विश्ववंद्य राष्ट्रपिता बापू का। उन्होंने देश को स्वाधीनता दिलाई। तत्पश्चात् जब देश का जन-जन विजयोल्लास मना रहा था वह नोआ खाली में नंगे पैर दोनों सम्प्रदायों के घावों पर मरहम-पट्टी करके भटकी हुई मानवता को सत्पथ पर लाने का यत्न कर रहे थे। भारतीय दर्शन और धर्म ने उनके द्वारा अपनी लुप्त शक्ति को पुनः प्राप्त किया है और केवल इस देश ने ही उन्हें राष्ट्र-पिता के गौरवपूर्ण पद से स्मरण नहीं किया, वरन् समूचे विश्व ने उनके मार्ग को श्रेयस्कर मानकर अपनाया और उनको विश्ववंद्य माना है।

युग की सबसे बड़ी मांग यही है कि मानव मानव में आत्मोसर्ग की भावनाओं का उदय हो तब ही विश्व के सब राष्ट्र विश्व-प्रेम और विश्व-शान्ति का सही अर्थों में मूल्यांकन कर सकने में समर्थ हो सकेंगे।

(पृष्ठ १०६ का शेष)

कमरे के अंदर केवल पुजारी जा सकते हैं और दर्शक उसके द्वार तक ही जाते हैं। गर्भगृह के चारों ओर ऊपर से पत्थरों से छाया हुआ प्रदक्षिणा के लिए संपथ होता है। देवल के सामने एक मंडप होता है, जिसे अर्ध-मंडप कहते हैं। उसीसे लगा हुआ महामंडप होता है। ये दोनों मण्डप पत्थर के विशाल खंभों से बने होते हैं और भीड़ के समय दर्शनार्थी इनमें खड़े होकर भगवान् के दर्शन करते हैं। इनके अतिरिक्त भी मंदिर में अनेक छोटे-बड़े मंडप भिन्न-भिन्न कार्यों के लिए होते हैं। एक मंडप ऐसा होता है, जिसमें एक ओर एक ऊंचा चबूतरा बना हुआ होता, जिसपर उत्सव के समय भगवान् विराजते हैं और लोगों को दर्शन देते हैं। अर्ध-मंडप के द्वार पर दोनों तरफ़ द्वारपालों की दो विशाल मूर्तियां रहती हैं। मंदिर के चबूतरे के चारों ओर पत्थर पर सुन्दर मूर्तियां और बेल-बूटे बने रहते हैं। देवल के सामने शिव के मंदिरों में नंदी की मूर्ति और विष्णु के मंदिरों में उनके वाहन गरुड़ की मूर्ति रखी रहती है। उसीके सामने ऊंचा एक चबूतरा होता है, जिसे बलिपीठ कहते हैं और जिसपर गोल ध्वज स्तंभ गड़ा रहता है।

प्रायः सभी मंदिरों से लगे हुए तालाब और कूप होते हैं, जिनका जल पवित्र माना जाता है और भगवान् के अभिषेक के लिए उपयोग में आता है। इन्हें तीर्थ कहते हैं। मंदिर के तालाब 'तेप्पकुलम' कहे जाते हैं और उत्सव के समय भगवान् है।
की मूर्ति सजी हुई नौका में रखकर उसमें फिराई जाती

दक्षिण के बहुत-से मंदिरों के नाम के आगे 'तिरु' शब्द जुड़ा रहता है। इसका अर्थ है 'पवित्र'।

वास्तव में दक्षिण भारत के मंदिर हिंदू समाज की उत्कट धर्म-निष्ठा, भक्ति-भावना तथा कला-प्रेम के प्रत्यक्ष प्रमाण हैं। किसीने सच कहा है कि प्राचीन भारत की झांकी यदि कहीं मिल सकती है तो वह दक्षिण भारत में मिलती है।

कसौटी पर

सुमंगला : लेखक : ईशकुमार 'ईश'; प्रकाशक : शारदा मंदिर, नई सड़क, दिल्ली; मूल्य : २॥)।

सुमंगला ४८ गीतों की सरस रचना है। इन गीतों में सहज ही अन्तर्जगत् की आशा-निराशामयी और जीवन के प्रति चरम आस्था की अभिव्यक्ति हुई है।

आधुनिक हिंदी के क्षणवादी कवियों की रचनाओं में जहां खोजे से कहीं दो-चार रोचक और संप्रेषक अभिव्यक्तियां प्राप्त होती हैं, वहां प्रगीत शैली में लिखे गए इस काव्य में काव्याभिव्यक्ति के अनेक उदाहरण सहज ही दिखाई पड़ते हैं। रचना मात्र काव्य करने की दृष्टि से नहीं मन के परदों को उठाने की दृष्टि से की गई है। छायावादी रचना-शैली किस प्रकार हिन्दी की अपनी विदेशी काव्य-प्रभावों से मुक्त शैली में कैसी मार्मिक हो सकती है, इसे 'सुमंगला' को पढ़कर समझा जा सकता है।

'सुमंगला' में मर्म की वेदना बड़े संयत और सुघड़ प्रतीकों के माध्यम से उभरकर आती है। अपने जीवन की विवश अकृतकार्यता का अनुभव कवि को बार-बार होता है, उसके हृदय में आवाजें उठती हैं, लेकिन उसने कभी भी आक्षेपात्मक शब्द प्रकट नहीं किये। कवि के शब्दों में ही —

आती है आवाज़ हृदय से
यह जीवन का एक सहारा
भावुक मन ने आकुल होकर
तुझको सौ सौ बार पुकारा (पृष्ठ १४)

कवि को जीवन के प्रति पूरा विश्वास है और अपनी रेखाओं की वास्तविकता भी मालूम है, चाहे वे अबतक पहचानी न गई हों।

ये रेखाएं नहीं रेत की
हैं इनमें सौ सौ सरिताएं
ये मेरी धुन्धली रेखाएं (पृष्ठ ४)

उसे अपनी प्रतिभा किरण पर पूरा विश्वास भी है, लेकिन वह किंचित भी उद्दंड नहीं है—

'सुमंगला' में अनेक स्थान पर बड़े मधुर बिम्ब और प्रतीक, जो भारतीय जीवन और काव्य की परम्परा की कड़ियों से हैं, दिखाई पड़ते हैं। ये बाहर से उधार अथवा अनुवाद करके नहीं आये जैसे कि प्रायः आधुनिक काव्य में देखने को मिलते हैं; उदाहरणतः

गति लगी लेने मधुर अंगड़ाइयां
दिख रही हैं कर्म की परछाइयां
वासना मन की मलय होने लगी

(पृष्ठ ९१)

नवप्रभात के जागरण को मधुर अंगड़ाई से और जागरणोपरांत कर्म की मनसाओं से परछाइयों में तथा मन की स्वाभाविक इच्छाओं को सुखद मलय पवन में देखकर भारतीय प्रतीकों की परम्पराओं का निर्वहण भी किया गया है।

काव्य की अगाध थाह का पता चाहे कवि को न हो, परंतु उसे सहज अन्तकरण के स्तर पर ज्ञात है कि उनके काव्य की चाह सही है—

तू रसनिधि है थाह नहीं है,
तेरी मेरी चाह सही है,
यह धूमिल-सा ज्ञान मुझे है।

(पृष्ठ १२)

कवि के गीत सहज और सुन्दर कल्पनाओं से परिपूर्ण हैं, जिनके कारण वे हृदय को सीधे जाकर छूते हैं। कवि की यह रचना काव्य-जगत् में स्वागत प्राप्त करेगी, यह आशा काव्य को पढ़कर सहज ही होती है।

आत्मपरक कविताएं प्रायः व्यक्तिगत कविताएं बन जाती हैं। साधारणीकरण पर आत्मपरकता प्रायः आ उतर नहीं पाती। कवि के ये गीत आत्मपरक होते हुए भी व्यक्तिगत नहीं हैं। यही इस काव्य की सबसे बड़ी विशेषता है।

—विद्याभूषण गंगा

क्या व कैसे ?

चुनावों के कुछ निष्कर्ष

कई महीने की सरगर्मी तथा सरदर्दी के बाद आखिर तीसरे आम चुनाव का तूफान शान्त हो गया। सारे देश में मतदान हो गए और चुनाव-परिणाम भी घोषित हो चुके हैं।

इस चुनाव में किस-किस की जीत हुई, किस-किस की हार, कांग्रेस को कितने मत मिले, अन्य दलों को कितने, इन सबके विस्तार में हम नहीं जाना चाहते; लेकिन इस चुनाव के कुछ निष्कर्ष हमारा ध्यान अपनी ओर खींचते हैं।

यद्यपि बहुत-से स्थानों पर कांग्रेस की टिकट पर खड़े हुए अनेक नेता, मंत्री तथा सामान्य उम्मीदवार पराजित हुए हैं तथापि इन चुनावों ने यह स्पष्ट कर दिया है कि हमारे देश में कांग्रेस ही ऐसा राजनैतिक दल है, जिसे अधिकांश देशवासियों का मत प्राप्त है। कांग्रेस की व्यापक आलोचनाओं के बावजूद अभी तक कोई भी दूसरा दल इतना शक्तिशाली नहीं बना है, जो कांग्रेस की जगह ले सके।

कांग्रेस पर इससे बड़ी भारी जिम्मेदारी आ जाती है। जिसके हाथ में शासन की बागडोर और देश के नव-निर्माण का दायित्व हो, उसे कितना मजबूत होना चाहिए, इसकी सहज ही कल्पना की जा सकती है। अगले पांच वर्षों में कांग्रेस को अवसर होगा कि वह इस दायित्व की गुरुता को अच्छी तरह समझकर अपने उन दोषों को देखे और उन्हें दूर करे, जिनके कारण उसकी शक्ति क्षीण हुई वह अपनी पूरी उपयोगिता से काम नहीं कर सकी है और उसे इस बार अपने बहुत-से लोगों से चुनाव में हाथ धोना पड़ा है।

दूसरी बात यह है कि पहले दो चुनावों की अपेक्षा अब मतदाता अपनी वोट के संबंध में अधिक सजग हो गये हैं। बड़े-से-बड़ा आदमी जब वोट के लिए हाथ फैलाये मतदाता के सामने जाता है तो मतदाता स्वाभाविक रूप से अनुभव करता है कि वोट की कुछ कीमत है। वोट के महत्व की इस चेतना ने मतदाता को अपने स्वार्थ के प्रति पहले की अपेक्षा अधिक आग्रही बना दिया है। वह मानने लगा है कि जो भी दल या व्यक्ति उसके स्वार्थ को पूरा करा सकेगा, उसीको वह समर्थन देगा। लेकिन यहां एक कठिनाई उपस्थित होती है। वह यह कि अशिक्षित मतदाता बड़ी आसानी से प्रचार के चक्कर में आ जाते हैं। विभिन्न दलों द्वारा ऐसी निराधार बातें प्रचारित की जाती हैं कि उन्हें सुनकर आश्चर्य और दुःख होता है। भोले-भाले ग्रामीण मतदाता उन बातों पर विश्वास कर लेते हैं। परिणाम यह कि जिस दल का प्रचार अधिक आकर्षक होता है, उसीके साथ वे हो जाते हैं। आगे के वर्षों में ऐसा प्रयत्न होना चाहिए कि मतदाता शिक्षित हों। उनमें इतना विवेक जागृत हो कि वे इस बात को स्वयं तौलकर देख सकें कि कौन-सा दल अथवा कौन-सा व्यक्ति उनका वास्तव में हितैषी है और उनका भला करने की क्षमता रखता है। इतना विवेक पैदा होने पर वे मत के साथ मन भी देंगे। आज तो जैसे-तैसे उनसे मत ले लिया जाता है, उनका मन पाने की चिन्ता नहीं की जाती।

तीसरी बात यह कि जन-सम्पर्क नितान्त आवश्यक है। चुनाव के समय उम्मीदवार अपने-अपने चुनाव-क्षेत्रों में जाकर धूम मचाते हैं, लेकिन चुनाव समाप्त हुआ कि फिर अपने क्षेत्रों से उनका सम्पर्क नहीं के बराबर रहता है। जन-सामान्य की आम शिकायत है कि संसद अथवा विधान-सभा में पहुंचकर लोग प्रायः अपने क्षेत्रों को भूल जाते हैं। लोकतंत्र की बुनियादी इकाई जन है। उसके साथ सम्पर्क न रहेगा तो जनतंत्र आखिर किसके लिए और किसके बल पर चलेगा ?

इसके लिए आवश्यक है कि प्रत्येक क्षेत्र में से ऐसे रचनात्मक काम होते रहें, जिससे उन क्षेत्रों का हित साधन तो हो ही, साथ ही संसद तथा विधान-सभाओं के सदस्यों का जन-सामान्य के साथ घनिष्ठ संबंध भी बना रहे।

चौथी बात यह कि पदों की चकाचौंध अब कम होनी

चाहिए। उसने ऐसी खाई पैदा कर दी है, जो किसी भी दशा में हितकर नहीं है। सत्तारूढ़ व्यक्तियों का मुंह अब पदों की ओर न होकर सेवा की ओर होना चाहिए। उससे न केवल आज की बहुत-सी व्याधियां दूर होंगी, अपितु वातावरण भी निर्मल बनेगा।

हमारा देश बड़ी नाजुक स्थिति में से गुजर रहा है। उसके सामने बहुत-सी जटिल और कठिन समस्याएं हैं। चुनावों की समाप्ति के उपरांत अब वास्तविक कार्य आरंभ होता है। हम आशा करते हैं कि कांग्रेस इस दिशा में अब अधिक जागरूक बनेगी और पूरी संगठित शक्ति से उन स्वप्नों को चरितार्थ करने का प्रयास करेगी, जो स्वतंत्र भारत के लिए गांधीजी ने देखे थे।

अमर-शहीद गणेशजी का पुण्यस्मरण

अमर-शहीद गणेशशंकर विद्यार्थी के बलिदान-दिवस के रूप में २५ मार्च इतिहास की एक अविस्मरणीय तिथि बन गई है। राजनीति, साहित्य और पत्रकार-जगत् में गणेशजी का क्या स्थान था, यह बताने की आवश्यकता नहीं है। राष्ट्र-प्रेम तो उनमें कूट-कूटकर भरा था। राष्ट्र की एकता को उन्होंने अपने रक्त से सींचा और उसी के लिए उन्होंने अपने प्राण तक होम दिए। उनके बलिदान पर गाधीजी ने कहा था, "मुझे जब-जब उनकी याद आती है, उनसे ईर्ष्या होती है। उन्हींकी तरह कुल्हाड़ी के प्रहार सहते हुए मैं शांतिपूर्वक मरूं। एक तरफ से एक मनुष्य मुझपर कुल्हाड़ी चला रहा हो, दूसरी तरफ से दूसरा बरछी मार रहा हो, तीसरा लाठी मार रहा हो और चौथा लात-घूंसे बरसाता जाता हो, ऐसी अवस्था में भी मैं स्वयं शांत रहूं, दूसरों से शांत-से-शांत रहने को कहूं और स्वयं हंसता हुआ मरूं, ऐसा भाग्य मैं चाहता हूं। गणेशशंकर को ऐसा ही मौका मिला था। इसीलिए उनकी याद आने पर ईर्ष्या होती है।"

गणेशजी अपना पार्ट बड़ी खूबी से अदा करके चले गये, लेकिन उनके बलिदान के बाद से इन ३०-३२ वर्षों में कृतज्ञता के नाते हम उनके लिए कुछ भी न कर पाए। उनकी विस्तृत जीवनी आजतक नहीं निकल पाई। स्व० देवव्रत शास्त्री की लिखी 'गणेशशंकर विद्यार्थी' पुस्तक बहुत अच्छी है, लेकिन गणेशशंकरजी के जीवन के सब पहलुओं पर पूरी तरह से प्रकाश डालनेवाले जीवन-चरित की आवश्यकता फिर भी बनी हुई है।

गणेशजी की लेखनी बहुत-ही शक्तिशाली थी। उनके लेखों का एक संग्रह तक हम नहीं निकाल पाये। इसी प्रकार 'ला मिज़राब' का उनका किया हुआ अनुवाद अभी तक अप्रकाशित पड़ा है।

इन तथा अन्य कार्यों के संबंध में हमारी उदासीनता अक्षम्य है।

आज सबसे अधिक जरूरत इस बात की है कि भारतवासियों के अंदर देश-प्रेम बढ़े और वे उसके लिए सबकुछ निछावर करने को तैयार हों। गणेशजी का जीवन इस दिशा में विशेष महत्व रखता है। उनकी कर्मठता आज भी प्रेरणा देती है। उनका उत्सर्ग आज भी नई स्फूर्त्ति प्रदान करता है।

हम गणेशजी के प्रति अपनी हार्दिक श्रद्धांजलि अर्पित करते हैं। हमें आशा है कि हमारा स्वतंत्र देश अपने इस महान पुत्र को नहीं भूलेगा और उनके कर्मशील तथा त्याग-मय जीवन से प्रेरणा लेने का प्रत्येक देशवासी को अवसर प्रदान करेगा।

एक उपयोगी सुझाव

गत मास वसंत-पंचमी के दिन हिन्दी के स्वनाम-धन्य कवि स्व० सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला' की ६७ वीं जयंती राजधानी में बड़ी भावना के साथ मनाई गई थी। उस अवसर पर अनेक साहित्यकारों तथा साहित्य-प्रेमियों के बीच कान्स्टीट्यूशन क्लब की सभा में बोलते हुए हिन्दी के नाटककार श्री जगदीशचंद्र माथुर ने एक बड़ा ही उपयोगी सुझाव दिया। उन्होंने कहा कि नई दिल्ली में किसी केन्द्रीय स्थान पर ऐसी व्यवस्था होनी चाहिए कि वहां हिंदी के सभी प्रमुख लेखकों की रचनाएं बिक्री के लिए सुलभ रहें, और हिन्दी की नई-से-नई पुस्तकें वहां प्राप्त हो सकें। इतना ही नहीं, वहां पुस्तकें इस ढंग से प्रदर्शित हों कि वे लोगों को आकर्षित कर सकें और उन्हें ऐसा आभास करा सकें कि हिन्दी में भी विभिन्न विषयों की बढ़िया-से-बढ़िया पुस्तकें प्रकाशित होती हैं।

श्री माथुर का यह सुझाव हिन्दी की अभिवृद्धि के लिए अत्यंत उपयोगी है। नई दिल्ली में अंग्रेजी की पुस्तकों की

बड़ी-बड़ी दसियों दुकानें हैं, जिन पर भारतीय तथा विदेशी लेखकों की नवीनतम पुस्तकें सुलभ रहती हैं, लेकिन हिन्दी की एक भी ऐसी दुकानें नहीं है, जहां हिन्दी के सभी लेखकों की पुस्तकों का संग्रह हो और नई-नई पुस्तकें निकलते ही वहां आती रहती हों।

निश्चय ही यह काम सभी प्रकाशकों के लाभ का है और सभी के सहयोग से सहकारी ढंग पर पूरा हो सकता है। हिन्दी के अनेक प्रमुख प्रकाशक मिलकर एक ऐसे केन्द्र की किसी केन्द्रीय जगह पर व्यवस्था कर सकते हैं और अपनी-अपनी पुस्तकें वहां प्रदर्शन तथा बिक्री के लिए रख सकते हैं। उस केन्द्र का जो खर्च आवे, वह आपस में बांटा जा सकता है।

संभव है, इस केन्द्र के संचालन में आर्थिक दृष्टि से आरंभ में घाटा रहे, लेकिन प्रचार होने पर कोई कारण नहीं कि आगे उस घाटे की पूर्त्ति न हो सके।

हम आशा करते हैं कि हिन्दी के प्रमुख प्रकाशक इस दिशा में गंभीरतापूर्वक विचार करेंगे और ऐसा मार्ग निकालेंगे, जिससे यह महत्वपूर्ण कार्य शीघ्रातिशीघ्र संपादित हो सके। हिन्दी का ऐसा केन्द्र स्थापित होने पर अंग्रेजी-साहित्य के प्रेमियों का यह भ्रम स्वतः ही दूर हो जायगा कि हिन्दी में कुछ नहीं है और उसका साहित्य बहुत ही रंक है।

(पृष्ठ ६८ का शेष)

कश्मीर में शंकराचार्य की। मार्गों और उद्यानों के नामकरण, पाठय पुस्तकों के पाठों के चयन, और पर्व-उत्सवों आदि के आयोजन में भी यही नीति अपनाई जा सकती है। स्वास्थ्य रेल, आदि विभागों की सेवा को अखिल भारतीय बनाने का सुझाव तो राज्य पुनर्गठन आयोग ने दिया ही था, प्रत्येक राज्य के कालेजों में भी पड़ोसी राज्य के विद्यार्थियों और प्रोफेसरों के लिए स्थान सुरक्षित रखे जायं तथा अन्य विभागों में भी इस नीति को अपनाया जाय। इस प्रकार पारस्परिक सम्पर्क जितना बढ़ेगा, विघटनकारी शक्तियां उतनी की पीछे छूट जायंगी।

एक अखिल भारतीय भाषा का प्रचार और प्रचार भी हमारी आज की बहुत बड़ी आवश्यकता है। संस्कृत के विघटन के बाद उसका स्थान क्रमशः उर्दू और अंग्रेजी ने लिया, किन्तु वे जन-जीवन को उतनी गहराई से स्पर्श न कर सकीं। अंग्रेजों से देश को भले ही अनेक हानियां हुई हों, किन्तु एक सबसे बड़ा लाभ यह हुआ कि उसने दूरस्थ प्रान्तवासियों को अभिव्यक्ति का एक सर्वसाधारण माध्यम प्रदान किया। इस माध्यम के द्वारा भारतवासी एक-दूसरे के निकट सम्पर्क में आये और भावनात्मक एकता का मार्ग प्रशस्त हुआ। आज वही गौरव का स्थान हम हिन्दी को देने का निश्चय कर चुके हैं। यह हमारा दुर्भाग्य है कि कुछ लोग उसे अखिल भारतीय भाषा स्वीकार नहीं करना चाहते। उनके अनुसार अखिल भारतीय भाषा वही हो सकती है, जो किसी एक राज्य की भाषा न हो। यह एक दुखद स्थिति है। इन भाइयों की शंका का निवारण कर इनका हृदय बदलने का एक बहुत बड़ा उत्तरदायित्व हिंदी भाषा-भाषियों के ऊपर है। यह भी हमारा एक बहुत बड़ा दुर्भाग्य है कि हमारी भाषा, संस्कृति इतिहास, लिपि सब कुछ सम्प्रदायों के साथ जुड़ गये हैं। साम्प्रदायिकता का यह दलदल भी हमसे औदार्य, विशाल हृदयता और मानवीय दृष्टिकोण की मांग कर रहा है। यह हमारे उस सामाजिक और आर्थिक विकास पर भी कुठाराघात कर रहा है, जिसपर हमारे समूचे देश का भाग्य निर्भर है।

अंत में मैं नेहरूजी के शब्दों को दुहराना चाहता हूं, "भारत के उत्तर और दक्षिण तथा पूर्व और पश्चिम में कोई अंतर नहीं है। भारत एक है, जिसके हम सब उत्तराधिकारी हैं और इससे भी महत्वपूर्ण बात यह है कि भारत के उज्ज्वल भविष्य के भी हम ही उत्तराधिकारी हैं।" सारांश यह कि भारत का उज्ज्वल भविष्य हमसे एकता, सहिष्णुता, विशाल-हृदयता और औदार्य की अथवा यूं कहें कि भारत की भावनात्मक एकता की मांग कर रहा है। क्या हम उसकी आवाज सुनेंगे ?

'मंडल' की ओर से

'मण्डल' के प्रकाशन

'मण्डल' के प्रकाशनों की संख्या उत्तरोत्तर बढ़ती जा रही है। विविध विषयों की अबतक ६०० से अधिक पुस्तकें निकल चुकी हैं, जिनमें से कुछ अप्राप्य हैं। इन पुस्तकों में कई पुस्तक-मालाएं भी हैं, जिन्हें पाठकों ने बेहद पसंद किया है। कहने की आवश्यकता नहीं कि 'मंडल' का पूरा साहित्य ऐसा है, जिसे घर-घर में रखना चाहिए और उसके पठन-पाठन से पूरे परिवार को लाभ उठाना चाहिए। मनुष्य के विकास में साहित्य का बहुत बड़ा हाथ रहता है और जिन-जिन देशों में क्रांतियां हुई हैं, उन-उन देशों में साहित्य की प्रेरणाओं ने बड़ा काम किया है।

'मंडल' की पुस्तकों का बड़ा सूचीपत्र एक कार्ड लिखकर हमसे मंगा लीजिये और उसमें से अपनी पसंद की पुस्तकें चुनकर उनकी मांग अपने यहां के पुस्तक-विक्रेताओं से कीजिये। यदि उनके यहां 'मंडल' की पुस्तकें न हों तो उनसे आग्रह कीजिये कि वे मंगाकर रक्खें।

पुस्तकें भेंट में दीजिये

भारतीय समाज में अनेक ऐसे सामाजिक, राष्ट्रीय तथा धार्मिक अवसर आते रहते हैं, जबकि हम अपने प्रियजनों को कुछ-न-कुछ भेंट देते हैं। अब समय आगया है कि भेंट में पुस्तकें देने की परिपाटी का प्रचलन हो। बच्चों की वर्षगांठ हो या विवाह का मंगल अवसर अथवा अन्य कोई दूसरा प्रसंग, पुस्तकों से बढ़कर और कोई उपहार नहीं हो सकता। उत्तम साहित्य व्यक्ति को संस्कारवान् बनाता है और विचारों में क्रांति उत्पन्न करता है।

सुझाव दीजिये

हमारी बराबर इच्छा रहती है कि 'मंडल' की पुस्तकें लोकहित की दृष्टि से निकलें, उसका प्रयत्न भी करते हैं। फिर भी संभव है कि कुछ चीजें हमारे ध्यान में न आती हों।

पाठकों से हमारा अनुरोध है कि वे समय-समय पर हमें 'मंडल' की पुस्तकों के बारे में अपनी राय देते रहें। जो पुस्तकें उन्हें अच्छी लगती हैं, उनके विषय में सूचना देदें। लेकिन जो पसंद न आवें, उनके बारे में भी स्पष्ट लिखें। साथ ही यह भी सुझावें कि 'मंडल' को कौन-कौनसी पुस्तकें लोकहित की दृष्टि से और निकालनी चाहिए।

इन विचारों का हम न केवल स्वागत करेंगे, अपितु अपने आगामी प्रकाशनों की योजना में भी उनका ध्यान रक्खेंगे।

'मंडल' एक सार्वजनिक संस्था है और वह सबके स्नेह और सहयोग की आकांक्षी है।

—मंत्री

इन पुस्तिकाओं की सहायता से अपनी जीविका का ठीक चुनाव कीजिए

कृषि अधिकारी
सलोतरी
फारेस्ट रेंजर
विमान इंजीनियर
खनन इंजीनियर
रासायनिक उद्योगविद्
भू-वैज्ञानिक
धातु-वैज्ञानिक
औजार कारीगर
वाष्पित्र परिचर
औजार निर्माता
मिलर (मेंटल)
वातानुकूलन तथा
प्रशीतन यांत्रिक
मशीनमैन (प्रिण्टिंग)
चिकित्सक
दांत का डाक्टर
नर्स
समाज शिक्षा आयोजक
व्यायाम शिक्षक
शिल्प शिक्षक
लेखाकार (एकाउण्टेण्ट)
जीवन बीमा एजेण्ट
सांख्यकीविद्
सामुदायिक विकास योजनाओं में
व्यावसायिक अवसर
आफ्टर इण्टर साइन्स ह्वाट ?

इस से अधिक महत्वपूर्ण और क्या बात हो सकती है कि आप अपने लिए ऐसी जीविका चुनें जो आपकी प्रतिभा के अनुकूल हो और जिसमें आप निरन्तर प्रगति कर सकें।

अंग्रेजी या हिन्दी में ये पुस्तिकाएं प्राप्त करने के स्थान

रोजगार दफ्तर और
सरकारी पुस्तक विक्रेता

रोजगार और प्रशिक्षण महानिदेशालय

भारत सरकार

DA 61/387

योजना से क्या होगा

जनसाधारण के लिए शिक्षा

लगभग ५ करोड़ बच्चों (६ से ११ वर्ष) के लिए
मुफ्त प्राथमिक शिक्षा,
टैक्नीकल और उच्चतर शिक्षा के लिए अधिक अवसर,
अध्यापकों के लिए प्रशिक्षण-सुविधाओं में विस्तार और
छात्रवृत्तियों की संख्या में अधिकता से
आपके बच्चे शिक्षा का अधिक लाभ उठा सकेंगे।

योजना को सफल बनाइये जिसका मतलब होगा—

तीसरी पंचवर्षीय योजना | **सबका सुख सबकी सुविधा**

डी.ए. ६१/७१०

'मंडल' के प्रकाशन : दूसरों की दृष्टि में

कुछ पुरानी चिट्ठियां--लेखक : जवाहरलाल नेहरू पृष्ठ ७०० मूल्य : १०)

जवाहरलालजी की कुछ पुरानी चिट्ठियों का यह संग्रह भारत की स्वाधीनता के इतिहास में दिलचस्पी रखनेवाले प्रत्येक व्यक्ति के लिए पठनीय है। देश-विदेश के सार्वजनिक जीवन के प्रमुख व्यक्तियों से जो इनका पत्र-व्यवहार हुआ है, उसका यह एक सुंदर संग्रह है। चिट्ठियां पढ़कर हम उस दुनिया में पहुंच जाते हैं कि जब भारत को आजाद होना है और उसके लिए संघर्ष जारी है। कुल मिलाकर ३६८ पत्र इस संग्रह में हैं।

वाराणसी **--भूदानयज्ञ**

गांधीवादी संयोजन के सिद्धांत--लेखक : श्रीमन्नारायण पृष्ठ ३३६ मूल्य : ५.००

लेखक ने संयोजन के सिद्धांतों की समीक्षा करते हुए सारे संसार में तत्संबंधी व्यवस्था और गतिविधि का जिक्र यत्रतत्र करके यह बताने का प्रयत्न किया है कि संसार में संयोजन की लहर किस प्रकार चल रही है और भारत में उसकी दिशा किधर को है। इस तरह इस ग्रंथ में गागर में सागर भरने का उपक्रम किया गया है।

भारत-विभाजन की कहानी--लेखक : ए० के० जान्सन, अनु० रणवीर सक्सेना पृष्ठ २२४, मूल्य : रु० १.५०

स्वतंत्रता प्राप्त होने की वेला में भारत को दो खंडों में बंटने के दुर्भाग्य का सामना करना पड़ा, वह क्यों और किन परिस्थितियों में हुआ, उसकी यह पुस्तक एक प्रामाणिक विवरण है। पुस्तक की विशेषता यह है कि लेखक ने जो बात कही है, वह निष्पक्ष भाव से कही है। विषय के कारण पुस्तक का अपना ऐतिहासिक महत्व है।

वाराणसी **--भूदानयज्ञ**

'भारत-विभाजन की कहानी' नामक पुस्तक में भारत-विभाजन की अंदरूनी कहानी लिखी गई है। सरकारी तौर पर बहुत-सी बातें लेखक जानता था। उन्हींको उसने खोलकर इस पुस्तक में लिखा है। जो लोग ब्योरे में भारत के विभाजन को समझना चाहते हैं, उन्हें इस पुस्तक से कुछ लाभ पहुंचेगा।

नई दिल्ली **--योजना**

'जीवन-साहित्य' के स्वामित्व तथा अन्य ब्योरे के विषय में

१. प्रकाशन का स्थान	कनॉट सरकस नई दिल्ली
२. प्रकाशन की अवधि	मासिक
३. मुद्रक का नाम	मार्तण्ड उपाध्याय
राष्ट्रीयता	भारतीय
पता	कनॉट सरकस, नई दिल्ली
४. प्रकाशक का नाम	मार्तण्ड उपाध्याय
राष्ट्रीयता	भारतीय
पता	सस्ता साहित्य मंडल, कनॉट सरकस, नई दिल्ली
५. सम्पादक का नाम	हरिभाऊ उपाध्याय यशपाल जैन
राष्ट्रीयता	भारतीय
पता	सस्ता साहित्य मंडल, कनॉट सरकम, नई दिल्ली
६. उन व्यक्तियों के नाम और पते जिनका पत्र पर स्वामित्व है तथा उन भागीदारों अथवा शेयर-होल्डरों के नाम और पते जो पूंजी के एक प्रतिशत से अधिक शेयर रखते हैं।	'सस्ता साहित्य मंडल', नई दिल्ली

मैं, मार्तण्ड उपाध्याय, इसके द्वारा घोषित करता हूं कि ऊपर जो ब्यौरे दिये गए हैं, वे मेरी अधिक-से-अधिक जानकारी में और मेरे विश्वास में सही है।

(ह०) **मार्तण्ड उपाध्याय**
प्रकाशक

सस्ता साहित्य मंडल, नई दिल्ली।

मार्तण्ड उपाध्याय, मंत्री, सस्ता साहित्य मंडल, नई दिल्ली द्वारा न्यू इण्डिया प्रेस, नई दिल्ली में छपवाकर प्रकाशित।

अप्रैल, १९६२

जीवन साहित्य

सत्साहित्य प्रकाशन

तीर्थंकर महावीर

वर्ष २३ : अंक ४

सम्पादक
हरिभाऊ उपाध्याय
यशपाल जैन

अहिंसक नवरचना का मासिक

जीवन-साहित्य

अप्रैल, १९६२

● ● ●

विषय-सूची

निवेदन

पाठकों से

हमारे पास समय-समय पर पाठकों के पत्र आते रहते हैं, जिनसे पता चलता है कि 'जीवन-साहित्य' उन्हें पसंद आता है और वे उसकी रचनाओं को बड़ी रुचि के साथ पढ़ते हैं। इन भावनाओं के लिए हम उनके आभारी हैं।

हमारी इच्छा है कि पत्र का क्षेत्र और अधिक व्यापक हो। अतः हमने निश्चय किया है कि सन् १९६२ के अंत तक पत्र के ग्राहकों की संख्या में कम-से-कम दो हजार की वृद्धि कर देंगे।

पर यह संकल्प बिना पाठकों की सहायता के पूरा नहीं होने का।

पाठकों से हमारा अनुरोध है कि वे अपने-अपने क्षेत्र में जितने अधिक ग्राहक बना सकें, बनाने की कृपा करें। कुछ ऐसे हिन्दी-प्रेमियों के पते भी भेज दें, जिससे ग्राहक बनाने का हम स्वयं अनुरोध कर सकें।

हमें विश्वास है कि पाठक इस गुरुतर कार्य में हमारा हाथ अवश्य बंटावेंगे।

—व्यवस्थापक

जीवन-साहित्य

आवश्यक

जिन ग्राहकों का वार्षिक शुल्क दिसम्बर अंक से समाप्त हो गया हो, वे आगे का शुल्क मनीआर्डर से भेज देने की कृपा करें। मनीआर्डर न मिलने पर वी० पी० भेजी जाय तो उसे अवश्य छुड़ा लें।

● ●

उत्तरप्रदेश, राजस्थान, मध्यप्रदेश, हिमाचल प्रदेश, दिल्ली, बिहार तथा पंजाब राज्य-सरकारों द्वारा कालेजों, लाइब्रेरियों तथा उत्तरप्रदेश की ग्राम-पंचायतों के लिए स्वीकृत

● ●

● वर्ष २३
● अंक ४

● ●

अप्रैल, १९६२

जापान और भारत की मैत्री

विनोबा

इमाई भाई ने चाहा कि हमारे जापानी भाई-बहनों के लिए, वहां जो सर्वोदय का काम कर रहे हैं उनके लिए, वहां की ग्राम जनता के लिए दो शब्द कहूं।

इमाई भाई एक शांति-सेवक हैं। सर्वोदय-विचार समझने की उन्होंने कोशिश की है। अहिंसा पर उनकी श्रद्धा है। भारत और जापान की मैत्री, दुनिया के सब देशों में परस्पर प्रेम-भाव को चाहनेवाले वह एक सज्जन हैं। उन्होंने भारत के अनुराग के लिए भारत की भाषा हिंदी भी सीख ली है। मेरे साथ भूदान-यात्रा में कई महीने उन्होंने बिताये हैं। मैंने भी उनसे कुछ जापानी भाषा सीख ली है। ऐसे मित्र का आग्रह मैं नहीं टाल सका। इसलिए दो बातें कह रहा हूं।

जापान और भारत को महात्मा गौतम बुद्ध ने जोड़ा है। महात्मा बुद्ध की अहिंसा की सिखावन जापान में पहुंची थी। उसका असर जापान पर हुआ है। जापान के लोग उससे प्रभावित हैं। भारत में तो महात्मा गौतम बुद्ध का जन्म ही हुआ था। भारत उनको अपने सर्वश्रेष्ठ पुरुषों में गिनता है। महात्मा बुद्ध की सिखावन भारत की संत परंपरा ने उठा ली है और गांव-गाव में उसे फैलाया है उसीके आधार पर आधुनिक जमाने में महात्मा गांधी ने एक ताकत दी है। यहां का कुल सर्वोदय का काम उसी मार्गदर्शन में चल रहा है। करोड़ों भारतीय सर्वोदय-विचार से प्रभावित हैं।

दुनियाभर की सरकारें आज उलझन में हैं। देश एक दूसरे से भयभीत हैं। आज सब जगह जितना डर छाया है शायद ही पहले कभी इतना डर होगा। ऐसी हालत में अहिंसा कैसे पनप सकती है? फिर भी हम देख रहे हैं और हमारा विश्वास है कि अहिंसा जोरों से आ रही है। आणविक शस्त्रों ने, सबको अहिंसा की दिशा में जाना ही पड़ेगा, ऐसी हालत पैदा की है।

जमाना जोरों से बदल रहा है। अब से छोटे-छोटे धर्म-पंथ और राजनीतिक दलों के दिन खत्म हुए। अध्यात्म और लोकनीति के दिन आये हैं। भारत के लोगों को ये बातें

समझाने की कोशिश हम कर रहे हैं। वही बातें जापान और सब देशों पर लागू होती हैं।

जनता और सरकार में हमें फर्क करना चाहिए। सरकारें पुराने प्रवाह में वही जा रही हैं। लोग लाचार होकर सरकारों के हाथ में अपनेको सौंपकर दब-से गये हैं। लेकिन अब लोगों को उठना है। अपनी शक्ति को, अहिंसा की शक्ति को पहचानना है और हर गांव में सर्वोदय-समाज बनाना है, ऐसी कोशिश हम भारत में कर रहे हैं। जमाना हमारे साथ है और हमारा बल बढ़ रहा है। जापान में भी उस प्रकार की कोशिश इमाई भाई और उनके साथी बहुत धीरज के साथ कर रहे हैं। मैं चाहता हूं कि उनके प्रयत्न यशस्वी बनें और मुझे विश्वास है कि उन्हें यश जरूर मिलेगा।

हम सब भारत और जापान में ही मैत्री नहीं चाहते, कुल दुनिया में मैत्री चाहते हैं। गौतम बुद्ध के संदेश की आज दुनिया को जितनी जरूरत है, शायद इसके पहले उतनी कभी नहीं थी। उनके उपदेश में तो देश-देश और कौम-कौम में बिल्कुल फर्क नहीं किया है। उन्हींके मार्गदर्शन में हम जय-जगत् की आवाज बुलंद कर रहे हैं। मैं जापान के सर्वोदय मित्रों को धन्यवाद देता हूं कि उन्होंने वहां वैसा शुभ-कार्य आरंभ कर दिया है। हम सब उनके साथ हैं। जय-जगत्।

वन्दना के फूल....

गंगाप्रसाद 'विमल'

वन्दना के फूल उनके नाम
जो संकल्पवाले हैं
पंचवर्षी योजना--सहयोग से श्रमवान
मेरे नये भारत के मनीषी
नित नये निर्माण करते हैं--धरा पर तीर्थ
नूतन देव स्थापन. ...
सब दिशाएं पूजती हैं उन्हें
जिनके सभी अच्छे कर्म
हमको दे रहे हैं अर्थ वाली प्रगति।
अनुदिन--
गीत लिखता हूं उन्हींके नाम
वे ऋषि पुत्र रचना कर रहे हैं
नित नये अभियान की
इसी भारत पर जिन्होंने स्वर्ग लाने का
--किया संकल्प
यही सभी कुछ दृष्टिपथ में आ रहा है
उन्हींके हैं कीर्तिमय स्तम्भ,
मेरी वन्दना के फूल उनके नाम
याद करता है समय जिनके सभी सत्काम--!

प्रमाण

●● महात्मा भगवानदीन

प्रमाण शब्द है तो सीधा-साधा पर इसके वाच्य के साथ जितना अन्याय हुआ है, इतना शायद किसीके साथ नहीं हुआ है। प्रमाण के लिए सबूत शब्द भी काम में आता है। यह अरबी भाषा का शब्द है, छापेखाने की कृपा से प्रूफ शब्द भी हिंदी का शब्द बन बैठा, यह अंग्रेजी का शब्द है। अब प्रमाण, सबूत, प्रूफ सब एकार्थवाची है। अंग्रेजी का एक शब्द और है वह है अथार्टी। वह प्रूफ से ज्यादा ज़ोरदार है।

अब सीधे-साधे प्रमाण की कथा सुनिये। 'प्रमाण' का अर्थ है सच्चा ज्ञान, बिल्कुल ठीक जानकारी। ऐसी जानकारी किसीको नसीब नहीं, फिर चाहें वह सन्त हो, ऋषि हो, मुनि हो या अवतार हो, रसूल पैगम्बर हो, खुदा का बेटा हो।

फिर भी प्रमाण जिन्दा रहेगा, जैसा कुछ वह है इस हाड़-मांसवाले आदमी के लिए बहुत-कुछ है। इसकी बुद्धि का संतोल बनाये रखने के लिए बहुत काफी है। क्रोध के घोड़े की यह लगाम है, मान के हाथी का यह अंकुश है, माया के बंदर के लिए यह छड़ी है, लोभ-लालच को सीमा से बाहर न होने देने के लिए यह लोहे की पिटारी है।

विशुद्ध प्रमाण हमें क्यों नसीब नहीं, क्योंकि हम खुद विशुद्ध नहीं। हम जितने विशुद्ध हैं, उतनी ही हमारी जानकारी ठीक होगी, उतने ही हम प्रमाणित माने जायंगे।

प्रमाण दो तरह का होता है, एक सीधा (प्रत्यक्ष) दूसरा, ना सीधा (परोक्ष)।

सीधा ज्ञान वह है, जिसे हमारा आत्मा जन्म से अपने साथ लाया है। वह बड़ा निर्मल ज्ञान है और इतना ज्यादा है कि अगर उसपर का परदा हटा दिया जाय तो हम सह न सकें। हमारा मस्तिष्क फट जाय, हमारा शरीरांत हो जाय।

यहां यह शंका हो सकती है कि यह तो कहिये कि आपको (अर्थात् लेखक को) यह ज्ञान कैसे प्राप्त हुआ। शंका उचित है। यह मेरा अनुमान है और अनुमान भी किसी अंश में प्रमाण माना जाता है। अनुमान बीसों पंजे प्रमाण नहीं होता फिर भी दस-बारह पंजे तो होता ही है।

हां, तो यह सीधा प्रमाण हम साथ लाये हैं। निर्मल होने पर भी इसपर बहुत पर्दे चढ़े हुए हैं, इसलिए हमारे पल्ले उसमें से कम ही पड़ता है। अंध श्रद्धा तो उसपर एक पर्दा और चढ़ा देती है, प्रमाण को मलिन कर देती है। हां, इसपर के परदे हटते रहे हैं, हटते हैं, हटाये जा सकते हैं, हटाये जाते रहेंगे। अगर ऐसा न होता तो हम ऋषि-मुनियों के नाम भी न सुनते। बड़े-बड़े ग्रन्थ भी नसीब न होते, हम अजानकारी के गढ़े में पड़े पशुओं या जंगलियों जैसा जीवन बिता रहे होते।

मतलब यह कि सीधा यानी प्रत्यक्ष प्रमाण अन्दर से निर्मल होते हुए भी परदों के हलके होने की अपेक्षा रखता है, और नया ज्ञान प्राप्त करता रहता है। नया ज्ञान यानी पुरानी मूर्खता दूर करता रहता है। इसीका नाम है अन्तस्तल। उर्दू में इसे ज़मीर कहते हैं, अंग्रेजी में इसे 'सब-कान्शस' नाम दिया गया है।

अब, नासीधे यानी परोक्ष प्रमाण को लीजिये। इसकी अनेक किस्में हैं, जैसे, इंद्रिय प्रमाण यानी आंखों देखा प्रमाण, कान का सुना, नाक का सूंघा, जीभ का चाखा और हाथ का छुआ प्रमाण।

मन का सोचा हुआ भी प्रमाण होता है, अनुमान प्रमाण भी इसी किस्म का एक है।

एक होता है शब्द प्रमाण। इसे जरूरत से ज्यादा महत्व दे दिया गया है। यह सबमें पोच प्रमाण है, और पा बैठा है सबमें पहला नम्बर। इसने दुनिया को उथल-पुथलकर रक्खा है, अंध श्रद्धा इसीकी बेटी है। अपौरुषेय शब्द इसीका बेटा है। वही (ईश्वर से आई हुई बात) इसीकी देन है। इसका दूसरा नाम है आगम प्रमाण, वेद प्रमाण, कुरान प्रमाण, पिटक प्रमाण, अंजील प्रमाण, ज़िंदा-वस्था प्रमाण इत्यादि।

अगर हम शब्द प्रमाण से बच सकते होते तो सैकड़ों झंझटों से बच गये होते। धर्म होता, हम धर्मात्मा होते, पर न हम हिन्दु होते, न मुसलमान, ईसाई होते न बौद्ध, जैन होते न सिख, आर्य-समाजी होते न सनातनी और पन्थ और

संप्रदायों के चूहे हमारी बुद्धि की जड़ न काट रहे होते। हमें अन्तस्तल से बेपरवाह न रख रहे होते। हम क्या होते इसका हम अभी अनुमान नहीं लगा सकते।

बंगालीयत, पंजाबीयत, गुजरातीयत, मदरासीयत, महाराष्ट्रीयत, इत्यादि बीमारियां हमारी बुद्धि की देह को जर्जर न कर रही होतीं।

देश में फैली हुई अनेक भाषाएं और संविधान जैसे परम पवित्र ग्रन्थ में गिनाई चौदह भाषाएं हमारे कानों को सुनने को न मिलतीं और अनेक लिपियां हमें दिक न कर रही होतीं, तुर्की के कमाल की तरह हमारा गांधी भी कमाल कर दिखा सकता था, अगर कमाल एक रात में अरबी लिखावट को रोमन लिखावट में बदल सकता था तो गांधी भी पलक मारते भारत की अनेक लिखावटों को नागरी लिखावट का रूप दे सकता था। पर वह तो खुद ही शब्द प्रमाण के जाल में फंसा हुआ था। इस देश में जितना कर गया वह कम नहीं, उसे चमत्कार नाम दिया जा सकता है। देखी आपने शब्द प्रमाण की माया।

आदमी के मर जाने पर सती होनेवाली पत्नी तक उसके मुर्दे को एक क्षण घर में रखना नहीं चाहती। उससे इतनी घृणा क्यों? उसके वही हाथ, वही पांव, वही देह, सिर धड़ सभी तो मौजूद है। इसीलिए न कि अब वह प्रमाण नहीं है, वह घर का भला नहीं करेगा, बुरा करेगा, काम करेगा नहीं, दुर्गंध फैलायेगा।

यहांतक तो आप मुझसे सहमत हैं, आगे की सुनकर आंख-भौंह सिकोड़ेंगे। और वह यह कि उसके कहे हुए शब्द और लिखे हुए ग्रंथ भी अब मुर्दा है, क्योंकि उसके बिना कोई दूसरा यह नहीं बता सकता कि उसने कब कौन-सी बात किस तरह कही, किसलिए कही, किसके लिए कही, कितनी देर काम में लाने के लिए कही, इसलिए उसके द्वारा लिखे गये सब ग्रंथ अजायब घर की चीज़ हो सकते हैं, पुस्तकालय में स्थान पा सकते हैं, प्रमाण नहीं माने जा सकते। अगर माने जायंगे तो समाज में फूट डाल देंगे।

उसका मृत शरीर भी स्प्रिट की सहायता से अजायब-घर में जगह पा सकता है। पर उस शरीर को राजगद्दी पर बिठाकर अगर राजा का काम लिया जाय, तो देश में विद्रोह खड़ा हो जायगा, राम की खड़ाऊ सिंहासन पर विराजमान करके भरत ने राजनीतिक बुद्धि का परिचय दिया था और इस तरह अपने राज्य को निष्कंटक बना लिया था। बंगाल असेंबली के स्पीकर के डंड की तरह अगर कोई राम की खड़ाऊ भरत से छीनकर ले जाता तो वह अयोध्या का राजा बन जाता और भरत टापते रह जाते।

देखा आपने! शब्द प्रमाण कितना भयानक है। नज़ीर कानून में प्रमाण की तौर पर पेश की जाती है। नज़ीर से मतलब है, हाईकोर्ट में दिये हुए जजों के फैसले। ये नज़ीरें बड़ा गजब ढाती हैं, वकील इनका उपयोग करके जजों की आंखों में खूब धूल झोकते हैं। यद्यपि जज नज़ीर को प्रमाण मानने के लिए बाध्य नहीं, क्योंकि उनमें अपनी बुद्धि होती है, वह नज़ीर से बहुत ऊंचे होते हैं। देश का विधान, देश का कानून, देश की सरकार भी हाईकोर्ट और सुप्रीम कोर्ट के जजों को नज़ीरों से इतना ऊंचा समझती है, जितना आकाश को पाताल से, नज़ीर यानी शब्द प्रमाण।

शब्द प्रमाण का एक उदाहरण सुनिये। सन् १९२१ में गांधीजी ने अंग्रेजी सरकार को उखाड़ फेंकने के लिए असहयोग-आंदोलन शुरू किया। असहयोग-आंदोलन का मतलब था, सरकार का किसी तरह साथ न देना, न उनकी नौकरियां करना, न अदालतों में जाना, न उनके स्कूल-कालेजों में पढ़ना, न और किसी तरह उनकी मदद करना। ऐसे आंदोलन के लिए एक पत्र की जरूरत थी, पत्र भी निकाला गया। उसका नाम था 'यंग इंडिया'-भाषा थी उसकी अंग्रेजी। खूब जोरों से चला, साल भर के बाद गांधीजी पकड़ लिये गए, जेल भेज दिये गए, आंदोलन कुछ कमजोर होने लगा। नेताओं का जोश कुछ ढीला पड़ने लगा। गांधीजी के साथी थे, सब वकील-बैरिस्टर,। सन् १९२२ में गया कांग्रेस हुई। उसमें कुछ लोग इस ख्याल के थे कि असहयोग-आंदोलन जारी रखा जाय। उनके मुखिया थे, श्री सी० राजगोपाला-चारी (भूतपूर्व गवर्नर जनरल)। कुछ इस ख्याल के थे कि सरकार के साथ फिर सहयोग शुरू किया जाय, असेंबली और कौंसिलों में जाया जाय। इस दल के मुखिया थे, दास बाबू (श्री चित्तरंजन दास) और मालवीयजी (श्री मदन मोहन मालवीय)। दोनों ही दल के नेता अपनी युक्तियों के समर्थन में गांधीजी के 'यंग इंडिया' पत्र को पेश करते थे। देखा आपने, लेखक के जीते-जी भी शब्द-प्रमाण कितना

धोखे की चीज़ है। कारण यह कि यह परोक्ष प्रमाण होता है।

आंख को सर्वोत्तम प्रमाण माना गया है, पर आंख की बराबर दूसरी और कोई इंद्रिय धोखे की नहीं। इसका तजुरबा हरएक पाठक को होगा। फिर भी एक कहानी द्वारा, जो हमें सच्ची तो नहीं मालूम होती, हम आंख की कमज़ोरी को दिखायंगे। पाठकों को चाहिए कि कहानी में से केवल सार ग्रहण करें।

अकबर ने बीरबल से पूछा, "बीरबल, आंख का देखा सच या कान का सुना ?" बीरबल बोले, "हुज़ूर दोनों झूठ।" अकबर ने बीरबल को ग़ौर से देखा और चुप हो गये बात आई-गई हो गई। महीनों बाद रात के बारह बजे बीरबल की तलबी हुई। बीरबल बहुत घबराये। रात के बारह बजे और बादशाह मुझे याद करें। किसीने देश पर हमला बोल दिया। लाचार उठे, बुलानेवाले के साथ हो लिये, बादशाह इतज़ार कर ही रहे थे। बीरबल को सीधे रनवास में ले गये, बिगड़कर बोले, "अपनी आंख से देख, और बता, यह सच है कि झूठ।" बीरबल निधड़क होकर बोले, "हुज़ूर बिल्कुल झूठ, सौ फीसदी झूठ।"

बात यह थी कि अकबर की रानी माली के साथ एक ही पलंग पर सोई हुई थी। इतनी बात जरूर थी कि दोनों की पीठ आमने-सामने थीं, यानी दोनों करवट से सो रहे थे। माली का मुंह इधर की तरफ था, जिधर अकबर और बीरबल खड़े थे, दूसरी तरफ रानीसाहिबा सोई थीं, जिनका मुंह कमरे के सामने की दीवार की तरफ था।

बीरबल बादशाह की आंखों के सामने माली के पास पहुंचे। उसके कंधे पर हाथ रखा। वह एकदम घबरा कर उठा। बीरबल को सामने देख हड़बड़ाता हुआ बोला, "हः हः हः, हजूर मैंने सेज़ पर फूल बिछाये थे। देखता था, इसपर लेटने से कैसा आनन्द आता है कि नींद लग गई।"

बीरबल ने आगे कोई बात नहीं की। उसे पीछे मुड़कर देखने का मौका भी नहीं दिया। पकड़कर खुद रनवास से बाहर कर आये। बादशाह चुपचाप देखते रहे। उन्हें ऐसा मालूम हुआ, मानो ख्वाब देख रहे हों।

अब बीरबल ने चुपके-से रानी साहिबा को छुआ। उन्होंने एकदम आंख खोली। बीरबल को सामने खड़ा देख बहुत बिगड़कर बोलीं, "बीरबल, तुम इस वक्त यहां कैसे ? तुम्हें शरम नहीं आती, मैं बादशाह के साथ सोई हुई थी और तुम यहां चले आये।" बीरबल गिड़गिड़ा कर बोले, "अम्मा-जान, क्या मैं ऐसी बेअदबी कर सकता हूं ? मैं तो बादशाह के हुक्म से यहां आया हूं। उन्होंने आपको याद किया है।" यह सुनकर रानीसाहिबा ने पीछे नज़र फेरी, बोली, "ए, अभी तो वह यहां सोए हुए थे, कब उठ गये ?"

देखा आपने, आंख का देखा कितना झूठ होता है। इसको अगर प्रमाण मान लिया जाता, तो दो-तीन जान नाहक तलवार के घाट उतार दी गई होतीं। अब आंखों के साथ साक्षात् का विशेषण कितना निरर्थक हो जाता है, और ईश्वर-साक्षात्कार का क्या अर्थ रह जाता है !

एक आंखदेखी लिखे बिना न रहेंगे। मेरे एक मित्र घर से बाहर निकल रहे थे, चेहरा गुस्से से तमतमाया हुआ था। उसी वक्त मैं उनके दरवाज़े पर पहुंचा, मैं चेहरा देख-कर घबरा गया। पूछा, "बात क्या है ?" वह चुपचाप मेरा हाथ पकड़कर अन्दर ले गये। भीतर के दरवाज़े से आंगन में बिछी चारपाई की ओर मेरा सिर और मेरी आंख करके बोले कुछ नहीं, इशारे से कहा, "ले देख।" मैं मुस्करा दिया। वह बुरी तरह बिगड़े, बोले फिर भी नहीं। मैंने फिर अपने दोस्त के गाल पर चपत लगाते हुए कहा, "अबे, मां-बेटे साथ सोये हुए हैं, बिगड़ता क्यों है ?"

वह बोले, "मां-बेटे ! यह तो जवान लड़का है।" मैंने फिर बिगड़कर कहा, "मूरख, तू बारह बरस में लौटा है, तो तेरा दस बरस का हरी अब बाइस वर्ष का जवान नहीं होगा, तो क्या तीन साल का दुधमुंहा होगा ?"

उसने फिर अचरज से पूछा, "तो यह मेरा हरी है ?" मैं बोला, "हां।" बस उसने मुझे गले लगा लिया, बोला "आज तूने मुझे सर्वनाश से बचा लिया।"

जब चक्षु-इन्द्रिय का यह हाल है तब और इन्द्रियों का क्या कहना। अब देखा आपने कि प्रमाण किसे कहते हैं, हम हैं कि सुनी हुई बातों को प्रमाण मान लेते हैं।

अच्छी तरह से सोची-समझी और परखी बात को प्रमाण मानने का रिवाज़ अगर चल पड़े तो हम अनेक झझटों से बच सकते हैं। धर्म-भेदों, प्रान्त-भेदों, भाषा-भेदों और अन्य भेदों से मुक्ति हासिल कर सकते हैं। अन्तस्तल की सहायता से सच्ची जानकारी को ही मानना चाहिए।

क्रान्ति का रास्ता खुला कर दें

●● काका कालेलकर

घर बनाते समय उसकी रचना हम उस प्रकार की करते हैं, जिस प्रकार का जीवन हम उसमें जीना चाहते हों। कौटुम्बिक जीवन और गृह-रचना के बीच प्रारंभ में अच्छा मेल होता है। जीवन का ढंग जैसा-का-वैसा रहा और केवल कुटुम्ब का विस्तार हुआ तो अमुक समय तक घर में कुछ सुधार करके काम चलाया जा सकता है। जैसी जीवन-पद्धति वैसी गृह-रचना—इस नियम का सर्वत्र पालन होता है।

लेकिन कालांतर से जीवन का ढंग बदलता है। उसके कारण अनेक हो सकते हैं। कुछ कारण हमें अनुकूल लगेंगे, कुछ प्रतिकूल, लेकिन जबतक ये मौजूद हैं तब तक हमें अपना जीवन-क्रम बदलना ही पड़ेगा और यह बदला हुआ जीवन-क्रम एक बार अनुकूल सिद्ध हुआ तो उसके अनुसार सारी गृह-रचना बदले बिना चारा ही नहीं।

लेकिन मनुष्य जिस प्रकार अपनी आदत झटपट छोड़ नहीं सकता उसी प्रकार जीवन-क्रम बदल जाने पर भी गृह-रचना छोड़ने को वह तैयार नहीं हो जाता। असुविधा सहेगा, लेकिन पुराने ढंग को आग्रह के साथ पकड़ रखेगा। अमुक हदतक यह यथास्थितिकर वृत्ति इष्ट भी होती है। लेकिन यह अनन्तकाल तक नहीं चल सकती। उसे पुराना मकान तोड़कर उसके स्थान पर नये ढंग का, नये आदर्शोंवाला, नई सुविधाओंवाला मकान बनाना ही पड़ता है।

ऐसे नये घर में, जिनकी उपयोगिता सिद्ध हो चुकी है, ऐसी सुविधाएं कायम रखने को किसने मना किया है ? लेकिन उनको केवल इसलिए नहीं चलायेंगे कि वे आज तक चली आ रही हैं। नये जीवन में भी उनकी अनुकूलता सिद्ध हुई है, इसलिए इतना पुराना संभालने को हम तैयार हो जाते हैं। उसमें भी नये जीवन के साथ अनुकूल होने के लिए अमुक परिवर्तन तो करने ही पड़ते हैं।

यह सिद्धांत जितना जीवन-क्रम पर और गृह-रचना पर लागू होता है उतना ही या उससे भी अधिक ग्राम-रचना और नगर-रचना पर लागू होता है। लेकिन बहुसंख्यक लोगों की सम्मति के बिना तो ऐसे परिवर्तन नहीं हो सकते। यह बड़ी भारी कठिनाई है और इसीलिए समाज छोटी-बड़ी असंख्य असुविधाएं सहन करता और निभा लेता है। यह अनुभव लगभग सार्वभौम है। कोई भी देश, समाज या जमाना इस अनुभव से मुक्त नहीं है।

जो बात नगर-रचना की वही समाज-रचना की भी समझनी चाहिए।

स्त्री-पुरुष के संबंध के बारे में अब हमारे यहां भी आदर्श में बड़ी भारी क्रांति हो गई है। अब उसमें पुराने आदर्श टिकाये नहीं जा सकते। पुराना कौटुम्बिक जीवन सुखी था, समृद्ध था, सुवासिक था, उसका काव्य अद्भुत था—ये सब बातें ठीक हैं, लेकिन व्यवहार बदल गया है, आदर्श बदल गया है। अब नया ढंग पसंद हो या न हो, दाखिल करना ही पड़ेगा। जीवन-क्रम में अथवा कौटुम्बिक जीवन में स्त्री-जाति का हिस्सा तेज़ी से बढ़ने लगा है। अधिकार की बात नहीं, हिस्से की बात है। जीवन-पद्धति ही इतनी बदल गई है कि अब स्त्री का हिस्सा और उसके साथ के अधिकार मान्य किये बिना कोई चारा ही नहीं। मान्य करना, खुशी से या नाखुशी से, यह हरेक की अपनी मरजी की बात है। उसमें कोई आड़े नहीं आयेगा।

जीवन-व्यवस्था का अत्यन्त महत्व का अंग है जाति-व्यवस्था। जातियों के जीवन के अनुसार, धंधे के अनुसार और परस्पर सहयोग के अनुसार जो पुराने आदर्श बने थे, वे कबके टूट गये। आजीविका के साधन और रहन-सहन के आदर्श—दोनों में अब अराजकता फैल गई है। उसे बदलना किसीके बस की बात नहीं। परिणामतः जाति-व्यवस्था बनाये रखने का कोई कारण रहा नहीं, फिर भी हम लोगों ने रोटी-बेटी-व्यवहार के नाम से यह जाति-भेद कायम रखा है। उसमें से रोटी-व्यवहार तो मांसाहार करने या न करने तक ही सीमित रहा है। बाकी जहां देखें वहां अराजकता ही पूरी-पूरी फैली हुई है।

अब जहां जीवन के संबंध में विशेषता जैसी कुछ नहीं रही और सार्वत्रिक शिक्षा के कारण योग्यता और होशियारी में विशेष भेद नहीं रहा और स्थानान्तर की आवश्यकता पहले

की अपेक्षा बढ़ गई है वहां प्रत्यक्ष जीवन में कोई ऐसी भिन्नता नहीं रही कि जिसके कारण जातिभेद को बनाये रखा जाय।

फिर भी जातिभेद बना रहा है, इतना ही नहीं बल्कि पहले की अपेक्षा अधिक अंध और कड़ा बनता जा रहा है। आदर्श के कारण नहीं, किन्तु नौकरी और चुनाव के, वसीले और पक्षपात के, संकुचित और मलिन हित-संबंधों के कारण जातिभेद बना रहना चाहता है। लेकिन बेटी-व्यवहार की पुरानी प्रथा अब टूटने लगी है। गांधीजी के शब्दों में कहें तो अन्तर्जातीय विवाह आज कम हैं, लेकिन थोड़े ही दिनों में उनका प्रपात शुरू हो जायगा। किसीके रोके वह रुकेगा नहीं। बेटी-व्यवहार के बंधन एक बार टूट गये और बाद में वह दशा कायम न रही तो भी बंधन की संकुचितता और उसकी हानियां टिकेंगी नहीं। आज गोत्र जैसे अर्थहीन हो गये हैं वैसी ही जातिभेद की हालत होनेवाली है।

हम अपने-अपने धर्म के तत्वों, आदर्शों और रहस्यों की चाहे जितनी स्तुति करते रहें, किन्तु प्रत्यक्ष जीवन में इन तत्वों की पकड़ कबकी ढीली हो गई है और आज तो जाति जितनी अखरती है उससे भी अधिक धर्मभेद अखरता है। एक तरह से देखें तो जात-पांत रोजमर्रा की जिन्दगी में अधिक अखरती है। भिन्न धर्मवाले लोगों का जीवन पर्याप्त मात्रा में ओत-प्रोत नहीं है, इसलिए धर्मभेद उतने नहीं अखरते जितने कि जाति-भेद। लेकिन दूसरी तरह से देखें तो सब जातियां एक सामान्य सामाजिक आदर्श मानती होने के कारण और अधिकांश परस्पर ओत-प्रोत होने के कारण जाति-व्यवस्था समाज-विघातक नहीं बनती। जबकि धर्म-भेद के कारण अलग-अलग समाज हों, अलग राष्ट्र हों, ऐसी स्थिति कभी भी पैदा हो जाती है।

आज हम जाति-भेद मिटाने की कोशिश करते हैं और धर्म-भेद को बरदाश्त ही नहीं करते, उसे अधिकाधिक मजबूत बनाते जा रहे हैं। यह खतरा साफ नजर आते हुए भी उसका इलाज करने की बात अबतक सूझी नहीं है।

धर्म के मूल तत्व सुन्दर हैं, उदात्त हैं; रिवाज के भेद सकारण हैं, लेकिन वे बाधक न होने चाहिए; इस प्रकार की चर्चा और प्रचार चाहे जितना करें, धर्म-भेद का जोर कम नहीं होता। आज आदर्श-भेद बाधक नहीं है। परस्पर अविश्वास और आत्मीयता का अभाव ही बाधक होते हैं। और यह दोष राष्ट्रीय एकता की दृष्टि से घातक बनता जा रहा है। क्योंकि धर्म-भेद का विरोध करने से द्वेषभाव बढ़ता है, अंध अभिमान प्रबल होते हैं। देश के नेता लाचार बनकर इस भेद की उपेक्षा करके संतोष मानते हैं। लेकिन यह कमजोरी अब आयंदा बरदाश्त नहीं हो सकेगी। हरएक धर्म के, समाज के अगुआ शांत-सयाना भाव धारण करके आज भी अधिक नौकरियां, अधिक अधिकार और विधानमान्य पक्षपात मांगते ही जाते हैं।

स्त्री-पुरुषों के अधिकार, जात-पांत और धर्म-भेद इन तीन सामाजिक भेदों का अबतक उल्लेख किया। उसके साथ आर्थिक परिस्थिति को लेकर जो अन्याय चलता है, शोषण बढ़ता है और अन्ततोगत्वा वर्ग-विग्रह खड़ा होता है उसे भी ध्यान में लेना चाहिए। राष्ट्रीय समस्या के इस सवाल को हमने अपनी परिस्थिति का अध्ययन करके अपने ढंग से शीघ्रता से हल किया होता तो बात अलग थी। लेकिन हम यह अध्ययन-परिश्रम करना नहीं चाहते।

आर्थिक व्यवस्था के इस रोग की ओर पहले ध्यान आकर्षित किया पश्चिम के लोगों ने। चुनांचे इस रोग का इलाज भी हम पश्चिम से प्राप्त करने लगे हैं।

और शिक्षा के संबंध में तो जैसे चर्चा बढ़ती है, वैसे-वैसे अविचार और तन्त्र की तानाशाही बढ़ती ही जाती है।

और अभिरुचि की अराजकता तो पश्चिम की अपेक्षा हमारे यहां अधिक है। उसे अराजकता कहें या अभाव कहें यही समझ में नहीं आता। उसकी चर्चा भी तो शान्ति से नहीं होती।

इन सब क्षेत्रों में पुरानी व्यवस्था कबकी सड़ गई है, टूट गई है और फिर भी उसकी चर्चा करने को भी कोई तैयार नहीं है।

छोटे-बड़े कल-कारखानों में अर्थतंत्र न्याय का या सर्वोदय का विचार किये बिना सब के पास से तन्त्रनिष्ठा से अपेक्षा रखता है। शिक्षा का तन्त्र एकसाथ जीवन-व्यापी भी बन रहा है और तानाशाह भी बनता जाता है। नौकरी के कारण और ग्रांट आदि आर्थिक सहायता के कारण यह तन्त्र अधिक तंग बनता जा रहा है; पाठ्य पुस्तकें, अभ्यास-क्रम, फीस का बोझ, परीक्षाओं का ढांचा और नौकरी में प्रवेश पाने की शर्तें, इन सबके कारण उदीयमान पीढ़ी का जीवन

बचपन से ही शिकंजे में लेने की कोशिश करता है और अब तो शिक्षा के तंत्र का उपयोग कहीं-कहीं राजनैतिक पक्षों के हित में भी होने लगा है।

राजनैतिक सिद्धांतों की तात्विक चर्चा के पीछे देश में पार्टीबाजी इस हद तक बढ़ गई है कि चुनाव के दिन आते ही सट्टा और शेयर बाज़ार का-सा वायुमंडल सारे देश में फैल जाता है। जुआ, षड्यन्त्र और शीत-युद्ध को मिलाकर बनाये गये रसायण का नाम है चुनाव। ऐसी हालत आज देश में चौतरफा दिखाई देती है।

ऐसी हालत में समाज-तन्त्र, राज्यतन्त्र, शिक्षा-तंत्र, कल-कारखानों का तंत्र और भगवान् जाने दूसरे कौन-कौन-से तंत्र और गिनने पड़ेंगे, कोई भी तंत्र अपनी नैतिक भ्रष्टता के कारण हमारे मन में आदर पैदा नहीं कर सकता। तंत्रनिष्ठा का आग्रह डिपार्टमेंटल इंक्वाइरी का रूप पकड़ता जा रहा है। ईश्वर-निष्ठा, मानव-निष्ठा, धर्म-निष्ठा, नीति-निष्ठा, समाज-कल्याण की निष्ठा और ज्ञान-निष्ठा ऐसी सब पवित्र निष्ठाओं को बिलकुल गौण बनाकर सर्वत्र तंत्रनिष्ठा को सार्वभौम महत्व दिया जा रहा है और लोकसत्ता का नाम आगे करके सत्तावाले सत्याग्रह जैसे पवित्र तत्व को भी तत्वतः दबाना चाहते हैं। विदेशी सत्ता के खिलाफ जरूर हो सकते हैं, राज-सत्ता के खिलाफ लड़ सकते हैं, लेकिन बहुमत की सत्ता के खिलाफ सत्याग्रह नहीं कर सकते इस तरह की हवा चलने लगी है। सत्याग्रह के नाम से अंधे और स्वार्थी लोग जहां-तहां सत्याग्रह का दुरुपयाग करते हैं, इसका लाभ लेकर लोकनेता कहने लगे हैं कि लोक-सत्ता के खिलाफ सत्याग्रह करना ही नहीं चाहिए। चाहे जितनी बदहजमी हुई हो तो भी फाका नहीं रखना चाहिए, ऐसी ही कुछ यह दलील हुई। लेकिन सच्चा सत्याग्रह सत्याग्रह नेताओं की सम्मति की राह देखता ही नहीं।

खैर! इन सब वस्तुओं पर एकसाथ विचार करने के बाद लगता है कि अब भारतीय संस्कृति का आमूलाग्र नव-संस्करण करने के दिन आये हैं। ऐसे समय उदीयमान पीढ़ी के नवजवानों को तंत्रनिष्ठा के स्तोत्र पाठ हम कबतक पढ़ाते रहेंगे? तंत्र-निष्ठाओं की सख्या इतनी अधिक बढ़ गई है कि एक तंत्र के प्रति निष्ठा धारण करने जाते दूसरी तंत्र-निष्ठा का द्रोह होता है।

इसलिए अब हमें समझ लेना चाहिए कि आमूलाग्र सार्वभौम क्रांति के दिन आ पहुंचे हैं। जो तंत्र इस क्रांति के आड़े आयेंगे वे तंत्र अब टिकने के नहीं। अब तंत्र नहीं, किन्तु कल्याण के तत्व ही सर्वोपरि होने चाहिए और क्रान्ति का मार्ग खुला कर देना चाहिए। यह कोई नियम नहीं है कि क्रांति अंधी ही होनी चाहिए। सयाने लोग जब अंधे बन जाते हैं, तभी क्रांति अंधी होती है और महंगी सिद्ध होती है।

आयंदा हमें जिन्दा रहना हो तो सज्जन और समर्थ राष्ट्र के तौर पर ही जिन्दा रह सकेंगे। 'असमर्थो भवेत् साधुः' ऐसी बदनामी हमारे लिए ठीक नहीं होगी। हमारा पुरुषार्थ बढ़ना चाहिए, पराक्रम बढ़ना चाहिए, सामर्थ्य बढ़ना चाहिए। तभी हमारे वचन की दुनिया में कीमत होगी और सामर्थ्य का बीज ज्ञानोपासना में, कौशल्य के विकास में, एकता में और परस्पर प्रेमादर में ही है। संकुचित दृष्टि, परस्पर ईर्ष्या और द्वेष बढ़ाये तो कुछ लोगों का जी भरेगा, कुछ लोगों की क्षुद्र भावनाएं उत्तेजित होंगी, परन्तु राष्ट्र दुर्बल होगा। इस बारे में सारे राष्ट्र को योग्य दिशा-दर्शन मिलना चाहिए। और इस काम में संस्कारी पुस्तकालय- वाचनालय की मदद से बढ़कर और कौन-सी मदद हो सकती है!

हमें भूलना नहीं चाहिए कि आंख का मुख्य उपयोग सृष्टि-निरीक्षण के लिए है। अक्षरों को पढ़ना, ग्रन्थों का पठन करना, यह काम आंखों पर लादा गया है और इसीलिए सब लोगों की आंखों पर पढ़ने का बोझ न डालकर एक पढ़े और बहुत-से लोग सुनें ऐसी व्यवस्था हमें चलानी चाहिए।

—काका कालेलकर

हमारी धरोहर ●● सुशील

(७)

एक मुनि किसी गृहस्थ के घर भिक्षा के लिए गया। घर में एक वृद्ध पुरुष और उसकी एक पुत्रवधू यही दो व्यक्ति थे। वृद्ध पुरुष धर्म-कर्म में विश्वास नहीं करता था। मुनि को देखकर उसकी पुत्रवधू ने सादर प्रणाम किया। मुनि की आयु बहुत थोड़ी थी। उस बहन ने पूछा, "मुनिवर, अभी तो सवेरा ही है ?"

शिशु मुनि ने उत्तर दिया, "बहन, मुझे काल का पता नहीं चलता।"

वृद्ध पुरुष को यह सुनकर बड़ा क्रोध आया। कैसी मूर्ख है यह बहू। सूरज सिर पर चढ़ आया है और कहती है अभी तो सवेरा है।

तभी मुनि ने फिर पूछा, "बहन, तुम्हारे घर का क्या आचार है ?"

बहन ने उत्तर दिया, "मुनिवर, हम तो बासी ही खाते हैं।"

मुनि ने पूछा, "तुम्हारा पुत्र कितने वर्ष का है ?"

बहन बोली, "सोलह वर्ष का।"

मुनि ने पूछा, "तुम्हारा पति ?"

बहन ने उत्तर दिया, "आठ वर्ष का।"

मुनि ने पूछा, "और श्वसुर ?"

बहन बोली, "वह तो अभी पालने में ही झूल रहा है।"

यह वार्त्तालाप सुनकर वृद्ध आग-बबूला हो उठा। यह कैसी पुत्रवधू है कि वह मेरे और मेरे घर की इज्जत खाक में मिला रही है और झूठ बोल रही है। जब मुनि भिक्षा लेकर शान्त भाव से चले गए तो उसने अपनी पुत्रवधू को बहुत डांटा। पुत्रवधू ने शान्त स्वर में उत्तर दिया, "आप मुझे डांटें, यह आपको शोभा नहीं देता, पिताजी। भला मैं साधू के प्रश्नों का उत्तर कैसे न देती ? आप इनके पास जाइये। वहां इनके गुरु भी होंगे। उनसे कह आइये कि वह अपने शिष्य को फिर कभी यहां न आने दें।"

वृद्ध को यह बात जंच गई। वह कई बार इन साधुओं को डांटने की सोचा करता था। आज अच्छा अवसर हाथ आया है, ऐसा उलाहना दूंगा कि फिर वह मेरे घर आने का नाम तक न लेगा। यही सोचता हुआ वह गुरु के पास जा पहुंचा। परन्तु उन्हें देखते ही उसका सिर अपने-आप ही झुक गया और उसने प्रणाम करने के बाद कहा, "आज आपका छोटा साधु मेरे घर भिक्षा के लिए गया था। लेकिन वहां उसने बहुत ही अशोभनीय बातें की हैं।"

गुरुजी ने उस शिशु-मुनि को बुलाया। उसने सबकुछ सुन कर कहा, "गुरुदेव, इनसे ही पूछिये। मैंने क्या अशोभनीय बातें कीं ?'

वृद्ध बोला, "मेरी पुत्रवधू ने इनसे कहा, 'अभी तो सवेरा ही है और इसने उत्तर दिया, मैंने काल को नहीं जाना।' भला क्या यह बात सच हो सकती है ?"

शिशु-मुनि बोले, "जी, यही बात हुई थी। और इसका अर्थ यह है--'बहन ने मुझसे पूछा था, "आपने इस उभरती हुई आयु में संन्यास का कठोर मार्ग क्यों ग्रहण किया ?' मैंने उत्तर दिया था, 'बहन, काल अर्थात् मृत्यु का कोई भरोसा नहीं।' गुरुदेव इसमें तो कोई अशिष्ट बात नहीं है।"

वृद्ध ने कहा, "अच्छा। इस बात को छोड़िये। दूसरी बात इस साधु ने पूछी थी, 'तुम्हारे घर का क्या आचार है ?' और मेरी पुत्रवधू ने उत्तर दिया था, 'हम तो बासी ही खाते हैं।' भला इसमें क्या ज्ञान की बात थी ?"

शिशु-मुनि ने कहा, "गुरुदेव ! मैंने पूछा था, 'तुम्हारे घर का क्या आचार है अर्थात् क्या धर्मानुष्ठान होता है ?' बहन ने उत्तर दिया था, 'हम तो बासी ही खाते हैं, अर्थात् पूर्व-जन्म में जो धर्म-कर्म किये होंगे, उसीके फलस्वरूप हमें सबकुछ प्राप्त है। आगे के लिए हम कुछ नहीं कर रहे।' भला इसमें कौन-सी बुरी बात है ?"

वृद्ध पुरुष चकित तो हुए, लेकिन उन्होंने फिर कहा, "अच्छा, इसको भी छोड़िये। मेरी पुत्रवधू ने अपने पुत्र की आयु सोलह वर्ष, पति की आयु आठ वर्ष और मुझ वृद्ध पुरुष को पालने में झूलनेवाला ही बताया था। भला यह बात कैसे सही हो सकती है।"

शिशु-मुनि ने उत्तर दिया, "गुरुदेव ! मैंने बहन से पूछा था कि तुम्हारे घर में कोई धर्मज्ञ है या नहीं? इसपर उसने उत्तर दिया था, मेरा पुत्र जन्म से ही धर्म-कर्म जानता है और उसकी आयु सोलह वर्ष की है। मेरे पति पहले तो परम नास्तिक थे, किन्तु अब मेरे समझाने-बुझाने से धर्म के मर्म को समझने लगे हैं और आठ वर्ष से वह भी धर्म-निष्ठ हैं, लेकिन मेरे श्वसुर आज भी धर्म की बात सुनना नहीं चाहते।' यह वृद्ध पुरुष धर्म का रहस्य जानते तो आपके पास आते ही नहीं।"

यह सुनकर वृद्ध पुरुष बहुत लज्जित हुए और धर्म के रहस्य को और उसकी शक्ति को समझ गये।

(८)

प्राचीन काल में एक राजा हुआ है। उसको आम खाने का बहुत ही शौक था, लेकिन उसे आमवात रोग भी था। नाना प्रकार की चिकित्सा करवाने पर भी उसका वह रोग शांत नहीं हुआ। अंत में एक अत्यंत अनुभवी चिकित्सक ने बड़ी खोज करने के बाद रोग के कारण का पता लगाया। उसने राजा से कहा, "आपको यह प्रतिज्ञा करनी होगी कि आप कभी आम नहीं खायेंगे।"

राजा का मन तो नहीं करता था, लेकिन जब कुछ दिन की चिकित्सा के बाद उसका स्वास्थ्य सुधरने लगा तो उसने चिकित्सक को विश्वास दिलाया कि वह इस जीवन में ऐसी गलती कभी नहीं करेगा।

राजा की सुरक्षा के लिए मंत्रियों ने राज्य में जितने भी आम के पेड़ थे, सब उखड़वा दिये। बाहर से आमों के आयात पर कड़ा प्रतिबंध लगा दिया। धीरे-धीरे समय बीतने लगा और उसके साथ ही राजा का रोग भी शांत होने लगा। एक दिन वह पूर्ण स्वस्थ हो गया। तभी की बात है ग्रीष्म ऋतु का समय था। सवेरे-सवेरे ही राजा और मन्त्री घोड़ों पर चढ़कर घूमने के लिए चल दिये। घूमते-घूमते वह अपनी राज्य की सीमा को लांघ गये। दोपहर आ गई और कड़ी धूप के कारण राजा अकुलाने लगा। उसने मंत्री से कहा, "किसी सघन वृक्ष की छाया में चलना चाहिए।"

कुछ दूर पर एक वृक्ष दिखाई दिया, लेकिन वह आम का वृक्ष था। मंत्री ने कहा, "महाराज, उधर नहीं चलेंगे।"

राजा ने पूछा, "क्यों?"

मंत्री बोला, "महाराज, यह वृक्ष आम के हैं। आपके स्वास्थ्य के लिए यह ठीक नहीं है।"

राजा ने उत्तर दिया, "चिकित्सक ने आम खाने का निषेध किया है। छाया में बैठने का नहीं। धूप के मारे मेरे प्राण निकल रहे हैं। वहीं चलना चाहिए।"

मंत्री ने बहुत रोका, लेकिन राजा ने एक नहीं मानी, फिर तो पलक मारते ही दोनों वहां पहुंच गये। वृक्षों की सघन छाया में थोड़ी देर विश्राम करने के बाद उनकी थकान दूर हो गई। तब राजा ने दृष्टि उठाई। पेड़ पर अनेक पके हुए आम लगे हुए थे। राजा के मुंह में पानी भर आया। बोला, "कितने सुन्दर फल हैं। अपने देश में हमने ऐसे आम कभी नहीं खाये।"

यह सुनकर मंत्री राजा से चलने के लिए कहने लगा, लेकिन राजा उन फलों की प्रशंसा ही करता रहा। तभी हवा के झोंके से एक पका हुआ मीठा आम अचानक वृक्ष से टूटा और राजा की गोद में आ गिरा। मंत्री ने तुरंत उस फल को उठाना चाहा। लेकिन राजा ने उसे अपने हाथ में ले लिया। मंत्री बोला, "महाराज! आप आमवात के रोगी रह चुके हैं।"

बात काटकर राजा ने कहा, "तू तो बहुत भोला है। मैं कोई बच्चा थोड़े ही हूं कि आम खाकर अपना जीवन संकट में डालूं।"

मंत्री बेचारा कर ही क्या सकता था। बस देखता रहा। और राजा कभी उस आम के फल को सूंघता, कभी सहलाता, कभी बोल उठता—ऐसा आम मैंने कभी नहीं देखा, कभी नहीं खाया। फिर एकाएक बोला, "यदि मैं इसके रस की एक घूंट भर लूं तो क्या हानि है? रोग तो पूरा आम खाने से भड़केगा। एक घूंट से कुछ नहीं होगा।"

अब तो मंत्री ने बरबस राजा का हाथ पकड़ लिया और आम छीन लिया। राजा हँस पड़ा। मंत्री ने कहा, "महाराज, रहने दीजिये। राजधानी लौट चलिये। आप आम नहीं खा सकते।"

मंत्री जैसे-जैसे राजा को रोकने का प्रयत्न करता और वहां से चलने को कहता, वैसे-वैसे राजा का मन आम खाने को और भी लालायित हो उठता। धीरे-धीरे यह स्थिति आ

(शेष पृष्ठ १३६ पर)

गीत

●● मुनिश्री बुद्धमल्ल

नदियों के बहते पानी को रोक रहे, लेकिन
नींव बांध की, ध्यान रखो; कमजोर न रह जाए।

केवल गति-अवरोध कहीं भी भला नहीं होता,
निरुद्देश्य क्यों रुके चेतना का बहता सोता,
रोको; यदि तुम उसे व्यवस्थित गति दे सकते हो,
पहले से भी अधिक काम उससे ले सकते हो,

संग्रह तुमको बहुत सुखद हो सकता है, लेकिन
ध्यान रखो; उससे न किसी का घर ही ढह जाए।
नदियों के बहते पानी को रोक रहे, लेकिन
नींव बांध की, ध्यान रखो; कमजोर न रह जाए।

बूँद-बूँद कर जलद यहां धरती को जो देता,
नव-जीवन उसमें अंकुर का रूप यहां लेता,
इसीलिए तुम शक्ति-स्रोत जल के गुण गाते हो,
किन्तु नियंत्रण में लेने को भी ललचाते हो,

करो समूहित शक्ति और उसका दोहन, लेकिन
ध्यान रखो; उसमें जीवित आदर्श न बह जाए।
नदियों के बहते पानी को रोक रहे, लेकिन
नींव बांध की, ध्यान रखो; कमजोर न रह जाए।

देख रहे हो तुम; ये लहरें उठ-उठ आती हैं,
मुक्ति-हेतु बन्धन से फिर-फिर जो टकराती हैं,
भय-विजड़ित-सी भीत मौत से कवलित हो जाती,
अमर लहर की नव्य चेतना भिगो-भिगो जाती,

जड़-चेतन संघर्ष चला ही करता है, लेकिन
ध्यान रखो; जग हार-जीत को एक न कह जाए।
नदियों के बहते पानी को रोक रहे, लेकिन
नींव बांध की, ध्यान रखो; कमजोर न रह जाए।

ख्रीस्ट-धर्म

रवीन्द्रनाथ ठाकुर

संप्रदाय यह कहकर अहंकार करता है कि सत्य और सबको छोड़कर उसीके पास है। इसी अहंकार के कारण वह सत्य की मर्यादा को जितना भूलता है अपने बाह्य रूप को उतना ही पल्लवित करता रहता है। धन का अहंकार धनी में जितना बढ़ता है, उसके धन का ही आडंबर उतना विस्तृत होता है—उसके मनुष्यत्व का गौरव उतना ही कम हो जाता है।

धन-संपत्तिशाली लोग धन-संपत्ति को लेकर अहंकार करते हैं, इसमें कोई हानि नहीं है, क्योंकि धन-संपत्ति को अपने में बांधे रखना ही उनका लक्ष्य होता है। लेकिन संप्रदाय जब अपने सत्य को अहंकार का विषय बना लेता है, तब उस सत्य का दान करने आने पर अन्य के लिए उसे ग्रहण करना कठिन हो जाता है।

ख्रिस्टान जब ख्रीस्ट धर्म को लेकर अहंकार करता है, तब फौरन मालूम पड़ जाता है कि उसने उसमें ऐसी खाद मिलाई है जो उसका धर्म नहीं है—वह वह खुद है। इसलिए वह जब दातावृत्ति से आता है तब उसके हाथ से भिक्षुक की तरह सत्य को ग्रहण करने में लज्जा प्रतीत होती है। अहंकार के प्रतिघात से अहंकार जाग उठता है और अहंकार अहंकृत का दान ग्रहण करने में कुंठित है। वह निंदनीय नहीं है।

इसलिए सांप्रदायिक ख्रिस्टान के हाथ से ख्रीस्ट का, सांप्रदायिक वैष्णव के हाथ से विष्णु का, सांप्रदायिक ब्राह्म के हाथ से ब्रह्म का उद्धार करने के लिए मनुष्य को विशेष रूप से साधना करनी पड़ती है।

अपने आश्रम में हम संप्रदाय पर रोष करके सत्य के साथ विरोध नहीं करेंगे। हम ख्रीस्ट धर्म की मर्म-कथा जानने की चेष्टा करेंगे—ख्रिस्टान की वस्तु है यह कहकर नहीं, बल्कि मानव-मात्र की वस्तु है यह जानकर।

वेद में ईश्वर का एक नाम 'आविः' है—अर्थात् आविर्भाव ही उसका स्वभाव है, सृष्टि में वह अपना प्रकाश करता है, यही उसका धर्म है। भारतवर्ष के ऋषियों ने जल, थल, शून्य में उसकी उसी निरन्तर आनंद-धारा को देखा है।

बंद कमरे में किरासिन की लालटेन जल रही है, रात भर कमरे में अनेक लोग मिलकर सो रहे हैं, दूषित धूयें से कमरा भरा पड़ा है—तब अगर दरवाजा और खिड़की खोलकर बंद आकाश को असीम आकाश के साथ जोड़ दिया जाय तो समस्त संचित ताप एवं ग्लानि तभी दूर हो जाती है। उसी प्रकार अपने बद्ध चित्त को भूलोक, अंतरिक्ष और स्वर्गलोक में परम चैतन्य के बीच प्रतिष्ठित करते ही उसके चारों तरफ का पाप-संचय सहज ही विलीन हो जाता है—इस मुक्ति की साधना भारतवर्ष ने ही की है।

भारतवर्ष ने जिस प्रकार ब्रह्म के प्रकाश को सर्वत्र उपलब्ध करके अपने चैतन्य को सर्वत्र व्याप्त करने की साधना की है, उसी प्रकार ईश्वर का जो प्रकाश मनुष्य में है, उसीमें विशेष रूप से अपनी अनुभूति, प्रीति और चेष्टा को व्याप्त करने के प्रति ख्रीस्ट धर्म का लक्ष्य है।

उसका प्रकाश विश्व में सहज सरल है, लेकिन मनुष्य में जो प्रकाश है उसमें विरोध है, क्योंकि वहां इच्छा में इच्छा का प्रकाश है। जबतक प्रेम नहीं जगता तबतक यह इच्छा परम-इच्छा को बाधा देती रहती है।

अभाव से जीव को दुःख होता है, लेकिन इस विरोध से मनुष्य का अकल्याण होता। दुःख पशु को भी मिलता है, लेकिन यह अकल्याण विशेषरूप से मनुष्य के भाग्य में ही है। जितने अंश में मनुष्य पशु है उतने अंश में अभाव का दुःख उसे कष्ट देता है; जितने अंश में मनुष्य मनुष्य है उतने अंश में अकल्याण का आघात उसके अन्य सब आघातों से बढ़कर है। इसलिए मनुष्य का पशु अंश कहता है, "त्याग करके मैं अभाव का दुःख दूर करूंगा"; मनुष्य का मनुष्य अंश कहता है, "त्याग करके मैं अपनी क्षुद्र इच्छा को परम इच्छा में उत्सर्ग करूंगा—वासना को दग्ध करके प्रेम से समुज्ज्वल कर दूंगा। इसी प्रेम से मुझमें परम इच्छा का पूर्ण प्रकाश होगा।"

सब दुःखों से बढ़कर मनुष्य का दुःख यही है कि उसकी गरिमा उसकी गुरुता—उसकी लघिमा, उसकी क्षुद्रता द्वारा नित्य पीड़ा पाती है। यही उसका पाप है। वह अपने-आप

में अपनी उसी गरिमा को प्रकाशित नहीं कर पाता, यही बाधा ही उसका कलुष है।

अन्न-वस्त्र का क्लेश सहन करना सहज है। लेकिन अपने भीतर अपनी वह गरिमा प्रकाश के अभाव में कष्ट पा रही है—यह क्या मनुष्य सह सकता है? मनुष्य के इतिहास में इतने युद्ध क्यों हैं? किस दुःख से उन्मत्त होकर मनुष्य अपनी सौ साल पुरानी व्यवस्था को धूलिसात् करके, फिर से नई सृष्टि करने प्रवृत्त होता है? उसका रोना यही है कि मेरी क्षुद्रता ने मेरी गरिमा को रोक रखा है।

यह व्यथा जबकि मनुष्य में इतनी सत्य है तो निश्चित उसकी ओषधि भी है। वह ओषधि किसी स्नान-पान में या किसी बाह्य आचार अनुष्ठान में नहीं है। मनुष्य में छिपे विराट् का प्रकाश किस प्रकार बाधाहीन हो सकता है, इसीको जो महामानव हुए हैं, वे अपना जीवन देकर दिखला गये हैं।

उन्होंने एक यही आश्चर्यजनक बात बतलाई है कि मनुष्य अपने से ही बड़ा है; इसलिए मनुष्य मृत्यु को, दुःख को, क्षति को, अग्राह्य कर सकता है। इस बात को अगर क्षण-प्रतिक्षण निदारुण रूप से स्पष्ट नहीं देख पाता तो क्षुद्र मनुष्य के बीच में जो विराट् छिपा है इस बात पर विश्वास कैसे करता?

मनुष्य के उस विराट् के साथ मनुष्य के क्षुद्र अंश के संघात से जो दुःख जन्म ले रहा है, उस दुःख का कौन मान करता है? वही विराट्, वही शिव। क्रोध किसको मारता है? जो चिरकाल से क्षमा करता आया है उसी पर सारा भार जाकर पड़ता है। लोभ किसका धन हरण करता है? जो केवल क्षति स्वीकार करता है और चोरी गये माल को लौटा आयगा, कहकर धैर्य के साथ अपेक्षा करता है, उसीका। पाप किसे रुलाता है? जिसके प्रेम की सीमा नहीं है, पाप उसीको रुलाता है।

यह सब हम अपने चारों तरफ प्रत्यक्ष देखते हैं। दुष्ट संतान औरों को जो आघात देती है, उसी आघात से वह अपनी मां को ही सबसे ज्यादा व्यथित करता है। इसीलिए तो दुष्ट प्रकृति का पाप इतना विषम है। अकल्याण का दुःख जगत् के सब दुःखों से बड़ा है, क्योंकि उस दुःख से जो रोते हैं, वही बड़े हैं; वही प्रेम है। ख्रीस्ट धर्म यही बताता है कि वही परम व्यथित ही मनुष्य के भीतर का भगवान् है।

इस बात को किसी विशेष ऐतिहासिक घटना या कहानी के साथ जोड़कर विशेष देश-काल-पात्र में सीमित करके देखने से सत्य को उसके अपने घर से निर्वासित करके जेल की जंजीरों में बांधकर मारने की चेष्टा होगी।

असल सत्य यही है कि हममें जो विराट् है, जो हमारे हाथों अहोरात्र दुःख पाता रहता है, वही कहता है—जगत् का सारा पाप मुझीको मारता है, किन्तु मुझे मार नहीं पाता। आजतक जो सब से बड़ा चोर है, वह क्या समस्त धन हरण कर सका है? मनुष्य की परम संपदा का क्या क्षय हुआ है? विश्वासघातक हैं, किन्तु संसार में विश्वास मरा नहीं है। हिंसक हैं, किन्तु क्षमा को वे मार नहीं सके।

वही जो बड़े हैं, वे अपनी वेदना में अमर हैं। लेकिन वह व्यथा ही अगर चरम सत्य होती तो क्या रक्षा होती? बड़ों में आनंद का अमृत है तभी तो वेदना सही गई। छोटे क्या लेशमात्र व्यथा सह सकते हैं? वे क्या तिलमात्र छोड़ सकते हैं? क्यों नहीं छोड़ सकते? उनके पास है क्या, जो यह संभव हो? उनका प्रेम कहां है, आनंद कहां है?

हम तो ढेर-का-ढेर कलुष लाकर जमाते रहते हैं। लेकिन जो बड़ा है, वह क्रमागत उसका क्षालन करता रहता है—अपने रक्त से, दुःख से, अश्रु से। प्रतिदिन यही घर-घर में हो रहा है। बड़ा कहता है, "मुझे मारो, मारो, मारो! तुम्हारी मार मेरे सिवा और कोई सहन नहीं कर सकेगा।" तब हम रोकर कहते हैं, "तुम्हें और नहीं मारेंगे—तुम हमसे बड़े हो। तुम्हारे प्रकाश पर जो धूल डाली है, उसे अश्रुजल से धोवेंगे। आज से हम तुम्हारे आसन पर बैठेंगे—तुम्हारा दुःख हम वहन करेंगे। तुम ले लो, ले लो, ले लो, हमारा सबकुछ ले लो। तुमने प्रीत की है, हम भी करेंगे। इस प्रकार विरोध मिटता है। वे जब दंड स्वीकार करते हैं तब उस दंड का दारुण दुःख और सहन नहीं होता, तभी पाप का मूल मरता है; नरक दंड से नहीं मरता।"

जो बड़े हैं वे प्रेमिक हैं। छोटों को लेकर उनके प्रेम की साध्य-साधना है। आकाश के आलोक द्वारा, पृथ्वी की श्रीसंपदा द्वारा, मनुष्य के प्रेम-संबंध द्वारा वे हमें सधा रहे हैं।

(शेष पृष्ठ १४० पर)

विश्व शांति-सेना का श्रीगणेश

सुरेश राम

दुनिया के बड़े-से-बड़े राजनीतिज्ञ क्या, वैज्ञानिक क्या, विचारक क्या—सभी एक स्वर से कह रहे हैं कि हिंसा, मारकाट और खून-खराबी से कोई भी मसले—आर्थिक, राजनैतिक या सामाजिक—हल नहीं हो सकते। अगर युद्ध होता है तो हारनेवाले तो ख़तम होंगे ही, जीतनेवालों की भी दशा उनसे ज्यादा भिन्न नहीं होगी। सब जगह हाहाकार मच जायगा। इतना जानते हुए भी, हर कहीं शस्त्र-शक्ति का संयोजन हो रहा है। अमरीका हो चाहे रूस, चीन हो चाहे हिन्दुस्तान—सभी सरकारें अपना फौजी बजट बढ़ाती जा रही हैं और अपनेको ज्यादा हथियार-बंद कर रही हैं। उनके सर्वेसर्वा या अधिकारीगण अच्छी तरह समझते हैं कि यह हथियार काम नहीं देंगे और तबाही ही लायेंगे, उनका दिल गवाही नहीं देता कि यह सब किया जाय—मगर उनमें हिम्मत नहीं होती कि पुरानी बेढंगी रफ्तार से मुंह मोड़कर नई राह इख्तियार करें।

दोष उनका नहीं है। असलियत यह है कि उनका हिंसा पर से विश्वास जरूर उठ गया है, मगर अहिंसा पर अभी नहीं जमा है। उन्हें यह भरोसा नहीं कि हथियारों को फेंक देने से अपने देश व दुनिया में शांति बनी रहेगी। वे सोचते हैं कि हमने हथियार छोड़ भी दिये, लेकिन दूसरों ने कहीं न छोड़े और हमपर चढ़ बैठे तो फिर हम कैसे उनका सामना करेंगे। उनकी यह शंका सच्ची और सही है। हिंसा के जवाब में, जबतक उसके मुक़ाबले की या उससे बढ़कर अहिंसा की शक्ति का नमूना सामने नहीं आता, तबतक वे किस बल पर कोई जोखिम उठा सकते हैं?

सवाल बहुत पेंचीदा है। मगर तुरंत हल चाहता है, क्योंकि, लाखों-करोड़ों-अरबों लोगों और पशु-पक्षियों के जीने-मरने का सवाल है। बड़े आनंद और संतोष की बात है कि इस साल के शुरू होने पर, १९६२ की पहली जनवरी को इसके जवाब के तौर पर पहला क़दम उठा लिया गया। इस दिन विश्व-शांति-सेना की स्थापना की गई। इसका उद्देश्य है कि अहिंसक कार्रवाई के लिए एक शांति-दल का संगठन, शिक्षण और संयोजन करे जो आन्तरिक या अन्तर्राष्ट्रीय, वास्तविक या संभावित, किसी भी टक्कर में, काम आ सके।

ब्रूमाना की इस ऐतिहासिक परिषद् का रोचक वर्णन देने के पहले विश्व-शांति-सेना आन्दोलन की पृष्ठ-भूमि समझना हितकर होगा। वैसे तो यूरोप-अमरीका में युद्ध-विरोधी और शांति का कार्य अर्से से चल रहा है। काफी लोगों ने अपनी अंतरात्मा की पुकार पर युद्ध में जाने से इंकार किया है और जेल गये, तरह-तरह की तकलीफ़ें उठाईं। महात्मा गांधी के सत्याग्रह और भारत के स्वराज्य आन्दोलन से उन्हें बहुत बल मिला और उजाले की किरण दिखाई दी। लेकिन जब जापान पर अणुबम गिरा और उसके भयानक परिणाम सामने आये तो यह एकदम ज़ाहिर हो गया कि युद्ध का रास्ता विनाशक है। जैसे-जैसे अणु-शस्त्रों में प्रगति होती गई, विचारक लोग उसकी हानि के क़ायल होते गये और युद्ध-विरोधी कल्पना ने ज़ोर पकड़ा। दिसम्बर, १९६० में युद्ध-विरोधी अंतर्राष्ट्रीय का त्रैवार्षिक अधिवेशन पहली बार एशिया में हुआ। स्थान चुना गया दक्षिण भारत के मदुरै जिले में गांधी ग्राम नाम का रचनात्मक केन्द्र जहां श्री जी० रामचन्द्रन् दम्पति पिछले बारह वर्ष से चुपचाप काम करते हैं।

गांधी-ग्राम में श्री जयप्रकाश नारायण ने यह विचार रखा कि अंतर्राष्ट्रीय तनाव की परिस्थिति का सामना करने के लिए विश्व-शांति-सेना जैसा कोई संगठन अब जरूरी है। सितम्बर, १९६१ में इंगलैण्ड में इस संगठन की पूर्व-तैयारी के हेतु प्रमुख शांति-प्रेमियों का एक छोटा-सा सम्मेलन हुआ। इस बीच इंगलैण्ड में लार्ड बर्ट्रेन्ड रसेल जैसे महान् वैज्ञानिक, दार्शनिक और लेखक के नेतृत्व में अणु-निरशस्त्रीकरण के लिए एक जबरदस्त आंदोलन भी चल पड़ा। फिर लगभग तीस नवयुवक-युवतियों ने पश्चिमी अमरीका की सैन-फ्रांसिस्को नगरी से रूस की राजधानी मास्को तक दस माह लगातार शांति पद-यात्रा की। इस तरह वातावरण इसके अनुकूल होता गया और ब्रूमाना में यह परिषद् २८ दिसम्बर १९६१ से १ जनवरी, १९६२ तक बुलाई गई।

विश्व-शान्ति-सेना की स्थापना का ऐतिहासिक निश्चय लेबनान देश की ब्रूमाना नगरी में हुआ, जो भूमध्य सागर के तट पर बेरूत नामक प्रसिद्ध नगर के पास है और जिसे पूर्व और पश्चिम दोनों का संगम कह सकते हैं। इस अवसर पर पचपन शांति-प्रेमी और शांति-कार्यकर्ता मौजूद थे। वे बारह देशों से आये हुए थे—आस्ट्रेलिया, घाना, टैंगेन्यायका, हिन्दुस्तान, लेबनान, इटली, स्विटज़रलैंड, फ्रांस, पश्चिम जर्मनी, ब्रिटेन, कनाडा, और संयुक्त राष्ट्र अमरीका। दुर्भाग्यवश पूर्वी यूरोप के देशों के कोई प्रतिनिधि नहीं पहुंच पाये—यद्यपि इस ब्रेरूत-सम्मेलन के आयोजकों में उनमें से कई ने अपने नाम की स्वीकृति दी थी। इस परिषद् में हमारे देश से पांच मित्रों ने भाग लिया—सर्वश्री जी० रामचन्द्रन्, सिद्धराज ढड्ढा, एस० जगन्नाथन्, नारायण देसाई और देवी प्रसाद। श्री जयप्रकाश बाबू भी शरीक होनेवाले थे, मगर कारणवश नहीं जा सके।

इस विश्व-शांति-सेना परिषद् की पहली बैठक की अध्यक्षता श्री माईकेल स्काट ने की। उसके बाद सारे प्रतिनिधि चार गोष्ठियों में बंट गये: (१) सिद्धांत और उद्देश्य, (२) संयोजन, आर्थिक व्यवस्था और अन्य संगठनों से सम्बन्ध (३) स्वयंसेवक—भर्ती और ट्रेनिंग, (४) कार्यक्रम। इन गोष्ठियों की चर्चाओं के सार तैयार किये गए और फिर परिषद् की कार्यकारी समिति ने उनपर समग्र दृष्टि से विचार किया और फिर सारी चीज़ को परिषद् के आगे पेश किया। उसके बाद सर्वसम्मति से सभी प्रतिनिधियों ने विश्व-शांति-सेना की स्थापना का फैसला किया।

आगे काम के विचार से, ब्रूमाना-परिषद् ने एक अंतर्राष्ट्रीय कौंसिल का गठन किया। इसके बीस सदस्य हैं—चार इंगलैण्ड के, चार शेष यूरोप के, चार अफ्रीका के, चार अमरीका के और चार भारत के। भारतवालों के नाम यह हैं—सर्वश्री जयप्रकाश नारायण, जी० रामचन्द्रन्, सिद्धराज ढड्ढा, और श्रीमती आशा देवी आर्यनायकम्। कौंसिल को अधिकार दिया गया कि सुदूर पूर्व तथा चीन-जापान और अगर जरूरत हो तो अन्य कम्यूनिस्ट देशों से, दस सदस्य तक और ले सकती है। यह कौंसिल कार्यकारिणी के तौर पर काम करेगी और हर दूसरे साल विश्व-शांति-परिषद् हुआ करेगी, जिसमें कौंसिल का निर्वाचन हो जाया करेगा। विश्व-शांति-सेना-आंदोलन के संचालन और संगठन की जिम्मेदारी इस कौंसिल की रहेगी। इसका दफ्तर फ़िलहाल तो लंदन में युद्ध-विरोधी अंतर्राष्ट्रीय (डबल्यू०आर० आई०) के साथ रहेगा। विचार यह भी है कि शाखा के तौर पर एक कार्यालय अफ्रीका में और एक भारत में भी रहे।

कार्यक्रम के संबंध में दो महत्वपूर्ण निर्णय परिषद् ने किये। पहला तो यह कि अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर अणु-शस्त्र-विरोधी दिवस उत्साहपूर्वक और शानदार ढंग से मनाया जाय। बड़े-से-बड़े पैमाने पर इसकी तैयारी की जाय और आम जनता का ज्यादा-से-ज्यादा सहयोग लिया जाय। दूसरे यह कि अफ्रीका में, विशेषकर पूर्वी और दक्षिणी अफ्रीका में, एक ठोस कार्यक्रम, आजादी कूच की जैसी बड़ी पद-यात्रा चलाई जाय और शांति-सैनिकों की ट्रेनिंग की भी कुछ व्यवस्था की जाय।

इस परिषद् में भारत के प्रतिनिधि गोवा की फौजी कार्रवाई के कारण कुछ दुःखी थे। उन्होंने क़बूल किया कि हम खरे नहीं उतर सके और गोवा में अहिंसा की शक्ति आजमाने का जो एक सुन्दर मौका था वह हमने खो दिया। उन्होंने कहा कि अब आगे हम ज्यादा सचेत रहेंगे और हिन्दुस्तान-पाकिस्तान के बीच काश्मीर की जो समस्या है, या जो दूसरे सवाल हैं, उन्हें सुलझाने की दृष्टि से दोनों देशों में मेल-मिलाप कराने की कोशिश करेंगे। पश्चिमी देशों के मित्रों ने कहा कि ब्रिटेन ने जो स्वेज़ में किया और फ्रांस जो अल्जीरिया में कर रहा है, उसके कारण हम अपनेको क़सूरवार समझते हैं और ज्यादा न कर सकने के लिए शर्मिन्दा हैं। लेकिन फिर भी भारतीय शांति-मित्र जो क़दम उठायेंगे, उसमें हम पूरी तरह उनकी मदद करेंगे।

परिषद् के अंत में मौन-प्रार्थना हुई और फिर भजन तथा रामधुन से कार्यक्रम समाप्त हुआ। इस प्रकार विश्व-इतिहास में एक बड़ा क्रान्तिकारी, सौम्य और अद्भुत क़दम शान्ति के साथ उठाया गया। चीज़ ज्यादा बड़ी नहीं थी। अख़बारों में इसको कहीं स्थान भी नहीं दिया गया। मगर यह वह बीज है जो वट-वृक्ष की तरह बढ़ेगा, फैलेगा और दुनिया भर को राहत व तसल्ली देगा।

विश्व-शान्ति-सेना की लंदन कार्यकारिणी समिति की बैठकें लंदन में भी माइकेल स्काट की अध्यक्षता में ५

जनवरी और २५ जनवरी को हुईं। वहां यह तय पाया कि शांति-कार्यक्रम दिवस आगामी शनिवार, १९ मई, १९६२ को मनाया जाय। अफ्रीका में आगे के काम पर विचार करने के लिए श्री माईकेल स्काट को वहां भेजना तय किया गया। विश्व-शांति सेना कौंसिल की बैठक लंदन में २१ से २३ जुलाई रखी गई।

विश्व-शांति-सेना की स्थापना इस युग की सबसे बड़ी मांग है। यह दुनिया भर की जनता के दिल की दर्दभरी आवाज़ की पुकार है। देश-देश की सरकारें जिस काम को नहीं कर सकीं, उसे पूरा करने के लिए जनता की तरफ से उठाया गया यह क़दम है। अगर दुनिया को सही-सलामत रहना है तो हथियारों को खत्म होना है और प्रतिरक्षा-मंत्रालयों को बंद होना है। उनकी जगह औज़ार आयेंगे और सत्याग्रह तथा रचनात्मक कार्यक्रम आयेगा। विश्व-शान्ति-सेना का आयोजन इसी दिशा में एक बुनियादी क़दम है। इतिहास गवाह है कि आज जो चीज़ स्वप्न मालूम होती है, कल-परसों वहीं असलियत के रूप में खड़ी हो जाती है। हमारा जीवन कितने ही स्वप्नों का साकार प्रमाण है। इसी प्रकार विश्व-शांति और विश्व-शांति-सेना जो आज स्वप्न जैसी लगती है, शीघ्र ही साकार हो जायंगी। लेकिन इसके लिए शांति-प्रेमियों को ज़बरदस्त कसौटी और आग में से गुज़रना होगा। जितनी गहरी उनकी तपस्या होगी, जितनी ज्यादा उनमें नम्रता होगी, जितनी व्यापक उनमें दूर-दृष्टि और समर्पण-वृत्ति होगी, उतनी ही तेज़ी के साथ यह स्वप्न साकार होगा।

(पृष्ठ १३० का शेष)

गई कि वह आम खाने की लालसा को नहीं रोक सका। कहा, "राजधानी पहुंचते ही मैं दवा ले लूंगा। अब तुम मुझे आम खा लेने दो।"

और यह कहते-कहते वह सारा आम खा गया। मंत्री रोता-चिल्लाता ही रहा। फिर दोनों राजधानी की ओर लौट चले, लेकिन थोड़ी दूर ही गये होंगे कि राजा का जी घबराने लगा। मंत्री ने कहा, "मैंने तो आपसे पहले ही कहा था। अब मैं क्या कर सकता हूं।"

राजा हँस पड़ा। बोला, "तू तो बहुत डरता है। अरे यह पुराना रोग नहीं है। गर्मी में घूमने से जी घबरा गया है। अभी शहर पहुंच कर दवा ले लेते हैं।"

इस तरह दोनों बात करते हुए शहर के समीप पहुंच गये लेकिन तबतक राजा का रोग काफी बढ़ गया था। राजमहल में पहुंचकर चिकित्सक बुलाया गया। उसने देखते ही एक वाक्य कहा, "अब मेरे हाथ की बात नहीं रही।"

क्षणभर में हाहाकार मच गया। राजा तड़पने लगा। औषधि-उपचार किसीका कोई लाभ नहीं हुआ। देखते-देखते राजा चिरनिद्रा में सो गया और उसीके साथ उसकी पीड़ा भी शांत हो गई। लालच का यही फल हो सकता है।

मैथिली लोकगाथा : लोरिकायन

●● भगवानचन्द्र 'विनोद'

जैसी प्रतिष्ठा राजनीति में लोकनीति को विनोबाजी ने दी है, साहित्य में भी लोक-साहित्य को वैसी ही प्रतिष्ठा मिलने लगी है। लोक-गीत, लोक-कथा, लोकोक्तियां आदि शब्दों से हम परिचित हैं। यह 'लोक-गाथा' क्या चीज है! इस पर हम थोड़ा जान लें।

महाराष्ट्र में जिसे 'पांवड़ा' कहते हैं गुजराती में जिसे 'कथागीत' कहते हैं, राजस्थानी में जिसे 'गीत-कथा' कहते हैं ग्रियर्सन ने जिसे 'पापुलर सॉंग' कहा है, उसे ही हिन्दी में 'लोक-गाथा' कह सकते हैं। प्राचीन गाथाओं में भी कथा, पद्य और गेयता का सम्मिश्रण पाया जाता है। जातकों में भी इस प्रकार की गाथा है। गाथा सप्तशती और नारशंसी भी इसी प्रकार की गाथाएं हैं। हिन्दी प्रदेश में 'गाथा' शब्द का व्यवहार भी इस अर्थ में होता है। अतः गेय लोक-कथा को, जिसमें पूर्वजों की कीर्ति का गान हो, लोक-विश्वासानुसार देवी-देवताओं के कृत्यों का गान हो, किसी अनुश्रुति का गान हो, जो लोक की संपत्ति हो तथा जिसका मौखिक प्रचार हो, उसे 'लोक-गाथा' कह सकते हैं।

लोक-गाथाओं में रचयिताओं के व्यक्तित्व का सर्वथा अभाव रहता है। पर इसका यह अर्थ नहीं कि लोकगाथा का रचयिता समूह होता है। समूह किसी लोक-गाथा का रचयिता कदापि नहीं होता। वस्तुतः प्रारंभ में लोकगाथाओं का रचयिता कोई व्यक्ति अवश्य होता है। पर उसकी रचना में उसके व्यक्तित्व का सर्वथा अभाव होता है—इसको यों भी कह सकते हैं कि रचयिता लोकमानस में इतना रम जाता है कि लोकमानस ही उसका अपना मानस बन जाता है। रचयिता अपनी रचना में लीन रहता है। वह मस्त होकर अपनेको भूलकर जन-साधारण को अपनी रचना सुनाता है, उसका गान करता है। जनसाधारण उस गाथा-गान में अपने मानस की अभिव्यक्ति पाता है। वह भी गायक के साथ गाथा का गान करने लगता है। गाथा लोकप्रिय हो जाती है। एक कंठ से दूसरे कंठ में संक्रमण करने लगती है। उसमें कुछ मिश्रण भी हो जाता है। उसका कुछ भूल भी जाता है और रचयिता तो बिल्कुल ही भूल जाता है। इस प्रकार एक व्यक्ति द्वारा कभी की रची गाथा सम्पूर्ण जाति की भाव-सम्पत्ति बन जाती है, 'लोकगाथा' बन जाती है।

हमारे देश में लोक-गाथाओं की परम्परा बहुत पुरानी है। ऋग्वेद में गाथाएं हैं, ब्राह्मण ग्रंथों में गाथाएं हैं, पुराणों में गाथाएं हैं। राम और कृष्ण पुरानी लोक-गाथा के वीर पुरुष थे। इनकी पुरानी लोक-गाथा को सम्पूर्ण रूप से आत्मसात् करके नागर-काव्यों की रचना हुई है। महाभारत बहुत-सी प्राचीन लोक-गाथाओं को यथास्थान रखकर सुसम्पादित रचना है। जिन लोकगाथाओं को रामायण और महाभारत ने आत्मसात् कर लिया, वह हमारी संस्कृति के अंश के रूप में सुरक्षित रह गईं। जिन्हें रामायण और महाभारत ने छोड़ दिया, उनमें बहुत-सी नष्ट हो गईं। कुछ जैन और बौद्ध परम्परा में बच गईं।

"मध्ययुग में सामन्तों ने अपने यशोगान के लिए चारण और कवियों को रखा। पर उनमें राजाओं का व्यक्तित्व रहता था। चारणों और कवियों की रचना में व्यक्तित्व-निरपेक्षता नहीं थी। इसलिए उनकी रचनाओं ने लोक-गाथा का रूप नहीं लिया। जगनक के आल्हा को लोक-गाथा इसलिए कह सकते हैं कि रचयिता के व्यक्तित्व का लोप है और वह लोक-मानस के निकट है।"[१]

डॉ० कृष्णदेव उपाध्याय ने काफी विचार के बाद लोक-गाथाओं में निम्नलिखित विशेषताओं का होना आवश्यक माना है: १. रचयिता का पता न होना; २. प्रामाणिक मूल-पाठ का अभाव; ३. संगीत का योग; ४. मौखिक परम्परा; ५. अलंकृत शैली का अभाव; ६. स्थानीयता; ७. टेक पदों की पुनरावृत्ति; ८. उपदेशात्मक प्रवृत्ति का अभाव; ९. लम्बा कथानक; १०. संदिग्ध ऐतिहासिकता।

यह हम जान चुके हैं कि लोक-गाथाओं की परम्परा भारत में बहुत ही प्राचीन है। किन्तु, खासकर मिथिला

---

१. श्री बैजनाथसिंह 'विनोद'।

जनपद में गाथा गीतों की बाहुल्यता रही है. ऐसा जान पड़ता है। मिथिला जनपद के सिर्फ सहरसा जिले में इतने प्रकार के गाथा-गीत गाये जाते हैं कि अगर सबका संकलन किया जाय तो कई महाभारत जैसे संग्रह-ग्रंथ तैयार हो जा सकते हैं। सिर्फ ग्वाल-जाति के शूर-वीर और भक्त महापुरुषों की संख्या अनेकानेक हैं। अबतक जितने महापुरुषों की जानकारी हम प्राप्त कर सके हैं और उनके जन्म-स्थान और गाथा-गीतों का थोड़ा-बहुत संकलन कर सके हैं, वह निम्नलिखित है :

१. लोरिक मनियार, ग्राम—हरदी चौहारा, जिला सहरसा।
२. विशू राउत, ग्राम—पंचरासी, लौआलगाम; जिला—सहरसा।
३. घोघन महाराज, घोघन पट्टी, भट्टी, जिला—सहरसा।
४. सरूप महराज, गम्हरिया, मड़ुआहा, जिला—सहरसा।
५. बक्तर महराज। इनके स्थान का पता नहीं है।
६. कारू खिरहैर, मैना महपूरा, जिला सहरसा।
७. खेदन महराज, सुखासन, कोड़लाही, सहरसा।
८. बेनी महराज, सखुआ, मोहैन, सहरसा।
९. चिलका राम, रघुनाथपुर, मुरलीगंज, सहरसा।

ये सारे-के-सारे ग्वाल वंश के महापुरुष हैं, जिनकी पूजा यादव लोग बड़ी श्रद्धा-भक्ति और निष्ठा से करते हैं और गाथा गाते हैं। इतना ही नहीं, यादवों में एक मीरासाहब नामक मुसलमान भक्त की गाथा भी यादव लोग गाते हैं और कुल-देवता मानकर उनकी पूजा करते हैं। जितने भी गाथा-गीत लोग गाते हैं, अंत में मीरासाहब की गाथा गाना लोग नहीं भूलते। मीरा साहब की गाथा को 'मीरायन' कहते हैं। लोगों का कहना है कि कीर्त्तन-भजन में जो महत्व का स्थान 'महादेवी' को प्राप्त है, गाथा-गीत में 'मीरायन' का वही महत्व है।

सच माना जाय तो सहरसा जिला के यादव लोग गाथा-गीतों के साक्षात् स्वरूप ही हैं। ये लोग अपने यहां उत्सव के अवसर पर बहुत ही धूम-धाम से गाथा-गीतों का गान करते हैं। गाथा-गीतों को ये लोग बहुत ऊंचे स्वर में गाते हैं। इसमें छाती और कंठ के बल की बड़ी आवश्यकता होती है। 'रेऽः', 'ऐंऽऽ' आदि की पुनरुक्ति बड़ी ऊंची होती है।

'लोरिकायन', जिसकी चर्चा हम करने जा रहे हैं, एक बहुत बड़ी गाथा है। यह मुख्य रूप से मिथिला क्या, सारे बिहार और उत्तर प्रदेश में गाई जाती है। इसे विशेष रूप से ग्वाल जाति के लोग गाते हैं, जो हम पहले भी कह चुके हैं। इसका खास कारण यह है कि लोक-गाथा का नायक लोरिक मनियार, जाति का ग्वाल ही थे। इसलिए इस गाथा के गायन में गायकों को जातीय गौरव का आनन्द प्राप्त होना स्वाभाविक ही है।

इस गाथा का नायक 'लोरिक' है। इसीके नाम पर इस गाथा को लोरिकायन कहा जाता है। लोरिक एक अवतारी वीर पुरुष थे, जिसे देवताओं ने अत्याचारियों का नाश करने के लिए स्वर्ग से पृथ्वी पर भेजा था। उसने पृथ्वी पर अत्याचारियों का विनाश किया और सती-साध्वी स्त्री की रक्षा की।

'लोरिकायन' के गायकों का कहना है कि 'सात कांड रामायन और अनगिनत कांड लोरिकायन।'

संक्षेप में मुख्य रूप से इसके निम्नलिखित विभाग माने जा सकते हैं—

१. लोरिक और संवरू का जन्म, २. संवरू का विवाह, ३. लोरिक का विवाह, ४. चनवा का उद्धार, ५. हरदी की लड़ाई। ६. नेउरापुर की लड़ाई। ७. पिपरी की पहली लड़ाई, ८. पिपरी की दूसरी लड़ाई, ९. लोरिक का काशीवास और मृत्यु।

अब गीतों की बानगी लीजिये और चनवा के रूप-सौंदर्य का रसास्वादन कीजिये—

आँगी में जे झांगी सोभइ, रतन लागल चारि।
सोन टांकल मखमल सोभइ, गोटा झमकारि॥
हँसइय जखैन दामिनि छिटकई, हंसक ठुमुक चालि।
जकरा दिस उठा के ताकई, दइये करेजा सालि॥

—कंचुकी में चारु रत्नों से जड़ित झांगी (फुदना) सुशोभित हो रही है। मखमल की साड़ी में सोना से टंका हुआ गोटा झमाझम बोल रहा है। हंसगामिनि चनवा

(शेष पृष्ठ १४४ पर)

तुच्छ, फिर भी तुच्छ नहीं

●● रणजीत भट्टाचार्य

(१०)

उस दिन 'आनन्द-मेला' के दफ्तर से बाहर निकलकर एक संकरी गली में अन्यमनस्क-सा चला जा रहा था। दोनों ओर की ऊंची-ऊंची इमारत गली को प्रकाश और वायु के स्पर्श से वंचित कर रही थीं। इधर-उधर कूड़ा इकट्ठा होने से गली का चेहरा और भी विकृत हो उठा था। चल रहा था कि अचानक ऊपर से, मुझे अवाक करता हुआ, थोड़ा-सा पानी और ढेर-सा अनाज का भूसा मेरे ऊपर आ पड़ा। मैं चौंककर खड़ा हो गया। अगले क्षण ही एक किशोर का स्वर सुनाई दिया, "सर्वनाश! यह क्या किया, दीदी?"

उस समय क्रोध और दुःख के कारण मेरी आंखों में पानी आ गया था। सिर भींग गया था तथा कपड़े तरकारी के छिलके और कीचड़ लग जाने से गंदे हो गये थे।

"थोड़ा पानी लाता हूं, सिर धो लीजियेगा।"

सामने के दरवाजे पर एक किशोर आकर खड़ा हो गया। मैं क्रोध में उससे कुछ कहूं, इससे पहले ही वह हाथ जोड़ कर करुण स्वर में बोला, "हमें क्षमा कीजिये। मेरी दीदी जान नहीं सकीं। बिना देखे ही उसने वह सब फेंक दिया। अपनी बहन की ओर से मैं क्षमा चाहता हूं। अब फिर कभी मैं उसे कूड़ा नहीं फेंकने दूंगा।"

छोटे-से लड़के के इस प्रकार निष्कपट भाव से दोष स्वीकार कर लेने से मेरा मन न जाने कैसा हो उठा। मैंने देखा कि गहन पश्चात्ताप से उसकी काली-काली आंखों में जल भर आया है। मैं अपने क्रोध को भूल गया और भूल गया अपनी पोशाक के खराब होने की व्यथा। मुहूर्त्त भर में मन सहानुभूति से उमड़ आया। धीरे-से उसकी ठोड़ी पकड़कर बोला, "क्षमा किया। फिर भी तुम यह ध्यान रखो कि तुम्हारी दीदी ने केवल अपराध ही नहीं किया है तुम्हारे घर की प्रतिष्ठा पर भी आघात किया है। तुम्हीं ने अपनी बहन को इस अप्रतिष्ठा से बचाया है।"

लड़के की पानी भरी आंखें चमकने लगी। बोला, "आप नाराज तो नहीं हैं?"

मैंने कहा, "था तो, परंतु तुम्हींने उस आग पर पानी डाल दिया है।" इसी बीच में दो महिलाएं घर के अंदर से आकर दरवाजे पर खड़ी हो गई। संभवतः लड़के की मां और बहन थीं। उनसे बोला, "यह आपके घर का लड़का है। शायद इसीलिए ही आपके अपराध की बात भूल जाऊंगा।"

किन्तु केवल कलकत्ते में ही नहीं दूसरे शहरों में भी प्रतिदिन कितनी माएं और कितनी बहनें और यही क्यों पिता, चाचा और भाई भी इस प्रकार के अपराध करते रहते हैं। मेरे जैसे अनेक राहगीरों के शरीर और सिर पर कूड़ा तो फेंकते ही हैं, नगर के रास्ते को भी गंदा करते हैं। सब के स्वास्थ्य को हानि पहुंचाकर वे घोर सामाजिक अपराध कर रहे हैं। स्वाधीन भारत की नई शिक्षा के कारण यह लड़का क्या उन्हें मार्ग दिखाने आया है?

(११)

सियालदाह से ट्राम पर चढ़कर हावड़ा आ रहा था। उस दिन भीषण भीड़ थी और बहुत-से व्यक्तियों की तरह मैं भी खड़ा-खड़ा ही आ रहा था। विभिन्न प्रकार के लोग गाड़ी में ठसाठस भरे हुए थे।

कालेज स्ट्रीट के मोड़ से दो लड़के ट्राम में चढ़े। किसी तरह जगह बनाकर मेरे ही पास खड़े हो गये। बातचीत से पता लगा कि वे स्कूल के छात्र हैं। उनकी बातें सुनते-सुनते मेरा ध्यान ट्राम की गति की ओर न रहा। अचानक एक लड़के को कहते सुना, "ए! यहीं पर ही उतर पड़!"

दूसरा बोला, "नहीं! स्टोपेज पर उतरूंगा।"

पहला लड़का फुसफुसाया, "तू बिल्कुल बुद्धू है। देखता नहीं कंडक्टर आ रहा है। चल जल्दी।"

लड़का खट से चलती ट्राम से उतर गया। उस समय ट्राम लगभग बड़े बाजार के पास पहुंच गई थी। दूसरा लड़का शायद कुछ देर दुविधा में रहा। फिर पीछे मुड़ कर कंडक्टर के हाथ में पैसे देकर बोला, "बड़े बाजार के दो टिकट।"

मन हुआ कि लड़के को छाती से लगा लूं। किन्तु ट्राम

के रुकने के साथ ही वह उतर गया और मेरे मन पर अपनी एक अमिट छाप छोड़ गिया। कितनी बार देखा है, कितनी बार सुना है केवल ट्राम में ही नहीं, बस में, ट्रेन में, दुकान पर, बाजार में, लड़के तो लड़के उनके बाप, चाचा और भाई भी धोखा देकर सुविधा पाने की चेष्टा करते हैं। यह हमारी जाति पर कलंक है। वे हमारे मनुष्यत्व को मलिन कर देना चाहते हैं। किन्तु किशोर प्राणों की सत्य के लिए यह साधना क्या तुच्छ हो सकती है? यही साधना हमारी सारी मलिनता, हमारे सारे कलंकों को धो-पोंछ देगी। इसी विश्वास पर ही तो जी रहा हूं।

(१२)

सिन्धू प्रदेश के एक मुसलमान-बहुल ग्राम की बात है। कुछ दिन पहले एक धनी मुसलमान की बैठक में बैठा हुआ बातचीत कर रहा था। इन भद्र पुरुष ने इस प्रदेश में नाना प्रकार के सत्कार्य करके ख्याति अर्जित की है। जिस समय हमलोग एक आवश्यक विषय पर विचार-विमर्श करने में व्यस्त थे, उसी समय एक कंठस्वर सुनकर मुख उठाया और देखा—

"क्या आप ही सरकार साहब हैं?"

"हां। क्या काम है?" मुसलमान भद्र पुरुष ने पूछा।

"आपका मनिआर्डर है।"

अब ध्यान से देखा तो पाया कि डाकखाने का डाकिया है, किन्तु उम्र १९-२० के लगभग है। शायद बहुत ही गरीब है, इसीसे इस आयु में नौकरी करने आया है। २००) रु० का मनिआर्डर है। भद्र पुरुष ने फार्म पर सही कर दिया। लड़के के अनुरोध पर मैंने भी गवाह के स्थान पर दस्तखत कर दिये। रुपये लेकर सरकार साहब खुशी से एक रुपया डाकिये को देने लगे। किन्तु उसने हाथ नहीं बढ़ाया। बोला, "रुपया कैसा?"

"तुम्हें देता हूं। कुछ खा-पी लेना!"

"माफ कीजिये।" वह दृढ़ स्वर में बोला, "इस तरह रुपया लेना मना है। मैं अपना काम करता हूं, उसके लिए सरकार मुझे वेतन देती है। आप अलग से रुपया क्यों देते हैं? और आपके देना चाहने पर भी मैं क्यों लूंगा? यह रुपया आप ही रखिये।"

"किन्तु मैं तो हमेशा डाकिये को कुछ-न-कुछ बख्शीश देता रहता हूं। तुम यहां नये आये हो, इसीलिए शायद..."

डाकिया नम्र स्वर में बोला, "यहां नया हूं, किन्तु यह काम तो नया नहीं है। जिन्होंने लिया है, उन्होंने अन्याय किया है। वही अन्याय मुझे भी करने के लिए कहते हैं?"

मैं मुग्ध हो उठा। ऐसा लगा मानो अचानक सारी धरती सत्य की ज्योति से भर गई है। सरकार साहब भी स्तब्ध हो गये। डाकिये की आकृति जब दृष्टि से ओझल हो गई, तब गंभीर स्वर में वह बोले, "आश्चर्य! ऐसा तो देखा नहीं। मेरे मन के ऊपर जैसे चाबुक मार गया है।"

मैंने कोई उत्तर नहीं दिया। केवल सोचा, देश के किशोरों के प्राणों में लोभ पर विजय पाने की ऐसी प्रेरणा है इसीसे आज भी देश का सम्मान अक्षुण्ण है।

(पृष्ठ १३३ का शेष)

अपने उसी बड़े को देखकर मनोमुग्ध होकर कवि कविता लिखता है, शिल्पी कारुकार्य करता है, कर्मी कर्म में अपने आपको ढाल देते हैं। मनुष्य की सारी रचना यही कहती है, "तुम्हारे समान ऐसा सुन्दर और नहीं देखा। क्षुधा, लोभ, काम, क्रोध, ये सब काले हैं, कुरूप हैं—लेकिन तुम कितने सुन्दर हो, कितने पवित्र हो, तुम हमारे हो।"

मनुष्य के बीच जो मनुष्य के इस बड़े का आविर्भाव है, जो मनुष्य के हाथों उसके समस्त आघातों को सहन करते हैं, और जिनकी यही वेदना एकबारगी मनुष्य के पाप के मूल पर जाकर लगती है—यह आविर्भाव तो इतिहास के किसी विशिष्ट प्रांत की चीज़ नहीं है। वह मनुष्य का देवता मनुष्य के अंतर में ही है—उसीके साथ विरोध होने पर मनुष्य का पाप है, उसीके साथ योग होने पर मनुष्य के पाप की निवृत्ति है। मनुष्य के बीच छिपा वही विराट् नियत रूप से अपने प्राणों का उत्सर्ग कर के मनुष्य के बीच छिपे लघु को प्राण-दान दे रहा है।

रूपक के रूप में यही सत्य ख्रीस्ट धर्म में प्रकाशित होता रहा है।

खादी की नई दृष्टि

●● स्वराजविहारी

यद्यपि बुद्धि से चरखे का आविष्कार सन् १९०८ में ही हो गया था, फिर भी उससे काम लेना शुरू हुआ कई साल के धैर्यपूर्ण और कठोर प्रयत्न के बाद सन् १९१८ में।" बापू की इस वाणी से चरखे का इतिहास का पता चलता है। खादी की पहली प्रतिज्ञा सन् १९१९ में ली गई। कांग्रेस के कार्यक्रम में चरखे को सन् १९२१ ई० में स्थान मिला। सन् १९२५ ई० में चरखा-संघ की स्थापना हुई और उसने सम्पूर्ण देश में खादी का उत्पादन, बिक्री और नियोजन का काम अपने ऊपर उठा लिया। सन् १९२४–२५ से १९४८ ई० तक सम्पूर्ण देश में कुल मिलाकर लगभग तेरह करोड़ रुपये की उत्पत्ति हुई। इस अवधि में आठ करोड़ रुपये मजदूरी के रूप में कत्तिनों, बुनकरों और अन्य कामगारों में बांटा गया है। १९३४ तक खादी का काम मूलतः राहत के रूप में रहा है। १९३४ में सर्वप्रथम जीवन निर्वाह की मजदूरी के रूप में खादी को अपनाया गया। यह प्रयोग १९३४ से १९४३ ई० तक चला है। १९३४ से १९४३ तक जीवन-निर्वाह की मजदूरी को लेकर नैतिक अर्थशास्त्र के रूप में इसे रखा गया।

सन् १९४२ के आंदोलन में देश के खादी-भंडार बन्द हो गये। बापू ने इसे दुःखद स्थिति बताई। जेल से छूटने के बाद देश के रचनात्मक कार्यकर्ताओं को बुलाया और कहा कि आज की तारीख से जो मेरे साथ रहना चाहते हैं, वे मुझको लिख कर दें कि चरखे को हम अहिंसा का प्रतीक मानते हैं। अगर आप चरखे को अहिंसा का प्रतीक नहीं मानते हैं, नहीं मान सकते हैं, तथापि आप मेरा साथ देते रहेंगे तो खुद तो खतरा खायंगे ही और मुझे भी डुबो देंगे। बापू ने खादी के सम्पूर्ण दर्शन को मंत्र के सूत्र में कहा—"कातो, समझ-बूझ कर कातो, जो कातें वे खद्दर पहनें और जो पहने वे जरूर कातें।" बापू चले गए। हमने खादी के उत्पादन और बिक्री को जारी रखा। धीरे-धीरे १९४४ से १९६० तक खादी का व्यापार खूब बढ़ा। केवल ५८–५९ की अवधि में समस्त क्रय-विक्रय २६.२५ करोड़ रुपये का हुआ और संचालन पूंजी १०.४६ करोड़ रुपये थी। परंतु यह व्यापार का रास्ता खादी का रास्ता नहीं है। १९५८ के अगस्त माह में, विनोबाजी की उपस्थिति में महाराष्ट्र के चालीस गांव में रचनात्मक कार्य-कर्ताओं का सम्मेलन हुआ और इस सम्मेलन ने खादी-आन्दोलन के रास्ते को तय करना चाहा। हम इस सम्मेलन में "कातो, समझ-बूझकर कातो" के मुद्दे पर आ गये और सम्मेलन से यह निष्कर्ष निकला कि गांधीजी ने खादी और चरखे को नई समाज-रचना का प्रतीक माना था। वे एक ऐसा समाज कायम करना चाहते थे, जिसमें व्यापारियों के लिए उत्पादन नहीं होगा, जिसमें हर व्यक्ति उद्योगशील होगा और उद्योग राज्य पर निर्भर नहीं, बल्कि लोक निर्भर होंगे। उनकी कल्पना की औद्योगिक क्रांति के लिए सिर्फ इतना काफी नहीं है कि हरएक को काम मिले और हर-एक की प्राथमिक आवश्यकताएं पूरी हों, बल्कि यह भी जरूरी है कि समाज में उद्योगप्रियता और उद्योग-कुशलता बढ़े, जिससे काम में ईमान दाखिल हो। इसे हम उद्योग के क्षेत्र में अहिंसक क्रान्ति कह सकते हैं। गांधीजी की बनाई हुई रचनात्मक संस्थाओं के काम में यथार्थ सहयोग और अनुबन्ध तभी स्थापित हो सकता है जबकि उसमें हरएक संस्था गांधीजी की कल्पना की समाज रचना के आदर्श को पूरी तरह अपना कर एक-दूसरे के सहयोग से उस दिशा में कदम बढ़ाये। ग्राम स्वराज्य का मुख्य लक्षण यह है कि उत्पादन और वितरण में व्यापार का उद्देश्य न हो बल्कि परस्परावलम्बन का उद्देश्य हो। चालीस गांव के निर्णयों को कार्यान्वित करने का व्यावहारिक कार्यक्रम जून ५९ में, पूसा रोड की बैठक में बनाया गया।

दूसरी ओर डॉ० ज्ञानचन्द की अध्यक्षता में बने 'मूल्यांकन कमीशन' ने विस्तृत तथ्यों और आंकड़ों की मदद से यह दृष्टिकोण दिया कि भविष्य में खादी को आगे बढ़ाने का काम ग्रामीण विकास के समग्र कार्यक्रम के एक आवश्यक अंग के रूप में किया जाना चाहिए। कमीशन ने यह लिखा कि महात्मा गांधी ने १९४४ में जब खादी कार्य के नवीनीकरण की बात कही थी तब उनका लक्ष्य यही था। कमीशन ने भारत सरकार के सामने यह विचार रखा कि खादी और

(शेष पृष्ठ १४८ पर)

तुम अपने लिए स्वयं दीपक बनो

● ● दीनदयाल ओझा

मानव, धर्म का परित्याग करके जब पराश्रयी बनकर स्वतंत्र चिंतन से विमुख हो; दूसरों के इशारों पर कार्य करता है तो वह प्रणवान होते हुए भी निष्प्राण है, सदेह होते हुए भी निर्देह है। उसकी दशा मदारी के उस बंदर की तरह होती है, जो उसके कुछ नपे-तुले इशारों पर कार्य करता है। मानव सदैव से चिंतनशील प्राणी रहा है और इसी चिंतन के बल पर उसने उच्चादर्शों, महान् विचारों और गूढ़तम रहस्यों की व्याख्या की है। पर ज्यों-ज्यों मानव स्वयं के चिंतन से विमुख होकर किसी व्यक्ति-विशेष, समाज-विशेष अथवा धर्म-विशेष के बताये हुए सिद्धान्तों का अन्धानुकरण करने लगता है तो वह आपत् काल में अपने-आपको पशुवत् पाता है। उस समय जब उसे चारों ओर घना अंधकार-ही-अंधकार दिखाई देता है, तब वह स्वयं के चिंतन-दीपक को प्रज्वलित करके कुछ भीतर-ही-भीतर देखने का प्रयास करता है। इस प्रयास के फलस्वरूप उसे कुछ इस प्रकार की ज्योति के दर्शन होते हैं, इस प्रकार के ज्ञान की आभा दिखाई देती है, जो उसे अंधकार से प्रकाश की ओर ले जाने में सफल होती है। उसी क्षण उसे ज्ञात होने लगता है कि अगर मैं प्रारंभ से ही अपने चिंतन-दीपक को इस प्रकार प्रज्वलित रखता तो संभवतः मुझे इस अंधकार के दर्शन नहीं होते।

इसी तरह का एक उदाहरण भगवान् बुद्ध का मिलता है। उन्होंने महापरिनिर्वाण के पूर्व आनंद से कहा, "हे आनंद! तुममें से किसीका यह विचार हो सकता है कि शास्ता का प्रवचन अतीत हो गया, अब हमारा कोई शास्ता नहीं है। पर ऐसा विचार उचित नहीं है। हे आनंद, तुम अपने लिए स्वयं दीपक होओ; धर्म की शरण में जाओ, किसी दूसरे का आश्रय न खोजो!"

भगवान् तथागत के उक्त प्रसंग में अधोलिखित तीन बातों पर बल दिया गया है—

१. तुम अपने लिए स्वयं दीपक होओ;
२. धर्म की शरण में जाओ, और
३. किसी दूसरे का आश्रय न खोजो।

आज हमारे जीवन में उक्त सिद्धान्त-त्रयी का पालन कहांतक हो रहा है, यह एक विचारणीय प्रश्न है।

पहला सिद्धान्त, "तुम अपने लिए स्वयं दीपक होओ" है। आज प्रत्येक व्यक्ति दूसरे के दिखाये हुए दीपक से रास्ता ढूंढ रहा है। उसका स्वयं का दीपक चिंतन के चिरंतन अभ्यास के बिना इतना निस्तेज और मंद हो गया है कि उसे प्रकाश नहीं दे पाता। परन्तु जबतक उसका स्वयं का दीपक चेतनावस्था में नहीं आयेगा अथवा वह स्वयं अपने लिए दीपक नहीं बनेगा तबतक वह सत्य पथ का गामी नहीं बन सकेगा। उसे सत्य का पथ ढूंढने पर भी नहीं मिलेगा। अतः आज हमें दूसरों के दीपक पर निर्भर न रहकर अपने लिए स्वयं के दीपक को जलाना होगा, अपने लिए स्वयं को दीपक बनना होगा, तभी हमारा अस्तित्व रह पायेगा।

तथागत ने दूसरा सिद्धांत 'धर्म की शरण में जाओ', बताया। आज प्रत्येक प्राणी स्वधर्म से च्युत होता जा रहा है, जिसका प्रभाव व्यक्ति, समाज, नगर, राष्ट्र पर पड़ रहा है। वैसे तो 'धर्म' शब्द की व्याख्या बहुत ही विस्तृत हो सकती है, परन्तु इसका अभिप्राय उसके अन्तर्भूत आनेवाले एक अंग कर्तव्य से ही लें तो हमें प्रतीत होगा कि आज प्रत्येक मानव किस प्रकार अपने कर्तव्य से विमुख होता जा रहा है। इस कर्तव्य-विमुखता से वह स्वयं का विनाश तो करता ही है साथ-ही-साथ वह अपने आस-पास के समस्त वातावरण को दूषित करता हुआ राष्ट्र को भी बड़ी भारी क्षति पहुंचाता है। अतः हमें समस्त अधार्मिक कृत्यों का परित्याग करके धर्म की शरण में जाना होगा तभी हमारे व्यक्तित्व का विकास होगा और राष्ट्र का उत्थान भी।

तीसरा सिद्धांत—'किसी दूसरे का आश्रय न खोजो', भगवान् तथागत ने आनंद को बताया। आज निश्चित रूप से हम स्वतंत्र हैं। पर हम अद्यावधि पराश्रित हैं। नित्यप्रति के जीवन में हमें पग-पग पर दूसरे का मुंह ताकना पड़ता है। हम अपने विकास के लिए, अपने उत्थान के लिए सदैव दूसरे का आश्रय ढूंढते रहते हैं। हममें इतनी शक्ति नहीं

(शेष पृष्ठ १५० पर)

डॉ. परशराम कृष्ण गोडे

●● शकुंतला बारेगांवकर

श्रेष्ठ प्राच्य विद्यापंडित तथा पूना के सुप्रसिद्ध भंडारकर प्राच्य विद्या संशोधन-मंदिर के प्रधान क्युरेटर डॉ. परशराम कृष्ण गोडे दिनांक २१ मई, १९६१ को परलोक सिधारे।

स्व. परशरामपंत गोडे एक अनन्य विद्या-भक्त थे। भाषा-विज्ञान, इतिहास, प्राच्य-विज्ञान के क्षेत्र में आपने अहर्निश आमरण सेवा-कार्य किया और जागतिक कीर्ति प्राप्त की।

स्व. डॉ. गोडेजी का जन्म रत्नागिरि जिले के देवरूख ग्राम में हुआ। राजापूर समर्थ विद्यालय (कोल्हापुर) न्यू इंग्लिश स्कूल, फर्ग्युसन कॉलेज आदि संस्थाओं में आपने शिक्षा प्राप्त की। आपका 'महाभारत की काव्य-शैली' नामक प्रथम निबंध १९१६ में प्रकाशित हुआ। उसी वर्ष आपने संस्कृत विषय में बी०ए० की उपाधि प्राप्त की। एम०ए० की परीक्षा में उत्तीर्ण होने के उपरांत आपने भंडारकर प्राच्य विद्या-संशोधन मंदिर में प्रवेश किया। स्व० डॉ० गुणे तथा स्व० प्रा० गुरुदेव रानडेजी का प्रोत्साहन आपको प्राप्त हुआ।

भंडारकर रिसर्च इन्स्टिट्यूट ने व्यास के महाभारत की चिकित्सक आवृत्ति प्रकाशित करने का महान् उत्तरदायित्व ले लिया है। आज चालीस वर्ष से यह कार्य चल रहा है। इस संस्था को डेक्कन कॉलेज से संस्कृत हस्तलिखित लेख प्राप्त हुए। उनकी नवीन वर्णन-सूचि करने का कार्य डॉ० गोडेजी ने किया। इसी समय आपका ध्यान संस्कृत ग्रंथ तथा ग्रंथकार के काल-निर्णय के प्रश्न पर गया। काल-निर्णय, ग्रन्थकार का नाम-निर्णय, कुल-निर्णय आदि का महान् संशोधन कार्य आपने चालीस वर्ष तक किया। आपकी विविध टिप्पणियों तथा संशोधन-निबंधों का संग्रह मुनि जिन विजयजी के उत्तेजन से तीन खंडों में प्रसिद्ध हुआ है।

इसी विद्या-साधना में स्व० गोडेजी की अन्वेषक की दृष्टि भारतीय जीवन के एक उपेक्षित अंग की ओर गई। विविध खाद्य पदार्थ (एडली, डोसा, पपई, मिर्च) शस्त्र, अलंकार, सौगंधिक द्रव्य, आदि के बारे में आपने महान् परिश्रम से ज्ञान-संचय किया। ये निबंध पाठकों की जिज्ञासा तृप्त करेंगे तथा उनको मनोरंजन का आनंद, आश्चर्य भी देंगे। आपने दक्षिण भारत के स्वादपूर्ण इडली-दोसा का उतना ही स्वादिष्ट इतिहास दिया है। 'पपया' भारत में पोर्तुगीजों से आया। किसी रघुनाथ नामक व्यक्ति ने तीन सौ वर्ष पूर्व 'भोजन कुतूहल' नामक ग्रंथ लिखा, उसमें महाराष्ट्र के 'तिखट' का परिचय दिया है। उसका परिचय आपको स्व० गोडेजी के निबंध में मिलेगा। जुन्नर के मुसलमान सुबेदार की युवती कन्या को प्रेम करनेवाले महाराष्ट्रीय कवि 'लोलिंबराज' से लेकर वाराणसी के यात्रिकों का लगान दूर करने का प्रयत्न करनेवाले कवींद्र सरस्वती आदि महाराष्ट्रीय पंडितों की जानकारी स्व० गोडेजी के निबंधों में आपको प्राप्त होगी। अलिवर्दि खान के जनानखाने में अनंगरंग बिखेरनेवाले प्रेयसी के केवल होठों पर सौ श्लोकों का काव्य रचनेवाले कवि नीलकंठ के 'जार शतक' का डॉ० गोडेजी ने परिचय दिया है। 'योग वासिष्ठ' के तर्जुमे की मौलिक जानकारी स्व० गोडेजी के निबंधों में ही आपको मिलेगी। बहुरत्ना वसुन्धरा प्रकृति का आपका यह विशाल लेखन आपका सच्चा स्मारक है।

स्व० डॉ० गोडेजी आमरण विद्या-सेवक थे। विद्या-ज्ञान के क्षेत्र में आपने मधुकर-वृत्ति से ज्ञान-संचय किया और ये बहुमोल ज्ञानघट हमें दे दिये। विविध जानकारी प्राप्त करने के लिए संस्कृत, तमिल, हिंदी, मराठी, कन्नड़ आदि भाषाओं की ओर नज़र डाली। देश-विदेश के विद्वानों से उपयुक्त जानकारी प्राप्त कर ली। वनस्पति-शास्त्र, औषधि-शास्त्र आदि अनेक शास्त्रों की सहायता ले ली। विविध ज्ञानकोशों का आधार लिया। उस विषय के विशेषज्ञों से पत्र-व्यवहार किया। अमरीका, मिस्र, चीन, जापान के विद्वानों से विविध जानकारी प्राप्त की। मधु-मक्खी जिस प्रकार मधु-बिंदु संचय करती है, उसी प्रकार स्व० गोडेजी ने ज्ञान-संचय किया। अपनी विद्या-साधना का क्षेत्र भंडारकर संस्था छोड़कर आप कहीं दूर भी नहीं गये। ज्ञान-विद्या साधना में आप इतने एकरूप हो गये थे। मृत्यु के एक ही दिन पहले आप अपना कार्य कर चुके थे। विद्या-

साधना में रत यह विद्याभक्त विद्या-रूप हो गया।

इस प्रकार आपकी टिप्पणियों की संख्या सात सौ से भी अधिक हैं। उन टिप्पणियों के चार खंड प्रकाशित होगये हैं। तथा दो-तीन खंडों का मुद्रण चल रहा है। आपका पूरा लेखन कार्य आठ-नौ खंडों में तैयार हो जायगा। ४,००० पृष्ठों का यह महान् लेखन कार्य है।

स्व० गोडेजी ने डॉ० कत्रेजी के साथ अनेक संशोधन पत्रिकाओं का संपादन किया है। आप्टेजी का संस्कृत-अंग्रेजी कोश सुधरने का कार्य डॉ० गोडेजी तथा श्री चिं० ग० कर्वेजी ने किया। ये दोनों कोश-संपादक एक ही वर्ष में परलोक सिधारे। यह बड़े दुःख की बात है। डॉ० काणे, डॉ० सुखरणकर, डॉ० टॉमस, टॉ० लाहा, डेनिसन, टॉमस आदि विश्वविख्यात विद्योपासकों को अर्पित किये गए स्मरण-ग्रंथों का संपादन भी आपने बड़े परिश्रम से किया था।

पैसे तथा प्रतिष्ठा के पीछे दौड़नेवाली आज की दुनिया में स्व० डॉ० गोडेजी जैसे महान् पंडित का स्थान असाधारण है। अपनी ज्ञान-साधना के लिए, टिप्पणियों के मुद्रण आदि के लिए, आपने खुद के ५००० रुपये खर्च किये। साहित्य, इतिहास, संस्कृति के क्षेत्र में आपका कार्य महान् है। आपके निबंधों का आधार लिये बिना किसीकी भी शिक्षा पूर्ण नहीं होगी। आपकी ज्ञान-साधना का आदर्श तरुण पीढ़ी को अपनाना चाहिए।

(पृष्ठ १३८ का शेष)

जब हँसती है तो लगता है मानो दामिनि छिटक गई। जिसको देखती है, उसका तो मानो कलेजा ही कटकर रह जाता है।

यह तो हुआ चनवा के रूप-सौंदर्य का वर्णन। अब वीर योद्धा लोरिक का रूप वर्णन देखिये —

सूप सन-सन कान छलई, छिट्टा सनक कपार।
डोंका सन-सन आंखि छलई, दांत जेना फार॥
लट भरि टिक्की फहराई छलई, सीना हाथ चार।
मुट्ठी भरि जे डांड़ छलई, धोती पेंचदार॥

—सूप सदृश कान थे, छिट्टा (टोकरी) सदृश सिर' डोंका सदृश आंख और दांत जैसे फार (हल जोतने का फाल)। मोटी-सी शिखा और चार हाथ चौड़ी छाती थी! मुट्ठी भर पतली कमर थी, जिसमें पेंचदार धोती फहर रही थी।

ऐसे वीर पुरुष की कल्पना पर आज की नारियां भले ही चनवा की बुद्धि पर हंस दे, परन्तु उस जमाने की नारियां तो अपने प्रियतम को प्राणों के पण में युद्ध में भेजने में ही अपना गौरव समझती थीं।

इस प्रकार लोरिकायन में विरह, मिलन, प्रेम, युद्ध पारस्परिक प्रतिद्वन्द्विता आदि का अनोखा वर्णन किया गया है। ऐसे गाथा-गीतों के सुसंबद्ध संकलन और सुसंपादित संस्करण की नितांत अपेक्षा है। छपाई की सुविधा प्राप्त हो तो ऐसे सांस्कृतिक कार्य को करने में हम अपना सौभाग्य समझेंगे।

मुस्कराये तुम !

●● हरीश

मुस्कराये तुम कि धरती रोम-रोम पुलक उठी है
धार, झरने-झाड़ और पहाड़ में छवि जग उठी है,
रात, तारों-चांद में खिल-सी गई है,
खरा सूरज-किरन का सोना, अधिक अब
मूल्य-निधि दिनमान में मिल-सी गई है।
तुम्हीं तुम तो चंदनी वातास में
हर श्वास डोले,
झांक देते प्राण-प्रांगण—
आंक जीवन-पटल खोले।
तुम्हें आया जानकर
हर शाख ने पोशाक बदली,
हर गली हर चमन की हीरक कनी हो खाक बदली,
हर कली हर फूल जादू—
छू गये हो,
मूल हो या कूल
डूबे रूप की सब रागिनी में
किस दिशा में छोड़ प्रिय अनुगूंज, बतला दूं गये हो !
कूक उठी विसुध होकर कोकिला भी
भौंर को कुछ फेर जैसा हो गया है
एक कम्पन, चतुर्दिक परिव्याप्त है वातावरण में
बीच धरती-गगन, जैसे टेर कोई खो गया है;
मुस्कराओगे अभी तुम पास ही में
लग रहा जी को, कहीं तुम तो यहीं हो
आज ऐसा हो रहा विश्वास मन को
अब हँसे, तुम हो प्रकट, वैसे कहीं हो।

भारतीय शिक्षा में नया मोड़

●● माईदयाल जैन

अंगरेजी शासनकाल में हमारी समस्त शिक्षा-पद्धति में जो अनेक दोष थे, उनमें से एक यह था कि शिक्षा के पाठ्यक्रम में धार्मिक शिक्षा को कोई स्थान नहीं था। समस्त शिक्षा-पद्धति तथा पाठ्यक्रम प्राथमिक शिक्षा से लेकर विश्वविद्यालयीय शिक्षा तक अंगरेजी प्रशासकीय आवश्यकताओं तथा राजनैतिक नीति से संचालित होती थी। यदि गहराई से विचार किया जाये तो हमारी शिक्षा के समस्त दोषों का मूल कारण इन ही दो बातों में था। हम अपनी शिक्षा के दूसरे दोषों तथा त्रुटियों को छोड़ कर उसमें धार्मिक शिक्षा के अभाव को लेते हैं। ब्रिटिशकालीन प्रशासन-नीति का धर्म के संबंध में भारत में यह बुनियादी सिद्धांत था, कि यहां के धर्मों में राज्य द्वारा हस्तक्षेप नहीं किया जायगा। इसलिए यहां की शिक्षा-पद्धति में अंगरेज शासकों ने धार्मिक शिक्षा को कोई स्थान नहीं दिया। मिशनरी स्कूलों को अपने स्कूल-कालेजों में ईसाई धर्म की शिक्षा देने की छूट थी और बाद में दूसरे धर्मावलम्बियों ने भी अपनी शिक्षा-संस्थाओं में अपने-अपने धर्म की शिक्षा देनी आरंभ की। पर आम तौर पर शिक्षा के पाठ्यक्रम में धार्मिक शिक्षा का अभाव था।

स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद देश की नई आवश्यकताओं के अनुसार शिक्षा-पद्धति में धीरे-धीरे सुधार किया जाने लगा, पर अभी पूर्ण रूप से सुधार नहीं हुए हैं। देश में बढ़ते हुए नैतिक अनाचार तथा भ्रष्टाचार को देखते हुए धार्मिक शिक्षा तथा नैतिक शिक्षा को पाठ्य क्रम में स्थान देने की आवश्यकता की ओर ध्यान जाने लगा है। इस प्रश्न पर पूरे तौर से विचार करके इस शिक्षा के पाठ्यक्रम तथा नीति के संबंध में रिपोर्ट करने के लिए केन्द्रीय सरकार ने १७ अगस्त सन् १९५९ को बम्बई के राज्यपाल श्री श्रीप्रकाश की अध्यक्षता में तीन सदस्यों की एक समिति नियुक्त की। इस कमेटी के नीचे लिखे दो उद्देश्य थे—

१. शिक्षा-संस्थाओं में नैतिक तथा आध्यात्मिक मूल्यों के शिक्षण की वांछनीयता तथा संभाव्यता को सम्मिलित किये जाने की जांच करना;

२. यदि ऐसा प्रबंध करना आवश्यक समझा जाय, तो (१) शिक्षा के भिन्न-भिन्न स्तरों पर इस शिक्षा के विषयों की व्याख्या करना और (२) सामान्य पाठ्यक्रम में इसके स्थान पर विचार करना।

इस समिति ने इस प्रश्न पर खूब विचार करके यह तय किया कि धार्मिक शिक्षा के स्थान पर नैतिक तथा आध्यात्मिक शिक्षा को पाठ्यक्रम में स्थान दिया जाय, क्योंकि सब शिक्षा-संस्थाओं में समान धार्मिक शिक्षा का पाठ्यक्रम निर्धारित करना कठिन तथा विवादग्रस्त है। इसके अतिरिक्त नैतिक तथा आध्यात्मिक शब्द विवादग्रस्त नहीं हैं और धर्म शब्द में समय के प्रवाह से कुछ अनुचित भावनाएं आ गई हैं। धर्म के बहुत-से सम्प्रदायों में भी भेद हो गये हैं, धर्म के नाम पर भयंकर युद्ध हुए हैं और एक ही धर्म के भिन्न-भिन्न संप्रदायों के अनुयायियों ने एक-दूसरे पर अन्याय तथा अत्याचार किये हैं। इन कारणों से बहुत-से विचारकों ने यह सोचा है कि शिक्षा-संस्थाओं के पाठ्यक्रमों में धर्म के इस पहलू को कोई स्थान नहीं मिलना चाहिए। प्रेम तथा पारस्परिक सहयोग के प्रचार के स्थान पर धर्म के जानकारों ने इंसानों में घृणा तथा झगड़ों को प्रोत्साहन दिया है।

प्रत्येक धर्म को निम्नलिखित चार भागों में बाँटा जा सकता है—(१) धर्म-संस्थापक का व्यक्तित्व हरएक धर्म में महान् स्थान रखता है। उसके जीवन की बहुत-सी घटनाओं को आदरपूर्वक याद किया जाता है और उसके अनुयायियों की श्रद्धा धर्म-संस्थापक के शब्दों तथा कामों के इर्द-गिर्द घूमती है। (२) तत्वज्ञान में प्रत्येक धर्म के तत्वों, स्रष्टा और विश्व का वर्णन होता है। (३) क्रिया-कांडों में प्रत्येक धर्म के अनुसार जन्म, विवाह तथा मृत्यु और व्यक्ति के जीवन के भिन्न-भिन्न अवसरों पर की जानेवाली क्रियाओं का वर्णन होता है। और (४) आचार-संहिता में प्रत्येक धर्म में उसके अनुयायियों के लिए अच्छे-बुरे कामों को बताया जाता है। इस आचार-संहिता के अनुकरण में ही अच्छे-बुरे, पुण्य तथा पाप के भाव पैदा होते हैं और माने जाते हैं।

इन चारों बातों से एक धर्म का पूरा ज्ञान होता है, पर इन सबको शिक्षण के पाठ्यक्रम में स्थान देना आसान तथा विवादहीन नहीं है। इसलिए स्वराज्य-प्राप्ति पर संविधान-सभा ने देश का संविधान बनाते समय (सन् १९५०) धार्मिक शिक्षा के संबंध में धारा २८ तथा ३० में अपना निर्णय इन शब्दों में किया—

धारा २८ : (१) राज्य के कोष से पूर्ण रूप से संचालित किसी शिक्षा-संस्था में कोई धार्मिक शिक्षा नहीं दी जायगी।

(२) उपरोक्त बात किसी ऐसी शिक्षा-संस्था पर लागू नहीं होगी, जो किसी एक दान या ट्रस्ट के द्वारा सरकार से चलाई जायगी, जिसमें धार्मिक शिक्षण दिया जाना कहा गया हो।

(३) सरकार द्वारा मान्य या सहायता प्राप्त करनेवाली शिक्षा-संस्था में विद्यार्थी की अनुमति या अल्प-वयस्क होने की हालत में उसके अभिभावक की अनुमति के बिना उसे धार्मिक शिक्षा नहीं दी जायेगी।

धारा ३० : (१) धर्म या भाषा पर आधारित सब अल्प-संख्यक जातियों को अपनी इच्छा के अनुसार शिक्षा-संस्थाएं स्थापित करने तथा चलाने का अधिकार होगा।

(२) कोई राज्य धर्म या भाषा के आधार पर बनी किसी अल्प संख्यक जाति के द्वारा स्थापित शिक्षा-संस्था को अनुदान देते समय उपरोक्त कारण से भेद-भाव न करेगी।

उपरोक्त दोनों धाराओं से यह स्पष्ट है कि सरकारी शिक्षा-संस्थाओं में कोई धार्मिक शिक्षा न दी जायेगी, ट्रस्टों द्वारा संस्थापित पर सरकार द्वारा संचालित शिक्षा संस्थाओं में धार्मिक शिक्षा को स्थान होगा, धार्मिक शिक्षा की श्रेणियों में सम्मिलित होने के लिए किसीको बाध्य नहीं किया जायगा, और धर्म या भाषा के आधार पर बनी अल्प-संख्यक जातियों को अपनी शिक्षा-संस्थाएं स्थापित करने का अधिकार होगा तथा सरकार अनुदान देते समय उनसे किसी भेद-भाव का व्यवहार न करेगी।

ऊपर की धाराओं के होते हुए भी हमारे नेता यह अनुभव करते हैं कि हमारी शिक्षा-पद्धति में कोई दोष है जो कि विद्यार्थी-जगत् में होनेवाली बुरी घटनाओं, अनुशासनहीनता, लूट-मार, तथा मार-काट के लिए जिम्मेदार है। उन्होंने यह अनुभव किया होगा कि हमारे नवयुवकों में कुछ आंतरिक अनुशासन तथा चरित्र-बल विकसित किया जाना आवश्यक है, जिससे कि स्वाधीनता उच्छृंखलता न बन जाय तथा सब धर्मों के स्त्री-पुरुषों में आपसी मेल-जोल के संबंध स्थापित हों और हमारी शिक्षा-संस्थाएं अच्छे तथा दृढ़ चरित्रवाले, अनुशासनशील, उत्तरदायित्वपूर्ण तथा विश्वसनीय युवक-युवतियां पैदा करें। उन्होंने शायद यह भी समझा होगा कि हमारे राज्य के धर्म-निरपेक्ष रूप को गलती से नैतिक प्रतिबंधों से पूर्ण आजादी का अर्थ लगाया हो। इसलिए इस अभाव को पूरा करना है और जीवन के उच्च मूल्यों की शिक्षा शायद इस आवश्यकता को पूरा कर दे।

जिस गति से शिक्षा का विस्तार हो रहा है, वह निराश तथा निरुद्देश्य युवक पैदा कर रही है और शिक्षा का स्तर गिर रहा है। शिक्षा-संस्थाओं के बाहर समाज में जो भ्रष्टाचार तथा अनैतिकता दिखाई देती है, उसने भी हमारे छात्रों को बड़ा प्रभावित किया है। फिर भी हमारे देश में ऐसी बहुत-सी शिक्षा-संस्थाएं हैं,जहां का वातावरण सुहावना है और जहां विद्यार्थी अपने-आपको जीवन के लिए तैयार कर रहे हैं। पब्लिक स्कूलों में केवल धनी आदमियों के लड़कों की पहुंच है। माना कि उनके विद्यार्थी सुशिक्षित तथा अनुशासित निकलते हैं, पर वे अपना एक अलग वर्ग बना लेते हैं। पर ये पब्लिक स्कूल साधारण लड़के-लड़कियों की आवश्यकताओं को पूरा नहीं कर सकते। मिशनरी स्कूलों में शिक्षक-छात्र-संबंध अच्छे हैं तथा शिक्षक के व्यक्तिगत जीवन का छात्रों पर अच्छा प्रभाव पड़ता है, पर ये स्कूल बहुत थोड़े हैं और यह चाहना ठीक होगा कि वहां का वातावरण दूसरे स्कूलों में फैले।

संविधान की धारा २८ की कठिनाइयों को दूर करने के लिए ही इस कमेटी के काम में शिक्षा-संस्थाओं में नैतिक तथा आध्यात्मिक मूल्यों का संकेत किया गया है, धार्मिक शिक्षा का नहीं।

इनसब बातों के भिन्न-भिन्न पहलुओं पर विचार करके यह समिति इस निर्णय पर पहुंची है कि शिक्षा-संस्थाओं में नैतिक तथा आध्यात्मिक मूल्यों की शिक्षा वांछनीय तथा संभव है और इस शिक्षा का विषय महान् धार्मिक नेताओं के जीवनों तथा उनके उपदेशों का तुलनात्मक तथा सहानुभूतिपूर्ण शिक्षण हो और बाद में ऊंची कक्षाओं में उनकी

आचार-पद्धतियों तथा दर्शन को भी शामिल किया जा सकता है। सद्व्यवहार, समाज-सेवा और सच्ची देशभक्ति पर तमाम स्तरों में जोर दिया जाना चाहिए।

इस समिति ने अपने सुझावों को तीन भागों में बांटा है, १. प्राथमिक श्रेणी, २. माध्यमिक श्रेणी, ३. और विश्व-विद्यालयीय श्रेणी। इन सुझावों में नैतिक तथा आध्यात्मिक शिक्षा को उत्तरोत्तर बढ़ाया गया है तथा विषय को विस्तृत किया गया है। इन सुझावों में धर्मों की सभी अच्छी-अच्छी बातों तथा तुलनात्मक अध्ययन पर जोर दिया गया है। तमाम शिक्षा संस्थाओं में कार्यारम्भ करने से पहले एक प्रार्थना करने तथा मौन रूप से कुछ ध्यान करने पर भी बल दिया गया है । इन प्रार्थना-सभाओं में कभी अच्छे धार्मिक साहित्य से प्रेरणापूर्ण पाठ पढ़ने तथा मिलकर भजन गाने पर जोर दिया गया है।

इस नैतिक तथा आध्यात्मिक शिक्षण के लिए उपयोगी पुस्तकें तैयार करना भी बड़ा कठिन कार्य है और शिक्षा-मंत्रालय इस विषय की पुस्तकें तैयार करने में व्यस्त है। जो पुस्तकें अबतक भिन्न-भिन्न धार्मिक शिक्षा-संस्थाओं तथा प्रकाशकों से प्राप्त हुई हैं, वे प्रायः एकांगी है। निस्सन्देह इस शिक्षा की सफलता बहुत करके उपयुक्त तथा सद्भावना-पूर्ण नैतिक तथा आध्यात्मिक पुस्तकों के तैयार किये जाने पर निर्भर है। ये पुस्तकें बड़ी सावधानी से तैयार की जानी चाहिए।

पुस्तकों के समान ही ठीक ढंग के अध्यापक भी नितांत आवश्यक हैं। अच्छे शिक्षक ही अच्छा वातावरण पैदा कर सकते हैं। इसलिए शिक्षकों के प्रशिक्षण तथा भरती में बड़ी सावधानी बरतने की आवश्यकता है। इसलिए यह आवश्यक है कि शिक्षण-कार्य के लिए अच्छे अध्यापकों को आकृष्ट करने के लिए इस कार्य में आकर्षण पैदा किये जायं। समाज में शिक्षक के पद का सम्मान बढ़ाने की जरूरत है। शिक्षकों के ठीक प्रशिक्षण तथा उन्हें नैतिक और आध्यात्मिक शिक्षा के लिए तैयार करना नितांत आवश्यक है। घरों में भी वातावरण को अच्छा, नैतिक तथा आध्यात्मिक बनाने पर जोर दिया गया है।

यह आशा करनी चाहिए कि इस समिति के सुझावों पर ठीक रूप से काम करने, अच्छे साहित्य के निर्माण तथा अध्यापकों के प्रशिक्षण से हमारी शिक्षा-पद्धति में एक नया मोड़ आयेगा। आरंभ में सब प्रकार के समालोचकों के लिए इस नैतिक तथा आध्यात्मिक शिक्षा में बातें मिल जायगी। पर इस शिक्षा के सुफल मिलने में काफी समय लगेगा और तमाम योजना को सब धर्मों के प्रति समभाव की भावना से सफल करने की तीव्र भावना होना आवश्यक है। संविधान की धाराओं का मान करना भी आवश्यक है, जिससे किसी भी अल्प-संख्यक जाति को कोई शिकायत पैदा न हो।

(पृष्ठ १४१ का शेष)

ग्रामोद्योगों का काम करनेवाली संस्थाएं नव-समाज रचना की दृष्टि से किये जानेवाले ग्रामोन्नति के अन्य कामों को भी अपने काम का अंग मानकर अपने अपने क्षेत्र में उन कामों को उठा लें तथा खादी आदि कामों को भी ग्राम स्वावलम्बन के लक्ष्य को ध्यान में रखकर यथासंभव ग्रामोदय समितियों के जरिये से काम करे। डॉ० ज्ञानचन्द की रिपोर्ट ने हमें दृष्टि दी—एक ठोस सुझाव रखा।

खादी-ग्रामोद्योग-कमीशन ने यह प्रोग्राम निश्चित किया है कि करीब ५,००० की आबादी का गांव या गांव समूह अर्थात् पंचायत भली प्रकार से सोच समझकर पूरी तैयारी कर यह संकल्प ले कि गांव के आर्थिक और सामाजिक नव-निर्माण का समूचा काम शुद्ध नये ढंग से, नई रीति और नई नीति के समन्वय से ही चलेगा । इस कार्यक्रम में खेती, पशुपालन, स्वास्थ्य और शिक्षा-संबंधी प्रवृत्तियों के साथ खादी ग्रामोद्योग के काम भी रहेंगे। इसमें खादी-ग्रामोद्योग के अलावा बाकी सभी योजनाएं कमीशन से सीधी संबंधित नहीं होंगी, वे प्रवृत्तियां सामुदायिक विकास प्रशासन, प्रसार विभाग, सघन क्षेत्र, कल्याण बोर्ड, हैंडलूम बोर्ड, दस्तकारी बोर्ड या लघु उद्योग बोर्ड-सरीखे दूसरे संगठनों द्वारा चलायी जायगी।

कसौटी पर

फॉरगेट मी नॉट—लेखक : श्री गोविंदवल्लभ पंत; प्रकाशक : आत्माराम एण्ड संस, कश्मीरी गेट, दिल्ली; आकार क्राउन सोलह पेजी; पृष्ठ-संख्या : २१४; मूल्य : चार रुपये।

यह सामाजिक उपन्यास नैनीताल के प्राकृतिक सौंदर्य की पृष्ठ-भूमि पर दूसरे महायुद्ध तथा 'भारत छोड़ो'-आंदोलन की घटनाओं पर आधारित है। इसमें हिन्दु-मुसलमान, अंगरेज, अमरीकी तथा एंलो-इंडियन पात्र-पात्राएं हैं, प्रगतिवादी भी तथा सरकार के पिट्ठू कट्टर-पंथी भी। मिस नोरा कप्तान मार्टिन को युद्ध में जाते समय अंग्रेजी फूल 'फॉरगेट मी नॉट' स्मृति-चिह्न के रूप में देती है। बाद में उनका विवाह होता है। गफूर, रामू, पधान, मिस नोरा, पार्वती तथा हमीदा के चरित्र अच्छे उभर आये हैं। उपन्यास अत्यंत रोचक है और पढ़ना आरंभ करने पर छोड़ने को जी नहीं चाहता।

परम ज्योति महावीर—रचयिता : श्री धन्यकुमार जैन 'सुधेश'; प्रकाशक : फूलचंद जवरचंद गोधा जैन ग्रंथ-माला, ८, सर हुकमचंद मार्ग, इन्दौर नगर; पृष्ठ-संख्या : ६६६; सजिल्द, मूल्य : सात रुपये।

तीर्थंकर महावीर की जीवनियां गद्य में काफी संख्या में हैं, पर काव्य में केवल दो ही पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं। पहले श्री अनूप शर्मा ने 'वर्धमान' काव्य लिखा था, अब सुधेशजी ने यह उपरोक्त काव्य दिया है। इसमें तेइस सर्गों में कुल २५१६ छंद हैं। कवि ने अपने काव्य की सामग्री दिगम्बर तथा श्वेताम्बर जैन-साहित्य से ली है, जो ठीक है। सुधेशजी ने परिश्रम करके हिन्दी तथा जैन-जगत् को तीर्थंकर महावीर का काव्य-चरित्र देकर प्रशंसनीय काम किया है और जैनों में अवरुद्ध काव्य-धारा को बहाने का अनुकरणीय प्रयत्न किया है, जिसके लिए वे बधाई के पात्र हैं। काव्य रसपूर्ण तथा पढ़ने योग्य है।

हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय, वाराणसी के प्रकाशन

(१) **क्रीड़ा में इन्द्रियानुभूति शिक्षा—लेखक : श्री शिवप्रसाद दास; अनुवादक : सर्वश्री युधिष्ठिर मिश्र कोविद तथा कैलास चंद्र मिश्र; पृष्ठ-संख्या ८५; मूल्य : १.५० न० पै०।**

(२) **शिक्षा-मनोविज्ञान—लेखक : श्री प्रेमप्रकाश बन्दा, पृष्ठ-संख्या : १०७, मूल्य : १.५० न.पै.।**

प्रथम पुस्तक में चक्षु, कर्ण, त्वक्, रसना, नासिका, मन तथा बुद्धि के द्वारा कागज की कटाई, बुनाई, बढ़ई के काम आदि के साधन से बालकों को शिक्षा देने की विधि बताई गई हैं। पुस्तक उपयोगी है। दूसरी पुस्तक में शिक्षा में मनोविज्ञान के स्थान तथा महत्व पर प्रकाश डाला गया है और पुस्तक शिक्षकों तथा छात्र-शिक्षकों के लिए उपयोगी है। पुस्तक के अंत में प्रश्नावली देकर उसे अधिक उपयोगी बना दिया गया है।

हमारे देश के सिक्के—लेखक : श्री परमेश्वरीलाल गुप्त; प्रकाशक : विश्वविद्यालय प्रकाशन, गोरखपुर, आकार कापी साइज; पृष्ठ-संख्या : ४६; मूल्य : एक रुपया पचास नये पैसे।

इतिहास में पुराने सिक्कों का सामग्री के तौर पर बड़ा महत्व है। इनसे प्राचीन राजाओं के नाम, समय, चिह्न आदि के साथ पुरानी धातुओं तथा सिक्के बनाने की कला का पता चलता है। यह प्रसन्नता की बात है कि इस विषय पर प्रौढ़ों को कुछ बताने के लिए एक अधिकारी विद्वान् ने यह पुस्तक लिखी है। अत्यंत प्राचीनकाल से लेकर स्वतंत्र भारत के सिक्कों तथा नोटों के चित्र देकर पुस्तक की उपादेयता बहुत बढ़ा दी गई है। पुस्तक की शैली रोचक, भाषा सरल तथा टाइप मोटा और मुद्रण सुन्दर है। इस नये

विषय पर प्रौढ़ों के लिए पुस्तक प्रकाशित करने के लिए लेखक तथा प्रकाशक बधाई के पात्र हैं।

डॉ० सर्वपल्ली राधाकृष्णन——लेखक : श्री नि० छ० जमींदार; प्रकाशक : साहित्यालय प्रकाशन, इन्दौर नगर,; पृष्ठ-संख्या : ६२, मूल्य : १.५० न.पै.।

डॉ० सर्वपल्ली राधाकृष्णन हमारे देश की एक महान् विभूति हैं। उनकी दार्शनिक, साहित्यिक प्रवृत्तियों तथा उनके व्यक्तित्व और कृतियों का अध्ययन इस पुस्तक में दिया गया है। पुस्तक उपयोगी तथा पठनीय है।

राह के संघर्ष——लेखक : जैन भिक्षु श्री हस्तीमल साधक; प्रकाशक : मानवमन्दिर, वाराणसी-१; आकार क्राउन सोलह पेजी; पृष्ठ-संख्या : ७०; मूल्य : पचास न.पै.।

प्रस्तुत पुस्तक में लेखक ने एक यात्रा के माध्यम से विशेषतया जैन-साधुओं तथा साधारणतया हिन्दु साधुओं की प्रचलित परम्पराओं के विरुद्ध विद्रोहात्मक ढंग से लिखा है। यदि साधु वर्ग तथा उनके अनुयायी इसे कुछ ग्रहण करने के भाव से पढ़ेंगे, तो इसमें चिंतन के लिए काफी उत्तेजक विचार पायंगे।

धान की खेती का जापानी ढंग——लेखक : श्री रामजीदास 'चंचल'; प्रकाशक : राजकमल कला प्रकाशन, ४०, बुलानाला, वाराणसी-१, (उ० प्र०); पृष्ठ-संख्या : ३२; मूल्य : बारह आने।

अपने देश में अन्न की कमी के कारण हम दूसरों का मुंह ताकते हैं और अरबों रुपया विदेशों को जा रहा है। धान की खेती का जापानी ढंग अधिक लाभप्रद है और अब भारत में पांच लाख एकड़ भूमि में जापानी ढंग से खेती हो चुकी है। इस पुस्तक में सरल भाषा में, बातचीत के माध्यम से, खेती के इस ढंग तथा इसके महत्व को समझाया गया है। पुस्तक प्रौढ़ शिक्षा तथा ग्राम पुस्तकालयों के लिए उपयोगी है। मुद्रण साधारण है।

ऊजड़े घर——लेखक : श्री विश्वम्भर 'मानव'; प्रकाशक : किताब महल प्रा० लि०, ५६–ए, जीरो रोड, इलाहाबाद, पृष्ठ-संख्या : २६८; सजिल्द, मूल्य पांच रुपये।

हिंदी के सामाजिक उपन्यासों में अभी तक परिवार के विघटन को चित्रित किया जाता रहा है, परन्तु हमारे चारों ओर सामाजिक जीवन में दाम्पत्य संबंधों के दोषों तथा दूषित विवाह प्रथाओं के कारण जो अनेक घर उजड़ रहे हैं, उनका चित्रण इस उपन्यास में अच्छी तरह किया गया है। लेखक की पैनी दृष्टि आज के मध्यवर्ग की अनैतिकता को देख सकी है, और इस कृति में उसने उस अनैतिकता का पर्दाफाश कर दिया है। हमारे बहुत-से वकीलों, डाक्टरों, डिप्टी कमिश्नरों, गार्डों, तथा विवाहित-अविवाहित स्त्रियों के जीवन की झांकी इस उपन्यास में मिलेगी। मन-बहलावे की बजाय समाज की पतित अवस्था को समझने के उद्देश्य से इसको पढ़ने पर काफी शिक्षा प्राप्त की जा सकती है। उपन्यास में प्रवाह, रोचकता है तथा उत्सुकता को बनाये रखने की क्षमता है। एक बार पढ़ना आरंभ करने के बाद छोड़ने को जी नहीं चाहता।

——माईदयाल जैन

(पृष्ठ १४२ का शेष)

रही कि बिना आश्रय एक भी कदम प्रगति के पथ पर बढ़ सके। जीवन में आनेवाली यह पराश्रयता हमारे पतन का कारण बनती जा रही है और हमें प्रतिदिन पतन के गहरे गह्वर में डालने को कटिबद्ध है। अतः आवश्यकता इस बात की है कि हम अपना विकास उस सीमा तक करें, जहां पराश्रय की आवश्यकता नहीं रहे। यह तभी हो सकता है जब हम प्रत्येक कार्य पर स्वतंत्र रूप से चिंतन और मनन करके, उसके कायाकल्प पर विचार करके किसी दूसरे के बताये हुए इशारों पर नृत्य न करके, स्वयं के चिंतन के माध्यम से करें। तभी हमारा, हमारे समाज का, हमारे नगर और राष्ट्र का अभ्युत्थान होगा, विकास होगा। और ये सभी कार्य तभी पूर्ण होंगे जब हम अपने लिए स्वयं दीपक बनेंगे।

हमारी राय

'क्या व कैसे ?'

अश्लील साहित्य को रोकने के उपाय

साहित्य का कितना अधिक महत्व और कितनी अधिक जिम्मेदारी है, यह बताने की आवश्यकता नहीं है। संसार का इतिहास इस बात का साक्षी है कि जिन-जिन देशों में क्रांतियां हुई हैं, उनके पीछे साहित्य की प्रेरणाएं विशेष रूप से रही हैं।

लेकिन ऐसा जान पड़ता है कि हमारे देश ने आजाद होने के बाद अभीतक साहित्य के प्रति अपने दायित्व को नहीं समझा। फलतः बहुत-सा उल्टा-सीधा साहित्य, जो विदेशी सत्ता के जमाने में खूब फला-फूला था, आज भी प्रोत्साहित हो रहा है। किताबों की छोटी-बड़ी दुकानों पर और पटरियों पर हर जगह आपको ऐसा साहित्य मिल जायगा, जो वासनोत्तेजक है और जो मानव के चरित्र को गिराता है। कुछ समय पूर्व हमने बिहार से प्रकाशित दो अत्यंत घृणित उपन्यास राष्ट्रपतिजी की सेवा में भेजे थे और उनसे अनुरोध किया था कि वे ऐसे दूषित साहित्य की रोकथाम के लिए कुछ करें।

आज जबकि देश के सामने कोटि-कोटि भारतवासियों के चरित्र-निर्माण का प्रश्न है, साहित्य के प्रति इस प्रकार की उपेक्षा अत्यंत हानिकारक है। अश्लील साहित्य की बाढ़ को रोकना ही होगा।

हमें स्मरण है, स्व० किशोरलालभाई ने 'हरिजन'-पत्रों में इस विषय की चर्चा काफ़ी समय तक चलाई थी और श्री बनारसीदासजी चतुर्वेदी ने घासलेटी साहित्य के विरुद्ध लोकचेतना को जाग्रत करने का प्रयत्न किया था। इन प्रयासों का स्थायी परिणाम भले ही कुछ न निकला हो, लेकिन इसमें संदेह नहीं कि लोगों का ध्यान उस गंभीर समस्या की ओर आकृष्ट हुआ।

अश्लील साहित्य कौन-सा है, इस बारे में बड़ा मतभेद है। एक व्यक्ति जिस पुस्तक को खराब मानता है, दूसरा उसे अच्छी कहता है और दोनों अपने-अपने पक्ष में दलीलें रखते हैं। हमारी राय में वह साहित्य अश्लील है, जिसे अपनी मां, बहन अथवा बेटी के साथ पढ़ने में हमें संकोच अनुभव हो। हम सेक्स-संबंधी साहित्य को वर्जित नहीं मानते, लेकिन यदि विषय के प्रतिपादन में लेखक का दृष्टिकोण वैज्ञानिक नहीं है तो वह साहित्य लोककल्याण-कारी नहीं हो सकता।

गंदे साहित्य को रोकने के दो उपाय हैं। पहला उपाय निषेधात्मक है, अर्थात् ऐसे साहित्य को कानून से रोका जाय और उसका बहिष्कार किया जाय, लेकिन इसमें पूरी सफलता तबतक नहीं मिल सकती जबतक कि उसके साथ रचनात्मक उपाय न किया जाय। सेक्स-संबंधी साहित्य के पढ़ने की भूख कम-अधिक सबमें होती है। अतः जरूरी है कि ऐसे साहित्य का निर्माण किया जाय, जो विषय की दृष्टि से हो तो प्रचलित साहित्य की परिधि का, लेकिन उसका विषय-प्रतिपादन वैज्ञानिक दृष्टि से किया गया हो। विदेशी साहित्य में ऐसी बहुत-सी पुस्तकें मिलती हैं, जिनमें सेक्स का विशद वर्णन होता है; लेकिन उन्हें पढ़कर मन परिष्कृत होता है, विकृत नहीं। ऐसे साहित्य का सृजन वस्तुतः बड़ा कठिन है; लेकिन जहां करोड़ों नर-नारियों के जीवन का प्रश्न हो, वहां कठिन काम से हिचकना नहीं चाहिए।

अब समय आ गया है कि शासन और जनता इस गुरुतर कार्य की ओर ध्यान दे और पूरी क्षमता के साथ ऐसे कुत्सित साहित्य की बाढ़ को रोके, जो आज बड़ी तेजी से पतन की ओर दौड़ते मानव को अधिकाधिक गति दे रहा है।

'राष्ट्रभाषा प्रचार समिति' की रजत-जयंती

वर्धा की राष्ट्रभाषा प्रचार समिति हमारे देश की उन संस्थाओं में से है, जो अनन्य निष्ठा से दृढ़तापूर्वक सेवा-पथ

पर बढ़ती चली जा रही हैं। सन् १९३७ में अपने जन्म-काल से लेकर अबतक इस संस्था ने लगभग २५ लाख अहिन्दी-भाषियों को हिन्दी की शिक्षा दी है। अपने देश में ही नहीं, अन्य अनेक देशों में उसके केन्द्र निःस्वार्थ भावना, लगन तथा कर्मठता से हिन्दी के प्रचार का कार्य कर रहे हैं। हिन्दी को भारत के कोने-कोने तक पहुंचाने में इस संस्था ने जो योगदान दिया है, वह निस्संदेह सराहनीय है।

पच्चीस वर्ष की समाप्ति पर मई मास में समिति का 'रजत-जयंती महोत्सव' करने का निश्चय किया गया है। उस अवसर पर सारे देश के हिन्दी-प्रेमी कार्यकर्ता एकत्र होकर विचार करेंगे कि हिन्दी का प्रचार आगे तेजी से कैसे हो, भारतीय शासन में हिन्दी का समावेश किस प्रकार शीघ्रतिशीघ्र हो सकता है, भारतीय भाषाओं में पारस्परिक आदान-प्रदान किस भांति किया जा सकता है, आदि-आदि। चर्चाओं के अतिरिक्त एक प्रदर्शिनी भी होगी, जिसमें अबतक के हिन्दी के विकास की झांकी प्रस्तुत की जायगी। इसके अतिरिक्त राष्ट्रपिता महात्मा गांधी की विशाल कांस्य-प्रतिमा प्रस्थापित की जायगी। स्व० जमनालाल बजाज तथा राजर्षि पुरुषोत्तमदास टण्डन की मूर्त्तियां भी प्रतिष्ठित होंगी।

इन तथा अन्य कार्यों में लगभग साढ़े तीन लाख रुपये का व्यय होगा। समिति के द्वारा जितना उपयोगी कार्य हो रहा है, उसे देखते यह धन-राशि कुछ भी नहीं है।

अपने पाठकों से हमारा अनुरोध है कि वे इस राष्ट्रोपयोगी कार्य में जितना आर्थिक योग दे सकें, देने की कृपा करें। यह संस्था सबकी है। इसलिए उसके यज्ञ को सम्पन्न करने में सबको अपना-अपना हविर्भाग देना ही चाहिए। सहायता भेजने का पता है—मंत्री, राष्ट्रभाषा प्रचार समिति, वर्धा।

देश का चरित्र और सिनेमा

बबूल के पेड़ लगाकर चाहे जितनी कोशिश कीजिये, आपको आम नहीं मिल सकते। उल्टी दिशा में चलकर कोई भी अपने लक्ष्य पर नहीं पहुंच सकता। पर आज हमारे देश में यही हो रहा है।

हमारे कर्णधार चाह रहे हैं कि देश का चरित्र ऊंचा हो, जबकि उनके बहुत-से कार्य ऐसे हो रहे हैं, जो चरित्र को उठाने के बजाय गिराते हैं। इनमें सबसे बड़ा साधन है सिनेमा। आज हिन्दी में जो तस्वीरें आ रही हैं, उनमें निन्यानवे फीसदी ऐसी हैं, जो हल्के नाच-गानों से भरी हैं, जिनके अभिनेताओं की भाव-भंगिमाएं बेहयाई की हद पार कर गई हैं और जिनमें हरचंद कोशिश होती है कि वे दर्शकों की सस्ती-हल्की वृत्तियों को तुष्ट करें। हाल ही में हम एक फिल्म देखने गये—'रंगोली'। उसके साथ कुछ अच्छे अभिनेताओं के नाम जुड़े हुए थे, लेकिन फिल्म को देखकर हम चकित रह गये कि हमारे सेंसर-बोर्ड ने उसे कैसे पास किया! उसका अधिकांश अभिनय वासनोत्तेजक था और उसके गीत और नाच बड़ी ही भद्दी किस्म के थे। तस्वीर के अंत में खींचखांचकर दो-एक दृश्य ऐसे डाल दिये गए थे, जो आदर्श की ओर इंगित करते थे। हमें याद है कि जब हम 'अवारा' चित्र देखकर आये थे, तो हमारे छोटे बच्चे ने कहा था, "इसे देखकर तो कोई अवारा ही हो सकता है।"

कहने की आवश्यकता नहीं कि प्रतिदिन लाखों व्यक्ति इन गंदे सिनेमाओं को देखते हैं। देखते ही नहीं, उनसे रस भी ग्रहण करते हैं। हमारे नेता कहते हैं, हिन्दी की तस्वीरें हम नहीं देखते, वे रद्दी होती हैं; लेकिन हम उनसे पूछते हैं कि वे ऐसी चीजों को, जिन्हें वे स्वयं खराब समझते हैं, लाखों व्यक्तियों को देखने का क्यों अवसर देते हैं? हम चाहते हैं कि हमारे जिम्मेदार मंत्री, हमारे नेता और हमारे शासक हिन्दी की फिल्में देखें और समझें कि करोड़ों देश-वासियों के साथ आज कितना अन्याय होरहा है।

दलील दी जाती है कि जब जन-सामान्य ऐसी फिल्मों को चाहते हैं तो उन्हें कैसे रोका जा सकता है! यह दलील थोथी है। सरकार का काम जन-सामान्य की रुचि को ऊपर उठाना है, गिराना नहीं है।

फिर सरकार कहती है कि हमने तो सेंसर बोर्ड बिठा दिया है। उसकी जिम्मेदारी है कि वह ऐसी फिल्मों को रोके। बात कुछ हद तक ठीक है। लेकिन देखने में आता है कि सेंसर बोर्ड के बावजूद निम्न कोटि की तस्वीरें धड़ल्ले के साथ आ रही हैं। सेंसर बोर्ड के सदस्यों से हमारी बात हुई है। वे कहते हैं कि हम क्या करें, हमारी बात कोई सुनता

ही नहीं ! फिल्म-निर्माता, जो एक-एक चित्र पर लाखों रुपये व्यय करते हैं, अपनी चलाते हैं। वे तो अपनी चलावेंगे ही। उनके लिए सिनेमा कोई मिशन की चीज़ नहीं है, धंधा है और उससे वे अधिकाधिक कमाई करना चाहते हैं।

लाखों नर-नारियों और बच्चों को पतन के गड्ढे में गिरने का मौका देकर हमारे शासक और नेता देश-वासियों के चारित्रिक उत्थान के स्वप्न देख रहे हैं ! यदि बबूल के पेड़ से आम मिल सकते हैं तो ऐसी फिल्में दिखा-दिखाकर अवश्य देश के चरित्र-निर्माण की आशा रखी जा सकती है !

हम अपने प्रधान मंत्री से, जो प्राय. ईमानदारी, सच्चाई और व्यक्ति की ऊंचाई की बात करते रहते हैं, अनुरोध करते हैं कि वे आज उन फिल्मों द्वारा जन-सामान्य में बढ़ते अनाचार को देखें और उसे रोकने का प्रयत्न करें। हम अपने इतिहास में विलासिता के भयंकर दुष्परिणाम देख चुके हैं। उस इतिहास की पुनरावृत्ति को समय रहते रोकने में ही बुद्धिमानी है।

प्रशासन का दायित्व

समाचार-पत्रों में प्रायः ऐसी खबरें आती रहती हैं, जिन्हें पढ़कर दिल दहल उठता है। हाल ही की घटना है। दिल्ली में तुर्कमान दरवाजे के पास चांदीवाला गली में नौ वर्ष की एक बालिका का शव बोरी में बंद पड़ा मिला है। शरीर पर बाहरी चोट का कोई निशान नहीं है। पैरों पर खून के दाग हैं। पुलिस का अनुमान है कि उसके साथ बलात्कार किया गया है और उस कुकृत्य में जब उसकी मृत्यु होगई तो उसे बोरी में बंद करके बाहर डाल दिया गया।

इस दुर्घटना के पिछले दिन शाम को वह बालिका अपनी बहन को फाक देने के लिए चचा के घर की ओर जाती देखी गई थी। बोरी पर मोम की बूंदों से यह भी अंदाज किया गया है कि उसे पकड़कर जिस घर में ले जाया गया था, उसमें बिजली नहीं थी और उसे बोरी में बंद करते समय मोमबत्ती की रोशनी काम में लाई गई थी।

राजधानी में घटित यह पहली घटना नहीं है। पिछले चार महीने के भीतर ही एक दस बरस की लड़की मरी हुई पाई गई थी। अन्य स्थानों से भी ऐसी खबरें बराबर मिलती रहती हैं।

इन अमानुषिक घटनाओं की जितनी निन्दा की जाय, थोड़ी है। इनसे पता चलता है कि आज की सभ्य कही जानेवाली दुनिया में ऐसे व्यक्ति विद्यमान हैं, जो पशु से भी बदतर हैं और जिनमें हृदय नाम की चीज़ नहीं है।

यों तो ऐसी घटनाएं जहां भी हों, अक्षम्य हैं, लेकिन राजधानी में उनका होना तो प्रशासन के लिए घोर लज्जा की बात है। दिल्ली अंतर्राष्ट्रीय जगत् में अपना महत्व रखती है और एशियाई देशों का प्रमुख सांस्कृतिक केन्द्र बनती जा रही है। समय-समय पर संसार के विशिष्ट व्यक्ति यहां आते रहते हैं। अतः अपेक्षा की जाती है कि यहां का जीवन उच्च स्तर का हो। लेकिन दुर्भाग्य से है इसका उल्टा। भीतरी और बाहरी गंदगी की दिल्ली बेजोड़ मिसाल बनती जा रही है। नेहरूजी ने ठीक ही कहा है, "दिल्ली के आत्मा नहीं है।"

यह सही है कि प्रत्येक मनुष्य में कमजोरियां होती हैं, और जबतक मनुष्य दुर्बल है, अनाचारों को समूल नष्ट नहीं किया जा सकता। पर कहा जाता है, दुनिया उत्तरोत्तर सभ्य बनती जा रही है, मानव का विकास हो रहा है और विज्ञान ने असंभव चीज़ों को भी संभव बना दिया है। ऐसी अवस्था में इंसान से आशा की जाती है कि वह कम-से-कम ऐसे जघन्य काम तो न करे, जिनसे मानव-जाति कलंकित हो।

लोगों की आम शिकायत है कि जबसे हमारा देश आजाद हुआ है, अनाचार बराबर बढ़ते जा रहे हैं। यह इस बात का द्योतक है कि हमारी प्रशासनिक व्यवस्था शिथिल हो गई है। जहां पुलिस का जाल बिछा हो, वहां बलात्कार और हत्याओं का होना प्रशासन के प्रमाद को ही प्रमाणित करते हैं।

हम मानते हैं कि जबतक हमारा समाज जाग्रत और उसकी चेतना प्रबुद्ध नहीं होगी, तबतक इन तथा ऐसी महाव्याधियों की जड़ बनी ही रहेगी; लेकिन जबतक समाज पूर्णतया जागरूक नहीं बनता, तबतक प्रशासन की जिम्मेदारी है कि वह दुष्कर्मों को रोके। आखिर है भी तो वह इसी काम के लिए। यदि वह समाज के जान-माल की

रक्षा नहीं कर सकता तो उसे अपने स्थान से हट जाना चाहिए।

हम प्रशासन के अधिकारियों का ध्यान इस ओर आकर्षित करते हैं और आशा करते हैं कि भविष्य में वह अपने कर्त्तव्य एवं दायित्व के प्रति अधिक सजग बनेगा और आज की बढ़ती अनैतिकता का मुकाबला सख्ती के साथ करेगा।

स्वार्थपरायणता का दुष्परिणाम

आपसी फूट और वैयक्तिक स्वार्थ का कितना भयंकर दुष्परिणाम निकलता है, इसकी जीती-जागती मिसाल प्रयाग का हिन्दी साहित्य सम्मेलन है। इस संस्था ने हिन्दी के सम्वर्द्धन में जो योग दिया, वह बेजोड़ था। लाखों छात्र उसकी परीक्षाओं में बैठे, और आज भी बैठते हैं। प्रति वर्ष उसके अधिवेशन होते थे तो चारों ओर धूम मच जाती थी। श्रद्धेय पुरुषोत्तमदास टण्डन तथा उनके सहयोगियों ने इस संस्था को अपने रक्त से सींचा। लेकिन जब वह साधन-सम्पन्न बन गई तो उसके लिए खींचतान होने लगी। स्वार्थों की टकराहट इस हद तक बढ़ी कि सारा मामला अदालत में पहुंचा और अंत में उसके संचालन के लिए आदाता की नियुक्ति होगई। यह सब हुआ, पर फिर भी लोगों की आंखों पर से स्वार्थ का पर्दा नहीं हटा। पारस्परिक वैमनस्य बढ़ता गया, सम्मेलन की प्रतिष्ठा धूल में मिलती गई। साहित्यकारों, शासकों तथा साहित्य-प्रेमियों की चिन्ता और प्रयत्नों के बावजूद गत्यवरोध दूर नहीं हो सका।

अंत में केन्द्रीय सरकार को इस संस्था को राष्ट्रीय महत्व की संस्थाओं के रूप में मान्यता प्रदान करने के उद्देश्य से हाल ही में संसद में एक विधेयक प्रस्तुत करने के लिए विवश होना पड़ा। इस विधेयक के अनुसार सम्मेलन के कार्य को पुनः आरंभ करने के लिए एक प्रबंधक-मण्डल नियुक्त किया जायगा। यह मण्डल सम्मेलन के लिए एक संविधान तैयार करेगा और ऐसे प्रस्ताव उपस्थित करेगा, जिससे यह संस्था एक प्रमुख राष्ट्रीय संस्था के रूप में काम कर सके।

इतनी पुरानी तथा प्रतिष्ठित संस्था का, जिसके महात्मा गांधी जैसे युग-पुरुष सभापति रहे थे, दलदल में फंसकर अपनी छिछालेदर कराना वास्तव में अत्यंत लज्जाजनक है। उससे यह भी पता चलता है कि स्वार्थ और सत्तात्मक राजनीति की जड़ें कितनी गहरी चली गई हैं।

सरकार के हाथ में आखिर हम क्या-क्या सौंपेंगे? एक ओर हम विकेन्द्रीकरण की बात करते हैं, दूसरी ओर धीरे-धीरे सबकुछ सरकार के हाथों में केन्द्रित करते जा रहे हैं। इसका परिणाम संस्थाओं तथा सरकार, दोनों में से किसीके लिए भी हितकर नहीं होगा।

हम आशा करते हैं कि अबतक जो कुछ हुआ है, उससे उन व्यक्तियों में विवेक जाग्रत होगा, जिनकी अदूरदर्शिता और अविवेक ने यह स्थिति उत्पन्न की और सम्मेलन को सब मिलकर उसकी पुरानी प्रतिष्ठा प्राप्त कराने में सहायक होंगे।

'मंडल' की ओर से

स्वाध्याय और स्वाध्याय-मण्डलों की आवश्यकता

हम लोगों का बहुत-सा समय व्यर्थ की बात-चीत तथा कामों में खर्च हो जाता है। यदि हम प्रतिदिन आधा घंटा भी उससे बचाकर अच्छी पुस्तकों के पठन-पाठन में लगावें तो समय का तो उपयोग होगा ही, मस्तिष्क भी परिष्कृत होगा। जरूरी नहीं कि पुस्तकें अधिक संख्या में पढ़ी जायं। ऐसी पुस्तकों का चुनाव कर लिया जाय, जो व्यक्ति को स्वस्थ संस्कार और जीवन को नीतिमय बनाने की प्रेरणा देती हैं।

इस प्रकार आधे घंटे का नियमित अध्ययन तथा मनन हमारे लिए बहुत ही लाभ का हो सकता है।

हम जो कुछ पढ़ें, उससे दूसरों को भी फायदा पहुंचे, इस बात का भी प्रयास होना चाहिए। वैसे भी इतना विपुल साहित्य अबतक निकल चुका है कि कोई भी व्यक्ति अपने जीवन-काल में उस सबको नहीं पढ़ सकता। अतः छोटे-छोटे स्वाध्याय-मण्डल बनाकर उनमें साप्ताहिक अथवा पाक्षिक रूप में सामूहिक चिन्तन एवं विचार-विनिमय होते रहना चाहिए। स्वाध्याय-मण्डल का प्रत्येक सदस्य एक-एक नई पुस्तक पढ़े और उसका सार अन्य सदस्यों के सामने प्रस्तुत करे।

इस भांति पाठकों को वैयक्तिक तथा सामूहिक, दोनों रूपों में लाभ पहुंचेगा।

प्रत्येक स्वाध्याय-मण्डल के साथ चुनी हुई पुस्तकों का संग्रह होना भी आवश्यक है। अपना छोटा-सा निजी पुस्तकालय तो हो ही, लेकिन अधिक मूल्यवाली पुस्तकों और संदर्भ-ग्रंथों को मण्डल के लिए खरीदा जा सकता है।

कहने की आवश्यकता नहीं कि इस परिपाटी के प्रचलन से हमारा निजी तथा सामाजिक जीवन बहुत ही समृद्ध बनेगा। विचारों की बड़ी शक्ति एवं महिमा होती है और अच्छे विचारों के लिए सत्साहित्य का नियमित अनुशीलन तथा स्वाध्याय नितान्त आवश्यक है।

'मण्डल' से सम्पर्क

पाठक जानते हैं कि 'सस्ता साहित्य मण्डल' की पुस्तकें रुचि को परिष्कृत करती हैं। 'मण्डल' के लिए प्रकाशन-कार्य आर्थिक लाभ के लिए नहीं हैं, बल्कि मिशन की चीज है। अतः हमारा बराबर प्रयत्न रहता है कि पाठकों को ऐसी पुस्तकें दें, जो उनके जीवन-निर्माण में सहायक हों।

पाठकों से हमारा अनुरोध है कि वे 'मण्डल' के सम्पर्क में रहें। 'मण्डल' की १२५०)की 'सहायक सदस्य-योजना', है, जिसके अनुसार नियमानुकूल पूरे रुपये वापस मिल जाते साथ हैं, ही 'मण्डल' की प्राप्त पुस्तकों के सेट के सहित दस वष तक 'मण्डल' के प्रकाशन निःशुल्क मिलते रहते हैं। इस योजना से सैकड़ों व्यक्ति लाभान्वित हुए हैं।

इसके अतिरिक्त 'मण्डल' की 'स्थायी सदस्य-योजना है, जिसके अनुसार 'मण्डल' के प्रकाशन विशेष कमीशन पर प्राप्त होते रहते हैं।

फिर 'जीवन-साहित्य' के पाठकों के लिए भी 'मण्डल' की पुस्तकों पर कमीशन की सुविधा रहती है। पत्र के ग्राहकों को 'मण्डल' के प्रकाशनों की सूचना समय-समय पर मिलती रहती है।

एक कार्ड लिखकर 'मण्डल' का सूची-पत्र प्राप्त किया जा सकता है।

'मण्डल' की पुस्तकें सब जगह रहनी चाहिए। पाठक अपने यहां के पुस्तक-विक्रेताओं से आग्रह करें कि वे 'मण्डल' की पुस्तकें अपने यहां अवश्य रक्खें।

—मंत्री

आपका दुकानदार किलोग्राम में चीजें बेचता है। काम में जल्दी तथा सही लेन-देन के लिए आप केवल पूर्ण इकाइयों में चीजें खरीदिये।

१ सेर की बजाए	१ किलोग्राम
½ सेर की बजाए	५०० ग्राम
¼ सेर की बजाए	२०० ग्राम

खरीदिये

यदि १ सेर की कीमत १ रु० है तो
१ किलोग्राम की कीमत १·७ रु० होगी।

मेट्रिक तौल

सरलता व एकरूपता के लिए

भारत सरकार द्वारा प्रचारित

DA 61/749

प्रत्येक के लिए पर्याप्त अन्न

तीसरी योजना का लक्ष्य है—
अनाज के उत्पादन में
७.६ करोड़ टन से १० करोड़ टन तक वृद्धि
इस प्रकार प्रतिदिन प्रति व्यक्ति औसत खपत,
१६ औंस से १७.५ औंस तक बढ़ जायेगी।

योजना का लक्ष्य पूरा करने में सहायता दीजिये जिसका मतलब होगा—

तीसरी पंचवर्षीय योजना

सबका सुख सबकी सुविधा

हमारे प्रकाशन : दूसरों की दृष्टि में

कुछ पुरानी चिट्ठियां——लेखक : जवाहरलाल नेहरू; पृष्ठ ८०० : मूल्य : १० रुपये

सन् १९१७ से लेकर सन् १९४८ ई० तक के इन पत्रों में भारतवर्ष की स्वतंत्रता-प्राप्ति के संघर्ष का जीवंत चित्र उपस्थित होता है। पत्र-लेखकों में महात्मा गांधी, पं० मोतीलाल नेहरू, श्रीमती सरोजनी नायडू, बाबू राजेंद्रप्रसाद, श्री शरतचंद्र बोस, सुभाषचंद्र बोस, रवींद्रनाथ टैगोर, वल्लभभाई पटेल, मौलाना आजाद, मुहम्मद अली जिन्ना आदि देश के मूर्धन्य नेता और मनीषी भी हैं तथा जार्ज बर्नर्ड शा आदि अनेक विदेशी विद्वान-विचारक और राजनेता भी। नेहरूजी ने अपनी भूमिका में लिखा है कि बहुत-सी यादें ताजा हो जाती है, जो करीब-करीब भूली जा चुकी थी।...नेहरू के माध्यम से भावी भारत का स्वरूप किस प्रकार निर्धारित होता है, यह बात इन पत्रों से प्रकट होती है। इस पुस्तक को हिंदी में प्रकाशित करके 'सस्ता साहित्य मंडल' ने राष्ट्रीय महत्व का कार्य किया है। वे बधाई के पात्र हैं।

अम्बाला — जागृति

अतलांतिक के उस पार——लेखक : रामकृष्ण बजाज; पृष्ठ १३०; मूल्य : २.५०

प्रस्तुत पुस्तक अतलांतिक सागर के उस पार स्थित देश अमरीका का वर्णन है। लेखक ने अपनी यात्रा को रोचक ढंग से प्रस्तुत किया है। इसमें जहां अमरीकी जीवन का सांगोपांग वर्णन है, वहां कुछ अमरीकी नेताओं के विश्व-राजनीति पर विचार भी हैं।

दिल्ली — ——नवभारत टाइम्स

खंडित पूजा——लेखक : विष्णु प्रभाकर; पृष्ठ १७४; मूल्य : १.५०

कहानियों के इस संग्रह की भाषा बड़ी सजीव तथा सरस है। कहानियां मौलिक, भावपूर्ण तथा रोचकता से युक्त हैं। प्रत्येक कहानी के नीचे एक विचार सूत्र रूप में पिरोया हुआ है, जो सारी कहानी को अनुप्राणित करता है। कहानी एक झटका देती है और बदलते हुए समाज की नई समस्याओं को प्रस्तुत करने में अपना प्रतिद्वन्दी नहीं रखती।

आगरा — ——साहित्य-सन्देश

बालकों का पालन-पोषण——लेखक : डा० एस० टी० आचार; अनु० : माधव उपाध्याय; पृष्ठ १६०; मूल्य : २.५०

पुस्तक का विषय उसके नाम से ही प्रकट है। इसके लेखक एक विख्यात बाल-रोग विशेषज्ञ हैं। सन्तान पैदा करना, उसे पाल-पोषकर बड़ा कर देना और खाना-कपड़ा देकर उसकी लिखाई-पढ़ाई की व्यवस्था कर देने से ही बालकों के प्रति लोगों का कर्त्तव्य समाप्त नहीं हो जाता है। कुछ और भी बातें आवश्यक हैं, जिनकी सुदृढ़ नींव बालकों के चरित्र, स्वास्थ्य और नैतिकतापूर्ण जीवन पर आधारित होनी चाहिए। ये ही उन्हें वास्तविक अर्थ में मानव बनाती हैं। आलोच्य पुस्तक में ऐसी ही बातों की चर्चा हैं, जो प्रत्येक माता-पिता को जानना आवश्यक है।

इलाहाबाद — ——सप्ताहिक भारत

शारदीया——लेखक : जगदीशचन्द्र माथुर; पृष्ठ १२०; मूल्य १.५०

नागपुर म्यूजियम में जो पंच तोलिया कपड़ा प्रदर्शित है, उससे प्रेरणा लेकर इतिहास और कल्पना पर आधारित यह नाटक भारतीय इतिहास के मराठा-अंश पर एक नया प्रकाश डालता है। हिन्दु-मुस्लिम एकता और भाई-चारे की भावना, प्रेम की गम्भीरता और त्याग से भरा यह नाटक भारतीय रंगमंच की शान सिद्ध होगा।

वाराणसी — ——भूदान-यज्ञ

सस्ता साहित्य मंडल, नई दिल्ली।
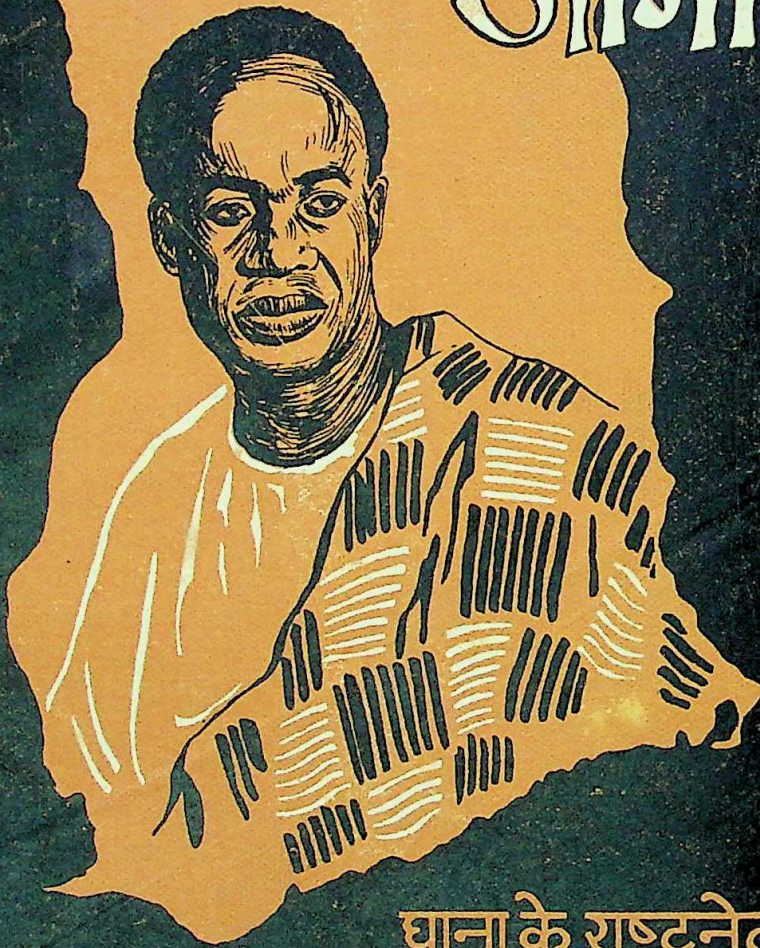
यह पुस्तक घाना के महान नेता डा. क्वामे एन्क्रूमा की आत्मकथा है। इसमें उन्होंने बताया है कि अपने देश को स्वतंत्र कराने के लिए उन्हें कितना संघर्ष करना पड़ा। साथ ही इसमें यह भी बताया गया है कि किसी भी देश का वास्तविक अभ्युदय उसके निवासियों के द्वारा ही हो सकता है। छपाई बढ़िया, अच्छा कागज, अनेक चित्र तथा नक्शे, पृष्ठ २१६, मूल्य तीन रुपये।

सस्ता साहित्य मंडल, नई दिल्ली

जून, १९६२

जीवन साहित्य

सत्साहित्य प्रकाशन

कबीर

वर्ष २३ : अंक ६

सम्पादक
हरिभाऊ उपाध्याय
यशपाल जैन

अहिंसक नवरचना का मासिक

जीवन-साहित्य

जून, १९६२

विषय-सूची

निवेदन

पाठकों से

हमारे पास समय-समय पर पाठकों के पत्र आते रहते हैं, जिनसे पता चलता है कि 'जीवन-साहित्य' उन्हें पसंद आता है और वे उसकी रचनाओं को बड़ी रुचि के साथ पढ़ते हैं। इन भावनाओं के लिए हम उनके आभारी हैं।

हमारी इच्छा है कि पत्र का क्षेत्र और अधिक व्यापक हो। अतः हमने निश्चय किया है कि सन् १९६२ के अंत तक पत्र के ग्राहकों की संख्या में कम-से-कम दो हजार की वृद्धि कर देंगे।

पर यह संकल्प बिना पाठकों की सहायता के पूरा नहीं होने का।

पाठकों से हमारा अनुरोध है कि वे अपने-अपने क्षेत्र में जितने अधिक ग्राहक बना सकें, बनाने की कृपा करें। कुछ ऐसे हिन्दी-प्रेमियों के पते भी भेज दें, जिनसे ग्राहक बनने का हम स्वयं अनुरोध कर सकें।

हमें विश्वास है कि पाठक इस गुरुतर कार्य में हमारा हाथ अवश्य बंटावेंगे।

--व्यवस्थापक

जीवन-साहित्य

आवश्यक

पत्र-व्यवहार करते समय अपनी ग्राहक-संख्या अवश्य दें, जिससे कार्रवाई सुविधापूर्वक और अविलंब हो जाय।

● ●

उत्तरप्रदेश, राजस्थान, मध्यप्रदेश, हिमाचल प्रदेश, दिल्ली, बिहार तथा पंजाब राज्य-सरकारों द्वारा कालेजों,लाइब्रेरियों तथा उत्तरप्रदेश की ग्राम-पंचायतों के लिए स्वीकृत

● ●

● वर्ष २३
● अंक ६

● ●

जून, १९६२

भक्ति-रहस्य

विनोबा

"जय जय कृपामय देव यदुपति,
तोमार चरण मागों अमूल्य भकति ।"

यह 'नामघोषा' का बहुत सुन्दर पद्य है। उसमें माधवदेव ने भगवान् से प्रार्थना की है कि मुझे अमूल्य भक्ति दो। यह अमूल्य भक्ति क्या है? यह भक्ति वह है, जिसका कोई मूल्य नहीं हो सकता, यानी जिसका पैसों में हिसाब नहीं हो सकता। यह भक्ति का स्पष्ट अर्थ है।

लेकिन माधवदेव के मन में दूसरा ही अर्थ था। वह कहते हैं: 'नामधन दिया मोरे किना बनमाली।' मैं बिलकुल अमूल्य भक्त हूं। हे भगवान्, मुझे कुछ नहीं देना पड़ेगा—तनखा नहीं देनी पड़ेगी, खेती-बारी नहीं देनी पड़ेगी, संतान नहीं देनी पड़ेगी, कुछ भी नहीं देना पड़ेगा। सिर्फ नाम-धन दो और मुझे खरीद लो! अरे! मुफ्त का सेवक मिल रहा है, फिर भी नहीं अपनाते? कैसी अक्ल है भगवान् की! 'दास पाई नलवा कमन ठकुरालि।'—यह कैसा ठाकुर है? कहां का स्वामित्व है? बिना मूल्य सेवक मिले, फिर भी नहीं लेते। 'अमूल्य' शब्द के दो अर्थ हुए—एक तो ऐसी भक्ति, जिसकी कीमत नहीं हो सकती, और दूसरा अर्थ है, ऐसा भक्त, जिसके लिए कुछ देना नहीं पड़ता।

निरपेक्ष भक्ति करना बहुत बड़ी बात है। मैं सेवा के लिए तैयार हूं और भगवान् मुझे सेवक के तौर पर रखने के लिए तैयार नहीं। इसपर भगवान् को कोसे, यह कोई छोटी भक्ति नहीं! कोई निकलेगा ऐसा भक्त, जो माधवदेव की तरह भगवान् को ऐसी खरी-खरी सुनाये? बहुत हैं भगवान् का नाम लेनेवाले, पर वे क्या कहते हैं? कोई कहता है कि 'मैंने नौकरी के लिए अर्जी दी है, वह मंजूर हो जाय।' कोई कहता है: 'इस साल फसल अच्छी आये।' कोई कहता है कि 'मैं परीक्षा में पास हो जाऊं।' और कोई कहता है: 'मेरे सन्तान हो।' इस तरह लोग अपने-अपने मतलब के लिए भगवान् का नाम लेते हैं। उनका प्यार भगवान् से नहीं, खेती-बारी, बाल-बच्चे, मान-मुरब्बत और चुनकर आने से होता है! वे यह नहीं चाहते कि हमें भगवान् मिले,

उनके दर्शन हो, उनका वरद हस्त हमारे सिर पर रहे। वे तो अपने मतलब की ही बात चाहते हैं।

लेकिन माधवदेव क्या कहते हैं? वह तो कहते हैं कि हमारी स्वतंत्र इच्छा ही न हो। हम भक्त तो तुम्हारे सर्वथा अधीन हैं। तुम स्वामी हो और हम हैं सेवक। तुम आज्ञा-कारी हो और हम हैं आज्ञाधारी। तुम्हारे मार्गदर्शन पर हम चलें और अंत में सर्वस्व तुम्हें समर्पण कर दें।

आसपास जो मानव-मूर्ति है, वह भगवान् का रूप है। हम उस भगवान् की सेवा के लिए जन्मे हैं। इस प्रकार मानव को परमात्मा की मूर्ति समझकर सेवा करें, फल की कामना न करें, यह सब अर्थ निकलता है अमूल्य भक्ति, अत्यंत मूल्यवान् भक्ति से। इसलिए भक्त भगवान् से ही मांगता है।

जय जय कृपामय देव यदुपति,
तोमार चरणे मागों अमूल्य भकति।
नामधन दिया मोरे किना वनमाली,
दास पाई नलवा कमन ठकुराली॥

हम ग्रामदान के काम को भगवान् की भक्ति समझते हैं। सब मिलकर रहना, एक-दूसरे के साथ प्रेम रखना, सहयोग करना इस दृष्टि से यह भक्ति का काम है। भगवान् के लिए स्वामी विवेकानंद का एक शब्द है—दरिद्रनारायण। जो दरिद्र हैं, दुःखी हैं, उनकी हम कुछ-न-कुछ सेवा करें। भगवान् स्वामी हैं। हमको यहां सेवा के लिए भेजा है। भगवान् हमें सेवा से प्राप्त होंगे। भगवान् स्वयं ही सेवापात्र बनकर हमारे सामने उपस्थित हैं।

जो लोग भगवान् को पहचानते नहीं हैं, वे क्या करते हैं? सुन्दर नैवेद्य बनाते हैं, प्रसाद तैयार करते हैं और भगवान् की पत्थर की मूर्ति के सामने रखते हैं। भगवान् तो खाते नहीं, वे खुद खा जाते हैं! उनके पास कोई भूखा व्यक्ति भीख मांगने आ जाय, तो उसे दुत्कार देते हैं! वे कैसे लोग हैं?

नामदेव की कहानी है। वे छोटे थे, छः साल के। एक दिन उन्हें पिताजी ने कहा कि आज भगवान् की पूजा तुम करो। नामदेव पूजा करने गये। आवाहन, विसर्जन, मंत्र-तंत्र, धूप-दीप से पूजा की। फिर दूध से भरा प्याला भगवान् के सामने रखा और राह देखने लगे कि भगवान् कब दूध पीते हैं! भगवान् उठे नहीं। समय बीतता रहा। नामदेव ने भी तय कर लिया कि जबतक भगवान् दूध नहीं पी लेंगे, मैं भी नहीं उठूंगा। नामदेव ध्यानस्थ होकर बैठ गये। भगवान् उनके प्रेमाग्रह को टाल नहीं सके। नामदेव की इच्छा पूरी हो गई।

नामदेव की तरह कल हम चढ़ायें, वह दूध भी मूर्ति पीने लगेगी, तो उसको अर्पण करना ही बंद कर देंगे! आज वह नहीं पीती है, इसलिए अर्पण करते हैं। यह भक्ति नहीं है। भूखे लोग हैं, गरीब लोग हैं, उनके लिए हमारे दिल में करुणा नहीं है, निष्ठुरता से उनके साथ व्यवहार करते हैं और भगवान् को भोग चढ़ाते हैं, यह बिल्कुल गलत है।

भक्ति वहां है, जहां हृदय में करुणा है। जिस हृदय में करुणा नहीं, वह कितना ही भक्ति का नाटक करे, भक्ति उससे दूर ही रहेगी। इसलिए हमारी राय में यह जो ग्रामदान का कार्य है, वह भगवान् की वास्तविक भक्ति है, सेवा है, स्मरण है।

आर्थिक शुचिता

अस्तेय और अपरिग्रह, दोनों मिलकर अर्थ-शुचित्व पूर्ण होता है, जिसके बगैर व्यक्ति और समाज के जीवन में धर्म की प्रतिष्ठा नहीं हो सकती। सत्य और अहिंसा तो मूल हैं, लेकिन आर्थिक क्षेत्र में दोनों का आविर्भाव अस्तेय और अपरिग्रह से ही हो सकता है और आर्थिक क्षेत्र जीवन का बहुत ही बड़ा अंग है। इसलिए धर्मशास्त्र उसकी उपेक्षा नहीं कर सकता, बल्कि उसका नियमन और नियोजन करने की जिम्मेवारी धर्म-विचार पर आई है। इसलिए मनु ने विशद रूप से कहा है: 'यः अर्थशुचिः स शुचिः'—जिसके जीवन में आर्थिक शुचिता है, उसका ही जीवन शुचि है।

—विनोबा

निष्काम कर्म और अहिंसा

●● मुनिश्री नथमल

अहिंसा के संबंध में निष्काम कर्म एक व्यामोहक वस्तु बन रहा है। कितने ही व्यक्तियों का ख्याल है कि फल-प्राप्ति की आशा रखे बिना हम जो कोई काम करते हैं, वह अहिंसा ही है। पर सच तो यह है कि चाहे कार्य निष्काम—फल-प्राप्ति की इच्छारहित हो, चाहे सकाम—फल-प्राप्ति की इच्छासहित, जिसमें प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में हिंसा छिपी हुई रहती है, वह काम हिंसात्मक ही है। यह क्या कोई युक्ति की बात है कि मनुष्य अपनी सुविधा के लिए जो कोई भी हिंसा-युक्त कार्य करता है, वह तो हिंसात्मक मान लिया जाता है और वही काम वही मनुष्य यदि दूसरों की सुविधा के लिए करता है, वह अहिंसात्मक हो जाता है। हिंसात्मक काम हिंसात्मक ही रहेगा, चाहे वह अपने लिए किया जाय या दूसरों के लिए। यह भी नहीं कहा जा सकता कि व्यक्ति-गत कार्यों में स्वार्थ रहता है और समष्टि में स्वार्थ नहीं रहता। खैर, दो क्षण के लिए स्वार्थ न भी मानें अर्थात् लौकिक दृष्टि से परमार्थ मान लें तो भी इसका हल नहीं निकलता क्योंकि हिंसा का संबंध केवल स्वार्थ से ही तो नहीं, राग-द्वेष, मोह, व्यामोह आदि अनेक भावनाओं से उसका संबंध रहता है। जैसे व्यक्तिगत स्वार्थ को त्यागकर अपने राष्ट्र की स्थिति को अनुकूल बनाने के लिए कोई यह उचित समझे कि जितने बच्चे जन्मते हैं, उनमें से आधे मरवा दिये जायं। राष्ट्र के सुधार की ऐसी भावना से वह ऐसा करने में सफल भी हो जाता है। राष्ट्रीय दृष्टिकोण से उक्त कार्य न तो राग से किया जाता है और न द्वेष से एवं न व्यक्तिगत स्वार्थ से। वह केवल राष्ट्र को सुदृढ़ एवं सुव्यवस्थित करने के लिए ही किया जाता है, इसलिए यह सब निष्काम सेवा की परिधि में आ जाता है। इस प्रकार और भी अनेक कार्य हैं जो कि समष्टि की सुविधाओं के लिए किये जाते हैं और उन्हें निष्कामता की सेवा में घुसेड़कर अहिंसात्मक बताया जाता है, परन्तु जिन कार्यों में प्रत्यक्ष रूप से हिंसा एवं हिंसा के कारण विद्यमान हैं, वे काम न तो निष्कामता की कोटि में समाविष्ट किए जा सकते हैं और न अहिंसा की कोटि में।

जैन सिद्धान्तों में निष्कामता का विधान है, पर है वह धार्मिक क्रिया के संबंध में। धार्मिक क्रिया का जितना उपदेश है, उसके साथ-साथ यह बताया गया है कि धर्म केवल आत्म-शुद्धि के लिए करो। ऐहिक या पारलौकिक पौद्‌गलिक सुखों के लिए नहीं। धार्मिक क्रिया के साथ पौद्‌गलिक सुखों की इच्छा करना 'निदान' नाम का दोष है। इस संबंध में यह एक खास ध्यान देने की बात है कि प्रत्यक्ष या परोक्ष में राग, द्वेष, स्वार्थ आदि भावनाओं से मिश्रित जितने भी काम हैं, उनको अधिक आसक्ति या कम आसक्ति से किये जाने से उससे होनेवाले बंधन में अंतर अवश्य आ जाता है, पर वे बंधन से मुक्त करनेवाले नहीं हो सकते। जैसे—एक हिंसात्मक काम को दो व्यक्ति करते हैं। एक उसे अधिक आसक्ति से करता है और दूसरा उसे कम आसक्ति से। अधिक आसक्ति से करनेवाले के कर्म का बंधन दृढ़ होता है और कम आसक्ति से करनेवाले का शिथिल। पर यह नहीं हो सकता कि कम आसक्ति से हम जो कुछ भी करते हैं, उसमें कर्म का बंधन होता ही नहीं।

सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर यह निर्णय होता है कि जो काम हम करते हैं, वह यदि पूर्वोक्त भावनाओं से मिश्रित है तो उसमें आसक्ति रहेगी ही—चाहे अधिक मात्रा में, चाहे कम मात्रा में; चाहे व्यक्त रूप में, चाहे अव्यक्त रूप में। अधिक आसक्तिवाला अहं भावना से लिप्त रहता है और वह उससे मुड़ना भी नहीं चाहता। किन्तु कम आसक्तिवाला यह समझता है कि मैं जो कुछ भौतिक सुखवर्धक काम करता हूं, वह मुझे करना पड़ता है, क्योंकि मैं अभी तक बंधन से छुट-कारा नहीं पा सका हूं। इसका तत्व यही है कि जो कार्य असंयम को पुष्ट करनेवाला अर्थात् भोगी जीवन का सहायक है, वह चाहे कैसी भी भावना से क्यों न किया जाय, उसमें हिंसा तो रहेगी ही। भोगी जीवन का अर्थ सिर्फ अब्रह्मचारी जीवन ही नहीं है। जो मनुष्य अपने शरीर को सुख देने के लिए या उसे टिकाय रखने के लिए किसी भी प्रकार की हिंसा करता है, उसका जीवन भोगी-जीवन कहलाता है। अतः यह निश्चित रूप से जान लेना चाहिए कि निष्कामता का संबंध अहिंसात्मक कार्यों से ही है। हिंसात्मक कार्यों में

निष्कामता का प्रयोग नहीं हो सकता। निष्कामता अहिंसा की उपासना करने का साधन है। अहिंसा का अनुशीलन किसी प्रकार के भौतिक सुखों के फल की आशा रखे बिना ही करना चाहिए। यही निष्कामता का सच्चा प्रयोग है।

१. अहिंसा का अर्थ प्राणों का विच्छेद न करना—इतना ही नहीं, उसका अर्थ है—मानसिक, वाचिक एवं कायिक प्रवृत्तियों को शुद्ध रखना।

२. जीव नहीं मरे, बच गये—यह व्यावहारिक अहिंसा है, अहिंसा का प्रासंगिक परिणाम है। हिंसा के दोष से हिंसक की आत्मा बची—यह वास्तविक अहिंसा है।

३. हिंसा और अहिंसा का संबंध हिंसक और अहिंसक से होता है, मारे जानेवाले और न मारे जानेवाले प्राणी से नहीं।

४. निवृत्ति अहिंसा है।

५. प्रवृत्ति दो प्रकार की होती है, उनमें जो राग-द्वेष रहित होती है, वह अहिंसा और जो राग-द्वेषसहित होती है, वह हिंसा है। दूसरे सजीव या निर्जीव पदार्थ केवल अहिंसा के निमित्त मात्र बनते हैं। इसके आधार पर ही हिंसा के द्रव्य भाव-रूप भेद के लिए हैं। द्रव्य-हिंसा का अर्थ है—केवल प्राणों का वियोग होना। भाव-हिंसा का अर्थ है—आत्मा के अशुभ परिणाम यानी राग-द्वेष प्रमादात्मक प्रवृत्ति।

क्योंकि हिंसा की परिभाषा में प्राण-वियोजन का स्थान व्यावहारिक और राग-द्वेषयुक्त भावना का स्थान नैश्चयिक है। हिंसक वही कहा जा सकता है, जो रागादि दोषोंसहित प्रवृत्ति से प्राणों का विच्छेद करता है, कष्ट पहुंचाता है या निर्जीव पदार्थों पर भी अपनी प्रमादात्मक प्रवृत्ति करता है। जहां प्राणियों की घात होती है, वहां राग-द्वेष-रहित भावना कैसे हो सकती है? इस प्रश्न का निर्णय हमें यों कर लेना चाहिए कि उन संयमी पुरुषों की न तो जीव-हिंसा की भावना ही है और न वे इस प्रकार की क्रिया ही करते हैं तथापि देह-धारी होने के कारण उनके द्वारा जो हिंसा हो जाती है, वहां उनकी भावना का राग-द्वेष से कोई संबंध नहीं है।[1]

प्रश्न : उक्त निर्णय से नई और जटिल समस्या पैदा होती है, वह यह है कि इस सिद्धान्त से प्रत्येक मनुष्य भी हिंसा करता हुआ अपनेको अहिंसक कहने का साहस कर सकेगा। क्योंकि उसके पास 'मेरी भावना शुद्ध है'—यह एक अमोघ साधन आ जाता है।

उत्तर : उक्त निर्णय प्राणी-मात्र के लिए चरितार्थ नहीं, यह केवल संयमी पुरुषों पर ही लागू होता है। वे अहिंसा के उपासक हैं, उनका एकमात्र ध्येय अहिंसा है। वे हिंसा से सर्वथा पराङ्मुख रहते हैं। इनसे भिन्न जो असंयमी पुरुष हैं, उनके लिए उपर्युक्त निर्णय ठीक नहीं, क्योंकि न इनके मन, वचन एवं शरीर संयत हैं और न हिंसक प्रवृत्तियों से सर्वदा विमुख रहने का उन्होंने निश्चय ही किया है। वे हिंसा में जुटे हुए हैं, अतएव उनके द्वारा जो प्राणी-वध होता है, या किया जाता है वह हिंसा ही है, अहिंसा नहीं।

प्रश्न : संयमी पुरुषों के लिए जो विधान किया जाता है, क्या उससे उनमें शिथिलता की भावना नहीं?

उत्तर : नहीं। क्योंकि संयमी पुरुष भी असावधानी से जो-कुछ करते हैं, वह सब हिंसा है। इस दृष्टि से वे और अधिक सावधान रहते हैं। अहिंसक होने पर भी हम कहीं हिंसक न बन जायं—इसका उन्हें हर समय खयाल रहता है। सहज ही एक प्रश्न हो सकता है कि संयमी जन भी सब बीतराग नहीं होते तो फिर उनकी भावना राग-रहित कैसे मानी जा सकेगी? इसका उत्तर है, "सतोऽपि कषायान् निगृह्णाति सोऽपि तत्तुल्य",—कषाय-सहित होते हुए भी वे संयमी जन कषाय का निग्रह कर संयत प्रवृत्तियों से अहिंसक बन सकते हैं।

६. अहिंसा का संबंध जीवित रहने से नहीं, उसका संबंध तो दुष्प्रवृत्ति की निवृत्ति से है। निवृत्ति एकान्त रूप से अहिंसा है—यह तो निर्विवाद विषय है, पर राग, द्वेष, मोह, प्रमाद आदि दोषोंरहित प्रवृत्ति भी अहिंसात्मक है। जैसे कि दशवैकालिक सूत्र में एक वर्णन है—

शिष्य : "प्रभो! कृपा करके आप बतायें कि हम कैसे चलें, कैसे खड़े हों, किस तरह बैठें, किस प्रकार लेटें, कैसे खायें और किस तरह बोलें, जिससे पापकर्म का बन्ध न हो।"[1]

(शेष पृष्ठ २११ पर)

[1] संयमी उसे कहते हैं, जिसने मन, वचन और शरीर का संयम किया है, त्रस-स्थावर—सब प्रकार के जीवों की हिंसा करने का परित्याग किया है। जो अपने खाने-पीने के लिए भी हिंसा नहीं करता, प्राणीमात्र को मित्र समझता है एवं सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और निष्परिग्रह व्रत को पालता है।

[1] कहं चरे कहं चिट्ठे, कहमासे, कहं सए।
कहं भुंजंतो भासंतो, पावकम्मं न बंधई॥
—दशवैकालिक ४।७

अभी नया पथ है ●● महेश चन्द्र 'सरल'

अभी नया पथ है लेकिन चल,
चलनेवाले और मिलेंगे।

संभव है इस पथ पर अगणित,
कांटे ही कांटे बिछ जायें।
जो तैयार हुए चलने को,
वे ही पीछे कदम हटायें।
पर अवरोध न गति में हो तो,
कांटों में भी फूल खिलेंगे।

माना सबकी राह अलग है,
सबको अपना जीवन प्यारा।
किन्तु नये पथ पर भी तो,
चलने को मन ने सदा पुकारा।
जो समर्थ हैं, लक्ष्य-पूर्ण हित,
अडिग रहे हैं, नहीं हिलेंगे।

कभी - कभी अनहोना भी,
होने का रूप लिया करता है।
जो हम सोच नहीं पाते हैं,
वह साकार हुआ करता है।
दुख देकर ही सुख पाते जो,
वे क्या उर के घाव सिलेंगे?

अभी नया पथ है लेकिन चल,
चलनेवाले और मिलेंगे।

●

तुच्छ, फिर भी तुच्छ नहीं

●● रणजीत भट्टाचार्य

(१६)

गांव की प्राथमिक पाठशाला। मेरे ही एक शिक्षक मित्र छुट्टी के बाद छोटे-छोटे लगभग बीस लड़कों को राष्ट्रीय संगीत सिखा रहे हैं। मैं उनके पास चुप होकर बैठा हूं। इसी समय एक लड़का अंदर आकर मित्र से बोला, "आपको एक आदमी बुला रहा है।"

मित्र ने उस व्यक्ति को अंदर बुलाकर बैठा लिया। गाना उस समय रुक गया। मैंने ध्यान से देखा—वह एक दुबला-पतला मनुष्य था। शरीर कंकाल जैसा हो गया था, धूप और थकावट से वह हांफ रहा था। वह कुछ आर्थिक सहायता चाहता था। थके हुए स्वर में वह बोला, "नौ महीने से टी० बी० भोग रहा हूं। घर पर मां और छोटा भाई है। जमा पूंजी कुछ नहीं। जो कुछ था वह चिकित्सा में समाप्त हो गया। दवा और डाक्टर के लिए पैसा नहीं। तारकेश्वर में बाबा तारकनाथ के पास धरना देने गया था किन्तु वह भी नहीं हुआ।"

मैंने पूछा, "क्यों?"

"पंडों ने नहीं होने दिया। गद्दी पर दस रुपया जमा करना होगा। तभी धरना दे सकूंगा। रुपया कहां से लाऊं बाबू, इसीसे भिक्षा मांग रहा हूं। स्टेशन-मास्टर बाबू को बताया तो उन्होंने दो रुपये दिये हैं और आपके पास आने को कहा है। इसीसे....'

मित्र सहसा चौंक उठे। क्षणभर में उनका मुख गंभीर वेदना से म्लान हो गया। मैं समझ गया कि वेतन न मिलने के कारण उनकी जेब खाली है। जल्दी से अपनी जेब में हाथ डाला। जो मिला मित्र के हाथ में दे दिया। केवल ३) रुपये थे किन्तु बाकी रुपया कहां से मिलेगा?

"मास्टरसाहब!"

मित्र ने चुपचाप उस लड़के की ओर देखा।

"मास्टरसाहब, बाकी रुपया हम लोग देंगे।" गहन अंधकार में मानो अचानक प्रकाश की एक रेखा चमक उठी।

"तुम लोग।" अस्फुट स्वर में मित्र बोले।

"हां, मास्टर साहब", दूसरा लड़का बोला, "हम सभी के पास थोड़े-थोड़े पैसे हैं, आप लीजिये।"

आवेश से मित्र का गला अवरुद्ध हो गया। अस्फुट स्वर में बोले, "तुम्हारा शिक्षक होने से मैं धन्य हूं।"

दोनों हाथ फैलाकर रोगी ने उनका दान लिया। उसकी दोनों आंखों में जल था। मेरी आंखें भी न जाने कब भीग आई थीं। इन सब सुकुमार प्राणों की उदारता के संमुख मैं बार-बार सिर झुकाना चाह रहा था। मित्र से धीरे-धीरे बोला, "तुम्हारा शिक्षा-दान सार्थक हुआ। आज इस छोटी घटना के बीच इनकी जो विराट् संभावना देखी है, उसकी तुलना क्या हो सकेगी।"

(१७)

उस दिन हुगली के ग्रामीण प्रदेश के एक प्रथम श्रेणी के उच्च विद्यालय की छमाही परीक्षा आरंभ हो रही थी। 'ऑनर सिस्टम' से परीक्षा लेने की व्यवस्था हुई थी। इसका अर्थ हुआ—परीक्षा हाल में कोई निरीक्षक नहीं रहेगा। छात्रों की सच्चाई पर विश्वास करके परीक्षा ली जायगी।

बहुत बड़ा हाल था। बहुत-से छात्र अपने-अपने स्थान पर बैठे थे। विद्यालय के प्रधान शिक्षक उनसे बोले, "तुम लोग एक नये तरीके से परीक्षा देने जा रहे हो। हम लोग विश्वास करते हैं कि तुम सब सच्चे हो, इसीसे तुम्हारी परीक्षा के समय कोई निरीक्षक नहीं रहेगा। आशा करता हूं कि तुममें से कोई किसीकी सहायता नहीं लेगा। किसी किताब या कुंजी की नकल करके प्रश्नों का उत्तर नहीं देगा। अपनी शक्ति पर निर्भर करके परीक्षा देगा। याद रखना तुम्हारी सच्चाई और आत्म-शक्ति के ऊपर विश्वास रखकर ही हमने यह व्यवस्था की है।"

छात्र लोग पहले से ही इस व्यवस्था की बात जानते थे। अब ध्यान से प्रधान शिक्षक की बात सुनकर चुपचाप प्रश्न-पत्र लेने लगे। हाल के बाहर विद्यालय के दूसरे शिक्षक गण परीक्षा के बारे में ही आलोचना करने लगे। प्रधान शिक्षक के आते ही एक शिक्षक ने कहा, "अच्छा, लड़के क्या इतने साधु हो जायंगे कि बातें नहीं करेंगे? और न ही नकल करेंगे। मुझे तो ऐसा लगता है कि उन्हें राम-राज्य मिल

गया। कोई निरीक्षक नहीं, कोई शासन नहीं, खूब मौज से नकल करेंगे।"

प्रधान शिक्षक हँसकर बोले, "शायद बहुत-से नहीं करेंगे।"

शिक्षकों के साथ मैं ग्रालोचना सुन रहा था कि ग्रचानक किसीकी सिसकियों का स्वर सुनकर हम सबने पीछे मुड़कर देखा। एक किशोर परीक्षा के हाल से बाहर ग्राकर फफक-फफक कर रो रहा था। प्रधान शिक्षक ने स्नेह के साथ उसे ग्रपने पास बुलाया। बोले, "तुम रो क्यों रहे हो, ग्रनिल?

"मैं पास नहीं हो सकूंगा। सर।"

"नहीं हो सकोगे?"

"एक प्रश्न का भी उत्तर नहीं लिख सकूंगा। सर!"

मैं बोला, "क्यों प्रश्न तो इतने कठिन नहीं हैं?"

पहले शिक्षक मजाक में बोले, "क्यों भाई, तुम तो नकल करने में उस्ताद हो। हाल में कोई निरीक्षक भी नहीं है, तुम्हें तो ग्रौर भी सुविधा है।"

लड़के का रोना रुक गया। धीरे-धीरे बोला, "सर! निरीक्षक के होने पर मैं नकल करके पास हो जाता था। किन्तु प्रधान शिक्षक महाशय ने बड़ी कठिनाई में डाल दिया।"

"क्यों?"

लड़के ने एक बार इधर-उधर किया। उसके बाद बोला, "सर! ग्रापने हमारा विश्वास करके निरीक्षक हटा लिये हैं। इसीसे ग्रब चोरी नहीं करूंगा। सर, चोरी नहीं करूंगा तो लिख नहीं सकूंगा। इसीसे बाहर ग्रा गया हूं। पता नहीं क्यों ग्राज किसी तरह भी यह सब करने को मन नहीं करता।"

ग्रत्यंत स्नेह से प्रधान शिक्षक ने लड़के को ग्रपने पास खींच लिया। धीरे-धीरे उसके शरीर पर हाथ फेरते हुए बोले, "मेरी बात सुनो, परीक्षा दो, जो ग्राता हो लिखो। पास-फेल की चिंता तुम्हें नहीं करनी चाहिए। मैं नहीं जानता था तुम्हारे भीतर इतनी सुन्दर वस्तु है।"

मैं भी नहीं जानता था। वह शैतान ग्रौर दुष्ट था इसीसे क्लास में उपेक्षित था। ग्राज मुझे लगा कि सारे स्कूल में इतने श्रेष्ठ प्राणोंवाला लड़का ग्रौर नहीं है। ऐसे एक लड़के का परिचय पाने से मेरा मन ग्रानन्द से भर गया। स्वाधीन भारत की नवीन शिक्षा-योजना में ऐसे कितने किशोरों का परिचय मिल रहा है, इसका हिसाब कौन रखता है।

(१८)

सर्दी की एक सुबह। किसी बुनियादी शिक्षण-महाविद्यालय के एक ग्रध्यापक के साथ बातचीत कर रहा था। उनके घर के सामने ही घास से ढके ग्रांगन में दोनों बैठे थे। कुछ देर बाद १२–१३ साल की एक लड़की ग्राकर ग्रध्यापक से बोली, "बाबू, घर खोल दीजिये, झाड़ दूंगी।"

चाबी निकालते-निकालते वह बोले, 'ग्राज तेरी मां नहीं ग्राई?"

"नहीं बाबू, मां बीमार है, इसीसे मैं ग्राई हूं।"

ग्रध्यापक बोले, "ग्रोह! तो यह चाबी ले ग्रौर घर का ताला खोलकर झाड़ू दे जा।"

समझ गया मेहतर जाति की जो स्त्री ग्रध्यापक महाशय के घर पर झाड़ू देती है, यह लड़की उसीकी है। दो-तीन दिन से ग्रध्यापक महाशय के घर पर ही हूं, इसीसे झाड़ू देनेवाली को पहचानता हूं।

"बाबू"।

हमारी बातचीत में फिर बाधा पड़ी। लड़की का मधुर स्वर सुनकर उधर देखा। ५) रुपये का एक नोट दिखाकर बोली, "यह नोट ग्रापकी खाट के नीचे पड़ा था, बाबू। झाड़ू देने गई तो देखा।"

लड़की के चेहरे पर दृष्टि ग्रटक गई। ग्रध्यापक मेरी ग्रोर देखकर मृदुता से हँसे। फिर वह लड़की से बोले, "ग्रच्छा, उसे मेरे तकिए के नीचे रखती जा।"

फिर वह चली गई। ग्रध्यापक बोले, "लड़की सचमुच ही भली है।"

मैंने कोई उत्तर नहीं दिया। झाड़ू देनेवाली उस किशोरी की ग्रोर देखा। शरीर पर सैंकड़ों जगह से फटा हुग्रा एक मैला-सा फराक था। सर्दी से सारा शरीर सुकड़ रहा था। तेल न लगने के कारण सिर के रूखे बाल हवा में उड़ रहे थे, किन्तु कौन जानता था कि इस गरीब ग्रछूत बालिका के हृदय में इतनी संपत्ति छिपी पड़ी है।

मन में जैसे ग्राशा का प्रकाश भर उठा हो। बहुत दिनों से देख रहा हूं मनुष्य का लोभ ग्रौर पाप, हीनता ग्रौर कंगालपन किन्तु इस किशोरी के तरुण प्राणों में जयदीप्त मानवता की एक ज्योति ग्राज एक नया प्रकाश दे गई कि "भारत संसार में श्रेष्ठ ग्रासन ग्रहण करेगा।"

अनुशासनहीनता बनाम शासन भरमार

●● महात्मा भगवानदीन

अनुशासन का अर्थ इने-गिने ही जानते हैं। यही हाल अंग्रेजी शब्द डिसिप्लिन का है। अनुशासन शब्द का अर्थ है शासन के पीछे-पीछे चलना। अर्थात् सरकार का हुकुम मानना, शासन शब्द में सरकार का भाव कहीं नहीं है। धर्म का शासन भी हो सकता है। माता-पिता और गुरुओं का शासन भी हो सकता है। बड़े भाई का भी शासन हो सकता है। आत्मा का शासन प्रसिद्ध है। वह सर्वोत्तम माना गया है।

डिसिप्लिन शब्द लातानी भाषा का है। डिसिप्लीना का यह एक रूप है। डिसिपूलस का ठेठ हिन्दी अर्थ होगा चेला। शुरू-शुरू में यह शब्द ईसाई मठों में बहुत काम आता था। बाद में यह सरकारी दफ्तरों में भी जा पहुंचा। चेलों से क्या चाहा जाता है, इसका सबको पता है। मराठी में अनुशासन के लिए शिस्त शब्द है। छोटा होने से हमें बहुत प्रिय है। पर यह है शुद्ध फ़ारसी शब्द। वहां दूसरे अर्थों में भी आता है। पर इस शब्द में भी हुकुम मानने की वह सब कड़ाई मौजूद है, जो अनुशासन और डिसिप्लिन में है। मतलब यह कि अनुशासन से मिलते-जुलते सब शब्द पूरी फ़र्माबरदारी चाहते हैं। ऐसी फ़र्माबरदारी जो गुलामी से से भी बाजी मार ले जाय, दासता को पीछे छोड़ दे। अब अनुशासित का अर्थ हो जाता है दास और अनुशासनहीनता का अर्थ हो जाता है दासत्व-विहीन। गुलामी से बरी। अब कहिये अनुशासनहीनता शासन या शासन भरमार के खिलाफ दावा दायर करे तो कहां भूल करती है?

इस लेख को आगे बढ़ाने से पहले हम पाठकों को यह भी जता देना चाहते हैं कि हम इस विषय पर कलम उठाने के पूरे अधिकारी भी हैं। हम एक शिक्षा-संस्था, एक राजकारी संस्था के अलग-अलग समय में सर्वाधिकारी रह चुके हैं। एक से ज्यादा राजकारी आन्दोलन की पूरी बागडोर संभाल चुके हैं। एक कांग्रेसी प्रान्त के सभापति रहने का भी हमें सौभाग्य प्राप्त है। पर हम यह बक क्या रहे हैं? हम तो इस समय अनुशासनहीनता का मुकदमा अपने हाथ में लिये हुए हैं। उसकी वकील की हैसियत से तो हमारी ऊपर बताई हुई योग्यता अयोग्यता सिद्ध होती है। क्योंकि एक तरह हम अनुशासन के पुजारी ही तो रहे। दूसरों से यही तो चाहते रहे कि वे हमारे अनुशासन में रहें। अनुशासनहीनता कितनी प्रिय चीज़ है, इसको हम क्या समझें। जब यह बात है तो इसका मुकदमा हाथ में लेने की क्यों सोचें।

शंका ठीक है, पर हमारा मुकदमा लेना भी ठीक है। कारण यह कि चौथाई शताब्दी से ज्यादा बीत चुका कि हम इस हाकिमी से दूर हैं। अब एक छोटी-सी गृहस्थी संभालते हैं और उसीपर हुकुम चलाते हैं। इसको अगर हम दस अंश दे दें तो नब्बे अंशों में हम अनुशासित ही हैं। इसलिए अनुशासनहीनता हममें से उबल पड़ने के लिए सदा तैयार रहती हैं। कहिये अब तो हम यह लेख लिखने के पात्र हो गये न?

अनुशासनहीनता का सबकी समझ में आनेवाला अर्थ हो सकता है गुन्डई। यह ज़रा गिरा हुआ शब्द है। पर भारत के ज्यादा आदमी गिरी हुई हालत में हैं। इसलिए 'गुंडई' शब्द खटकेगा कम, पसन्द ज्यादा आयेगा। दंगई शब्द गुंडई शब्द का हमजोली है और बालक सब दंगई होते हैं। बालकों का दंगा यानी गुण्डापन क्षम्य होता है, इतना ही नहीं, प्रिय भी होता है। मां-बाप उसके गीत गाते हैं। कवि लोग उसकी तारीफ में काव्य-रचना करते हैं। सूर-तुलसी के मुंह से कृष्ण और राम बालकों के दंगे का वर्णन सुनकर कौन गद्गद् नहीं हो जाता? पर क्या हममें से किसीकी भी इस ओर नज़र गई कि यह सब अनुशासनहीनता का गुणगान है?

लक्ष्मण और परशुराम का संवाद अनुशासनहीनता का नमूना है। मतलब यह कि हमारे पुराण अनुशासनहीनता के जितने उदाहरण पेश करते हैं, उतने कहीं दूसरी जगह नहीं मिल सकते। कठिनाई और भी बढ़ जाती है, जब इस तरह की अनुशासनहीनता को नीची नज़र से देखने की जगह बढ़ावा दिया जाय। पर वैसा होता आया है और हो रहा है। जिस

अनुशासनहीनता की जड़ इतनी गहरी हो, उसके मिटाने का इलाज आसान नहीं हो सकता।

आयेदिन घर-घर में अनुशासनहीनता का पाठ दिया जा रहा है। उसे बुरा नहीं समझा जाता। उसकी गिनती उपयोगी शिक्षण में की जाती है। सबसे बड़ी मुश्किल यह है कि अनुशासनहीनता और अनुशासनपालकता ये दोनों ऐसे ही एक सिक्के के दो पहलू हैं, जैसे संहार और रचना। या जैसे विनाश और उत्पादन। किसीके अनुशासन में रहे बिना किसीके खिलाफ़ अनुशासनहीनता का प्रदर्शन किया ही नहीं जा सकता। घर में जब बालक मां की आज्ञा का उल्लंघन कर रहा होता यानी अनुशासनहीनता बरत रहा होता है, तब बाप के अनुशासन में होता है। बाप की आज्ञा का पालन कर रहा होता है। जब परशुरामजी बाप की आज्ञा से माता के वध पर उतारू होते हैं, तब कौन है जो यह नहीं देख सकता कि अनुशासनपालकता और अनुशासनहीनता दोनों किस तरह पीठ मिलाये खड़ी हैं और ऐसे ही एक हैं जैसे किसी सलाख में बिजली के नरम-गरम दो हिस्से। (पोज़िटिव और निगेटिव)।

अगर हत्यारे को अनुशासनहीन कहा जायगा तो उनको क्या कहा जायगा जो थे तो मामूली आदमी लेकिन सैंकड़ों की हत्या करके राजा बन बैठे। अगर डाकू अनुशासनहीन है तो गांव और देशों की लूटनेवाला अनुशासनहीन क्यों नहीं? पर ऐसे सभी अनुशासनहीन लुटेरे बादशाही का जामा पहन-कर इतिहास में अनुशासन-रक्षक का सिंहासन अपनाये हुए दिखाये गए हैं। क्या इस तरह का सारा इतिहास अनुशासन-हीनता का पाठ देनेवाला नहीं समझा जाना चाहिए? हमारी यह बीसवीं सदी भी ऐसे मनचलों से खाली नहीं। बच्चा सक्का, जो कभी अंग्रेज़ी फ़ौज़ में माश्की की हैसियत से पानी भरने का काम करता था, वह लुटेरा बन जाता है। धीरे-धीरे यात्रियों से कर वसूल करता है। अफ़गानिस्तान के बादशाह अमानुल्ला को गद्दी से उतारकर देश-निकाला दे देता है, खुद अफ़गानिस्तान का बादशाह बन बैठता है। अगर वह उस समय की भारत की अंग्रेजी सरकार से सांठ-गांठ कर लेता तो अनुशासन के सिंहासन की आज भी शोभा बढ़ाता हुआ देखा जा सकता था। अगर आयु उसका साथ न देती तो उसकी औलाद उसकी गद्दी पर होती। जिसने बच्चा सक्का की गद्दी छीनी वह सक्का और सक्कावादियों की नज़र में अव्वल दर्जे का अनुशासनहीन था। और वह ही अनुशासन-रक्षक बन बैठा।

इससे किसीको इन्कार नहीं कि युद्ध और प्रेम में सारे नियम तोड़ दिये जाते हैं, यानी युद्ध-कांड और प्रेम-कांड अनुशासनहीनता के ज्वलन्त उदाहरण हैं, पर इनको लेकर महाकाव्यों की रचना हुई है। साहित्य पर जिधर नज़र डाली जाय; अनुशासनहीनता का गुणगान ही पाया जायगा। सिकन्दर के हमले को ले लीजिये। यूनान के कालिदास भले ही सिकन्दर को रघुवंशियों से भी ऊंचा मानें, पर ईरानियों अफ़गानिस्तानियों और हिन्दुस्तानियों की नज़रों में तो वह अनुशासनहीन ही बना रहेगा। उसने न धर्म का अनुशासन माना, न नीति का अनुशासन माना, न आत्मा का अनुशासन माना। उसने सिर्फ उस मूज़ी नफ्से अम्मार का शासन माना जिसे शैतान के नाम से पुकारा जाता, यानी उसने सिर्फ राज्य-लिप्सा की बात सुनी किसी दूसरे की नहीं। उसके नियुक्त गवर्नर सैल्यूकस को मार भगानेवाला चन्द्रगुप्त यूनानियों की नज़रों में अनुशासनहीन ही जंचेगा, पर हम हिन्दुस्तानियों की नजरों में धर्मानुशासन-रक्षक।

अशोक कलिंग पर हल्ला बोल देता है। यह किसकी अनुशासनपालकता थी? राज्य-लिप्सा की। पर यह साफ धर्म और नीति की अनुशासनहीनता थी। बुरा न लगे वह गिरा हुआ शब्द यहां आप मन-ही-मन दोहरा सकते हैं। और अशोक इतिहास में कहां हैं? महानता के सबसे ऊंचे शिखर पर विराजमान और आज की भारत सरकार का वह सिंहासन घेरे हुए जो पूज्य और प्रतिष्ठित माना जाता है। रही अशोक के शेष जीवन की साधुता और परोपकारिता वह उसकी अपनी न थी। वह उस धाक पर स्थित थी, जो उसने एक लाख आदमियों को तलवार के घाट उतारकर और डेढ़ लाख को कैद करके जमाई थी। बेदाढ़ और पंजोंवाला बूढ़ा शेर भी केदार कंकन हाथ में पहन लेता है, उस धाक के बूते जो उसने जवानी में जमाई होती है। अनुशासनहीनता से पिंड छुड़ाने के लिए इतिहास को दूसरी दृष्टि से ही पढ़ना पड़ेगा।

इतिहास में अकबर महान् है। और वह अकबर जिसकी मरते दम तक अपने बेटे सलीम से नहीं बनी। अपने मृत बड़े बेटे के ही गीत गाया किया। अकबर महान् क्योंकि उसने

धर्म और नीति के खिलाफ़ अनुशासनहीनता का नाटक खेल कर हिन्दुस्तान के बहुत बड़े भाग पर एकछत्र राज्य स्थापित कर दिया। इस नृशंस इतिहास को बाबर महान् न दिखाई दिया, जिसने अपने बेटे की खातिर नीति की राह में प्राण विसर्जन कर दिये। सब राजाओं के इतिहास अनुशासनहीनता से भरे हुए मिलेंगे। और लोग हैं कि उनके गीत गाये जा रहे हैं। आज भारत से राजा नामशेष कर दिये गए। अनुशासनहीन थे तभी न? पर हमारे शासन भारवाही हैं कि उनकी मूर्तियां खड़ी करते फिर रहे हैं। उनकी जय बोलने में आनन्द मना रहे हैं। क्या यह अनुशासनहीनता नहीं है? शराब न पीने की प्रतिज्ञा लेकर शराब की घर में धरी बोतल को बेचते फिरना या किसीको दान में देना अनुशासनहीनता ही होगी, खुली गुंडई समझी जायगी। उस शराब को जला डालना ही अनुशासनपालकता हो सकती है। उसकी तो बोतल को भी तोड़कर जमींदोज़ कर देना चाहिए, इतना लालच छोड़े बिना शराब न पीने का व्रत नहीं निभ सकेगा। किसे नहीं मालूम सन् १९२१ में जब हमने अंग्रेजी कपड़े का बाइकाट किया था, तब उसे जलाया था, जलाया। लालच में आकर उसे विदेश भेजकर उसके दाम नहीं उठाये थे। जिन बड़े-बड़े नेताओं ने जलाना पाप समझा था और बेचना ठीक समझा था वे असहयोग के मैदान में जल्दी ही डगमगा गये थे। और यह सब तमाशा था उनकी अनुशासनहीनता का।

अनुशासनहीनता स्वयं कोई बुरी चीज़ नहीं, क्योंकि वह अनुशासनपालकता का आवश्यक अंग है। बुरा है उसका हद से ज्यादा बढ़ जाना। याद रहे अनुशासनपालकता भी जब सीमा लांघ जाय तो दुःखदायी हो उठती है, और इतनी ही दुःखदायी जितनी अनुशासनहीनता। हमारा अपना अनुभव है कि बालकों को जितना अनुशासनहीन रखा जायगा अठारह बरस के होने पर वह आपोंआप अनुशासनपालक बन जायंगे। अगर छुटपन में बच्चों पर अनुशासन-पालकता का भार जरूरत से ज्यादा लाद दिया गया तो वह अठारह बरस के होकर काबू से बाहर हो जायंगे और पक्के अनुशासनहीन बन जायंगे। इस नियम के अपवाद हो सकते हैं, पर अपवाद नियम की सिद्धि करते हैं। यह कहकर हम एक बड़ी अनोखी और भयानक बात कहने जा रहे हैं। संभव है, हमें उसका कोई समर्थक न मिले, अनुमोदक की तो बात ही क्या? वह बात यह है कि हमारे बॉय स्काउट और गर्ल गाइड ही आगे चलकर अनुशासनहीनता का नाटक खेलते हैं। वे अनुशासन से इतने दब गये होते हैं कि उसे उठा फेंकने में वे जान पर खेल जाने को भी आनन्द मानने लगते हैं। यही हाल फौजी सिपाहियों का उस वक्त होता है जब आमने-सामने लड़ाई होती है। उस समय राइट-लैफ्ट की अनुशासनपालकता छोड़ सब नियम भुलाकर मैदान में कूदकर जान देने में सिपाही आनन्द मानता है। और वही अनुशासनहीनता विजय का कारण बन बैठती है।

बॉय स्काउट-आंदोलन जिस समय आयरलैंडवासी पोवेल ने शुरू किया उस समय युद्ध चल रहा था। छोटे-छोटे बालकों से काम लेने की ज़रूरत थी। उस समय जोकुछ हुआ ठीक हुआ। चीनियों और कोरियावासियों ने भी ऐसा ही किया था। पर उसको हमेशा के लिए संस्था बना बैठना खतरे से खाली नहीं हो सकता। यह किसे नहीं मालूम बारह बरस गुरुकुल में रहकर चार बजे उठनेवाले विद्यार्थी गृहस्थ बनकर गर्मियों में छः बजे उठते हैं और जाड़ों में आठ बजे। अपवाद इनमें भी मिलेंगे।

एक और सुनिये! सत्याग्रह हमारा दिया हुआ नाम है। हम इसको और भी सुन्दर नाम दे सकते हैं। जैसे—धर्मकृत्य, ईश्वरार्थ कृत्य इत्यादि। कौन मां अपने बेटे को राजा कहकर नहीं पुकारती। पर सत्याग्रह का सीधा-सादा नाम है सिविल नाफ़रमानी, सिविल डिसओबिडिअन्स, सविनय अवज्ञा इत्यादि। हमारी नज़रों में सत्याग्रह कुछ भी रहा करे, अंग्रेज शासकों की नज़र में तो वह अनुशासनहीनता थी, दण्डनीय थी। ऐसे ही उसका दण्ड दिया जाता था जैसे आज की सरकार अनुशासनहीन विद्यार्थी को दे रही है। अनुशासनहीन विद्यार्थी अपनेको ऐसे ही अनुशासन-पालक समझते हैं जैसे सन् इक्कीस में हम सब अंग्रेजों की नज़रों में अनुशासनहीन अपनेको अनुशासन-पालक समझते थे। कांग्रेस हमारी सरकार थी। उसका एक प्रेसीडेंट था या उसका एक डिक्टेटर होता था। उसके अनुशासन में हम काम करते थे। डिक्टेटर का गिरे हुए शब्दों में अर्थ है तानाशाह। पर सत्याग्रह की डिक्शनरी में उसका अर्थ मिलेगा फर्स्ट सर्वेन्ट, यानी प्रथम सेवक या सेवक नम्बर

अव्वल।

आज जो अनुशासनहीनता देखने में आ रही है, वह उसी वृक्ष का फूल या कांटा है, जिसे हमने सन् २१ में अनुशासनपालकता नाम दिया था या सत्याग्रह के नाम से पुकारा था।

जलियांवाला बाग कांड का हत्यारा डायर या अव्वल दर्जे का अनुशासनहीन अंग्रेज़ों की नज़र में अनुशासन-पालक नम्बर एक समझा गया। बर्तानियावासियों ने करोड़ों की थैली उसके चरणों में पटक दी, जिससे साबित है कि हर अनुशासनहीनता दूसरे की नज़र में अनुशासन-पालकता होती है। और यह भी समझ लेना चाहिए कि जैसे-जैसे शासन-प्रियता बढ़ती जायगी, शासन-भार बढ़ता जायगा, वैसे-वैसे अनुशासनहीनता बढ़ती जायगी। गोलियां इस प्रचंड अग्नि के लिए सदा आंधी सिद्ध होती रहेंगी। अगर जापान की पुलिस अनुशासनहीनों का मुकाबला पानी के पम्प, लाठियों और आंसू गैस से कर सकती है तो भारत की पुलिस को क्यों गोली चलाने का उत्साह दिखाने के लिए बाध्य होना पड़ता है? और क्यों हद से ज्यादा अनुशासन-पालकता का प्रमाण पेश करना पड़ता है? इसका एक ही कारण है शासन का हद से ज्यादा गुजर जाना और शासन-भार का हद से ज्यादा बढ़ जाना।

हमारी सलाह है :

भारत की सरकार शासन-शक्ति को बखेरना शुरू कर दे, शासन-भार को कम कर दे, अनुशासनहीनता का रोना छोड़ दे और फिर वह कुछ ही दिनों में देखेगी कि अनुशासन-हीनता यानी गुंडई उस सीमा के अंदर आ गई है, जिस सीमा में रहकर वह शासन-बाधक न रहकर शासन-सहायक हो बैठी है।

●

(पृष्ठ २०४ का शेष)

गुरु : "आयुष्मन्! यत्नापूर्वक चलने से, यत्नापूर्वक खड़े होने से, यत्नापूर्वक बैठने से, यत्नापूर्वक लेटने से, यत्नापूर्वक भोजन करने से और यत्नापूर्वक बोलने से पाप बन्ध नहीं होता।[२]"

सारांश यह है कि सत्पुरुषों का खाना, पीना, चलना, उठना, बैठना आदि जीवन-क्रियाएं, जो अहिंसा-पालन की दृष्टि से सजगतया की जाती हैं, वे सब अहिंसात्मक ही हैं।

७. अहिंसा त्याग में है, भोग में नहीं है। अहिंसा आत्मा का गुण है। अहिंसा से हमारा कल्याण इसलिए होता है कि वह हमें हिंसा के पाप से बचाती है और हमारा कल्याण वही है कि हम अपनी असत् प्रवृत्ति के द्वारा किसीको भी कष्ट न पहुंचायें और न मारें। हम नहीं मारते हैं, वह अहिंसा है किन्तु हमारी अहिंसात्मक प्रवृत्ति के द्वारा जो जीव जीवित रहते हैं, वह अहिंसा नहीं है।

चोर चोरी नहीं करता, वह उसका गुण है; किन्तु चोर के चोरी न करने से जो धन सुरक्षित रहता है, वह उसका गुण नहीं है। एक व्यक्ति अपनी आशाओं को सीमित करता है अथवा उपवास करता है, उसे उपवास करने का लाभ होता है, परन्तु उसके उपवास करने से जो खाद्य पदार्थ बचे रहते हैं, उनसे उसकी कोई आत्मा शुद्धि नहीं होती।

---

२. **जयं चरै, जयं चिट्ठे, जय मासे जयं सए।**
जयं भुंजतो भासंतो पावकम्मं न बंधई॥
—दशवैकालिक ४।८

●

हिम्मत के पांव धरो

सुधेश

कटुतम सत्यों के ठोस धरातल पर
तुम स्वप्न नहीं हिम्मत के पांव धरो।

(१)

जीवन बस मजबूरी का नाम नहीं,
घर बैठे रोना इसका काम नहीं,
बढ़ते जाओ अनजानी राहों पर
मंजिल के पहले तो आराम नहीं;

पापिन जड़ता का साथ निभाओ ना
गतिशील चरण ले जिस पथ पर विचरो।

(२)

जिन्दगी परीक्षा है, क्यों घबराते,
कुछ मुश्किल प्रश्नों से क्यों कतराते,
आसान बड़ी मुश्किल हो जाएगी
तुम चलो अगर कुछ गाते मुसकाते;

यों चेहरे को मनहूस बनाओ ना,
हंसकर कठिनाई का आह्वान करो।

(३)

मत करो शिकायत, ज्यादा अगर जलन,
तुम सहन करो यदि पीड़ा अधिक सघन,
यह काला बादल खुद छंट जाएगा
उभरेगी जब सूरज की एक किरण;

अब मरघट का संगीत सुनाओ ना,
मुर्दा-दिल में जीने का चाव भरो।

गुरु-परम्परा

●● काका सा. कालेलकर

हमारी संस्कृति में और जीवन-साधना में गुरु का स्थान असाधारण है। हम भगवान् के लिए जो कहते हैं, वह गुरु के बारे में भी मानते हैं कि कर्तुम्, अकर्तुम् और अन्यथा कर्तुम् शक्ति गुरु की ही है। उपनिषदों में और पुराणों में गुरु के बारे में जो लिखा है, इतना और किसी भी देवता या अवतारी पुरुष के बारे में शायद ही लिखा होगा। बाद में सन्तों ने तो गुरुभक्ति और गुरुमहिमा बढ़ाने की पराकाष्ठा की है।

ऐसे गुरुमाहात्म्य में अक्सर मोक्ष की साधना बतानेवाले और उस साधना को सिद्ध करने की शक्ति देनेवाले आध्यात्मिक गुरु की ही बात आती है। लेकिन विद्या और कला सिखानेवाले गुरु का माहात्म्य भी कम नहीं है।

पुराणों में अवधूत दत्तात्रेय के चौवीस गुरु बताये हैं। इनमें से हरएक गुरु ने जीवन के किसी-न-किसी एक मार्के के सिद्धान्त की ओर दत्तात्रेय का ध्यान खींचा और कृतज्ञ दत्तात्रेय ने उस सेवा के कारण उन्हें अपना गुरु माना।

हमारी संस्कृति में जो विचार, रिवाज या संस्था जनमानस में और जनजीवन में बद्धमूल हुए हैं, उनमें गुरु की आवश्यकता और गुरुपरम्परा का महत्व विशेष है। तर्क-कर्कश, ज्ञान मार्गी और कुछ हद तक बुद्धिवादी शंकराचार्य भी जब गुरुमाहात्म्य का वर्णन करते हैं तब मानो आर्य हृदय को ही व्यक्त करते हैं।

शान्ता महान्तो निवसन्ति सन्तो वसन्तवल्लोकहितं चरन्तः।
तीर्णा स्वयं भीम भवार्णवं जनता अहेतुनान्यानपि तारयन्तः।

और भी फिर कहते हैं—

दृष्टान्तो नैव दृष्टाः इ०

अध्यापनकला का जब विकास नहीं हुआ था, सहायक ग्रन्थ भी दुष्प्राप्य थे, और सारा ज्ञान गुरुमुख से ही प्राप्त होता था तब जो गुरु का माहात्म्य था, वह परिस्थितिवश था। परिस्थिति बिलकुल बदल गई है। आदर्श शिक्षकों के रसप्रद प्रवचन जैसे-के-तैसे छपे हुए मिलते हैं। ऐसी हालत में गुरु का वह महत्व न रहा, जो अति संक्षिप्त सूत्रों के मौखिक विवरण करने के दिनों में था।

तो भी विद्यार्थी की योग्यता और भूमिका समझकर उसे व्यक्तिगत सहायता देनेवाले शिक्षक की आवश्यकता अभी कम नहीं हुई है। शिष्य को पहचानकर उसीके लिए खास विवरण करनेवाले अध्यापक न मिले तो जाति की ज्ञानोपासना कच्ची ही रह जायगी। इसलिए हर जमाने में, हर जाति में और हर देश में गुरु की आवश्यकता है ही।

यह हुई विद्या-गुरु की और कला-गुरु की यानी उस्तादों की बात। लेकिन अध्यात्म के क्षेत्र में, आत्म-शक्ति प्राप्त करने की साधना में गुरु की आवश्यकता अलग होती है, उसका माहात्म्य भी और ढंग का होता है।

अंग्रेजी में प्राचीन काल में विद्योपार्जन की पद्धति को व्यक्त करनेवाले दो शब्द हैं। डॉक्टर (उस्ताद) और डिसायपल (शागिर्द)। ज्ञान-साधना में जो सिद्धान्त तक पहुंच गया है, डॉक्ट्रीन के आकलन में तथा प्रचार में प्रवीण हुआ है वह है डॉक्टर यानी उस्ताद और ऐसे डॉक्ट्रीन की दीक्षा पाने के लिए, उसका चिंतन करने के लिए जो साधना या तालीम, डिसीप्लीन जरूरी है, उसका स्वीकार जिसने किया है वह है, डिसायपल। अध्यापक होता है सिद्धान्त वागीश और शिष्य होता है साधना-प्रसक्त।

गुरु का प्रवचन, उसका विवरण और उसकी दी हुई नसीहत दत्त-चित्त होकर एकाग्रता से सुनना यह थी शिष्य की तैयारी। इस तैयारी को—श्रद्धा और तत्परता से सुनने की तैयारी और तत्परता को कहते थे शुश्रूषा (श्रु=सुनना)। बाद में देखा गया कि गुरुवाणी का प्रवाह चिन्तामुक्त होकर अस्खलित चले, गुरु अपनी विद्या वात्सल्यभाव से प्रेरित होकर प्रदान करे, इसलिए गुरु की और गुरु के घर की प्रत्यक्ष सेवा करना हर तरह से उपयोगी है। सेवा प्राप्त करके प्रसन्न हुआ गुरु चित्तशाठ्य के बिना ज्ञान वैसा ही देता है, जैसे गाय अपने बछड़े को देखकर प्रेम से पेन्हाती है। और शिष्य भी सेवा करते-करते गुरु के साथ और गुरु की जीवन-दृष्टि के साथ उस समय के लिए ऐसा तद्रूप हो जाता है कि गुरु का कहा हुआ समझते और उसका स्वीकार करते उसे तनिक भी कठिनाई नहीं होती। शुश्रूषा शब्द में इस उभयविध भाव का अन्तर्भाव होता है। (हमारी संस्कृति में ब्रह्मचर्य और शुश्रूषा

ये दोनों शब्द कितने अर्थघन है, इसका उत्कट मनन होना चाहिए। और साथ-साथ अन्तेवासी और छात्र शब्द भी लेने चाहिए।)

विद्या पाने के लिए गुरु की जितनी आवश्यकता है, इससे भी अधिक आवश्यकता है गुरु-शुश्रूषा की कला में प्रवीणता हासिल करने की।

अध्यात्म-क्षेत्र ऐसा अद्भुत है कि जिसमें विद्या और कला दोनों का संबंध समन्वय होकर वे अखण्डैकरस बनते हैं। अध्यात्म के क्षेत्र में ज्ञान का अर्थ केवल जानना नहीं है। जानना, पाना और होना सब का उसमें अभेद होता है। इसलिए अध्यात्मसाधना में गुरु की आवश्यकता करीब-करीब अपरिहार्य है। वहां ज्ञान, ज्ञानप्राप्ति की साधना और ज्ञान-प्राप्ति के बाद सिद्ध होनेवाली शक्ति तीनों एकरूप हो जाते हैं। उसीको अधिक योग्य शब्द के अभाव में साक्षात्कार कहते हैं। यह सारा भाव व्यक्त करने के लिए प्राचीन लोगों ने एक सुन्दर कहावत जारी की—चिराग से चिराग जलता है। सिर्फ दीपदान, तेल और बाती होने से दिया नहीं जलता। ज्वाला का सम्पर्क आवश्यक है। इसी तरह जिसे साक्षात्कार हुआ है और जिसमें आत्म-तेज प्रकट हुआ है, ऐसे अनुभवी पहुंचे हुए सिद्ध व्यक्ति का सहवास, आशीर्वाद और दीक्षा आवश्यक है। आशीर्वाद के बिना शिष्य में आत्मविश्वास पैदा नहीं होता। और उसमें सिद्धियां भी प्रकट नहीं होतीं। इसलिए गुरु की आवश्यकता मानी गई है। उसके आत्म-विश्वास की संक्रान्ति शिष्य में तभी होती है जब वह गुरु से दीक्षा पाता है।

और अद्भुत बात यह है कि इस तरह गुरु के द्वारा कृतार्थ होकर शिष्य के ऊपर कभी-कभी गुरु के साथ अभेद और अद्वैत सिद्ध होता है और शिष्य कहता है कि मैं हूं ही नहीं, जो है सो गुरु ही है। जो मैं कह रहा हूं वह गुरु की ही वाणी है। शिष्य के मन में यह शंका नहीं उठती कि अपनी मर्यादा के कारण गुरु के प्रति मैं अन्याय नहीं कर रहा हूं? ऐसा कहने में कि मेरी कृति मेरे गुरु की ही कृति है अपनी कृति के दोष भी गुरु के सिर पर तो मैं नहीं लाद रहा हूं? ऐसा खयाल भी शिष्य के मन में नहीं आता।

(सिख गुरुओं ने जितने भजन बनाये सबके-सब गुरु नानक के नाम चढ़ाये। भजन में अंत में 'कहे नानक' ही आयेगा। तो भी गनीमत है कि कौन-सा भजन किस गुरु का है इसका पता लग सकता है। सिन्धी में जिस कविता-संग्रह को 'सामीकी कविता' कहा जाता है वह सब-की-सब सामी के शिष्य की लिखी हुई है। उसमें गुरु का एक अक्षर भी नहीं है। ग्रीक फिलसुफ अफलातून (प्लेटो) ने अपने विचार अपने गुरु के नाम ही लिखे हैं। गुरु-शिष्य-सम्वाद में साक्रेटीस के नाम जो विचार उसने दिये हैं, उसमें विचार और भाषा प्लेटो की ही है। हमारे देश में सन्त कवियों का रिवाज ही है कि अपने काव्य में सारा श्रेय गुरु को ही दिया जाता है।)

कृतज्ञता हमारी जाति का एक उत्तम गुण है। कभी-कभी अतिरेक भी होता है। गुरु के प्रति कृतज्ञता व्यक्त करके शिष्यों में आत्मसमर्पण-भाव बढ़ता जाता है और आत्मसमर्पण साधना का एक उत्तम प्रकार भी है, जिसे भक्ति की भाषा में 'आत्मनिवेदन' कहते हैं। अदृश्य और निराकार भगवान को अपना सर्वस्व अर्पण करना आसान नहीं है। किन्तु गुरु को तो सब-कुछ दिया जा सकता है और गुरु को भगवान् की ही मूर्ति मानने के बाद स्वात्मार्पण प्रत्यक्ष रूप से सिद्ध हो सकता है और सन्तोष भी देता है।

ऐसे भी उदाहरण पाये गए हैं कि आत्मार्पण की साधना शिष्य को समझाने के बाद शिष्य गुरु से पूछता है कि गुरु-पूजा कैसी करनी चाहिए मैं नहीं जानता। यह सब सिखाने का काम आपको ही करना पड़ेगा। हर तरह की शिक्षा और उपदेश देने का बोझा सिर पर लेने के बाद गुरु इस कर्तव्य से मुक्त नहीं हो सकता। स्वयं अपने गुरु की भक्ति और पूजा कैसे की इसका वर्णन करके गुरु अपने शिष्य को कल्पना दे सकता है और शिष्य की ओर से की जानेवाली सेवा-पूजा सहन कर सकता है।

भक्ति की साधना का विवरण करनेवाले लिखते हैं कि शिष्य ने सर्वस्व अर्पण करने के प्रयत्न में अगर न करने की बात की तो शिष्य को उसका पाप नहीं लगता। अपनी कम योग्यता या अपनी मर्यादाएं न समझते हुए अगर गुरु ने सेवा का स्वीकार किया तो उसका पाप शिष्य को नहीं, गुरु को लगता है और कभी-कभी गुरु भी कहते हैं और सचमुच भी मानते हैं कि स्वयं केवल निमित्त मात्र हैं। शिष्य की सेवा और पूजा भगवान् तक पहुंचाने के वाहन का काम ही स्वयं करते हैं।

(ऐसे भी सम्प्रदाय हैं, जो कहते हैं कि शिष्य का सर्वस्व-समर्पण गुरु की योग्यता पर अवलम्बित नहीं है। और आत्म-निवेदन में पाप का लेश भी नहीं आ सकता। जिस तरह शादी होते ही लड़की मायके का सर्व संबंध तोड़ती है और पति की बन जाती है, उसी तरह जब शिष्य गुरु का स्वीकार करता है, दुनिया के सब संबंध तोड़कर या गौण बनाकर गुरु को अपना सर्वस्व अर्पण कर देता है। जिस तरह समाज ने विवाह का संबंध स्वीकार किया है, उसी तरह गुरु-शिष्य का संबंध भी समाज को मान्य करना चाहिए।

यह बात कहांतक योग्य है, इसकी चर्चा इस वक्त नहीं करनी है।)

सन्त-साहित्य में और लोक-साहित्य में भी गुरु-शिष्य संबंध के दुरुपयोग का काफी वर्णन है। धन-लोभी, अधिकार-लोभी और प्रतिष्ठा-लोभी गुरुओं ने शिष्यों को कैसे ठगा इसके वर्णन तो हैं ही। जैन-साहित्य में बुद्धिमान् और जड़, सरल और वक्र ऐसे स्वभाव के कारण चार प्रकार के शिष्य बताये हैं। इनमें जड़ और वक्र अधम कोटि के होते हैं।

हमारे देश में जिस तरह राजाओं की प्रतिष्ठा उनके राज्य-विस्तार पर से, उनकी आमदनी पर से और फौज पर से होती थी, किसानों का महत्व उनके भूमिधन और गोधन पर से होता था, वैसे ही बड़े-बड़े मठपतियों की प्रतिष्ठा उनके कितने हजार शिष्य हैं इसपर से होती थी। गुरु-शिष्य के संबंध को बढ़ानेवाली गुरु-संस्था का विस्तार जैन, बौद्ध, वेदान्त और भक्तिमार्ग में बहुत हुआ। सिख-सम्प्रदाय तो इसी संस्था पर निर्भर है।

व्यवहार के क्षेत्र में वैदक, संगीत, चित्रकला, सूपशास्त्र (खाने के अच्छे-अच्छे पदार्थ बनाने की कला), मूर्ति-विधान, वास्तु-विद्या (गृह-रचना और नगर-रचना), आदि कलाओं में गुरु-शिष्य का संबंध अत्यन्त महत्व का था। शिष्य जब तक गंडा-तावीज बांध कर उस्ताद का शागिर्द नहीं बनता था, विद्या नहीं मिलती थी और गुरुभाइयों से आत्मीयता की सेवा भी नहीं मिलती थी। संगीत में आज भी गायकी किस घराने की है, इसकी तलाश की जाती है और उसीपर प्रतिष्ठा मुकर्रर होती है।

अध्यात्म के क्षेत्र में हमारे यहां दो विचार स्पष्ट हैं। एक विचार कहता है कि गुरु की दीक्षा के बिना न ज्ञान मिलता है, न सिद्धि हासिल होती है।

दूसरा पक्ष कहता है कि गुरु मिलने से सहूलियत होती है सही, किन्तु गुरु करना या मिलना अपरिहार्य नहीं है, आवश्यक नहीं है। बुद्ध भगवान् ने प्रारम्भ में दो या अधिक गुरुओं के पास से दीक्षा लेकर उपदेश पाया था सही, लेकिन उससे उनको सन्तोष नहीं हुआ। आगे जाकर उन्होंने अपने ही बल पर केवल चिन्तन, ध्यान और समाधि के द्वारा बोधि यानी ज्ञान प्राप्त किया। वह सम्यक् संबुद्ध हुए। गुरु के बिना ही वह अर्हत्-पद को पहुंचे और निर्वाण-पद प्राप्त कर सके।

याज्ञवल्क्य ने अपने अति उत्साह और गुरुभक्ति के कारण गुरुभाइओं का अपमान किया। गुरु को यह घमंड अच्छा नहीं लगा। उसने याज्ञवल्क्य से दी हुई दीक्षा वापस मांग ली। याज्ञवल्क्य ने गुरु की विद्या लौटाई। वह निष्प्रभ हुए। लेकिन उग्र तपस्या करके भगवान् सूर्यनारायण के पास से उन्होंने शुक्ल यजुर्वेद पा लिया और उनकी अलग शिष्य-शाखा बनी। उपनिषदों में जो अनेक विद्याएं बताई गई हैं, उनके अंत में शिष्य-परम्परा का वंश पाया जाता है।

इधर टैगोर रवीन्द्रनाथ कहते हैं कि अध्यात्मक्षेत्र एक तरह का अज्ञात क्षेत्र ही है। इसमें कोई किसीका गुरु हो नहीं सकता। हरएक अनुभवी आदमी दूसरे को कुछ-न-कुछ मदद पहुंचा ही सकता है। किन्तु गुरु तो कोई किसीका हो नहीं सकता।

महात्मा गांधी ने अपनी साधना का स्पष्टीकरण करते हुए कहा था कि मैं गुरु की खोज में हूं। लेकिन मेरे गुरु प्रत्यक्ष भगवान् ही हो सकते हैं।

यह भूमिका सबसे अच्छी है। मदद तो किसीसे भी ली जा सकती है। ऐसी मदद के लिए हम कृतज्ञ भी हो सकते हैं। लेकिन भवबंधन से मुक्त करनेवाला, सब तरह की सिद्धि देनेवाला और मोक्ष का अधिकारी बनानेवाला गुरु तो प्रत्यक्ष भगवान् ही हो सकते हैं।

भक्त लोग इसी चीज को दूसरे रूप में व्यक्त करते हैं। मुमुक्षा की विह्वलता यानी तड़प जब बढ़ती है तब हर तरह की मदद पहुंचाने का भार भगवान् के सिर आ जाता है। और भगवान् कुछ-न-कुछ प्रबन्ध कर ही देते हैं।

●

सह-अस्तित्व

●● वेदप्रकाश 'वटुक'

उस दिन हमें एक मित्र के यहां जाने का अवसर मिला। वह मित्र, पश्चिम के अन्य जनों की भांति पशु-पक्षी प्रेमी हैं। यह तो कोई आश्चर्य की बात नहीं, आश्चर्यजनक बात तो है कि तोता, बिल्ली और कुत्ता—ये तीन जन्मजात शत्रु स्नेहभाव से रहते ही नहीं, परस्पर क्रीड़ा से एक-दूसरे का मनोरंजन भी करते हैं। गृह-स्वामिनी के अनुसार वे प्रातःकाल परिवार के अन्य जनों के भांति पारस्परिक चुम्बन द्वारा मूक "गुड मार्निंग" और रात्रि में शयन से पूर्व "गुड नाइट" करते हैं।

इस बात से याद आई दादी की कहानी, जिसमें कहा था कि विक्रमादित्य के राज्य में शेर-बकरी एक घाट पर पानी पीते थे। यह उनकी न्यायपरायणता का उदाहरण था। हो सकता है उसमें अतिशयोक्ति रही हो, पर सर्कस में शेर सचमुच बकरी के साथ पानी पीते देखे गये हैं। अन्तर एक है अवश्य उपर्युक्त दो उदाहरणों में और सम्भवतः बहुत बड़ा। जहां एक ओर शेर-बकरी के पीछे सर्कस के आदमी का 'हन्टर' रहता है, वहां ये जन्तु—तोता, बिल्ली और कुत्ता—गृहस्वामिनी की स्नेहमय अहिंसक पुचकार और कोमल कर के स्पर्श से साथ रह रहे हैं। सहअस्तित्व की ये दो प्रक्रियाएं हैं।

आशय? यही कि मानव अपनी बुद्धि से दूसरे शत्रु माने जानेवाले प्राणियों के सहअस्तित्व का जनक है। दोनों प्रकार—भय से, स्नेह से।

किन्तु कितनी बड़ी विड़म्बना है कि मानव की वही शक्ति सह-अस्तित्व का तो प्रश्न ही क्या, परस्पर स्नेहभाव रखनेवाले पर भौगोलिक, आर्थिक, राजनैतिक, क्षेत्रों में वंटे, मानवों को मिटाने का प्रयत्न युगों से कर रही है।

विश्व के सह-अस्तित्व की बात तो दूर, प्रगति की चरम सीमा पर पहुंचे मानव-समाज में परिवार के दो प्राणियों का, 'स्वजनों' का, सह-अस्तित्व भी एक दुराशामय प्रश्न चिह्न बन गया है।

क्या मानव की बौद्धिकता का सृजन स्वनिर्माण के साथ उससे अधिक विनाश के लिए तो नहीं हुआ? प्रगति और विज्ञान, मस्तिष्क की सूक्ष्मता जीवन की सौख्यपूर्ण शान्ति देगी या मानसिक पीड़ा से उद्‌भूत प्रलय की शांति?

●

लघुकथाएँ

पाषाणों की उपेक्षा से पिसा कुसुम जबतक अपनी पीड़ा कहता रहा, तबतक उसे लगा कि वे हृदयहीन हैं—कठोर, और वह स्वयं सबसे अधिक पीड़ित और उपेक्षित।

पर जब एक दिन उसकी पीड़ा सुनते-सुनते पाषाण पिघलकर अपनी पीड़ा सुनाने लगे, तो वह सुन न सका, रो न सका; और इससे पूर्व कि वे अपनी मर्म-व्यथा पूरी करते, वह मुरझाकर पृथ्वी पर गिर पड़ा।

उसे क्या पता था कि पीड़ा सहते-सहते ही तो उनका हृदय पाषाण हो गया था।

... ...

बाहर से लिपे-पुते मंदिर को देखकर श्रान्त, आश्रयहीन, पीड़ित पथिक एक क्षण के लिए रुका और मानों पूछबैठा, "कुछ क्षणों के लिए आश्रय मिलेगा?"

मंदिर को न बोलना था, न सुनना, मानों उसे कुछ परवाह न थी।

पथिक भीतर गया, पर वहां बैठने को कहीं तिलभर स्थान न मिला।

और तभी टूटी छत से तरतराहट की कुछ ध्वनि आई और पथिक दब गया सहमा-सा।

उसे क्या पता था कि मंदिर में खंडहर ही शेष हैं, जो अपनी-सी व्यथा पाकर और भी जीर्ण हो जायंगे।

पर उसे संतोष था कि दोनों की व्यथाएं एकसाथ धूल में मिल गई थीं।

किसीकी पीड़ा कोई पीड़ित ही तो समझेगा।

●

तमिल-कोशकार श्री एस. वैयापुरी पिल्लई

●● अवनीन्द्रकुमार विद्यालंकार

बीसवीं शती के तमिल साहित्य-सेवियों में श्री एस. वैयापुरी पिल्लई का स्थान अद्वितीय है। तमिल साहित्य की अभिवृद्धि के लिए, तमिल का ज्ञान-क्षेत्र विस्तृत करने और तमिल साहित्य के अनुसंधान के क्षेत्र में आपका कार्य अद्वितीय रहा है और सदा अविस्मरणीय रहेगा।

वैयापुरी पिल्लई का जन्म तिरूनवेली में १८९१ ई० में हुआ। आपके माता-पिता कट्टर शैव थे। अतः आपका लालन-पालन शैव धार्मिक संगीत की मधुर लहरियों के मध्य हुआ। एफ० ए० तक आपका अध्ययन स्थानीय हिन्दू कालेज (नया नाम एम० डी० टी० हिन्दू कालेज) में हुआ। बी० ए० की पढ़ाई के लिए आप मद्रास गये। वहां आपने क्रिश्चियन कालेज चुना। यहां आपने तमिल भाषा में, सम्पूर्ण मद्रास प्रेजीडेंसी (मद्रास, आंध्र और मालाबार पहले मद्रास प्रेजीडेंसी में थे) सर्वोच्च स्थान पाया। प्रथम स्थान आने से आपकी कीर्ति शीघ्र ही फैल गई।

कानून पढ़ने का संकल्प करने पर आप मद्रास से त्रिवेन्द्रम पहुंचे। त्रिवेन्द्रम लॉ कॉलेज से आपने 'बी० एल०' की डिग्री हासिल की। वकालत भी प्रारंभ में यहीं की। आजीविका के लिए कानून को आपने चुना, किन्तु त्रिवेन्द्रम रहते हुए तमिल साहित्य का अध्ययन करना नहीं भूले। आपने अपना सारा ध्यान इस भाषा का गहन ज्ञान प्राप्त करने पर केन्द्रित रखा। त्रिवेन्द्रम छोड़कर जब आप तिरुनवेली वापस गये, तो तमिल-साहित्य और भाषा के अध्ययन और मनन पर और अधिक ध्यान दिया। यहां आपके गंभीर अध्ययन से प्रभावित होकर साहित्य-प्रेमी एक युवक-मण्डली आपके पास आ जुटी। आपके अनुसन्धान कामों और पठन-पाठन को इससे और अधिक बल मिला। आपके अध्ययन का प्रिय विषय था: तमिल साहित्य, और विशेषतः 'कम्बन' की रामायण। 'कम्बन' की रामायण का तमिल साहित्य में वैसा ही आदर और मान है, जैसा कि बंगला में कृत्तिकादास और चण्डीदास की रामायण और महाभारत का और हिन्दी में तुलसी रामायण का है।

मद्रास विश्व-विद्यालय ने १९२० में एक वृहत् तमिल कोश तैयार करने और छापने का बीड़ा उठाया। इस समय तक वैयापुरी का नाम चोटी के लेखकों में नहीं पहुंचा था। कोश कमेटी कोश के लिए एक योग्य सम्पादक की खोज कर रही थी। वैयापुरी के कुछ मित्रों ने उसके सामने आपका नाम जोर के साथ पेश किया। मित्रों का प्रयत्न व्यर्थ नहीं गया। १९२६ में आप इस कोश के सम्पादक नियुक्त हुए। अल्पकाल में ही आपने अपने काम और ज्ञान से लोगों को चमत्कृत कर दिया, और सिद्ध कर दिया कि उनपर विश्वास और भरोसा करने में विश्व-विद्यालय कोश कमेटी ने कोई भूल नहीं की है, बल्कि इस कार्य के लिए सर्वथा उपयुक्त और वर्तमान समय के योग्यतम व्यक्ति को चुना है।

कोश का काम १९३९ में समाप्त हुआ और आप उस समय तक कोश के सम्पादक बने रहे। इसके बाद मद्रास विश्व-विद्यालय ने आपको तमिल विभाग का अध्यक्ष नियुक्त किया। इस पद पर भी आप दस साल रहे। यहां से सेवा-निवृत्त होने पर कुछ समय के वास्ते त्रिवेन्द्रम विश्वविद्यालय में भी तमिल-विभाग के आप अध्यक्ष रहे। १९५६ में आपका स्वर्गवास हुआ। १९२७ से लेकर १९५६ तक का सारा समय (कोश का सम्पादकत्व स्वीकार करने से लेकर जीवन के अन्तिम दिनतक) तमिल-साहित्य के अध्ययन, मनन और विचार में और इसके अनुसन्धान में लगाया। एकाग्रचित्त और एकाग्र मन से आपने साहित्य की साधना की, जैसे पतिव्रता स्त्री पति की सेवा करती है, और उसमें अपनेको धन्य माना।

वैयापुरी ने अन्वेषक, सम्पादक और कोशकार के रूप में तमिल-साहित्य की सेवा की है। तमिल कोश उनका एक महान् कार्य है। यह सर्वथा निर्दोष भी नहीं है। इसके प्रकाशित होने के समय कुछ आलोचकों ने आलोचना भी की थी। किन्तु, कार्य की महानता को देखते हुए ऐसे छोटे-मोटे

दोष नगण्य हैं। मद्रास विश्वविद्यालय के उपकुलपति डा० लक्ष्मण स्वामी मुदालियर ने आपके कार्य का गौरवपरक वर्णन करते हुए कहा था : "श्री वैयापुरी पिल्लई का अंशदान असाधारण और महत्वपूर्ण है। मद्रास विश्वविद्यालय यदि तमिल कोश प्रकाशित करने में सफल हुआ तो इसका एकमात्र कारण श्री वैयापुरी हैं। इसके प्रकाशित होने का सारा श्रेय आपको ही है। यह कार्य महान् है, सदा संस्मरणीय है।" तमिल साहित्यसेवी उपकुलपति द्वारा भेंट की गई इस श्रद्धांजलि के एक-एक शब्द से सहमत हैं।

तमिल प्राचीन साहित्य का भी श्री वैयापुरी ने सम्पादन किया है। यद्यपि ये सम्पादित ग्रन्थ अपने-आपमें महान् नहीं हैं, परन्तु सम्पादक की योग्यता के परिचायक हैं। प्रो० सुन्दरम पिल्लई के 'मानोनमणियम' का १९२२ में सम्पादन किया था। दूसरा आपका सम्पादित ग्रन्थ है 'पुरात्तिरत्तु'। इसके सम्वाद बताते हैं कि आपका तमिल भाषा पर कितना व्यापक अधिकार था। 'जीवक चिन्तामणि' का सम्पादन आपने 'शैव सिद्धान्त महासमाजम्' मद्रास के वास्ते किया था। अनेक तमिल 'निघण्टुओं' का भी आपने सम्पादन किया। तमिल कोश के आदि स्रोत ये निघण्टु ही हैं। ये सम्पादित ग्रन्थ सम्पादन के आदर्श माने जाते हैं। इनसे वर्तमान साहित्यिकों को तमिल साहित्य का अध्ययन करने में बहुत सहायता मिलती है।

वैयापुरी के जीवन की यह एक अत्यन्त मार्मिक एवं दुःखप्रद घटना है कि सारा जीवन भोज पत्रों पर लिखी हुई प्राचीन पाण्डुलिपियां एकत्र करने, कम्बन की रामायण की प्राचीन-से-प्राचीन हस्तलिखित प्रतियों का संग्रह करने, उनको मिलाने, सम्पादित करने में सारा जीवन बिताया, परन्तु 'कम्बन' के रामायण की विशुद्ध प्रति का प्रकाशन करने से पहले ही वह इस दुनिया से चल बसा। कम्बन के रामायण का सम्पादन करने का वैयापुरी अधिकारी पुरुष था, यह निर्विवाद है।

निघण्टु ग्रन्थों का सम्पादन करते हुए और तमिल कोश का निर्माण करते हुए श्री वैयापुरी ने तमिल शब्दों का अगाध ज्ञान प्राप्त किया। इस ज्ञान को प्राप्त करने में अन्य अनेक भाषाओं का भी उन्होंने अध्ययन किया। इससे, तमिल भाषा का अन्य भाषाओं के साथ सम्बन्ध स्थापित करने और तमिल शब्दों के रूपान्तर के विकास का अध्ययन करने में बहुत सहायता मिली। इस अध्ययन के बल पर आपने तिथि-क्रम निश्चित करने की एक नई पद्धति निकाली। आपके निष्कर्ष सर्वमान्य नहीं हुए। तमिल विद्वान् आपपर कुपित भी हुए, किन्तु संस्कृति और सत्य का यह प्रेमी डरा नहीं और अपने विश्वास पर डटा रहा। जैसे आपने 'थोलकाप्पियम' नामक प्राचीन तमिल व्याकरण का काल पांचवीं सदी निश्चित किया है और 'थीरुक्कुरल' का समय छठी शती निश्चित किया। तमिल विद्वान् इन दोनों प्राचीन ग्रन्थों का काल इससे बहुत पहले मानते हैं। किन्तु, इनका काल पीछे हटाने के पक्ष में वैयापुरी ने जो प्रबल युक्तियां दी हैं और प्रमाण दिये हैं, उनका खण्डन भी नहीं किया जा सका।

तमिल विद्वानों से आपका और एक बात में भारी संघर्ष हुआ। तमिल साहित्य को विशुद्ध बनाने का आधुनिक प्रवृत्ति के आप प्रवल विरोधी थे। तमिल और संस्कृत का घनिष्ठ संबंध है, यह आपकी मान्यता थी। आपका यह विश्वास था कि तमिल का अच्छा ज्ञान प्राप्त करने के लिए संस्कृत का ज्ञान प्राप्त करना आवश्यक है। अतः तमिल भाषा से संस्कृत के शब्दों को चुन-चुनकर फेंक देने के वह प्रबल विरोधी थे। इससे आपकी ख्याति में काफी कमी हुई। किन्तु, आप अपने विचारों पर दृढ़ता से डटे रहे।

'इलाक्किय उदयम' आपका एक अत्यन्त महत्वपूर्ण ग्रन्थ है। इसने आपको अक्षय यश दिया है। इसमें हीब्रू, ग्रीक, चीनी, संस्कृत भाषाओं के समेत विश्व की सब ज्ञात भाषाओं के इतिहास का संक्षिप्त वर्णन दिया गया है। किन्तु, संस्कृत का इतिहास कुछ अधिक विस्तार से दिया गया है। तमिल साहित्य में ही नहीं, भारत की अन्य भाषाओं में भी इस प्रकार की यह पहली ही पुस्तक है।

सम्पादित ग्रन्थों के साथ आपने जो भूमिकाएं और प्रस्तावनाएं लिखी है, वे आलोचनात्मक होने के साथ-साथ अत्यधिक विद्वत्तापूर्ण भी हैं। जैसे : 'पुरथिरत्तू', 'श्रीरुपंचमूलम्', 'तिरूमूरूगदरूपदर्छ' और तमिल कोश की भूमिकाएं। ये तमिल साहित्य की अनमोल निधियां हैं। इसके अतिरिक्त आपके सैकड़ों निबन्ध, लेख, इतस्ततः छोटी-छोटी पुस्तकों में बिखेर पड़े हैं। इन संगृहीत लेखों के अनेक भाग आज उपलब्ध

(शेष पृष्ठ २२३ पर)

हमारी धरोहर ●● सुशील

(११)

प्राचीन काल में एक धनी वैश्य रहता था। उसके कई पुत्र थे, उनका वह बड़े लाड़-प्यार से पालन-पोषण करता था। उनके मनोरंजन के लिए उसने अपने यहां एक कौवा पाल रखा था। नित्य घर की जूठन खाकर वह कौवा मोटा-ताजा होता जा रहा था। पेट भरने के लिए उसे कुछ भी परिश्रम नहीं करना पड़ता था। वहीं घर की छत पर बैठा रहता और थोड़ा इधर-उधर उड़ लिया करता। काफी जूठन मिलने के कारण वह दिनों दिन मोटा-ताजा भी होता जा रहा था। इसी कारण अभिमान भी उसे बहुत हो गया था। किसीको अपने बराबर नहीं समझता था और सदा दूसरे पक्षियों का अपमान किया करता था।

एक दिन मानसरोवर में रहनेवाले पक्षियों के राजा हंस उड़ते-उड़ते वहां आ पहुंचे। उन्हें बड़ी तेजी से आकाश में उड़ते देखकर वैश्य के बेटों ने कौवे से कहा, "हे काग! तुम तो अपनेको सभी पक्षियों में श्रेष्ठ मानते हो। देखो, यह हंस कितनी तेज चाल से उड़ रहे हैं। क्या तुम इनके समान तेज गति से उड़ सकते हो? हमारा विचार है कि तुम इनसे भी अधिक तेजी से उड़ सकोगे?"

वैश्य कुमारों के मुंह से अपनी प्रशंसा सुनकर वह अभिमानी कौवा और भी फूल उठा। अपनेको हंसों से कहीं अधिक तीव्रगामी समझने लगा। बोला, "अवश्य उड़ सकूंगा। यह हंस मेरे सामने क्या उड़ेंगे। मैं सौ प्रकार की चालें जानता हूं और सौ योजन तक उड़कर जा सकता हूं।"

यह सुनकर बनिये के बेटे उसे हंसों के साथ उड़ने के लिए उकसाने लगे। बस कौवा उड़कर आकाश में पहुंचा और उन हंसों में जो सबसे श्रेष्ठ हंस था उससे बोला, "अरे हंस! इस तरह अकेले-अकेले क्या आकाश में उड़ते फिरते हो। यदि तुममें शक्ति है तो मेरे साथ होड़ लगाकर उड़ो।"

कौवे की यह बात सुनकर हंस हंसने लगे। एक हंस ने उसका मजाक उड़ाते हुए कहा, "अरे कौवे! अपने-आपको देख और फिर बात कर। अरे मूर्ख कहां तू, और कहां हम। हम मानसरोवर में रहनेवाले हंस हैं। दूर-दूर तक आकाश में विचरण करते रहते हैं। तू एक क्षुद्र पक्षी है। पेड़ की इस डाल से उस डाल तक उछला करता है। अपने पैरों को देख, तू हमारे साथ क्या होड़ लगाएगा। क्यों मूर्ख बनता है।"

यह सुनकर कौवा गुस्से में भर उठा। बोला, "अरे हंसो! मेरा उपहास न करो। देखने में छोटा हूं तो क्या हुआ, गुण में तुमसे बड़ा हूं। मैं उड़ने की सौ रीतियां जानता हूं। सौ योजन तक उड़ सकता हूं। ज़रा मेरा बल और कौशल तो देखो। बताओ, किस रीति से मेरे साथ उड़ोगे?"

कौवे की यह गर्वोक्ति सुनकर हंस और भी जोर से हंस पड़े। एक बोला, "भैया कौवे, तुम तो हमारे गुरु बनने योग्य हो। हमें ये विद्याएं सिखा दो ना। हमें तुमसे डर लगता है। हम तो एक ही विद्या जानते हैं।"

उसी समय और भी पक्षी वहां आ गये और कौवे की हंसी उड़ाने लगे। बोले, "इन बिचारे हंसों की क्या मजाल जो तुम्हारा मुकाबला कर सकें। भला तुमसे बढ़कर कोई उड़ाका है?"

कौवा और भी फूल उठा। जो मूर्ख हैं, वे सच्चाई को नहीं पहचान पाते। इसलिए कौवा व्यंग्य को भी सच ही समझ रहा था। बस, कुछ ही क्षण बाद एक हंस के साथ वह आकाश में उड़ने लगा। गर्व से फूलकर वह अपनी गतियों का प्रदर्शन भी करने को उत्सुक हो उठा। लेकिन हंस बराबर सम चाल से उड़ता रहा। शुरू में वह कौवे से कुछ पीछे रह गया था। कौवा और भी फूल उठा। धीरे-धीरे वे समुद्र के ऊपर आ गये और थोड़ी ही देर में अपनी उतावली के कारण कौवा थकने लगा। उसकी चाल धीमी पड़ने लगी। और वह हंस से पीछे रह गया। हंस एक ही गति से आगे बढ़ रहा था। कौवे के पैर फूलने लगे। ऐसा लगा जैसे वह समुद्र में गिर जायगा और डूब जायगा। दूर-दूर तक कहीं कोई सहारा नहीं। कोई रुकने का स्थान नहीं, बस समुद्र की उछलती हुई लहरें जैसे निगलने को आ रही हों। वह कांपने लगा। उसके लिए उड़ना असंभव हो गया। यह देखकर हंस बोला, "क्यों जी! आपकी सब चालें खत्म हो गईं! आप बार-बार गिर क्यों रहे हैं?"

कौवा अबतक अपनी मूर्खता को पहचान गया था। विनम्र स्वर में बोला, "मुझे क्षमा करो। अभिमानवश होकर मैं आपका अपमान कर रहा था। मैं जाति का कौवा हूं। मेरी बिसात ही क्या है। मुझे बचाइये।"

कौवे का यह करुण-स्वर सुनकर हंस को दया आ गई। एक क्षण की देर करने का भी अवसर नहीं था। उसने कहा, "आओ मेरी पीठ पर बैठ जाओ। मैं तुम्हें समुद्र के पार ले जाऊंगा।"

कौवा तुरन्त हंस की पीठ पर बैठ गया और दीन स्वर में बोला, "हे हंस, मैं जानता हूं कि मुझे झूठा गर्व हो गया था। मैंने बनिए की जूठन खाकर अपनी काया को मोटा किया। मैं सदा दूसरों पर निर्भर रहा हूं, इसी कारण मैंने आपका और दूसरे पक्षियों का अपमान किया; लेकिन अब मेरी आंखें खुल गई हैं। आज से मैं न तो किसीका अपमान करूंगा और न झूठा गर्व ही करूंगा।"

(१२)

प्राचीन काल में एक बार असुरों के राजा प्रह्लाद थे। महर्षि कश्यप की अनेक पत्नियां थीं। एक पत्नी का नाम अदिति था। उसके पुत्र इन्द्र आदि देवता थे। भगवान् ने कई बार इन्हीं के पेट से अवतार लिया था।

महर्षि कश्यप की दूसरी रानी का नाम दिति था। इसके पुत्र असुर, दैत्य और दानव कहलाये। हिरण्यकश्यप दिति का ही पुत्र था। यह भगवान् का परम शत्रु था। प्रह्लाद इसीका पुत्र था, लेकिन वह भगवान् का भक्त था। हिरण्यकश्यप ने प्रह्लाद को मारने की अनेक बार चेष्टा की लेकिन अन्त में भगवान् ने नरसिंह रूप धारण कर हिरण्यकश्यप को मार डाला और प्रह्लाद को राजगद्दी पर बैठाया। प्रह्लाद भगवान् के परम भक्त थे और उनके राज्य में सब प्रकार के सुख थे। इन्हीं राजा प्रह्लाद ने एक बार अपने शील के बल से इन्द्र का राज जीत लिया था। तब इन्द्र बहुत चिन्तित हुए और अपने गुरु बृहस्पति के पास पहुंचे। पूछा, "गुरुदेव! ऐश्वर्य की प्राप्ति कैसे हो सकती है?"

बृहस्पति ने उत्तर दिया, "ज्ञान के बल पर।"

इन्द्र इस उत्तर से संतुष्ट नहीं हो सके। बोले, "क्या इससे बढ़कर भी कोई और मार्ग है?"

बृहस्पति ने कहा, "मैं तो नहीं जानता, लेकिन तुम असुरों के पुरोहित शुक्राचार्य के पास चले जाओ। शायद वह तुम्हारे प्रश्न का उत्तर दे सकें।"

इन्द्र शुक्राचार्य के पास पहुंचे। और शुक्राचार्य ने उन्हें राजा प्रह्लाद के पास भेज दिया। इन्द्र ब्राह्मण का वेश बनाकर राजा प्रह्लाद के पास पहुंचे और बोले, "हे दानव राज! मैं आपके पास ऐश्वर्य-प्राप्ति का उपाय पूछने आया हूं।"

प्रह्लाद ने उत्तर दिया, "हे ब्राह्मण! इस समय मेरे पास अवकाश नहीं है! आप यहीं रुकिये। अवकाश मिलने पर मैं आपके प्रश्न का उत्तर दूंगा।"

इन्द्र वहीं रहने लगे और उनसे शिक्षा पाने लगे। एक दिन इन्द्र ने पूछा, "हे दैत्यराज! आपने तीनों लोकों का राज्य कैसे पाया?"

प्रह्लाद ने उत्तर दिया, "अपने शील और सच्चरित्र के कारण।"

यह उत्तर पाकर इन्द्र सन्तुष्ट हो गये और बड़े मनोयोग से दैत्यराज को अपना गुरु मानकर उनकी सेवा करने लगे। प्रह्लाद बड़े प्रसन्न हुए। बोले, "हे ब्राह्मण! तुम मेरे पास शिक्षा पाने आये थे, इसलिए मैंने तुम्हारी सेवा स्वीकार की। लेकिन तुम ब्राह्मण हो और ब्राह्मण की सेवा करना राजा का धर्म है। बोलो, तुम्हारी क्या मनोकामना है? उसे मैं पूरी करूंगा।"

इन्द्र इसी क्षण की राह देख रहे थे। बोले, "महाराज! आप मुझपर प्रसन्न हैं और मुझे सुखी देखना चाहते हैं तो, अपना शील मुझे दे दीजिये।"

प्रह्लाद बोले, "तथास्तु।"

लेकिन उन्होंने कह तो दिया पर उनका हृदय भय से कांप उठा था। अब क्या हो सकता था। इन्द्र के जाते ही उनके शरीर से एक तेज निकला। उन्होंने पूछा, "तुम कौन हो?"

उस तेज ने उत्तर दिया, "दानवराज! मैं शील हूं। आपने मुझे ब्राह्मण को दे दिया है, सो मैं वहीं जा रहा हूं।"

शील वहां से चला गया और प्रह्लाद की काया शिथिल पड़ गई। थोड़ी देर बाद एक और तेज निकला। उसने कहा, "मैं धर्म हूं। जहां शील रहता है, वहीं मैं रहता हूं। मैं भी ब्राह्मण के शरीर में जा रहा हूं।"

(शेष पृष्ठ २२३ पर)

साहित्यकार का दायित्व

●● गंगाप्रसाद विमल

साहित्यकार स्रष्टा है। साहित्य के सम्मान या आदर और प्रशंसा से पूर्व उसके रचनाकार के प्रति सहज मोहवान आदर जाग जाता है। इसीलिए उसके महत्व को संसार के सभी समाज और व्यक्तियों ने आंका है। साहित्य में अथाह और अगाह शक्ति छिपी होती है। मूल रूप में वह शक्ति उस शक्तिशाली कीर्ति-पुरुष में बीज रूप में विद्यमान होती है, जो साहित्य-सृजन करता है। साहित्य-सृजन एक अर्थ में उसका माध्यम है। रचनाकार अपने उस माध्यम से वह अथाह और तीव्र शक्ति संप्रेषित करता है, अनेक वर्गों में। और अनेक वर्ग के सजग और सचेतन व्यक्ति उस संप्रेषित तत्व को अपनी वैचारिक और मानसिक सीमाओं के साथ ग्रहण करते हैं। परन्तु दूसरी ओर एक ही शक्तिवान् कीर्ति-पुरुष की संप्रेषित सामग्री से कुछ सीमित लोग ही प्रभावित न होकर जब सम्पूर्ण समाज, सम्पूर्ण वर्ग और सम्पूर्ण व्यक्ति प्रभावित होता है, तब वह अपने दायित्व की पूर्ति करती है। दायित्व की पूर्ति सम्मुख रहकर कृति करती है, किन्तु दायित्व-बोध की अनेक कास्मिक-रश्मियां जो छोड़ता है वह रचनाकार ही अन्ततः 'दायित्व' को अर्थसहित अपने-आपमें उतार लेता है। इन बातों को केवल आदर्श कहकर टाला भी जा सकता है, नकारना तो इससे भी अधिक सहल है, परन्तु इन बातों के आदर्श को बाहर निकालकर जब तटस्थ दृष्टि से देखा जाय तभी 'महत्व' की बात हाथ आती है, मैं तो कहता हूं, महत्व की बात देने की क्षमता भी उसीमें होती है। 'रचना' द्वारा जब कभी रचनाकार अपने अनुभूत महत्व को प्रेषित करता है, उससे पूर्व वह उस महत्व से परिचित ही नहीं—उसे भोग चुकता है। सृष्टि का और सृष्टि की गति से संस्पर्शित सभी पदार्थों का अपना जीवन—नियम है, अपनी सीमाएं—उसी तरह रचनाकार की भी और रचनाकार को मिले वातावरण, संगति तथा संस्कारों की भी सीमाएं हैं। उन सीमाओं से भलीभांति परिचय पाकर जब कृतिकार अपनी 'क्षमताओं' का उपयोग करता है, किसी विशिष्ट निश्चिन्तता के साथ तब 'दायित्व' जैसा सवाल स्वतः पूरा हो जाता है। अन्ततः 'दायित्व' के प्रश्न की आवश्यकता क्या है? क्योंकि कई लोगों का विचार है कि साहित्यकार स्वाधीन है, अपनी रचना में अपनी 'रचना' के अलग अस्तित्व में। संभवतः इस प्रकार की बहस का अन्तिम समाधान यही हो सकता है कि साहित्यकार की स्वाधीनता अनुभूति तक सीमित है, अनुभूतियों के भोग तक—किन्तु उसके बाद अभिव्यक्ति के क्षणों में उसके सामने अनेक पाठकों, अनेक विचारवादियों तथा अनेक धर्मी व्यक्तियों के आक्रोश-भरे चेहरे होते हैं, जिन्हें या तो वह सन्तुष्ट करे या उन्हें थोड़ा और उत्तेजित करे—ताकि उस उत्तेजना से उस पाठक वर्ग की जड़ चेतना को विचार सिंचन मिले। 'उत्तेजित' करना संभवतः युगानुरूप सर्वप्रथम और सर्वप्रमुख दायित्व है। इस दृष्टि से रचनाकार अपने 'स्व' को अन्तरंग रखते हुए भी—'स्व' के माध्यम से ही 'पर' को अपनी समस्त अनुभूतियां दे डालता है। क्यों 'दे डालने' की प्रवृत्ति भी मुख्य है और रचना का आधार भी बहुत सीमाओं तक वही है। अतः 'दे डालने' से ही उसके दायित्व की बात खड़ी हो जाती है। वर्ग की चेतना के जमे हुए पाश, चेतना की जड़ स्थितियों को एक व्यक्ति खोल देता है, उसे गतिमय बना देता है, वहां से दायित्व का प्रथम अध्याय आरंभ हो जाता है तथा जब कभी कृति से सहज उत्तेजन, वैचारिक उत्तेजन जान पड़ता है, तब दायित्व की दूसरी स्थिति आ जाती है। विश्व की बहुत सारी गण्य बातों के पीछे साहित्यिक उत्तेजन का ही इंजेक्शन होता है।

यह बातें तो सिर्फ बहस हुई। आज की स्थिति से हम सभी परिचित हैं—आज के साहित्य में, साहित्यकार में, पाठक में, पाठक के अनेक स्तरों में स्पष्टता आ गई है। अस्पष्टता विचार और शैली की है तथा स्पष्टता आपसी संबंधों की ओर दायित्व-बोध की है। दायित्व के प्रश्न पर वर्तमान समय के अनेक विद्वानों ने अपने विचार दिये हैं, संभवतः बीसवीं शताब्दी में संसार के अनेक लोगों ने इसपर विचार किया है। अनेक समाधान और अनेक समस्याएं उठी हैं। पश्चिम में तो लेखकों के दायित्व की समस्या को कुछ दिनों (कुछ देशों में) राजनैतिक प्रश्न माना जाता रहा

है। लेकिन प्रबुद्ध लेखक पाठक वर्ग ने उसे नितान्त ऐकान्तिक मानकर लेखक पर ही छोड़ दिया था। उन्होंने आक्षेप लगाया कि इस तरह तो दायित्व के नाम सरकारी नियम बना लिये जायंगे और लेखक सरकारी दबाव में दब जायेगा। यह लेखक की स्वाधीनता के अपहरण का प्रश्न था, और गर्मागर्मी के बाद यही माना गया कि लेखक सभी तरह से स्वाधीन है। वह चाहे जो दे—उसके अपने पाठक वर्ग के लिए है—इसीमें उसका दायित्व पूरा हो जाता है। दायित्व के इसी प्रश्न को सबसे अधिक क्रियाशील रूप में कम्यूनिस्ट देशों ने उठाया और उन्होंने लेखकों की लेखक संघों में (जो सरकार द्वारा नियन्त्रित और संचालित थे) भर्ती प्रारंभ कर दी। इससे लेखकों के प्रति सरकार का दायित्व तो पूरा हो गया। लेखक भी आर्थिक दृष्टि से बेशक सम्पन्न हो गया। किन्तु क्या लेखक का सरकारी दायित्व ही है...या सरकार द्वारा निर्देशित नियम ही उसका दायित्व है। यह प्रश्न बहुत गंभीर है—इस तरह लेखक अपनी सहज प्रतिभा और सहज ज्ञानकोश से विरक्त योजनाओं के गीत, सरकार के गीत और नेताओं की प्रशंसा के अतिरिक्त कुछ नहीं कर पाता। उसका सहज लेखक मर जाता है, उसकी सहज प्रतिभा जड़ हो जाती है और अनुभूतियों की ज्ञान-सरिता सूख जाती है। इससे भी इतर लेखक की चेतना कुंठित हो जाती है। दायित्व के नाम पर इस तरह के बलात्कार की सराहना कोई नहीं कर सकता। हमारे देश का तो धर्म ही यही है कि भूखों मर जाओ, किन्तु अपनी चेतना, प्रतिभा न बेचो, और हुआ क्या है, अपने पाठक वर्ग को रिक्तता देकर महाप्राण निराला अभी हाल ही में चले गये। वह व्यक्ति था, जिसने सरकारी सहायता से अस्पताल जाना ही अस्वीकार कर दिया—आप इसे अकड़ या हठ कहें, किन्तु लेखक के स्वाभिमान का भी उतना ही महत्व है। साहित्यकार के दायित्व का प्रश्न भी उतना ही महत्व का है। हम देखते हैं आए दिनों आज के व्यक्ति को साहित्य की भूख पर्याप्त है—वह पढ़ना चाहता है, किन्तु मिलता क्या है सस्ती पुस्तकें, जासूसी पुस्तकें या बहुत हुआ तो फिल्मी पत्रिकाएं। प्रश्न यह भी उठ सकता है कि क्या आज के व्यक्ति की इच्छा ही सस्ती पुस्तकें-पत्रिकाओं को पढ़ने की नहीं, क्या आज के पाठक का स्तर पर्याप्त रूप से ऊंचा है? दरअसल बात पाठक की ओर से भी हो सकती है, किन्तु उनके आगे तो एक ही उत्तर है कि अन्ततः उनके स्तर में भी तो वृद्धि करना कृतिकार का धर्म है। यानी सारी-की-सारी बातें साहित्यकार के सर्वधर्मी प्रश्न—दायित्व पर आकर ठहर जाती हैं। घटिया किस्म की पुस्तकों की रचना, सेकेण्ड हैण्ड घटिया किस्म के विचारों का प्रचार, थर्ड क्लास ढंग के शिल्प में किसी अच्छे विचार-क्रम को बिगाड़ देने का दायित्व क्या साहित्यकार का नहीं हैं—वहां तो पाठक की सीमा नहीं। पाठक तो दूसरा व्यक्ति है—द्वितीय पुरुष, जिसे प्रथम पुरुष की अभिव्यक्ति का पुनर्स्वाद लेना होता है और वह उसमें भी तुष्ट है, वह उसके लिए भी पीछे भागता है कि कि कम-से-कम कोई अच्छी चीज मिले तो सही। 'साहित्य' का अपना धर्म होता है, सिर्फ साहित्य का कि वह एक रुचि जगाये—उससे पहले वह धर्म कृतिकार के हाथ हो जाता है—जब संस्कृत के, ग्रीक, लेटिन, मिस्री और चीनी भाषाओं के अनेक कृतिकारों ने अपनी रचनाओं द्वारा एक बुद्धिमान समाज उस आदिम युग में पैदा कर दिया था। तब आज के इस वैज्ञानिक युग में कई बहसों, गर्मागर्मी के बाद सीधे यह कह देना कि साहित्यकार दायित्व के लिए भी स्वाधीन है हास्यास्पद लगती है और एकाएक महसूस होता है कि आज का अशक्त साहित्यकार जब अपने दायित्व से अपरिचित है तब वह 'रचना' के प्रति अपनी पूर्ण प्रतिभा का भी उपयोग कैसे कर सकेगा?

रचनाकार के दायित्व के कई स्तर हो सकते हैं। पहला दायित्व उसका अपनी ओर का है। आत्मगत दायित्व उसे कह सकते हैं। जबतक रचनाकार अपनेको न पहचाने, अपने व्यक्ति को न पहचाने, तबतक वह जो भी काम करेगा, वह सरासर बेईमानी होगा। आधुनिक युग की समस्या ही यही है, वरन् लेखक जीवनपर्यन्त छटपटाता ही रह जाता है, किन्तु अपना आधार और अपनी पहचान वह कर ही नहीं पाता। पश्चिम का हाल भी वर्तमान समय में यही है। इस बेईमानी प्रवृत्ति ने उसे अनास्था से भर दिया। उसे 'शून्य' में डाल दिया है, शून्य स्थितियों में। जहां व्यक्ति केवल अपने अस्तित्व के बारे में सजग रहता है वरन् सजग न होकर शंकित रहता है, यही शंकाएं उसे अनास्थामय जीवन जीने को बाध्य कर देती हैं। इसलिए लेखक का अपने को पहचानना, ईमानदारी से अपने बारे में ही निर्णय दे देना, उसका

पहला दायित्व है। यहीं से दायित्व समझने की क्षमता उसमें आ जायगी। ईमानदारी से लेखक अनुभूत अवस्था, अनुभूत क्षण की व्यक्तिकरण करे तो वह 'रचना' सर्वश्रेष्ठ और स्थायी होती है। दूसरा दायित्व इसी सीमा में उसकी क्षमता का है—अपनी क्षमता का अच्छा-से-अच्छा उपयोग करने के बाद वह निश्चय ही एक ऐसा पाठक वर्ग पैदा करने में सक्षम होगा, जिनका मानसिक और वैचारिक स्तर बढ़ जायेगा। यह सब दायित्व के स्तर मिले-जुले रूप में 'आत्म-अनुसंधान' में ही समा जाते हैं। आप अपनेको पहचानें, आप क्या अपेक्षित करते हैं दूसरों से, आप किस प्रकार और लोगों के प्रभाव को मान्यता करार देते हैं, इत्यादि—ऐसी बातें हैं, जो सब लेखक के दायित्व की सीमा की हैं। मैंने तो साधारण बात कही—लेखक में स्वतः ही यह बात जन्म जाय कि उसका दायित्व अपेक्षित है तो किसी राज्यीय नियम या किसी भी प्रकार की बाध्यता की आवश्यकता नहीं पड़ेगी। सवाल अन्त में है अपने को समझने का, तभी दायित्व का पूर्ण समाधान सामने आयेगा। संक्षेप में एक सुस्पष्ट नीति-धारा, एक सुस्पष्ट विचार-धारा, एक सुन्दर गठित शैली और उसका दृढ़ आधार ही, आधुनिक युग के साथ समानान्तर चलना ही युगबोध रूपी दायित्व है।

●

(पृष्ठ २१८ का शेष)

है। किन्तु आपकी समस्त कृतियों का संग्रह होना, और एकत्र कर प्रकाशित होना अभी शेष है। आपके अंग्रेजी में लिखे लेखों की भी यही बात है। जब ये प्रकाशित होंगे, तब श्री ए० बी० सुब्रमनिय ऐयर को विश्वास है, तब आपके अगाध ज्ञान, अपूर्ण पाण्डित्य, अनुपम तीक्ष्ण चिकित्सक बुद्धि को देखकर साहित्यिक जगत् चमत्कृत रह जायगा। इससे हिन्दी के विद्वान् लेखकों का भी संभवतः कुछ आशा और सालना मिले, क्योंकि सब भाषाओं के साहित्य-सेवियों का भाग्य एक-सा ही है।

तमिल के लेखकों में वैयापुरी का क्या स्थान है? श्री ऐयर का मत है कि जहांतक ग्रन्थों के शुद्ध सम्पादन और तरीके की पूर्णता का प्रश्न है, वैयापुरी का स्थान स्वामिनाथ ऐयर, और अरूमूग नवलर के बाद है। अन्वेषक और सत्यशोधक विद्वान् के नाते और तमिल भाषा और साहित्य के प्रामाणिक व अधिकारी लेखक के रूप में उनका स्थान कनमसभाई पिल्लई और श्री राघव आयंगर की पंक्ति में हैं। परन्तु, वैयापुरी का कोश-निर्माता की दृष्टि से सर्वोपरि स्थान है। इस क्षेत्र में वह अद्वितीय हैं। वैयापुरी का जीवन साहित्य और संस्कृति का अध्ययन करनेवालों के लिए सतत प्रेरणा का स्रोत रहेगा, यह कहने की आवश्यकता है।

●

(पृष्ठ २२० का शेष)

इसी प्रकार सत्य, सदाचार, और बल ये सब ब्राह्मण के शरीर में चले गए, क्योंकि ये भी वहीं रहते हैं जहां शील रहता है। अन्त में प्रह्लाद के शरीर से एक परम तेजवाली देवी निकली। प्रहलाद ने चकित होकर पूछा, "तुम कौन हो, देवि?"

देवि ने उत्तर दिया, "हे राजा प्रह्लाद, मैं लक्ष्मी हूं। मैं सदा बल के साथ रहती हूं। बल ब्राह्मण के शरीर में चला गया है। मैं भी उसके पीछे जा रही हूं।"

प्रह्लाद व्याकुल हो उठे। बोले, "जाने से पहले देवि, मुझे यह तो बता जाओ कि वह ब्राह्मण कौन था? जो मुझसे शील मांगकर ले गया है।"

लक्ष्मी बोली, "हे धर्मात्मा, ब्राह्मण-वेश में वह स्वयं इन्द्र था। अपनी चतुराई से उसने तुम्हारा सर्वस्व छीन लिया है। जिस शील के कारण तुमने तीनों लोकों को जीता उसीको वह ले गया है। धर्म, सत्य, सदाचार, बल और मैं सभी शील के आधीन हैं। संसार में वही व्यक्ति सुख और ऐश्वर्य का अधिकारी है, जिसने अपने शील की रक्षा की है। वही शील अब इन्द्र के पास है। इन्द्र अब तीनों लोकों का अधिकारी है।"

लक्ष्मी चली गई और दैत्यराज प्रह्लाद पतन के अंधकार में घिर गये। उधर इन्द्र ने शील के बल पर अपना खोया हुआ गौरव फिर प्राप्त कर लिया।

●

असम के विवाह-गीत

●● नवारुण

असमीया भाषा लोक-साहित्य की प्रचुरता के कारण विशेष सम्पन्न मानी जाती है। लोक-जीवन के विविध अवसरों पर संगीत की मनोरम ताल और लय से जीवन को अधिक शोभासम्पन्न और अश्रु-सिक्त बनाकर रमणीयता प्रदान करना असमीया लोक-गीतों की प्रमुख विशेषता है। असम के प्रमुख विद्वान् डॉ॰ विरिन्चिकुमार बरुवा के शब्दों में 'असमीया जाति का जीवन—अगर विचार किया जाय तो—संगीत और लय का जीवन है।'

अन्य बहुत प्रकार के लोक-गीतों के साथ असमीया भाषा विवाह-संबंधी लोक-गीतों में भी काफी समृद्ध है। असमीया जीवन में विवाह एक ओर मिलन का पर्व है तो दूसरी ओर विच्छेद की करुण रागिनी के आंसुओं का निर्झर भी।

वधू को सजा-संवारकर बैठा रखा गया है। सखियां बहुत प्रकार से उसे रिझाती हैं, खिझाती हैं, सारे घर में विवाह के वातावरण से आनन्द की लय थिरक रही है, लोग आते हैं और वधू की छटा देखकर विभोर हो उठते हैं—आज वधू कितनी भली लग रही है—

देखा सखिहे, एहे किनो विपरीत
आकाश र चन्द्र आहि परिला भूमित—
मुख खनि कुमलिया ककाल खनि सरू
बताहते हालिपरे हर रे डम्बरू
गले ज्वले गल पाता ककालते हार
हृदयत परिआछे सोनार पेछन्दार।

—अरी सखी, ज़रा आकर देखो न, यह आज कैसी दूसरी ही बनी बैठी है। लगता है, जैसे, आकाश में घूमनेवाला चांद धरती पर उतर आया है। बहू का रूप कितना मोहक, चेहरा कितना सौम्य है। कमर ऐसी पतली दिखाई पड़ती है जैसे शिव के डमरू का बिचला हिस्सा हो, वह जैसे हवा लगते ही झुक जाती है।

बहू के गले में गलपत्ता (एक प्रकार का गहना) चमक रहा है। कमर में करधनी लटक रही है। लेकिन इन सभी गहनों से उसका मन-रूपी गहना अधिक सुन्दर है, जैसे वह सोने का पिछन्दर (गहना) पहन रखा हो, अर्थात् पवित्र भावनाओं से उसका हृदय भी अलंकृत है।

विवाह के कुछ दिनों पहले से ही घरभर व्यस्त हो जाता है विवाह की तैयारियों में। उसमें तरह-तरह के नियमादि बहू से पालन कराये जाते हैं। एक दिन उसके 'असनान' का विधान रहता है। उस दिन उसे पूरे दिन बिना खाये रहना पड़ता है। शाम होने पर ही वह मुंह में कुछ डाल सकती है, बेटी का चेहरा मुरझा गया है, मां की उत्कंठा बढ़ रही है, कब शाम हो—

ओलाइ ओलाइ कइनार माके बेलिर देखि चाय
तोमारे कुमली जीया भोके दुःख पाय।
यथा आछे रंगा परि पेटे लागे भोक
घूरि घूरि चावे आयाइ लगटीयार मुख।

—बेटी दिनभर की भूखी है। मां बार-बार बाहर निकलकर देखती है कब सूरज डूबे! उसकी प्यारी बिटिया मुरझा गई है भूख से। उसकी आंखें लाल-लाल हो गई हैं। उसकी सखियां भी बार-बार बहूके मुंह की ओर देखती रहती है।

इसके बाद आता है विवाह का दिन! उस दिन लोग उमंग में भरे ही हैं, प्रकृति भी नई छटा से जगमगा उठी है—

पारिजात फुलिछे मालागाधि पिन्धिछे
आफि आइ देउर शुभ विवाह मिलिछे
योवा आइ देउ योवागै
रभार तल लै योवागै
हातत खास फुलट बाला
बोपा देउक बरागै
आहा बोपा बहाहि
चन्द्र सूर्य साक्षी करि
आइ देउक नियाहि।

—'आज बिटिया का ब्याह होगा। देखो पारिजात के फूल खिल उठे हैं। ऐसा जान पड़ता है जैसे उस पौधे ने फूलों की माला पहनी हो।

"जाओ बिटिया मंडप में चली जाओ, हाथों में खाड़ू (चांदी का गहना) और फूलों की माला पहन लो।

अपने प्यारे वर को वरण करो।"

"आओ हे वर जी, आकर यहां बैठ जाओ और चन्द्र, सूर्य को साक्षी बनाकर प्यारी बिटिया को ग्रहण करो।"

मृदंग बाजिछे ओलाई आहा आइदेउ आयतिये मातिछे,
फुल आछे फूलि कदम आछे हालि
किय आइ देउ चिन्ता करा दरा बेंचा बुलि,
अ' ने लाहरि, लगर लगरीयाक मने याबा पाहरि।

—"मृदंग बज रहा है, प्यारी बिटिया बाहर जाओ। धाय बुला रही है। देखो, आज फूल खिल उठे हैं। फूलों के बोझ से कदम्ब झुक गये हैं, दुलहा मनपसंद नहीं है, अरी बिटिया, ऐसा क्यों कहती है।"

"अरी सखी, अब तू चली जायगी, लेकिन देखना हम सखियों को वहां जाकर भूल न जाना।"

इसके बाद विदा का समय आता है। घर के सभी लोग कन्या के विछोह में दुखी हो पड़ते हैं। कल जो बेटी अपनी थी वह आज पराई हो गई। अब वह अपने घर चली जायगी। माता-पिता ही नहीं, गांव के लोगों, सखियों आदि सबका हृदय बारबार कचोट उठता है।

और बहू...उसका हृदय भी तो दुःख से व्याकुल है—टूटा-सा जा रहा है—

गुण के वर्णाइ
कान्दे दयाइ आइ
पिता के कान्दे धेढ़ि।
मोरे दयाइ आइक
कोने कै पाय
कै के योवा भोक एरि।
पिता के मायके
दयारे माके हे
कान्दे उच्च रोल करि।
मनत बिकले
उठिला चौदोलाई
उसलि जोकार पारि।

—"बार-बार पिता के गुणों का बखान करती हुई दुलारी बिटिया उन्हें दोनों हाथों से पकड़कर छाती से मुंह छिपाये रो रही है।

"मेरी बिटिया कौन लेने आया है (मां रोती है) अरे उसे यहीं रहने दो।

"पिताजी, भैया सभी करुणा से विह्वल होकर रो रहे हैं। मां भी रो रही है उच्च स्वर से।"

बहू का मन अत्यन्त व्याकुल हो उठा है, फिर भी वह असीम वेदना का बोझ लिये हुए पालकी पर चढ़ जाती है। सखियां उलुध्वनि (मंगलसूचक ध्वनि) करती हैं।

सभी रो रहे हैं, मगर रोने से क्या होगा। बहु को तो जाना ही है अपने घर। माता-पिता कबतक उसे अपने यहां रख सकते हैं। यह तो लड़की का भाग्य ही है। विदा देते मां का कलेजा टूक-टूक हो रहा है, फिर भी बेटी को वह समझा रही है—

ना कान्दिबा आइ देउ कान्दोन क्षेमा कर
कत दिन लाकिब खोजा पितृ मातृ घर
एइ घर घर नहय, सेइ घटे घर
जी हले बिचा दिये संसार बेअर।

—"दुलारी बिटिया, रोना बन्द कर दे। और कितने दिन मां-बाप के यहां रहेगी? यह घर, समझ ले तेरा नहीं था, वही घर, जहां तू आज जा रही है, तेरा घर है। इस संसारा का यही नियम है कि बच्ची होने पर उसे विवाह देकर पराया बना देना पड़ता है।"

चली गई बिटिया, जिसे इतने दिन से पाला-पोसा, इतने आदर से रखा, आज वह दूसरे के घर में होगी। ऐसा लगता है जैसे उसके जाते ही मां-बाप के घर का सारा प्रकाश खो गया। घर की हँसी लुट गई, वहां केवल अब वेदना का ही राज है—

आजि शुदा हल कुंडिल नगर
रूपे गुणे धन्या
ओलालेक कन्या
गृहक याइबे लागि
परब घरते
किमते बंचिबा
घटे तिनिबार रोह
कोने दिब भात
कोने दिब मात
कोने क्षेमिबेक दोष!

(शेष पृष्ठ २२८ पर)

स्वधर्म

वैजनाथसिंह

(१)

क्या आप हैं मुख्य आचार्य विश्वविद्यालय के ?
या हैं अध्यक्ष किसी ऊंचे न्यायालय के ?
या अधिकारी हैं किसी महा सचिवालय के ?
अनुभवी चिकित्सक या प्रसिद्ध रुग्णालय के ?

(२)

अभियंता हैं क्या श्रेष्ठ भाखरा नंगल के ?
या सेनानायक प्रमुख राष्ट्र-सेना-बल के ?
या मंत्री हैं परराष्ट्र अर्थ-मन्त्रालय के ?
या संचालक हैं औद्योगिक यंत्रालय के ?

(३)

क्या जीर्ण-शीर्ण पदत्राण आप रचते रहते ?
या धूलि झाड़कर जन-पथ साफ़ बनाते हैं ?
या माटी कच्ची सान खिलौने रचते हैं ?
या कृषक, ग्रीष्म की कड़ी धूप में तपते हैं ?

(४)

क्या खड़े मार्ग के एक ओर चिल्लाते हैं ?
अपनी औषधि के विक्रय के गुण गाते हैं ?
वातानुकूल गृह के सुंदर कार्यालय में,
आंकड़े लाभ या लागत के लिखवाते हैं ?

(५)

अगणित पद, अगणित स्थान और कर्तव्य-धर्म,
ऊंचे-नीचे ओछे उदार कहलाते हैं।
इस जटिल जगत में कुछ ज्ञानी धनवान व्यर्थ,
अपनेको गौरवशील किन्तु बतलाते हैं।

(६)

वस्तुतः व्यक्ति प्रत्येक पेट है पाल रहा,
अपना, अपने कुल का, कल्याण संभाल रहा।
यदि श्रम-निष्ठा की ज्योति जलाता जीवन में,
तो वह मानवता का है दीपक बाल रहा।

(७)

कुछ व्यक्ति बुद्ध या गांधी-से परमार्थी हैं,
कुछ व्यक्ति हमारे आप सरीखे स्वार्थी हैं,
पर मानव मानव है, करुणा का भागी है,
लग रही जगत में जब विनाश की आगी है।

(८)

जो हमने निज श्रम, कुल, समाज से पाया है।
क्या उसको मान स्वधर्म सहज अपनाया है ?
करते जो कुछ यदि उसे श्रेष्ठतम करते हैं।
तो मानवता को दिव्य ज्योति से भरते हैं।

शहतूत

●● लाल बहादुरसिंह चौहान

प्रकृति ने स्वयं ऋतु, देश और काल आदि के अनुसार हमारे लिए खाद्य वस्तुएं उपस्थित की हैं। जिस-जिस ऋतु में जिस-जिस गुणोंवाले फलों की हमें आवश्यकता होती है, उस-उस ऋतु में हमारे लिए वैसे-वैसे ही गुणों से युक्त फल उत्पन्न किये हैं।

शीतकाल में हमें शरीर में उष्णता उत्पन्न करनेवाले खाद्य पदार्थों की आवश्यकता होती है—शीत से बचने के लिए; परन्तु ग्रीष्म काल में इसके विपरीत गर्मी की झपट से बचाव पाने के लिए शीतलता प्रदान करनेवाले ठण्डे द्रव्यों की। नित्य हमारे लिए प्रकृति की ओर से अनेकानेक समयोपयोगी स्वास्थ्यप्रद खाद्य-सामग्रियां उपलब्ध होती रहती हैं। प्रकृति देवी की यह मानव-सेवा और स्वास्थ्य-संरक्षण का कार्य सराहनीय वरदान है।

गर्मी की ऋतु में यों तो फालसा, सन्तरा, आड़ू, लीचू, रसभरी, पपीता, सन्तरा और ककड़ी आदि फल बाजार में मिलते हैं, पर इन दिनों के फलों में शहतूत का फल भी कोई कम महत्व नहीं रखता। निःसन्देह इस फल की भी अपनी बहार और उपयोगिता है।

किसान के लिए शहतूत का वृक्ष बहुत महत्वपूर्ण है। ग्रीष्म की कड़कती धूप में यह मनुष्यों और जानवरों को शीतल छाया प्रदान करता है। गांव के ढोर चरानेवाले ग्वाले मस्ती से बैठकर ठण्डी-ठण्डी सघन छांव में अठखेलियां करते हैं। शहतूत के वृक्ष की पत्तियां बकरी और भेड़ों के लिए सुन्दर खाद्य भी हैं।

शहतूत की शाखाएं भी कम काम की चीज नहीं। इन्हें काटकर लोग टोकरियां बनाने के काम लेते हैं। इनसे देखने में सुन्दर और चलने में टिकाऊ टोकरियां बनती हैं। शहतूत की शाखाएं बड़ी लचकीली होती हैं, इसीलिए इन्हें किसी भी आकृति में सुगमता से मोड़ा जा सकता है। चरवाहे व किसानों के बच्चे इन शाखाओं पर लटकते रहते हैं; लोग शाखाओं पर चढ़कर फलियां भी तोड़ते हैं, परन्तु फिर भी भार की अधिकता से शाखाएं टूटती नहीं—दृढ़ता एवं लचक के अपने विशिष्ट गुण के कारण।

शहतूत की लकड़ी इतनी पक्की होती है कि किसान इसे हल और जुआ आदि बनाने के उपयोग में लेते हैं। इसके अतिरिक्त इसकी लकड़ी शस्त्रों तथा यंत्रों के दस्ते बनाने में भी बड़ी मजबूत रहती है।

शहतूत के वृक्ष प्रायः उद्यानों या खेतों की मेंड़ों पर लगाये जाते हैं। अनेक स्थानों पर सड़क के सहारे-सहारे भी इसके वृक्ष उगाये जाते हैं। इसका वृक्ष तीस-चालीस फुट के लगभग ऊंचा होता है; इसकी लकड़ी कुछ दरकनी होती है। शहतूत के पत्ते अंजीर के पत्तों के समान होते हैं, जिनमें तीन-तीन कंगूरोंवाले और ठीक नीम के पत्तों की तरह चारों ओर आरे के समान चिन्ह होते हैं।

शहतूत के वृक्ष दो प्रकार के होते हैं—एक तो काले शहतूत—फल लगनेवाले और दूसरे सफेद शहतूत—फल लगनेवाले। काले शहतूत—फल लगनेवाले वृक्ष और सफेद शहतूत—फल लगनेवाले वृक्षों में केवल उनके फलों के रंगों का विभेद है, अन्यथा दोनों वृक्ष समान ही हैं।

शहतूत के फल एक छोटी फली के समान होते हैं और उनमें बाजरे के से दाने होते हैं। यह फली पककर मधुर रसवाली और बहुत ही कोमल हो जाती है। यह फली तरल से परिपूर्ण होती है। इस फली को ज्योंही चबाते हैं, इसका मीठा-मीठा रस अन्न-प्रणाली में होता हुआ आमाशय में पहुंचता है। वहां जाकर इस फल का शीघ्र ही पाचन हो जाता है। मन को प्रसन्नता व तृप्ति होती है; नेत्रों को सुख मिलता है और शरीर की बल-वृद्धि होती है तथा स्फूर्ति का आभास होता है।

देखा गया है कि कच्चे शहतूत-फल हानिकारक होते हैं और कई बीमारियां उत्पन्न करते हैं। विशेषकर कच्चे फल विलम्ब से पचनेवाले और सारक होते हैं, साथ ही किंचित अम्लतायुक्त (खट्टे) और उष्ण भी। कच्चे शहतूत-फल के प्रयोग से रक्त-पित्त रोग हो जाता है। कच्चे शहतूत-फल शरीर में उष्णता बढ़ा देते हैं और दाह की अभिवृद्धि कर मस्तिष्क में खुश्की उत्पन्न कर देते हैं। पक्के शहतूत के फल शीतल होते हैं और स्वाद में

मधुर। मिठास के कारण तृषा, दाह, पित्त आदि का निवारण करते हैं। इसके अतिरिक्त पक्के शहतूत-फल रक्त-विकार, वात और पित्त-नाशक भी हैं। पक्का फल शीघ्र पच भी जाता है और दस्तावर भी होता है। पक्के फल रक्त-वर्द्धन में योग देते हैं। गर्मी के दिनों में शहतूत के पके फलों का सेवन स्वास्थ्य के लिए बहुत लाभ-प्रद है। इस फल का रस और शरबत दाह व प्यास को नष्ट करता है।

शहतूत के पके फल को ज्वर के रोगी को खिलाते हैं। प्रायः इसका प्रयोग शान्ति-दायक खाद्य व पथ्य के रूप में बुखार की अवस्था में करते हैं। शीघ्र हजम होकर बल प्रदान करता है और रोगी को बेचैनी तथा घबराहट नहीं होने देता। शरीर का तापमान भी दाह शान्त कर कम करता है। गर्मी के दिनों में बच्चों को ज्वर का प्रकोप होने पर इसका शरबत दिया जा सकता है। शहतूत का फल यदि नियमित रूप से भोजनोपरान्त लिया जाय तो बहुत लाभ पहुंचाता है, भूख काफी बढ़ जाती है और शरीर में रक्त व बल की वृद्धि होती है।

शहतूत के वृक्ष का प्रत्येक अंग उपयोगी है। शहतूत की जड़ विरेचक है; अतः गांवों में वैद्य लोग कभी-कभी इसे दस्तकराने के लिए प्रयुक्त कराते हैं। शहतूत की छाल विरेचक तो है ही, परन्तु साथ ही कृमि-नाशक भी है। शहतूत के पत्तों का काढ़ा गले की खराबी और गले की सूजन में इस्तेमाल कराया जाता है, इससे आशातीत लाभ होता है।

हकीम-समुदाय भी शहतूत का प्रयोग कराता है। शहतूत के फल मस्तिष्क, हृदय और तिल्ली को बल देते हैं। इसके अतिरिक्त चेचक, प्रवाहिका और आंतों के घाव आदि में बहुत उपयोगी हैं। शहतूत के बीजों का कल्क (लुग्दी) या चूर्ण पैरों के भीतर फटी हुई बिवाई में भरने से बहुत लाभ पहुंचता है और चन्द दिनों में पैर पूर्ववत् स्वस्थ होजाते हैं।

(पृष्ठ २२५ का शेष)

—आज कुंडिल नगर (असमीया जनता रुक्मिणी का पितृ-गृह कुंडिलनगर को असम में स्थित मानते हैं) सूना हो गया है। रूप-गुणों में अतुलनीया कन्या आज चली गई, अपने घर। मां-बाप उदास होकर सोच रहे हैं—यहां दुलारी बेटी खाने पीने में, नहाने में दिन में तीन-तीन बार अभिमान से मुंह फुलाये पड़ी रहती थी। अब वह दूसरे के घर जाकर क्या करेगी? कौन उसे आदर से बुलायेगा? कौन मनाकर खिलायेगा? उसके किये हुए दोषों को कौन क्षमा करेगा? आज दुखी माता-पिता का मन कन्या के लिए इन्हीं संशयों में झूम रहा है।

वस्तुतः असमीया विवाह-गीत या बियानाम हृदय के भावोच्छ्वास से भरपूर वेदना और आनन्द के रंगों से सराबोर है।

भारत के राष्ट्रपति डा० सर्वपल्ली राधाकृष्णन लन्दन गये थे। वहां के किसी अधिकारी ने उनसे अपने देश की प्रगति के विषय में विचार जानने चाहे। डा० राधाकृष्णन ने उत्तर दिया, "मैं तो यही समझता हूं कि तुम लोगों ने पक्षियों की तरह आकाश में उड़ना सीख लिया है, मछलियों की तरह पानी में तैरना सीख लिया है, किन्तु मनुष्यों की तरह जमीन पर रहना अभी तुम लोगों को नहीं आया।"

महावीर-वाणी

●● संग्रहकर्त्ता--हृषीकेश चतुर्वेदी

विश्वस्व राष्ट्रस्य करोति शान्ति।

सुखी रहें सब जीव जगत् के, कोई कभी न घबरावे।
वैर-भाव अभिमान छोड़ जग, नित्य नये मंगल गावे॥

१. शिर काटनेवाला शत्रु भी उतना अपकार नहीं करता, जितना कि दुराचरण में लगी हुई अपनी आत्मा। दया-शून्य दुराचारी को अपने दुराचरणों का पहले ध्यान नहीं आता, परंतु जब वह मृत्यु के मुख में पहुँचता है, तब अपने सब दुराचारों को याद कर-करके पछताता है।

२. शरीर को नाव कहा जाता है, जीव को नाविक कहा जाता है, और संसार को समुद्र बतलाया है। इसी संसार-समुद्र को महर्षिजन पार करते हैं।

३. जो मनुष्य प्राणियों की स्वयं हिंसा करता है, दूसरों से हिंसा करवाता है, या हिंसा करनेवालों का अनुमोदन करता है, वह संसार में अपने लिए वैर को ही बढ़ाता है।

४. जो भाषा कठोर हो, दूसरों को भारी दुःख पहुंचानेवाली हो--वह सत्य ही क्यों न हो--नहीं बोलना चाहिए। उससे पाप का आस्रव होता है।

५. इन पन्द्रह कारणों से बुद्धिमान् मनुष्य सुविनीत कहलाता है—

(१) उद्धत न हो, नम्र हो, (२) चपल न हो, स्थिर हो, (३) मायावी न हो, सरल हो, (४) कुतूहली न हो, गम्भीर हो, (५) किसीका तिरस्कार न करता हो, (६) क्रोध को अधिक समय तक न रखता हो, शीघ्र ही शान्त हो जाता हो, (७) अपने से मित्रता का व्यवहार रखनेवालों के प्रति पूरा सद्भाव रखता हो, (८) शास्त्रों के अध्ययन का गर्व न करता हो, (९) किसी के दोषों का भण्डाफोड़ न करता हो, (१०) मित्रों पर क्रोधित न होता हो; अप्रिय मित्रों की भी पीठपीछे भलाई ही करता हो, ((११) किसी प्रकार का झगड़ा-फसाद न करता हो, (१२) बुद्धिमान् हो, (१३) अभिजात अर्थात् कुलीन हो, (१४) लज्जाशील हो, (१५) एकाग्र हो।

६. क्रोध प्रीति का नाश करता है; मान विनय का नाश करता है; माया मित्रता का नाश करती है; और लोभ सभी सद्गुणों का नाश कर देता है।

७. शान्ति से क्रोध को मारे; नम्रता से अभिमान को जीते; सरलता से माया का नाश करे और सन्तोष से लोभ को काबू में लाये।

८. पापी जीव के दुःख को न जातिवाले बंटा सकते हैं, न मित्र-वर्ग, न पुत्र और न भाई-बन्धु, जब कभी दुःख आकर पड़ता है, तब वह स्वयं अकेला ही उसे भोगता है; क्योंकि, कर्म अपने कर्ता के ही पीछे लगते हैं, अन्य किसी-के नहीं।

९. छोटे-बड़े किसी भी प्राणी की हिंसा न करना, अदत्त (बिना दी हुई) वस्तु न लेना, विश्वासघाती असत्य न बोलना--यह आत्म-निग्रही सत्पुरुषों का धर्म है।

१०. जबतक बुढ़ापा नहीं सताता, जब तक व्याधियां नहीं बढ़तीं, जबतक इन्द्रियां हीन (अशक्त) नहीं होतीं तबतक धर्म का आचरण कर लेना चाहिये—बाद में कुछ नहीं होने का।

११. काने को काना, नपुंसक को नपुंसक, रोगी को रोगी और चोर को चोर कहना यद्यपि सत्य है, तथापि ऐसा नहीं कहना चाहिए।

१२. किसीके प्राणों को पीड़ा देना अच्छा नहीं, बल्कि दूसरों के प्राणों की रक्षा के लिए इतना ही सावधान होना चाहिए जितना कि अपने प्राणों के लिए. क्योंकि अहिंसा सबसे बड़ा धर्म है।

राजकमल प्रेस एण्ड पब्लिकेशन्स, वाराणसी के प्रकाशन

(१) **आज के गांव—लेखक: श्री रामजी दास गुप्त विशारद; आकार क्राउन सोलह पेजी; पृष्ठ-संख्या: ३२; मूल्य: बासठ नये पैसे।**

(२) **पशु-रोग और उनकी चिकित्सा—लेखक तथा आकार आदि वही।**

(३-५) **खेती के काम की बातें—भाग: १, २, ३; लेखक, तथा आकार आदि वही।**

भारतवर्ष की आबादी का ६० प्रतिशत भाग गांव में रहता है और गांव के निवासियों का शिक्षा-स्तर बहुत ही नीचा है। उनके दैनिक जीवन को उन्नत बनाने के लिए ऐसी छोटी-छोटी पुस्तिकाओं की बड़ी आवश्यकता है, जिनमें सरल भाषा में उनके उपयोग की बातें समझाई गई हों। उपरोक्त प्रकाशन-संस्था ने इन पुस्तकों को अपनी गांव-विकास-माला में स्थान दिया है। पुस्तकों के विषय उनके नामों से प्रकट हैं। पुस्तकें सचित्र और उपयोगी हैं।

भारत में लोकतांत्रिक विकेन्द्रीकरण—लेखक: सर्वश्री तेजमल दक तथा गोपीनाथ गुप्त; प्रकाशक: दत्त बंधु प्रा० लिमिटेड, अजमेर; पृष्ठ-संख्या: १६४, सजिल्द, मूल्य: पांच रु०।

भारत के देहात में रहनेवाले करोड़ों ग्रामीणों के सहयोग से गांव की शैक्षणिक, स्वच्छता-संबंधी तथा सर्वांगीण उन्नति के लिए पंचायतों द्वारा काम करना आवश्यक है। इसके लिए सत्ता का विकेन्द्रीकरण करना जरूरी है। इसी उद्देश्य से हरएक प्रदेश में हजारों की संख्या में पंचायतें स्थापित हो रही हैं। राजस्थान ने इस काम में पहल की थी। प्रस्तुत पुस्तक में पांच खण्डों तथा बाईस परिच्छेदों में लोकतांत्रिक विकेन्द्रीकरण के विषय को पूर्ण रूप से दिया गया है। पुस्तक अत्यंत उपयोगी तथा सामाजिक है।

नवजीवन प्रकाशन मन्दिर, अहमदाबाद के प्रकाशन

(१) **बापू की छाया में—लेखक: श्री बलवंत सिंह; आकार, क्राउन सोलह पेजी; पृष्ठ-संख्या ४४८; मूल्य: चार रुपये।**

महात्मा गांधी के संबंध में देश-विदेश के विद्वानों तथा नेताओं ने बहुत-कुछ लिखा है। प्रस्तुत पुस्तक की विशेषता यह है कि इसे उत्तर प्रदेश के एक ग्रामीण जाट किसान ने लिखा है, जो कि सेना की घुड़सवारी की नौकरी छूटने तथा पत्नी के देहान्त के बाद महात्माजी के आश्रम में भरती हो गये थे। अपनी डायरी के आधार पर लेखक ने महात्माजी के संस्मरण अत्यंत रोचक ढंग से लिखे हैं। इन संस्मरणों से महात्माजी तथा आश्रम के दैनिक जीवन के संबंध में बड़ा प्रकाश पड़ता है। लेखक का चार पृष्ठ का स्वपरिचय रोचक है तथा आचार्य विनोबा भावे की प्रस्तावना पठनीय है। अबतक पुस्तक के दो संस्करण प्रकाशित हो चुके हैं, जिससे उसकी सर्वप्रियता सिद्ध होती है।

(२) **बापू के पत्र कुमारी प्रेमाबहन कंटक के नाम—सम्पादक: श्री काकासाहेब कालेलकर; अनुवादक: श्री रामनारायण चौधरी; पृष्ठ-संख्या: ४७+४१४; मूल्य: चार रुपये।**

कुमारी प्रेमाबहन कंटक उच्च शिक्षा-प्राप्त छात्रा युवावस्था में ही गांधीजी की भक्त बन गईं और सारी उम्र कौमार्य व्रत धारण करके आश्रम की प्रवृत्तियों में भाग लेने लगीं। उन्हें महात्माजी ने समय-समय पर

ता० २८-२-२९ से १६-१-४८ तक अनेक पत्र लिखे, जिनमें से नव्वे पत्रों का यह संग्रह है। प्रस्तुत पुस्तक के ३५ पृष्ठों में 'पूर्व रोग' के अन्तर्गत प्रेमा बहन का संक्षिप्त परिचय अत्यंत सूचनात्मक तथा शिक्षाप्रद है। इन पृष्ठों की प्रस्तावना काकासाहेब ने 'तीर्थ स्नान' शीर्षक से दी है, जो अपनी विशेषता रखती है। पत्र-संग्रह अत्यंत महत्वपूर्ण तथा उपयोगी है, और गांधी-पत्र-साहित्य का एक अमूल्य तथा पठनीय संग्रह है, जिसके लिए प्रेमा बहन, सम्पादक तथा प्रकाशक बधाई के पात्र हैं।

(३) **विश्व-शांति का अहिंसक मार्ग—लेखक : गांधीजी; संग्राहक श्री आर० के० प्रभु; पृष्ठ-संख्या : ५५; मूल्य : ४० न.पै.।**

(४) **समाज में स्त्रियों का स्थान और कार्य—लेखक और संग्राहक उपरोक्त; पृष्ठ-संख्या : ३९; मूल्य : ४० न.पै.।**

(५) **साम्यवाद और साम्यवादी—लेखक और संग्राहक उपरोक्त; पृष्ठ-संख्या : २८; मूल्य : २० न.पै.।**

(६) **मेरा समाजवाद—लेखक और संग्राहक : उपरोक्त; पृष्ठ-संख्या : ६०; मूल्य : ४० न.पै.।**

(७) **ग्रामोद्योग—लेखक तथा संग्राहक उपरोक्त; पृष्ठ-संख्या : ४३; मूल्य : ३० न.पै.।**

(८) **कांग्रेस और उसका भविष्य—लेखक तथा संग्राहक उपरोक्त; पृष्ठ-संख्या : ५२; मूल्य : ४० न.पै.।**

उपरोक्त पुस्तिकाओं में महात्माजी के लेखों का पुस्तकों के नापों के अनुरूप संग्रह है। पुस्तकों के विषय उनके नाम से स्पष्ट हैं। ये पुस्तिकाएं ग्राम पुस्तकालयों तथा नवसाक्षरों के लिए अत्यंत उपयोगी हैं और अधिक-से-अधिक प्रचार के योग्य हैं।

(९) **गृहस्थाश्रम की दीक्षा—लेखक : श्री केदारनाथ; पृष्ठ संख्या : १२; मूल्य : २५ न.पै.।**

(१०) **समय का सदुपयोग—लेखक : उपरोक्त; पृष्ठ-संख्या : २०; मूल्य : ३० न.पै.।**

(११) **सच्चे सुख का मार्ग—लेखक : उपरोक्त; पृष्ठ-संख्या : २०; मूल्य : ३० न.पै.।**

(१२) **महिलाओं से—लेखक : उपरोक्त; पृष्ठ-संख्या : ३१; मूल्य : ३५ न.पै.।**

(१३) **संयम और ब्रह्मचर्य—लेखक : उपरोक्त; पृष्ठ-संख्या : १६; मूल्य : २५ न.पै.।**

श्री केदारनाथ नैतिक तथा चरित्र-गठन-सम्बन्धी उपयोगी विषयों के सिद्धहस्त लेखक हैं, उनके विचारों में चिंतनशीलता और सात्विकता है। पुस्तकों के विषय उनके नाम से स्पष्ट हैं। पुस्तकें अधिक से अधिक प्रचार योग्य हैं। इन पुस्तिकाओं के लिए लेखक तथा प्रकाशक बधाई के पात्र हैं। पुस्तकों का मूल्य कुछ अधिक है।

(१३) **बापू के जीवन-प्रसंग—लेखिका : श्रीमती मनुबहन गांधी; अनुवादक, श्री सोमेश्वर पुरोहित; पृष्ठ-संख्या : ५६; मूल्य : ५० न.पै.।**

लेखिका गांधीजी के जीवन के अंतिम दिनों में गांधीजी की सेवा तथा उनके काम में रत रहीं और उन्होंने गांधीजी के उस समय के कामों के संबंध में कुछ पुस्तकें लिखी हैं। उनकी इस छोटी-सी पुस्तक में गांधीजी के दैनिक जीवन से कई बोधप्रद तथा शिक्षापूर्ण प्रसंग सरल, तथा सुबोध भाषा में विद्यार्थियों तथा प्रौढ़जनों के लिए लिखे हैं। ये प्रसंग गांधीजी के साधारण कामों पर, साधारण मनोभावों पर और जिन्दगी में रोज-रोज खड़े होने वाले सवालों के साधारण हलों पर रोशनी डालते हैं। पुस्तक भारत सरकार द्वारा पुरस्कृत हुई है और इसकी प्रस्तावना प्रधान मंत्री श्री जवाहरलाल नेहरू ने लिखी है। सभी प्रसंग अत्यंत रोचक तथा शिक्षाप्रद हैं।

—माईदयाल जैन

क्या व कैसे ?

नये राष्ट्रपति का अभिनंदन

बारह वर्ष तक राष्ट्रपति के पद पर आसीन रहने के उपरान्त डॉ० राजेन्द्रप्रसाद ने अवकाश ग्रहण कर लिया है और उनके स्थान पर डॉ० सर्वपल्ली राधाकृष्णन प्रतिष्ठित हो गये हैं। डा० राधाकृष्णन से हमारे देशवासी भली-भांति परिचित हैं। इसलिए नहीं कि वह उपराष्ट्रपति-पद पर अनेक वर्षों से रहे हैं, बल्कि इसलिए कि वह हमारे देश के इने-गिने शिक्षा-शास्त्रियों में और भारतीय संस्कृति के उन्नायकों में से हैं।

भारत के सर्वोच्च पद के मुकुट को अपने सिरपर धारण करने के लिए हम उनका अभिनंदन करते हैं और आशा करते हैं कि वह इस पद की मर्यादा और गौरव की उसी प्रकार रक्षा करेंगे, जिस प्रकार हमारे महान् नेता श्रद्धेय डॉ० राजेन्द्र-प्रसाद ने की थी।

हमारे देश के सामने आज बड़ी महत्वपूर्ण समस्याएं हैं— कांग्रेस के आपसी झगड़े, बेरोजगारी, काश्मीर का मसला, भारत की सीमा पर चीन का अतिक्रमण आदि-आदि। लेकिन इनसे भी अधिक भयंकर समस्या देश के नैतिक पतन की है, जो बड़े खुले रूप में हमें प्रत्येक क्षेत्र में दिखाई दे रहा है। भ्रष्टाचार, रिश्वतखोरी, झूठ-फरेब आदि व्याधियां इतनी बढ़ गई हैं कि उनसे सारा देश हैरान हो रहा है। हमारे नेता आदर्श की बड़ी-बड़ी बातें करते हैं; पर सचाई यह है कि अधिकांश व्यक्ति अपने आचरण से कोई ऊंची मिसाल कायम नहीं करते। परिणाम यह है कि उनकी बातों का किसीपर कोई असर नहीं होता।

हम जानते हैं कि इस व्याधि का इलाज तब होगा, जबकि सारा देश उसके उन्मूलन में योग देगा; लेकिन यह भी सही है कि जबतक हमारे नेता अपने जीवन को पाक-साफ़ बनाकर सादगी और सच्चाई का आदर्श प्रस्तुत नहीं करेंगे, तबतक जन-सामान्य से ऊंचे उठने की आशा करना व्यर्थ है। 'यथा राजा तथा प्रजा' वाली कहावत गलत नहीं है।

राष्ट्रपति के पद पर बैठते ही डॉ० राधाकृष्णन् की यह घोषणा कि वह दस हजार प्रतिमास की जगह केवल ढाई हजार रुपये वेतन में लेंगे, अभिनंदनीय है। हमने यह भी सुना है कि राष्ट्रपति-भवन के बहुत-से आडम्बर को वह कम करने का विचार कर रहे हैं। यह सब बहुत ही उचित है और अनुकरणीय भी। यदि केन्द्र तथा राज्यों के मंत्री अपने वैभव को सीमित कर दें तो उसका प्रभाव देश की सामान्य जनता पर पड़े बिना न रहेगा।

हमारा विश्वास है कि हमारे नये राष्ट्रपति इस दिशा में गंभीर चिन्तन करके ऐसे कदम उठाने में संकोच नहीं करेंगे, जिनसे आज की कलुषित हवा शुद्ध हो और आज जो बुराइयां बड़ी तेजी से हमारे राष्ट्र के शरीर को जर्जर कर रही हैं, वे दूर हों। डॉ० राधाकृष्णन् की वाणी में ओज और जीवन में तेजस्विता है। आवश्यकता इस बात की है कि वह अपनी शक्ति लगाकर लोगों के विवेक को जाग्रत करें और ऐसे मूल्य स्थापित करावें, जिनमें अनैतिक कार्यों का स्रोत स्वतः ही सूख जाय। देश को खतरा बाहर से उतना नहीं है, जितना अंदर की कमजोरियों से।

लाख रुपये का पुरस्कार

पिछले दिनों उद्योगपति श्री शांतिप्रसाद जैन की पत्नी श्रीमती रमा जैन ने दिल्ली में टाइम्स ऑव इंडिया द्वारा आयोजित एक गोष्ठी में प्रतिवर्ष एक लाख रुपये का पुरस्कार देने की घोषणा की है। यह पुरस्कार वर्ष में प्रकाशित भारतीय भाषा की उस कृति पर दिया जायगा, जो सर्वोत्तम निर्णीत होगी। पुरस्कार भारतीय ज्ञानपीठ की ओर से दिया जाया करेगा, जिसकी रमाजी अध्यक्षा हैं। लगभग पचास हजार रुपया इस पुरस्कार की व्यवस्था पर हर साल खर्च हुआ करेगा।

साहित्य के क्षेत्र में सबसे बड़ा पुरस्कार इस समय पांच हजार रुपये का है, जो प्रतिवर्ष साहित्य अकादमी द्वारा, भारतीय संविधान के अंतर्गत स्वीकृत, चौदह भारतीय भाषाओं पर, दिया जाता है। इसके अतिरिक्त बारह नौ

रुपये का मंगलाप्रसाद पारितोषिक, दो हजार का देव पुरस्कार और ढाई हजार का हरजीमल डालमिया पुरस्कार है। किसी जमाने में इन पुरस्कारों का थोड़ा-बहुत आकर्षण था, पर अब तो उनके द्वारा रस्मअदाई हो रही है। उनकी प्रेरणा से न अच्छे साहित्य का सृजन होता है, न लेखकों को ही प्रोत्साहन मिलता है।

केन्द्रीय शिक्षा-मंत्रालय तथा विभिन्न राज्य सरकारें भी पुस्तकों पर प्रतिवर्ष पुरस्कार देती हैं; पर उनके बावजूद आज आम शिकायत है कि हिन्दी साहित्य के अभाव यथावत् बने हुए हैं।

अब जो लाख रुपये के पुरस्कार की घोषणा हुई है, उसका देश में उत्साहवर्द्धक स्वागत नहीं हुआ और यह स्वाभाविक ही है। अबतक के प्रचलित पुरस्कारों तथा इस पुरस्कार की राशियों में इतना अंतर है कि सामान्यतया पहली धारणा यह होती है कि इस पुरस्कार के पीछे लोगों को चमत्कृत करने की भावना है।

दूसरी बात मन में यह उठती है कि भारतीय भाषाओं के विपुल साहित्य में से सर्वोत्तम कृति का निर्णय सही ढंग से हो सकेगा, इसमें संदेह का पूरा अवसर है।

फिर यह भी संभावना है कि इस बड़ी राशि को प्राप्त करने के लिए बहुत-कुछ अवांछनीय तत्व उभरेंगे और वे भारतीय भाषाओं के बीच सौहार्द स्थापित करने के बदले विग्रह पैदा कर सकते हैं।

हमने गोष्ठी के समय आपसी चर्चा में कहा था कि एक लाख के एक पुरस्कार के स्थान पर यदि प्रमुख भारतीय भाषाओं की कृतियों पर ग्यारह-ग्यारह हजार रुपये के नौ पुरस्कार दिये जायं तो उसका अधिक हितकर परिणाम निकल सकता है। विभिन्न विषयों का वर्गीकरण करके, नौ वर्ग बनाकर, उनपर पुरस्कार दिये जा सकते थे। कहने का तात्पर्य यह कि पुरस्कार का इतना बड़ा क्षेत्र रखकर न किसी भाषा के साथ न्याय हो सकता है, न लेखकों के साथ।

इस राशि का एक दूसरे रूप में भी उपयोग हो सकता था। भारतीय ज्ञानपीठ द्वारा लेखकों को साधन-सुविधाएं देकर उस साहित्य का सृजन कराया जा सकता था, जिसकी आज बड़ी आवश्यकता है। भारतीय ज्ञानपीठ ने बहुत-से प्रकाशन किये हैं; लेकिन उनके पीछे कोई योजना नहीं है और न उनमें ऐसे मार्के के ग्रंथ हैं, जिन्हें अन्य सीमित साधनोंवाली प्रकाशन-संस्था न निकाल सकती हो।

किसी जमाने में कवियों तथा कलाकारों को राजाश्रय दिया जाता था; लेकिन राजाश्रय पानेवालों में कुछ स्वाधीनचेता कलाकार इतने समर्थ होते थे कि वे अपने स्वाभिमान की रक्षा कर सकते थे। आज के युग में यह संभव नहीं है। ऐसी दशा में बड़े-बड़े पुरस्कार लेखकों की सृजनात्मक शक्ति को कुण्ठित कर सकते हैं, बढ़ा नहीं सकते। हमें मालूम हुआ है कि बहुत-से लेखकों ने अभी से पुरस्कार-दाता के यहां चक्कर लगाना आरंभ कर दिया है।

यदि इतना बड़ा पुरस्कार दिया ही जाना था तो उसे किसी मान्य सार्वजनिक संस्था अथवा भारत सरकार के द्वारा देना अधिक संगत होता।

जो हो, हमारा सुझाव है कि अब भी अधिकारी व्यक्तियों को इस दिशा में गंभीरतापूर्वक विचार करके ऐसी योजना करनी चाहिए, जिससे इस राशि का पूरा-पूरा उपयोग हो, उससे लेखकों को प्रोत्साहन मिले, अच्छे साहित्य का सम्वर्द्धन हो और भारतीय भाषाओं के बीच सद्भाव स्थापित हो।

आणविक परीक्षणों की यह होड़ !

एक ओर जेनेवा में आठ राष्ट्र निःशस्त्रीकरण के संबंध में रास्ता निकालने का भगीरथ प्रयास कर रहे हैं, दूसरी ओर अमरीका और रूस ने पुनः आणविक परीक्षणों का सिलसिला जारी कर दिया है। इन परीक्षणों का प्रयोजन निश्चय ही एक दूसरे को आतंकित करना है। उससे भी अधिक भयंकर बात यह है कि परीक्षणों का विचार पारस्परिक विद्वेष में से उठकर आ रहा है।

विश्व के इन दो शक्तिशाली राष्ट्रों की यह होड़ और दौड़ सारे संसार के लिए कितना खतरा पैदा कर रही है, यह किसीसे छिपा नहीं है। आजः प्रायः सभी राष्ट्र शीत-युद्ध की यातना अनुभव कर रहे हैं और उनके सिर पर समय-समय पर तीसरे महायुद्ध के बादल मंडराने लगते हैं। विनाशकारी अस्त्रों का तेज़ी से हो रहा यह निर्माण बताता है कि आगे युद्ध यदि हुआ तो उसका कितना दुष्परिणाम निकलेगा।

रूस बार-बार निःशस्त्रीकरण की बात कहता है। आणविक परीक्षणों पर रोक लगाने की बात भी समय-समय पर उससे सुनने को मिलती है। अमरीका भी उस दिशा में बड़ी-

बड़ी बात करता है और कहता है कि वह संसार में शान्ति चाहता है। लेकिन हमारी समझ में नहीं आता कि अशान्ति के बीज बोकर कोई भी विवेकशील व्यक्ति शान्ति के फल पाने की आशा कैसे कर सकता है? दोनों राष्ट्र—रूस और अमरीका—शांति, मैत्री, सद्भाव, विश्व-कल्याण आदि के नारे लगाते हैं, पर उनका आचरण एकदम विपरीत हो रहा है। उनकी यह दोहरी नीति उनके लिए तो विघातक है ही, समूची मानव-जाति के लिए उससे त्रास उत्पन्न हो रहा है।

इस सारी विषम परिस्थिति में आशा की किरण एक ही है और वह यह कि छोटे-बड़े सभी राष्ट्रों में लोकमत आणविक परीक्षणों तथा शस्त्रीकरण के विरुद्ध तैयार हो रहा है। अनेक देशों में आएदिन सार्वजनिक प्रदर्शन होते रहते हैं और लोग ऊंचे स्वर में कहते हैं कि वे मानव के लिए अकल्याण-कारी इन कार्यों को सहन नहीं करेंगे।

हाल ही में विश्व के महान् दार्शनिक बर्ट्रैंड रसेल ने आणविक परीक्षण के विरुद्ध बड़े जोरों की आवाज उठाई है। ब्रिटेन में सौ व्यक्तियों की एक कमेटी बनी है, जिसके वह प्रमुख हैं। उनकी अवस्था इस समय ९० वर्ष की है। गहरी वेदना के साथ उन्होंने एक लेख में लिखा है, "मैं सोचा करता था कि बूढ़ा होने पर मैं दुनिया से संन्यास ले लूंगा और जिन महान् ग्रंथों को मैं अबतक नहीं पढ़ सका था, उन्हें पढ़ते हुए ऊंचा सांस्कृतिक जीना जीऊंगा। लेकिन शायद यह मेरा कोरा स्वप्न था। आज जो हो रहा है, उससे उदासीन होना मुझे असंभव लगता है। सन् १९१४ से लेकर प्रायः हर नाजुक घड़ी में गलत चीजें होती रही हैं।"

आज यातायात के साधनों ने जहां दुनिया को बहुत ही छोटा कर दिया है और विज्ञान के बढ़ते चरण नये-नये लोकों की खोज कर रहे हैं, वहां प्रतिद्वन्द्वी राष्ट्र मानवता को दफ़नाने के लिए कब्र खोद रहे हैं।

युग का तकाजा है कि जिनके हाथ में शक्ति है, वे ऐसे कार्य करें, जिससे आपस में भाई-चारा बढ़े, सब एक-दूसरे की मदद करें और मानव-जाति सुखी हो। लेकिन यह तभी संभव होगा जबकि हम इस बात के लिए लालायित न हों कि सारी दुनिया हमारा लोहा माने, हमसे दबी रहे और हमारे झंडे के नीचे हमारे गीत गावे। व्यक्ति का सबसे बड़ा भूषण उसकी स्वाधीनता है, और जो राष्ट्र दूसरे की स्वाधीनता को मान देते हैं, उसकी स्वाधीनता की रक्षा करते हैं, वे इतिहास में अमरता प्राप्त करते हैं।

हम चाहते हैं कि शस्त्रीकरण की बढ़ती दौड़ और आणविक परीक्षणों की होड़ के विरुद्ध जन-मत पूर्णतया जागरूक हो और वह राजनीतिज्ञों के लिए ऐसी लाचारी पैदा कर दे कि वे मानव के लिए कोई भी अहितकर काम न कर सकें।

अनुवाद की समस्याएं

अनुवाद की समस्या को लेकर पिछले दिनों राजधानी में कई गोष्ठियां आयोजित हुई हैं। पहली गोष्ठी टाइम्स ऑव इंडिया की ओर से हुई थी। बाद की गोष्ठियां साहित्य अकादमी तथा आकाशवाणी की ओर से। इन सब गोष्ठियों का किया जाना इस बात का द्योतक है कि हमारे देश की कई प्रमुख संस्थाएं और व्यक्ति अनुवाद के महत्व को समझने लगे हैं और वे चाहते हैं कि इस दिशा में विधिवत् प्रयास हो।

इन सभी गोष्ठियों में लम्बी चर्चाएं हुईं, जिनमें अनेक गण्यमान्य व्यक्तियों ने भाग लिया। टाइम्स ऑव इंडिया की गोष्ठी में वे लोग भी सम्मिलित थे, जो उस संस्था के अनुवाद के कार्य में सहायता दे रहे हैं और अनुवाद की व्यावहारिक कठिनाइयों को जानते हैं। उनसे अपेक्षा की गई थी कि वे अपने ठोस विचार गोष्ठी में प्रस्तुत करेंगे।

लेकिन कुल मिलाकर इन गोष्ठियों में ऐसी कोई बात सामने नहीं आई, जिसे हम दिशा-दर्शक कह सकें। अनुवादक को दोनों भाषाओं का ज्ञान होना आवश्यक है या नहीं, अनुवाद में मूल भाषा के मुहावरे रहने चाहिए या नहीं, ये तथा अन्य प्रश्न उतने महत्व के नहीं हैं, जितना यह कि आप किन पुस्तकों का अनुवाद कराना चाहते हैं। टाइम्स ऑव इंडिया की योजना भारतीय भाषाओं से चुनी हुई पुस्तकों का अनुवाद अंग्रेजी में कराने की है। आरंभ हिंदी से करना चाहते हैं।

हमारी राय में जरूरी चीज यह है कि पुस्तकें बिना किसी मुलाहिज़े के चुनी जायं और वे ऐसी हों, जो भारतीय साहित्य और भारतीय प्रतिभा का प्रतिनिधित्व कर सकें। अनुवाद अबतक बहुत-से हुए हैं, लेकिन हम देखते हैं कि गुटबंदी के आधार पर उल्टी-सीधी पुस्तकें चुनी जाती हैं। उनसे एक बहुत बड़ा अहित यह होता है कि विदेशों में भारतीय साहित्य

की उत्कृष्टता के विषय में लोगों की गलत धारणा बनती है और वे उन पुस्तकों को पढ़कर इस निर्णय पर आते हैं कि भारतीय साहित्य अन्य देशों के साहित्य की तुलना में बहुत ही रंक है।

इसलिए सबसे पहली चीज़ यह होनी चाहिए कि अनुवाद के लिए पुस्तकें प्रामाणिक विद्वानों द्वारा अत्यन्त सावधानी से चुनी जायं। उन पुस्तकों में विविधता रहे, यह भी जरूरी है।

दूसरी बात है अनुवाद की। यह काम बहुत ही कठिन है, एक प्रकार से मौलिक लेखन से भी ज्यादा मुश्किल है। इसमें उन विदेशी विद्वानों की सहायता लेनी चाहिए, जो उस भारतीय भाषा के ज्ञाता हों, जिससे अनुवाद किया जाना है। अपनी मातृभाषा के मुहावरों को उनसे अधिक अच्छी तरह दूसरा व्यक्ति नहीं जान सकता। अनुवाद की सबसे बड़ी विशेषता यह होनी चाहिए कि उसके पढ़ने में मूल का-सा आनंद आवे। यह तभी संभव है, जबकि मूल भाषा के मुहावरों को देने का आग्रह न रखकर अनुवाद की भाषा के शिल्प को प्रमुखता दी जाय।

इन पुस्तकों की छपाई तथा जिल्द आदि में विदेशी प्रकाशनों के मानदंड को ध्यान में रखना परमावश्यक है। सुन्दर, सुरुचिपूर्ण आवरण, अच्छा कागज, बढ़िया छपाई पुस्तक की सामग्री को ग्राह्य बनाने में सहायक होते हैं।

'जीवन-साहित्य' के ग्राहक बढ़ाइये

'जीवन-साहित्य' के पिछले अंकों में हमने पाठकों से अनुरोध किया था कि वे अपने-अपने क्षेत्र में कुछ ग्राहक बना देने की कृपा करें। हमें हर्ष है कि कई कृपालु बंधुओं ने यह कार्य आरंभ कर दिया है और वे न केवल ग्राहक बनाकर भेज रहे हैं, अपितु संभावित ग्राहकों के पते भी सुलभ कर रहे हैं। सन् १९६२ के अंत तक अर्थात् अगले छः महीनों में हम कम-से-कम दो हजार ग्राहक बढ़ा देना चाहते हैं; लेकिन यह पाठकों के सहयोग से ही संभव हो सकेगा। यदि पाठक २५-२५ ग्राहक अपने-अपने क्षेत्रों से बढ़ा दें तो हमारे लक्ष्य की पूर्ति सहज ही हो सकती है। अगर हमें साहित्य-प्रेमियों के पते मिल जायं तो हम भी उन्हें पत्र लिखकर उनसे ग्राहक बनने का अनुरोध कर सकते हैं। हमारा विश्वास है कि प्रत्येक नगर, कस्बे तथा ग्राम में कुछ व्यक्ति ऐसे अवश्य होते हैं, जो अच्छा साहित्य पढ़ने की इच्छा रखते हैं। हम उनके पास पहुंच जायं तो वे निश्चित रूप से ग्राहक बन सकते हैं।

हम चाहते हैं कि 'जीवन-साहित्य' के पृष्ठों में वृद्धि करें, उसकी सामग्री को अधिक वैचित्र्यपूर्ण बनावें, उसमें कुछ चित्र दें, कुछ नये स्तम्भ खोलें; पर यह तभी हो सकता है, जब कि उसके ग्राहक बढ़ें।

हम आशा करते हैं कि हमारे पाठक हमारे ध्येय की शीघ्रातिशीघ्र पूर्ति कर देंगे।

—य०

'मंडल' की ओर से

राष्ट्रपति को उपहार

२५ अप्रैल को अपने प्रधान संरक्षक डॉ० राजेन्द्रप्रसाद के सम्मान में 'सस्ता साहित्य मंडल' ने राष्ट्रपति-भवन, नई दिल्ली में एक गोष्ठी का आयोजन किया। इस अवसर पर 'मंडल' के अध्यक्ष श्री घनश्यामदास बिड़ला उपस्थित थे। उनके अतिरिक्त सर्वश्री काकासाहेब कालेलकर, वियोगी हरि, बनारसीदास चतुर्वेदी, जैनेन्द्रकुमार, लक्ष्मी देवदास गांधी, मन्मथनाथ गुप्त, विष्णु प्रभाकर, सत्यवती मल्लिक, देवराज दिनेश प्रभृति साहित्यकार तथा मंडल के कर्मचारी भी मौजूद थे।

सर्वप्रथम 'मंडल' के अध्यक्ष ने राष्ट्रपति का स्वागत किया। श्री वियोगी हरि ने उन्हें माल्यार्पण की। तत्पश्चात् 'मंडल' के मंत्री मार्तण्ड उपाध्याय ने उन्हें 'मंडल' की लगभग छः सौ पुस्तकों का सेट भेंट किया।

डॉ० राजेन्द्रप्रसाद की 'मंडल' और उसके प्रकाशनों में आरंभ से ही रुचि रही है। पहले वह 'मंडल' के संचालक-मंडल के सदस्य थे। बाद में राष्ट्रपति होने पर वह प्रधान संरक्षक बन गये।

राष्ट्रपति ने कई पुस्तकों को बड़ी रुचि के साथ देखा और प्रकाशनों की सादगी, विविधता और सस्ते मूल्य आदि पर प्रसन्नता प्रकट की।

अंत में अपना आशीर्वाद देते हुए राष्ट्रपति ने कामना की कि 'मंडल' के कार्य की और अधिक प्रगति हो। उन्होंने अपनी आंतरिक अभिलाषा व्यक्त करते हुए कहा कि मैं राष्ट्रपति-पद से अवकाश ग्रहण करने के उपरान्त अपना शेष जीवन साहित्य की सेवा में व्यतीत करना चाहता हूं।

कुछ समय पूर्व उन्होंने 'मंडल' के विषय में लिखा था—"मैं 'मंडल' के काम में आरंभ से ही दिलचस्पी लेता रहा हूं और उसने हिंदी-साहित्य की जो वृद्धि और सेवा की है, उसका मैं बहुत ही आदर करता हूं।

"काम बढ़ाने के लिए 'मंडल' ने जो 'सहायक सदस्य' बनाने की योजना बनाई है, वह मुझे अच्छी और उपयोगी मालूम पड़ती है। मैं आशा करता हूं कि उसमें वह पूरी तरह सफल होगा और उस सफलता के फलस्वरूप 'मंडल' का काम आगे बढ़ेगा और साथ-साथ हिन्दी की सेवा भी होगी।"

'मंडल' ने डॉ० राजेन्द्रप्रसाद की कई पुस्तकें प्रकाशित की हैं, जिनमें उनकी 'आत्मकथा' तथा 'गांधीजी की देन' अत्यन्त लोकप्रिय हुई हैं। 'आत्मकथा' का अनुवाद तो कई भारतीय भाषाओं में हुआ है। वस्तुतः वह सामान्य आत्मकथा नहीं है। उसमें स्वतंत्रता-संग्राम का इतिहास आ गया है। सामग्री तथा लेखन-शैली, दोनों की दृष्टि से यह ग्रंथ अनूठा है। उसका शीघ्र ही नया संस्करण प्रकाशित हो रहा है।

गांधी डायरी—१९६३

'गांधी डायरी' की छपाई अगले मास से आरंभ हो रही है। हमारी सूचना पर कुछ लोगों ने अपनी मांग हमें भेज दी है। हमारा पुनः अनुरोध है कि पुस्तक-विक्रेता तथा अन्य व्यक्ति अपनी आवश्यकता अपेक्षित पेशगी रकम के साथ शीघ्र ही भेज दें, जिससे उनकी प्रतियां अभी से सुरक्षित हो जायं और हमें अंदाज हो जाय कि कितनी प्रतियां छपवानी चाहिए। डायरी छोटे-बड़े दोनों आकारों में छपेगी और उनका मूल्य यथापूर्व रहेगा, अर्थात् बड़ी का २।।), छोटी का १।)।

हम नहीं चाहते कि डायरी के लिए हम किसी को निराश करें, लेकिन उसके लिए जरूरी है कि लोगों की मांग हमें जून के अंत तक अवश्य प्राप्त हो जाय।

'मंडल' के नये प्रकाशन

'मंडल' से कई नई पुस्तकें निकल रही हैं, जो बड़ी ही उपयोगी हैं। डॉ० बलदेव उपाध्याय की **'भारतीय दर्शन सार'** तैयार है। भारतीय संस्कृति तथा दर्शन के प्रत्येक प्रेमी को यह पुस्तक पढ़नी चाहिए। **'आओ, विमान चलावें'** बच्चे-बड़े सबके लिए ज्ञानवर्धक कृति है। **'कीड़-मकोड़े'** भी संग्रहणीय पुस्तक है। इन दोनों पुस्तकों में खूब चित्र दिये गए हैं। **'धरती के देवता'** खलील जिब्रान की ऐसी रचना है, जिसे एक बार नहीं, दस बार पढ़ने पर भी तृप्ति नहीं होती।

इनके अतिरिक्त और बहुत-सी पुस्तकें प्रेस में हैं। 'जीवन-साहित्य' के ग्राहक बनकर पुस्तकों की जानकारी प्राप्त करते रहिये अथवा एक कार्ड लिखकर 'मंडल' का सूची-पत्र मंगा लीजिये।

'मंडल' के प्रकाशनों की मांग अपने यहां के पुस्तक-विक्रेताओं से कीजिए। उनके यहां पुस्तकें प्राप्य न हों तो उनसे आग्रह कीजिये कि वे मंगावें।

—मंत्री

'मण्डल' का अभिनव प्रयास

भारत की बहुमुखी संस्कृति
का
परिचय देनेवाली

भारत-परिचय-ग्रंथमाला
के प्रकाशन की योजना के अंतर्गत
पहली पुस्तक

भारतीय दर्शन-सार

पढ़िये और भारतीय दर्शन
की प्रमुख धाराओं से
परिचय कीजिये

लेखक : **डा० बलदेव उपाध्याय**

पृष्ठ ४०२ ; मूल्य : साढ़े चार रुपये

माला के अन्य ग्रंथों की प्रतीक्षा कीजिये

सस्ता साहित्य मण्डल

नई दिल्ली

हमारे नवीन प्रकाशन

पुस्तक	लेखक	मूल्य
कुछ पुरानी चिट्ठियां	जवाहरलाल नेहरू	१०.००
खंडित पूजा (कहानियां)	विष्णु प्रभाकर	३.००
पुष्पोद्यान	शंकरराव जोशी	३.००
'कहिये समय विचारि'	लक्ष्मीनिवास बिड़ला	१.००
जानवरों का जगत	सुरेशसिंह	२.००
विनोबा के जंगम विद्यापीठ में	कुंदर दिवाण	२.५०
शारदीया (नाटक)	जगदीशचन्द्र माथुर	१.५०
सर्वोदय-संदेश	विनोबा	१.५०
पत्र-व्यवहार : भाग ३	संपा० रामकृष्ण बजाज	३.००
जड़ जगत की कहानियां	नंदलाल जैन	२.००
भा० स्वाधीनता-संग्राम का इतिहास	इन्द्र विद्यावाचस्पति	५.५०
प्राकृतिक जीवन की ओर	एडोल्फ जस्ट	१.५०
आधुनिक सहकारिता	विद्यासागर शर्मा	२.००
कर भला, होगा भला	भगवानचन्द्र 'विनोद'	१.५०
बरगद की छाया	देवराज दिनेश	२.५०
नवीन चिकित्सा	महावीरप्रसाद पोद्दार	१.५०
गांधीवादी संयोजन के सिद्धान्त	श्रीमन्नारायण	५.००
सूफ़ी संत-चरित	महात्मा भगवान	३.००
भारतीय दर्शन-सार	बलदेव उपाध्याय	४.५०
बाल राम-कथा	सुदक्षिणा	२.००
रूसी युवकों के बीच	रामकृष्ण बजाज	२.५०
आओ, विमान चलायें	देवव्रत वसु	२.००
सरल योगासन	धर्मचंद सरावगी	२.५०
आज का इंग्लिस्तान	मुकुटबिहारी वर्मा	२.००
बालकों का पालन-पोषण	डॉ० आचार	२.५०
यूरोप-यात्रा	विट्ठलदास मोदी	१.५०
रेबेका	दाफ्न द्यू मोरिये	५.००
सिपाही की बीवी	मामा वरेरकर	२.५०
प्रतिज्ञा योगंधरायण	भास	०.४०
अनोखा	विक्टर ह्यूगो	२.५०
दिव्य जीवन	स्वेट मार्डेन	१.५०
व्यवहार और सभ्यता	गणेशदत्त शर्मा	१.५०
संघर्ष नहीं, सहयोग	क्रोपाटकिन	२.००
अतलांतिक के उस पार	रामकृष्ण बजाज	२.५०
सूक्ति-रत्नावली	संपादक-आनंदकुमार	१.५०
नीरोग होने का सच्चा उपाय	ट्राल	१.००
गुरुदेव और उनका आश्रम	शिवानी	१.००
संतों का वचनामृत	रं. रा. दिवाकर	६.००
पुरंदरदास के भजन	कुमठेकर	३.५०
बोधि-वृक्ष की छाया में	भरतसिंह उपाध्याय	२.५०
सेतुवध	बनारसीदास चतुर्वेदी	२.००
आकृति से रोग की पहचान	लुई कूने	२.००
अफ्रीका जागा	एन्क्रूमा की आत्मकथा	३.००
कीड़े-मकोड़े	सुरेशसिंह	२.००
विनोबा के पत्र	संपा. रामकृष्ण बजाज	४.००

समाज-विकास-माला

प्रत्येक का मूल्य ०.३७ न. पै.

१३१. बाल गंगाधर तिलक, १३२. लाल किला १३३. रवींद्रनाथ ठाकुर, १३४. कुदरत की मिठाइयां १३५. संत एकनाथ, १३६. मछेरा और देव १३७. लाला लाजपतराय, १३८. एवरेस्ट की कहानी, १३९. गणेशशंकर विद्यार्थी, १४०. चतुराई की कहानियां, १४१. शेरे पंजाब, १४२. वसीयत, १४३ अज़ीज़न, १४४. गोलकुंडा का किला, १४५. मिर्ज़ा ग़ालिब, १४६. अजंता-एलोरा, १४७. हमारा हिमालय, १४८. हारिये न हिम्मत, १४९. गोमुख, १५०. गांधीजी के आश्रम-१, १५१. गांधीजी के अश्रम-२

पुनर्मुद्रण

पुस्तक	लेखक	मूल्य
आत्म-रहस्य	रतनलाल जैन	३.५०
हमारे गांव की कहानी	रामदास गौड़	२.००
जीवन-प्रभात	प्रभुदास गांधी	५.००
भागवतधर्म	हरिभाऊ उपाध्याय	७.००

सस्ता साहित्य मंडल, नई दिल्ली ।

मार्तण्ड उपाध्याय, मंत्री, सस्ता साहित्य मंडल, नई दिल्ली द्वारा न्यू इण्डिया प्रेस, नई दिल्ली में छपवाकर प्रकाशित

जुलाई, १९६२

जीवन साहित्य

सत्साहित्य प्रकाशन

राजर्षि पुरुषोत्तमदास टण्डन

वर्ष २३ : अंक ७

सम्पादक
हरिभाऊ उपाध्याय
यशपाल जैन

अहिंसक नवरचना का मासिक

जीवन-साहित्य

जुलाई, १९६२

• • •

विषय-सूची

ग्राहकों के लिए आवश्यक सूचना

निम्नांकित नंबरों के ग्राहक-बंधुओं का चंदा जून १९६२ के अंक के साथ समाप्त हो गया है। वी० पी० में होनेवाले अनावश्यक विलंब और व्यय से बचने के लिए कृपया आगामी चंदा मनीआर्डर से भेज दें। ३१ जुलाई तक मनीआर्डर प्राप्त न होने पर अगस्त अंक वी० पी० से भेज दिया जायगा।

१०१०, १२८६, १४६५, ६६, ७०, ७२ से ७४, ७६, ७७, ८२, ८६, ८७, ९२, ९४, ९५ से ९७, ९९, १५००, ३, ५, ६, ८, ११, १३, १९, २२, २५, ३१, ३२, ३४, ३५, ३६, ४०, ४१ से ४४, ५१ से ५३, ५६, ५८, ६०, ६२, ६८, ७१, ७३, ७६ से ७९, ८२, ८३, ८६ से ९०, ९३, ९७, १६०३, ४, ६, ९, १०, ११, १७, २०, २२, २४, ३२, ३३, ३७, ३९, ४०, ४१, ४३, ४६, ४८, ५०, ५५, ५६, ५९, ६०, ८३, ९३, ९५, १७०३, ५, ६, १४, १७, २९, ४२, ४३, ४९, १८०४, ३७, ७६ १९२५, २०१२, ३२, ३८, ४३, ४५, ४८, ४९, ९६, ९९, २१०४, १०, १८, ३३, ३५, ३७, ३८, ३९, ४१, ५४, ५५, ६०, ७२, ७३, ७९, ८४, ९०, ९१, ९९, २२०३, ८, ३६, ४१, ६४, ६५, ६७ से ७५, ९२, २३७९, ८०, ९०, ९२, २४१५, १६, १७, १८, १९, २१, २२, २५, २५००, ५५, ५७ से ६०, ६६, ६८, ७४, ७६, ७७, ७९, ८०, ८१, ८३, ८६, ८८, ८९, ९२, ९४, ९६, ९८, ९९, २६०१, ३, ५, ८, १०, १२, १४, २५, २९, ४०, ४१, ४२, ४५, ४६, ४८, ५४, ५८, ६६, ७०, ७१, ८१, ८२, ८५, ८६, २७०३, ६, २६, २८, ३२, ३८, ४०, ४१ से ४४, ४९, ५२, ५३, ५६, ६३, ८६, २८०१, ५, ६, ७ से २४, २७, ३३, ४८, ७०, ७१, २९०६, ९, २८, ३४, ३७, ३९, ४१, ४२, ४३, ४५, ४८, ४९, ५०, ५२, ५३, ५४, ५५ से ६५, ६८ से ७२, ७४, ७६, ७७, ७८, ८१, ८२, ८४, ८६, ८७, ८९, ९०, ९१, ९३, ९४, ९५, ९६, ९७, ९९, ३००० से २, ४ से ७, ९ से ११, १४, १८ से २३, २६, २८ से ३५, ३८, ३९, ४०, ४२, ५२, ५८, ७२।

—व्यवस्थापक

● ●

उत्तर प्रदेश, राजस्थान, मध्यप्रदेश, हिमाचल प्रदेश, दिल्ली, बिहार तथा पंजाब राज्य-सरकारों द्वारा कालेजों, लाइब्रेरियों तथा उत्तर प्रदेश की ग्राम-पंचायतों के लिए स्वीकृत

● ●

● वर्ष २३
● अंक ७

● ●

जुलाई, १९६२

स्मृति-दिवस की प्रेरणा

विनोबा

ग्यारह साल पहले इसी दिन हमको पहला भूदान मिला था। वह दिन और वह स्थान हमको याद रहता है। हमारी आंखों के सामने आज दिन भर उसका चित्र रहा। आज की तरह ही उस दिन भी शाम को सभा हुई थी। लेकिन आज आप लोग जितनी संख्या में यहां हैं, उस दिन शायद इसका दसवां हिस्सा रहा होगा। छोटी सभा थी। थोड़े लोग थे। उसी सभा में पहला दान जाहिर हुआ।

हरिजनों ने सौ एकड़ जमीन की मांग की थी। हमने गांववालों के सामने उनकी मांग रक्खी। उसी समय एक भाई ने सौ एकड़ जमीन दान दे दी। तब हम विचार में पड़ गये। सोचने लगे कि क्या यह ईश्वर का इशारा है? क्या वह चाहता है कि हम भूमिहीनों के लिए ज़मीन मांगते फिरें? तब हमने और किसीकी सलाह नहीं ली और मन में तय कर लिया कि अब भूदान के जरिए ही भूमिहीनों की समस्या हल की जायगी। हम भूदान मांगने लगे। लोग देने लगे। यह आपके इतिहास में और दुनिया के इतिहास में भी छोटी घटना नहीं मानी जायगी कि लगभग छः लाख लोगों ने करीब चालीस लाख एकड़ जमीन दान में दी। प्रभु की इच्छा नहीं होती तो यह सब कैसे होता?

इन ग्यारह सालों में हमारे कई अच्छे-अच्छे साथी चले गये! किशोरलालभाई गये, जाजूजी गये, कुमारप्पा गये! गुजरात में नरहरि भाई परीख गये, मध्य प्रदेश में ठाकुर प्यारेलाल गये, पंजाब में अचिंतराम गये, कश्मीर में जनरल यदुनाथ सिंह गये, उत्तर प्रदेश में बाबा राघवदास गये, बिहार में लक्ष्मीबाबू गये, उड़ीसा में गोपबाबू गये! ये सब जानेवाले इस आंदोलन की बहुत बड़ी शक्ति थे। इन सबकी हमको क्षति महसूस होती है। इनकी जगह लेने-वाले जवानों में से मिलने चाहिए, कुछ मिल रहे हैं। उनकी प्रतिष्ठा बन रही है। बनते-बनते कुछ दिन लगेंगे। थोड़े दिन प्रभाव कम दिखेगा, लेकिन आगे प्रतिष्ठा होगी, तब प्रभाव पड़ेगा। यह एक युग की मांग है। इसलिए यह पूरी करके ही शान्त होगी।

जो हमारे साथी परमेश्वर के पास गये, उनकी उम्र कम-बेशी थी। कोई दो-चार साल बड़े थे तो कोई दो-चार साल छोटे। छोटे-बड़े सभी गये। हमारी यात्रा भी चल रही है। शरीर तो दिन-ब-दिन वृद्ध होता जा रहा है, लेकिन हृदय में अत्यन्त संतोष है। अगर आज परमेश्वर हमको बुलाये और हम यहीं से उसके पास जायं, तो पूर्ण समाधान के साथ उसके पास जायंगे। हमको यह नहीं लगेगा कि कोई वासना शेष है। यह ठीक है कि भगवान् ने और कुछ दिन शरीर में रक्खा तो हम नाराज नहीं होंगे। उस समय का उपयोग भगवान् की सेवा में किया जायगा। उसमें भी हमको प्रसन्नता है। इस प्रकार का समाधान जिंदगी में आया तो हम समझेंगे कि मानव-जन्म सार्थक हुआ।

आज ग्यारह साल से लगातार यात्रा चल रही है, जिससे लोगों को जरा आश्चर्य होता है। लेकिन आश्चर्य नहीं होना चाहिए। महापुरुष शंकरदेव तो बारह साल घूमे थे। वह जिस उद्देश्य से घूमे थे, वह ज्यादातर व्यक्तिगत उद्देश्य था। चित्त-शुद्धि, हरिप्रसाद, संतों से मिलना, उनके विचार सुनना, अपने विचार उनको सुनाना, इस तरह से व्यक्तिगत भाव ही था। बाद में जब उनका पूरा समाधान हो जाता था, तब कुछ सामूहिक काम उठा लेते थे। वह ऐसे काम उठाते थे, जिनसे सारे समाज-जीवन का उत्थान होता था। अंतः-शान्ति, अन्तःसमाधान की प्राप्ति कर उनको पहले अपना पूर्ण समाधान कर लेना पड़ा। पहले हमने भी वही किया था। १९२१ से १९५१ तक हम उस काम में लगे रहे, जिसको आज शांति-कार्य कह सकते हैं? बाद में हम वहां से निकले। एक दफा राह खुल जाती है, तो हजारों मनुष्य उस राह पर चल पड़ते हैं। सबके लिए साधना की जरूरत नहीं होती। जिन्होंने बिजली की खोज की, उनको संशोधन की जरूरत थी। लेकिन आज लोगों को बिजली के संशोधन की उतनी जरूरत नहीं है; क्योंकि बिजली के साधन उपलब्ध हैं। ऐसी ही अध्यात्म-शक्ति की बात है। जहां आध्यात्मिक शक्ति की खोज का सवाल आता है, वहां व्यक्तिगत संशोधन के लिए समय देना पड़ता है। लेकिन आध्यात्मिक शक्ति जीवन में लाने का सवाल जहां आता है, वहां रास्ता बन गया, ऐसा समझना चाहिए। हजारों लोग उस रास्ते पर चल पड़ेंगे। कुछ नये आयंगे, पुराने जायंगे। ऐसा तो होता ही रहेगा। पुराना पानी जाता है और नया आता है, तो नदी बहती रहती है। नदी में जो अपनी जान होती है, वह अंदर का झरना होता है। बाहर से आया हुआ पानी घटता भी है और बढ़ता भी है। आज भी हमारे शरीर में कोई थकान महसूस नहीं होती, क्योंकि अंदर एक प्रेरणा का झरना है। हम समझते हैं कि यह प्रेरणा भगवत् प्रेरणा है। वही हमको हिलाती-डुलाती रहती है। हम कौन हैं, चिंता करनेवाले? हमने सारी चिंता ऊपरवाले पर छोड़ दी है। सफलता, निष्फलता, गुण-दोष, सब उसीको समर्पण करके सब तरह से खुद को मुक्त पाते हैं।

असम की यात्रा से हमको बहुत आनंद हुआ। यहां आये तेरह महीने हो गये, अभी और भी कुछ दिन इधर लगेंगे। लेकिन अब असम की यात्रा समाप्त होने का समय आ गया है। हम यहां से जायंगे, फिर भी यहां के लोगों के साथ हमारा हमेशा हार्दिक संबंध रहेगा। यहां का काम चलेगा तो उसको हम जो मदद दे सकते हैं, देते रहेंगे। लेकिन अभी ईश्वर कह रहा है कि इस प्रदेश की यात्रा की समाप्ति का समय आया है। हमने यहां के लोगों में बहुत सौम्य चित्त पाया। सुमति कुमति सबके हृदय में है।

"सुमति-कुमति सबके उर बसहीं,
नाथ पुरान निगम अस कहहीं।"

यह भजन तुलसीदास ने गाया है। 'नामघोषा' में भी यह प्रार्थना की है कि 'गुसायोक कुमति, दियोक सुमति'। हर कामना हरएक के चित्त में होती है। परमेश्वर के साथ संबंध होता है, वह सुमति का होता है और वही संबंध टिकता है। कुमति आती है और जाती है। वह मनुष्य के चित्त का स्थायी-भाव नहीं है। मनुष्य के चित्त का स्थायीभाव तो सुमति है, सद्बुद्धि है। वह हरएक के हृदय में है। असम प्रदेश में भी हमने हरेक के हृदय में सद्बुद्धि भरी हुई पाई।

इस प्रदेश को हम भारत से अलग नहीं मानते। यहां के महापुरुषों ने अपना साहित्य ज्यादातर असमी भाषा में लिखा है और कुछ संस्कृत में भी लिखा है। उन्होंने भी ऐसी भावना नहीं रक्खी कि यह प्रदेश भारत से अलग है। "यह भारत भूमि है, यह धन्य भूमि है", ऐसा माना और कहा कि यहां हमको मानव-जन्म मिला, यह बहुत बड़ा भाग्य

(शेष पृष्ठ २४७ पर)

समाज-सेवा के मूलतत्व

●● डा० जाकिर हुसैन

सामाजिक कार्य अथवा समाज-सेवा में लगने के साथ ही व्यक्ति को स्वहित नहीं भूलना चाहिए। हमारा अपना व्यक्तित्व किसी भी हालत में महत्वहीन नहीं हो सकता। वास्तव में किसी भी सेवा-कार्य के प्रारंभ करने के पूर्व उसमें हमें अपने हिताहित का विचार कर लेना चाहिए। स्वहित की दृष्टि में से नैतिकता का उदय होता है और नैतिकता कल्याण की जननी है। कल्याण-कार्य कभी भी बुरा तो हो ही नहीं सकता। वह हितकर ही होगा, और कभी तो बहुत ही हितकर होगा। किन्तु मेरे ख्याल है कि उसका हितकर होना ही पर्याप्त नहीं, यद्यपि उसका हितकर होना अनिवार्य भी है और निर्विवाद भी। यदि आप अपने आस-पास देखें तो आपको कई लोग भलाई के काम में तो लगे दिखाई देंगे, किन्तु उनके पीछे उनके मन में कुछ-न-कुछ बुरा लक्ष्य छिपा होगा। ऐसा दिखावटी भलाई का काम मुंह में राम बगल में ईंट रखने के समान होगा। इससे इतना तो बिलकुल स्पष्ट हो जाना चाहिए कि नैतिक दृष्टि से इसे स्वस्थ स्थिति नहीं कहा जा सकता।

कहा गया है कि सच्चा जीवन सेवा है, वह एक मिशन है, एक उपासना है। यह ठीक है। किन्तु यह मिशन, जैसा कि अक्सर मान लिया जाता है, अपनी उपेक्षा करके दूसरों के लिए ही काम करते रहने में नहीं होता। उसका केवल दूसरों-ही-दूसरों के लिए होना जरूरी नहीं हैं। यदि हममें सेवा करने की महत्वाकांक्षा है तो हम यह न सोचें कि हमें दूसरों की ही सेवा करनी है, उस सेवा का हमसे कुछ भी संबंध नहीं है। यह ठीक नहीं है। यदि हम सेवा का कार्य अपनेसे प्रारंभ नहीं करते, तो सेवा भी दया के समान ही असम्बद्ध, शिथिल और शक्ति का अपव्यय मात्र बनकर रह जायगी। यदि सच्ची सेवा करना हो—और इस तरह की महत्वाकांक्षा रखना उचित है—यदि जीवन-मंदिर का सच्चा पुजारी बनना हो, तो हमें अपनी प्रकृतिदत्त क्षमताओं का संपूर्ण विकास करने के लिए कठिन श्रम करना होगा, सतत् साधना करनी होगी, सफल सेवक बनने की शुद्ध निष्ठा जगानी होगी, सतत् जाग्रत प्रार्थनापूर्ण साधना के द्वारा अपने-आपको सेवा के योग्य बनाना होगा, अपनी इच्छा-शक्ति को दृढ़ करना होगा, अपनी विवेक-शक्ति को शिक्षित करना होगा और अपनी दृष्टि को व्यापक करना होगा, हमें अपने प्रति प्रामाणिक रहना एवं शुद्ध आत्म-स्वरूप बनना सीखना होगा।

देखिये, शुद्ध निस्स्वार्थ समाज-सेवक बनने के लिए हमें अपने-आपको भी सुधारना है, इस केन्द्र-बिन्दु की ओर अपने जीवन की भाग-दौड़ में कभी-कभी हम दुर्लक्ष्य कर जाते हैं।

यह काम सफलतापूर्वक कैसे किया जाय ? मेरे विचार से इसका एक ही रास्ता है और वह यह कि ज़िन्दगी के अनगिनत भुलाओं के बावजूद हम अपने उपयोग के लिए अपने अनुरूप मूल्यों का, लक्ष्यों का, हितों का शोध करने का आग्रह रक्खें, तथा उसे शुद्ध और संस्कारी बनाने का समझ-बूझ के साथ प्रयत्न करते हैं। बौद्धिक विकास नैतिक ज्ञान और सफल सेवा से परिपूर्ण जीवन बिताने के लिए हमारा सबसे पहला काम यह है कि हम अपने मानसिक और नैतिक मूल्यों का पता लगा लें। अपने मूल्यों, लक्ष्यों और हितों के अपने अनुरूप स्वरूप का पता लगाकर ही हम अपने प्रकृत व्यक्तित्व को चरित्र का रूप दे सकते हैं। इसका मतलब यह हुआ कि उसके लिए हमें अपने मूल व्यक्तित्व की विशेषताओं का पता लगाना होगा, अपनी प्रकृति क्षमताओं का सावधानी, तत्परता एवं प्रार्थनापूर्वक उनके अन्तर्द्वन्द्वों का परिहार करते हुए एवं विविध महत्वपूर्ण तत्वों के बीच सुसमन्वय स्थापित करके आवश्यक और अनावश्यक रूपों के बीच भेद करने हमें अपना सुसम्बद्ध सर्वाङ्गीण विकास करना होगा। विविध महत्वपूर्ण तत्वों के बीच समन्वय स्थापित करने का काम कठिन तो है किन्तु फलप्रद है।

व्यक्ति की विशिष्टता उसका चरित्र है। परन्तु उस चरित्र का कोई नैतिक महत्व नहीं होता। वह अच्छा भी हो सकता है और बुरा भी। जड़ अपराधी, महान् डाकू और महान सन्त सबका चरित्र होता है। चरित्र में जब लोकोपयोगी वांछनीय नैतिक मूल्य पैदा किया जाता है तभी वह

नैतिक दृष्टि से महत्वपूर्ण हो सकता है। इसलिए कहने का आशय यह है कि हमें स्पष्टतः चरित्र का संबंध जीवन के लोकोपयोगी उच्च मूल्यों के साथ जोड़ने का लक्ष्य सिद्ध करना है। महान् मूल्यों के प्रति समर्पण की भावना चरित्र को व्यक्तित्व का रूप प्रदान करती है। व्यक्तिगत गुणों की सीमा से चरित्र की सीमा में गुजरते हुए समुचित लक्ष्यों की सेवा में संपूर्ण व्यक्तित्व तक पहुंचना, मैं मानता हूं, यही जीवन का राजमार्ग है।

यहां मैं शायद व्यक्ति को अनुचित महत्व दे रहा हूं, इसलिए अपनी बात को स्पष्ट कर दूं। महान् मूल्यों की ओर लगाव पैदा हो जाने पर अपने-आपको संपूर्ण रूप से डुबाना पड़ता है। वह ऐसी प्रक्रिया नहीं कि जिसका रूप कहीं कुछ और कहीं कुछ हो। एक जगह हम अनैतिक व्यापार करें, दूसरी जगह नैतिकता बरतें, एक जगह अनुचित मुनाफा लें, दूसरी जगह बड़े-बड़े दान दें, एक जगह हृदयहीन क्रूरता करें और दूसरी जगह अत्यधिक करुण बरसायें, एक जगह स्वच्छन्द लालच हो और दूसरी ओर अति प्रशंसित उदात्तता हो, एक जगह उस कुशलता को मान दें, जिसका जीवन मूल्यों से कतई संबंध न हो, और दूसरी जगह ऐसे मूल्य रखें, जिनमें कुशलता की आवश्यकता ही न पड़ी हो। और यहां मुख्य बात हमें यह याद रखनी है कि जिस समाज में हम रहते तथा घूमते-फिरते हैं, उससे हमारा जितना गहरा संबंध होगा उतनी ही हमारे डूबने में गहराई होगी। व्यक्ति और समाज के बीच की यह जगमगाती हुई जंजीर, यह रेशम की डोर ही उसे जीवन की भुलभुलैया से निकालने का साधन है। इसमें यह स्वीकृति निहित है कि जिस व्यक्ति के संबंध में हम अबतक सोचते आये हैं, उसका पूर्ण विकास तबतक नहीं हो सकता जबतक, जिस समाज में वह रहता है उसका उतना ही विकास नहीं हो जाता।

जो व्यक्ति में उत्तमता चाहता है, उसे प्रायः अनिवार्य रूप से अपने समाज को उत्तम बनाना होगा एवं अपनी उत्तमता की खोज समाज में करनी होगी। यदि व्यक्ति अपने ही मानसिक, नैतिक और आध्यात्मिक उत्कर्ष की ओर दुर्लक्ष्य करके अपने ही व्यक्तिगत संस्कारी जीवन की महान् इमारत की रचना में लगा रहे, तो उसे अपना आध्यात्मिक विकास करने में कितनी सफलता मिलेगी, यह शंकास्पद है। किन्तु जैसा वह करता है, वैसा ही प्रायः समाज भी करेगा और उस हालत में व्यक्ति के संस्कार और विकास के मार्ग भी वीरान भूमि की ओर ले जानेवाली अंधकारपूर्ण, भयानक संकरी गलियां बन जायंगे। और तब केवल अपने-आपका ध्यान रखनेवाला उच्च कोटि का आध्यात्मिक व्यक्ति शायद अपने-आपको वीरान भूमि की किसी ऐसी चट्टान पर बैठा पायगा, जहां कोई भी उसतक जाने की हिम्मत नहीं कर सकता, और उस स्थिति में उसे अपने क्षुद्र व्यक्तित्व से महान् कोई नहीं दिखाई देगा। किन्तु यह स्थिति ठीक नहीं। जैसे व्यक्ति की उत्तमता के लिए समाज की उत्तमता आवश्यक है, उसी तरह समाज की उत्तमता के लिए व्यक्ति की उत्तमता आधारभूत है। व्यक्ति के विकास के लिए यह जरूरी है कि समाज अपने सहकार की भावना, जिम्मेदारी उठाने की भावना, गरजमन्दों की गरज़ पूरी करने की व्यापक भावना पैदा करे और न्यायपूर्ण समाज-रचना, शुद्ध राजनैतिक जीवन और समान लोक-हित की भावना से ओतप्रोत प्रामाणिक लोकतांत्रिक नेतृत्व का दर्शन कराये।

व्यक्ति और समाज की अन्योन्याश्रयता का यह सिद्धांत यदि शब्दों की सीमा में ही रहा और व्यवहार में नहीं आया तो सिद्ध नहीं होगा। सिद्धि के लिए उसपर अमल करना होगा। क्योंकि जैसे तैरना सीखने के लिए तैरना पड़ता है, उसी तरह सेवा करना सीखने के लिए सेवा करनी पड़ती है। नीतिपरायण राज्य में संपूर्ण नैतिक व्यक्तित्व का निर्माण होता है। लोकतांत्रिक समाज में सच्चे नीति-परायण राज्य का निर्माण करने में सहायता करना अन्य कर्तव्यों के समान ही महत्वपूर्ण और आवश्यक कर्तव्य है। इसके लिए हमें भारतीय गणराज्य में व्यक्ति और समाज के भूलभूत संबंधों को सुधारना एवं परिष्कृत करना होगा। हमें मूल्यों का समान स्तर बनाना होगा, समान राष्ट्रीय भावना पैदा करनी होगी, राज्य कारोबार में उच्च कोटि की प्रामाणिकता का आग्रह रखना होगा, वैधानिक शासन को यथार्थ बनाने का आग्रह रखना होगा, तथा इस बात की भी खातरी करनी होगी कि राजनैतिक दलों का, जिनका राष्ट्रीय जीवन के निर्माण में अत्यधिक महत्व बढ़ जाता रहा है, व्यवहार ऐसा रहे कि जब भी उनमें अनुचित लाभ उठाने की अनीतिपूर्ण भावना

(शेष पृष्ठ २४७ पर)

हमारी धरोहर

●● सुशील

(१३)

दो व्यक्ति पास-पड़ौस में रहते थे। उनमें एक धनवान था और दूसरा साधारण। धनवान् व्यक्ति बहुत ही दयालु और परदुखकातर व्यक्ति था। जनता उसका बड़ा आदर करती थी। लेकिन उसका पड़ौसी हमेशा उससे डाह रखता था। उसका धन उसे बहुत अखरता था और रात-दिन वह इसी चिन्ता में रहता कि किसी तरह इस धनवान् भले आदमी को नीचा दिखाऊं।

एक दिन उसके घर में लड़के की शादी का प्रसंग आ गया। उसके पास पैसा नहीं था। वह अपने धनवान् पड़ौसी के पास गया और अपने लड़के के लिए सोने के गहने मांगे। धनवान् ने तुरन्त गहने दे दिये और उससे रुक्का लिखवा लिया। विवाह होने के बाद गहने लौटा देने थे। लेकिन उस व्यक्ति ने ऐसा नहीं किया। एक-दो बार धनवान् व्यक्ति ने उसे याद दिलाया, लेकिन वह बिगड़ उठा। बोला, "तुम्हारे गहने मैं कभीका लौटा चुका हूं। क्या दो बार लेना चाहते हो? यह मेरा अपमान है।"

धनवान् व्यक्ति चकित रह गया। बोला, "तुमने मेरे गहने कब लौटाये? तुम्हें झूठ नहीं बोलना चाहिए। यदि तुम गहने नहीं लौटाओगे तो मैं पंचायत बुलाऊंगा।"

ईर्ष्यालु व्यक्ति और भी क्रुद्ध हो उठा। कहने लगा, "धन के मद में तुम कुछ भी कर सकते हो, लेकिन अन्त में जीत गरीब की ही होती है। तुम्हारे पास धन का बल है तो मेरे पास जनता जनार्दन का। मैं पंचायत में जाने से नहीं डरता।"

धनवान् व्यक्ति उसकी ओर देखता रह गया। गहने भी गये और अब बदनामी का भी डर है। उसकी यह शंका सच थी, क्योंकि वह ईर्ष्यालु व्यक्ति जनता को भड़काने लगा था। हरेक से कहता, "देखो कैसा कलजुग आ गया। धनवान् लोग गरीबों को निगल जाना चाहते हैं। मैंने इसके गहने कभीके लौटा दिये हैं, लेकिन यह मेरा अपमान करने पर तुला हुआ है।"

जनता में से कोई व्यक्ति बोल उठता, "भाई, वह आदमी ऐसा है तो नहीं। वह तो हरेक की सहायता करता है। किसीका शोषण नहीं करता। ईर्ष्यालु व्यक्ति उत्तर देता, "कभी करता होगा, लेकिन अब तो उसके लिए पैसा ही परमेश्वर है। अपनी प्रतिष्ठा, अपना यश सब कुछ खोकर वह पैसा कमाना चाहता है।"

कोई व्यक्ति उसकी बात मानता, कोई नहीं भी मानता। जब एक बात बार-बार कही जाती है तो उसका असर होता ही है। वे लोग सोचने लगे शायद यह गरीब व्यक्ति ठीक ही कह रहा हो। अब तो उस धनवान् को बड़ी परेशानी होने लगी। आखिर उसने पंचायत से न्याय की प्रार्थना की। पंचायत ने एक दिन उन दोनोंको बुला भेजा और सारी बात सुनकर ईर्ष्यालु व्यक्ति से कहा, "तुम अपनी सत्यता प्रमाणित करने के लिए जलता हुआ लोहे का गोला हाथ में लेने को तैयार हो?"

उस व्यक्ति ने उत्तर दिया, "मैं तो यही चाहता हूं कि मेरे साथ न्याय हो। मैं सब-कुछ करने को तैयार हूं।"

पंचायत ने एक दिन नियत कर दिया। उस दिन सारा समाज वहां इकट्ठा हुआ, लेकिन वह ईर्ष्यालु व्यक्ति नहीं दिखाई दिया। वह कुछ देर बाद आया। उसके हाथ में अनाज का एक घड़ा था और वह कांप रहा था। उसने विलम्ब से आने के लिए क्षमा मांगी और फिर झुंझलाकर कहा, "मैंने इसके गहने लौटा दिये थे। यदि मेरी बात सत्य न हो तो पंच जो गरम लोहे का गोला मेरे हाथ पर रक्खें तो उससे मेरे हाथ जल जायं और यदि मैं सच्चा हूं तो मुझे कुछ भी न हो।"

यह कहकर उसने अनाज से भरा घड़ा सेठ के हाथ में देते हुए कहा, "ज़रा दो मिनट के लिए इसे संभालो। परीक्षा के बाद मैं वापस ले लूंगा।"

सेठ ने वह घड़ा ले लिया। और पंचों ने आग से जलता हुआ लाल-ला लोहे का गोला उस ईर्ष्यालु व्यक्ति के हाथों पर रख दिया। जनता ने चकित होकर देखा, उसका हाथ तनिक भी नहीं जला। उसकी सत्यता प्रमाणित हो गई। जनता धनवान् व्यक्ति को दुत्कारने लगी। धनवान् व्यक्ति जैसे कांप उठा। हतप्रभ-सा वह उस घटना को देखता ही रह

गया। गहने भी गये और यह अपमान भी सहना पड़ा। इससे बढ़कर दुर्घटना और क्या होगी। उसके मन में यह पूर्ण विश्वास था कि गहने उसे नहीं मिले हैं, अतः उसीकी जीत होगी। लेकिन अग्नि से जलता हुआ लोहे का गोला क्यों ठंडा हो गया?"

उसकी आत्मा में जब यह भयंकर तूफान उठा तो उसकी संज्ञा जैसे खोने लगी और उसके हाथ में जो अनाज का घड़ा था, वह एकाएक नीचे गिर पड़ा। गिरते ही वह टूट गया। अनाज चारों ओर बिखर गया और लोगों ने आश्चर्य से देखा कि उस अनाज के बीच में सेठ के सभी गहने छिपे हुए थे। अब तो जैसे पाप का घड़ा फूट गया। हाथ न जलने का रहस्य भी सामने आ गया, क्योंकि जिस समय आग का गोला हाथ पर रखा गया था, उस समय वह गहने सेठ को लौटा चुका था। पंच और जनता इस षड़यंत्र को भांप गये और उस ईर्ष्यालु व्यक्ति की जो हालत हुई, उसका वर्णन नहीं किया जा सकता। पाप का घड़ा इसी तरह फूटता है।

(१४)

प्राचीनकाल में एक बनिया रहता था। वह घी और तम्बाकू इन दो चीजों का व्यापार करता था। बहुत ईमानदार था, इसलिए आस-पास के क्षेत्र में बहुत लोकप्रिय भी था। उसका एक लड़का था। लेकिन वह बहुत भोला था। एक बार व्यापारी को किसी कार्यवश बाहर जाने की आवश्यकता हुई। अब तो वह चिन्तित हो उठा कि मेरे पीछे दूकान का काम कौन देखेगा। किसी बाहर के व्यक्ति को दूकान सौंपना संकट का काम है। और मेरा बेटा व्यापार करने योग्य नहीं है।

उसको इस प्रकार चिन्तित देखकर पुत्र ने कहा, "पिताजी! आप चिन्ता न करें। निश्चिन्त होकर बाहर जाइये। मैं आपका पुत्र हूं। दूकान को संभाल लूंगा। आप मुझे सब वस्तुओं के भाव बता दीजिये।"

पिता ने कहा, "हमारी दूकान पर दो ही चीजें बिकती हैं, घी और तम्बाकू। दोनों का एक ही भाव है। याद रखने का कोई प्रश्न ही नहीं। लेकिन हां, तुम्हें और एक बात याद रखनी होगी। वह यह कि जबतक खुले हुए टीनों का माल खत्म न हो जाय, नये टीन मत खोलना।"

पुत्र ने उत्तर दिया, "बहुत अच्छा, पिताजी।"

इस प्रकार पुत्र को समझा-बुझाकर पिता बाहर चला गया और पुत्र दूकान पर आ बैठा। उसने चारों ओर नजर दौड़ाई। एक ओर घी के टीन रक्खे हुए थे, दूसरी ओर तम्बाकू के। दोनों ओर एक-एक टीन खुला हुआ था और दोनों आधे-आधे थे। यह सब देखकर पुत्र ने मन-ही-मन सोचा—मेरे पिताजी मुझको बड़ा भोला कहते हैं, लेकिन वह स्वयं कितने मूर्ख हैं। एक ही भाव की दो वस्तुओं के लिए दो टीन रोक रखे हैं। दोनों चीजों को एक में क्यों न कर दिया जाय। यह सोचकर उसने घी का टीन उठाया और तम्बाकू वाले टीन में उंडेल दिया। फिर गद्दी पर आ बैठा। थोड़ी देर बाद एक ग्राहक दूकान पर आया। बोला, "मुझे तम्बाकू चाहिए।"

बणिक पुत्र ने वह टीन लाकर उसके सामने रख दिया। पूछा, "कितना चाहते हो?"

ग्राहक ने टीन को देखा। बोला, "मूर्ख! यह क्या तम्बाकू है?"

बणिक पुत्र ने उत्तर दिया, "जीहां! मेरे पास यही तम्बाकू है। लेना हो तो लो, नहीं तो आगे जाओ।"

ग्राहक मुस्कराता हुआ चला गया। फिर दूसरा ग्राहक आया। उसने घी मांगा। लड़के ने उसके सामने भी वही टीन रख दिया।

ग्राहक ने कहा, "घी में यह तम्बाकू कैसा है? कहीं भूल तो नहीं कर बैठे।"

बणिक पुत्र ने क्रुद्ध होकर उत्तर दिया, "भूल मेरी नहीं, तुम्हारी है। यह असली घी है। यदि लेना हो तो लो, नहीं तो चले जाओ।"

वह ग्राहक भी चला गया। सन्ध्या तक घी और तम्बाकू के अनेक ग्राहक आये, लेकिन उस टीन को देखकर सभीने आश्चर्य प्रकट किया। बणिक पुत्र को बुरा-भला भी कहा। दिन भर यही कहा-सुनी होती रही। लेकिन माल एक पैसे का भी नहीं बिका। रात आ गई। व्यापारी बाहर से लौट आया। उसने अपने लड़के से पूछा, "कहो बेटा। क्या हाल रहा?"

लड़के ने उत्तर दिया, "पिताजी! आपने अपने सभी ग्राहकों को बिगाड़ रक्खा है। जो भी आता, वही मुझे मूर्ख, बेवकूफ या गधा कहने लगता। मैं यह सब नहीं सह सकता।"

पिता ने पूछा, "यह सब क्यों ? क्या तूने ग्राहकों को माल नहीं दिखाया या भाव ठीक नहीं बताया ?"

पुत्र ने उत्तर दिया, "पिताजी ! मैंने तो वही भाव बताया जो आप बता गये थे।"

अब तो पिता असमंजस में पड़ गया। आखिर यह सब क्या हुआ ? वह पुत्र के भोलेपन से परिचित था, इसलिए इतना तो समझ रहा था कि गलती अवश्य ही मेरे बेटे की होगी। उसने पूछा, "क्यों बेटा, दूकान पर जाकर तूने क्या किया था ?"

पुत्र ने उत्तर दिया, "पिताजी ! मैं तो दिन भर गद्दी पर बैठा रहा। ग्राहक जो भी वस्तु मांगता, वही मैं उसे दिखाता और भाव भी बता देता। किन्तु पिताजी आपकी एक बात मुझे अच्छी नहीं लगी। आप तो बहुत समझदार हैं..."

पिता ने एकदम पूछा, "मेरी कौन-सी बात तुम्हें अच्छी नहीं लगी ?"

पुत्र ने उत्तर दिया, "पिताजी ! आपने घी और तम्बाकू दोनों का एक ही भाव बताया था।"

पिता ने कहा, "हां, हां, फिर उससे क्या ?"

पुत्र मुस्कराकर बोला, "दोनों चीजों के जब एक ही भाव हैं, तो आपने उन्हें अलग-अलग टीनों में क्यों रक्खा ?"

यह सुनकर पिता हतप्रभ रह गया। बोला, "तो तूने क्या किया ?"

पुत्र ने गर्व से उत्तर दिया, "पिताजी ! मैंने दोनों को एक ही टीन में कर दिया और इस प्रकार एक टीन बचा लिया।"

अब तो पिता हँस पड़े और अपने लाड़ले बेटे से बोले, "तो बेटा ! अब तुम उस एक टीन का सामान भी कूड़े में डालकर उसे खाली कर लाओ।"

●

(पृष्ठ २४२ का शेष)

है! हमने भी यही महसूस किया कि यहां हम भारत में ही घूम रहे हैं।

दुःख की बात है कि यहां तेरह महीने रहकर भी हम असमी भाषा नहीं बोल सकते। लेकिन आखिर एक मनुष्य कितनी भाषाएं सीखने की कोशिश करेगा ? हमने दिल की भाषा का अध्ययन किया है, लौकिक भाषा का नहीं ! लोक-संबंध तो आज है और कल नहीं। इसलिए महापुरुष की जो वाणी है, उसका परिचय कर लेना हमने अपना कर्तव्य माना। इस दृष्टि से 'नामघोषा' का अध्ययन हुआ और हमने हृदय में कुछ भरा हुआ पाया। अब हम यहां से जायंगे तो साथ में सद्भावना लेकर जायंगे। हमको यह भास नहीं होगा कि हम इस प्रदेश को छोड़ रहे हैं। ऐसा लगेगा कि हम यहीं है। हमने यहां एक आश्रम की स्थापना की है और आशा रक्खी है कि इस आश्रम के जरिये आप खूब सेवा लेंगे। योजना हमने की है, उसका जितना अच्छा उपयोग आप करेंगे, उसीपर से कुछ चीजें निकलेंगे।

●

(पृष्ठ २४४ का शेष)

पैदा हो और उसका विरोध किया जाय तो वे उस विरोध को दबा न सकें। स्वतंत्र व्यक्ति की इच्छा की चीजों का चुनाव करने के लिए हमें उस व्यक्ति को तालीम देनी होगी। हमारी प्रवृत्ति प्रायः उच्चस्तरीय या व्यापक हितों की अपेक्षा संकुचित और हलके दर्जे के हितों का चुनाव करने की ओर रहती है। इसका हमें अभी के आम चुनावों में अनुभव हो चुका है। उसमें आपने देखा ही है कि व्यक्तिगत लाभ, अपने-अपनों का भला और जात-पांत की भावना राष्ट्रीय हित को ठेलकर प्रायः आगे बढ़ गई थी।

हमें क्या करना चाहिए, इसकी लंबी सूची को अब मुझे समाप्त करना चाहिए। किन्तु इस बात पर पूरी तरह जोर दिये बिना मैं समाप्त नहीं कर सकता कि व्यक्ति सहायता के समाज-निरपेक्ष कार्य और समाज-सेवा के कार्य दोनों को अपना-अपना उचित स्थान दिया जाना चाहिए। दोनों तरह के कार्य परिस्थिति विशेष में सफल और सार्थक होते हैं और वह परिस्थिति वैयक्तिक और सामाजिक उत्तमता प्राप्त करने के प्रयत्न में तन्मय होना है। इस उत्तमता की प्राप्ति के लिए अपनी सीमाओं और अपने तरीकों के अनुसार काम करने की भगवान हमें शक्ति दें।

●

भारत का सदा का मिशन

काका कालेलकर

हर एक जाति की अपनी एक मुख्य खोज होती है और फिर उसके अनुसार वह अपनी जीवन-साधना भी तैयार करती है।

भारत के मनीषियों ने अपने व्यवस्थित और संगठित जीवन के प्रारंभ में ही खोज चलाई आत्मा की। इस खोज ने देखते-देखते द्विविध रूप ले लिया। एक खोज बनी अंतरतम जीवात्मा की और दूसरी ने रूप लिया विश्वात्मा की खोज का। और जब दोनों खोजों के अंत में भारत के मनीषियों ने पहचाना कि जीवात्मा और विश्वात्मा एक हैं, एक ही हो सकते हैं, अभेद अभिन्नता ही आत्मा का स्वाभाविक रूप हो सकता है, तब भारतीय हृदय आनन्दविभोर हो गया। **'अहं ब्रह्मास्मि। जीवो ब्रह्मैव केवलम्।'** यह हो गया उस साक्षात्कार का अनुभव और आनन्द-सूत्र। सूर्योदय के साथ उसके बिंब में नारायण का दर्शन करते ही साक्षात्कारी पुरुष बोल उठा : **"यो असौ असौ पुरुषः सोऽहम् अस्मि।"** विश्व के प्रतीक इस सूर्य-बिंब के अन्दर जो अंधकार-नाशक, विश्व-पोषक तत्व है, वही है मेरा आत्मतत्व।

इतना साक्षात्कार होने के बाद हरएक मनीषी गुरु अपने पास शिक्षा-दीक्षा लेने आनेवाले शिष्यों का कहने लगा—**"तत् त्वम् असि श्वेतकेतो।"** (श्वेतकेतु एक लड़का था, जिसे उसके पिता ने यह सूत्र पहले-पहला बताया और उसके हृदय को जाग्रत किया। इसलिए वेदान्त-विद्या में श्वेत-केतु का नाम भी अमर हो गया। उसे उसके पिता ने श्वेत-केतु नाम क्यों दिया, हम नहीं जानते। लेकिन हमारे मन में श्वेतकेतु नाम सुनते ही युद्ध-विराम, शांति-बोधक सफेद झंडे का स्मरण होता है, जिसने सब तरह के संघर्ष का त्याग किया है। भय और शत्रुता वहीं टिक सकते हैं, जहां द्वैत हो, भेद हो। जहां एकता आई वहां शांति की ही कामना रहेगी। और शांति की ही सिद्धि होगी।)

आत्मतत्व की खोज और उसकी प्राप्ति की साधना दो प्रकार की होती है। प्रथम तो आत्मा क्या है यह समझने के लिए, हम उसका स्वरूप किन-किन बातों से भिन्न है यह पहले देखते हैं। इसे कहते हैं—**अतद्व्यावृत्ति—मनो-बुद्धि-अहंकार-चित्तानि नाहम्** इ०। मैं यानी आत्मा मन से भिन्न है, बुद्धि से भिन्न है, अहंकार से भिन्न है, चित्त से भी परे है। शरीर, इन्द्रियां सब नाशवंत हैं, पीछे रह जाती हैं। आत्मा इनसे भिन्न है। इस तरह से सूक्ष्मातिसूक्ष्म खोज चलाकर आत्मा के स्वरूप का शुद्ध ज्ञान होता है। उसका साक्षात्कार तो हमेशा होता ही है। इसीलिए तो रोज सुबह हम गाते हैं : **"प्रातःस्मरामि हृदि सस्फुरदात्मतत्वम्।"** यह स्फुरण शुद्धातिशुद्ध होने के बाद दूरा साक्षात्कार रहता है कि यह सारा विश्व परब्रह्म ही है। **"सर्वं खलु इदं ब्रह्म, त्रिभुवनम् अपि ब्रह्म मनुते।"**

आत्मतत्व और ब्रह्मतत्व क्या नहीं है, इसका निर्णय करने की पद्धति की व्यतिरेक पद्धति कहते हैं और सब तत्वों में आत्म-तत्व और ब्रह्मतत्व को ही देखने की प्रक्रिया को अन्वय कहते हैं। वेदान्त के हर एक स्तोत्र में ये दोनों अक्सर पाये जाते हैं। व्यतिरेक वृत्ति शुद्धि के लिए और अन्वय-वृत्ति तृप्ति के लिए, ऐसा हम कह सकते हैं। व्यतिरेक वृत्ति-वाले बाज दफे व्यक्तिवादी बनते हैं और अपने लिए मोक्ष ढूंढते रहते हैं। ऐसी व्यक्तिगत सिद्धि जिन्होंने हासिल की, उनको बौद्ध परिभाषा में 'प्रत्येक बुद्ध' कहते हैं।

लेकिन संपोष की यह अन्तिम स्थिति नहीं है। आजकल की परिभाषा में कहें तो मनुष्य में सामाजिक वृत्ति प्रधान है। वेदान्त की परिभाषा में कहना हो तो हम कहेंगे कि विश्वा-त्मैक्य का अनुभव करना यही है परम सन्तोष, अंतिम तृप्ति।

विश्वात्मैक्य सिद्ध होने पर मनुष्य के स्वभाव में **'आत्म-वत् सर्व भूतेषु'** देखने की आदत दृढ़ होती है। लोगों के—प्राणिमात्र के सुख-दुःख के साथ एकरूप होना, सब के उद्धार में अपना उद्धार देखना, यह है इस स्वभाव का संस्फुरण। इसी वृत्ति से बोधिसत्व बुद्ध बनते हैं और विश्वकल्याण में अपने निर्वाण को भी भूल जाते हैं। इसी वृत्ति से शांतिदेवा-चार्य ने कहा—

मुच्यमानेषु सत्वेषु ये ते प्रामोद्य-सागराः।
तैरेव ननु पर्याप्तं मोक्षेणाऽरसिकेन किम्॥

इसी चीज को वेदान्ती वृत्ति से हम गाते हैं—

"न त्वहं कामये राज्यं न स्वर्गं नापुनर्भवम् ।
कामये दुःख-तप्तानाम् प्राणिनाम् आर्तिनाशनम् ॥

—मुझे न चाहिए त्रिभुवन का राज्य, न चाहिए स्वर्ग। अधिक क्या कहूं मैं अपुनर्भव याने मोक्ष भी कामना नहीं करता। मुझे तो तरह-तरह के दुःख से परितप्त हुए सत्वों का, प्राणियों का दुःख-निवारण ही चाहिए।

भारतीय संस्कृति की अगर सर्वोच्च अभिलाषा है तो वह यही है।

हमारे तमाम धर्म-साहित्य में, दर्शन-ग्रन्थों में, वेदवेदांगों में और इतिहास-पुराणों में यही एक भावना भरी हुई है।

दुःख-मुक्ति, वासना-मुक्ति, अज्ञान और एकांगिता से मुक्ति, संकुचिता से मुक्ति, पूर्वग्रहों से मुक्ति, परावलंबिता से मुक्ति, सब बन्धनों से मुक्ति, यही है हमारी सार्वभौम विश्वखोज। इसलिए हमारा सब युगों के लिए उद्घोष—(Slogan)—है : "मुक्ति" (Liberation)।

जब वासना से, एकांगिता से मुक्त होते हैं तब हमारे लिए सब-के-सब संघर्ष आप-ही-आप दूर हो जाते हैं, हमें शान्ति प्राप्त होती है। आधिभौतिक शांति, आधिदैविक शांति और आध्यात्मिक शान्ति, ऐसी त्रिविध शांति के लिए हमारे पुरखाओं ने अपने समस्त जातीय जीवन को अर्पण किया। हमारी राजनीति, समाजनीति, अर्थनीति इसी एक शांति को अपना अंतिम ध्येय मानती है। इसीलिए हम लोग शांति-प्रिय—शांतिपरायण हैं। Pacifism युद्ध-निषेध को हमने अपना व्रत नहीं बनाया, किन्तु भारतीय संस्कृति का सारा पुरुषार्थ इस अंतिम उद्देश्य को जाग्रत रखकर ही चला है। इसीलिए तो अपने सब व्यक्तिगत, कौटुम्बिक और सामाजिक धर्मकार्यों के अंत में हम शांति की त्रिवार घोषणा करते हैं: ॐ **शांतिः, शांतिः, शांतिः।**

मुक्ति और शांति के साथ हमारी तीसरी जीवन-साधना है एकता की। हमारे लिए वस्तुतः यह चीज एक ही है। किन्तु उसके अलग-अलग पहलू मानकर उनपर ध्यान देना लाभदायक ही है। इस ऐक्य को हमलोगों ने नाम दिया अद्वैत। यह मुझे विशेष भाता है।

अद्वैत हमें स्मरण दिलाता है कि यह सारा विश्व द्वैत से भरा हुआ है। सत्यं भिदा। लेकिन भेद एक तथ्य है, सत्य नहीं है। It is a fact of life, not a law of life. इस भेद को, इस द्वैत को गौण बनाना, उसकी निःसारता पहचान लेना, द्वैत के होते हुए भी अद्वैत का अनुभव करना और द्वैत को परास्त करना, यही है जीवन का अन्तिम उद्देश्य। स्त्री-पुरुष-भेद, ज्ञानी-अज्ञानी का भेद, वंश-वंश के बीज का भेद, संस्कृतियों का भेद, जाति-भेद, पक्ष-भेद, भाषा-भेद और न जाने कितने भेद उगते हैं, फैलते हैं, परेशान करते हैं और जब उनका अस्त होता है तब भी दूसरे भले-बुरे अनेक भेदों को जन्म देकर ही।

ऐसी भेद-परंपरा के होते हुए भी उन सबमें सामंजस्य स्थापन करने की कोशिश करना, संघर्ष की जगह समन्वय को चलाना और अन्त में व्यापक भावनामूलक एकता की स्थापना करना, यही है मानव-जाति का पुरुषार्थ।

मुक्ति, शांति और अद्वैत त्रिविध और विश्वव्यापी जीवन-साधना के हम वारिस हैं। इस क्षेत्र के युगानुकूल हमारे पुरखाओं ने जो सफल या असफल प्रयत्न किये, उन्हींके कारण हमारा जातीय स्वभाव बना हुआ है। हमारे जातीय इतिहास में एक विचित्रता दीख पड़ती है कि हम लोग भेदों का दर्शन होते ही उन्हें प्रश्रय देते हैं। भेदतत्वों का महत्व किसलिए है, यह समझने की कोशिश करते हैं। भेदों को बढ़ाते भी हैं और जिस तरह भेद-तत्वों का पूरा साक्षात्कार होने के बाद उनकी मर्यादाएं और उनके दोष हम पर प्रकट होते हैं और फिर ऐसे भेदों को दूर करने के पीछे हम अपनी सारी शक्ति लगा देते हैं। ऐसी पद्धति के कारण हमें बहुत बड़ी कीमत देनी पड़ती है। लेकिन करें क्या? राष्ट्रीय आदत छूटती नहीं। हम कीमत देते आये हैं और देते रहेंगे ही। लेकिन भेदों को गौण करके आखिरकार समन्वय स्थापित करने की हमारी परंपरागत प्रेरणा, हमारे प्रयोग और हमारे अनुभव का फायदा दुनिया को मिलना चाहिए। हम मुक्ति, शांति और अद्वैत तीनों के सामाजिक स्वरूप के विकास के लिए कोशिश करते जायं। नये-नये प्रयोग करें और अब दुनिया की अन्य संस्कृतियों के प्रति भी श्रद्धा रखकर उनके साथ सहयोग करने के लिए तैयार हो जायं, यही होना चाहिए हमारा भविष्य का मिशन।

श्रीअरविन्द-विचार-धारा और हिन्दी-साहित्य

●● डा० इन्द्रसेन

श्रीअरविन्द सात साल के बच्चे ही थे जब उनके पिता ने उन्हें इंग्लैंड भेज दिया और अपनी संपूर्ण शिक्षा समाप्त करने के बाद जब वह इक्कीस वर्ष के युवक के रूप में भारत लौटे तब वह अपनी मातृभाषा बंगला भी नहीं जानते थे। अंग्रेजी ही एकमात्र उनकी अभिव्यक्ति का तथा विचार-चिंतन और लेखन का माध्यम थी। बड़ौदा में काम में लग जाने के बाद ही उन्होंने बंगला सीखी, संस्कृत सीखी तथा भारत की अन्य कई अर्वाचीन भाषाएं सीखीं। बंगला में पीछे उन्होंने 'धर्म' पत्र का संपादन किया तथा कुछेक पुस्तकें भी लिखीं। गुजराती, मराठी और हिन्दी का उनका ज्ञान अच्छा था और वह इन भाषाओं में लिखी पुस्तकों तथा निबंधों पर अपना मत तथा टिप्पणी बराबर दिया करते थे।

बचपन में वह अपने घर में अधिकतर अंग्रेजी तथा हिन्दुस्तानी सुना और बोला करते थे। अनेक भाषाओं का खूब समृद्ध ज्ञान होते हुए भी अंग्रेजी का उनका ज्ञान सबसे अधिक था और यही उनका सदा मुख्य माध्यम भी रही। उनका महत्वपूर्ण साहित्य सब अंग्रेजी में है, जो अब लगभग दस वर्षों से एक प्रभावपूर्ण जीवन-दर्शन का प्रतिनिधित्व कर रहा है और जीवन के क्रियात्मक नव-निर्माण की एक दिशा का द्योतक बन गया है। जीवन-निर्माण की यह दिशा भारत के बाहर अन्य अनेक देशों में भी फैलती जा रही है और उत्तरोत्तर एक गंभीर सांस्कृतिक प्रगति का रूप धारण करती जा रही है।

श्रीअरविन्द तथा माताजी का मौलिक साहित्य अनेक पश्चिमी तथा विभिन्न भारतीय भाषाओं में अनूदित हो रहा है तथा इस विचार-धारा से प्रभावित होकर अनेक लेखक भी स्वतंत्र रूप में इस जीवन-दर्शन को निरूपित करने का यत्न कर रहे हैं। इस प्रकार मूल साहित्य के साथ-साथ अनेक भाषाओं में भी एक सहचारी साधकवर्ग का साहित्य पैदा होता जा रहा है। इस साहित्य का अधिकांश भाग पांडिचेरी के श्रीअरविन्द-आश्रम से ही प्रकाशित होता है और वहीं से फिर सब जगह विकीर्ण होता है। पुस्तक-साहित्य के साथ-साथ अनेक पत्रिकाएं भी प्रकाशित होती हैं, जो प्रायः त्रैमासिक हैं।

हम ऊपर कह चुके हैं कि श्रीअरविन्द का महत्वपूर्ण साहित्य सब मूलतः अंग्रेजी में है। श्री माताजी का अधिकांश में फ्रेंच में, कुछ ही अंग्रेजी में है। यह अत्यंत आश्चर्यजनक बात है कि जीवन-दर्शन के आध्यात्मिक स्वरूप में दोनों साहित्य एकमत हैं। माताजी के उन ग्रंथों का आध्यात्मिक आदर्श और भाव भी, जो उन्होंने श्रीअरविन्द का परिचय प्राप्त करने से पहले लिखे थे. ठीक वही हैं, जो श्रीअरविन्द ने अपनी जगह विकसित किया है। अतः दोनों के साहित्यों को एक ही श्री अरविन्द-साहित्य अथवा श्रीअरविन्द विचार-धारा के अधीन वास्तव में इन दोनों साहित्यों के अतिरिक्त विभिन्न भाषाओं के उन साहित्यों को भी ले रहे हैं, जो श्रीअरविन्द और माताजी के शिष्य, अनुगामी तथा भक्त लोग रच रहे हैं।

यह सब साहित्य बहुमुखी है। इसमें दर्शन, योग, काव्य, नाटक, राजनीति, समाज-शास्त्र, शिक्षा-शास्त्र, गल्प, उपन्यास आदि सभी कुछ हैं। वस्तुतः स्वयं श्रीअरविन्द ने बहुमुखी रचना का दृष्टांत प्रस्तुत किया है। उन ग्रंथों में इनमें से अधिकांश विषय मौजूद हैं। उनके शिष्यगण इसे अन्य कई दिशाओं में भी विकसित कर रहे हैं।

इस विशाल साहित्य की प्रेरणा और प्राण वह जीवन-दर्शन है अथवा वह जीवन-आदर्श और जीवन-विकास है, जिसे श्रीअरविन्द और माताजी ने अपने जीवन में अधिगत किया है और जिसे चरितार्थ करने के लिए वह व्यापक प्रेरणा देते रहे हैं। इसी आदर्श और विकास को सिद्ध करने के लिए श्रीअरविन्द-आश्रम कटिबद्ध है और इसी प्रेरणा को विश्व-व्यापी बनाने का यत्न यह सारा बहुमुखी साहित्य कर रहा है। इसीके निजी सत्य और बल पर इस साहित्य का बल और प्रसार निर्भर है।

भारतीय जनता खूब जानती है कि श्रीअरविन्द प्रारंभ में एक उत्कट देशभक्त और राष्ट्सेवक थे। देश की स्वाधीनता उनके जीवन की प्रथम प्रेरणा थी और वह इसे चरितार्थ करने के लिए कटिबद्ध थे। १९०५–७ के स्वदेशी आंदोलन के वह एक मुख्य नायक थे और उस समय उन्होंने देश में एक अपूर्व जाग्रति पैदा की थी। परन्तु आंदोलन के बीच में से वह विलग होकर पांडिचेरी चले आये थे और योगमग्न हो गये थे। यह घटना एक उच्चस्तरीय आदेश के अधीन ही घटित हुई थी और उसका उद्देश्य, जैसाकि पीछे स्पष्ट हो गया, मानवमात्र का एक महान् आध्यात्मिक रूपांतर था। भारत की स्वाधीनता उसमें सम्मिलित थी। परंतु अब उनका मुख्य कार्य आध्यात्मिक हो गया और उसके साधन भी प्रधानतया आध्यात्मिक हो गये।

श्रीअरविन्द ने दीर्घकालीन व्यक्तिगत साधना के द्वारा यह अधिगत किया कि जगत् एक विकासात्मक क्रम है। अन्न, प्राण और मन इसके वे सोपान हैं, जो सिद्ध हो चुके हैं। अंतरात्मा, अधिमानस और अतिमानस वे सोपान हैं जो अभी सिद्ध होने हैं। सहज प्राकृतिक प्रवाह से ही मानव, मन से अब अंतरात्मा (चैत्य पुरुष) को, विकसित तथा अभिव्यक्त करने जा रहा है। परंतु यौगिक प्रयत्न द्वारा यह क्रम द्रुततर बनाया जा सकता है और मानव के जीवन में आध्यात्मिक भाव का जागरण सिद्ध किया जा सकता है। मानसिक चेतना विभक्त है, अपूर्ण है, यह अनिवार्य रूप से पूर्णतर आंतरात्मिक चेतना में विकसित होकर रहेगी। इसी प्रयत्न और पुरुषार्थ का केन्द्र उनका आश्रम बना और इसे ही उनका साहित्य व्यापक रूप में जाति में जाग्रत करना चाहता है।

मानवीय व्यक्तित्व भी केवल शरीर, प्राण और मन का ही संगठन नहीं है। इनके पीछे इसमें अंतरात्मा तथा इससे उच्चतर और चेतनाएं हैं, जो चरितार्थ की जा सकती हैं और उनके चरितार्थ करने से जीवन के मूल्यों में क्रांतिकारी परिवर्तन लाया जा सकता है। इससे मानव-जीवन एक अत्यंत समृद्ध तथा सुन्दर चीज बन सकता है।

आज हम वर्तमान मानव-प्रकृति को अंतिम तथ्य मान कर विकट संघर्षों में पड़े हुए हैं और उनके समाधान किसी तरह भी नहीं पा रहे हैं। श्रीअरविन्द कहते हैं कि हमारे आज के संघर्षों तथा प्रश्नों के उत्तर अपने जीवन के उच्चतर स्तरों में मिलते हैं। उन स्तरों को हमें अधिगत करना चाहिए और तब आज के अनावश्यक संघर्षों की जगह हम एक अत्यंत समृद्ध जीवन का आनंद उठायंगे। मानव-जीवन का ऐसा रूपांतर सिद्ध करना ही उनका ध्येय था, इसीका मार्ग उन्होंने दर्शाया और उसीका अनुसरण उनका आश्रम कर रहा है।

इस प्रकार आध्यात्मिक विकास की सत्यता इस साहित्य का बल है, वर्तमान प्रश्नों का, व्यक्तिगत, सामाजिक तथा राजनैतिक का, आध्यात्मिक समाधान ही इसकी शक्ति है।

यह भावना और प्रेरणा भारतीय साहित्य और जीवन के लिए नई नहीं है और भारतीय हृदय इसे स्वीकार करता है। अतः श्रीअरविन्द-साहित्य भारत में स्थायी स्थान प्राप्त करेगा, इसमें संदेह नहीं किया जा सकता। यह वास्तव में भारतीय आध्यात्मिक भाव और जिज्ञासा की नई जीवनपूर्ण अभिव्यक्ति है, जो सारे प्राचीन आध्यात्मिक पुरुषार्थ को वर्तमान समय में सार्थक और सफल बना देती है।

परंतु इसकी वेश-भूषा अंग्रेजी भाषा है और यह अनिवार्य है कि इसका उचित, सजीव तथा प्रेरणाप्रद उल्था भारतीय भाषाओं में हों। श्रीअरविन्द-साहित्य का उल्था अभीतक एक गंभीर प्रश्न ही है। श्रीअरविन्द-साहित्य समन्वयात्मक आध्यात्मिक अनुभव को अंग्रेजी की एक नई शैली में प्रस्तुत करता है। मूल की ऐसी भाषा को भारतीय भाषाओं में एक उपयुक्त नई शैली में ही अभिव्यक्त किया जा सकेगा और यह शैली अभी हमारी भाषाओं में विकसित करनी है। संस्कृत में वह मौजूद है, परन्तु अर्वाचीन भारतीय भाषाओं में अभी यह सामर्थ्य पैदा नहीं हुआ। अतः इस साहित्य का उचित उल्था तो भविष्य का साहित्यक ही प्रस्तुत करेगा। फिर भी श्रीअरविन्द-विचार-धारा उनके राजनैतिक काल से ही हिन्दी में बराबर प्राप्त होती रही है और आज तो इस साहित्य का एक अच्छा भाग हिन्दी में प्राप्य है।

स्वदेशी आन्दोलन के समय श्रीअरविन्द के लेख 'वन्दे-मातरम्' में निकला करते थे और क्योंकि वह पत्र उस समय सारे देश का नेतृत्व कर रहा था, इसलिए उसके लेख तथा समाचार देशभर के समाचार-पत्रों में निकला करते होंगे। परंतु श्रीअरविन्द-साहित्य के आधारभूत ग्रंथ उनके 'आर्य' पत्र में, १९१४ और १९२१ के बीच, उनके पांडिचेरी

आने के बाद ही प्रकाशित हुए। कलकत्ते का 'आर्य पब्लिशिंग हाउस' १९२२ में स्थापित हुआ और तभीसे उनका साहित्य मूल अंग्रेजी में नियमित तथा प्रामाणिक रूप में प्रकाशित होना शुरू हुआ। तभीसे कुछ-कुछ हिन्दी-प्रकाशन भी होने शुरू हुए। श्रीअरविन्द की एक प्रमुख तथा प्रसिद्ध पुस्तक 'दि मदर' का श्रीलक्ष्मण नारायण गर्दे ने अनुवाद किया और वह गीता प्रेस गोरखपुर से सन् १९३१ में प्रकाशित हुई। 'कल्याण' पत्र भी श्रीअरविन्द के लेखों को तथा उनकी विचार-धारा के प्रतिपादक लेखों को छापा करता था। उस समय कलकत्ते में दो हिन्दी पत्र भी 'श्रीकृष्ण संदेश' और 'विजय', जिनके संपादक गर्देजी ही थे, प्रकाशित होते थे। गर्देजी श्रीअरविन्द-साहित्य की चीजों को हर अंक में ही दिया करते थे। जहां-तहां से श्रीअरविन्द की कुछ और भी छोटी-छोटी पुस्तकें प्रकाशित हुई और आध्यात्मिक विचारों में रुचि रखनेवाले पत्रों में उनके तथा उन संबंधी लेख प्रकाशित होते रहे। परंतु नियमित रूप में यह साहित्य तब निकलना शुरू हुआ, जब श्री गाड़ोदिया ने इसे हिन्दी में निकालने की प्रेरणा अनुभव की। उन्होंने १९३५ में श्रीअरविन्द-ग्रंथमाला की स्थापना की और श्रीअरविन्द और माताजी की पुस्तकों का स्वयं अनुवाद करके तथा अन्यों से करवाकर, प्रकाशन-कार्य प्रारंभ किया। इस कार्य को वह जीवन भर निभाते रहे और उन्होंने हिन्दी-भाषियों को श्रीअरविन्द-साहित्य बहुत बड़ी मात्रा में प्रदान किया। इन ग्रंथों में से उल्लेखनीय हैं, माता, गीता-प्रबंध, योगप्रदीप, मातृ-वाणी, योग के आधार, इस जगत् की पहली और हमारा योग और उसके उद्देश्य। पहली तीन पुस्तकों के अनुवाद श्री लक्ष्मण नारायण गर्दे ने किये थे, बाकी के उनके अपने थे। गाड़ोदियाजी के बाद श्रीअरविन्द ग्रंथमाला का पालन-पोषण श्री चंद्रदीपजी ने किया। उन्होंने कई पुस्तकों को दोहराकर नये संस्करण प्रकाशित किये हैं तथा कुछ नये अनुवाद भी छापे हैं। अब यह संस्था "श्रीअरविन्द आश्रम प्रकाशन' में विलीन हो गई है।

श्रीअरविन्द विचार-धारा की प्रेरणा को विस्तार देने के उद्देश्य से सन् १९४३ में 'अदिति' का जन्म हुआ और उसके साथ ही कुछ पुस्तक-प्रकाशन का कार्य भी विकसित हो गया। पत्रिका अनवरत रूप से अपने आदर्श की सेवा करती आ रही है और हिन्दी का पत्रकारिता-जगत् इससे परिचित है। गत दो वर्षों में इसने दो विशेषांक निकाले हैं, जो हिन्दी-साहित्य के लिए शायद स्थायी वस्तु सिद्ध होंगे। पहले में श्रीअरविन्द का बहुमुखी परिचय देने के लिए पांच विस्तृत निबंध दिये गए थे। ये निबंध अपने-आपमें गवेषणा-पूर्ण अध्ययन थे, जो विभिन्न व्यक्तियों से समय देकर लिखवाये गए थे। इनके विषय थे, जीवनी, योग, समाज-शास्त्र, दर्शन और साहित्य। इनमें से पहले और अंतिम विशेष उल्लेखनीय हैं। पहला लिखा था आचार्य भुवनेश्वर 'माधव' ने और अंतिम श्री रामधारीसिंह, 'दिनकर' ने। यह विशेषांक पुस्तक रूप में भी 'श्रीअरविन्द की प्रेरणा' नाम से प्रकाशित हो चुका है। दूसरा विशेषांक श्री अरविन्द के पत्रों का संकलन था, जो कुछ महीने हुए प्रकाशित हुआ है। श्रीअरविन्द के पत्र अपने-आपमें एक विस्तृत साहित्य है, जो सरल है, सरस है और अनेक विषयों पर पथ-प्रदर्शन देता है। श्रीअरविन्द जीवन-दर्शन का यह अत्यंत बोधगम्य निरूपण है और अंग्रेजी में प्रकाशित हो जाने पर भी हिन्दी में अनेक वर्षों तक अप्राप्य ही रहा। इस प्रकाशन ने उस अभाव की पूर्ति की है। पत्रों की एक और जिल्द, छपाई की अंतिम अवस्था में है और शीघ्र ही जनता के सामने आ जायगी। 'अदिति' का एक और विशेषांक, जिसका नाम है, 'श्री माताजी के प्रवचन', प्रेस में है। उसमें माताजी के पंद्रह प्रवचन उनके पेरिस काल के हैं और पच्चीस पीछे आश्रम-काल के। साथ में उनके संपूर्ण स्फुट वचनों का भी एक संग्रह है।

'अदिति' को श्रीअरविन्द-विचार-धारा का प्रतिनिधित्व करते हुए दस वर्ष हो जाते हैं और इस बीच में इसने जहां व्यक्तिगत पाठकों को प्रेरित किया है और श्रीअरविन्द जीवन-दर्शन की साधना में किसी अंश में उन्हें प्रवृत्त किया है, वहां इसने अनेक पत्र-पत्रिकाओं को भी कुछ हद तक प्रभावित किया है। हिन्दी की अनेक पत्र-पत्रिकाएं अब श्रीअरविन्द-संबंधी लेखों को 'अदिति' से लेकर तथा स्वतंत्र आयोजना द्वारा प्रकाशित करती हैं।

श्रीअरविन्द विचार-धारा का ही प्रतिनिधित्व करने-वाली पत्रिकाएं 'अदिति' के अतिरिक्त और भी कई रही हैं जिन्होंने अपने-अपने क्षेत्र में कुछ-कुछ समय के लिए उपयोगी काम किया है। 'अर्चना' एक वार्षिक पत्रिका अथवा पुस्तिका

थी, जिसने चार बृहत् आकार में सचित्र अंक निकाले। ये अंक इस विचार-धारा की एक निधि हैं, जिनकी फाइलें चाव से पढ़ी जाती हैं। 'मा' द्वैमासिक पत्रिका के रूप में कलकत्ते से निकलती रही, जिसका संपादन श्री श्यामसुन्दर झुनझुनवाला बड़े त्याग और प्रेम से करते रहे। पीछे यह पत्रिका बम्बई की 'भारत माता' में समाविष्ट हो गई और उसका संपादन झुनझुनवालाजी ही करने लगे। इस वर्ष के प्रारंभ से 'भारत माता' 'अदिति' में सम्मिलित हो गई है और 'अदिति' अब 'अदिति सह भारतमाता' बन गई है। गाजियाबाद (उ० प्र०) से श्री मोहनस्वामी के निर्देशन तथा संपादकत्व में 'माता' पत्रिका निकल रही है, जिसने वहां अपना क्षेत्र बना लिया है। इन सब पत्रिकाओं ने अनेक व्यक्तियों को साहित्यिक सृजन की प्रेरणा दी है और कई नई विचार-धारा की शैली के आशापूर्ण कवि तथा लेखक पैदा किये हैं।

हमने ऊपर कहा था कि 'अदिति' के साथ-साथ कुछ पुस्तक-प्रकाशन भी होने लगा। पीछे चलकर अदिति कार्यालय नियमित रूप में पुस्तकें प्रकाशित करने लगा और उसने अबतक तेरह-चौदह पुस्तकें प्रकाशित की हैं जिनमें ये उल्लेखनीय हैं—सुन्दर कहानियां, विचार और झांकियां, दयानंद, कर्मयोगी, योग-विचार, योगदीक्षा, श्रीअरविन्द की प्रेरणा और श्रीअरविन्द के पत्र। पहली पुस्तक माताजी की एक शिक्षाप्रद कहानियों की फ्रेंच पुस्तक का अनुवाद है। विचार और झाकियां, दयानंद और कर्मयोगी श्रीअरविन्द की पुस्तकें हैं। योग-विचार एक संकलन है, जिसमें 'योग और जीवन' नामक लेख श्रीअरविन्द का है बाकी सब विभिन्न साधक-विचारों के हैं। योगदीक्षा श्री अनिलवरण का श्रीअरविन्द से पत्र-व्यवहार है। शेष दो का परिचय ऊपर आ चुका है। 'अदिति' तथा 'अदिति-प्रकाशन' वर्तमान लेखक का एक प्रिय कर्तव्य रहे हैं।

वेद, उपनिषद् और गीता श्रीअरविन्द के विचार और चिंतन का विशेष विषय रहे हैं। गीता तो उनकी साधना की एक मुख्य पथ-प्रदर्शिका रही है। वेद और उपनिषद् शायद भारतीय संस्कृति के नाते उनकी जिज्ञासा के विषय बने और उन्होंने इनके आधात्मिक तथ्यों का अनुभव प्राप्त करना चाहा। फलस्वरूप वेद पर उन्होंने एक विवेचनात्मक ग्रंथ 'दि सिक्रेट ऑव दि वेद' लिखा तथा मंत्रों की एक प्रचुर संख्या का भाष्य किया। श्री अभयदेव वेदालंकार स्वयं वैदिक विद्वान् हैं। वह श्रीअरविन्द के वैदिक साहित्य की ओर आकर्षित हुए और किसी वेद-भक्त ने इस कार्य के लिए धन दिया। फलस्वरूप 'वेद-रहस्य' नाम के अंतर्गत श्रीअरविन्द का वैदिक साहित्य हिन्दी में प्रकाशित होना शुरू हुआ। इस समय तक दो जिल्दें निकल चुकी हैं और तीसरी तैयार हो रही है।

श्रीअरविन्द-विचार-धारा का अधिकांश साहित्य प्रत्यक्ष ही श्रीअरविन्द और माताजी के मूल अंग्रेजी और फ्रेंच ग्रंथों का अनुवादरूप है। यह साहित्य तो इस विचार-धारा का मौलिक साहित्य ठहरा और यह सदा ही अनुवाद-रूप रहेगा। इसके अतिरिक्त साधक-वर्ग का भी कुछ स्वतंत्र साहित्य हिन्दी में रचा गया है, परन्तु वह है अभी थोड़ा ही। लेकिन यह साहित्य बढ़ रहा है और बढ़ेगा, यद्यपि इस समय इस विचार-धारा के साहित्य-सेवियों का बल अधिकांश रूप में अनुवाद पर ही है। अनुवाद भी अभी, जैसा कि हम पहले कह चुके हैं, प्रश्नरूप ही उपस्थित है। श्रीअरविन्द के आध्यात्मिक चिंतन और उनकी अंग्रेजी भाषा का उचित हिन्दी उल्था अभी तक सिद्ध नहीं हो पाया। कई परीक्षण और प्रयास पिछले बीस-पच्चीस वर्षों में हुए हैं और निश्चय ही उनमें काफी सफलता प्राप्त हुई है। इस कार्य में तथा किसी अंश तक स्वतंत्रता में अबतक विशेष रूप में सर्वश्री लक्ष्मण नारायण गर्दे, मदनलाल गाड़ोदिया, अभयदेव, चंद्रदीप, जगन्नाथ विद्यालंकार, लीलावती, मोहनलाल वाजपेयी, नारायणप्रसाद 'बिंदु', डा० संतोषानंद, प्रो० छोटेनारायण शर्मा आदि ने योगदान दिया है। इनके अतिरिक्त सर्वश्री विष्णु प्रभाकर, केशवदेव आचार्य, आचार्य भुवनेश्वरनाथ 'माधव', ब्रह्मानंद, आनंदीलाल तिवारी, ब्रजमोहन दीक्षित, वीरेन्द्रकुमार गुप्त आदि ने भी सहायता की है

इस विचार-धारा की साहित्यिक रचना तथा प्रचार में श्री सुरेन्द्रनाथ जौहर तथा श्री केशवदेव पोद्दार के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। आपने अपनी श्रद्धा के बल से, आयोजन-सामर्थ्य से तथा साधन से इसकी बहुत सहायत्ता की है।

उच्च कोटि के हिन्दी-साहित्यिकों में भी श्रीअरविन्द-विचार-धारा से अनुराग रखनेवाले कई हैं। कुछ बेशक उन्हें दर्शन के लिए पढ़ते हैं, कुछ योग के लिए, और कुछ

काव्य के लिए। हाल ही में श्री जैनेन्द्रकुमार ने लेखक से एक प्रसंग में कहा कि गांधीजी को समझना उन्होंने श्रीअरविन्द से सीखा। व्याख्या में उन्होंने श्रीअरविन्द के इस दार्शनिक सिद्धान्त का प्रतिपादन किया कि किसी विषय को तब हम समझते हैं जब हम उसके साथ तादात्म्य लाभ करते हैं। उस समय लेखक को ऐसा अनुभव हुआ कि जैनेन्द्रजी ने इस दार्शनिक सत्य को बहुत मार्मिक रूप में अनुभव किया है तथा उससे हार्दिक आनंद प्राप्त किया है। गत वर्ष ही राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त का एक संदेश प्राप्त करके लेखक को अतीव आनंद हुआ था। वह यह कि श्रीअरविन्द के महाकाव्य 'सावित्री' का हिन्दी में रूपांतर होना चाहिए। कविवर सुमित्रानंदन पंत ने उसके कुछ खंडों का रूपांतर किया है, जो 'अदिति' में प्रकाशित हो चुका है। परंतु वह महाकाव्य पूरे-का-पूरा हिन्दी में प्राप्त करने के लिए अभी शायद और समय के लिए प्रतीक्षा करनी पड़ेगी। परंतु जब कि राष्ट्रकवि उसके हिन्दी-रूपांतर की आवश्यकता अनुभव करते हैं तो इसके चरितार्थ होने में संभवतः बहुत ज्यादा समय नहीं लगेगा।

हिन्दी-जगत् में शायद श्री सुमित्रानंदन पंत और श्री रामधारी सिंह 'दिनकर' ने श्रीअरविन्द को विशेष रूप में उपलब्ध किया है। परंतु इन दोनों की पहुंच अपनी-अपनी रही है। पंतजी को खोज थी जीवन-दर्शन की और यह उन्हें श्रीअरविन्द के 'दिव्य-जीवन' (दि लाइफ डिवाइन) ग्रंथ में प्राप्त हुआ और यह फिर उनके काव्य में भी अभिव्यक्त होने लगा। 'उत्तरा' की प्रस्तावना (१९४९) में उन्होंने लिखा है--

"मेरी कई पिछली मान्यताएं भीतर-ही-भीतर ध्वस्त हो चुकी थीं और नवीन प्रेरणाएं उदय हो रही थीं; 'ग्राम्या' की 'सांस्कृतिक मन' आदि कुछ रचनाओं तथा सन् ४२ के उत्तरार्ध में प्रकाशित मेरी 'लोकायन' की योजना में उन मानसिक हलचलों का थोड़ा-बहुत आभास मिलता है। मेरी अस्वस्थता का कारण एक प्रकार से मेरी मनःक्लांति भी थी। अपनी नवीन अनुभूतियों के लिए, जिन्हें मैं अपनी सृजन-चेतना का स्वप्न-संचरण या काल्पनिक आरोहण समझता था। मुझे किसी प्रकार का बौद्धिक तथा आध्यात्मिक अवलंब की आवश्यकता थी। इन्हीं दिनों मेरा परिचय श्रीअरविन्द के 'भागवत जीवन' (दि लाइफ डिवाइन) से हो गया। उसके प्रथम खंड को पढ़ते समय मुझे ऐसा लगा, जैसे मेरे अस्पष्ट स्वप्न-चिंतन को अत्यंत सुस्पष्ट, सुसंगठित एवं पूर्ण दर्शन के रूप में रख दिया गया है। अपनी अस्वस्थता के बाद मुझे 'कल्पना' चित्र-पट के संबंध में मद्रास जाना पड़ा और मुझे पांडिचेरी में श्रीअरविन्द के दर्शन करने तथा श्रीअरविन्द-आश्रम के निकट संपर्क में आने का सौभाग्य भी प्राप्त हो सका। इसमें संदेह नहीं कि श्रीअरविन्द के दिव्य-जीवन-दर्शन से मैं अत्यंत प्रभावित हुआ हूं। श्रीअरविन्द-आश्रम के योगयुक्त (अंतःसंगठित) वातावरण के प्रभाव से, ऊर्ध्व मान्यताओं-संबंधी, मेरी अनेक शंकाएं दूर हुई हैं। 'स्वर्ण-किरण' और उसके बाद की रचनाओं में यह प्रभाव, मेरी सीमाओं के भीतर, किसी-न-किसी रूप में प्रत्यक्ष ही दृष्टिगोचर होता है।" थोड़ा आगे वह फिर लिखते हैं—

"श्रीअरविन्द को मैं इस युग की अत्यंत महान् तथा अतुलनीय विभूति मानता हूं। उनके जीवन-दर्शन से मुझे पूर्ण संतोष प्राप्त हुआ। उनसे अधिक व्यापक, ऊर्ध्व तथा अतल-स्पर्शी व्यक्तित्व, जिनके जीवन-दर्शन में अध्यात्म का सूक्ष्म, बुद्धि-अग्राह्य सत्य नवीन ऐश्वर्य तथा महिमा से मंडित हो उठा है, मुझे दूसरा कहीं देखने को नहीं मिला। विश्व-कल्याण के लिए मैं श्रीअरविन्द की देन को इतिहास की सबसे बड़ी देन मानता हूं। उसके सामने इस युग के वैज्ञानिकों की अणु-शक्ति की देन भी अत्यंत तुच्छ है। उनके दान के बिना शायद भूत-विज्ञान का बड़े-से-बड़ा दान भी जीवनमुक्त मानव-जाति के भविष्य के लिए आत्म-पराजय तथा अशांति का ही वाहक बन जाता। मैं नहीं कह सकता संसार के मनीषी तथा लोकनायक श्रीअरविन्द की इस विशाल आध्यात्मिक जीवन-दृष्टि का उपयोग किस प्रकार करेंगे अथवा भगवान् उसके लिए कब क्षेत्र बनायेंगे।"

यह जीवन-दर्शन उनकी नवीन रचनाओं में बड़े बल और ओज के साथ कई प्रकार से अभिव्यक्त हुआ है। 'रजत शिखर' में वह एक जगह कहते हैं —

"निम्न प्राणचेतना एक दिन ऊर्ध्व गमन कर
रागात्मक भू स्वर्ग रचेगी स्वप्न जाल स्मित;
भले उपेक्षित रही रूक्ष नैतिकता से हो,

अपने आरोहण-पथ में वह देव-योनि वन
बरसाएगी भू पर रत्नस्मित आभाएं
श्री शोभा, विश्वास प्रीति, आनंद ज्योति की ! ..."

मानव-चेतना का विकास और उसकी पूर्णतर अभिव्यक्ति उनके नये काव्य की एक अत्यंत ओजस्वी भावना है, जो अपूर्व आनंद और प्रेरणा प्रदान करती है। उसमें ध्रुव आशा है, विश्वास है तथा जीवन के व्यक्तित्व, सामाजिक तथा राजनैतिक प्रश्नों के लिए नया समाधान है।

दिनकरजी की श्रीअरविन्द के प्रति पहुंच शायद दर्शन की नहीं थी, यह थी शुद्ध साहित्य की। इन्होंने श्रीअरविन्द को साहित्यकार के रूप में उपलब्ध किया है। आप लिखते हैं—

"मैंने 'सावित्री' के कई भागों को पढ़ा है और कुछ भागों को एक से अधिक बार पढ़ा है, किन्तु 'सावित्री' के सारे अर्थ मुझ-जैसों के हाथ नहीं लगते; सिर्फ आलोक देखकर ही मैं इस ग्रंथरत्न का भक्त बन गया हूं।" (अदिति विशेषांक -१९५१), (श्रीअरविन्द की साहित्य-साधना, श्री दिनकर, पृ० १६०)। श्रीअरविन्द-साहित्य का समग्र रूप में मूल्यांकन करते हुए आप लिखते हैं—

"एक बार श्रीअरविन्द के साहित्य-शिखर के पास पहुंचने पर बड़े-बड़े दिग्गजों का धीरज डोलने लगता है और ज्यों-ज्यों वे अरविन्द-साहित्य के ऊपर चढ़ने का प्रयास करते हैं त्यों-त्यों उन्हें यह आप-ही-आप विदित होने लगता है कि अरविन्द सचमुच पहाड़ हैं—एक ऐसा ऊंचा पहाड़, जिसपर स्वर्ग से उतरनेवाली किरण सबसे पहली आती है तथा जिसकी गुफाओं एवं दरारों में जीवन के अनेकानेक भेद छिपे हुए हैं।" (वही, पृ० १५४)।

वस्तुतः श्रीअरविन्द-विचार-धारा एक गंभीर सांस्कृतिक प्रवृत्ति है। इसका उद्देश्य प्रथमतः अंतर्चेतना का नव-निर्माण है। इसलिए इसका क्षेत्र धीरे-धीरे ही बढ़ेगा। परंतु यह है हिन्दी-साहित्य की एक उदीयमान प्रवृत्ति, जिसने गत पच्चीस वर्षों में उत्तरोत्तर बल प्राप्त किया है और जो भविष्य में शायद अधिकाधिक बल प्राप्त करती जायगी।

उत्तिष्ठ !

हरीश

सर्वोपरि उपलब्धि मुक्ति है मनुजता की
उट्ठो
तनिक आगे बढ़ो;
जाति, वर्ग, मजहब व मुल्क अब न और गढ़ो
बन्धन सब बन्धन हैं, काटो !
आंगन में दीवारें और नहीं खड़ी करो
संकीर्णताएं अधिक आई हैं, खाई को न बड़ी करो
आकाश खुला-खुला रहने दो
सूरज, चांद, तारों की रोशनी न बांटो।
खिलते मृदुभाव सुमन, और इन्हें खिलने दो
सौरभ-सौरभ जीवन—
मिलने दो; प्राण-पवन
खुलें-खिलें भोर-निशा—
दिशा-दिशा डाटो !

—हरीश

दिल दो दिलदार को, दिमाग संसार को

●● जित्तूराम मौर्य

सृष्टि का रचयिता परमपिता परमेश्वर सृष्टि की बहुत कुछ रचना कर चुकने के बाद भी स्वयं सन्तुष्ट और आनंदित नहीं हुआ। सोचने लगा कि अब क्या किया जाय? सोचते-सोचते वह इस निष्कर्ष पर आया कि मनुष्य की रचना की जाय तो आनन्द आ सकता है। ईश्वर के लिए आनन्द की बात—हां, ईश्वर सबसे अधिक आनन्द चाहता है और वह आनन्द उसे तमाशा देखने में मिलता है। दुनिया में सबसे बड़ा तमाशबीन यदि कोई है तो वह है—ईश्वर। सारी दुनिया का तमाशा ही देखा करता है। उसे और काम ही क्या है? प्रतिक्षण अनंत जीवों की रचना करता है, उनके क्रियाकलापों को देखता है, फिर उन्हें नष्ट भी कर देता है। ऐसा है वह तमाशबीन। खिलवाड़ बनाता है, उसे देखता है और विगाड़ देता है। खिलवाड़ बनाने में आनंद, उसे देखने में आनंद और खिलवाड़ को बिगाड़ देने में भी आनंद यानी हर समय आनंद ही लेता रहता है।

आनंद के भूखे सृष्टिकर्ता ने मनुष्य की रचना की। तदनन्तर मनुष्य को दो वस्तुएं प्रदान की, दिल और दिमाग़। दिल तो मनुष्य को इसलिए दिया कि मानव अपना दिल मुझ (ईश्वर) दिलदार को देगा; क्योंकि दुनिया में सबसे बड़ा दिलदार परमेश्वर ही है। और दिमाग़ इसलिए दिया कि मानव अपना दिमाग़ संसार को देगा। यानी सृष्टकर्ता ने दिल दिलदार के लिए और दिमाग़ संसार के लिए दिया। अब उसे तसल्ली हुई कि सृष्टि का आनंद आ सकता है।

किन्तु परिणाम उल्टा ही हुआ। मानव अपना दिल दिलदार को न देकर संसार को देने लगा और दिमाग़ जो संसार को देना था, दिलदार को देने लगा। तो क्या हुआ? हुआ यह कि आज संसार के सभी देशों का मानव-समाज क्षुब्ध, पीड़ित और परेशान दृष्टिगोचर हो रहा है। एक देश दूसरे देश को निगल जाना चाहता है। एक समुद्र-तल छानता है तो दूसरा आकाश छेदना चाहता है। फिर इन दोनों के बीच में पड़ी पृथ्वी की क्या दशा हो सकती है? कैसे टिकेगी वह, जब नीचे-ऊपर दोनों ओर अणु-प्रयोग हो रहे हैं? यही नहीं, रॉकेट अगल-बगल के ग्रहों, जैसे चन्द्रमा, मंगल तथा सूर्य की परिक्रमा भी करने को तैयार हैं। हमारी पृथ्वी के चारों ओर रॉकेट मुंह बाये हैं। कब पृथ्वी आआश में उड़ कर चली जायगी या पाताल का रास्ता पसन्द करेगी या क्षितिज में जा छिपेगी, कोई बता नहीं सकता। फिर पृथ्वी पर बसनेवाले मानव-समाज की क्या हाल होगी, कोई बता सकता है?

आज मानव मानव को दलित कर रहा है। एक-दूसरे को कुचल रहा है, हत्या कर रहा है। तरह-तरह से स्वार्थ-सिद्धि पर ही काक-चेष्टा का प्रयोग हो रहा है। परहित को तिलांजलि दी जा रही है। भाई-भाई को भूल रहा है। यहांतक कि सहोदर भाई भी दुश्मन नज़र आता है। समाज में पंथवाद, जातिवाद, धर्मवाद फैले हैं। 'हरि अनंत हरि कथा अनंत!' समाज में अनंत वाद हो गये हैं। सभी स्वार्थ-सिद्धि का मंत्र जप रहे हैं। परहित के लिए कहते हैं कि वह आज का शब्द नहीं है। उसे शब्दकोश से निकाल देना चाहिए, या नये शब्दकोश की रचना करनी चाहिए, जिसमें अनंत पृष्ठ हों और हर पृष्ठ पर 'स्व+अर्थ' इन्हीं दो शब्दों के पर्यायवाची शब्द और उनके अर्थ लिखे हों, इतना ही बस है। इसीमें सारा संसार व्याप्त है। दूसरे शब्द जानने की और उनका उच्चारण करने की ज़रूरत नहीं है।

आखिर यह सब उल्टा ही क्यों हो रहा है, इसपर कभी शांत चित्त से किसीने विचार किया है?

सभी व्यवहार उल्टे हो रहे हैं। इसका कारण यही है कि मानव ने अपनी बुनियाद ही उलट डाली है। किसी मकान का ऊपर का सिरा नींव में कर दिया जाय और नींव को ऊपर के सिरे पर, तो विचित्र हालत उत्पन्न होगी। मकान के दरवाजे, खिड़कियां आदि सभी उलटे ही नज़र आयेंगी।

यहांतक कि उस मकान में घुसना और उसके बाहर आना एक जटिल समस्या हो जायगी। फिर भला उसमें कोई रह सकता है क्या? ठीक यही बात मानव ने अपनी बुनियाद के साथ की है—दिल दिलदार के लिए था, उसे उसने संसार को दे दिया और दिमाग़ संसार के लिए था, उसे उसने दिलदार को दे दिया। जहां ईश्वर की बात आई चट दिमाग़ लगाने का काम शुरू किया। तर्क चलने लगा—ईश्वर तो निर्विकार है, निर्गुण है, अजन्मा आदि है। वह अवतरित होकर सगुण क्रियाकलाओं से कैसे विभूषित हो सकता है? उदाहरणार्थ—दशकन्ध (रावण) कम बुद्धिमान नहीं था। वह वेदों और शास्त्रों का पंडित था। इतना ही नहीं, वह ब्रह्मज्ञानी भी था। किन्तु शूर्पणखा अपनी नाक कटवाने के बाद रावण के पास जाती है और राघवेन्द्र, लक्ष्मण और जानकी की वेष-भूषा, सौन्दर्य एवं अवस्था के वर्णन के साथ अपनी दयनीय स्थिति का दिग्दर्शन कराती है। रावण का दिल कहता है कि ब्रह्मा ने अवतार ले लिया, बिना उसके इतनी छोटी आयुवाला, वन-वन मारा फिरनेवाला साधारण तपस्वी रूपधारी ऐसा वीभत्स कार्य नहीं कर सकता। किन्तु वह दिल की बात को ठुकरा देता है और दिमाग़ से काम लेना शुरू करता है। अपने मामा मारीच के पास जाकर वह दिल की बात सुनाता है और दिमाग़ का कार्य करने को उसे बाध्य करता है। दोनों जंगल में राम-कुटीर के पास आते हैं। मारीच स्वर्ण-मृग बनकर श्रीरामचन्द्र के सामने आता है और रावण दिमाग़ का खेल देखने के लिए वृक्ष-ओट का सहारा लेता है। देखता है कि शिकार को सामने जाते हुए भी रामचन्द्र वीर शिकारी की भांति सतर्क नहीं हैं, अभी धनुष-वाण ठीक कर रहे हैं, फिर शिकार के पीछे दौड़ना शुरू कर रहे हैं। बस, रावण का मस्तिष्क उसे इस निष्कर्ष पर पहुंचा देता है कि इतना ढीला-ढाला काम ब्रह्म नहीं कर सकता। इसका (राम का) काम ब्रह्म जैसा कोई नहीं दीखता है, ये दोनों (राम-लक्ष्मण) साधारण राजकुमार हैं, जो वेष बदलकर जंगल में आये हैं। बस, रावण दिमाग़ लगाकर सारा काम करने लगता है। यहांतक जगत्जननी जानकी का भी वह हरण कर ले जाता है। ब्रह्म के साथ दिमाग़ लगाने का परिणाम क्या होता है? रावण-जैसे प्रतापी, पंडित एवं ब्रह्मज्ञानी का विनाश। इसी प्रकार जो भी जहां कहीं भी ईश्वर के लिए दिमाग़ लगाता है, मामला चौपट हो जाता है। इसलिए ईश्वर काला नहीं, गोरा है; बावन नहीं, विशाल है; गिरधारी नहीं, चक्रधारी है; वंशीधारी नहीं, धनुषधारी है; सगुण नहीं, निर्गुण है; ऐसे जितने भी तर्क और मस्तिष्क की कसरतें हैं, वे सभी मिथ्या और व्यर्थ हैं। ईश्वर ही तो सब कुछ है, 'हरि अनंत हरि कथा अनंता'—यही उसकी विशेषता है—एक कहानी है—

एक पुरोहित अच्छे कथा-वाचक थे। एक गांव में कथा कह रहे थे। एक अहीर प्रतिदिन अपना लट्ठ बगल में दबाये कथा-स्थल पर पहुंचता, और प्रेम से कथा सुनता था। दैवयोग से एक दिन कथा के प्रसंग में पुरोहितजी ने गुरु का माहात्म्य सुनाया। लट्ठबाज अहीर को यह बात जंच गई, उसने ठान लिया कि इसी पुरोहित महाराज को मैं अपना गुरु बनाऊंगा और इन्हींसे गुरुमंत्र लूंगा। जिस दिन कथा समाप्त होनेवाली थी, उस दिन उस अहीर ने पुरोहितजी से अपना मंतव्य प्रकट किया।

पुरोहित ने पूछा हूं। यह अपन नि के हो? कुछ पढ़े-लिखे हो?" . करना चाहती है।"

अहीर (उपेक्षापूर्ण निःश्वास छोड़ते हुए) बोले,

पुरोर की सैर करने आई है? इस विचारी को संसार जातिवाल ही कौन है। पर देखो तो! विष्णु के कंठ में से क्या फब की सन्दुम म थी। उच्चों रंग हमें तो यह ताबीज़-

अहीर को गुस्सा आया। उसने लट्ठ दिखाकर कहा कि मैं तो आपको हृदय से गुरु मान चुका हूं, आपको मंत्र देना ही होगा, नहीं तो मेरी लाठी का...।

पंडितजी डर गये। मन में विचार किया कि इसे मंत्र देना ही पड़ेगा। बोले, "तुम कल सुबह स्नान आदि करके मंत्र लेने आ जाना। देर करोगे तो मैं चला जाऊंगा।"

अहीर को रातभर निद्रा नहीं आई। चार बजे उठा। शौचादि से निवृत्त होकर गुरुजी के पास गुरु-मंत्र के लिए पहुंचा। गुरुजी दंग रह गये। सोचने लगे, इस अपढ़ को कौन मंत्र देकर छुटकारा पाऊं!

उन्होंने उसके कान में फूंक दिया 'कमल दल लोचन' और कहा, "यही मंत्र है, इसीका जप करते रहना।"

इसके बाद पुरोहित महाराज वहां से चल दिये।

दूसरे दिन उस अहीर ने स्नान किया और गुरु-मंत्र जपने के लिए आसन लगाया। बेचारा अपढ़ था ही, मंत्र भूल गया। बहुत देर की उधेड़बुन के पश्चात् उसे याद आया, "क.....पो.....च....न—बस, रटने लगा—'कपोचन, कपोचन'।

कुछ दिन बाद दैवयोग से विष्णु और लक्ष्मी दोनों उसके पास से जा रहे थे। कुछ दूर जाने पर लक्ष्मी ने विष्णु से पूछा, "प्राणेश्वर! वह आदमी आंख मूंदे 'कपोचन, कपोचन' क्या रट लगाये है?"

विष्णु ने कहा, "प्रिये! वह मेरा नाम जप रहा है।"

लक्ष्मी चकित होकर कहने लगीं, "महाराज! यह आपका 'कपोचन' नाम मैंने कभी नहीं सुना। क्या 'कपोचन' भी आपका नाम है?"

विष्णु ने कहा, "हां, प्राणेश्वरी! वह मेरा ही नाम रटता है।"

लक्ष्मी को सूझा कि उस आदमी से पूछा जाय, तभी रहस्य खुलेगा। वेष बदलकर वह उसके पास पहुंचीं।

अहीर [illegible] है। ऐसा ह[illegible]क्ष्मी ने बार-बार वाड़ बनाता है, उसे देखता है और बिगाड़[illegible]ना नहीं। वाड़ बनाने में आनंद, उसे देखने में आनंद औ[illegible]तो गया को बिगाड़ देने में भी आनंद यानी हर समय आन[illegible] जानत रहता है। [illegible] करत

आनंद के [illegible] र्ता ने [illegible]ष्य की [illegible]

लक्ष्मी लज्जित हुईं और विष्णु के पास वापस आकर बोलीं, "प्राणेश्वर! वह तो बड़ा मर्मज्ञ और कर्मरत पुरुष है, वेष बदलने पर भी मुझे पहचान गया।"

विष्णु ने कहा, "प्रिये! जिसने अपना दिल मुझे दे दिया, उसके लिए इस संसार में जानने को कुछ बाकी नहीं रह जाता है।"

:o: :o: :o:

कर्मरत गोपियां सांसारिक कर्म में लगी हुई अपना दिल दिलदार को देती हैं। दूध जमा लेने के बाद वे मक्खन बनाने की तैयारी करती हैं। हाथ में मथनी लेकर साढ़ीसहित दही को मथने लगती हैं। मथते-मथते (कर्म करते-करते) माखन ज्योंही ऊपर आता है, त्योंही उन्हें 'माखन-चोर' की याद आ जाती है—सामने 'माखन-चोर' हाथ में माखन लिये हुए दिखलाई पड़ता है। तब 'माखन-चोर' की शोभा निरख-निरखकर गोपियां निहाल हो जाती हैं।

हमें भी चाहिए कि हम संसाररूपी गाय के कर्मरूपी दूध को सुख-दुःख के संघर्षण की अग्नि पर तपने दें। फिर उसमें हरि-भक्ति का जामन डाल दें—(जैसे—पके हुए दूध में जामन न डालने से वह दूध जमने के बजाय फट जाता है—बेकार और निरर्थक हो जाता है, वैसे ही हरि-भक्ति-रूपी जामन के बग़ैर तपा हुआ कर्मरूपी दूध भी फटकर व्यर्थ और निरर्थक सिद्ध होता है) जमने पर उसे दिल की मथनी से मथें—इस मंथन से जो तत्व (सार) निकलेगा वही होगा—मक्खन। उसे लेने के लिए 'माखन-चोर' आनंदित होकर अवश्य प्रकट होगा। भगवत्साक्षात्कार हो जायगा। अब और क्या चाहिए? जगत् में मानव-जन्म सार्थक हो जायगा।

:o: :o: :o:

कबीर को लीजिये, वह अपना दिल दिलदार को देकर संसार का कर्म करता रहा। होता क्या है? ताने-बाने पर बैठकर कबीर एक बार ढरकी फेंकता है फिर दिनभर ढरकी अपने-आप इधर-से-उधर आती जाती है। सारा कपड़ा अपने-आप बुन जाता है। कबीर तो बैठा हुआ दिल-दार को ही देखता रहता है। यही नहीं, कबीर ने तो डंके की चोट से कहा है—

'कबीर' मन निरतक भया, दुरबल भया शरीर।
पाछे लागे हरि फिरे, कहत "कबीर" "कबीर"॥

यानी कबीर भगवान की तलाश में नहीं है, भगवान् स्वयं कबीर की तलाश कर रहा है। जिसने भी अपना दिल ईश्वरार्पण किया, ईश्वर स्वयं उस मानव का गुलाम बन जाता है।

इसीलिए तो मैं कहता हूं—"दिल दो दिलदार को, दिमाग़ संसार को"। सभी कार्य इच्छानुसार ठीक होने लगेंगे।

कौस्तुभ मणि का गर्व

●● 'अलौकिक'

एक दिन कौस्तुभमणि ने अहं से प्रेरित होकर विचार किया कि भगवान् विष्णु उसे एक क्षण भी पृथक क्यों नहीं करते। जबकि दुकुल, मुकुट, शंख, चक्र आदि शयन, भोजनादि के समय पृथक रख देते हैं। तो इसमें कुछ रहस्य अवश्य है।...कौन जाने मेरे से ही विष्णु की प्रसिद्धि हो! मैं भी कितनी भोली हूं, जो अपनी गुण-गरिमा तक नहीं जानती। लोक में शास्त्र और विद्वज्जन मेरी अनथक प्रशंसा करते हैं। हो-न-हो मैं ही ब्रह्माण्ड की अलभ्य, श्रेष्ठ और वन्दनीय वस्तु हूं। पर विष्णु का स्वभाव तो देखो! इन्होंने आजतक मुझे प्रशंसा और आभार के दो शब्द तक न कहे। पर मुझे अब और चुप नहीं रहना है। कुछ उलहना तो देना ही होगा।

ऐसा सोचकर वह विष्णु के वक्षस्थल पर इस तरह की बाल-सुलभ हरकत करने लगी कि जिससे भगवान उसकी मनोव्यथा जान जायं।

नन्ही मृदुला की रोषपूर्ण चेष्टाओं से विष्णु की नींद उचट गई। क्षणभर में वह उसके आक्रोश की गहराई में पहुंच गये। अंतर्यामी जो ठहरे! दाएं हाथ के अंगुष्ठ और तर्जनी से स्नेहपूर्वक स्पर्श करते हुए बोले, "हे तात! तुम अपने मन का अन्तर्द्वन्द्व प्रस्तुत करो। मैं नहीं चाहता कि मेरी प्रभुता को कोई अपने अहित में समाहार करे। मैं अपने अपराध को स्वीकार करने में संकोच नहीं करूंगा।"

कौस्तुभ चुप। उसे साहस नहीं हुआ कि वह कुछ बोले। नारीसुलभ लज्जा से वह अपनेको पृथक न कर सकी। किन्तु उसकी अन्तर्वेदना एवं अहं किंचित भी कम नहीं हुआ।

अस्तु। लोकलोकान्तर का भ्रमण करते हुए देवर्षि नारद विष्णुलोक पहुंचे। कुछ काल तक वह विष्णु के प्रिय अतिथि बने रहे। अंततः वह भवलोक में विचरण करने के स्वाभाविक मोह का संवरण न कर सके। अपनी इच्छा प्रभु के आगे रक्खी। भला भगवान् उन्हें कब रोकते। वह तो उनका अन्यतम शिष्टाचार था। भक्तवत्सल विष्णु गद्गद् कंठ से देवर्षि को वक्षस्थल से लगाकर बिदा देने लगे और बोले, "हे महामुनि! इस कौस्तुभ को संसार की सैर करा आओ। यह अपने भक्तों और प्रशंसकों का दर्शन कर आनन्दित होना चाहती है।"

देवर्षि नारद बोले, "ओह! ऐसी बात है तो लिये चलता हूं।"

भगवान् ने सूत्र में अवगुंठित कौस्तुभ को अपने कंठ से उतारकर नारद के कंठ में विभूषित कर दी। और नारद अवनि पर स्वच्छन्द विचरण करने लगे। उन्हें पहचाननेवाले एक वृद्ध ब्राह्मण से उनकी भेंट हुई। ब्राह्मण महाकृपण, मूढ़ और अमितभाषी था। बोला, "नारदजी, यह कौस्तुभमणि तो विष्णु की प्रतीत हो रही है। आप किसी सेवा के परिवर्तन में क्रय करके लाये हैं या उधार? मैं विष्णु का भक्त हूं, यह मुझे दे दीजिये। आप विरक्त संत हैं, आपके कंठ में यह शोभा नहीं देती।"

देवर्षि नारद बोले, "हे वृद्ध विप्र! इसे तो मैं संसार की सैर कराने लाया हूं। यह अपने भक्तों और प्रशंसकों का दर्शन लाभ करना चाहती है।"

ब्राह्मण (उपेक्षापूर्ण निःश्वास छोड़ते हुए) बोले, "यह संसार की सैर करने आई है? इस विचारी को संसार में जानता ही कौन है। पर देखो तो! विष्णु के कंठ में इसकी गजब की सुन्दरता थी। आपके कंठ में तो यह ताबीज-सी लग रही है।"

नारदजी आगे बढ़े। एक चाण्डाल से भेंट हुई। उसने नारदजी को नमस्कार किया। चाण्डाल की दृष्टि कौस्तुभ पर पड़ी। उसे वह एक सुन्दर आभूषण लगा। वह मांग बैठा। नारद ने उसे भी वही कहानी सुना दी, लेकिन वह नहीं माना। बोला, "कुछ भी हो मैं इसे अपनी प्रियतमा के लिए किसी भी मूल्य पर खरीदना चाहता हूं।"

नारद बोला, "तुम्हें यह कदापि सुलभ नहीं हो सकती।"

चाण्डाल हाथ में हथियार लेकर क्रुद्ध होता हुआ बोला, "देता है या नहीं? इन्कार जो करेगा तो तेरे सामने ही इसे तोड़-फोड़कर फेंक दूंगा।

नारद चुप रहे। केवल हास्य मुद्रा से उसे घूरते रहे।

(शेष पृष्ठ २६७ पर)

तमसो मा ज्योतिर्गमय

गौरीशंकर द्विवेदी 'शंकर'

भारतवर्ष का सबसे प्राचीन ग्रंथ ऋग्वेद है। यजुर्वेद, सामवेद और अथर्व वेद की रचना ऋग्वेद के पश्चात् हुई। पुराण, ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद् आदि ग्रंथों की रचना समय-समय पर हमारे तपोनिष्ट महर्षियों ने की।

भारतीय संस्कृति का आभास हमारे इन ग्रन्थों द्वारा भली प्रकार जाना जा सकता है। ऋग्वेद में गंगा-यमुना, सरयू आदि नदियों के भी उल्लेख मिलते हैं और उनके तटों पर बसे हुए नगरों का संक्षिप्त विवरण।

भारतीय जन-जीवन में हमारे ऋषियों के मार्ग-दर्शन का यथेष्ठ प्रभाव पड़ा, उसके बल पर ही इतने संघर्ष झेलते हुए भी हम सब अबतक अपना अस्तित्व बनाये रख सके हैं और इस गये-बीते युग में भी यह सिद्ध कर सके कि विश्व के मानवों का कल्याण करना यदि अभीष्ट है तो वह भारतीय दर्शन द्वारा ही संभव हो सकता है, क्योंकि भारतीय दर्शन नैतिक जीवन की महत्ता और आध्यात्मिक जीवन को अपनाने का सन्देश देता है।

भारतीय सभ्यता के मूल-मंत्र रहे हैं 'जियो और जीने दो', 'बसुधैव कुटुम्बकम्', 'सर्वे भवन्तु सुखिनः,' और 'असतो मा सद्गमय, तमसो मा ज्योतिर्गमय,' 'मृत्योर्माऽमृतं गमय' इत्यादि।

जिस सभ्यता का आधार इतना विशाल और दृढ़ था, उससे विश्व के मानव-मात्र को प्रत्यक्ष और परोक्ष में कितना मार्ग-दर्शन मिला, इसे अन्वेषण-शास्त्री प्रकाश में ला सकते हैं, प्रस्तुत लेख में उसके अधिक विश्लेषण की आवश्यकता नहीं।

भारतीय दर्शन युग-परम्परा से जो मार्ग-दर्शन देता रहा, संक्षेप में उसका सार-रूप यही है कि जो व्यवहार स्वयम् को आपत्तिजनक प्रतीत हो उसको दूसरे के साथ भी नहीं करना चाहिए। पराई स्त्री को अपनी माता के समान पूज्या, दूसरे की सम्पत्ति को क्षुद्र मिट्टी के समान तुच्छ और विश्व के प्राणिमात्र को अपने ही समान प्रिय समझो।

भारतीय परम्परा में धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष मानव-जीवन के लिए चार प्रमुख अंग माने गए हैं। संसार में जन्म लेकर मानव को अपने धर्म द्वारा व्यावहारिक, सामाजिक और नैतिक सदकर्मों द्वारा अर्थ और काम को उपार्जित करने के पश्चात् ही शाश्वत शान्ति अथवा मोक्ष की कामना करना चाहिए।

सांसारिक जीवन-यात्रा में जिस मानव ने कर्म करके उपार्जन नहीं किया, वह त्याग कहां से और क्या करेगा। त्याग वही कर सकता है, जिसने उपार्जन किया हो। दया, दान और कर्म के समन्वय से ही मानव का आचरण ऊंचा उठता है और प्रशंसनीय हुआ करता है।

प्राचीनकाल से ही इस देश के जन-जीवन में उक्त भावनाओं का भरपूर समावेश रहा है। पौराणिक काल से लेकर इस युग तक में इस आस्था पर आत्मोसर्ग करने-वालों की अनेकानेक गाथाएं हैं, इतिहास इसका साक्षी है। महाराजा रघु, दिलीप, बलि, मोरध्वज, प्रह्लाद, दानी कर्ण, वीराङ्गना लक्ष्मीबाई, चन्द्रशेखर आजाद और विश्व-वंद्य राष्ट्रपिता बापू उसके ज्वलन्त प्रमाण हैं।

विज्ञान और भौतिकवाद से प्रभावित विश्व, स्पूतनिक और एटमबम द्वारा संसार का संहार करने की कल्पनाएं भले ही कर ले, किन्तु अन्ततोगत्वा उसे घूम-फिरकर भारतीय-दर्शन द्वारा निर्धारित मार्ग ही श्रेयस्कर प्रतीत होगा, जिसको अधिकांश शक्तियों ने मान भी लिया है।

मानव-जीवन की सफलता का रहस्य ज्ञान द्वारा ही अनुभव किया जा सकता है। तत्व-ज्ञानी और स्थिर प्रज्ञा-वाले व्यक्ति सांसारिक संघर्षों में तप-तप कर और भी खरे निकलते हैं, जबकि अज्ञानी व्यक्ति मोह, तृष्णा, विषयासक्ति आदि अनेकानेक विकारों द्वारा दुखी और अशान्त बना रहता है।

अज्ञान ही संसार के अनेकानेक झंझटों और दुःख का मूल कारण माना गया है, अज्ञान की निवृत्ति सदैव नित्य ज्ञान से ही हो सकती है।

जबतक चित्त चंचल और अशांत रहता है, तबतक ही मानव राग-द्वेष आदि अनेकानेक विकारों से दुखी होकर

(शेष पृष्ठ २६६ पर)

'पंच चाहें तो गांव खों सरग बना दें'

●● गुरुशरण

बचपन में सुनी यह बुन्देलखंडी कहावत कि 'पंच चाहें तो गांव खो सरग बनादें' उस दिन एकाएक याद हो आई जब ग्वालियर में लगभग एक लाख लोगों की विशाल जन-सभा में प्रधान-मंत्री पं० जवाहरलाल नेहरू ने कहा, "ग्रामीण भारत के विकास में पंचायतों का महान् स्थान है, अब हम पंचायती राज में पंचों को बड़े-बड़े अफसरों के अधिकार दे रहे हैं।"

उपरोक्त लोकोक्ति में "पंच चाहें तो. . .", में "चाहे तो" पर विशेष बल दिया गया है। जोर-जबर्दस्ती से लोगों का तन कुछ समय के लिए भले भेड़-बकरी की तरह हंक जाय पर मन में तो खुटक हो ही जाती है। इसी तरह से कानून से भी केवल सुयोग और सुविधा हाथ आती है, मन वश में नहीं होता। घोड़े को नदी तक भले ही ले जायं पर जबर्दस्ती या किसी कानून से उसे बाध्य करके पानी नहीं पिला सकते। वह तो उसके अन्तर की स्वाभाविक प्यास पर ही निर्भर है। सुयोगों और सुविधाओं को तो जिसके पास पैसा है, वह खरीद लेता है और जिसके पास चतुराई और धूर्तता है वह हथिया लेता है। कल्याणकारी राज्य में कल्याण के नाम पर जिस सामान्य नागरिक की सहूलियत के लिए कानून के नियम बनते हैं, वह बेचारा हाथ मलता, शिकायत करता और किस्मत को कोसता रह जाता है। अभी-अभी पास हुआ पंचायती राज कानून राजस्थान, आन्ध्र, मद्रास, उड़ीसा, पंजाब, उत्तर प्रदेश में लागू हो गया है और अप्रैल १९६२ से मध्यप्रदेश में लागू होने जा रहा है, जिसमें नेहरूजी के कथनानुसार पंचों को बड़े-बड़े अफसरों के अधिकार मिल रहे हैं।

पंचायती राज कानून की अमलदारी में गांव के हर नागरिक को अपनी हिस्सेदारी महसूस करनी चाहिए कि अब अपने गांव में अपना राज्य आया। आज का युग अब बन्दूकों और कृपाणों का नहीं रहा। आज के जमाने के देवता हंसिया, हथौड़ा, बाल, बैल, झोंपड़ी, दीपक आदि हैं, तभी तो देश के राजनैतिक दलों के झंडों पर ये सबसे ऊपर लहरा रहे हैं। इसे हमें समझना चाहिए। वैज्ञानिक जमाने के इस अणु युग में भीम जैसी पहलवानी का भी समय नहीं है। कोई तीर-तलवारों और गदाओं की लड़ाई तो रह नहीं गई है, अब तो अक्ल से काम लेने का वक्त है। शस्त्र तो दिनों-दिन निकम्मे होते जा रहे हैं। दूसरी लड़ाई समाप्त हुए अभी एक बीसी ही हुई है, इसलिए तीसरी लड़ाई की दहशत और डर छाया हुआ है। कुछ समय के बाद रूस और अमेरिका के नागरिक कहने लगेंगे कि काम में न आने-वाले व्यर्थ के अस्त्र-शस्त्रों पर हमारी गाढ़ी कमाई खर्च करने का अनर्थकारी काम बन्द करो, फिर दुनिया का कई सौ अरब रुपया बचनेवाला है, जिससे कल की दुनिया निश्चित ही आज से ज्यादा खुशहाल होगी, लेकिन तभी जब नागरिक और नागरिकों के प्रतिनिधि पंच "चाहें तो"।

जहांतक पंच और पंचों को चुनने का सवाल है वह अब दिनोंदिन महत्व का होता जा रहा है। गांधीजी के जीवन-काल में जब पहली बार देश के बड़े-बड़े प्रतिनिधि प्रधान मंत्री पं० जवाहरलाल नेहरू, गृह-मंत्री सरदार पटेल और दूसरे-दूसरे लोग हुए तो उनको गांधीजी ने इसलिए बनाया कि उन्हें दूसरों को सताने के बजाय खुशहाल करने की इच्छा थी, जैसे घर की जवान बहू-बेटी को जब दूर गांव भेजते हैं तो किसी जाने-पहिचाने बड़े-बूढ़े के साथ भेजते हैं, क्योंकि उसे स्त्री की अभिलाषा नहीं है। उसके साथ भेजने में किसी किस्म का भय नहीं है। इसी तरह गांधीजी ने नेहरूजी और सरदार पटेल आदि के हाथों में आजादी की बागडोर निर्भय होकर सौंप दी।

लेकिन अब यह बागडोर गांव-गांव में ग्राम-पंचों के हाथ सौंपने की बेला आगई है। अब गांधीजीवाला काम गांव के हर वयस्क व्यक्ति को, जिसे मत देने का अधिकार है, करना है। तो यह अब सोचने की घड़ी है कि गांव का पैसा (मध्य प्रदेश में चौथाई भूराजस्व) गांव में रहनेवाला है। उसे खर्च करने का अधिकार अफसरों के बजाय गांव के पंचों को मिलनेवाला है, तो समझदार आदमी के हाथ में ही वह पैसा सौंपना है। कुलीन स्त्री के लिए जैसे सतीत्व का महत्व है, देशभक्तों के लिए देश की स्वतन्त्रता का महत्व है, वैसे ही गांववालों को अपने वोट का महत्व पहचानना होगा। क्योंकि यह तो

गांव को उन्नत और सुखी बनाने का समय है। गांव सुखी तो हम सुखी।

जिस तरह सफर में गांठ में रकम होने पर चौकन्ना रहना पड़ता है, उसी तरह अब गांव की गांठ में रकम आई है तो देखिये लोगों को उसे हथियाने का कैसा चस्का लगा है। एक-एक जगह पर दस-दस उम्मीदवार खड़े होते हैं हजारों रुपया खर्च करते हैं। गांव में रहते हैं तो मालूम है कि कौन-कौन खड़ा है? किसीका नाम मानो भूल भी गये तो वहां की वोट पर्ची पर तो लिखा ही रहता है, लेकिन फिर भी हजारों रुपये के पर्चे छपाकर गांव की दीवालों पर चिपकाते हैं, तरह-तरह के रंगों से सफेद दीवालों को काला करते हैं। अपना समय बरबाद करते हैं और दूसरों का भी। जैसे गांव में सब मूर्ख हों, जो समझते ही नहीं, गांव के आदमी की अच्छाई-बुराई जानते ही नहीं। आखिर यह खर्च करने को पैसा भी तो गांव के ही कुछ लोगों के चंदे का होता है। यानी लोकशाही न हो गई उम्मीदवारशाही हो गई। धन्धा हो गया। यह सब सोचने का समय अब सिर पर आ गया है, क्योंकि अब गांववाले अपनी उन्नति के लिए खुद योजना बनाएंगे और काम करेंगे। मतों के याचक भला मतों का परिवर्तन कैसे करेंगे? वह तो अब किसीके खड़े होने के पहले गांववालों को ही ढूंढकर कहना होगा कि कि भैया अब तुम तो पंचायत का काम देखो और तुम्हारी खेती-बाड़ी हम सब गांववाले मिलकर कर देंगे। जिसका मुंह गांववालों की ओर गांव की भलाई की ओर होगा, उसे कुर्सी पर बिठाएंगे और जिसका मुंह कुर्सी की ओर ही लगा है, उसकी तो पीठ ही हमारी ओर रहनेवाली है। उससे भला कैसे निबाह होगा।

बापू कहा करते थे, "जब पंचायतों का राज होगा तो उसका फैलाव एक के ऊपर एक के ढंग पर नहीं बल्कि लहरों की तरह एक के बाद एक की शक्ल में होगा। जिन्दगी मीनार की शक्ल में नहीं होगी, जहां ऊपर की तंग चोटी को नीचे के चौड़े पाये पर खड़ा होना पड़ता है। यहां तो समुद्र की लहरों की तरह जिन्दगी एक के बाद एक घेरे की शक्ल में होगी और व्यक्ति उसका मध्यबिन्दु होगा।" सही बात है, गांव का विकास करना हो तो वहां राजनीति का क्या सवाल वहां तो लोकनीति से ही लोगों को प्रोत्साहन मिलेगा, उनका पुरुषार्थ जगेगा। यहां कौन रूस और अमेरिका की चढ़ाई का सवाल है। यहां तो अपना-अपना काम ठीक-ठीक करना और पड़ौसी का ख्याल रखना, बस इतनी-सी बात है। यह जो नये अधिकार की बात आई है, नये कानून की बरात आई है तो उसका दूल्हा तो गांववाला ही रहेगा। अगर लोक-सत्ता में से लोक ही लोप हो गया तो सत्ता-ही-सत्ता रह जायगी। फिर उस लोकतांत्रिक में तांत्रिक-ही-तांत्रिक रह जायगा लोक खत्म हो जायगा।

फिर करना यह है कि भले ही हम छोटे-से गांव में रहें, पर जैसे सारे शरीर में एक अंगुली का भी महत्व है और थोड़ा नहीं बहुत है, उसी तरह एक छोटे-से गांव का पूरे राष्ट्र के विकास में स्थान है। भले ही हमारा निवास छोटे-से गांव में रहे, पर हमारी तबीयत बुलन्द हो। समस्याएं गांव, घर आंगन की हों, लेकिन दर्शन और भावना सारे जग की हो। हमारे पुरखे कह गये हैं "वसुधैव कुटुम्बकम"। इस भाई-चारे और खुशहाली की सुगंधि पंचायती राज में से प्रस्फुटित होनी चाहिए, चाहे वह भले ही शक्ल में थोड़ी हो पर वह निश्चित ही सारे समाज को सुवासित करने में सार्थक होगी।

(पृष्ठ २६४ का शेष)

अज्ञान के अंधकार में भटकता रहता है, इसीलिए विश्व की उन्नत कही जानेवाली उन्मत्त शक्तियों को इन दिनों इस मंत्र की कि 'तमसो मा ज्योतिर्गमय' की अत्यधिक आवश्यकता है।

विश्व-कल्याण के लिए ही सहस्रों वर्ष पूर्व हमारे तपोनिष्ठ महर्षियों ने अज्ञान अन्धकार से निकलने के लिए जिस ज्ञानदीप का आश्रय लेने का सन्देश दिया था, वह आज भी केवल इस देश का नहीं, विश्व के मानव-मात्र का कल्याण कर सकता है।

विश्व में स्थायी शान्ति इस ज्ञान के द्वारा ही हो सकना संभव है। अतएव विश्व-प्रेम और विश्व-शान्ति की भावनाओं को दृढ़ बनाने के लिए जन-जन यदि इस मंत्र के अनुसार अपना-अपना आचरण ऊंचा उठाने का यत्न करें तो अत्युत्तम हो।

जीवनादर्श

●● हरिकृष्णदास गुप्त 'हरि'

जब-जब मैं जीवनादर्श के सम्बन्ध में चिन्तन करता हूं तो कमल मेरी आंखों आगे आ जाता है, मेरे हृदय में आसन जमा लेता है, मेरे रोम-रोम में रच-पच जाता है।

कमल कीचड़ में से उत्पन्न होता है, फिर भी कमल बनता है—यह तथ्य मुझे आशा बंधाता है, भरोसा दिलाता है कि मैं भी चाहे किसी भी (कैसे भी हीन) कुल, जाति एवं देश में उत्पन्न हुआ होऊं, मैं. . .वास्तविक मैं बन सकता हूं। जीवन की सर्वोच्च स्थिति मुझे उपलब्ध हो सकती है।

कमल की प्रस्फुटितता. . .पंखड़ी-पंखड़ी में खुल-खुल कर उसकी खिलन मुझे सन्देश देती है कि मैं विकास-पथ का पथिक बनूं। विकास की मंजिलों-पर-मंजिलें तय करूं, तभी मंजिलों की मंजिल. . .अन्तिम मंजिल आयगी, व्यर्थ की समस्त दौड़-धूपों से सदा-सर्वदा के लिए छुटकारा मिलेगा और नित्य चैन की प्राप्ति होगी।

कमल की प्रफुल्लता भी मुस्कराकर धीरे-से कानों में कुछ कह रही है। उसका कहना है कि विकास के पथ पर चलते हुए विघ्न-बाधाओं से निरन्तर संघर्षरत रहना होगा। यह संघर्षरतता प्रफुल्ल रहते हुए ही होनी चाहिए। सावधान! कहीं माथे पर बल न पड़ जायं। कुछ और भी कह रही है वह इशारों-ही-इशारों में। यही कि प्रफुल्लता को स्थिर रखते-रखते जी न हार जाना, हिम्मत न छोड़ बैठना मंजिल पर पहुंचने भर की देर है, फिर तो यह स्वतः तुम्हारी चरण-चेरी बनी सदा तुम्हारे साथ रहेगी।

कमल की कोमलता मेरा हृदय छू-छूकर कह रही है कि ऐसे ही कोमल हो। किसीके तनिक से दुःख पर ही द्रवित हो उठो। उसके लिए अपना सर्वस्व होम कर ही चैन लो।

कमल के रूप-रंग एवं पवित्रता से मुझे लक्षित होता है कि बाहर-भीतर से सर्वाङ्ग सुन्दर एवं नितान्त पवित्र होना ही परम प्राप्ति है और अपने तन-मन को मांजना-निखारना, मांज-निखारकर सौंदर्य एवं पावित्र्य के दर्पण में निहारना, निहार-निहारकर कोर-कसर निकालने के लिए पुनः-पुनः मांजना-निखारना ही कर्मरतता, विकासशीलता एवं पथ-गामिता है।

जगत् में रहा किस प्रकार जाय—यह भी कमल बता-सिखा रहा है। उसका पत्ता निरन्तर पानी में रहता है; फिर भी उसपर पानी की बूंद नहीं ठहरती। उसीकी तरह जगत् में निरन्तर कर्मरत रहते हुए भी उससे नितान्त निर्लिप्त रहना ही जगत् में रहने की युक्ति है। इसे साधना होगा. . . पहले इसकी साधना करनी होगी, पीछे यह हो जायगी सहज. . .स्वतःसिद्ध।

और क्या रह गया? क्या पाना, कैसे पाना, पाने से पूर्व और पाकर कैसे रहना—सबकुछ तो कमल ने बता धरा, दिखा छोड़ा। काश! मैं कमल के जीवानादर्श को अपने में उतार पाता, कमल बन पाता, बन पाकर हमेशा-हमेशा के लिए नितान्त कृतार्थपूर्ण कृत-कृत्य हो पाता।

●

(पृष्ठ २६३ का शेष)

चाण्डाल को वह सह्य नहीं हुआ। वह कृपाण का वार करने के लिए देवर्षि पर झपटा और वह अन्तर्धान होकर आगे बढ़ चले। कौस्तुभ ने आर्द्र होकर नारद से कहा, "महापूज्य! मुझे संसार की सैर नहीं करनी। हे महाभाग! मैं सच कहती हूं कि तुच्छ जीवों का आदर, कल्याण और आनन्दमय जीवन महापुरुषों के निकट रहने में ही है।"

●

कसौटी पर

नन्हीं चिड़िया--**लेखिका : श्रीमती शकुन्तला सिरोठिया; प्रकाशक : किताब महल, इलाहाबाद; आकार : कापी साइज; पृष्ठ-संख्या : २०; सचित्र, मूल्य : ०.७५ न० पै०।**

तीन, चार तथा पांच वर्ष के शिशुओं के लिए उनकी सरल बोली में तथा उनके लिए उपयुक्त विषयों पर पुस्तकें लिखना आसान काम नहीं है। हर्ष की बात है कि लेखिका ने कुछ गीत छोटे शिशुओं के लिए लिखे हैं, जिनके विषय, गुड़िया, चूहा, चिड़िया, बिल्ली तथा महात्मा गांधी आदि हैं। गीतों में उपयुक्त चित्र होने से पुस्तक की रोचकता बढ़ गई है। पुस्तक अच्छी है।

राजपाल एण्ड सन्ज, काश्मीरी गेट, दिल्ली के प्रकाशन

रामावतार त्यागी--**लेखक : श्री क्षेमचन्द्र 'सुमन'; आकार : क्राउन सोलहपेजी; पृष्ठ-संख्या : १३२; सजिल्द, मूल्य : २.००।**

प्रकाशक की आज के लोकप्रिय हिन्दी कवि पुस्तक-माला की यह छठी पुस्तक है। श्री रामावतार त्यागी ने गीतों के माध्यम से सरल शब्दावली में गहरी-से-गहरी अनुभूति दी है। प्रस्तुत पुस्तक में लेखक ने त्यागी की जीवनी तथा उनकी चालीस कविताएं दी हैं। जीवन-घटनाओं के क्रम का परिशिष्ट तथा रचनाओं का परिशिष्ट भी दिये हैं। सिद्धहस्त लेखक-कवि द्वारा श्री रामावतार-संबंधी यह अच्छी रचना तथा संग्रह किया गया है।

अपना देश--**लेखक : श्री रामचन्द्र तिवारी; आकार : कापी साइज; पृष्ठ-संख्या : ४०; सचित्र; मूल्य : एक रुपया पच्चीस नये पैसे।**

प्रस्तुत पुस्तक में लेखक ने कविता के माध्यम से भारत की नदियों, प्रदेश, फसलों, वर्षा, खनिज पदार्थों, वृक्षों, ऋतुओं आदि का परिचय दिया है। पुस्तक में चित्र पर्याप्त संख्या में हैं, जिनसे पुस्तक की रोचकता बढ़ गई है। पुस्तक बालकों के लिए उपयोगी है।

मां यह कौन !--**लेखक : श्री रामेश्वरदयाल दुबे; आकार : कापी साइज; पृष्ठ-संख्या : ३२, सचित्र, मूल्य : एक रुपया।**

प्रस्तुत पुस्तक में कबीर, सूरदास, तुलसीदास, मीरा, राणा प्रताप, वीर शिवाजी, रानी लक्ष्मीबाई, स्वामी दयानंद, परमहंस रामकृष्ण, स्वामी विवेकानन्द, स्वामी रामतीर्थ, योगिराज अरविंद, लोकमान्य तिलक, देशबंधु चित्तरंजन दास, गांधीजी, आदि का परिचय दिया है। इसकी कविताएं सरल, परिचय पर्याप्त तथा शैली रोचक है।

आओ मिलकर गाएं—**लेखक : श्री धर्मपाल शास्त्री; आकार : कापी-साइज; पृष्ठ-संख्या : १६, सचित्र, मूल्य : ७५ न० पै०।**

बालकों के लिए सहगान-संबंधी सोलह गानों का यह संग्रह है। भारत माता की जय, तथा आगे बढ़ना काम तुम्हारा, विशेषकर अच्छे गीत हैं। पुस्तक सहगान योग्य गीतों की कमी को पूरा करती है और इसलिए प्रचार के योग्य है।

आत्माराम एण्ड सन्ज, दिल्ली के प्रकाशन

अंधेरा छूट गया : **लेखक : श्री गंगाधर शुक्ल; आकार : क्राउन सोलहपेजी; पृष्ठ-संख्या : ११८; सजिल्द, मूल्य : दो रुपये।**

प्रस्तुत पुस्तक में लेखक की पन्द्रह कहानियों का संग्रह है। ये कहानियां घटनाओं से प्रभावित होकर या उनसे प्रेरणा लेकर लिखी गई हैं, अतः कोरी कल्पना के आधार पर लिखी हुई नहीं हैं। कहानियां बहुत बड़ी तो क्या बड़ी भी नहीं हैं, पर छोटी होते हुए भी उनमें एक अच्छी कहानी के गुण विद्यमान हैं। 'अंधेरा छट गया' संग्रह की अंतिम कहानी अं

बालकों के एक विद्यालय की घटना पर आधारित है और अच्छी कहानी है। उसीके नाम पर पुस्तक का नामकरण हुआ है। 'हर्जाना' भी अच्छी कहानी है। आशा है, पुस्तक कहानी-पाठकों में प्रिय होगी और लेखक से भविष्य में हिन्दी कथा-साहित्य का अच्छी सेवा होगी।

नई पीढ़ी, नई राहें—रचयिता : कवि श्री रामकुमार चतुर्वेदी; आकार : डिमाई; पृष्ठ-संख्या : ८४, सजिल्द, मूल्य : रु० २.५० न० पै०।

इस कविता-संग्रह में कवि की चौबीस रचनाएं हैं। इन कविताओं में राष्ट्रीयता, सामाजिकता और प्रगतिशीलता है। कविताओं की भाषा और भावों में सीधी चुभन, चुस्ती और ओजस्विता है। 'लौटकर आई हुई रचना के प्रति', 'धूल', 'गांव का पनघट', 'सुबह की अंगड़ाई' आदि रचनाएं इस संग्रह की विशिष्ट रचनाएं हैं। पुस्तक की भूमिका श्री वृन्दावनलाल वर्मा ने लिखी है, जिसमें कविताओं का अच्छा मूल्यांकन है।

अमृत और विष—लेखक : श्री उदयशंकर भट्ट; आकार : क्राउन सोलहपेजी; पृष्ठ-संख्या : ८०; मूल्य : दो रुपये।

श्री उदयशंकर भट्ट हमारे देश के प्रसिद्ध कवि, नाटककार तथा उपन्यास-लेखक हैं। आपकी दर्जनों रचनाएं प्रकाशित होकर लोकप्रिय हो चुकी हैं। प्रस्तुत पुस्तक में आपकी बारह कविताओं का संग्रह है और यह उसका तीसरा संस्करण है, जिससे इस पुस्तक की लोकप्रियता सिद्ध होती है। इनमें प्रायः सभी कविताएं मुक्त वृत्त में है, फिर भी इनमें लय की गति है। चूंकि कविताओं की रचना दूसरे महायुद्ध के विक्षुब्ध काल में हुई थी, अतः अधिकतर रचनाओं में युद्ध की विभीषिका है। इन कविताओं में कवि के युद्धकालीन घटनाओं से प्रभावित हृदय की मनोदशा का पता चलता है।

चापरा गांव प्रथम आया—लेखक : श्री हेमराज मरवीजा; आकार : कापी साइज; पृष्ठ-संख्या : ७६; सचित्र, सजिल्द, मूल्य : दो रुपये पचास नये पैसे।

इस पुस्तक में कहानी के माध्यम से एक कल्पित गांव का वर्णन है, जो विकास-योजना में प्रथम आया था। इसमें पंचायत, सहकारी समिति तथा स्कूल के महत्व को सरल भाषा और रोचक शैली से वर्णन किया है। पुस्तक सामुदायिक विकास-योजना पर अच्छी तथा पढ़ने योग्य रचना है और अधिक-से-अधिक प्रचार के योग्य है।

दानव सरट—लेखक : श्री रमेशचन्द्र 'प्रेम'; आकार : कापी साइज, पृष्ठ-संख्या : ४८; सचित्र, मूल्य-रु० १.५० न० पै०।

हमारी पृथ्वी की आयु तीन अरब वर्ष बताई जाती है। मध्य सृष्टि युग की आयु बारह करोड़ वर्ष की थी। इस युग में विशालकाय डायनोसर या दानव सरट पैदा हुए और सारे संसार पर अपना साम्राज्य स्थापित किये रहे। इन सरीसृपों या डायनोसरों को लेखक ने दानव सरट कहा है और इनके जीवन, रहन-सहन तथा जातियों का वर्णन रोचक शैली और सरल भाषा में दिया है। पुस्तक प्राचीनकाल के एक विशालकाय जीव का सुन्दर परिचय देती है और पढ़ने योग्य है। इसके लिए लेखक बधाई के पात्र हैं।

नटखट टिम्मो—लेखक : श्री दयाशंकर मिश्र 'दद्दा'; आकार : कापी साइज; पृष्ठ-संख्या : ४०; सचित्र, मूल्य : एक रुपये।

यह एक बाल-नाटक है, जिसमें नटखट टिम्मो, उसकी विधवा बहन जीजी, मैया, अध्यापिका, दीदी आदि का चरित्र अच्छा विकसित हुआ है नाटक बालोपयोगी तथा शिक्षाप्रद है।

—माईदयाल जैन

बुक्काराय—लेखक : गुणवन्तराय आचार्य; अनुवादक : श्यामू संन्यासी; प्रकाशक : बोरा एण्ड कम्पनी पब्लिशर्स, बम्बई; मूल्य : पांच रुपये पचास नये पैसे।

'बुक्काराय' गुजराती के प्रख्यात उपन्यासकार श्री गुणवन्तराय आचार्य द्वारा लिखित एक ऐसा ऐतिहासिक उपन्यास है, जिसमें लेखक ने बुक्काराय नामक उस देश की कथा का वर्णन किया है, जो किसी समय दक्षिण पथ में मुगलों के आक्रमण के समय विजयनगर राज्य का शासन था। इस उपन्यास में जहां लेखक ने दक्षिण पथ की वैचित्र्यपूर्ण समस्त रंगीनियां और सम्प्रदायगत विद्वेष चित्रित किये हैं, वहां स्वाधीनता और देश-प्रेम की की झांकी भी देखने को मिलती है। भारत के इतिहास में पहली बार ही जातिगत, वर्गगत, सम्प्रदायगत और राज्यगत समस्त भेदों, विभेदों और विद्वेषों का अंत करके समस्त जन-समुदाय को विदेशी आक्रमण का प्रतिरोध करने के

पावन उद्देश्य से प्रेरित होकर ही इस उपन्यास की रचना की गई है। देश की रक्षा, नवनिर्माण और उत्थान के लिए इस उपन्यास में जो सन्देश दिया गया है, वह हमारे लिए प्रेरणा देनेवाला है। अनुवाद की भाषा इतनी सशक्त और मुहाविरेदार है कि उसमें मूल जैसा आनन्द अनुभव होता है।

महारानी कुमारदेवी—**लेखक : धूमकेतु; अनुवादक : श्याम् संन्यासी; प्रकाशक : उपर्युक्त; मूल्य : पांच रुपये।**

यह भी एक गुजराती का उपन्यास है। इसके लेखक श्री धूमकेतु ने इसका निर्माण भी अपनी गुप्तकालीन उपन्यास-माला की शृंखला में ही किया है। इस उपन्यास की नायिका 'कुमार देवी' भारतीय इतिहास की एक ज्वलन्त पात्र रही हैं। लेखक ने इसी पात्र को अपने उपन्यास में चित्रित किया है। कुमार देवी इस उपन्यास की ऐसी ज्वलन्त शक्ति है कि उससे अनुप्राणित होकर चन्द्रगुप्त साहस और वीरता के अनेक साहसिक कार्य करता है। इस उपन्यास में लेखक ने कुमार देवी और चन्द्रगुप्त के प्रेम-सम्बन्ध को जिस कुशलता, सांकेतिकता और कोमलता से चित्रित किया है, वह भारतीय इतिहास की अमूल्य उपलब्धि है। उपन्यास के सभी पात्र लेखक ने ऐसे गढ़े हैं कि सभी अपनी-अपनी विशिष्टता की छाप पाठकों पर छोड़े बिना नहीं रह सकते। हिन्दी के पाठक इस उपन्यास को रुचि के साथ पढ़ेंगे, ऐसी आशा है। अनुवाद की भाषा इतनी सरल और प्रवाह-मयी है कि उसमें पाठक का मन रम जाता है।

क्षितिज—**रमणलाल वसन्तलाल देसाई; अनुवादक : श्याम-लाल सेठ; प्रकाशक : वही; मूल्य : पांच रुपये।**

इस उपन्यास के लेखक श्री रमणलाल वसन्तलाल देसाई गुजराती के प्रसिद्ध उपन्यासकार हैं, 'क्षितिज' उनका एक ऐतिहासिक उपन्यास है। इसमें उन्होंने नाग और आर्य संस्कृति के संघर्ष तथा समन्वय की कहानी प्रस्तुत की है। नागकन्या उलूपी आर्यवीर सुबाहु से उत्कट प्रेम करती है और वह अपने प्रेमी के लिए नाग-संस्थान के प्रमुख का पद छोड़कर आर्य तक बन जाना चाहती है। लेकिन नाग महासेनापति को आर्यों से घृणा है। वह भी मन-ही-मन उलूपी से प्रेम करता है, अतः वह नहीं चाहता कि उलूपी आर्यों के प्रदेश में जाय। सुबाहु के लिए उलूपी का प्रेम काम्य होते हुए भी स्वीकार्य नहीं है, क्योंकि वह ऐसा अनुभव करता है कि वह प्रेम नागों और आर्यों की एकता में बाधक हो सकता है। लेखक ने जिस आदर्श को इस उपन्यास में प्रस्तुत करने का प्रयास किया है, वह इतिहास में एक नया हस्ताक्षर है।

जय महाकाल—**लेखक : परदेशी; प्रकाशक : वही; मूल्य : चार रुपये पचास नये पैसे।**

यह एक ऐतिहासिक उपन्यास है, जिसका प्रकाशन 'मालव ऐतिहासिक उपन्यासमाला' के अन्तर्गत हुआ है। इसमें लेखक ने मालव-भूमि के रणबांकुरे नौनिहालों के अपराजेय पौरुष, वहां की सतवन्ती नारियों के अनन्त तेज और वहां के जन-जन के आत्म-बलिदान की ज्वलन्त गाथा वर्णित की है। यह एक उपन्यास ही नहीं, प्रत्युत पराधीनता के विरुद्ध एक प्रचण्ड चुनौती है। इस उपन्यास में पाठकों को कहीं कापालिक सिद्धनाथ की कूटनीति, राजनैतिक वासन्ती का त्याग, माधुरी का प्रेम, दीपावली का विलास, वल्लभी की सेवा, मीनांक्षी का सिंगार पढ़ने को मिलेगा वहीं वे महाराणा सांगा की महानता, रावत सूर्यवल्लभ की वीरता, सेवकराम की विचित्रता और मेदिनीराय की राजनीतिज्ञता का भी सहज अनुमान लगा सकेंगे। उपन्यास वर्णन, शैली, भाव और भाषा आदि सभी दृष्टि से इतना रोचक है कि उसे हम एक सांस में पढ़ सकते हैं।

द्विधा—**लेखक : युगल; प्रकाशक : हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय, वाराणसी; मूल्य : चार रुपये।**

'द्विधा' में इसके लेखक ने कुमार और निरुपमा के प्रेम की कथा को विशुद्ध मनोवैज्ञानिक पृष्ठभूमि पर इस प्रकार चित्रित किया है कि उसे पढ़कर ऐसा प्रतिभासित होता है कि उनके पात्रों में एक ऐसा 'काम्प्लैक्स' है, जो यत्र-तत्र उपन्यास में उभरकर सामने आ जाता है और पात्रों को सही रूप में विकसित नहीं होने देता। यथार्थ घटनाओं की आधार-भूमि पर गठित यह उपन्यास वास्तव में उपन्यास न होकर एक ऐसे जीवन का इतिहास है, जो कुमार और निरुपमा ने भोगा है। वह उन दोनों के जीवन का 'भोग्य'

(शेष पृष्ठ २७५ पर)

क्या व कैसे ?

हमारे दो स्तंभ और टूट गये

डा० विश्वेश्वरैया के निधन से उत्पन्न हुई उदासी दूर नहीं हो पाई थी कि देश के दो अन्य महान स्तम्भ ढह गये। राजर्षि पुरुषोत्तमदास टंडन और पश्चिमी बंगाल के मुख्य मंत्री डा० विधानचन्द्र राय वास्तव में हमारे देश की ऐसी विभूतियां थीं, जिनके रिक्त स्थान की पूर्ति कोई नहीं कर सकता।

श्रद्धेय टण्डनजी ने अपने जीवन से सादगी तथा सच्चाई का बेजोड़ दृष्टान्त उपस्थित किया। वस्तुतः उनका समूचा जीवन राष्ट्र की सेवा में व्यतीत हुआ। देश के स्वतंत्र होने से पहले उन्होंने प्रत्येक आन्दोलन में भाग लिया। देश के आजाद होने पर उसके नव-निर्माण में योग दिया।

हिन्दी की उन्होंने जो सेवा की, वह तो अनुपम थी। उन्होंने हिन्दी का व्यापक प्रचार एवं प्रसार किया और उसकी जड़ को अपने रक्त से सींचकर उसे मजबूत किया।

टण्डनजी पदों से बचे, पर राष्ट्र ने उन्हें पूरा मान दिया। उनके सिर पर कांग्रेस का ताज रक्खा, उन्हें 'भारत रत्न' की उपाधि दी तथा अन्य अनेक गौरव प्रदान किये। पर सच यह है कि किसी भी पद के नीचे उनका व्यक्तित्व दबा नहीं। उन्होंने अपनी आवाज को सदा ऊंचा रक्खा और उन्हें जो ठीक लगा, उसे कहने में वह कभी नहीं चूके, भले ही उसकी उन्हें भारी-से-भारी कीमत चुकानी पड़ी, बड़े-से-बड़े आदमी के संघर्ष में आना पड़ा।

डा० विधान चन्द्र राय का-सा शासन-पटु व्यक्ति ढूंढ़े भी नहीं मिलेगा। अपने नेतृत्व में उन्होंने बंगाल को और आजादी के बाद पश्चिमी बंगाल को इस प्रकार संगठित किया कि कोई दूसरा व्यक्ति शायद ही कर पाता। अस्सी वर्ष की अवस्था तक वह युवा बने रहे और उनकी कार्य-क्षमता युवकों के लिए प्रेरणा का स्रोत रही। वह थकना तो जैसे जानते ही नहीं थे। सबेरे से लेकर रात तक साधक के रूप में अपने समय का उपयोग करते थे। उन्होंने विश्राम नहीं जाना। उसे मृत्यु माना।

उनके राज्य में उनके विरोधी न हों, ऐसी बात न थी, बल्कि १९५७ के चुनावों में तो वह बहुत ही कम वोटों से जीते थे, लेकिन उनके विरोधी तक इस तथ्य को स्वीकार करते थे कि उनके जैसा सक्षम नेता दूसरा नहीं है।

कितनी बड़ी बात है कि जीवन के अंतिम काल तक वह सक्रिय रूप में देश की सेवा करते रहे। किसीको विश्वास भी नहीं होता कि अब वह नहीं रहे।

यद्यपि उनका कार्य-क्षेत्र मुख्य रूप से बंगाल रहा, तथापि उनकी प्रतिभा का लाभ समूचे देश को मिला।

देश ने अपने इस सपूत को 'भारत-रत्न' की उपाधि से विभूषित किया।

इन दोनों विभूतियों को खोकर निस्संदेह हमारा देश रंक बना है। उन्हें हम अपनी श्रद्धांजलि अर्पित करते हैं। उन्होंने जो ज्योति जलाई, वह सदा प्रकाशमान रहे, ऐसी हमारी कामना है।

अंग्रेजी का अभिशाप

किसी भी स्वाधीन-चेता राष्ट्र के लिए राष्ट्रभाषा का प्रश्न बड़ा महत्वपूर्ण होता है, लेकिन हमारे देश के स्वतंत्र हो जाने और पन्द्रह वर्ष बीत जाने पर भी राष्ट्रभाषा की समस्या आज भी यथापूर्व बनी हुई है। हमारे संविधान ने हिन्दी को राष्ट्रभाषा के रूप में स्वीकार किया था और पंद्रह वर्ष की अवधि रक्खी थी, जिसमें हिन्दी को अंग्रेजी का स्थान ग्रहण कर लेना था, पर कुछ इने-गिने सत्ताधारी राजनेताओं ने इस प्रश्न को राजनीति के दलदल में कुछ ऐसा फंसा दिया है कि आज सारा देश हैरान है। इतना ही नहीं, केन्द्रीय स्वराष्ट्र-मंत्री श्री लालबहादुर शास्त्री ने वर्धा में पिछले दिनों राष्ट्र-भाषा प्रचार समिति के रजतजयंती महोत्सव के अवसर पर यह घोषणा की है कि शीघ्र ही संसद् में एक विधेयक लाया जा रहा है, जिसके अनुसार राज-काज में हिन्दी के साथ-

साथ अंग्रेजी अनंतकाल तक चलेगी। इसका अर्थ यह हुआ कि अंग्रेजी का प्रभुत्व आगे भी यथावत बना रहेगा।

अधिकारी व्यक्तियों का कहना है कि हिन्दी को व्यवहार में उसका पद तब दिया जा सकता है, जबकि उससे किसीका विरोध न हो। उनका मानना है कि दक्षिण भारत हिन्दी को नहीं चाहता, इसलिए हिन्दी को उनपर लादा नहीं जा सकता। पर अधिकारी लोग भूल जाते हैं कि यदि हिन्दी के प्रचार और उसके सम्वर्द्धन के लिए कहीं गंभीर प्रयत्न हो रहे हैं तो वह दक्षिण में। वहां न केवल लाखों स्त्री-पुरुष हिन्दी सीख रहे हैं, अपितु हिन्दी की उत्तमोत्तम कृतियों का अनुवाद करके अपनी भाषा को और अपनी भाषा की चुनी हुई पुस्तकों का अनुवाद करके हिन्दी को दे रहे हैं। जयशंकर 'प्रसाद' के अत्यन्त दुरूह काव्य-ग्रन्थ 'कामायनी' का पद्यात्मक अनुवाद तमिल में हो चुका है। दक्षिण भारत के जितने परिवार उत्तर भारत में आकर बस गये हैं, उनके बच्चे बराबर हिन्दी सीख रहे हैं और धारा-प्रवाह हिन्दी बोलते हैं। अतः दक्षिण की आड़ लेकर यह कहना कि वे हिन्दी को नहीं चाहते, गलत है। हमारा तो निश्चित मत है कि अगले दस वर्षों में हिन्दी के क्षेत्र में यदि कहीं से मार्ग-दर्शन प्राप्त होगा तो वह दक्षिण से।

बात असल में यह है कि आज सब पं० नेहरू का मुंह ताकते हैं और दुर्भाग्य से राष्ट्रभाषा के मामले में नेहरूजी का दिमाग साफ़ नहीं है। उनका पालन-पोषण, शिक्षा-दीक्षा अपनी भाषा में नहीं हुई है और उनका रहन-सहन भी विदेशी वातावरण से प्रभावित है। परिणाम यह है कि आज भी उनके मन में अंग्रेजी के लिए मोह बना हुआ है।

हमें अंग्रेजी से तनिक भी विद्वेष नहीं है, लेकिन वह हमारे देश की राष्ट्रभाषा कदापि नहीं हो सकती। राष्ट्रभाषा तो वही होगी, जिसे हमारे देश के बहुसंख्यक लोग समझते और बोलते हैं।

दलील दी जाती है कि यदि २० करोड़ हिन्दी-भाषी चाहते हैं कि हिन्दी राष्ट्रभाषा हो तो उनकी इच्छा की अवहेलना कैसे हो सकती है? यह तर्क व्यर्थ है। हमने अपने देश की शासन-प्रणाली को जनतंत्रात्मक बनाया अवश्य है, पर वह एक ढकोसला मात्र है। वास्तविक सत्ता तो आज भी इने-गिने व्यक्तियों के हाथ में है। सारा देश उन्हीं-का पिछलग्गू बना हुआ है। जिस दिन हमारा लोकमत प्रबुद्ध हो जायगा, उस दिन यह सब धांधलेबाजी नहीं चलने की!

यदि हमारे शासन की यही नीति रही, जो आज है तो भविष्य में देश के टुकड़े-टुकड़े होकर रहेंगे। जिस राष्ट्रीयता की दुहाई देकर वर्तमान नीति बरती जा रही है, वह सत्तात्मक राजनीति से सुरक्षित नहीं रहेगी, वह सुरक्षित रहेगी तो लोकशक्ति के उदय से, जिसके लिए प्रयत्न करने में हमारा शासन आज असफल हो रहा है।

जब संविधान ने हिन्दी को राष्ट्रभाषा स्वीकार किया है तो उसके किसीपर लादने का प्रश्न ही कहां उठता है! हिन्दी सबकी है, और जो 'हिन्दीवालों के साम्राज्यवाद' की बात कहते हैं, वे दिल की नहीं, राजनीति की भाषा बोलते हैं।

हिन्दी अयोग्य है, उसमें कुछ नहीं है, ये सब थोथी दलीलें हैं। यदि हम मान भी लें कि हिन्दी का भण्डार अपूर्ण है तो वह पूर्ण होगा कैसे? अंग्रेजी को छोटी-छोटी कक्षाओं में अनिवार्य करने से? हिन्दी को रात-दिन कोसने से? 'हिन्दीवालों' पर आरोप लगाने से? अंग्रेजी को हिन्दी के सिर पर रखने से?

लेकिन ये सब चीज़ें तो बहुत दिनों से चली आ रही हैं। हिन्दी में कमियां हो सकती हैं, पर वे ऐसी नहीं हैं कि जिन्हें दूर न किया जा सके। आवश्यकता इस बात की है कि उसके लिए गंभीरतापूर्वक प्रयत्न हों।

अब समय आ गया है कि हम राष्ट्रभाषा-संबंधी खिलवाड़ बंद करें और ढिलमिल नीति छोड़कर ऐसी नीति अंगीकार करें, जिससे सन् १९६५ तक हमारा सारा राज-काज हिन्दी में होने लगे।

झगड़ा हिन्दी का और अन्य भारतीय भाषाओं का नहीं है। वह तो पैदा किया गया है। असली झगड़ा तो अंग्रेजी से है, जिसे जल्दी-से-जल्दी अपने बीच से हटा देना चाहिए।

हमारे राज्यीय कार्य जनपदीय भाषाओं में चलाये जा सकते हैं; लेकिन अंतर्राजीय कार्य हिन्दी में चलने चाहिए। अंतर्राष्ट्रीय कार्यों के लिए अंग्रेजी भले ही रक्खी जा सकती है।

राष्ट्रभाषा की कसौटी पर कसते हुए गांधीजी ने कहा था कि "हिन्दी ही हमारी राष्ट्रभाषा हो सकती है।" आगे उन्होंने लिखा है, "मेरी मातृभाषा में कितनी ही खामियां क्यों न हों, मैं उससे उसी तरह चिपटा रहूंगा, जिस तरह अपनी मां की छाती से। वही मुझे जीवनदायी दूध दे सकती है। मैं उसकी जगह अंग्रेजी को भी प्यार करता हूं, लेकिन अगर अंग्रेजी उसकी जगह को हड़पना चाहती है, जिसकी वह हकदार नहीं है, तो मैं उससे सख्त फरत करूंगा...। अंग्रेजी कुछ लोगों के सीखने की चीज हो सकती है, लाखों-करोड़ों की नहीं।"

अंग्रेजी के अभिशाप से हम जितनी जल्दी मुक्त होंगे उतना ही हमारा कल्याण होगा।

हिन्दी का सरलीकरण

इस संसार में रोज विचित्र बातें होती रहती हैं। हमारा देश भी अपवाद नहीं है। एक दिन नेहरूजी के मुंह से निकल गया कि आज जो हिन्दी बोली जाती है, वह उनकी समझ में नहीं आती। उनका इतना कहना था कि सूचना एवं प्रसार मंत्रालय के केन्द्रीय मंत्री श्री गोपाल रेड्डी ने नारा लगा दिया—"हिन्दी का सरलीकरण होना चाहिए।" अर्थात्, आकाशवाणी से जो समाचार प्रसारित होते हैं, उनकी भाषा सरल होनी चाहिए। पिछले दिनों आकाशवाणी के विभिन्न केन्द्रों के प्रोड्यूसरों आदि की जो गोष्ठी हुई, उसमें उन्होंने इस बात पर विशेष जोर दिया। उन्होंने कहा कि ऐसा प्रधान मंत्री की इच्छानुसार किया जा रहा है। जब नेहरूजी से उनकी प्रेस-कांफ्रेंस में यह बात पूछी गई तो उन्होंने अपने आदमियों को बचाने की अपनी सदा की आदत के अनुसार कह दिया कि हां, मैंने ही श्री गोपाल रेड्डी से इस बात को देखने के लिए कहा है। इतना ही नहीं, जब उनसे कहा गया कि दस बरस से ऐसा ही चला आ रहा है तो उन्होंने कहा, "इससे पता चलता है कि हम कितने सहनशील व्यक्ति हैं।"

नेहरूजी बहुत बड़े नेता हैं और उन्होंने देश को आजाद होने के बाद भारी संकट से बचाया है। लेकिन उनकी सबसे बड़ी कमजोरी यह है कि वह अपने साथियों को पहचानने में प्रायः भूल कर जाते हैं और उनकी त्रुटियों को हर तरह से बचाने की कोशिश करते हैं। उनकी आड़ लेकर कभी-कभी बड़े ही अविवेकपूर्ण कार्य किये जाते हैं। हिन्दी का सरलीकरण का प्रयास भी उन्हींमें से एक है।

हमें यह देखकर आश्चर्य-मिश्रित दुःख हुआ कि सरलीकरण के नाम पर हिन्दी के शब्दों को निकालकर उनके स्थान पर उर्दू के या अंग्रेजी के शब्द रखकर एक नई भाषा का निर्माण किया जा रहा है। कहा जाता है, गांधीजी हिन्दू-उर्दू की मिली-जुली भाषा यानी हिन्दुस्तानी के पक्षपाती थे। पर कहनेवाले यह भूल जाते हैं कि गांधीजी ने यह भी कहा था कि स्वतंत्र भारत में अंग्रेजी के साम्राज्य को सहन नहीं किया जायगा।

भाषा सरल हो, इसमें किसीको आपत्ति नहीं हो सकती; लेकिन उर्दू या अंग्रेजी के शब्द डालकर भाषा को सरल नहीं बनाया जा सकता। फिर श्री गोपाल रेड्डी उस पारिभाषिक शब्दावली का क्या करेंगे, जो भारत सरकार ने लाखों रुपये खर्च करके तैयार कराई है और जिसपर आज भी वह बेहिसाब खर्च कर रही है?

कहा जा सकता है कि लिखने की भाषा एक रहेगी, बोलने की दूसरी। लेकिन बोलने की भाषा में जो पारिभाषिक शब्दावली आवेगी, उसका क्या होगा? उदाहरण के लिए 'स्पेस फ्लाइट' के लिए क्या शब्द रक्खा जायगा? आज आर्थिक और वैज्ञानिक प्रगति इतनी तेजी से हो रही है कि नित नई-नई चीजें सामने आ रही हैं। उनके समाचारों में शास्त्रीय विवरणों का उल्लेख किस प्रकार होगा?

पिछले दस सालों में आकाशवाणी से जिस हिन्दी का प्रयोग होता आ रहा है, उससे कितने श्रोताओं ने असंतोष व्यक्त किया है, हम नहीं जानते। हमने तो बहुत-से लोगों को उसे पसंद करते ही पाया है। जो हिन्दी नहीं जानते थे, वे भी अब उस भाषा को समझने लगे हैं। ऐसी दशा में अब उस चक्र का मुंह उल्टी दिशा में कर देने में क्या बुद्धिमानी है, हमारी समझ में नहीं आता। भाषा का निर्माण आकाशवाणी के तंग और बंद कमरों में बैठकर नहीं किया जा सकता, उसका निर्माण तो वही कर सकेगा, जो लोक-जीवन के साथ घुला-मिला है।

सुना है, आकाशवाणी में सरल भाषा के नमूने के बुलेटिन तैयार हो रहे हैं, जिन्हें दोपहर के समय प्रसारित किया जायगा। हो सकता है कि उनके बारे में अनुकूल मत

प्राप्त कर लिया जाय; लेकिन हमारी निश्चित राय है कि इससे हिन्दी की प्रगति में बाधा उपस्थित होगी।

जब शरीर कमज़ोर होता है तो उसपर रोगों का सहज आक्रमण हो जाता है। आज हिन्दी भी चारों ओर की खींचतान के कारण बहुत ही दुर्बल हो रही है। उसपर जैसे चाहो, प्रहार करो।

जिस भाषा को समझने और बोलनेवाले करोड़ों की संख्या में हों, उसके साथ इस प्रकार का दुर्व्यवहार करना न केवल अनुचित और अवांछनीय है, अपितु अपमानजनक भी। इस चुनौती को स्वीकार करना चाहिए और गलत काम को हर्गिज नहीं होने देना चाहिए।

हम चाहते हैं कि हिन्दी-भाषियों का विवेक इस दिशा में जागृत हो और वे निजी एवं संगठित रूप में ऐसा प्रयास करें, जिससे हिन्दी का सम्वर्द्धन हो और उसकी प्रगति की रफ्तार को कोई भी व्यक्ति और कोई भी शक्ति न रोक सके।

यह शांति-सम्मेलन

हाल ही में नई दिल्ली में 'गांधी शांति प्रतिष्ठान' ने एक आणविक शास्त्रास्त्र-निषेध-सम्मेलन का आयोजन किया था, जिसमें भारत के अतिरिक्त कई अन्य देशों के प्रतिनिधियों ने भाग लिया था। सम्मेलन का उद्घाटन करते हुए डा० राजेन्द्रप्रसाद ने बड़े पते की बात कही कि "भारत एकाकी रूप से निरस्त्रीकरण कर विश्व-व्यापी निरस्त्रीकरण में पारस्परिक भय, संदेह एवं अविश्वास का जो कुचक्र बाधक हो रहा है, उसे भंग करने में योग दे।" उन्होंने आगे कहा, "आणविक अस्त्रों का एकमात्र समुचित उत्तर उच्च कोटि की अहिंसा है। आज सारी मानवता आपसी भय एवं अविश्वास से ग्रस्त है, उससे बचने का एक मात्र उपाय यही है कि सभी राष्ट्र बलप्रयोग का पूर्णतः परित्याग करें। यदि यह संभव प्रतीत न हो तो किसी एक देश को पूरे साहस के साथ एकाकी रूप में निरस्त्रीकरण करना चाहिए।"

अपने सारगर्भित भाषण में उन्होंने गांधीजी की विचार-धारा पर प्रकाश डाला और कहा कि उनका मार्ग न केवल वर्तमान पीढ़ी का ही भला करेगा, वरन् भावी असंख्य पीढ़ियों का भी उससे कल्याण होगा।

श्री राजाजी ने उस अवसर पर अपने भाषण में परमाणु-परीक्षणों को जारी रखने की निन्दा करते हुए उसे संसार के स्वास्थ्य और भावी पीढ़ियों के लिए बहुत ही खतरनाक बताया।

राष्ट्रपति डा० राधाकृष्णन ने अपने ओजस्वी भाषण में विश्व की संकटापन्न स्थिति का सिंहावलोकन किया और कहा, "ऐसे समय में, जबकि पारमाणविक अस्त्रों की स्पर्द्धा बढ़ रही है, कर्तव्य यही है कि अन्तर्राष्ट्रीय विवादों के निबटारे के साधन के रूप में स्वयं युद्ध का ही अस्तित्व समाप्त कर देने का प्रयत्न किया जाय।"

उपराष्ट्रपति डा० जाकिर हुसेन, प्रधान मंत्री पंडित नेहरू, गांधी स्मारक निधि के अध्यक्ष श्री दिवाकर, सर्वोदयी नेता श्री जयप्रकाश के अतिरिक्त अनेक विदेशी प्रतिनिधियों ने भी अपने विचार व्यक्त किये। अंत में सम्मेलन की ओर से एक वक्तव्य प्रकाशित किया गया, जिसमें आणविक अस्त्रों के परीक्षणों के विरुद्ध विश्व में हवा पैदा करने के लिए कुछ उपाय बताये गए।

इतने व्यक्तियों का मिलना और तीन दिन तक विचार-विनिमय करना अपने-आपमें बड़ा महत्व रखता है; लेकिन ऐसा प्रतीत होता है कि सम्मेलन के पीछे कोई सुनिश्चित योजना न होने के कारण उसका पूरा लाभ नहीं लिया जा सका। आणविक अस्त्रों के परीक्षण को रोकने के लिए जिस प्रकार के शक्तिशाली वायुमंडल की आवश्यकता है, उसे राजनीतिज्ञ लाख प्रयत्न करके भी पैदा नहीं कर सकते। राजनीतिज्ञों की अपनी मर्यादाएं हैं, अपने स्वार्थ और महत्वाकांक्षाएं हैं। शासन-संचालन में उन्हें बीसियों बातों को देखना होता है। ऐसी अवस्था में परिणाम वे व्यक्ति ला सकते हैं, जिनका क्षेत्र सक्रिय राजनीति नहीं है और जिन्हें हर घड़ी शासकीय कठिनाइयों को हल करने के लिए विवश नहीं होना पड़ता है।

हमारी दृष्टि में ऐसे सम्मेलन केवल उन्हीं व्यक्तियों के होने चाहिए, जिनपर शासन की जिम्मेदारी नहीं है और जो सरकार की दृष्टि से नहीं, मानवता की दृष्टि से इस प्रश्न में दिलचस्पी रखते हैं।

दूसरी बात यह है कि सम्मेलन के सामने विचार के लिए कोई आधार होना जरूरी है। प्रायः देखा जाता है कि लोग इकट्ठे होते हैं और ऐन मौके पर जो सूझा, कहकर छुट्टी पा लेते हैं। यदि उनके सामने कोई आधार-मूलक चीज़ होती

है तो उनके विचार बिखर नहीं पाते और चर्चाओं में से व्यावहारिक परिणाम निकल आते हैं।

इस सम्मेलन से जो निवेदन निकला है, वह इतना निस्तेज है कि उससे किसी विशेष परिणाम की आशा नहीं की जा सकती।

हमारा देश निर्धन है। लाखों रुपये खर्च करके ऐसे सम्मेलन करना उसके लिए कहांतक उचित हो सकता है, यह विचारणीय है। आज गांधीजी की अनेक संस्थाएं धनाभाव के कारण मरणासन्न हैं। गांधी स्मारक निधि, करोड़ों की मालिक होकर भी, कार्यक्रम के अभाव में, अंधेरे में लट्ठ मार रही है। उसके बहुधंधी अधिकारी निष्ठापूर्वक, एकाग्रता से, निधि को तेजस्वी संस्था बनाने के लिए कुछ सोच नहीं पाते। नतीजा यह है कि आज सबकुछ रामभरोसे चल रहा है।

जो हो, सम्मेलन के संयोजकों से हमारा निवेदन है कि भविष्य में यदि वे ऐसा कोई कदम उठायें तो यह देख लें कि उनके पास कोई सुनिश्चित योजना है या नहीं। सद्विचारों के बीज बिखेरना अच्छा होता है; लेकिन फसल उसीको मिलती है, जो भूमि को अनुकूल बनाकर तब बीज डालता है।

स्व० रामनरेश त्रिपाठी की जीवनी

स्व० रामनरेश त्रिपाठी से हिन्दी के पाठक भली-भांति परिचित हैं। उन्होंने अपनी कृतियों से हिन्दी के भण्डार को समृद्ध किया है। त्रिपाठीजी का जीवन भी कम घटनापूर्ण नहीं है। जिन्हें उनके सम्पर्क में आने का अवसर मिला है, वे जानते हैं कि उनमें कितने गुण थे और उनकी प्रतिभा कितनी बहुमुखी थी।

हमें हर्ष है कि 'नवनीत' मासिक के संचालक, श्री श्रीगोपाल नेवटिया ने त्रिपाठीजी की जीवनी तथा रचनाओं पर एक पुस्तक संकलित करने का आयोजन किया है। पुस्तक के पूर्व-भाग में उनकी जीवनी दी जायगी। उसके लिए त्रिपाठीजी अपने प्रारंभिक जीवन के कुछ संस्मरण स्वयं लिखकर दे गये हैं। शेष भाग मित्रों की सहायता से पूरा करना होगा।

त्रिपाठीजी के खंडकाव्यों, उनकी स्फुट कविताओं तथा अन्य रचनाओं की विशेष चर्चा हुई है। कुछ महानुभावों के पास उन चर्चाओं के अंश हो सकते हैं। कुछ उनके संस्मरण दे सकते हैं।

ग्रंथ लगभग ३०० पृष्ठ का होगा। श्री नेवटिया का विश्वास है कि यह ग्रंथ त्रिपाठीजी के स्मृति-ग्रंथ के रूप में तो होगा ही, उनकी रचनाओं के अध्ययन का स्थायी निमित्त भी बन जायगा।

जिन सज्जनों के पास त्रिपाठीजी के चित्र या पत्र हों, अथवा उनसे या उनकी रचनाओं से संबंधित कोई सामग्री हो तो उसे वे शीघ्र ही श्री श्रीगोपाल नेवटिया, संचालक—नवनीत, ३४१ तारदेव, बंबई—३४ को भेज दें। उपयोग के बाद पत्रादि सुरक्षित लौटा दिये जायंगे।

●

(पृष्ठ २७० का शेष)

सीक्रेट' है। लेखक का यह कदाचित् पहला ही उपन्यास है, अतः स्वागत के योग्य है।

तीर्थ-यात्रा—**लेखक : सुदर्शन; प्रकाशक; वोरा एण्ड कम्पनी पब्लिशर्स, बम्बई मूल्य : चार रुपये।**

इस पुस्तक में हिन्दी के प्रख्यात कहानी-लेखक श्री सुदर्शन की १४ मौलिक कहानियां और 'जैसलमेर की संध्या' नामक एक नाटक संकलित है। प्रारम्भ में एक विस्तृत भूमिका है, जिसमें विद्वान् लेखक ने कहानी के संबंध में अपने विचार प्रकट करके उसके विविध पक्षों पर प्रकाश डाला है। सुदर्शनजी की इन कहानियों को किसीके प्रमाण-पत्र की आवश्यकता नहीं, सभीमें उनकी शैली का चमत्कार परिलक्षित होता है। सुदर्शनजी के नाम के अनुरूप 'तीर्थ-यात्रा' भी अपनी सार्थकता के लिए लोगों को आकृष्ट करने में पूर्णतः सफल होती रही है। इसका प्रमाण इस बात से मिल जाता है कि इस पुस्तक के अभीतक चार संस्करण प्रकाशित भी हो चुके हैं। यह उसका पांचवां संस्करण है।

—सुमन

●

'मंडल' की ओर से

समाज-विकास-माला में वृद्धि

पाठकों की विशेष लोकप्रिय माला—समाज-विकास-माला में निम्नलिखित बारह पुस्तकों की वृद्धि हुई है :

१. संत पोतना	(राघवराव)
२. दक्षिण की काशी	(श्रीपाद जोशी)
३. चम्बल की कहानी	(शंकर बाम)
४. 'सबै भूमि गोपाल की'	(सुरेश राम)
५. संगीत की कहानी	(रेखा जैन)
६. राजा राममोहन राय	(मनहर चौहान)
७. भारतेन्दु हरिश्चन्द्र	(मुद्राराक्षस)
८. संत फ्रांसिस	(सरला बहन)
९. फाहियान की भारत-यात्रा	(कमलेश्वर)
१०. सबसे बड़ी सेवा	(श्रीकृष्ण)
११. पुष्कर	(लोकेन्द्र शर्मा)
१२. सुख की कुंजी	(यशपाल जैन)

ये सभी पुस्तकें सुपाठ्य होने के साथ-साथ प्रेरणादायक भी हैं। पाठकों को पता ही है कि इस माला में इससे पहले १५१ पुस्तकें निकल चुकी हैं। यह पूरा सेट ऐसा है कि इसे घर के छोटे-बड़े सभी सदस्य पढ़ सकते हैं और इनसे लाभ उठा सकते हैं।

जीव-जगत की कहानी

इस माला में पाठक 'समुद्र के जीव-जन्तु', 'पक्षियों की दुनिया', और 'जानवरों का जगत', ये तीन पुस्तकें पढ़ चुके हैं। चौथी अब निकली है—'कीड़े-मकोड़े' इसमें बहुत-से कीड़े-मकोड़ों का परिचय दिया गया है, अनेक चित्र दिये गए हैं और दो रंग की छपाई कराई गई है। पुस्तक बड़ी ही उपयोगी तथा आकर्षक है।

● **'आओ विमान चलायें'** हवाई जहाज की बहुत ही ज्ञानवर्द्धक जानकारी देती है। विमान का किस प्रकार विकास हुआ और अब हम किस अवस्था में पहुंच गये हैं, इसकी बड़ी ही रोचक कहानी है। दो रंग की छपाई, बहुत-से चित्र और आवरण अत्यन्त आकर्षक है।

● **'भागवत धर्म'** का नया संस्करण अब नवीन रूप और आकार में निकला है। छपाई साफ़ और कवर बहुत ही सुन्दर है। पुस्तक काफ़ी समय से अप्राप्य थी। उसकी मांग बहुत है। अपनी प्रति जल्दी ही मंगा लीजिये।

● **'भारतीय दर्शन-सार'** संग्रहणीय ग्रंथ है। डा० बलदेव उपाध्याय ने बड़ी योग्यता से उसमें भारतीय दर्शनों का सार दिया है। पुस्तक ज्ञान का भंडार है।

यह पुस्तक 'भारत-परिचय-माला' का एक पुष्प है। इस माला में ग्यारह ग्रंथ और निकालने की योजना है।

● **'रूसी युवकों के बीच'** केवल यात्रा का आनंद देने-वाली पुस्तक नहीं है, वह विश्व के शक्तिशाली राष्ट्र रूस को समझने में सहायता देती है। उसमें आंखों देखा हाल होने के कारण उसकी प्रामाणिकता स्वयंसिद्ध है। पुस्तक में अनेक चित्र भी दिये गए हैं।

● **गांधी-डायरी**—१९६३ की 'गांधी डायरी' की छपाई आरंभ हो रही है। आपने अपनी प्रतियां सुरक्षित करा ली हैं न ? न कराई हों, तो शीघ्र करा लीजिये। बड़ी-छोटी दोनों आकार की हैं। बड़ी का मूल्य २।।) है, छोटी का १।)। आर्डर के साथ २५% पेशगी भेजना आवश्यक है।

'मण्डल' का नया सूचीपत्र मंगा लीजिये और अपनी पसंद की पुस्तकों की मांग अपने यहां के पुस्तक-विक्रेताओं से कीजिये।

—मंत्री

जरूरी
जरूरी
जरूरी
बहुत जरूरी खबर भेजनी है,
क्योंकि कोई सख्त बीमार है।
यह अग्रता तार (प्रायोरिटी टेलीग्राम) से भेजी जा सकती है।
बीमारी, दुर्घटना, या मृत्यु जैसे अवसरों पर अग्रता तार का प्रयोग कर सकते हैं।
इस तरह के तार तुरत (एक्सप्रेस) व आवश्यक (अर्जेण्ट) तारों से पहले भेजे जाते हैं, पर शुल्क केवल एक्सप्रेस तार का ही लिया जाता है।
इस तरह का तार भेजते समय फार्म पर अग्रता या प्रायोरिटी शब्द लिख दीजिए।
हमें उत्तम सेवा का अवसर दीजिए
डाक-तार विभाग
DA 62/188

अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी के आर्थिक-राजनैतिक अनुसंधान-विभाग का पाक्षिक पत्र

'आर्थिक समीक्षा'

प्रधान सम्पादक : **श्री सादिक अली**

सम्पादक : **श्री सुनील गुह**

- **हिन्दी में अनूठा प्रयास**
- **आर्थिक, राजनैतिक तथा सामाजिक विषयों पर विचारपूर्ण लेख**
- **आर्थिक सूचनाओं से ओत-प्रोत**

भारत के विकास में रुचि रखनेवाले प्रत्येक व्यक्ति के लिए आवश्यक, पुस्तकालयों के लिए अनिवार्य रूप से आवश्यक।

वार्षिक मूल्य : ५ रु० एक प्रति : २२ नये पैसे

लिखें—व्यवस्थापक, प्रकाशन-विभाग,

अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी,

७, जंतर मंतर रोड, नई दिल्ली

सबसे सस्ता सचित्र हिन्दी मासिक

'जागृति'

जिसे राष्ट्रभाषा के प्रायः सभी प्रमुख लेखकों, कवियों और कहानीकारों का सहयोग प्राप्त है।

उत्प्रेरक कविताएं, ज्ञानवर्धक लेख, सांस्कृतिक निबंध, रोचक कहानियां

बाल-संसार, साहित्य आगे बढ़ता है, आदि स्तम्भ

तिरंगा आवरण, अनेक इकरंगे चित्र

४८ से ५६ पृष्ठ की सम्पूर्ण छपाई आर्ट पेपर पर

इसपर भी मूल्य केवल २५ नये पैसे

एजेंटों को ५ से १०० प्रतियों पर २५ प्रतिशत और इससे ज्यादा पर ३३⅓ प्रतिशत कमीशन दिया जाता है। डाक-खर्च प्रकाशकों के जिम्मे। एजेंट नमूने की प्रति के लिए आज ही लिखें।

व्यवस्थापक, 'जागृति' हिन्दी

लोक सम्पर्क विभाग, पंजाब, चंडीगढ़

सम्पदा का बारहवां रत्न

तृतीय पंचवर्षीय योजना अंक

मूल्य : रु० १.५०

चौदहवें स्वाधीनता-दिवस पर यह विशेषांक प्रकाशित हो गया है। इसकी विशेषताएं हैं—

- योजना के विभिन्न अंगों का प्रामाणिक परिचय।
- योजना की आधारभूत नीतियों का निष्पक्ष विवेचन।
- गत दस वर्षों में राष्ट्र का विकास।
- योजना-संबंधी बीसियों ग्राफ, चित्र, तालिका आदि।

संक्षेपतः तीसरी योजना को भली-भांति हृदयंगम करने के लिए यह अंक अनुपम होगा। रु० १.७५ भेजकर अपनी कापी सुरक्षित कर लीजिये।

मैनेजर, 'सम्पदा'

२८/११ शक्तिनगर, दिल्ली

पुस्तक-जगत्

(मासिक)

- 'प्रकाशन कला', 'भारत भारती' 'विश्व भारती', 'कसौटी' और 'वाचनाभिरुचि का सर्वेक्षण' आदि सुगठित स्तम्भों में विशिष्ट साहित्यकारों की विवेचना।
- विज्ञापन का राष्ट्रव्यापी साधन।
- प्रकाशक, लेखक, पाठक और विक्रेता का सम्मिलित मंच।

मूल्य : वार्षिक—३) **अंक २५ न० पै०**

'पुस्तक-जगत्', ज्ञानपीठ, पटना—४

'मण्डल' का अभिनव प्रयास

भारत की बहुमुखी संस्कृति
का
परिचय देनेवाली

भारत-परिचय-ग्रंथमाला
के प्रकाशन की योजना के अंतर्गत
पहली पुस्तक

भारतीय दर्शन-सार

पढ़िये और भारतीय दर्शन
की प्रमुख धाराओं से
परिचय कीजिये

लेखक : **डा० बलदेव उपाध्याय**

पृष्ठ ४०२; मूल्य : सजिल्द, साढ़े पांच रुपये

माला के अन्य ग्रंथों की प्रतीक्षा कीजिये

सस्ता साहित्य मण्डल
नई दिल्ली

हमारे प्रकाशन : दूसरों की दृष्टि में

अफ्रीका जागा—घाना के राष्ट्रपति डा० एन्क्रूमा की आत्मकथा; रूपान्तर : श्यामू संन्यासी; पृष्ठ-संख्या २१६; मूल्य—तीन रुपये।

यह अफ्रीका के नवोदित राष्ट्र घाना के राष्ट्रपति डाक्टर क्वामे एन्क्रूमा की अंग्रेजी में लिखी आत्मकथा का किंचित संक्षिप्त रूपान्तर है। एन्क्रूमा ने अपने शैशव, किशोर और विद्यार्थी-जीवन के संघर्ष का बड़ा ही प्रेरणात्मक वर्णन किया है। घाना की आजादी के लिए किये जानेवाले संघर्षों के साथ ही उस देश के नव-निर्माण की कहानी भी कही गई है। एन्क्रूमा ने अपने बारे में भली-बुरी किसी भी बात को छुपाया नहीं है। जो कहना है, उसे बहुत ही सचाई और स्पष्टता से कहा है। यह आत्मकथा पाठकों को जीवन-संघर्ष में जूझने और राष्ट्र तथा देश के लिए कड़े-से-कड़ा संघर्ष और बलिदान करने की प्रेरणा देगी। पुस्तक में कई चित्र भी दिये गए हैं। इस प्रकाशन के लिए 'मण्डल' निश्चय ही बधाई का पात्र है।

—'जागरण', इंदौर।

बालकों का पालन-पोषण—लेखक डा० एस. टी. आचार; अनुवादक : माधव उपाध्याय; पृष्ठ-संख्या; १६०; मूल्य—अढ़ाई रुपये।

पुस्तक का विषय उसके नाम से ही प्रकट है। इसके लेखक एक विख्यात बालरोग-विशेषज्ञ हैं, सन्तान पैदा करना, उसे पाल-पोसकर बड़ा कर देना और खाना-कपड़ा देकर उसकी लिखाई-पढ़ाई की व्यवस्था कर देने से ही बालकों के प्रति लोगों का कर्त्तव्य नहीं समाप्त हो जाता। कुछ और भी बातें आवश्यक हैं, जिनकी सुदृढ़ नींव बालकों के चरित्र, स्वास्थ्य और नैतिकतापूर्ण जीवन पर आधारित होनी चाहिए। ये ही उन्हें वास्तविक अर्थ में मानव बनाती हैं। आलोच्य पुस्तक में ऐसी ही बातों की चर्चा है, जो प्रत्येक माता-पिता को जाननी आवश्यक हैं। उपयुक्त रेखा-चित्र देकर पुस्तक की उपयोगिता बढ़ा दी गई है।

—'साप्ताहिक भारत' इलाहाबाद।

सिपाही की बीवी—लेखक : मामा वरेरकर, अनुवादक : रामचन्द्र रघुनाथ सर्वटे; पृष्ठ-संख्या : १८०; मूल्य—अढ़ाई रुपये, अल्पमोली डेढ़ रुपया।

'सिपाही की बीवी' मामा वरेरकर का सामाजिक पृष्ठभूमि पर लिखा गया एक रोचक उपन्यास है। उपन्यास में उन्होंने एक परिवार के जीवन में आनेवाले उतार-चढ़ावों का बड़ा ही मार्मिक चित्रण किया है। अनेक परिस्थितियों का निर्माण करते हुए अंत में लेखक ने परिवार के सदस्यों को ऐसे स्थान पर लाकर खड़ा किया, जिसकी कल्पना सहज नहीं है। उपन्यास में विभिन्न राजनैतिक मतमतान्तरों, हड़ताल, जुलूस, वारन्ट, गिरफ्तारियों की घटनाओं से बम्बई के सजीव चित्र सामने आ खड़े होते हैं। उपन्यास अपने-आपमें एक सफल कृति है।

—'नई दुनिया', इंदौर।

संघर्ष नहीं, सहयोग—लेखक : प्रिंस क्रोपाटकिन; अनुवादक : शोभालाल गुप्त; पृष्ठ-संख्या २३०, मूल्य—दो रुपये।

प्रस्तुत पुस्तक रूस के महान लेखक प्रिंस क्रोपाटकिन की प्रसिद्ध पुस्तक 'म्यूचुअल एड' का हिन्दी-रूपान्तर है। इसमें बताया गया है कि मनुष्य का वास्तविक अभ्युदय पारस्परिक सहयोग से ही हो सकता है, संघर्ष से नहीं।

यद्यपि मूल पुस्तक को लिखे काफी समय बीत चुका है, तथापि उसके महत्व में कमी नहीं आई। लेखक ने कीड़ों-मकोड़ों, पशु-पक्षियों, जलचर-थलचर, प्रारम्भिक मनुष्यों, बर्बर जातियों, मध्यकालीन नगरों और आधुनिक युग के उदाहरण इतनी प्रचुर संख्या में देकर अपने मत का प्रतिपादन किया है कि उसकी सार्वभौमिकता में सन्देह करने की कोई गुंजाइश नहीं रह जाती। शुष्क विषय होते हुए भी इसका प्रतिपादन मनोरंजक और विचारोत्तेजक ढंग से किया गया है। शुद्ध छपाई के लिए प्रकाशक प्रशंसा के पात्र हैं।

—'नवभारत टाइम्स', दिल्ली।

सस्ता साहित्य मंडल नई दिल्ली

रजिस्टर्ड नं०
डी-२२८

मार्तण्ड उपाध्याय, मंत्री, सस्ता साहित्य मंडल, नई दिल्ली द्वारा न्यू इण्डिया प्रेस, नई दिल्ली में छपवाकर प्र...

वर्ष २३ : अंक ८

जीवन साहित्य

सत्साहित्य प्रकाशन

बापू

सम्पादक
हरिभाऊ उपाध्याय
यशपाल जैन

कांग्रेस ने राजनैतिक स्वतंत्रता तो प्राप्त करली है, मगर उसे अभी आर्थिक, सामाजिक तथा नैतिक स्वतंत्रता प्राप्त करनी है।

२७-१-४८ —मो. क. गांधी

अहिंसक नवरचना का मासिक

जीवन-साहित्य

अगस्त, १९६२

विषय-सूची

आवश्यक

पत्र-व्यवहार करते समय अपनी ग्राहक-संख्या अवश्य दें, जिससे कार्रवाई सुविधापूर्वक और अविलंब हो जाय।

● वर्ष २३
● अंक ८

● ●

अगस्त, १९६२

समाजवाद और सर्वोदय

विनोबा

समाज में क्रियाएं, प्रतिक्रियाएं, अनुक्रियाएं कैसी होती हैं, यह समझना चाहिए। मानव-इतिहास में अनादि काल से विज्ञान चला आ रहा है। विज्ञान की खोजें हो रही हैं। प्राचीन काल में मनुष्य खेती नहीं करता था। बाद में वह खेती करने लगा। यह एक खोज थी। वह गाय का दूध निकालने लगा, गाय की सेवा करने लगा, यह भी खोज थी। उसने कुत्ते जैसे जानवरों का भी प्रेम संपादन किया और कुत्ता भी मानव पर प्रेम करने लगा, यह भी एक खोज ही थी। ऐसी खोजें प्राचीन काल से होती चली आ रही हैं। फिर भी गये दो सौ, तीन सौ सालों से यह युग विज्ञान का युग माना जाता है।

दो सौ साल पहले जिस विज्ञान का विकास हुआ, उससे तत्कालीन जीवन-विषयक जो पुराने सिद्धान्त थे, वे सब सिद्धांत खतम हुए और बदले में नये सिद्धांतों ने स्थान लिया और आज भी ले रहे हैं। विज्ञान की गति बहुत जोरों से बढ़ रही है। विकासवाद आया, वह गया। अब सापेक्ष-वाद चल रहा है। ऐसे नये-नये सिद्धांत निकल रहे हैं। विज्ञान बढ़ेगा, तो पुरानी खोजें काम में नहीं आयंगी। मनुष्य को नये सिद्धांत और नये विचार समझने के लिए सम्यक् भाषा की आवश्यकता होती है। इसके लिए नई-नई परिभाषा बनती है। नई भाषा बनती है, तो पुरानी भाषा जंचती नहीं, उससे अर्थबोध नहीं होता। उसका आक-र्षण भी नहीं रहता। गये दो सौ, ढाई सौ साल पहले विज्ञान की जो खोजें हुईं, वह चंद देशों में ही हुई। उसका फायदा उन देशों ने लिया और दुनिया के साथ व्यापार बढ़ाया, उसका लाभ और राष्ट्रों को भी मिला। लेकिन जिन भाषाओं में खोज हुई, उन भाषिकों ने दुनिया के बाजारों पर कब्जा कर लिया उसके लिए साम्राज्य भी बने। फिर भी याने व्यापार का कुल संघटन खानगी व्यक्ति के हाथ में था और जमीन की मालकियत भी व्यक्तिगत थी। व्यक्तिगत 'इन्सेंटिव' और 'इनीशिएटिव' के लिए व्यक्तिगत मालकियत होनी चाहिए—यह विचार तब चला था। उसका नाम

'व्यक्तिवाद' है। यह वाद आज तक कमो-बेशी चला रहा है। आज हम जब मालकियत मिटाने की बात करते हैं, तब लोग हमको पूछते हैं कि व्यक्तिगत मालकियत मिट जायगी, तो उसके बाद व्यक्तिगत प्रेरणा भी मिट जायगी। यह सवाल आज तक पूछा जाता है। इसको महत्व देकर ही 'स्वतंत्र पार्टी' बनी

हम नहीं मानते कि उसमें बिलकुल तथ्य नहीं। उसमें कुछ तथ्य है। इसलिए हमने ग्रामदान में व्यवस्था की है कि जमीन की व्यक्तिगत मालकियत नहीं होगी, लेकिन जमीन बंटी रहेगी और जमीन पर व्यक्तिगत काश्त होगी। सामूहिक पूंजी के लिए दान की प्रक्रिया होगी। यह तो नहीं कि जमीन सामूहिक कर लें और जो लाभ होगा, उससे पूंजी बनाई जाय। उसके लिए तो गणित आना चाहिए और 'मैनेजमेंट' की बातें मालूम होनी चाहिए। आज गांव के लोगों की स्थिति ऐसी नहीं है कि वे सामूहिक खेती करें। आज की हालत में स्वतंत्र पार्टीवाले कहते हैं, उसमें कुछ तथ्य है। अभी एक 'व्यक्तिवाद' पैदा हुआ है, उससे कुछ अच्छे, कुछ बुरे परिणाम निकले हैं। आरंभ में अच्छे परिणाम हुए। प्रत्येक काम के आरंभ में अच्छे परिणाम निकलते हैं। अंग्रेज आये तो शुरू में लगा अच्छा है। क्योंकि व्यवस्थित राज्य चला, तनख्वाह समय पर मिलती रही। यह भास हुआ कि राज्य अच्छा था। हर परिवर्तन होता है तो पुरानी बुरी चीज खत्म हुई, ऐसा लगता है। फिर थोड़े दिन में उसकी भी बुराइयां नजर आने लगती हैं। यही स्थिति व्यक्तिवाद के बारे में रही। यह जो पूंजीवाद से जुड़ा हुआ व्यक्तिवाद था, उसने विज्ञान का लाभ लेकर साम्राज्य बनाये। आरंभ में यह अच्छा लगा। फिर उसपर से कई प्रश्न निकले और उसकी जो प्रक्रिया बनी, वह है समाजवाद।

अब समाज का महत्व है, व्यक्ति का नहीं। अधिकतम संख्या, अधिकतम हित—यह सिद्धान्त अब निकला। अधिकतम संख्या में सौ में से नब्बे होते हैं। यह नया नीति-विचार है। यह 'बहुमत-अल्पमत' का विचार आया। सब बालिगों को वोट देने का अधिकार मिल गया। यह देखने में बड़ा-सा वेदांत लगता है, इसमें समत्व लगता है, लेकिन वस्तुस्थिति में यह वेदांत चलता नहीं है। विद्वान् मनुष्य को भी एक वोट देने का अधिकार है और सामान्य अशिक्षित मनुष्य को भी एक वोट देने का अधिकार है। तो क्या होता है? जो चिंतन करनेवाले बुद्धिशील व्यक्ति होते हैं, वे अपने-अपने पंथ बनाते हैं और सामान्य 'वोटर्स' उनके पीछे जाते हैं। इसलिए दुनिया में आज ये टुकड़े पड़े हैं। जहां अल्पमत होता है वहां बहुमत बनाने की कोशिश होती है। फिर यह भी सोचा गया कि बहुमत का राज्य करेंगे, लेकिन अल्पमत का कल्याण भी सोचेंगे। नये विचार के साथ यह कल्याणकारी राज्य आया। तब वह 'सोशलिज्म' था अब वह वेलफेअरिज्म बन गया।

अब सवाल यह है कि समाजवाद किस तरह आयेगा? उसका 'सैंक्शन' क्या होगा? उसकी शक्ति क्या होगी? आज हालत क्या है? चाहे समाजवाद हो, साम्यवाद हो या फासिज्म हो सबने अपने-अपने बचाव के लिए सैन्य-शक्ति बढ़ाई है। परदेश के हमले से बचने के लिए सेना बनाई लेकिन अब सवाल यह आता है कि इनको अपनी ही सेना से कौन बचायेगा? इसका उत्तर समाजवाद के पास नहीं, न और किसीके पास है। अपने बचाव के लिए सेना रखते हैं। अब यही एक शक्ति इनके पास है। अब यह शक्ति कैसी है? यह विद्वान् के हाथ में भी रह सकती है और मूर्खों के हाथ में भी रह सकती है। न्यायी लोगों के हाथ में रह सकती है और अन्यायी लोगों के हाथ में भी रह सकती है। अगर यह शक्ति कसम खाती है कि मैं कम्युनिस्टों के हाथ में ही रहूंगी, तो ये हिंसा को छोड़ने के लिए तैयार होंगे। लेकिन आज वे कहते हैं कि यह शक्ति परम दुष्ट अमेरिका के पास है। हम परम-पवित्र, सत्यनिष्ठ कम्युनिस्टों के पास यह शक्ति नहीं है। अमेरिका भी यही कहेगा। आज वह शक्ति परम दुर्जनों के हाथ में है। वह मूढ़ शक्ति है। वह पतिव्रता नहीं है। इसका परिणाम यह है कि उसपर विश्वास रखना भयंकर है। तो इस हालत में और रास्ता क्या है? इसका उत्तर सर्वोदय से मिलता है।

अभी दुनिया में सर्वोदय का अमल नहीं हुआ है। लेकिन सर्वोदय का विचार समझना चाहिए। सर्वोदय में एक राय से चलते हैं। अब सवाल आता है कि एक राय कैसे बनेगी? यह किस तरह हो सकता है? एक मनुष्य अड़ंगा लगायेगा तो कैसे होगा? लेकिन यह प्रयोग दुनिया में ही

रहा है। संयुक्त-राष्ट्रसंघ में दो प्रकार की सभाएं होती हैं। एक सामान्य महासभा है और दूसरी सुरक्षा-परिषद्। महासभा में अल्प-बहुमत से काम चलता है याने प्रजातंत्र का प्रयोग चलता है। सुरक्षा-परिषद् में चार-पांच राष्ट्रों को व्हिटो का अधिकार है याने सर्वसम्मति से काम चलता है। याने वहां सर्वोदय का प्रयोग हो रहा है। दो प्रयोग साथ-साथ चल रहे हैं। दोनों जगह सर्वोदय नहीं लेते, क्योंकि यह प्रयोग कैसे चलता है, इसकी कल्पना नहीं। इसकी अच्छी तालीम नहीं है। सुरक्षा-परिषद् में चर्चा करते हैं और निर्णय लेते हैं। अनेक राष्ट्रों के लोग वहां इकट्ठे होते हैं। इसलिए एकदम एक एक राय नहीं बनती। कौंसिल में एक राय नहीं बनी, तो थोड़ी देर मौन रखते हैं और फिर बिखर जाते हैं। फिर पन्द्रह मिनट के बाद मिलते हैं। उस दरम्यान सवालों पर चिंतन कर लेते हैं। फिर आपस में चर्चा करते हैं और जितनी बातों पर एकमत होता है, उतनी बातों पर अमल करते हैं। इस तरह से काम चलता है। वहां शिक्षण, समाज-सेवा, देश-देशों के बीच समस्या—इन विषयों पर चिंतन होता है, निर्णय किये जाते हैं और उन निर्णयों पर अमल होता है। लेकिन फिर भी वहां एक राष्ट्र का पूरा राज्य चलाने जैसा काम नहीं होता। इसलिए प्रजातंत्र में भी यह शिक्षण देना होगा। 'सुरक्षा-परिषद' यह नाम क्यों दिया? सोचते हैं तो ध्यान में आता है कि सुरक्षा याने सबका भला। सर्वोदय में भी यह सुरक्षा है—इसलिए यह नाम दिया होगा। इसपर से ध्यान में आता है कि सर्वोदय सबका समाधान करता है। सब पक्षों में सर्वसामान्य आधार लेकर, उस आधार पर कार्यक्रम बनायंगे, तो उसमें मतभेद कैसे होंगे? यह कनव्हर्सन का प्रोसेस—परिवर्तन की प्रक्रिया है। सामान्य सहमति पर कार्यक्रम बनाते हैं, तो उसके विरोध में कौन जायगा? ऐसा कार्यक्रम भले ही छोटा बने, उसपर अमल जरूर होगा, क्योंकि उसमें सब इकट्ठे हो गये हैं। एक-दूसरों के नजदीक आये हैं। सर्वोदय सबको कहता है कि सामान्य बात पर सबकी ताकत लगनी चाहिए। इसलिए सर्वसामान्य कार्यक्रम ढूंढना चाहिए। और ऐसा एक सर्वसामान्य राष्ट्रीय कार्यक्रम बनता है, तो वह अगले पांच साल में उसपर अमल करेंगे। लेकिन समाजवाद को यह पसंद नहीं। क्योंकि समाजवाद प्रतिक्रिया है। उसमें जिस वाद का आग्रह है, वह छूटता नहीं। इस वाद का यह आग्रह छूटेगा, तो व्यक्तिवाद के काम हम ले सकते हैं। दोनों की हानि से बच सकते हैं और सर्व-सामान्य कार्यक्रम बना सकते हैं। आपके कितने मतभेद हैं, उनपर अलग से विचार होना चाहिए, तो उसमें कटुता नहीं आयेगी। बातचीत की जो प्रक्रिया होगी, वह चर्चा की होगी, वादविवाद की नहीं। आज विधान-सभा में एक बाजू बहुमत और एक बाजू अल्पमत होती है। एक बाजूवाले खुलकर बातें करते हैं, तो दूसरी बाजूवाले मुंह सीं लेते हैं। एक ने बात मंजूर की, दूसरे को मंजूर नहीं। दोनों एक-दूसरे के खिलाफ बोलते हैं। वहां अंकुश नहीं रहता, दोनों बह जाते हैं। वहां चर्चा नहीं होती, सामनेवाले की बात ग्रहण करने की मनोवृत्ति नहीं रहती। सर्वोदय में वाद-विवाद नहीं होता, चर्चा होती हैं, इसलिए उससे कुछ-न-कुछ मक्खन निकलता है। ये लोग मंथन में नहीं मानते, घर्षण में मानते हैं। मंथन में से मक्खन निकलता है। घर्षण में से अग्नि निकलती है। सर्वोदय में सब-का-सब मंथन चलेगा। यह समाजवाद और सर्वोदय में फरक है।

अब अगर समाजवाद कहेगा कि हम अहिंसा को मानते हैं तो मैं कहूंगा कि आपका समाजवाद याने सर्वोदय है। उतना आप करते हैं, तो दोनों एक हो जाते हैं। फिर सवाल आता है कि दोनों एक हो जायंगे, तो शब्द कौन-सा रखेंगे? जाहिर है कि समाजवाद एकांगी शब्द है। वह व्यक्तिवाद के विरुद्ध है। सर्वोदय किसीकी प्रतिक्रिया नहीं। इसलिए सर्वोदय यही एक शब्द टिकेगा। आप जोर लगाते हैं कि प्रजातान्त्रिक समाजवाद करेंगे। प्रजातांत्रिक समाजवाद सर्वोदय के और नजदीक आएगा। अब इतने नजदीक आये तो शब्द को भी इस्तेमाल करना चाहिए।

तीन प्रतीक

●● महात्मा भगवानदीन

(१)

नदी अपने पिता पर्वत से बोली, "यहां रहते-रहते मेरा मन ऊब गया है। मैं घूमना चाहती हूं।"

पर्वत—बेटी, मैंने तो तुझे अपने हृदय में जगह दे रक्खी है, और फिर अगर तू यहां से गई तो तेरा पतन होगा। तुझे ठोकरें खानी पड़ेंगी। फिर तू पवित्र न रह सकेगी। जैसे-जैसे घूमेगी कलुषित होती जायगी। समुद्र में मिलकर तो तू इतनी निकम्मी हो जायगी कि किसी काम की न रह जायगी।

नदी—पिताजी! आपका कहना अक्षरशः सत्य है। मैंने अपनी सहेलियों से भी यही सुन रक्खा है। पर मैं यह भी जानती हूं कि दुनिया का उपकार पतन हुए बिना नहीं हो सकता। न ठोकरें खाये बिना हो सकता है। न कलुषित हुए बिना, और अन्त में सर्वनाश तो है ही, पर समुद्र जिसमें मैं जाकर मिलूंगी वह महान तपस्वी है, वह मुझे बादल बनाकर फिर आपके पास भेज देगा और तब मैं अबसे ज्यादा पवित्र होऊंगी।

(२)

राजपूताने का एक निवासी अचानक समुद्र के किनारे पहुंच गया। इतना लम्बा-चौड़ा तालाब देखकर उसकी खुशी का ठिकाना न रहा। वह उसकी ओर पानी पीने ऐसे लपका मानो जीवन भर की प्यास आज ही बुझा लेगा। जैसे ही वह किनारे पर पहुंचा वैसे ही समुद्र ने डाटकर कहा, "पानी को हाथ न लगाना।"

यात्री—(अचरज में पड़कर आंखें फटी-फटी) हे महान् तालाब! यह तो बता तू इतना महान् होते हुए इतना अनुदार और कंजूस क्यों है? इतने कंजूस तो हमारे यहां के वे तालाब और कुएं भी नहीं होते, जो तुझसे करोड़ों गुणा छोटे हैं।

समुद्र—अच्छा पी ले पानी।

यात्री—अरे तू अनुदार और कंजूस तो था ही, तू तो चालाक भी है। पानी को कड़वा बनाकर मुझसे कहता है, 'पी ले'।

समुद्र—प्यारे यात्री! मुझे तुझसे बहुत मोहब्बत है। पर मैं तेरी सेवा करने में असमर्थ हूं। मैं महान् हूं सही, पर न अनुदार हूं, न कंजूस और न चालाक। पर मैं ऐसा जरूर बना हूं कि मैं महान् काम ही कर सकता हूं। छोटे-छोटे काम नहीं कर सकता। छोटा उपकार भी नहीं कर सकता।

यात्री—यह कैसे?

समुद्र—देख सुन। चींटी और हाथी में वही संबंध है जो तुझमें और मुझमें है। पर अगर चींटी के मुंह का शक्कर का कण रेत में गुम हो जाय, तो क्या वह हाथी उसे ढूंढकर चींटी को दे सकता है, जो हाथी आदमी के लिए बड़े-बड़े लक्कड़ ढोता रहता है?

यात्री—बाप रे बाप! महानता के पेट में इतनी लघुता और तुच्छता!

(३)

छोटी-सी अमियां (बहुत कच्चा, बहुत छोटा-सा आम) अपने पिता आम के पेड़ से बोली, "पिताजी! क्या मैं टूटकर गिर पड़ूं? देखो न, ये छोटे-छोटे बच्चे कितनी ललचाई आंखों से मुझे देख रहे हैं। और पिताजी, ये इधर-उधर मेरी-जैसी बहन को ढूंढ भी रहे हैं।

आम—बेटी, यह बालक शरारती हैं। ये तुम्हारी बहन नहीं ढूंढ रहे, ये ढूंढ रहे हैं कंकर-पत्थर, जिनका ये तुम्हें निशाना बनायेंगे। ये सुन अमियाँ कांपकर रह गई।

कुछ दिनों के बाद वे अमियां कच्चा आम बन गई। उसे अपने बचपन की बात याद ही नहीं रही। उसने फिर अपने पिता आम से कहा, "देखिये, ये कुछ बहनें मुझे बड़ी देर से ताक रही हैं। क्या आप इज़ाजत देते हैं कि मैं टूटकर नीचे गिर पड़ूं। और इन सबको खुश करूं?"

आम—बेटी, क्या तुम्हें अपने बचपन की बात याद नहीं रही और क्या तुम वह सिलबट्टा नहीं देख रही, जो इनके अधियाने के पास रखा है?

कच्चा आम सब समझ गया। उसे अपना बचपन याद आ गया। पर अब वह कांपने की अवस्था पार कर चुका था।

कुछ दिनों के बाद वह ही आम पककर रसीला बन गया। पिताजी से बोला, "अब मैं ज्यादा दिन आपके पास रहना नहीं

चाहता। मुझे ऐसा मालूम हो रहा है कि मुझमें यह योग्यता है कि मैं अपना परिवार बना सकूं और बढ़ा सकूं। और देखिये मैं परोपकार का ऐसा अच्छा मौका कैसे खो दूं, जब ये चार-पांच सज्जन जो वेश-भूषा से काफी पढ़े-लिखे, सुसभ्य और सुसंस्कृत दिखाई देते हैं, मेरी ओर इस तरह ताक रहे हैं कि मानो मैं उनका बड़ा उपकार कर सकता हूं।

आम—बेटे, बात तो तुम समझ-बूझ की कह रहे हो, पर उसके पीछे इतना अनुभव नहीं है जितना होना चाहिए।

फल—(बाप की बात बीच में ही काटकर) पिताजी, मुझे मालूम है ये मुझे नोचेंगे, दबायेंगे, मेरा सब रस चूस जायंगे, पर अंत में मेरी परिवार बढ़ाने की ताकत को किसी तरह भी नष्ट नहीं कर सकेंगे। नष्ट करना तो एक ओर उस काम में ये मेरी सहायता करेंगे। मुझे बोएंगे, जल देंगे, मेरा थामला बनायंगे। फिर क्यों न मैं आपका साथ छोड़कर इन्हें अपनाऊं।

आम—बेटे, तुम्हें जो-कुछ मालूम है, वह बहुत कम है। तुम्हें आग पर चढ़ाकर ये तुम्हारा बीज नाश कर सकते हैं। तुम्हें उगाकर ये अपने बच्चों द्वारा तुम्हें खिलौना बनवाकर तुम्हारा सर्वनाश करवा सकते हैं। तुम्हें भूनकर, सुखाकर, पीस-कुचलकर तुम्हें मिट्टी में मिला सकते हैं।

फल—(बीच ही में बात काट कर) हां, पिताजी, ये जोखिम है, पर जोखिम उठाये बिना तो कोई फल नसीब नहीं होता। ये जोखिम तो उस वक्त और भी ज्यादा है जब मैं गिरकर यहीं जंगल में रह जाऊं। इसलिए मैं आपकी बात मानने को तैयार नहीं। जितना सुख मुझे इनसे प्राप्त होगा, यहां जंगल में नहीं। यह मैं चला।

आम—(ठहरो-ठहरो) जल्दी न करो। तुम करोगे तो वही जो तुम करना चाहते हो। जवानी दीवानी होती है। पर सुन लो ये दुपाया (आदमी) बेहद स्वार्थी है। यह तुम्हारे साथ एक उपकार करेगा तो दस एहसान जतायगा। अपने एहसान के गीत तुम्हारी छाया में बैठकर ही अपने भाइयों के सामने गायगा और यह तुमपर इस तरह का प्रभाव डालता रहेगा मानो तुम्हारा यह ही ईश्वर है। यह न होता तो मानों तुम निःसन्तान रह जाते। इतना ही नहीं, यह तुम्हें अपनी सीमा से आगे नहीं बढ़ने देगा। तुममें जो यह योग्यता है, कि तुम दुनिया पर छा सकते हो उस योग्यता को यह तुमसेछीन लेगा। क्या तुम नहीं देखते कि यहां हमारा परिवार जिधर नज़र डालो, उधर फैला हुआ है। क्या तुम समझते हो कि ये सभ्य संसार के प्राणी तुम्हें इस तरह फलने-फूलने देंगे?

अभी आम के पेड़ की बात पूरी भी न हो पाई थी कि पत्थर मारकर वह फल गिरा लिया गया। उसके साथ वह व्यवहार किया गया, जिसका यह दुपाया अभ्यस्त है। और सबसे बुरी बात यह हुई कि फल की गुठली उन सबका खेल बन गई। उसे पत्थर मार-मारकर कुचल डाला गया और उसकी मींगी के रेजे-रेजे कर दिये गए। आम यह सब देखता रह गया।

●

सूरा सो पहिचानिये लरै जु दीन के हेत।
पुरजा-पुरजा कटि मरै, तबहुं न छाड़ै खेत॥

—कबीर

●

जीवन - रथ

जगदीशचन्द्र शर्मा

चल रहा निरंतर जीवन-रथ !

उन्नति-यश के संवर्धन को
अंतर्मन का संकल्प अभय--
कर रहा उत्तरोत्तर अतीव
दृढ़ता के वैभव का संचय।

गति सधी हुई, संयत, निश्लथ--
चल रहा निरंतर जीवन-रथ।

विद्रोहों के तूफान गहन
छा रहे तिमिर के धन सम्मुख;
जिनकी विकराल कालिमा को
रथ चीर रहा होकर उन्मुख।

मानों यह कटु अन्वेषण-पथ--
चल रहा निरंतर जीवन-रथ।

बढ़ना है स्वयं-परीक्षा या
स्वाभाविकता का परिरंभण?
कुछ भी हो यही मधुरता को
देता आया है आमंत्रण।

इसलिए लगन से हो लथपथ--
चल रहा निरंतर जीवन-रथ।

उद्योग-व्यवसाय और जीवन

●● डा० इन्द्रसेन

औद्योगीकरण का मतलब है सामान को बहुत बड़े पैमाने पर तैयार करने का तरीका। अतएव वह लोगों के रहन-सहन के मानदंड को ऊंचा करने का साधन है। रहन-सहन के अधिक ऊंचे मानदंड का सारभूत अर्थ होना चाहिए—जीवन-यापन के अधिक सुन्दर एवं सुख-सुविधापूर्ण तरीके, विशेषकर ऐसे तरीके जो हमें भौतिक और मानसिक रूप से अधिक स्वस्थ तथा सांस्कृतिक रूप से अधिक समग्र एवं समृद्ध जीवन के लिए प्रोत्साहित करें तथा उसे प्रदान भी करें।

इससे यह भी सूचित होता है कि लोगों को औद्योगीकरण के फलों का ठीक उपयोग करने तथा उसके द्वारा उत्पन्न अवस्थाओं में जीवन-यापन करने का ढंग सिखाया जाना चाहिए। जो लोग उद्योग-व्यवसाय की प्रक्रियाओं के साथ सीधे तौर पर संबंधित है, उनके लिए इसका अर्थ यह भी है कि वे अपने सांस्कृतिक जीवन को हानि पहुंचाये बिना अपने-आपको व्यवसाय के क्षेत्र से संबंधित जीवन और कर्म भी परिस्थितियों के अनुकूल बनायें। सच पूछो तो यह अनुकूलीकरण अपने-आपमें एक सांस्कृतिक समृद्धि को लानेवाला होना चाहिए।

इस सबका अर्थ हुआ औद्योगीकरण की समस्या के प्रति एक मूलतः शैक्षणिक एवं सांस्कृतिक दृष्टिकोण। साधारणतया औद्योगीकरण में मनुष्य और उसकी सांस्कृतिक समृद्धता की अपेक्षा अत्यधिक विशाल उत्पादन को ज़रा अत्यन्त एकांगी रूप से दृष्टि में रक्खा जाता है। ऐसी दशा में उत्पादित सामग्री तथा नई अवस्थाओं को समाज पर एकाएक ही अव्यवस्थित ढंग से थोपकर जीवन-प्रणाली को कुछ विचारहीन ढंग से विघटित कर दिया जाता है। तब उसका स्वाभाविक परिणाम यह होता है कि समाज का शैक्षणिक एवं सांस्कृतिक विकास तो होता नहीं पर जीवन के मानवीय मूल्यों का प्रायः ह्रास हो जाता है, यद्यपि सामाजिक परिस्थिति निश्चय ही सांस्कृतिक उपभोग और विकास के समृद्धतर अवसरों से सुसंपन्न हो जाती है। तब वास्तव में यह एक ऐसी अवस्था होती है, जिसमें चारों ओर के सामाजिक परिवेश में जीवन की बाह्य सामग्री खूब समृद्ध होती है, पर उसके उपयोग के लिए मनुष्य में यथोचित क्षमताएं नहीं होतीं।

यदि शैक्षणिक और सांस्कृतिक दृष्टिकोण को अपनाया जाय, तो राष्ट्रीय प्रतिरक्षा जैसे औद्योगीकरण की मांग कर सकती है, उसको एक ओर रखते हुए, साधारणतया इसके संबंध में हमारा मूल लक्ष्य होना चाहिए मनुष्य, उसका कल्याण, उसकी सांस्कृतिक उन्नति। तब औद्योगीकरण के सारे कार्यक्रमों को जनसाधारण के पूरणीय अभावों एवं वास्तविक आवश्यकताओं में से उद्भूत होना होगा और उनका विकास भी जैसे-जैसे उत्पन्न सामग्री का उपयोग करने की लोगों की क्षमताएं विकसित हों, वैसे-वैसे ही स्वभावतः होने देना होगा। उस दशा में औद्योगीकरण वर्तमान सामाजिक रचना का विघटन करके अपना काम नहीं चला सकेगा। बल्कि वह समाज को शिक्षा के द्वारा नये नमूने के अनुसार ढालने के लिए चिन्तित होगा। उसके सारे कार्यक्रम में मानव-हित का विचार सदैव सर्वोपरि रहेगा और वही उसके सब कार्यों का निर्धारण करेगा।

यदि यह दृष्टिकोण अपनाया जाय तो पूर्वीय देश जो आज औद्योगीकरण करना चाह रहे हैं, उन अनेक अनिष्टकारी परिणामों से बच सकते हैं जो पश्चिम में इसके प्रयोग से उत्पन्न हुए हैं। और फिर उनका अनुभव पश्चिम के लिए भी उपयोगी हो सकता है।

शिल्प-विज्ञान-संबंधी प्रगति का अर्थ होगा अधिक मशीनें, अधिक कारखानें, अधिक उत्पादन, अधिक खपत तथा सामाजिक जीवन-यापन का एक ऐसा व्यापक विस्तार जो मशीनरी, फैक्टरियों तथा उत्पादन पर अवलंबित हो। इसी प्रकार उसका यह अर्थ भी होगा कि समस्त सामाजिक जीवन को उसकी गढ़ी-गढ़ाई एकरूपताओं तथा नियत विविधताओं के नियामक प्रभाव के अधीन कर दिया जाय।

संभवतः इसका पहला सामाजिक परिणाम होगा—नियमितता, क्रमबद्धता, सामूहिक सहोद्योग तथा राष्ट्रीय जीवन में इन मूल्यों का व्यापक आदर। सुख-सुविधा का

एक अधिक ऊंचा मानदण्ड तथा बहुत-सी व्यापक कार्य-प्रवृत्तियां भी इसका एक अन्य परिणाम होंगी।

मनोवैज्ञानिक दृष्टि से कहा जाय तो इसका अर्थ होगा राष्ट्रीय मन का यांत्रिक विकास और हमारे देश में जहां 'सामाजिक' मूल्यों की बलि देकर भी 'व्यक्ति' के मूल्यों पर बल दिया गया है, यह एक महान् लाभ का सूचक हो सकता है। औद्योगीकरण के परिणामस्वरूप समाज में अनिवार्यतः ही काफी अधिक समानता आ जायगी।

परन्तु मशीन का बल देनेवाले औद्योगीकरण का परिणाम सामान्यतः यह होगा कि मन यांत्रिक बन जायगा तथा जीवन में 'उद्देश्य' तथा 'मूल्यों' की भावना कमज़ोर पड़ जायगी। किन्तु 'उद्देश्य' और 'मूल्यों' की खोज ही व्यक्तियों में अनुभव के नये उच्चतर गुण-धर्मों को प्रकट करने का साधन बनती है। ये नये गुण-धर्म मानवजाति के लिए विकास के नये विस्तृत मार्गों को खोल देते हैं तथा युग की हल न होनेवाली समस्याओं के समाधान भी प्रस्तुत करते हैं।

आज इस जगत् के, विशेषकर पश्चिमी जगत् के सम्मुख ऐसी ही समस्या उपस्थित है। सायंस ने आज शक्ति के उत्पादन के जो असाधारण साधन एवं स्रोत मनुष्य-जाति को प्रदान किये हैं, उनके बीच मनुष्य अपने-आपको अभूतपूर्व रूप में असहाय अनुभव कर रहा है। उसे ऐसा लग रहा है कि ठीक ये साधन ही संभवतः उसका विनाश करके सभी चीजों को मटियामेट कर देंगे। हम इतने यांत्रिक बन गये हैं कि हमें इस बात की संभावना तक नहीं दीखती कि अनुभव के कुछ ऐसे नये गुण-धर्म भी हो सकते हैं। उदाहरणार्थ, प्रेम, एकता की सजीव भावना आदि जो वर्तमान युग के विरोध में समन्वय साध सकते हैं, तथा जो आज के राष्ट्रगत द्वेष-भावों तथा विरोध-वैषम्यों का स्वास्थ्यकर समाधान कर सकते हैं।

यही भारत में प्राविधिक प्रगति का संकटपूर्ण सामाजिक भविष्य है। इसका रूप और भी तीव्र हो उठता है जब हम यह सोचते हैं कि भारत ने इधर हाल के कुछ वर्षों में ही अनुभव के कुछेक आश्चर्यजनक नये गुणों को प्रकट करके जाति की प्रगति में योगदान किया है। इन गुणों के कारण संसार में बहुत अधिक आशा उत्पन्न हो गई है। व्यक्ति पर तथा अनुभव के अनंत क्षेत्रों में व्यक्ति के साहसिक अभियान पर परम्परागत बल देने के कारण भारत से यह आशा की जा सकती है कि भविष्य में वह ऐसा योगदान और भी अधिक मात्रा में करेगा।

परंतु क्या औद्योगीकरण के परिणामस्वरूप मन का पूर्ण रूप से यांत्रिक बन जाना अवश्यंभावी है? हां, यदि शिल्प-विज्ञान को सांस्कृतिक प्रवृत्ति का मुख्य लक्ष्य स्वीकार कर लिया जाय तथा जीवन की अन्य सब प्रवृत्तियों को उसके अधीन रखकर गौण स्थान दिया जाय तो इस परिणाम से बचना संभव नहीं होगा।

वस्तुओं के यथार्थ विवेचन में शिल्प-विज्ञान जीवन-यापन की अधिक अच्छी अवस्थाओं को जन्म देने के लिए एक साधन भी है। ये अवस्थाएं प्राप्त हों तो जीवन को अपने उच्चतम मूल्यों का अधिक सफलतापूर्वक अनुसरण करने तथा उन्हें चरितार्थ करने में समर्थ होना चाहिए। इस प्रकार शिल्प-विज्ञान के मूल स्वरूप में ही ऐसी कोई चीज नहीं है जो स्वभावतः ही घृणाजनक हो।

यदि हमारा देश इन मूल्यों को अपनी दृष्टि में रक्खे तथा शिल्प-विज्ञान के साथ इनका उचित रूप में गठबंधन करे तो यह विज्ञान एक वरदान-ही-वरदान होगा तथा यह उस व्यापक दृष्टिक्षेत्र को भी प्राप्त कर लेगा, जिसकी इसे, समष्टि रूप से, सारे संसार के लिए इतनी अनिवार्य आवश्यकता है।

अन्न खाया ही नहीं जाता, खाता भी है। संयमी मनुष्य अन्न को खाता है; असंयमी मनुष्य को अन्न खाता है।

—बटुक भिक्खु

अछूता फूल

●● मोतीलाल जोतवाणी

यहां नाथू को हरेक पहिचानता है। छोटे-छोटे बच्चों, और बड़े-बूढ़ों की तो कोई बात नहीं, पर कुत्तियां, कुत्ते, गायें और बकरियां भी दूर से खिंचकर उसके यहां आती हैं। ऐसी है चुम्बकीय शक्ति इस व्यक्ति में। जानवरों को न जाने कहां से पता चल जाता है कि यह आदमी किसीका नुकसान पहुंचानेवाला नहीं है। यही कारण है कि वे बिना किसी झिझक और हिचक के, उसके सामने ही मिठाई के थालों में अपना मुंह डाल देते हैं। चिड़ियों को तो जैसे भगवान् से आज्ञा-पत्र मिला हुआ है कि जहां उनका जी चाहे, वहां चुगती फिरें। इर्द-गिर्द की चुहियां भी अपने नवजात बच्चे उसकी दुकान में छोड़ जाती हैं, क्योंकि उनको अज्ञात सूत्रों से विश्वास हो गया है कि उसी स्थान पर उनका निर्विघ्न पालन-पोषण होता रहेगा। नाथू है तो अकेला ही। परन्तु अनेक जीवों का अनजान ही में माता-पिता हो गया है।

वह लगभग चालीस वर्ष का होगा। उसके सिर के बालों के बीच लगभग पौन फुट लम्बी शिखा है, जो पिशौरी साफे के तुर्रे की तरह पीछे, गर्दन पर लटकी रहती है। उसके सिर के बाल काले हैं। लेकिन उसकी दाढ़ी में (वह दाढ़ी सप्ताह में एक बार मुंडाता है) सफेद बाल हैं, जो श्यामवर्ण मूंछों की अपेक्षा अधिक कान्तियुक्त लगते हैं। वह छरहरा है। मंझला कद है। यदि उसे हम राजस्थानी गेहूं के दाने की तरह मटियाला कहें तो अनुपयुक्त न होगा। यह मटियालापन केवल उसके चेहरे से ही स्पष्ट नहीं है, अपितु उसका आभास धोती और कमीज़ से भी होता है। वह अपने कपड़े महीने में एक बार अवश्य धुलाता है।

नाथू को यहां आये कोई साढ़े चार साल हुए हैं। पहले आठ महीने उसने किसी जल-आश्रम के निकट रहकर काटे। वहां नीम के बौर की सुगन्धि और खुली हवा ने उसके निस्तेज चेहरे में थोड़ी-सी लाली भर दी। शेष तीन साल और दस महीने वह एक छोटी कैबिन में रहा है। यह कैबिन उसने एक दलाल से साढ़े सात रुपये महीना किराये पर ली थी। वह दलाल नगरपालिका को उसके लिए केवल ढाई रुपये किराया देता है। इस नगर में कई ऐसे भले मानस हैं, जो नगर-पालिका के कार्यकर्ताओं से मिलकर दूसरों की कमाई पर अपना निर्वाह करते हैं। नाथू को इस माजरे का पता है। इसलिए जब दलाल उससे दस रुपये मांगने लगा तो उसने साढ़े सात से एक नया पैसा अधिक देना स्वीकार न किया। दलाल उससे अप्रसन्न है। नाथू जानता है कि इस बात पर उसकी जमी-जमाई दूकान उखड़ सकती है। लेकिन अन्याय के आगे सिर झुकाने के विचार-मात्र से उसका खून खौल जाता है और उसके मस्तिष्क में आंधी-सी खड़ी हो जाती है। इसलिए वह यह बात दस-एक बार आने-जानेवालों से करता है और अपने मन का भार हल्का करता है।

उसी कैबिन में दूकान खोलने के बाद उसने अठारह रुपये में एक काली बकरी खरीदी।

नाथू की दूकान से लगभग बीस गज़ दूर, रास्ते के उस पार जसपत की दूकान है। वह आदमी हर सुबह अपने माथे पर फीका टीका लगाये आता है और सौदा बेचने से पहले हिंदू-परंपरा के अनुसार दूकान की सफाई करता है, उसके भीतर पानी का छींटा देता है, कबूतरों के लिए अनाज, और चीटियों के आहार के लिए बाहरी दीवार की बुनियाद के पास आधा पाव चीनी डालता है। जसपत के घर में दो गायें भी हैं, जो इधर-उधर चरकर मुफ्त में दूध देती हैं। लेकिन उसकी दूकान के आगे जो खुले-आम नाज का ढेर लगा रहता है, उसमें यदि किसी गाय ने मुंह डाला तो लठिया से उसकी कमर तोड़ देता है। कहना न होगा, उसके धर्मानुसार गाय माता है और भूखी माता पर लाठियां बरसाना हिंसा है।

नाथू की बकरी को भी जाने कैसे सूझी कि उसने जसपत की दुकान के आगे लगे हुए गेहूं के ढेर की 'दावत' स्वीकार कर ली। उस समय जसपत उधार-नकदी का हिसाब पक्की बही पर दर्ज कर रहा था और उधर उसका नौकर वनस्पति-घी का डिब्बा खोलने में मग्न था। बकरी को भी अच्छा मौका मिल गया। कुछ मिनटों के बाद जब जसपत ने बही का पन्ना पलटा तो एक ही दृष्टि में जान गया कि लगभग आधी चौथाई नाज बकरी के पेट में जा चुका है।

निःस्संदेह यह परिमाण कबूतरों को दिये जानेवाले परिमाण से कहीं अधिक था। अतः उसने अनुमान किया कि बकरी ने अपना पेट उसके पेट पर लात मारकर भरा है। उसने नौकर को आवाज़ दी, "अबे, गोपू के बच्चे। अंधा है क्या? तुझे पता ही नहीं कि दूकान लुट गई?.."

सेठ की आवाज़ से गोपू चौंका। हथौड़ा और मेख फेंककर, दरवाजे की आड़ में रक्खी लठिया को लेकर बाहर निकला। बकरी को भी पता चल गया और वह दुम दबाकर भागी। फिर क्या था, आगे-आगे बकरी और पीछे-पीछे गोपू। दूकान के पिछवाड़े की परिक्रमा करने के बाद वे फिर उसी जगह पर आ पहुंचे कि गोपू की लठिया आकर बकरी के घुटने को लगी। वह मुंह की खाकर जा गिरी। इतने में नाथू की नज़र अपनी लाड़ली पर पड़ी। वह गरम कड़ाही में पकौड़ी को छोड़कर भागा। परन्तु कुछ लंगड़ा कर चलने के कारण इतना जल्द पहुंच न सका कि बकरी को गोपू की निर्दय मार से बचा सके। उस समय यदि बकरी के स्थान पर कोई उसके सिर पर लठिया जमा देता अथवा उसके ऊपर अकस्मात् दूकान की छत गिर जाती तो वह ऐसी हृदय-विदारक चीख़ न मारता। यह चिल्लाहट न थी, अपितु सुरंग से बारूद के फटने की आवाज़ थी, जिससे इर्द-गिर्द के लोग स्तंभित रह गये। बस, फिर तो बकरी के गले में बांहें डालकर ज़मीन पर बैठ गया। रोने-पुकारने लगा और गोपू को चुनौती पर चुनौती देने लगा कि वह उसके साथ हाथ आज़मा ले। कहने लगा, "मेरी बकरी ने तुम्हारा नाज खाया तो तुम मुझसे पैसे ले लो। तुम्हें क्या अधिकार है कि मेरी बकरी की टांग तोड़ो? बाहर आओ, तुम्हारी मरम्मत करूं।"

गोपू वैसे तो मल्ल है। लेकिन अपने नौकर-पने का विचार कर वह चुप हो गया। सोचने लगा कि नाथू दूकान-दार है और वह उसके जैसा कोई नौकर रख सकता है। नाथू दूकान का मालिक है और वह एक हेच नौकर, इस विचार ने गोपू को निर्बल बना दिया। उधर नाथू को इस बात पर क्रोध आने लगा कि वह सुनी-अनसुनी कर रहा है। इसलिए वह अपेक्षाकृत अधिक जोर से चिल्लाकर ललकारने लगा। लोग एकत्रित हो गये। उन्होंने देखा कि हल्का-फुल्का नाथू गोपू का मुकाबला न कर सकेगा। वे जान बूझकर नाथू को छेड़ने लगे। इतने में नाथू बकरी को बांहों में डालकर उठने लगा कि उसकी कमज़ोर टांग इतना भार-सह न सकी। वह गिर पड़ा और उसका गुलाबी साफा धरती पर गिरकर मिट्टी से सन गया। साफे का गिरना अपमान समझा जाता है। विशेषकर नाथू का साफा उसके मान का प्रतीक है। उसे उसपर गर्व है। यही कारण है कि कम-से-कम उसका साफा अवश्य साफ रहता है और गुलाबी रंग का होता है। अपने बाकी पहनावे के लिए वह सात गज़ कपड़ा लेता है। अकेले साफे के लिए सत्रह गज़। इसलिए उसके साफे का गिरना, राजा की ध्वजा के गिरने से किसी प्रकार कम न था। दर्शक इस बात को शीघ्र ताड़ गये। वे नाथू पर हँसी-ठट्ठा करने लगे। लेकिन उस भीड़ में एक ऐसा भी आदमी था जिसने नाथू को उसकी बकरी और साफे सहित दूकान पर पहुंचाया। कड़ाही में पड़े हुए पकौड़े जलकर कोयले हो गये थे। उस शाम नाथू ने कोई कमाई न की। खाना तक नहीं खाया। रात को दूकान के आगे दरी बिछा-कर बकरी को बगल में लिये सो गया। यदि कोई आदमी उसके निकट रहता तो नींद में भी उसकी सिसकियां सुनता।

हालांकि दुःख दलीलों और तर्कों से परे की वस्तु है, फिर भी नाथू के इतना शोक करने के लिए कारण थे। वह स्वयं अकेला था और पहली बार उसे बकरी के रूप में एक साथी मिला था। वह दूसरे साथियों से उकता सकता था, परंतु इस मूक प्राणी से ऊबने के लिए कोई भारी दलील चाहिए। वह जो रोटी खाता, उसे भी खिलाता। वह बकरी उसकी मां थी। उसे चाय के लिए दूध देती, दूध के द्वारा घी भी देती। वह उस घी को वैद्य के परामर्शानुसार रोटी और गुड़ में मिलाकर खाता। उसके अतिरिक्त वह बकरी उसकी पत्नी भी थी। कभी ऐसे क्षण भी आते जब वह उसके गले में बांहें डालकर, उसके शरीर से अपना शरीर सटाकर प्रेम की प्यास बुझाता। बकरी उसकी बेटी हो जाती, जब वह किसी थाल में मुंह डालकर मिठाई आदि खाती और उसके लाख मना करने पर और लाख पुचकारने पर भी अपना मुंह न हटाती। बकरी की बाल-सुलभ क्रियाओं से उसके हृदय में ममता-सी जग उठती थी।

बकरी उसके लिए समूचे परिवार की तरह है। फिर भी पिछले दो महीनों से नाथू के लिए एक उलझन पैदा हो गई

है। वह उस उलझन को जितना ही सुलझाने का प्रयत्न करता है उतना उलझता जाता है। बात यों है कि उसके पड़ौस में एक स्त्री है जो उसकी इच्छा के विपरीत उस के दिल और दूकान पर अधिकार करना चाहती है। वह नाथू से ढाई इंच लम्बी, हृष्ट-पुष्ट और मलाई के रंग की नारी है। उसका पति बीस साल पहले स्वर्ग सिधारा था और ससुरालवालों ने उसके गहने-कपड़े अपने पास रखकर उसे पीहर भेज दिया। कुछ समय बाद उसके माता-पिता चल बसे। और कोई भाई-भौजाई न होने के कारण वह अकेली रहती है। अब वह छत्तीस बरस की है। लेकिन उसके मुंह पर एक झुर्री नहीं है। कजरारी आंखों में वही चमक है, जो यौवन के निखार में देखी जा सकती है। उसके स्तन, जिनसे किसी शिशु नें अमृत-पान नहीं किया है, बंदगोभी की तरह गोल और सख्त हैं। वह परिश्रमशील स्त्री है। पड़ौसी देखते रहते हैं कि वह दो घड़े माथे पर और एक गागर कमर पर लिये सीना तानकर चलती है और सारा दिन अन्न और कपास साफ करती है, फिर भी थकान का अनुभव नहीं करती। उनको विश्वास है कि वह न केवल एक स्वस्थ सुन्दर स्त्री है, अपितु सत्यवती भी है। यही कारण है कि किसी लफंगे को उसके पास फटकने की हिम्मत नहीं होती।

यों तो यह पौरुषवाली स्त्री अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति स्वयमेव कर सकती है। परंतु एक दिन एक बूढ़े पड़ौसी ने उसे हँसी-हँसी में एक बात कही और उसके मन में साथी पाने की स्वाभाविक अभिलाषा अंगड़ाई लेकर जाग उठी। तबसे उसने नाथू के यहां झांकना शुरू किया। वह समझता है कि यदि उसे नाथू की तरह कोई कमाऊ, अहानिकर और सहिष्णु व्यक्ति मिल जाय तो उसके नीरस जीवन में एक नया रस आ सकता है और यदि कोई बच्चा उसकी गोदी में खेलने लगा तो जीवन सफल हो जायगा। वह एक नारी है और वैधव्य उसकी कोमल भावनाओं को अभी जला नहीं सका है। वह नाथू को अपना बनाने के लिए उसकी दूकान पर आती है और कभी-कभी कड़ाही की जलेबियां पलटने में उसकी सहायता करती है और संकेत में न जाने क्या-क्या कह जाती है।

नाथू जानता है कि चम्पा उसके यहां किस लक्ष्य को लेकर आती है। उसने उसके संबंध में पूरी जानकारी प्राप्त कर ली है। लेकिन उसे डर है कि वह चील उसे एक ही झटके में झकझोर देगी। हाल ही में उसने एक वैद्य के कहने पर छः महीनों से रक्खा हुआ घी और गुड़ खाना शुरू किया है। निःस्संदेह इससे उसकी हड्डियों में कोई शक्ति नहीं आयेगी, लेकिन उस वैद्य में उसका पूरा विश्वास है। इसलिए वह अपनेको पहले से कहीं अधिक स्वस्थ अनुभव करता है।

लेकिन बकरी भी तो है। उसके होते हुए वह किसी मनुष्य से प्रेम की आवश्यकता नहीं समझता। वह चम्पा को मुंह नहीं लगाता और उसके सम्मुख अपनी बकरी को दुलारता-पुचकारता है। वह उसे समझाने का प्रयत्न करता है कि उसके हृदय-प्रदेश की स्वामिनी बकरी है। चम्पा यह सब देखकर चुप हो जाती है और उसके इस अस्वाभाविक प्रेम पर विचारती रहती है। लेकिन वह दृढ़ है कि एक दिन नाथू को अपना बनाकर रहेगी।

नाथू के दिल पर डेरा डालने के लिए चम्पा और बकरी के बीच संघर्ष जारी था कि उपर्युक्त दुर्घटना हुई। अब चम्पा ने समझा कि बकरी की मौत हो जायगी, क्योंकि बकरी की औसत आयु मनुष्य की औसत आयु से कहीं कम है। यदि बकरी न भी मरी तो भी नाथू उस लंगड़ी बकरी की सेवा-शुश्रूषा करते-करते तंग आ जायगा और उसके प्रति मोह छोड़ देगा। वह जानती है कि बकरी नारी-सुलभ अदाओं-मुद्राओं से परिचित नहीं है और एक बार उसपर से मोह छूटा तो फिर वह नाथू पर काबू पा न सकेगी। परंतु तथ्य इसके विपरीत था। वह एक प्रकार का औपन्यासिक ढंग अपना चुका था। साधारणतः चम्पा की दलीलें दोषपूर्ण न थीं। लेकिन वह भूल रही थी कि तथ्य एकांगी नहीं होता। नाथू स्वयं लंगड़ा था। छुटपन में चोट खाने के बाद वह सारी उम्र लंगड़ाता रहा है। संभवतः यही कारण था कि जब उसकी बकरी की टांग को मोच आ गई तो उसे अच्छी तरह मलने-दाबने लगा। उसे अपने बचपन की याद आने लगी। इससे उसमें बकरी के प्रति प्रेम के साथ-साथ सहानुभूति का उदय भी हुआ था। वह सोचने लगा कि वे दोनों दुर्भाग्य-ग्रस्त हैं और उनको अंत तक एक-दूसरे का साथ निभाना चाहिए। जिनपर एक-सी मुसीबत टूटती है, वे एक-दूसरे का साथ क्यों कर छोड़ेंगे? नाथू दूकान का काम छोड़कर बकरी की चाकरी करने लगा। लोग आश्चर्य-चकित थे।

कुछ तो उसपर व्यंग्य कसने लगे । कुछ उसके कोमल हृदय की तारीफ करते थे ।

इस तरह दो सप्ताह बीत गये। एक दिन चम्पा को एकाएक विचार आया कि वह स्वयं बकरी की सेवा करे और नाथू के दुर्दिन में उनकी सहायता करे। कहते हैं कि नारी-जाति की प्रेरणा व्यर्थ नहीं जाती। पहले तो नाथू चम्पा को बकरी के निकट फटकने नहीं देता था, क्योंकि वह चम्पा की आंखों में सौतिया-डाह के भाव को पढ़ चुका था। लेकिन उसने जब देखा कि वह बकरी के स्वास्थ्य-लाभ के लिए अथक प्रयत्न कर रही है और दूर-दूर के लोगों से परामर्श ले आती है तो उसने बकरी की तीमारदारी चम्पा को सौंप दी। इस बात को भी दस दिन हो गये हैं। इस छोटी-सी अवधि में नाथू के विचारों में परिवर्तन आया है। बल्कि ऐसा कहना चाहिए कि उसके जीवन का लम्बा हेमंत पिछल रहा है। अब वह चम्पा से मीठा बोलता है। जब वह बकरी की टांग मलती है तो नाथू की दृष्टि चम्पा के सुन्दर चेहरे पर जा पड़ती है। अब उसकी आंखों से शुष्क हृदय नहीं झांकता। अब उसमें प्रेम के प्रभात के चिह्न दृष्टिगोचर होते हैं। ऐसा लगता है मानों पूर्व में दूध की नदियां बह निकली है। ऐसी दशा में कैसे कहें कि यह बकरी उन दोनों के जीवन के संगम का सहारा न होगी और वह अछूता फूल कल भी अछूता रहेगा? कैसे कहें?

आषाढ़-संध्या

रवीन्द्रनाथ ठाकुर

डूबते दिन—
सघन हो आई अधिक; आषाढ़-संध्या
सृष्टि बंधन-हीन,
वृष्टि धारा झरे झर-झर!
मैं अकेला बैठ घर के किसी कोने
सोचता हूं;
वायु भीगी, यूथिका बन में सलोने—
कौन-सी कहती कथा जाकर?
हृदय में उठतीं तरंगे
खोज पाता हूं न कोई कूल,
आज प्राणों को रुलाते—
धुले सौरभ, धुले बन के फूल!
इस अंधेरी रात के सारे प्रहर ये
कौन भर स्वर-तान दूं, जायें लहर ये?
कौन-सी वह भूल, जिसमें भूल सबकुछ?
प्राण आकुल आज आये भर!

अनु०—हरीश

संस्कृति के दो रूप

●● इन्द्रचन्द्र शास्त्री

प्राचीन भारतीय साहित्य में संस्कृति या संस्कार शब्द के दो अर्थ मिलते हैं। पहला अर्थ बौद्ध साहित्य में पाया जाता है, जिसका तात्पर्य है मिलकर रहना। पाली भाषा में इसे 'संघार' कहा गया है जो कि संस्कार का बिगड़कर बना है। दूसरा अर्थ पाणिनि ने अपने व्याकरण में दिया है, जिसका अर्थ है भूषण या सजाना। वास्तव में देखा जाय तो संस्कार शब्द का मूल अर्थ मिलकर करना ही है। हिन्दू धर्म में संस्कार उन अनुष्ठानों को कहा गया है, जिन्हें समाज के लोग मिलकर करते हैं। मिलकर वे ही कार्य किये जाते हैं, जो एक-दूसरे को अच्छे लगते हैं। परिणामस्वरूप संस्कार का अर्थ सजाना या आभूषित करना बन गया। संस्कृति शब्द भी उन सब कार्यों का बोधक है, जिन्हें व्यक्ति दूसरों के सामने रखकर आनन्द एवं अस्मिता का अनुभव करता है, जिन्हें करने में उसे लज्जा या हीनता का अनुभव नहीं होता।

विश्व की सांस्कृतिक परंपराओं के ऐतिहासिक अध्ययन से हमारे सामने संस्कृति के दो रूप उपस्थित होते हैं। पहला क्रिया-प्रधान रूप है, जहां जीवन के प्रत्येक पहलू का क्रिया के साथ संबंध है। उस समय व्यक्ति प्रगतिशील रहा है और एक जगह बैठकर अपनी प्रशंसा सुनने या दूसरे का गुण कीर्तन करने के स्थान पर उसने किसी रचनात्मक कार्य में लगे रहना अधिक पसन्द किया है। दूसरा गुण-प्रधान रूप है, जहां व्यक्ति अपनी उपार्जित सम्पत्ति या प्रगति से संतुष्ट रहा है और आगे बढ़ना वन्द करके अपने अतीत का गुणगान चाहता है। भाषा, धर्म, दर्शन, साहित्य, कला, वेश-भूषा, रहन-सहन आदि जीवन के प्रत्येक पहलू में उपर्युक्त दोनों रूप स्पष्ट दिखाई देते हैं। यदि स्पष्ट शब्दों में कहा जाय तो प्रथम रूप व्यावसायिक मनोवृत्ति को प्रकट करता है और दूसरा सामन्तवादी मनोवृत्ति को। प्रस्तुत लेख में भारतीय संस्कृति को सामने रखकर इन्हीं दो रूपों का कुछ विवेचन किया जायगा।

मीमांसा दर्शन में वेदों का अर्थ करते हुए बताया गया है कि वेद के प्रत्येक वाक्य का संबंध किसी क्रिया के साथ है। जो वाक्य केवल प्रशंसा मात्र हैं और किसी क्रिया के विषय में विधि या निषेध नहीं करते, उन्हें भी क्रियाबोधक वाक्यों के साथ जोड़ देना चाहिए अन्यथा वे निरर्थक माने जायंगे। धर्म का अर्थ है 'कुछ करना'। ऋग्वेद तथा यजुर्वेद में धर्म का यही रूप मिलता है। उपनिषदों में यही रूप सत्य की खोज में बदल गया, जहां व्यक्ति विश्व के निगूढ़तम रहस्य को जान लेना चाहता है। जैन धर्म और बौद्ध धर्म ने उस रूप को नैतिक सदाचार के रूप में उपस्थित किया। उन्होंने बताया कि उपनिषदों का ईश्वर हमारा अपना ही रूप है और साधना उस रूप को प्राप्त करने का मार्ग। अतः साधारण व्यक्ति ही साधना करता हुआ जिन या बुद्ध बन जाता है।

किन्तु कालान्तर में धर्म का रूप बदल गया। ईश्वर के स्थान पर एक ऐसा तत्व आ गया, जो साधारण व्यक्ति की पहुंच से परे है और परे ही रहेगा। मनुष्य कितनी ही उत्कट साधना करे, उस स्थान को नहीं प्राप्त कर सकता। वह उसका दरबारी बन सकता है, किन्तु उसके समकक्ष या तद्रूप नहीं हो सकता। उसका कल्याण इसीमें है कि और सबकुछ छोड़कर निरन्तर उसीका गुण-गान करता रहे। यहां कर्तव्य के स्थान पर श्रद्धा पर अधिक बल है। वैदिक आर्य स्तुति करता है—

"परमात्मा, हमारी एक साथ रक्षा करे, एक साथ पालन करे, हम लोग मिलकर साहसपूर्ण कार्य करें, हमारा अध्ययन तेजस्वी बने, हम लोग सौ साल तक जीयें, सौ साल तक सुनते तथा देखते रहें, हमारी इन्द्रियां अक्षुण्ण बनी रहें। हे भगवन्! हमें असत् से सत् की ओर, अंधकार से प्रकाश की ओर तथा मृत्यु से जीवन की ओर ले जाओ।" दूसरी ओर भक्तिकाल का कवि कहता है—

या लकुटी अरु कामरिया पर।
राज तिहों पुर को तजि डारों॥
चंदन-चर्चित नीलकलेवर, पीतवसन वनमाली।
केलि चलन मणि कुण्डल मंडित, गण्डयुगस्मित शाली॥

उपर्युक्त दो प्रकार की आराधनाओं पर ध्यान देने से ज्ञात होता है कि भक्ति-काल में ईश्वर ऐसा तत्व बन गया, जो

मनुष्य की पहुंच के बाहर था। यहां मनुष्य भी मनुष्य की पहुंच के बाहर हो गया। मानव ने चरम लक्ष्य के रूप में अपने जिस आदर्श रूप की कल्पना की थी, भक्ति ने जहां उसे स्थूल एवं साकार रूप दिया, वहीं उसे 'स्वामी' और 'आराध्य' बनाकर भेद की दीवार भी खड़ी कर दी।

ईसा के पूर्व तथा उसके पश्चात् कुछ शताब्दियों तक दर्शन जीवन का अंग रहा है। उसे सामने रखकर जीवन का निर्माण किया जाता था। उपनिषद्, जैन आगम, बौद्ध-त्रिपिटक तथा महाभारत में दर्शन का यही रूप मिलता है। भगवद्गीता भी उसीको प्रकट करती है। परन्तु ईसा की पांचवीं शताब्दी के पश्चात् दर्शन जीवन से अलग हो गया। वह शास्त्रार्थ एवं साम्प्रदायिक अस्मिता की वस्तु बन गया। उस समय दार्शनिकों का बल कर्त्तव्याकर्त्तव्य को छोड़कर स्वरूप निर्णय पर हो गया। ईश्वर, आत्मा, जगत् का कारण, प्रमाण का स्वरूप, उसके भेद, अनुमान-प्रणाली आदि शुष्क विषयों पर चर्चा होने लगी और वह भी तत्व-निर्णय की दृष्टि से नहीं किन्तु प्रतिवादी को शास्त्रार्थ में पराजित करने की दृष्टि से।

भाषा का इतिहास भी उन दोनों रूपों को प्रकट करता है। व्यापारी, कारीगर, मजदूर, किसान तथा अन्य कर्मशील व्यक्तियों की भाषा क्रिया-प्रधान होती है। वे किसी व्यक्ति या मशीन का विशेषणों द्वारा वर्णन करने के स्थान पर यह कहना अधिक पसन्द करते हैं कि अमुक व्यक्ति या यंत्र कार्य विशेष को सिद्ध कर सकता है या नहीं। इसके विपरीत साहित्यिकों की भाषा गुण या विशेषण-प्रधान होती है। वे वर्तमान के स्थान पर अतीत अथवा भविष्य में विचरण करते हैं और क्रिया जड़ीभूत होकर विशेषण का रूप ले लेती है। संस्कृत में वेद, ब्राह्मण तथा पाणिनि की भाषा क्रिया-प्रधान रही है। उस समय संस्कृत बोल-चाल की भाषा थी और उसका दैनन्दिन व्यवहार के साथ साक्षात् सम्पर्क था। धीरे-धीरे वह जीवन से अलग होती गई और राजा महा-राजाओं की सम्पत्ति के समान वैभव-प्रदर्शन की वस्तु बन गई। उस समय क्रियाओं का स्थान विशेषणों ने ले लिया। सुबन्धु, दण्डि, बाणभट्ट तथा धनंजय की कृतियों में यही रूप मिलता है, जहां अतिशयोक्तिपूर्ण विशेषणों की भरमार है और क्रिया केवल आसीत् ('था' या 'थी') के रूप में रह गई है। वह भी कहीं बीसियों पंक्तियों के पश्चात् जाकर मिलती है।

कालान्तर में जब अपभ्रंश अर्थात् बिगड़ी हुई संस्कृत ने बोलचाल की भाषा का रूप लिया तो वे ही विशेषण बिगड़-कर फिर क्रिया-पद बन गये। उदाहरण के रूप में 'किया', 'खाया', 'पीया' आदि 'कृत', 'खात', 'पीत' आदि विशेषणों के बिगड़े हुए रूप हैं।

वर्तमान वेश-भूषा तथा रहन-सहन को देखने से यह बात और भी स्पष्ट रूप में सामने आती है। कमर में तलवार बांधे रखना किसी समय आवश्यक था। क्षत्रिय या राज-वर्गीय पुरुष जबतक कमर में तलवार न बांधे, उसकी वेश-भूषा अपूर्ण समझी जाती थी। उस समय उसकी उपयोगिता निर्वि-वाद थी। परन्तु अब वही आभूषण मात्र रह गई है। छत्र का उपयोग धूप एवं वर्षा से बचने के लिए तथा चंवर का उप-योग मक्खियां उड़ाने के लिए प्रारंभ हुआ होगा। किन्तु अब वे राजचिह्न बन गये हैं। प्राचीनकाल में राजा के साथ अंगरक्षकों का रहना तथा उसके आगे-पीछे सैनिकों का चलना युद्धकाल में राजा की प्राण-रक्षा के लिए आवश्यक था, किन्तु अब वे केवल शोभा की वस्तु रह गये हैं।

स्त्रियों की वेश-भूषा देखने पर तो आश्चर्य होता है। जो वस्तु किसी दिन लज्जा और अपमान के रूप में अपनाई गई, आज वह कुलीनता एवं गौरव का चिह्न मानी जाने लगी है। प्राचीन समय में युद्ध के पश्चात् अनेक स्त्रियों को बन्दी बना लिया जाता था और विजयी राजा एवं सामन्त उन्हें बलपूर्वक अपने अन्तःपुर में रख लेते थे। ऐसी स्त्रियां लज्जा एवं अपमान के रूप में अपने मुंह पर कपड़ा ढंक लेती थीं, जिससे उन्हें कोई देखने न पाये। उसीका वर्तमान रूप घूंघट है, जो कि कुलीनता का चिह्न एवं विनयशील स्त्री का आभूषण माना जाने लगा है। पैरों तथा हाथों के भारी जेवर बेड़ियों तथा हथकड़ियों के अवशेष हैं। बहुत-से प्रान्तों में नाक के आभूषण के रूप में नथ पहनी जाती है। संभव-तया यह भी बंधन के रूप में डाली जानेवाली नकेल का अव-शेष है। हम यह नहीं कहना चाहते कि समस्त आभूषण इसी प्रकार के हैं और उनमें सौन्दर्य का कोई तत्व नहीं है। गले का हार, तिलक आदि कुछ आभूषण वास्तव में सौन्दर्य के प्रतीक हैं। किन्तु सभी आभूषणों के लिए ऐसा नहीं कहा

जा सकता।

राजस्थान में बड़े घरों की स्त्रियां जब बाहर निकलती हैं तो दासियां उनपर मंडप ताने रहती हैं, जिससे उनका कोई अंग बाहर न दिखाई दे। संभवतया यह प्रथा सामंतवादी युग में बंदी स्त्रियों को एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाने के लिए चलाई गई होगी। विजयोन्मत्त सामन्तों के के लिए यह प्रथा भले ही मिथ्या अस्मिता की वस्तु रही हो किन्तु उन स्त्रियों के लिए तो घोर अपमान स्वरूप थी। किन्तु आज वही स्त्रियों के लिए कुलीनता एवं गौरव का चिह्न बन गई है। उसके बिना चलनेवाली स्त्री छोटे घर की मानी जाती है।

काव्य, संगीत, चित्र, स्थापत्य आदि कलाओं में भी उपर्युक्त दोनों रूप मिलते हैं। एक वर्ग यह मानता है कि काव्य का लक्ष्य व्यक्ति को ऊंचा उठाना है। चाहे वह उपदेशात्मक शब्दों का साक्षात् प्रयोग न करे फिर भी अपनी व्यंजनात्मक शैली में उच्च आदर्श को ही आकर्षक ढंग से उपस्थित करता है। दूसरा वर्ग जो काव्य को अपने-आपमें लक्ष्य मानता है। प्रथम वर्ग ध्वनि या रस पर बल देता आया है और दूसरा वर्ग उक्ति-वैचित्र्य पर। पहला वर्ग साहित्य को जीवन का प्रेरक मानता है और दूसरा अपनी विद्वत्ता का प्रदर्शन करने का साधन। पहली परम्परा में युग-निर्माता कवि हुए, जिन्होंने सर्व-साधारण के जीवन को बदल दिया। दूसरी परम्परा में वे दरबारी कवि हुए, जिनका लक्ष्य राज-दरबार में वाहवाही लूटना और राजा को खुश करके इनाम पाना था। इसी प्रकार संगीत, स्थापत्य आदि कलाओं की प्रगति अथवा अवनति इन्हीं दो रूपों में हुई है।

आधुनिक विज्ञान युग में ज्यों-ज्यों यंत्रों का विकास हो रहा है, मानव बुद्धिवादी बनता जा रहा है। यात्रा, भोजन, कृषि, गृह-निर्माण, युद्ध आदि जिन कार्यों के लिए उसे शारीरिक श्रम करना पड़ता था वे सब यंत्रों द्वारा अनायास ही सिद्ध होने लगे हैं। प्राचीन समय में जैसा कि ऊपर बताया गया है संस्कार शब्द का अर्थ था मिलकर करना। उस समय जीवन के सभी महत्वपूर्ण कार्यों में एक साथ मिलकर करने की अनिवार्य आवश्यकता थी और उसी आधार-शिला पर सामाजिक एवं पारिवारिक जीवन के प्रासाद खड़े हुए। किन्तु अब वह आधारशिला उत्तरोत्तर दुर्बल होती जा रही है। हमें अपनी आवश्यकता-पूर्ति के लिए दूसरे व्यक्ति की इतनी आवश्यकता नहीं है जितनी मशीन की। इतना ही नहीं, मनोरंजन के लिए भी दूसरे व्यक्ति को साथी बनाना आवश्यक नहीं रहा। संगीत, नृत्य, नाट्य आदि सभी मनोरंजन यंत्रों द्वारा प्राप्त हो सकते हैं। परिणामस्वरूप व्यक्ति और व्यक्ति में जो परस्पर सद्भावना एवं हृदय का बंधन था, वह उत्तरोत्तर शिथिल हो रहा है।

एक अमरीकी लेखक ने भावी मानव का चित्र उपस्थित करते हुए लिखा है—उसका सिर बहुत बड़ा होगा। हाथ और पैर शिथिल होंगे। छाती सिकुड़ी हुई, दिनरात चिन्तन में लगा होगा। भोजन के लिए उसके मुंह में एक गोली डाल दी जायगी और वह कई दिनों के पोषण के लिए पर्याप्त होगी। उसे अपने हाथ से काम करने की आवश्यकता नहीं रहेगी और न पैरों से चलने की। बटन दबाते ही समस्त साधन-सामग्री सुलभ हो जाया करेगी।

हम नहीं समझते कि मानव जिस दिन उपर्युक्त स्थिति पर पहुंच जायगा, उसे विकास कहा जायगा या ह्रास। वास्तव में देखा जाय तो कर्म और बुद्धि के समन्वय का नाम जीवन है। संस्कृति का स्वस्थ रूप भी वहीं हो सकता है। दोनों के समन्वय से ही आनन्द की सृष्टि होती है। सांख्य दर्शन में इसीको अंध-पंगुन्याय कहा गया है। ज्ञान के बिना क्रिया अंधी है और क्रिया के बिना ज्ञान पंगु है। जीवन के लिए इन दोनों का मेल आवश्यक है। दोनों ज्यों-ज्यों एक-दूसरे से दूर होंगे, जीवन विकल होता जायगा और आनन्द की मात्रा घटती जायगी।

महात्मा बसवेश्वर

शंकरराव कप्पीकेरी

युग-प्रवर्त्तक महात्मा बसवेश्वर बारहवीं शताब्दी के एक-मात्र युग-द्रष्टा, सजग प्रहरी और साहित्य के क्षेत्र में भविष्य-स्रष्टा थे। बसव भक्ति भण्डारी, पथ-प्रदर्शक, महान साधक, समाज-सुधारक, दण्डनायक, अस्पृश्योद्धारक, नारी-स्वातंत्र्य के प्रणेता, विश्व-मानव, महान् तत्वदर्शी, चतुर राजनीतिज्ञ, स्वामीनिष्ठ सेवक, अर्थ-शास्त्रज्ञ, प्रजातंत्र के रक्षक और विश्व-साहित्यिक थे। वह बाह्याडंबर, बहु-देवोपासना, कर्मकाण्ड, व्रत-उपवास, तीर्थ-यात्रा, मूर्ति-पूजा, हिंसा, वर्ण, जाति, लिंग और वर्ग के कट्टर विरोधी थे।

धार्मिक, सांस्कृतिक, सामाजिक और आर्थिक क्षेत्र में युगान्तर लानेवाले विश्वात्मा बसवेश्वर का जन्म, कर्नाटक राज्य के बीजापुर जिले में, बागेवाडी के जागीरदार मादरस की पत्नी मादलाम्बिका के गर्भ से हुआ। उनके माता-पिता शिव-भक्त और शैव ब्राह्मण थे। कहा जाता है कि बसव के जन्म के बाद ही जात वेद मुनि द्वारा उन्हें लिंग दीक्षा दी गई। राजभवन में ही उन्हें कन्नड़ तथा संस्कृत की शिक्षा दी गई। बाल्यकाल से ही उनमें 'होनहार बिरवान् के होत चीकने पात' के लक्षण दिखाई दे रहे थे। शैव ब्राह्मण होने के कारण आठ वर्ष की आयु में उनके माता-पिता ने वैदिक पद्धति से उनका यज्ञोपवीत संस्कार करने का प्रयास किया परंतु बसव ने इसे कर्मलता कहकर अस्वीकार किया। लिंग दीक्षा के बाद उपनयन संस्कार करने की पद्धति को असैद्धान्तिक सिद्ध करके गृह-त्याग किया। उस समय उनकी बहन नागलाम्बिका ने भी बसव का अनुसरण किया।

कृष्णा तथा मल प्रभा के पवित्र संगम-स्थान पर स्थित श्री गुरु जातवेद मुनि के गुरुकुल में प्रविष्ट होकर शास्त्रोक्त विद्याध्ययन किया। सब लोग उनकी कुशाग्र बुद्धि, आध्यात्मिक तत्वों की गूढ़ता, नैतिक चेतावनी की मार्मिकता से प्रभावित थे। संगमनाथ की आज्ञा से ही उन्होंने गृहस्थ-जीवन को अपनाया। प्रधान मंत्री बलदेव की पुत्री गंगाम्बिका और मंत्री सिद्धण्ण की कन्या निलाम्बिका के साथ बसव का विवाह हुआ। बसव की विद्वत्ता, धर्मपरायणता, विह्वलता और लोक-कल्याणकारी सद्वृत्तियों की ख्याति से प्रभावित होकर ही राजा बिज्जल ने बलदेव की मृत्यु के बाद उन्हें अपना प्रधान मंत्री बनाया। राजा का उनपर पूर्ण विश्वास था। बिज्जल उदार-हृदयी, विद्या-प्रेमी और प्रजावत्सल राजा थे।

बसव की प्रतिभा, धैर्य, स्थैर्य और आत्म-तेज का जन-समुदाय पर गहरा प्रभाव पड़ा। उन्होंने अत्यन्त दक्षता से राज्य का कार्यभार संभाला। उनके जिम्मे अर्थ, सुरक्षा और राज्य-प्रशासन के विभाग थे। प्रजा के कल्याणार्थ उन्होंने जनता पर भारी कर न लगाते हुए राज्य की बहुमुखी प्रगति में योग दिया। ग्रामोद्योगों को प्रोत्साहित करके वर्गहीन समाजवाद की स्थापना की। मानव के अधिकारों और कर्तव्यों की सूझ-बूझ जनता में पैदा करके एक आदर्श समाज की प्रतिष्ठापना की। ग्रामों को हर दृष्टि से स्वावलम्बी बनाने में उन्हें सफलता मिली।

वीर शैव धर्मोद्धारक बसव ने सत्य, सेवा, समता, स्वार्थ त्याग, सहअस्तित्व, विश्व-बंधुत्व आदि गुणों से अभिभूत होकर अध्यात्म चिन्तन और वाद-विवाद के हेतु शिवानुभव मंटप की स्थापना की। जिसके संचालक युग-पुरुष और भक्ति भंडारी बसवेश्वर, अध्यक्ष वैराग्य-मूर्ति अल्लम प्रभुदेव और व्यवस्थापक षट्स्थल ज्ञानी चन्न बसव थे। इस आध्यात्मिक विश्व मंटप में अनुभवी, ज्ञानी और त्यागी पुरुष जाति, वर्ण, लिंग, वर्ग आदि के भेदभाव को छोड़कर सक्रिय भाग लेते थे। उड़ीसा, बंगाल, काश्मीर, नेपाल, गुर्जर, चोल, पांड्य आदि प्रदेशों के संतों ने इस पुनीत कार्य में योग दिया।

अनुभव-मंटप के अध्यक्ष-पद को शून्य सिंहासन कहा जाता था, जिसके अध्यक्ष योगिराज अल्लम प्रभुदेव थे। इस विश्व-संस्था की संख्या तीन सौ के लगभग थी, जिनमें साठ महिलाएं थीं। इनमें काश्मीर के भूतपूर्व राजा मोलिगे मारय्य, दक्षिण के राजा सकलेश मादरस, शिवयोगी सिद्धराम, मरुल शंकरदेव, एकान्त रामय्य, मडिवाल माचय्य, महायोगिनी अक्क महादेवी, सत्यक्क, मुक्तक्क, गंगाम्बिका, निलाम्बिका, नागलाम्बिका और काश्मीर की महादेवी

विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। उन्हें अपनी रोटी का प्रबंध कोई-न-कोई कायक (उद्योग) करके स्वयं को ही करना पड़ता था। सभी शरण एक दूसरे को अण्ण (भाई) और अक्क (बहन) से संबोधित करते थे। राजा, व्यापारी, धनी, जुलाहा, दर्जी, तेली, वैद्य, धोबी, नाविक, सुनार, चमार, मोची, शिकारी, नाई आदि अनुभव मंटप के सक्रिय सदस्य थे।

बसव ने अज्ञान, अंध-श्रद्धा, विचार-शैथिल्य, अंधानुकरण से मुक्ति दिलाकर भक्ति, समता, बंधुत्व, सत्य-निष्ठा, कर्मठता आदि पर आधारित समाज निर्मित करने का अहर्निश प्रयत्न किया। चोरों को सन्मार्ग पर लगाकर उद्योग करने की प्रेरणा दी। जातिभेद की भावना को उन्होंने तिलांजलि दी थी। वर्णाश्रम-धर्म को गलत बताकर अस्पृश्य और ब्राह्मण के बीच आत्मीय संबंध जोड़ने के उद्देश्य से ही बसव ने हरलय्य नामक चमार के पुत्र से ब्राह्मण कुलोत्पन्न मंत्री मधुवय्य की पुत्री का विवाह संपन्न किया। उनके विरोधी मंत्री कोंडी मंचण्णा, मादरस तथा अन्य लोगों ने राजा बिज्जल को अन्तरजातीय विवाह के खिलाफ उकसाया, जिसके फलस्वरूप बिज्जल ने हरलय्य और मधुवय्य की आंखें निकलवाकर हाथी के पैर के नीचे कुचलवाया। इससे पूर्व ही बसव ने राजा बिज्जल के इस घोर अन्याय के विरुद्ध चेतावनी दी। राजा ने बसव की बात न मानी तो उन्होंने प्रधान मंत्री पद से त्याग-पत्र दिया और उसके राज्य की सीमाओं को पार करके अपने आराध्य देव संगमेश्वर में ऐक्य हुए। इधर चन्न बसव के नेतृत्व में शिवशरणों पर किये गए अन्यायों का बदला जगदेव और बोमय्य ने लिया। राजा बिज्जल की हत्या होने के बाद कल्याण में महान् लोक-क्रांति हुई और अनुभव मंटप के सभी सदस्य अपनी-अपनी सुविधानुसार विभिन्न स्थानों को चले गये।

कायकोपासक बसव का व्यक्तित्व बहुमुखी था। वह विनम्रता की प्रतिमूर्ति थे। वह विश्व के प्रथम सामाजिक विचारवान् पुरुष थे। वह कट्टर एकेश्वरवादी थे। वह कायक को कैलास, देह को देवालय, आचार को स्वर्ग, अनाचार को नरक और अहिंसा को धर्म का मूल समझते थे। बसव ने विश्व को महान् संदेश दिया है कि 'चोरी मत करो, हिंसा मत करो, झूठ मत बोलो, गुस्सा मत करो, किसीपर नाराज होकर अपनी अप्रसन्नता प्रकट मत करो, अपनी स्तुति मत करो, दूसरों की निंदा मत करो। एक परमेश्वर के सिवा अन्य देवों का स्मरण करना व्यभिचार है। देवता केवल एक ही है और वह सबका परमेश्वर है। आत्मा ही परमात्मा है। परमात्मा हृदय की भक्ति से ही प्रसन्न हो सकते हैं। परस्त्री और परधन की वासना को तिलांजलि देने पर ही आत्म-शुद्धि संभव है। ईश्वर भक्तों को संतुष्ट करना ही आतिथ्य है, अछूतोद्धार ही मानव-उद्धार है।

बसव ने अपने वचनों से कन्नड़ साहित्य को अमर बना दिया है। उनके वचनों में मानव-हृदय की विशुद्ध पुकार है। उनका संपूर्ण साहित्य मानव-कल्याणप्रद है। उनकी भाषा सरल, स्वाभाविक, प्रभावोत्पाक तथा प्रसाद गुण युक्त है। विश्व-साहित्य में उनके वचन उज्ज्वल रत्न हैं। साधारण जनता के हृदय की वाणी का प्रमुख वाहन कन्नड़ भाषा में ही वचनों की रचना की है। उनकी वाणी में विचारों की उच्चता, अभिव्यक्ति की सरलता एवं सरसता है। उनमें सहज गति, लय और संगीत का समावेश हुआ है। बसव ने षटस्थल वचन, काल-ज्ञान-वचन और मंत्र गोप्य नामक ग्रंथों की रचना की है।

विश्व-संत बसवेश्वर में आर्यों का ज्ञान, द्रविड़ों की भक्ति, जैनों का अहिंसावाद, बौद्धों का समतावाद, सिखों का वीरत्व आदि का सुन्दर समन्वय हुआ है। राष्ट्रपिता महात्मा गांधी और राष्ट्रीय संत आचार्य विनोबा भावे ने भी बसव के कार्यों को ही किया है। सारा संसार उनको सृष्टि के रहने तक स्मरण करता रहेगा।

●

वो जागते हैं जो दुनिया को ख़्वाब समझते हैं। —अनीस

●

हमारी धरोहर

●● सुशील

(१५)

अहम् मनुष्य का सबसे बड़ा शत्रु है। स्वामी रामतीर्थ इस संबंध में अनेक सुन्दर कहानियां प्रतीक रूप में सुनाया करते थे। एक बार अपने मधुर भाषण में उन्होंने निम्नलिखित दो कहानियां सुनाईं।

किसी समय में एक ऐसा चतुर मनुष्य था कि वह अपने-आपको अनेक रूपों में बदल सकता था। उसके वे रूप इतने सच्चे होते कि असली और बनावटी रूप में पहचान करना बहुत ही कठिन था। एक बार उसे पता चला कि यमराज के दूत उसे लेने आ रहे हैं। वह संकट में पड़ गया और सोचने लगा कि उनसे बचने का क्या उपाय करना चाहिए। अन्त में उसने एक उपाय ढूंढ ही निकाला। उस उपाय के लिए उसकी जितनी प्रशंसा की जाय उतनी ही थोड़ी। उसने अपने अलग-अलग एक दर्जन रूप धारण किये। जिस समय यमदूत आया तो वह चकित रह गया। वह यह न जान सका कि जिस व्यक्ति को मैं लेने आया हूं, वह इनमें कौन-सा है। बहुत परेशान होकर वह वापस यमलोक को लौट गया। और यमराज से सबकुछ निवेदन करके उसने पूछा, "असली व्यक्ति को पहचानने के लिए मैं क्या करूं?"

यमराज ने चुपचाप उसके कान में कुछ कहा और वह फिर पृथ्वी पर लौट आया। वह वहीं पहुंचा, जहां एक दर्जन रूप धारण किये वह व्यक्ति बैठा था। वहां पहुंचकर उसने कहा, "प्रियवर! तुम सचमुच बहुत ही चतुर हो। नाना रूप धारण करने की विद्या तुम्हें खूब आती है। तुम सिद्धहस्त हो। कोई भी व्यक्ति, यहांतक कि मैं भी इस कला में तुम्हारा मुकाबला नहीं कर सकता। लेकिन, मेरे मित्र, तुम एक गलती कर गये। बस जरा-सी, त्रुटि रह गई।"

यह सुनकर एक दर्जन रूप धारण करनेवालों में जो वास्तविक व्यक्ति था, वह झट उछल पड़ा और उसने एकदम पूछा, "वह क्या त्रुटि रह गई है। किस बात में मैंने गलती की है?"

यमदूत बोला, "इसी बात में।"

अब तो वह व्यक्ति सबकुछ समझ गया। क्योंकि शेष मूर्तियां तो मूक थीं। उसका यह पूछना कि 'मैंने कहां गलती की' ही वास्तविक गलती थी। उसका अहम् जाग पड़ा था और वह यह नहीं चाहता था कि वह पराजित हो।

इसी प्रकार इस पूछनेवाले के सिवाय तुम असल में और कौन हो सकते हो। कर्ता-भाव का अभिमान ही अहम् है और यह अहम् ही मनुष्य को मृत्यु रूप यमराज के वश में कर देता है।

दूसरी कहानी इस प्रकार है:

एक समय इस देश में बहुत भयंकर अकाल पड़ा। चारों ओर हाहाकार मच गया। असंख्य नरनारी मृत्यु के कराल पंजे में फंसकर तड़फड़ाने लगे। उन्हींमें एक गरीब स्त्री भी थी। जब बड़े-बड़े धनी-मानी मृत्यु के पंजे से न बच सके तो उस बेचारी गरीब स्त्री की क्या बिसात थी। वह भी मर गई। यम के दूत उसे भी यम की पुरी में ले गये और वहां उसकी मरने के बाद ही जांच-पड़ताल आरंभ हो गई। उसके अच्छे और बुरे कामों की जांच-पड़ताल होने लगी। लेकिन बहुत ढूंढने पर भी उसका कोई पुण्य कर्म दिखाई नहीं दिया। बस इतना ही पता लगा कि एक बार किसी भूखे भिखारी को उसने एक गाजर या शायद एक मूली दान में दी थी। बस यमराज ने आज्ञा दी और वही गाजर वहां आकर उपस्थित हो गई। यह तय हुआ कि यह गाजर उसे स्वर्ग ले जाय। वह स्त्री बहुत प्रसन्न हुई और उसने इस गाजर को पकड़ लिया। धीरे-धीरे वह गाजर स्वर्ग की ओर ऊपर उठने लगीं। उसीके साथ ऊपर उठने लगी वह गरीब स्त्री।

ठीक इसी समय एक बूढ़ा भिखारी यमराज के न्यायालय में आ उपस्थित हुआ। उसने जब उस गरीब स्त्री को स्वर्ग की ओर जाते हुए देखा तो उसके फटे हुए कपड़ों के सिरे को कसकर पकड़ लिया। परिणाम यह हुआ कि वह भी उसके साथ धीरे-धीरे स्वर्ग की ओर उठने लगा। एक तीसरे भिखारी ने इस दृश्य को देखा। बस आव देखा न ताव उसने पहले भिखारी के चरण ही तो पकड़ लिये। लो, वह भी ऊपर उठने लगा। अब तो यमराज के न्यायालय में भाग-दौड़ मच गई। जैसे ही पहला व्यक्ति ऊपर उठता नीचे खड़ा

हुआ दूसरा व्यक्ति उसके चरण पकड़ लेता। इस प्रकार देखते-देखते उन व्यक्तियों की एक लंबी पंक्ति हो गई और वे सब-के-सब ऊपर उठनेवाली उस गाजर के सहारे स्वर्ग की ओर बढ़ने लगे। आश्चर्य की बात तो यह थी कि उस स्त्री को अपने नीचे लटकती हुई इन असंख्य आत्माओं का बोझ बिल्कुल भी मालूम नहीं दे रहा था। और वे क्षमाप्राप्त व्यक्ति ऊपर-ही-ऊपर उठते चले जा रहे थे। आखिर वे स्वर्ग के द्वार पर पहुंच गये। सब लोग बड़े प्रसन्न थे। वह स्त्री भी बहुत प्रसन्न थी और गद्गद् मन से चारों ओर स्वर्ग के सौन्दर्य को देख रही थी कि अचानक उसकी दृष्टि नीचे की ओर गई। अरे यह क्या, ये असंख्य व्यक्ति मेरी इस गाजर के सहारे स्वर्ग की ओर चले आ रहे हैं। इन्हें क्या अधिकार है मेरी गाजर का सहारा लेने का। यह गाजर मेरी है, मैं इसकी स्वामिनी हूं। केवल मैं ही इसके सहारे स्वर्ग पहुंच सकती हूं।

बस, यह विचार मन में आते ही उसने अपने पीछे आनेवाली आत्माओं से चिल्लाकर कहा, "अरे, तुम सब मेरे पीछे क्यों आ रहे हो। तुम सबलोग भाग जाओ। यह गाजर तो मेरी है।"

यह कहते हुए उसने आवेश में आकर उनको हटाने के लिए अपना हाथ हिलाया कि गाजर हाथ से छूट गई और उन असंख्य आत्माओं के साथ वह स्त्री भी नीचे यमलोक में गिर पड़ी।

अहम् का यही परिणाम होता है।

(१६)

एक समय राजा जनक के मन में ज्ञान प्राप्त करने की कामना पैदा हुई। वह ज्ञानी गुरु की खोज में भटकने लगे। अंत में उन्होंने यह डंका पिटवा दिया कि जो कोई मुझे ज्ञान का उपदेश देगा उसे मैं मनमाना धन दूंगा। जो न दे सकेगा उसे सुखपूर्वक मेरे बन्दीगृह में रहना पड़ेगा।

अनेक ऋषि-मुनि आये, लेकिन राजा जनक को ज्ञान का उपदेश न दे सके। बेचारों को बन्दीगृह में रहना पड़ा। ऋषिकुमार अष्टावक्र के पिता भी उनमें थे। यह समाचार पाकर अष्टावक्र स्वयं वहां पहुंचे। उनके अंग आठ स्थानों पर टेढ़े थे, इसीलिए वह अष्टावक्र कहलाते थे। जिस समय वह राजसभा में पहुंचे तो सब लोग उनको देखकर हँस पड़े। यह देखकर अष्टावक्र और भी जोर से हँसे। राजा जनक बड़े चकित हुए। और बोले, "ऋषिकुमार, आप क्यों हँस रहे हैं?" अष्टावक्र ने उत्तर दिया, "राजन्, यह प्रश्न तो मुझे पूछना चाहिए। आप लोग मुझे देखकर क्यों हँसे?" राजा जनक ने उत्तर दिया, "आपके टेढ़े-मेढ़े शरीर को देखकर ही हमें हँसी आ गई है। आपको दुःख नहीं मानना चाहिए।" ऋषिकुमार ने कहा, "मुझे अपने लिए दुःख की कोई बात नहीं है। आप लोगों के आन्तरिक शरीर के ऊपर अवश्य हँसी आई है। आप लोग ज्ञान की चर्चा करना चाहते हैं, लेकिन बाहरी शरीर के रूप, रंग, बनावट से प्रेम करते हैं। जहां नश्वर शरीर की महत्ता है वहां ज्ञान की चर्चा कैसे हो सकती है।

सभा जैसे स्तब्ध हो गई। राजा जनक के मन में खलबली मच गई। यहांतक कि उस रात उन्हें नींद तक न आई। ऋषिकुमार के ये शब्द कि 'जहां नश्वर शरीर की महत्ता है वहां ज्ञान की चर्चा कैसी' उन्हें बेचैन करने लगी। रात्रि के समय ही वह अष्टावक्र के पास पहुंचे और बोले, "आप ही मुझे ज्ञान प्रदान कर सकते हैं। ऋषिकुमार, मुझे ज्ञान प्रदान कीजिये। मैं बहुत उद्विग्न हो रहा हूं।" ऋषिकुमार हँसकर बोले, "बिना गुरु दक्षिणा के ही ज्ञान प्राप्त करना चाहते हो?" हाथ जोड़कर जनक ने कहा, "ऋषिकुमार मेरा खजाना आप ले लें और मुझे ज्ञान का उपदेश करें।" ऋषिकुमार फिर हँसे, "राजन्, कोष तो प्रजा का है। आपका नहीं। आप इसे मुझे कैसे दे सकते हैं?"

राजा यह तर्क सुनकर लज्जित हो गये, बोले, "अच्छा महाराज! राज ही आप ले लीजिये।" अष्टावक्र ने कहा, "राजन्! राज्य तो अनित्य है।" जनक बोले, "तब मेरा यह शरीर ही ले लीजिये।"

ऋषिकुमार ने फिर कहा, "शरीर तो मन के अधीन है।" राजा जनक बोले, "तो फिर आप मन ही ले लीजिये।" इस बार अपनी स्वीकृति देते हुए अष्टावक्र ने कहा, "हां, मन ले सकता हूं। आप मुझे अपना मन संकल्प कर दीजिये।"

राजा जनक ने वैसा ही किया। अष्टावक्र यह दक्षिणा स्वीकार करने के बाद बोले, "राजन्, एक सप्ताह पश्चात् मैं फिर आऊंगा। तब आपकी मनोकामना पूर्ण होगी।"

यह कहकर ऋषिकुमार अष्टावक्र अपने पिता को लेकर

वहां से चले गये। जाते समय कह गये, "राजन्, यह याद रखिये कि आप अपना मन मुझे संकल्प कर चुके हैं।"

ऋषिकुमार के चले जाने के बाद राजा जनक की दशा बहुत विचित्र हो गई। चलते-फिरते, खाते-पीते, बैठते-उठते हर क्षण उन्हें यही ध्यान रहता था कि मन तो संकल्प हो चुका है। इस चिन्ता में उनके मन की सब क्रियाएं शान्त हो गई। एक सप्ताह के बाद जब ऋषिकुमार लौटे तो आते ही उन्होंने पूछा, "राजन्! कुशल तो है।"

राजा जनक ने उत्तर दिया, "ब्रह्मचारिन्, मेरी कुशलता आपके अधीन है। मेरा मन तो आपका हो चुका है। मैं जड़वत् हो गया हूं। लेकिन इसीमें मुझे परम शान्ति मिल रही है। और इस शान्ति में ही मेरी कुशल है।"

अष्टावक्र बोले, "राजन्, इस जड़ता को तुम समझ लो कि यह चेतनता आत्म-ज्ञान अथवा स्मृति के समीप की जड़ता है। अब तुम्हें वहांतक पहुंचने में विलम्ब नहीं है। तुम ज्ञान प्राप्त करने के अधिकारी हो गये हो।"

इसके बाद अष्टावक्र ने राजा से कहा, "हे राजन्, संसार के सब विषय मन के अधीन हैं, आत्मा के नहीं। आत्मा तो विदेह है। मन जबतक शरीर की ओर लगा रहता है तबतक मन की गति आत्मा की ओर नहीं हो पाती। मनुष्य जब मन को ज्ञान के अधीन कर देता है तब आत्मा की ओर गति होती है। धीरे-धीरे प्राण-कोशों के बंधन से मुक्त होकर जीव सत्-चित्-आनन्द बन जाता है। जीव की यही परम उन्नति है।"

यह सुनकर राजा जनक को बहुत आनन्द हुआ। ऋषिकुमार ने फिर कहा, "पंचकोशों का बना हुआ यह शरीर तो थोथा है। अन्न से इसकी उत्पत्ति होती है, इसीलिए इसे 'अन्नमय कोश' भी कहते हैं। इससे अधिक व्यापक और शक्तिशाली तो 'प्राणमय कोश' है, जो इसके भीतर बैठा है। 'प्राणमय कोश' के भीतर 'मनोमय कोश' है, वह 'प्राणमय कोश' से भी अधिक व्यापक और शक्तिशाली है। वही स्थूल शरीर का संचलन करता है। लेकिन इसके ऊपर भी एक और कोश है, जिसे 'विज्ञानमय कोश' कहते हैं। वह 'मनोमय कोश' से भी प्रबल और सशक्त है। जब मनुष्य का मन ज्ञान के आधीन हो जाता है तब उसका इधर-उधर भटकना समाप्त हो जाता है। इसके ऊपर 'आनन्दमय कोश' है। इसमें प्रवेश करते ही शरीर को सुख-दुःख के झंझटों से छुटकारा मिल जाता है। बस इसके ऊपर सर्वव्यापक आत्मा है। शरीर में विशुद्ध ज्ञान की सत्ता स्थापित होने पर आत्मा की प्राप्ति होती है। यही जीव की परम उन्नति है। हे राजा जनक! जो मन तुमने मुझे दिया था, वह मैं तुम्हें इस ज्ञान के साथ लौटाता हूं। आप मेरे आदेश से ज्ञान के अधीन होकर राज्य का संचालन कीजिये। सब जीवों में आत्मा का अनुभव कीजिये। सबसे परे होकर रहिये।"

इस प्रकार राजा जनक को ज्ञान देकर ऋषिकुमार अष्टावक्र वहां से चले गए और उसके साथ ही सभी ज्ञानी लोग बन्दीगृह से मुक्त हो गये।

समै-समै सुन्दर सबै, रूप-कुरूप न कोय।
मन की रुचि जेती जितै, तितै तिती छबि होय।।

स्वर्गीय रुक्मिणीदेवी शर्मा

●● सत्यदेव विद्यालंकार

"अम्माजी" के नाम से प्रसिद्ध बहन रुक्मिणीदेवी के वास का समाचार जिस किसीने भी सुना, वह सन्न स्वर्ग रह गया। वह कई वर्षों से बीमार चली आती थीं। इस लंबी बीमारी का कारण अन्तिम दिनों में यह मालूम हुआ कि उनके पेट में कैंसर की शिकायत थी। इन्दौर की ही नहीं, अपितु समस्त मालवा की उनके उठ जाने से जो भारी क्षति हुई है, उसकी पूर्ति सहज में हो ही नहीं सकती। वह इतनी सरल, स्नेही और आत्मीयता से ओत-प्रोत थीं कि पहली ही मुलाकात में हर किसीको अपना बना लेती थीं और उसके लिए उनको भुला सकना संभव ही न था। सार्वजनिक जीवन में उन्होंने जिस निर्भीकता का परिचय दिया, वह उनकी सबसे बड़ी विशेषता थी। उनकी वाणी में कुछ स्वाभाविक आकर्षण था। श्रोताओं को मंत्रमुग्ध कर लेने की कला में वह पारंगत थीं। उनकी वाणी में गंगा का-सा वेग न होते हुए भी यमुना की-सी गंभीरता थी। बहुत पढ़ी-लिखी और सुशिक्षित न होने पर भी गंभीर-से-गंभीर राजनैतिक समस्याओं की बड़ी ही सरल किन्तु तेजस्वी भाषा में कुछ ऐसी व्याख्या करती थीं कि राजनीति तथा सार्वजनिक जीवन से दूर एकांत घर में भी पर्दे की कैद में रहनेवाली बहनों को वे विस्मयजनक ढंग से प्रभावित तथा आकर्षित कर लेती थीं। कितनी ही बहनें उनसे प्रेरणा, स्फूर्ति व चेतना प्राप्त करके सार्वजनिक जीवन में आईं। विदेशी कपड़े व शराब की दुकानों पर उन्होंने धरना दिया और जेल तक जाना स्वीकार किया। अभिमान उनको छू तक नहीं गया था। उनके व्यक्तिगत जीवन में सात्विकता कुछ ऐसी समाई हुई थी कि वह आधुनिकता से सर्वथा रहित थी और प्राचीन भारतीय नारी का ही ज्वलन्त प्रतीक थीं।

राजनैतिक जीवन में प्रवेश करने से पहले वह एक सामान्य गृहस्थ महिला की तरह घूंघट में रहती थीं, फिर भी समाज-सेवा की भावना उनमें कुछ ऐसी व्यापी हुई थी कि घरवालों द्वारा परित्यक्त बहनों के लिए उनका घर आश्रय था। हमेशा ऐसी दस-पन्द्रह बहनें उनके यहां बनीं रहती थीं। इसी प्रकार जिन दुधमुहें बच्चों को सामाजिक अभिशाप से त्रस्त उनकी अभागी माताएं, लोक-लाज के कारण, त्यागने को बाध्य होती थीं, उनको वह अपनी गोद में उठा लाती थीं। स्वयं माता बनकर उनका लालन-पालन करतीं और किसी निःसन्तान की गोद में देकर उन्हें सनाथ बना देती थीं। ऐसे कितने ही बालकों का उन्होंने उद्धार किया होगा।

राजनैतिक जीवन में अपनेको तन्मय कर देने पर भी उनकी यह इच्छा निरंतर बनी रही कि ऐसी बहनों और बच्चों के लिए किसी संस्था का गठन किया जाय। उनकी वह इच्छा उनके जीवन-काल में पूरी न हो सकी। परन्तु इन्दौर के कृतज्ञ नागरिकों ने उनके देहान्त पर २७ मई को उनकी अन्त्येष्टि पर उनकी इस इच्छा को पूरा करने का संकल्प कर लिया है। उसी स्थान पर ५१,००० रुपया एकत्रित करके उनकी स्मृति में 'रुक्मिणी सदन' कायम करने की घोषणा की गई। तत्काल लगभग १० हजार रुपया जमा हो गया। गांधी भवन ट्रस्ट से ५,००० रुपये देने की घोषणा की गई।

१९३० में नमक-सत्याग्रह के निमित्त की गई डांडी कूच में अपनी गिरफ्तारी से ठीक पहले महात्मा गांधी ने भारतीय महिलाओं से जादू कर दिखानेवाली जो अपील की थी, उसने बहन रुक्मिणीदेवी को भी परदा त्यागकर सार्वजनिक, राजनैतिक जीवन में पग बढ़ाने को प्रेरित किया। उनके पति स्वर्गीय रामगोपालजी शर्मा मालवा मिल में नौकरी करते हुए भी सार्वजनिक भावना रखनेवाले राष्ट्रप्रेमी थे। उन्होंने नगर के सुप्रसिद्ध कांग्रेसी नेता श्री कन्हैयालाल खादीवाला को एक दिन अपने यहां निमंत्रित किया और उनसे निवेदन किया कि उनकी पत्नी घूंघट छोड़कर विदेशी कपड़ों की दुकानों पर धरना देनेवालों में शामिल होना चाहती हैं। खादीवाला को तब क्या मालूम था कि घूंघट में रहनेवाली रुक्मिणीदेवी सार्वजनिक जीवन में उनके ही समान तेजस्वी सिद्ध होंगी और महिला-क्षेत्र में वह जादू कर दिखायेंगी।

इन्दौर राज्य संभवतः उन देशी राज्यों में सबसे अधिक भाग्यशाली था, जिनमें कांग्रेस कमेटी के नाम से राजनैतिक

कार्य का शुभ श्रीगणेश १९१९-२० में किया गया। गांधीजी के आदेशानुसार कांग्रेस ने यह निर्णय किया था कि देशी राज्यों में कांग्रेस-कमेटियों का गठन और सत्याग्रह असहयोग-आन्दोलन का श्रीगणेश नहीं किया जाना चाहिए, परन्तु इन्दौर के उत्साही युवकों ने अपने यहां कांग्रेस-कमेटी कायम करके सत्याग्रह तथा असहयोग-आंदोलन का सूत्रपात करने का रास्ता निकाल ही लिया। रेलवे स्टेशन के दूसरी ओर का हिस्सा अंग्रेजी राज्य के आधीन था। अंग्रेज़ सरकार ने उसको छावनी कायम करने के लिए होलकर राज्य से ले लिया था। उस क्षेत्र पर कांग्रेस का वह निर्णय लागू न होता था। उसमें आंदोलन का श्रीगणेश किया गया। राष्ट्रीय झंडे के जलूस पर फौजी घोड़े छोड़ दिये गए और दमन व अत्याचार की ज्यादती से सारे ही इन्दौर शहर में, नवजीवन की बिजली-सी दौड़ गई। इन्दौर-कांग्रेस का संबंध अजमेर की प्रांतीय कांग्रेस कमेटी के साथ जोड़ा गया और इन्दौर के युवकों के जत्थे सत्याग्रह के लिए अजमेर जाने शुरू हुए। यह उल्लेखनीय है कि हिन्दी साहित्य सम्मेलन के इन्दौर में दो अधिवेशन हुए और दोनों का अध्यक्ष-पद सुशोभित करने के लिए गांधीजी को ही निमंत्रित किया गया। इसी प्रकार १९२१ में अखिल भारतीय मारवाड़ी अग्रवाल महासभा के बहाने स्वर्गीय देशभक्त सेठ जमनालालजी बजाज को इन्दौर पधारने को आमंत्रित किया गया था। तात्पर्य यह है कि राष्ट्रीय नेताओं को अपने यहां निमंत्रित करने के लिए इंदौर के उत्साही राष्ट्र-प्रेमी युवक कोई-न-कोई अवसर पैदा कर ही लेते थे। इन्दौर में इस प्रकार राष्ट्रीय चेतना विस्मयजनक ढंग से पनपती रही। कुछ समय बाद प्रजा-मंडल की भी स्थापना हुई और यह विवाद छिड़ गया कि कांग्रेस-कमेटी को भंग करके सारा राजनैतिक कार्य प्रजामंडल के ही नाम से किया जाना चाहिए। मजदूर-आंदोलन का सूत्रपात भी अहमदाबाद के ढंग पर इन्दौर में विशेष रूप से हुआ और इन्दौर इण्टक का एक विशेष गढ़ बन गया। छावनी के क्षेत्र में कांग्रेस का काम बड़े जोर-शोर से चलता रहा, परन्तु अधिक शक्ति अजमेर में राजपूताना, मध्य भारत प्रान्तीय कांग्रेस कमेटी को प्रभावशाली बनाने में लगाई जाती रही। रुक्मिणी बहन ने इन्दौर की कुछ महिलाओं के साथ पहले तो छावनी-क्षेत्र में धरना देना शुरू किया। उन दिनों में उनके साथ काम करनेवाली श्रीमती लीलावती व्यास—धर्मपत्नी श्री कृष्णकांत व्यास, का नाम उल्लेखनीय है।

सन् १९३२ में बहिन रुक्मिणी देवी इन्दौर से २९ महिलाओं का जत्था लेकर अजमेर पहुंचीं। उस जत्थे में श्रीमती कलावती त्रिवेदी, श्रीमती कावेरीदेवी खादी वाला, और श्रीमती फूलकुंवर चौरडिया के नाम उल्लेखनीय हैं। अजमेर में कुछ और महिलाएं इस जत्थे में शामिल हुई। उनमें श्रीमती अंजनादेवी मुख्य थीं। सब महिलाओं को सजा हुई। उनको उत्तर प्रदेश की फतहगढ़-जेल में रक्खा गया।

सन् १९४१ के युद्ध-विरोधी व्यक्तिगत सत्याग्रह में बहन रुक्मिणी ने कई बार भाग लिया, परन्तु वह गिरफ्तार नहीं की गई। कभी-कभी गिरफ्तार करके छोड़ दी जातीं। फिर वह श्री मिश्रीलालजी गंगवाल के साथ व्यक्तिगत सत्याग्रह के लिए लंबी पैदल यात्रा पर निकलीं और झांसी जिले में ललितपुर पहुंचने पर गंगवालजी के साथ गिरफ्तार कर ली गईं। झांसी जेल में उनको रक्खा गया। वहां से छोड़ दिये जाने के बाद भी उनका व्यक्तिगत सत्याग्रह जारी रहा। वह घर से यह संकल्प करके निकली थीं कि देश के आजाद हुए बिना वह घर न लौटेंगी। उनके पति एकाएक बीमार पड़ गये और अस्पताल में रखे गये। महात्मा गांधी से अनुमति लेकर वह इंदौर तो लौट आईं, परन्तु घर नहीं गईं। खजूरी बाजार में श्री ओंकारमल चुन्नीलाल धर्मशाला में रहकर पति की सेवा करती रहीं। अस्पताल में उनका देहांत हो गया। पति ने मरते समय बहन रुक्मिणीदेवी को यही आदेश दिया कि तुमने देश-सेवा के मैदान में जो कदम आगे बढ़ाया है, उसको पीछे नहीं लौटाना चाहिए। अपने पति की इस अंतिम इच्छा के अनुसार वह निरंतर देश-सेवा के काम में लगी रहीं।

१९४२ के अगस्त-आंदोलन में बहन रुक्मिणी देवी ने बड़े उत्साह से भाग लिया और कितनी ही बहनों को उसमें भाग लेने के लिए प्रेरित व उत्साहित किया। मालवा ही नहीं, अपितु मध्य भारत तथा राजस्थान में अपने ढंग से समाज-सेवा तथा देश-सेवा करनेवाली वह अकेली और पहली बहन थीं। प्रदेश कांग्रेस कमेटी की वह सदस्या चुनी

(शेष पृष्ठ ३०९ पर)

मेरे हृदय की चिर सहेली

दीनदयाल ओझा

(१)

जब सभी तज राह में,
मग और डग भरते सदा।
औ' सभी तज तिमिर में,
जग ज्योति में चलते सदा

उस काल मुझको हाथ दे
चलती नवेली वेदना है,
मेरे हृदय की चिर सहेली वेदना है।

(२)

जब सुखों से पूर्ण हो, मैं
मनुजता का त्याग करता।
क्षणिक नव सुख प्राप्त कर,
स्वयं पर कुछ दंभ भरता।

उस क्षण अलौकिक पथ दिखाती
वह अकेली वेदना है।
मेरे हृदय की चिर सहेली वेदना है।

(३)

इस ओर के परिवार को,
जब भूल मैं उस कूल जाता।
सोचता कुछ और उर में,
रह वहां कुछ और पाता॥

तब भ्रमित मन को दिखाती
सुभग हेली वेदना है
मेरे हृदय की चिर सहेली वेदना है।

हीरा जब कौड़ी मोल न बिका

"उषा ने फेंका रवि-पाषाण
निशा-भाजन में, जल्दी जाग,
प्रिये, देखो, पा यह संकेत
गए कैसे तारक-दल भाग!"

किसकी हैं ये पंक्तियां?

आज का कोई हिन्दी-प्रेमी आपको बतला सकता है कि यह बच्चन के शब्दों में उमर खय्याम की रूबाई का आरंभ है। बच्चन ने १९३५ में रुबाइयात उमर खय्याम का अनुवाद प्रकाशित किया और उमर के हालावादी दर्शन को अपनी मधुशाला में भी प्रस्तुत किया। वर्षों तक बच्चन की कविताएं और उमर खय्याम का दर्शन हिन्दी पर छाया रहा। मैथिलीशरण गुप्त, केशवप्रसाद पाठक, गिरिधर शर्मा तथा अन्य कवियों के अतिरिक्त अभी हाल में सुमित्रानन्दन पन्त ने 'मधुज्वाल' के नाम से उमर की रुबाइयां हिन्दी में पेश की हैं।

वस्तुतः, जैसा सर्वविदित है, उमर खय्याम अपनी फारसी रूबाइयों के माध्यम से हिन्दी अथवा संसार की इन बहुविध भाषाओं में लोकप्रिय नहीं हुए, वरन् उन्हें ख्याति मिली है 'रुबाइयात उमर खय्याम' के अंग्रेजी-रूपान्तर से। यह रूपान्तर एडवर्ड फिट्जराल्ड-कृत "रूबाइयात ऑफ उमर खय्याम ऑफ नैशपुर" शीर्षक पचहत्तर चतुष्पदियां हैं, बच्चन आदि अन्य कवियों ने रूबाइयात को फिट्जराल्ड से ही अनूदित किया है। फारसी के विद्वानों के अनुसार उमर खय्याम की ख्याति ज्योतिर्विद के रूप में रही है, कवि के रूप में नहीं। खय्याम की रूबाइयां मूलतः मुक्त और असम्बद्ध हैं तथा संख्या में अत्यधिक भी। यह फिट्जराल्ड की ही देन है कि उन्होंने विशिष्ट रूबाइयां छांटकर सूत्रबद्ध कीं, उन्हें ऐसा क्रम दिया कि एक कथात्मकता और दर्शन उन्हें मिल गया। अनुवाद होते हुए भी अंग्रेजी के अमर काव्य में फिट्जराल्ड की रूबाइयों का अपना स्थान है।

"किसीकी लौह लेखनी भाल—
शिखा पर लिख जाती कुछ लेख
न फिर फिरती पीछे की ओर
लिखा क्या, इतना तो ले देख!"

यह है फिट्जराल्ड की इक्यावनवीं रूबाई बच्चन के ही शब्दों में। नियति ने क्या लिखा है, इसे कोई नहीं जानता? जिस समय फिट्जराल्ड ने इस नियतिवादी दर्शन को अपने शब्द दिये थे, वह भी अपने भाग्य के बारे में शायद नहीं जानता था कि उसकी कृति और कीर्ति कितने उतार-चढ़ाव देखेगी!

आज से पच्चीस वर्ष पूर्व १९३५ में फिट्जराल्ड की रूबाइयों की एक प्रकाशित प्रति, जिसमें मूल आवरण था और कवि स्विनबर्न की कुछ टिप्पणियां हस्ताक्षरित थीं, एक संग्रहकर्ता ने ४५,००० रुपये कीमत देकर खरीदी।

और नियति की बिडम्बना यही है कि एक दिन १८६१ ई० के वसन्त में लन्दन के पिकाडेली के एक पुस्तक विक्रेता की दूकान के बाहर भाव-ताव के लिए रक्खी हुई एक पुस्तक को एक अज्ञात राहगीर ने देखा, उसके पृष्ठों को उलटा-पलटा और उस पुस्तक की कई प्रतियां एक-एक पेनी की (लगभग छः नये पैसे) खरीद लीं। आदमी कविताओं का शौकीन था। अपने कविता-प्रेमी मित्रों को इतना सस्ता उपहार देना उसे जंचा। उपहार में पाई कविता किसी रसिक को जंच गई और एक शाम प्रसिद्ध कवि दान्ते गेब्राइल रोजेती को इस काव्य के बारे में पता चला। रोजेटी अपने मित्र स्विनबर्न के साथ खुद उस पुस्तक को खरीदने गया। इस प्रकार कूड़े में फेंकी हुई फिट्जराल्ड की रचना इंगलैण्ड के प्रमुख कवियों की नजर में चढ़ गई।

एक ऐसा समय आया कि लोगों की जबान पर ये रूबाइयां थीं। आंग्ल भाषी समाज में हर जगह रोज उसके उद्धरण सुनाई पड़ते। कदाचित् ही कोई हो, जिसने सुख की चरम कल्पना में खय्याम की यह रूबाई न गुनगुनाई हो—"ए बुक ऑफ वर्स विनीथ द बाउ"—

"घनी सिर पर तरुवर की डाल
हरी पांवों के बीच घास?
बगल में मधु मदिरा का पात्र
सामने रोटी के दो ग्रास।

सरस कविता की पुस्तक हाथ
और, सबके ऊपर तुम प्राण!
गा रही छेड़ सुरीली तान
मुझे अब मरु, नन्दन उद्यान!" (बच्चन)

सरस कविता की यह पुस्तक शायद विस्मृति के गर्भ में सदा के लिए विलीन हो गई होती। शायद १८६१ ई० के बड़े दिन के पहले पिकाडेली का पुस्तक-विक्रेता बर्नार्ड क्वारिट्ज ने इस रद्दी के ढेर को फेंक दिया होता। इतना नाटकीय कदाचित् ही किसी रचना का इतिहास रहा हो।

एडवर्ड फिट्जराल्ड का जन्म १८०९ में हुआ था। उसके पिता काफी सम्पत्ति छोड़ गये थे। वह भीड़भाड़ से दूर एकान्त में, सन्त की तरह रहता, शाकाहार करता। उसे ग्रीक क्लासिकों से लगाव था और उसने एसकिलिस के 'अगामेमनन', सोफोक्लीस के ओडीपस नाटक और काल्डे-रन के ६ नाटकों का अंग्रेजी में अनुवाद किया। १८४९ में उसकी मौलिक कविताएं भी प्रकाशित हो चुकी थीं। आज उसकी कोई अन्य कृति प्राप्य नहीं है। १८५० में उसका विवाह लूसी वार्टन से हुआ और विवाह के बाद ही एडवर्ड को लगा कि उसने कोई गलती कर दी है। पत्नी से उसका सामंजस्य न हो पाया।

जुलाई १८५६ में एक दिन फिट्जराल्ड अपने मित्र और फारसी के विद्वान् एडवर्ड कॉवेल के पास गया और उन्होंने उमर खय्याम की फारसी रूबाइयां पढ़ीं। उसे यह हालावादी दर्शन रुचा। कुछ दिनों बाद कॉवेल भारत चला आया और जाते समय अपने मित्र को रूबाइयात की पाण्डु-लिपि की हाल में ही उपलब्ध प्रति की अपने हाथ से की प्रतिलिपि भेंट कर गया, किन्तु, फिट्जराल्ड इसका अधिक उपयोग नहीं कर सका।

जून १८५७ में कॉवेल ने कलकत्ते से उपलब्ध पाण्डु-लिपि की प्रतिलिपि भेजी। फिट्जराल्ट ने छः महीने में कई रूबाइयों का अनुवाद किया। फ्रेजर की पत्रिका "फोर्टनाइटली रिव्यू" ने उससे कोई रचना मांगी। उसने ३५ ऐसी रूबाइयां छांटकर भेज दीं, जो "कम-से-कम कुटिल" थीं, यह लिखते हुए कि आपको ये 'खतरनाक' लगें।

सम्पादक पार्कर को यह उन्मुक्त अभिव्यक्ति तथा धर्म-नैतिकता-सम्बन्धी विचार विक्टोरियन इंग्लैण्ड के अनुदार कानों के लिए विस्फोट से लगे। उसने एक साल तक उन्हें अपने पास रखे। फिट्जराल्ड ने झुंझलाकर रचना वापस मंगाई, चालीस चतुष्पदियां और जोड़ीं और साधारण बादामी कागज पर उनकी २५० प्रतियां पुस्तकाकार छपवा लीं, चालीस प्रतियां अपने पास रखकर शेष उसने पुस्तक विक्रेता वर्नार्ड क्वारिट्ज को बेचने के लिए दीं।

९ अप्रैल, १८५९ को दो पत्रों में यह विज्ञापन छपा--

अभी छपी है--मूल्य १ शिलिंग
रूबाइयात ऑफ उमर खय्याम--फारस का ज्योतिषी कवि
अंग्रेजी काव्यानुवाद। बी० क्वारिट्ज, लन्दन

इस विज्ञापन के पीछे एक दुखद कथा थी मान्यताहीन प्रतिभा की, निराशा की। विज्ञापन के पैसे बर्बाद गये। आलोचकों ने नजर उठाकर देखा तक नहीं। क्वारिट्ज की अलमारियों के चमन में यह नरगिस अपनी बेनूरी को दो साल तक रोती रही।

और वह दिन आया जब इस ढेर को दूकान के बाहर बक्स में फेंक दिया गया। एक अमर रचना अपनी मौत का इंतजार करने लगी। एक दिन फिट्जराल्ड ने अपने गुरु-मित्र कावेल को लिखा, "मुझे मालूम नहीं मैं क्यों इन्हें छपाता हूं। न तो कोई खरीदता है और न मुझे ही कोई ऐसा दीख पड़ता है, जिसे भेंट भी दे सकूं। पर जब कोई अपना सर्वोत्तम कार्य कर लेता है, जिसकी बराबरी बहुतों की मेह-नत नहीं कर सकती तो मामले को खत्म करने के लिए छपा देना ही अच्छा होता है।"

और तभी एक अज्ञात आदमी की नजर उस गुदड़ी के लाल पर पड़ी। जब स्विनबर्न दोबारा उस किताब को खरीदने गये, विक्रेता ने मूल्य एकदम दुगुना (दो पेंस) कर दिया था। उसी विक्रेता ने २२,००० रु० और ४५,००० रुपये में वर्षों बाद उस अप्राप्य संस्करण को बेचा।

किन्तु, अनुवादक अभी अज्ञात था। रस्किन को जब किसीने रूबाइयात की एक प्रति दी तो उसने एक पत्र भेजा--

"मेरे प्रिय और अति प्रिय महोदय, मुझे मालूम नहीं कि तुम कौन हो, किन्तु मैं चाहता हूं कि तुम्हें खोजकर कुछ और खय्याम का आनन्द लूं।" आपका सदा अनुगृहीत,
जे० रस्किन।

यह पत्र फिट्जराल्ड को दस वर्ष बाद मिला। फरवरी १८७५ में एक पत्रिका के स्तंभ लेखक फिट्जहाल ने घोषित किया कि फिट्जराल्ड ने रूबाइयात का अनुवाद किया है।

रूबाइयात के शताधिक अनुवाद हो चुके हैं, दस करोड़ से अधिक प्रतियां बिक चुकी हैं। विद्वानों ने वर्षों उस पर खोज की है। फिट्जराल्ड का अनुवाद शाब्दिक नहीं है। ४९ से अधिक चतुष्पदियों को मूल फारसी में समरूप नहीं खोजा जा सकता। अन्य केवल प्रभावित हैं। कतिपय अन्य फारसी कवियों से भी।

प्रसिद्ध फारसी विद्वान् निकलसन के अनुसार रूबाइयात की लोकप्रियता का कारण यह है कि पिछली पीढ़ी से तथा वर्तमान पीढ़ी से यह आधुनिक समस्याओं, संघर्षों, सन्देहों की बात मध्यकालीन फारस की रहस्यमय रंगीनी की भाषा में कहता है।

१४ जून १८८३ को फिट्जराल्ड की जब मृत्यु हुई, अपनी कृति को मान्यता पाते देखने के बावजूद, उसे वह स्थान नहीं मिला था, जिसका अधिकारी वह था। किन्तु—

"इस जीवन का भेद
जिसे मिल गया गंभीर अपार
रहा न उसको क्लेद
मरण भी बना स्वर्ग का द्वार।"

●

(पृष्ठ ३०२ का शेष)

गईं और उसकी कार्य-समिति की भी वर्षों सदस्या रहीं। प्रांतीय कांग्रेस कमेटी ने महिला विभाग की संचालिका भी उनको नियुक्त किया। कांग्रेस महासमिति की वह वर्षों सदस्या रहीं। इन्दौर की प्रायः सभी सार्वजनिक प्रवृत्तियों में उनका प्रमुख भाग रहता था। गांधी भवन इन्दौर का एक प्रमुख राष्ट्रीय केंद्र है, जिसका निर्माण लाखों की लागत से नगर के प्रमुख भाग में किया गया है। उसकी वह ट्रस्टी थीं। चंद्रावतीगंज में स्थापित कस्तूरबा महिला सेवा सदन की ट्रस्टी और मंत्राणी रहीं।

१९५६ में उनको राज्य-सभा की सदस्या चुना गया। बीमार रहने के कारण इस बार वह उसके लिए खड़ी नहीं हुईं। लगभग चार वर्ष तक बीमार रहने के बाद २७ मई को उनका इन्दौर नगर में दुःखद देहावसान हो गया। अभी उनकी आयु केवल ५३ वर्ष थी। अपने पीछे वह एक पुत्र और एक कन्या छोड़ गई हैं। कन्या वह है, जिसको उन्होंने शिशु-अवस्था में परित्यक्त के रूप में अपनाया था।

१९४१ में विधवा हो जाने के बाद भी उनका समाज-सेवा का पुराना नियम वैसा ही चलता रहा। कितनी ही परित्यक्ता बहिनों और परित्यक्त शिशुओं को उन्होंने जीवन दिया। किसी भी दुखी बहनकी सहायता के लिए हाथ बढ़ाने में वह कभी न चूकती थीं। किसी भी गृहस्थ में कोई कलह पैदा हो जाय, उसको समझा-बुझाकर शांत करना, अपना कर्त्तव्य समझती थीं और इस कर्तव्य-पालन में दिन-रात जुटी रहती थीं। त्याग, तपस्या और साधना का उन्होंने जो सेवामय जीवन बिताया, उसका अनुकरणीय आदर्श वह अपने पीछे छोड़ गई हैं।

●

बुनियादी सवाल

●● नरेन्द्र

जीवन में प्रमुख स्थान भोजन का है, यों काफी लोग ऐसा कहनेवाले भी हैं कि रोटी ही सब-कुछ नहीं है, यह बात काफी ठीक है। लेकिन यह उससे भी ज्यादा ठीक है कि रोटी न मिले तो और कुछ भी नहीं हो सकेगा। मानना पड़ेगा कि रोटी न मिले तो साहित्यकार की लेखनी, संगीतज्ञ की स्वर-लहरी, फौजी की बंदूक, संत का उपदेश ये सब पता नहीं कहां छूट जायंगे और ये सब लोग येन-केन प्रकारेण रोटी प्राप्त करने की फिक्र में पड़ जायंगे।

मनुष्य की सभ्यता का विकास सचमुच रोटी के चारों तरफ ही हुआ है। आज जब हम सोचते हैं तो ऐसा लगता है कि क्या दकियानूसी बात है यह? परन्तु सचमुच मनुष्य-सभ्यता का इतिहास, उसकी भूख का इतिहास ही है। सबसे पहली और आवश्यक भूख पेट की भूख है, रोटी उसका प्रतीक है। ज्ञान-विज्ञान, आत्मा, परमात्मा, आदि की भूख शान्त करने की बात तभी सूझती है जब वह रोटी की तरफ से निश्चिन्त हो जाय। यह निश्चिन्तता प्राप्त होने के बाद भले ही वह साधना के लिए, तपश्चर्या के लिए भूखा भी रह ले, इसके लिए अपनेको जंगलों, पहाड़ों या कंदराओं में ऐसी जगह ले जावे, जहां रोटी मिलना संभव ही न हो, परंतु रोटी के अभाव में भूखे व्यक्ति और साधना-तपश्चर्या के लिए भूखे व्यक्ति की भावना में बड़ा फर्क हो जाता है। एक रोटी की समस्या के बारे में निश्चिन्त है, परन्तु उसने उसको त्याग दिया है, दूसरा रोटी की समस्या को हल करने के लिए परेशान है और उसे पाने के लिए सचेष्ट है। दोनों की भावनाओं में कितना फर्क होगा, यह सहज ही समझा जा सकता है।

रोटी का सवाल एक मौलिक और आवश्यक सवाल है, रोटी के इस सवाल के बारे में सोचते समय सबसे पहली बात यह आती है कि आखिर यह रोटी मिलती कहां से है? सहज ही उत्तर भी है। रोटी ज़मीन से मिलती है। इसमें मेरे ख्याल से दो राय नहीं हैं। लेकिन यह ज़मीन पर पड़ी तो मिलती नहीं, उसें पैदा करने के लिए मेहनत करनी पड़ती है, कुछ लोगों को राज़ी या मजबूरी से रोटी प्राप्त करने के इस काम में लगना पड़ता है। रोटी की भूख मिटने पर ही कुछ और सूझता है।

रोटी पेट में पहुंचने के बाद जब मन थोड़ा निश्चिन्त होता है तो बहुत-सी बातें सूझती हैं, रोटी का बंटवारा कैसे हो? बंटवारे की व्यवस्था कौन करे? रोटी को किस तरह खाकर भूख मिटाने में आनन्द प्राप्त किया जाय? रोटी पैदा करने-वाले के साथ दर्दभरी सहानुभूति कैसे पैदा की जाय? उसे पढ़कर, गाकर, उसके चित्र देखकर, तथा नाटक आदि खेलकर कैसे आत्मसंतोष किया जाय? रोटी पैदा करनेवाले पर नियंत्रण कैसे रक्खा जाय? वह दूसरों की मांग पूरी करने में अपना सौभाग्य समझे, यह घुट्टी उसे कौन पिलाये? इससे भी ऊपर यह कि रोटी पैदा करनेवाला उसका मालिक न हो जाय, अतः उस पर काबू पाने के शस्त्र-शास्त्र आदि क्या हों? इन सब विचार करनेवालों का और रोटी पैदा करनेवालों के अलग-अलग समूह हो गये, लेकिन पता नहीं कब और कैसे रोटी पैदा करनेवाले की कीमत घट गई।

इन सब सवालों के जवाब में कलाकार आये, भोजन-शास्त्री आये, कवि आये, संगीतज्ञ आये, वैज्ञानिक आये, राजनेता आये, अवतार आये, ऋषि आये, और अर्थ-शास्त्री पता नहीं क्या-क्या आये। इन सबके बीच रोटी पैदा करने के लिए संघर्ष करनेवाला किसान-मजूर खो गया। उसकी कीमत न जाने कब घट गई। आज जब दुनियां के बड़े-बड़े अर्थशास्त्री कहते हैं कि खेती तो घाटे का उद्योग है, उसे अन्य उद्योगों से सबसीडाइज करना होगा, तो यह सुनकर मेरी अकल ही हैरान हो जाती है, क्योंकि बात तो यह सही है पर है बड़ी ग़लत। आखिर जो बुनियादी उद्योग है, अगर उसीके लिए सहारा चाहिए तो अपने सहारे कौन उद्योग खड़ा हो सकेगा? जरूर कहीं कोई बहुत बड़ी गड़बड़ है।

यह सब उन लोगों के द्वारा फैलाया हुआ मायाजाल है जो धीरे-धीरे रोटी पैदा करनेवाले से अलग हो गये हैं। यह कोई उनकी बदनीयती का परिणाम नहीं है, बल्कि किसी समय पता नहीं कैसे हो गया था और अब वे अपनी आत्म-रक्षा की कुदरती प्रेरणा के कारण उसे एक सुव्यवस्थित शास्त्र का रूप

दे रहे हैं, जिसका फल बहुत ही भयानक हो गया है। आखिर यह एक सोचने की बात है कि लोकसंगीत और लोक-नृत्य को जीनेवाले आदमी की कीमत एक रुपया रोज भी नहीं और उसीकी भद्दी तरह से नकल करनेवाले की कीमत दस रुपया से पचास रुपया रोज तक? दर्दनाक और ग़रीबी का जीवन जीनेवाले की कीमत आधा सेर सतुआ और वह भी कभी मिला, कभी नहीं। लेकिन उसीका कहानी, लेख, चित्र आदि में काल्पनिक व आकर्षक लेकिन भद्दा चित्रण करके पुस्तक छपवाकर बेचनेवाले की कीमत सैकड़ों रुपये रोज, यह क्यों? अनाज पैदा करनेवाले की कीमत अधिक-से-अधिक सूखी पेट भर रोटी और उसी अनाज की दलाली करके इधर-उधर करनेवालो को भी दूध-जलेबी क्यों? जिन्दगी की ज़रूरतों को पैदा करनेवाले भूखों मरें और उनकी पैदा की हुई चीज़ों की व्यवस्था, देखभाल करनेवाले खूब ऐश-आराम से रहें यह क्यों? आलीशान मकान बनानेवाले के पास टूटी झोंपड़ी भी नहीं यह भला क्यों? दूसरी तरफ इन कलाकार, राजनेताओं, व्यापारियों, न्यायाधीशों, तथा इनके सहकारियों के लिए उन्हीं रोटी कमानेवालों से विभिन्न प्रकार से छीनकर अस्पताल, दवाइयां, यातायात की सुविधाएं, स्कूल आदि की समस्त सुविधाओं के सरंजाम जुटाये जाते हैं और अगर वह रोटी पैदा करनेवाला धरती का लाल इन सबकी तरफ आंख उठाकर देखे भी तो दुतकारा जाता है।

दुनिया में अत्याचार, अन्याय, दुराचार, आदि सब इसीके परिणाम हैं। आदमी इनसे परेशान है। लेकिन इस परिस्थिति को बदलने के लिए भी तैयार नहीं है। आज इंसान एक ऐसी स्थिति में आ गया है कि वह पीछे लौट नहीं सकता और आगे विनाश दिखाई देता है। ऐसी स्थिति में कुछ नये ढंग से सोचना होगा। रोटी पैदा करनेवाले को समाज में उसका उचित स्थान देना होगा। आज समाज की ऐसी स्थिति है कि समाज का बुनियादी और मुख्य व्यक्ति सबसे गिरा हुआ और उपेक्षित हो गया है। वह खुद भी अपनी जगह से हिल चुका है। आखिर यह वहां इस उपेक्षित स्थिति में क्यों पड़ा रहे? उसे समाज में उचित स्थान देना होगा। सारी अर्थ-रचना, समाज-रचना, सांस्कृतिक और व्यवस्था की रचना उसीको केन्द्र मानकर करनी होगी। पहले कदम के तौर पर इस रोटी पैदा करनेवाले को सबके बराबर का स्थान देना होगा। आर्थिक दृष्टि से भी और सामाजिक दृष्टि से भी। दूसरे कदम के तौर पर सारी समाज रचना ही उस रोटी कमानेवाले को केन्द्र मानकर बनानी होगी। यह होगा सर्वोपरि उसका जीवन, कला, साहित्य, संस्कृति का सच्चा प्रतीक होगा। अतः वह कलाकार भी होगा, साहित्यकार भी होगा, व्यवस्थापक भी होगा, यह सबकुछ होते हुए भी वह रोटी कमानेवाला अवश्य होगा। ऐसी हालत में रोटी कमानेवाले और ग़ैर-रोटी कमानेवाले दो वर्ग नहीं होंगे।

इस आधार पर सोचेंगे तो जीवन की आर्थिक योजना कृषि-औद्योगिक परिवारों के रूप में होगी। जिसकी शृंखला इस प्रकार होगी——

(१) कृषि-औद्योगिक परिवार
(२) कृषि-औद्योगिक गांव
(३) कृषि-औद्योगिक क्षेत्र।

इस परस्पर सहकार से बंधी शृंखला में सबका दर्जा बराबर का होगा। इन कृषि-औद्योगिक इकाइयों में सबको पूरा विकास करने का पूरा मौका रहेगा। सब सबके पूरक और सहयोगी होंगे।

मस्तिष्क में भरे हुए ज्ञान का जितना अंश काम में लाया जाय, उतने ही का कुछ मूल्य है, बाकी सब व्यर्थ बोझा है।

——महात्मा गान्धी

सच्चा प्रेम, सच्चा बलिदान

●● गोपालकृष्ण मल्लिक

(१)

फूलबाई का मार्मिक पत्र पुरन्दर ने एक ही सांस में पढ़ लिया, फिर भी उसे तृप्ति नहीं मिली, आत्म-शांति प्राप्त नहीं हुई। एक बार, दो बार, तीन बार; बार-बार उसने पढ़ा, तब भी वही हाल ! उसकी आंखें झर रही थीं, पर पत्र पढ़ता ही जा रहा था। शैशव की सारी स्मृति, सारा दृश्य उसकी आंखों में चित्रवत् खिंच गया। उसने खुले पत्र को समेट लिया और उसी प्रेम-पुनीत स्मृति में खो गया; स्नेह-स्निग्ध विचार में लीन हो गया।

दोनों एक ही गांव के थे। फूलबाई एक वृद्धा विधवा की एकमात्र पुत्री थी, वृद्धा मां की आंखों की पुतली, अंधी की लाठी, जीवन का सहारा थी। पुरन्दर उसका पड़ोसी था। वे दोनों गांव की पाठशाला में एकसाथ ही शिक्षा पाते थे। बाल्यकाल में दोनों में अपार स्नेह था। दोनों परस्पर हिल-मिलकर पढ़ते और साथ ही खेला करते थे। वय-वृद्धि के साथ-साथ उनके स्नेह हृदय-वृक्ष की भी अभिवृद्धि होती गई।

जीवन में यौवन के प्रवेश करते ही फूलबाई की माता ने पुरन्दर के साथ उसका विवाह करने का निश्चय प्रकट किया; किन्तु उसकी इस कामना की पूर्ति नहीं हो सकी। माता के जीवन तथा अरमान को काल ने अपना ग्रास बना लिया। फूलबाई वृक्ष से टूटी लतिका की भांति मुरझाने लगी। उसकी विपत्ति का यहीं अन्त नहीं था—विपत्ति कभी अकेली आती है क्या?

फूलबाई अनुपम लावण्यमयी थी और उसके अद्भुत सौंदर्य की ख्याति, धाक चारों ओर फैल चुकी थी। राजे-महाराजे उसके रूप-लावण्य-रस का पान करने के लिए हमेशा लालायित रहते थे। उसी समय मुगल-सम्राट् औरंगजेब की नज़र अनायास उसपर पड़ी और वह उसपर लुब्ध हो गया। एक दिन अचानक उसके सैनिक फूलबाई को उठा ले गये। वह औरंगजेब के बेगमों में प्रधान बना दी गई। उसका नाम फूलजानी बेगम पड़ा।

जीवन की इस दुर्दान्त घटना के बाद वह बहुत क्षुब्ध और दुखी रहने लगी। सम्राट् की बेगम होकर भी वह निरन्तर शोकाग्नि में जलती रहती थी। वह जीवन से ऊब चुकी थी और आत्म-हत्या तक करने का निश्चय कर चुकी थी। इसीलिए अंतकाल में अपने अन्तर्देव को उसे दर्शन देने के लिए कातर प्रार्थना करते हुए उसने पुरन्दर को उक्त मार्मिक पत्र लिखा था।

"तो क्या तुम मेरी सहायता कर सकोगी बांदी ?" अपनी आंखों से आंसू पोंछते हुए पुरन्दर ने पत्र-वाहिका से पूछा। वह फूलजानी बेगम की प्राण-प्रिय और परम विश्वस्त बांदी थी।

"अपनी बेगम साहिबा की ख्वाहिश पूरी करने के लिए मैं अपनी जान तक अर्पित कर सकती हूं।" बांदी ने बिना विलंब किये जवाब दिया।

"तो तुम मुझे अपनी बेगम के पास ले चलो।" पुरन्दर ने गंभीर स्वर में कहा।

बांदी आगे बढ़ी और उसके संकेत पर पुरन्दर उसके पीछे-पीछे चला।

(२)

"मैं परम अपवित्र हूं, मेरे नाथ ! आप मुझे स्पर्श न करें।" फूलजानी ने रोते-रोते कहा। उसकी आंखों में आंसू की बाढ़ आ गई थी !

"तुम परम पवित्र हो फूल ! तुम देवी हो, पूज्या हो।" पुरन्दर ने फूलजानी को अपने अंक-पाश में बांधते हुए कहा। "जिसका मन और जिसकी आत्मा अपवित्र नहीं है, जो विवश है, मन से जिसने पर-पुरुष की ओर दृष्टि नहीं डाली; वह नारी काया से बंधन में पड़कर भी अपवित्र नहीं मानी जा सकती। मैं तुम्हें अपनी सहधर्मिणी बनाकर रक्खूंगा देवी।"

"ऐसा मैं कभी नहीं होने दूंगी, नाथ ! अब मैं आपके योग्य नहीं रह गई हूं।" रोते-रोते फूल ने कहा। "आप मेरा कहा मान लें, नाथ !"

पुरन्दर अवाक् खड़ा था। फूल तभी बोल पड़ी, "समय बहुत कम है, स्वामी।"

"तो तुम क्या चाहती हो, फूल ?" पुरन्दर की आंखें छलछला आईं।

"आपके दर्शन के लिए ही मैं अबतक जीवित थी।" फूल ने आंसू पोंछते हुए बड़ी धीरता से कहा, "मैं चाहती हूं आप अपने हाथों से मेरा प्राणान्त कर दें। मैं पवित्र हो जाऊंगी, मेरी आकांक्षा पूरी हो जायगी। परलोक में पुनः आपकी सेवा में आ जाऊंगी।"

"यह क्या कहती हो, फूल!" पुरन्दर ने बड़े उदास होकर कहा

"मैं जो-कुछ कह रही हूं, वह बिलकुल ठीक है, मेरे नाथ! आप मेरी यह अंतिम लालसा पूरी करें।" वह बोल उठी।

पुरन्दर ने कटार खींच ली। हाथ ऊपर उठाया, कटार चमक उठी। उसका कलेजा धड़क उठा और हाथ हिल गया; किन्तु फूल के चेहरे पर प्रसन्नता नाच उठी।

सहसा पीछे से बांदी ने उसका हाथ पकड़ लिया। पुरन्दर सन्न रह गया। फूल क्रोध से कांप उठी—"हाथ छोड़ दो, बांदी! मैं बेगम के नाते तुम्हें हुक्म दे रही हूं।" फूल ने बांदी को जोर से डांटा। बांदी भाग खड़ी हुई।

(३)

अहमदनगर किले के बाहर एक समाधि बनी हुई है, जिसपर फारसी में एक शायरी खुदी है, जिसका आशय है :

"जो मैं जानता, सरल बालिका माँहि।
इतना अतुलित प्रेम है, फूल छेड़ता नाहिं॥"

औरंगजेब की आज्ञानुसार उसकी सारी बेगमें फूल की समाधि पर पुष्प चढ़ातीं और दीपक जलाती थीं।

नालायक बांदी ने जाकर औरंगजेब को सारा भेद बता दिया। अनुमान से ही फूल ने घबड़ाहट में भरकर कहा, "आप इस सुरंग की राह शीघ्रता से चले जायं। सुरंग-द्वार पर सुसज्जित अश्व तैयार मिलेगा।"

पुरन्दर ने शीघ्रता से सुरंग में प्रवेश किया और पूर्व तैयार अश्व पर सवार होकर भाग निकला। किन्तु औरंगजेब के सैनिक ने उसका पीछा किया।

सैनिकों के बाण पुरन्दर के शरीर में चुभते जा रहे थे। रक्त उसके शरीर से धारा-प्रवाह टपक रहा था। किन्तु पुरन्दर वायु-विनिंदक गति से घोड़ा दौड़ाये भागा जा रहा था। अनायास उसका शरीर शिथल पड़ गया। वह पकड़ लिया गया और औरंगजेब के सम्मुख ला खड़ा किया गया।

"किले के भीतर कैसे पहुंचे?" सहानुभूति के स्वर में औरंगजेब ने बंदी पुरन्दर से पूछा। "वहां कोई आदमी नहीं जा पाता। भेद बता देने पर मैं तुम्हें माफ कर दूंगा।" कहकर उसने बड़ी अभेद्य गंभीर दृष्टि से उसे देखा।

"वीर मराठे अकारण किसी के सामने सिर नहीं झुकाते, उसमें भी तुम्हारे जैसे आततायी शासक के सामने! तुमसे मांफी मांगू, यह मुझसे भी नहीं हो सकता।" क्रोध से कांपते हुए लाल-लाल आंखें किये पुरन्दर ने कहा, "तुमने मेरे सर्वस्व, मेरी पत्नी की चोरी की थी, मैं अपने उसी सर्वस्व भारतीय देवी को लेने आया था।"

औरंगजेब को यह अपना भारी अपमान-सा लगा, वह अपमान सह नहीं सकता था। उसने अविलंब पुरन्दर को प्राण-दंड की आज्ञा दी।

बाणविद्ध पुरन्दर के शरीर में तुरंत ही चमकती हुई संगीनें चारों ओर से धंस गईं। औरंगजेब अपनी आंखों से देख रहा था। सहसा पीछे की ओर से एक दर्दभरी चीख सुनकर वह चौंक गया। देखा तो घबड़ा गया, फूलजानी बेगम हाथ में चमचमाती कटार लिये भागती आ रही थी। उसकी बिथुरी केशराशि नागिनों की तरह पीठ पर लहरा रही थी। वह चंडी-सी बन गई थी, विकराल रूप धारण किये।

औरंगजेब फूलजानी का यह रूप देखकर कांप उठा। क्षणभर तक सभी सैनिक स्तब्ध रह गये। उन्होंने फूल के हाथ से कटार छीनने की कोशिश की, किन्तु इसके पूर्व ही वह कठोर कटार उसके कोमल हृदय में प्रवेश कर गई। फूल धराशायी हो गई। भूमि पर गिरे उसके शरीर से खून का फौवारा छूट पड़ा। औरंगजेब अवाक् था और व्यथित हो रहा था।

फूल का प्राण अब शेषप्राय था। मरते-मरते उसने कहा, "भारतीय नारी का पति ही सर्वस्व होता है। विश्व की कोई भी शक्ति उसे अपने पति से अलग नहीं कर सकती। मुगल-सम्राट् औरंगजेब! तेरे दुर्ग में बंद रहकर भी मैं अपने इसी देवता के पूज्य चरणों में अर्पित थी। अब इनके परलोक-गमन के साथ मैं भी उन्हींके पास जा रही हूं।"

(शेष पृष्ठ ३११ पर)

कसौटी पर

हिमालय के आंसू—लेखक : **आनन्द मिश्र; प्रकाशन : राजपाल एण्ड संस, दिल्ली; मूल्य : चार रुपये।**

'हिमालय के आँसू' में मध्यप्रदेश के प्रसिद्ध तरुण कवि श्री आनन्द मिश्र की लगभग ६१ काव्य कृतियों का संकलन है। इस पुस्तक की पाण्डुलिपि को ही मध्यप्रदेश शासन ने 'देव पुरस्कार' प्रदान करके सम्मानित किया, यह कवि की लोकप्रियता का ही प्रमाण है। श्री मिश्र ने इतनी कम उम्र में जो काव्य-कृतियां हिन्दी को प्रदान की हैं, उनसे उनकी प्रतिभा का आभास मिल जाता है। 'हिमालय के आंसू' में संकलित सभी कृतियां प्रेरणा और अनुभूति के रस में सराबोर हैं। जहां इन रचनाओं में हमारे पाठकों को जागरण का सन्देश पढ़ने को मिलेगा वहां वे इनमें कल्पना, भावना और अनुभूति की झाँकी भी प्राप्त कर सकेंगे। श्री मिश्र की रचनाएं, जहां हमारे लिए पठनीय हैं, वहां वे चिन्तन के कुछ कण भी हमारे मानस में जोड़ जाती हैं।

साधना के स्वर—लेखक : **विपिन जोशी; प्रकाशक : विपिन स्मारक समिति, इटारसी (म. प्र.) मूल्य : तीन रुपये।**

'साधना के स्वर' में मध्यप्रदेश के एक लोकप्रिय स्वर्गीय कवि श्री बालकृष्ण जोशी 'विपिन' की रचनाओं का संकलन प्रस्तुत किया गया है। श्री विपिन मध्यप्रदेश की शान थे। उनके देहान्त के बाद इटारसी के लोगों ने उनका यह संकलन प्रकाशित करके वास्तव में एक अभिनन्दनीय कार्य ही किया है। कवि-सम्मेलनों में विपिन जोशी को जिन लोगों ने सुना है, वे इन रचनाओं से परिचित ही होंगे। आशा है हिन्दी-जगत् में स्वर्गीय कवि के इस काव्य-संकलन का स्वागत होगा।

गीता—**हिन्दी-पद्यानुवाद। अनुवादक : रामकृष्ण भारती ; प्रकाशक : मुनि प्रकाशन, करौल बाग, नई दिल्ली।**

श्री रामकृष्ण भारती द्वारा किया गया 'भगवद्गीता' का यह पद्यानुवाद हिन्दी में एक नई समृद्धि का सूचक है। वैसे गीता के अनेक अनुवाद हुए हैं, और पद्यानुवाद भी बहुत-से प्राप्य हैं, किन्तु यह अनुवाद भी अपनी विशिष्टता लिये हुए है। अनुवादक संस्कृत के ज्ञाता होने के साथ-साथ क्योंकि स्वयं सिद्धहस्त कवि भी हैं, अतः इसमें नीरसता नहीं आ पाई। इस सरस—सुप्रांजल और प्रवाहपूर्ण अनुवाद के लिए वह बधाई के पात्र हैं।

—सुमन

(पृष्ठ ३१० का शेष)

कहते-कहते उसने दम तोड़ दिया। फूलदेवी स्वर्ग सिधार गई, अपने प्राण-प्रिय के साथ।

औरंगजेब की आंखों की पुतली कौंध गई। उसने सिर थाम लिया, भारतीय नारी की इस पति-भक्ति को देखकर वह चमत्कृत हो उठा। उसने अपने ही हाथों अहमदनगर किले के बाहर इस पतिव्रता की समाधि बनवाई।

क्या व कैसे ?

हमारी ये ऐतिहासिक तिथियां

अगस्त-मास की कई तिथियां इतिहास के नये-पुराने पृष्ठ खोल देती हैं। १ अगस्त को हमने भारत के महान् सपूत लोकमान्य तिलक को खोया था। तिलक वह ऐतिहासिक व्यक्ति थे, जिन्होंने सबसें पहले उद्घोषणा की थी, 'स्वराज्य हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है।' स्वाधीनता-संग्राम की उन्होंने पृष्ठभूमि तैयार की, स्वदेश को जाग्रत करने में उन्होंने भारी योगदान दिया।

७ अगस्त भारतीय संस्कृतिके महान उन्नायक रवीन्द्र ठाकुर की पुण्यतिथि है। सर्वतोमुखी प्रतिभा का ऐसा व्यक्तित्व हजारों वर्षों में एक बार उत्पन्न होता है। गुरुदेव उच्च कोटि के लेखक ही नहीं थे, भारतीयता के परिपोषक भी थे। उन्होंने भारत में ही नहीं, सारे संसार में भारतीय संस्कृति का झंडा ऊंचा किया।

रवीन्द्र के विछोह से बहुत पहले इसी दिन इस देश में एक ऐसे व्यक्ति का प्रादुर्भाव हुआ था, जिसे सारा देश जानता और मानता है। गोस्वामी तुलसीदास के अमर ग्रंथ 'रामचरितमानस' ने जो श्रद्धा प्राप्त की है, वह अन्य किसी ग्रंथ को आजतक नहीं मिली। 'रामायण' अमीर-गरीब सब घरों में अपना स्थान बनाये हुए है।

और १५ अगस्त! इसी विधि-निर्मित तिथि को आगा-महल के बंदीवास में गांधीजी के दाएं हाथ महादेव देसाई का निधन हुआ था। महादेवभाई गांधीजी के साथ उनकी छाया की भांति रहे। गांधीजी की प्रवृत्तियों में उनका योग अद्वितीय था। असामान्य प्रतिभाशाली, परिश्रमी और निष्ठावान् व्यक्ति थे वह।

पर उनका बलिदान आगे चलकर १५ अगस्त को ही फलीभूत हुआ। उसी दिन हमारा देश स्वाधीन हुआ। विदेशी सत्ता से अंततोगत्वा मुक्ति मिली। नये प्रभात का उदय हुआ। कोटि-कोटि भारतवासियों की मनोकामना पूर्ण हुई।

१५ अगस्त को हमें एक महापुरुष प्राप्त हुए थे। वह थे श्री अरविन्द। अपने जीवन का कुछ भाग सक्रिय राजनीति में बिताकर, उनकी दृष्टि मानव-जीवन के उच्चतम मूल्यों की ओर गई और अपनी महान साधना से उन्होंने वह सिद्धि प्राप्त की, जो अन्य किसीको प्राप्त नहीं हुई थी। उन्होंने मानव-जीवन को ऊर्ध्वगामी बनाने के लिए सही दिशा बताई।

और यही वह तिथि है, जब हमने अपने आध्यात्मिक मनीषी रामकृष्ण परमहंस के पार्थिव शरीर को सदा के लिए विदा दी। परमहंस ने अपने जीवन और वाणी से वह धारा प्रवाहित की, जिसमें अवगाहन कर आज भी शीतलता अनुभव होती है।

ये सब तिथियां प्रतिवर्ष आती हैं और याद दिला जाती हैं कि हमारा देश कितना महान है—भौगोलिक सीमा और क्षेत्रफल के कारण नहीं, मानव-निधि की दृष्टि से। प्रत्येक क्षेत्र में उसने कैसे-कैसे महापुरुष पैदा किये हैं। ये तिथियां यह भी आवाहन करती हैं कि अपनी महान परम्पराओं को हमें आगे बढ़ाना है और देश के मान में वृद्धि करनी है। किसी भी राष्ट्र का बनना-बिगाड़ना उसके निवासियों पर निर्भर करता है। यदि भारत के कोटि-कोटि नर-नारी ईमानदारी के साथ, स्वतंत्र देश के नागरिक के नाते, अपने कर्तव्य का पालन करें तो कोई कारण नहीं कि जो ज्योति हमारे महापुरुषों ने प्रज्वलित की थी, वह आज के अंधकार को दूर न कर सके।

हमारी कामना है कि ये तिथियां हमारे देश को नया संकल्प और नया बल दें।

विश्व की समस्याएं लोकशक्ति द्वारा सुलझेंगी

सम्मेलनों का अब कितना महत्व रह गया है और उनका परिणाम क्या और कितना निकलता है, इसके तीन ताजे दृष्टान्त हमारे सामने हैं। 'गांधी शांति प्रतिष्ठान' द्वारा आयोजित दिल्ली का शान्ति-सम्मेलन, मास्को की

निरस्त्रीकरण तथा शान्ति-कांग्रेस और विभिन्न राष्ट्रों के प्रतिनिधियों का जेनेवा-सम्मेलन। इन सम्मेलनों पर लाखों रुपये खर्च हुए हैं और उनका नतीजा यह निकला है कि दिल्ली के सम्मेलन के बाद ही अमरीका ने आणविक अस्त्रों के परीक्षण किये और मास्को-कांग्रेस के तत्काल बाद ही ख्रुश्चेव ने घोषणा की कि सोवियत सरकार आणविक अस्त्रों के परीक्षण का सिलसिला आरंभ करेगी। बेचारा जेनेवा-सम्मेलन! वह तो निरंतर अंधेरे में लट्ठ मारने का प्रयास कर रहा है।

कहते हैं, गुजरात में जब कोई काम नहीं करना होता है तो बीच में पुरोहित डाल देते हैं। इसी प्रकार आज शासन में काम की रुकावट के लिए कान्फ्रेंसों का और राजनीति में गत्यवरोध उत्पन्न करने के लिए सम्मेलनों का बड़ी सफलता-पूर्वक उपयोग हो रहा है।

सच बात यह है कि किसी भी राष्ट्र के नेताओं और प्रतिनिधियों के सामने संकुचित स्वार्थ रहते हैं और वे समूची मानवता के हित की दृष्टि से न सोच सकते हैं और न उसके लिए अपने स्वार्थों का त्याग ही कर सकते हैं। 'पर उपदेश कुशल बहुतेरे' वाली बात चरितार्थ हो रही है। अमरीका रूस से कहता है, आणविक अस्त्रों के परीक्षण पहले आप बंद करो तब मैं करूंगा। रूस कहता है, पहले आप बंद करो, तब हम करेंगे। नतीजा जो होना है, वही हो रहा है। सारे संसार में आज आतंक छाया है और भावी युद्ध की आशंका से दुनिया के छोटे-बड़े सारे देश भयभीत हो रहे हैं।

असली बात यह है कि अमरीका की या रूस की शक्ति इसमें नहीं है कि वे एक-दूसरे को उपदेश दें, जबकि उनका आचरण उनके कथन के विरुद्ध हो। उनकी वास्तविक शक्ति तो तब प्रकट होगी, जबकि अमरीका रूस से और रूस अमरीका से कहे, लीजिये जनाब, आप निरस्त्रीकरण करें या न करें, हम अपने यहां किये देते हैं। आप आणविक अस्त्रों के परीक्षण बंद करें या न करें, हम बंद किये देते हैं।

जो राष्ट्र इतना साहस करेगा, उसका बल नये रूप में प्रकट होगा। उस बल का कोई भी भौतिक बल सामना नहीं कर सकेगा। किसी समय में गांधीजी ने वह शक्ति भारत-वासियों में उत्पन्न की थी। उसके आगे ब्रिटिश सत्ता को सिर झुकाना पड़ा।

किसी भी राष्ट्र को, चाहे वह अमरीका हो या रूस, ब्रिटेन हो या फ्रांस, इतना साहस और बल तब प्राप्त हो सकता है, जबकि उसके पीछे लोकशक्ति हो। आज रूस के पीछे तोप की ताकत है और अमरीका के पीछे धन की। दोनों में से कोई भी राष्ट्र लोकशक्ति द्वारा संचालित नहीं है। फलतः वे बात लोकहित की करते हैं और काम अनिष्ट के करते हैं।

अब समय आ गया है कि लोकशक्ति को जाग्रत् और सुदृढ़ हो जाना चाहिए। उसे समझ लेना चाहिए कि उसका हित-साधन उसके इने-गिने नेता नहीं कर सकते। यह काम उसे स्वयं करना होगा। रूस के करोड़ों निर्दोष व्यक्तियों का संहार करके अमरीका मानवता का वरदान नहीं पा सकता और न ऐसा करके रूस ही शान्ति या मैत्री सम्पादित कर सकता है।

लोकशक्ति को जाग्रत् और प्रबुद्ध करने का काम सम्मेलनों, कांग्रेसों अथवा परिषदों में नहीं होगा, उसके लिए तो प्रत्येक नागरिक को जागरूक और बलशाली होना होगा।

गांधीजी ने इसके लिए तपस्या की थी। आज विनोबा कर रहे हैं। यह काम आसान नहीं है, समय-साध्य भी है और धैर्य भी चाहता है। पर यदि मानव-जाति को सुखी होना है, प्रेम और शान्ति से रहना है, एक-दूसरे का सहायक बनना है तो इसके अलावा दूसरा रास्ता नहीं है।

नैतिक भूमिका की आवश्यकता

हाल ही में समाचार मिला है कि भारत की आबादी ४४ करोड़ के लगभग हो गई है। देश का विभाजन होने के बाद हमारी जन-संख्या ३५–३६ करोड़ रह गई थी; लेकिन परिवार-नियोजन का आंदोलन करने तथा उसपर लाखों रुपये व्यय करने पर भी उसमें ७–८ करोड़ की वृद्धि हो गई। इससे स्पष्ट है कि हमारा देश अपनी समस्याओं के प्रति कितना सजग है और उन्हें सुलझाने का स्वेच्छा से कितना प्रयत्न कर रहा है! एक ओर देश में अन्न की कमी है, जिसकी पूर्ति बाहर से अनाज मंगाकर की जा रही है। देश दिनोंदिन परमुखापेक्षी हो रहा है, दूसरी ओर देश की आबादी असामान्य गति से बढ़ रही है।

बात वास्तव में यह है कि हमारा देश स्वाधीन तो हो

गया है; लेकिन वह स्वाधीनता का अर्थ नहीं समझा है। आज उसके सामने व्यष्टि का स्वार्थ है, समष्टि का हित नहीं है। वह अपने संकीर्ण घेरे में सोचता है और काम करता है।

इस परिस्थिति को पैदा करने में सबसे अधिक दोषी हमारे देश के कर्णधार हैं। वे पत्तियों को सींचते हैं और जड़ की उपेक्षा करते हैं। परिवार-नियोजन की गंभीर समस्या को लेकर उन्होंने जो आंदोलन और प्रचार किया, उसने संयम की हवा पैदा नहीं की। वस्तुतः संयम पर उनका स्वयं का विश्वास भी नहीं था। गांधीजी ने जब-जब परिवार-नियोजन की बात की, उन्होंने भोग-वृत्ति को नियंत्रित करने पर जोर दिया। वह जानते थे कि आर्थिक स्तर की आवश्यकता को बुनियाद बनाकर इस मसले को हल नहीं किया जा सकता। इसके लिए तो नैतिक मूल्यों को आधार-शिला बनाना होगा। वही उन्होंने किया। लेकिन हमारे शासकों ने आर्थिक पहलू पर अत्यधिक बल दिया। अतः फल उल्टा निकला।

ऐसा जान पड़ता है कि हमारे देश के संचालन की बागडोर जिनके हाथ में है, वे आज के प्रश्नों पर बहुत ऊपरी रूप में विचार करते हैं, प्रश्नों की गहराई में नहीं जाते। इसके लिए उनके पास शायद समय भी नहीं है। इसीलिए समस्याएं बराबर उलझती जा रही हैं, उल्टे परिणाम ला रही हैं।

हमारे शासक और हमारी सरकार सबको खुश रखना चाहती है; पर उसे यह पता नहीं कि जो सबको खुश रखने की कोशिश करता है, वह किसीको भी खुश नहीं कर सकता।

नैतिक मूल्यों के प्रति जबतक हमारे नेताओं में गहरी आस्था नहीं होगी और उन्हींको आधार बनाकर जबतक वे समस्याओं का समाधान नहीं खोजेंगे, तबतक हमारे देश का अभ्युदय असंभव है। आज जो स्थिति है, उसमें आबादी आगे और बढ़ेगी। उसके अनुपात में अनाज के उत्पादन में वृद्धि होगी, इसकी संभावना नहीं है। तब भविष्य में ऐसा संकट उत्पन्न होगा, जिसे संभालना मुश्किल हो जायगा।

देश के नियामकों से हमारा अनुरोध है कि वे इस तथा अन्य समस्याओं पर सही और दीर्घ-दृष्टि से विचार करें और ऐसे उपाय खोजें, जिनसे देश की नैतिक शक्ति बढ़े, नैतिक शक्ति के बढ़ने पर बड़ी-से-बड़ी समस्याएं भी आसानी से हल हो जायंगी।

मरहम-पट्टी से काम नहीं चलेगा

कांग्रेस के अंदरूनी झगड़े और अनैतिक आचरण अब सतह पर आ रहे हैं। जिस संगठन ने संयुक्त शक्ति से विदेशी सत्ता की जड़ उखाड़ने का प्रयत्न किया और देश को आजाद कराकर दम लिया, वही संगठन अब छोटे-छोटे दलों में विभक्त होकर आपसी झगड़ों में अपनी शक्ति का अपव्यय कर रहा है। इतना ही नहीं, उसने जातिवाद और सम्प्रदाय-वाद को इतना प्रोत्साहन दिया है कि उसके दूषित चक्र में वह स्वयं बुरी तरह फंस गया है। एक ओर दलगत राजनीति है, दूसरी ओर साम्प्रदायिक विद्वेष, तीसरी ओर पदलोलुपता इस त्रिदोष का शिकार होने से कांग्रेस की शक्ति आज बेहद क्षीण हो गई है। आम चुनावों में कांग्रेसी लोगों ने किस तरह कांग्रेस के उम्मीदवारों को हराने का प्रयत्न किया, वह सर्वविदित है। अपनी ह्रासोन्मुख प्रतिष्ठा को संभालने के लिए कांग्रेस हाई कमांड अनुशासनात्मक कार्रवाही करने की कोशिश कर रही है; लेकिन उसका परिणाम भविष्य में क्या होगा, यह किसीसे छिपा नहीं है। फोड़े में मवाद पड़ने का मौका देकर ऊपर से पट्टी बांधना, यह प्रयास कुछ उसी प्रकार का है। हमारे प्रधान मंत्री कहते हैं, मंत्रिमंडलों में कांग्रेस के सभी प्रमुख दलों का प्रतिनिधित्व होना चाहिए, इस प्रकार वह पदों के लिए लोगों के मन में आशा पैदा कर रहे हैं। चुनाव के खर्च की सीमा होने के कारण दो-चार कांग्रेसी उम्मीदवारों को छोड़कर शेष झूठे हिसाब पेश करते हैं और उसे जानते हुए भी बर्दाश्त किया जाता है। इस प्रकार हिसाब के आरंभ में ही दो और दो पांच कर दिये जाते हैं। आगे का हिसाब फिर सही कैसे हो सकता है? स्पष्ट है कि बुराई को एक जगह प्रश्रय दिया कि बुराइयों की, श्रृंखला आरंभ हो जाती है।

इसलिए यदि कांग्रेस को यथार्थ रूप में शक्तिशाली बनना है तो फोड़े के मवाद को निकालना होगा, ऊपरी मरहम-पट्टी करने से काम नहीं चलने का।

कांग्रेस भले ही चुनावों में हार जाय, भले ही उसकी सरकार न बने, लेकिन शुद्ध साध्य की ओर वह शुद्ध साधनों से ही अग्रसर होगी, इस संबंध में जबतक गहरी निष्ठा और मजबूती उसमें नहीं आवेगी तबतक वह अपनी खोई प्रतिष्ठा

हो प्राप्त नहीं कर सकेगी। देश का शासन कांग्रेस के हाथ में रहे, यह जरूरी है, पर उससे भी ज्यादा जरूरी यह है कि देश की जड़ मजबूत हो। यदि देश की जड़ कमजोर हो गई तो शासन टिकनेवाला नहीं है।

हमारी निश्चित राय है कि कुछ समय के लिए कांग्रेस को नेहरूजी को स्वयं अपने हाथ में लेकर उसकी बुराइयों का उन्मूलन कर देना चाहिए। कांग्रेस की शुद्ध साध्य और शुद्ध साधनों पर आस्था हो जाने और तदनुकूल आचरण बन जाने पर बहुत-सा कूड़ा-कर्कट अपने-आप साफ़ हो जायगा।

भाषा के प्रश्न पर सही दृष्टि

हिन्दी समाचारों की भाषा को सरल करने के रेडियो-अधिकारियों के प्रयास ने सारे देश में बेचैनी पैदा कर दी है। आज जगह-जगह पर उसके विरुद्ध सभाएं हो रही हैं और अगस्त की ११-१२ तारीखों में दिल्ली में एक अखिल भारतीय भाषा-सम्मेलन का आयोजन किया जा रहा है।

सबसे अधिक दुर्भाग्य की बात यह है कि इस अदूरदर्शी कदम ने हिन्दी-उर्दू की दबी हुई समस्या को फिर से उभार दिया है। समाचार-बुलेटिन में हिन्दी के शब्दों के स्थान पर अंग्रेजी और उर्दू के शब्द रखकर भाषा को सरल बनाने की कोशिश कहांतक सफल होगी, इसका जवाब तो समय ही देगा, लेकिन इतना निर्विवाद है कि हिन्दी-उर्दू का झगड़ा उठ खड़े होने पर अंग्रेजी की बुनियाद पक्की हो जायगी। हम इस बारे में पिछले अंक में विस्तार से लिख चुके हैं, लेकिन यह प्रश्न इतने महत्व का है कि इसपर जितना लिखा जाय थोड़ा है।

अधिकारियों का तर्क है कि दिल्ली के बाजारों में सामान्य लोग समाचारों की मौजूदा भाषा को नहीं समझ पाते। लेकिन हम पूछते हैं कि रेडियो के समाचार सुननेवाले क्या दिल्ली के बाजार के ही लोग हैं? सामान्य जनों की समझ के योग्य भाषा जरूर दीजिये, लेकिन वह उन्हें अंग्रेजी या उर्दू के शब्दों द्वारा नहीं मिलेगी।

हमारा उर्दू से कोई झगड़ा नहीं है, अंग्रेजी से भी झगड़ा नहीं है, लेकिन स्पष्ट है कि उन दोनों में से कोई भी भाषा राष्ट्र-भाषा और राज भाषा का स्थान नहीं ले सकती। उर्दू ने तो वह दावा कभी किया भी नहीं, किन्तु जबरदस्ती हिन्दी के साथ उसका गठबंधन करके पुराने वैमनस्य को ताज़ा किया जा रहा है।

सारे हिन्दी-प्रेमियों से हमारा अनुरोध है कि वे इस मसले पर हिन्दी-उर्दू के संदर्भ में विचार न करें, बल्कि सारी भारतीय भाषाओं की संगठित शक्ति को लेकर अंग्रेजी को १९६५ तक उसके स्थान से हटाने और हिन्दी को उसपर आसीन करने का प्रयास करें। राजर्षि टंडनजी ने ठीक ही कहा है, "बिना राष्ट्रभाषा के राष्ट्र गूंगा है।" और गांधीजी ने मानों अपने इन शब्दों में भारत के कोटि-कोटि सामान्य व्यक्तियों की भावना को वाणी प्रदान की है, "अगर अंग्रेजी मेरी मातृभाषा की जगह को हड़पना चाहती है, जिसकी वह हकदार नहीं है, तो मैं उससे सख्त नफरत करूंगा।"

हमारे देश की ९८ प्रतिशत जनता अंग्रेजी नहीं जानती। उसपर अंग्रेजी लादना उसके प्रति घोर अन्याय करना है। वैसे हर व्यक्ति को छूट है कि वह जितनी भाषाएं सीख सके, सीखे; पर सारे देश को अपना काम-काज चलाने के लिए एक विदेशी भाषा के सीखने की लाचारी उठानी पड़े, यह अत्यन्त अवांछनीय और अनुचित है।

अपनी बात को फिर से यहां दोहराने का हमारा आशय यह है कि हिन्दी के सरलीकरण के मसले को हम हिन्दी-उर्दू की समस्या मानने की भूल न कर बैठें। हिन्दी के भण्डार को विवेकपूर्वक किसी भी भारतीय भाषा के शब्दों से समृद्ध किया जाय, इसमें कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए; पर अंग्रेजी सन् १९६५ के बाद न रहे, ऐसी मांग सारे देश को एक स्वर से करनी चाहिए।

हिन्दी में कमियां हैं तो कोई बात नहीं है। हम उन्हें दूर कर लेंगे; पर अंग्रेजी के पहाड़ जैसे बोझ को हम सहन नहीं कर सकेंगे।

—य०

'मंडल' की ओर से

घर में छोटा-सा पुस्तकालय बनाइये

प्रत्येक व्यक्ति की कुछ-न-कुछ आवश्यकताएं होती हैं, जिनकी पूर्ति के लिए वह बहुत-सी चीजों का संग्रह करता है और नित नई-नई चीजें खरीदता रहता है। लेकिन क्या आपने कभी यह भी सोचा है कि आदमी केवल शरीर से ही आदमी नहीं है। उसके मन है, जो भूख अनुभव करता है। उसे विचारों के लिए उत्तम साहित्य की उतनी ही आवश्यकता होती है, जितनी पेट को भोजन की। पर पेट की भूख हमसे सहन नहीं होती, मन की भूख को हम सहन कर लेते हैं, और उसकी प्रायः उपेक्षा कर जाते हैं।

यह उचित नहीं है। जिस प्रकार बिना भोजन के भूख मर जाती है, उसी प्रकार बिना मानसिक भोजन के हमारा मन कुंठित हो जाता है।

अतः अपने घर के एक कोने में एक छोटा-सा पुस्तकालय अवश्य रखिये। उसमें चुनी हुई ऐसी पुस्तकें रखिये, जिन्हें घर के सब सदस्य पढ़ सकें, जो विचारों को स्वस्थ खुराक दें और जो घर के वातावरण को ऊपर उठावें, घरवालों को संस्कारवान बनावें।

आप देखेंगे कि यह पुस्तकालय सारे घर के लिए दिशा-दर्शन का काम करेगा। यदि साधन आपके सीमित हैं तो आप पुस्तकें थोड़ी-थोड़ी करके खरीदते रहें, पर खरीदें अवश्य और केवल अच्छी पुस्तकें। जिस तरह गलत भोजन पेट को बिगाड़ता है, उसी प्रकार गलत पुस्तकें भी विचारों को विकृत करती हैं। इसलिए पुस्तकों के चुनाव में हमेशा विवेक रखिये।

'मंडल' के प्रकाशन ऐसे हैं कि जिनके बारे में आपको सोचने की आवश्यकता नहीं है। एक भी पुस्तक आपको हल्की नहीं मिलेगी। उसकी सब पुस्तकों को घर का प्रत्येक सदस्य पढ़ सकता है।

पुस्तकालय के निर्माण का काम तत्काल आरंभ कर दीजिये। भले ही पहले महीने आप एक ही पुस्तक खरीदें, लेकिन उसका श्रीगणेश फौरन कर दीजिये। आपकी सूचना मिलने पर हम 'मंडल' का बड़ा सूचीपत्र आपको भिजवा देंगे।

नई पुस्तकें

'मंडल' नई-नई पुस्तकें बराबर निकालता रहता है। अबतक लगभग ६०० पुस्तकें उसके द्वारा प्रकाशित हो चुकी हैं, जिनमें से केवल ५०० प्राप्य हैं। 'मंडल' के आगामी प्रकाशनों में, जो समय-समय पर निकलते रहेंगे, आपको बहुत-सी पुस्तकें ऐसी मिलेंगी, जिन्हें आप न केवल पढ़ना चाहेंगे, बल्कि अपने यहां उनका संग्रह भी करेंगे। इन तथा अन्य प्रकाशनों की सूचना 'जीवन-साहित्य' के अंकों में समय-समय पर निकलती रहती है। यदि आप ४) वार्षिक शुल्क भेजकर 'जीवन-साहित्य' के ग्राहक बन जायं तो आपको कई लाभ होंगे। आपको प्रतिमास ४० पृष्ठों की पठनीय सामग्री—लेखादि—मिलते रहेंगे, विद्वानों के विचार मिलते रहेंगे, साल में किसी लोकोपयोगी विषय पर एक विशेषांक पायंगे, 'मंडल' के प्रकाशनों की जानकारी रहेगी और यदि आप 'मंडल' की पुस्तकें खरीदेंगे तो ग्राहक के नाते आपको कमीशन में कुछ सुविधा हो जायगी। सुविधाओं को देखते चार रुपये की रकम कुछ भी नहीं है। यदि आप ग्राहक नहीं हैं तो शीघ्र ही बन जाइये। यदि आप ग्राहक हैं तो अपने संबंधियों तथा मित्रों को ग्राहक बना दीजिये।

गांधी-डायरी

'मंडल' प्रति वर्ष बड़ी-छोटी गांधी-डायरी निकालता है। वह सामान्य डायरी नहीं है, गांधी-विचार-धारा की मार्ग-निर्देशिका है। अन्य उपयोगी सामग्री के अतिरिक्त प्रत्येक पृष्ठ पर गांधीजी का एक वचन है, जो उसी दिन बोला या लिखा गया है। सन् १९६३ की डायरी तैयार हो रही है। आप उसे अवश्य खरीदें और उसीका इस्तेमाल करें। बड़ी का मूल्य २॥) है, छोटी का १।)। २ अक्तूबर को यह डायरी निकल जायगी। अच्छा हो कि आप अपनी प्रति अभी से सुरक्षित करा लें।

—मंत्री

चुने हुए रूप में विज्ञापन देने का अर्थ होता है

बड़ा लाभ

उत्तर रेलवे

आपको रेलवे स्टेशनों पर होर्डिंग्स, पोस्टर, नियन संकेतों आदि
के लिए मूल्यवान स्थानों की सुविधा
प्रस्तुत करती है।

पूरी जानकारी के लिए लिखिये :

जन-संपर्क अधिकारी

उत्तर रेलवे

स्टेट एण्ट्री रोड, नई दिल्ली

हमारे प्रकाशन : दूसरों की दृष्टि में

आकृति से रोग की पहचान—लेखक : लूई कूने; रूपान्तकार : महाबीरप्रसाद पोद्दार, पृष्ठ-संख्या १२८, मूल्य—दो रुपये ।

यह प्राकृतिक चिकित्सा की सचित्र पोथी है, जिसमें इलाज की इस पद्धति को प्रचलित करनेवाले कूने महोदय ने आकृति से रोगी और नीरोगी की पहचान बड़े ही सहज और सरल ढंग से बताई है। उन्होंने अपने प्रयोगों और अनुभवों के आधार पर ही इसमें उदाहरण दिये हैं। पुस्तक सभीके लिए अत्यन्त उपयोगी है। रूपान्तर इतना सफल किया गया है कि अनुवाद मालूम ही नहीं होता।

—'जागरण'

इंदौर

नीरोग होने का सच्चा उपाय—लेखक : डा० आर. टी. ट्राल; रूपान्तरकार : वासुदेवशरण अग्रवाल; पृष्ठ-संख्या ९६; मूल्य : एक रुपया ।

प्रस्तुत पुस्तक डा० ट्राल की अंग्रेजी पुस्तक 'दी ट्रू हीलिंग आर्ट' का हिन्दी-रूपान्तर है। इस पुस्तक में डा० ट्राल ने बड़ी युक्ति और प्रमाण के साथ औषधि-व्यवहार का खण्डन किया है। आपने बताया है कि वास्तव में रोग क्या है। आपकी मान्यता है कि शरीर के दोष जब शरीर द्वारा ही बाहर निकाले जाते हैं, तब उन्हें रोग की संज्ञा दी जाती है। ऐसी दशा में दवा-दारू करके बाहर निकलते हुए उन शारीरिक विकारों का निकलना रोक देने से शरीर के अन्दर दोष बना ही रहता है। यही कारण है कि निरन्तर अच्छी-से-अच्छी औषधियों का प्रयोग होते हुए भी बीमारियां बढ़ती जाती हैं।

पुस्तक में विषय-प्रतिपादन तो अपने समय के उच्च डाक्टर द्वारा किया ही गया है, उसका हिन्दी-रूपान्तर भी हिन्दी के लब्ध-प्रतिष्ठ दार्शनिक, विचारक और लेखक श्री वासुदेवशरण अग्रवाल द्वारा किया गया है। पुस्तक की भाषा परिमार्जित, सुबोध और प्रभावशाली है। पुस्तक प्रत्येक प्राकृतिक चिकित्सा-केन्द्र में रखने योग्य है।

'स्वस्थ जीवन'

कलकत्ता

पाठकों तथा पुस्तक-विक्रेताओं के लिए

विशेष सूचना

'समाज-विकास-माला' हमारी विशेष लोकप्रिय पुस्तक-माला है। इसकी पुस्तकों में हमारे देश की सांस्कृतिक झांकी मिलती है और वे हमारे जीवन को आदर्शोन्मुखी बनाती हैं। अबतक १६३ पुस्तकें प्रकाशित की जा चुकी है; और भी पुस्तकें प्रकाशित करने की योजना है। प्रत्येक पुस्तक का मूल्य अबतक ३७ नये पैसे था; लेकिन पुस्तकों की उत्तम सामग्री, उसको सुग्राह्य बनानेवाले चित्र, कागज़ के बढ़ते हुए दाम तथा छपाई की बढ़ी हुई दरों के कारण अब उतने में इन पुस्तकों को देना शक्य नहीं है। इसलिए १ अक्तूबर, १९६२ से इनका मूल्य ४० नये पैसे किया जा रहा है। आशा है, इस माला के प्रेमी पाठक यथापूर्व उत्साह से इन पुस्तकों के प्रचार-प्रसार में लगे रहेंगे और माला की वृद्धि के हमारे प्रयास में योगदान देते रहेंगे।

व्यवस्थापक

सस्ता साहित्य मण्डल, नई दिल्ली

रामकृष्ण बजाज

अतलांतिक के उस पार

इस पुस्तक में लेखक ने अपनी अमरीका-यात्रा का बड़ा ही रोचक और ज्ञानवर्द्धक विवरण प्रस्तुत किया है। पुस्तक सभी पाठकों के लिए उपयोगी है। आकर्षक आवरण, आर्ट पेपर पर छपे अनेक चित्र, पृष्ठ; १३०, मूल्य अढ़ाई रुपये।

वर्ष २३ : अंक ९

जीवन साहित्य

सत्साहित्य प्रकाशन

आचार्य विनोबा
११ सितम्बर को जिनकी वर्षगांठ

सम्पादक
हरिभाऊ उपाध्याय
यशपाल जैन
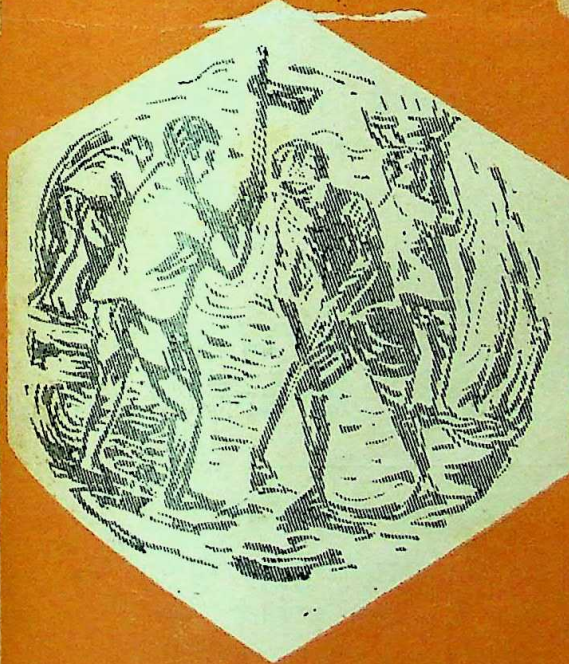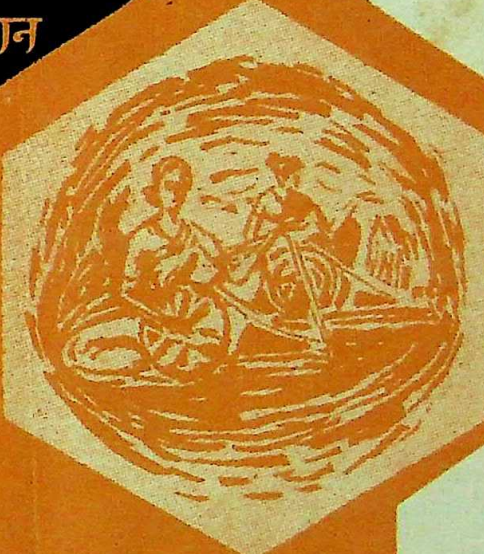
एटम ने यह सिद्ध कर दिया है कि अणु में ऐसी शक्ति है कि वह संहार कर सकती है। एक साधारण भौतिक परमाणु में अगर इतनी शक्ति है तो हमको यह समझना है कि चैतन्य में, ज्ञान-परमाणु में, कितनी शक्ति होगी ? —विनोबा

जीवन-साहित्य

सितम्बर, १९६२

विषय-सूची

आवश्यक

पत्र-व्यवहार करते समय अपनी ग्राहक-संख्या अवश्य दें, जिससे कार्रवाई सुविधापूर्वक और अविलंब हो जाय।

उत्तर प्रदेश, राजस्थान, मध्यप्रदेश, हिमाचल प्रदेश, दिल्ली, बिहार तथा पंजाब राज्य-सरकारों द्वारा कालेजों, लाइब्रेरियों तथा उत्तर प्रदेश की ग्राम-पंचायतों के लिए स्वीकृत

वर्ष २३
अंक ९

सितम्बर, १९६२

ग्रंथ हमारे लिए हैं, हम ग्रंथों के लिए नहीं

विनोबा

भारत का विधान इस जमाने की स्मृति है। जैसे मनु-स्मृति है, याज्ञवल्क्य स्मृति है, पराशर-स्मृति है, वैसे यह भी एक स्मृति है। उसमें प्रजा के क्या-क्या कर्तव्य हैं, क्या-क्या अधिकार हैं, समाज के नियमन के लिए क्या-क्या योजना की जायगी, प्रशासन कैसे चलेगा, ये सब बातें रहती हैं। प्रशासन में गलतियां हुई तो उसके खिलाफ लड़ने के लिए प्रजा के पास क्या साधन हैं, यह भी उसमें दिया रहता है। एक साधन है, हाईकोर्ट? कोर्ट के न्यायाधीश को तनख्वाह मिलेगी या नहीं, उनपर राज्य की सत्ता रहेगी या नहीं, इत्यादि-इत्यादि सब प्रकार का एक सामाजिक विधान उसमें रहता है। सर्व-सामान्य व्यवहार में जो प्रश्न होते हैं, उनके छोटे-छोटे नियम उस समाज में बनाये जाते हैं, उसीको 'कानून' कहते हैं। वह दंडनीति है। सर्व-समाज के नियमन के लिए, सर्वसामान्य व्यवस्था की वह स्मृति है।

जो भक्तिमार्गी होते हैं, वे व्यक्तिगत चित्त-शुद्धि के लिए जो कुछ मनुष्य को करना होगा, उसके बारे में समझाते हैं और परमेश्वर की तरफ, भगवान् की ओर चित्त को खींचते हैं। उसमें दो अंश होते हैं—पहला अंश चित्त-शुद्धि का और दूसरा है, ईश्वर-भक्ति का। तो तत्वज्ञानी होते हैं, वे चर्चा करते हैं सृष्टि-रचना पर। परमात्मा, आत्मा, इन सबका स्वरूप, सृष्टि की रचना, आत्मा, परमात्मा, सृष्टि, इनका एक-दूसरे के साथ संबंध, ईश्वर, जीव क्या है, उनका स्वरूप क्या है, इत्यादि चर्चा तत्व-ज्ञान करता है।

विज्ञान वह है, जो सृष्टि में, कुदरत में जो कार्य चलते हैं, उनके क़ानून, सृष्टि के पदार्थ, जैसे पानी है, उनके क्या-क्या धर्म हैं इत्यादि के बारे में कहता है। सृष्टि और सृष्ट्य-पदार्थ, प्रकृति और प्राकृत-पदार्थ किस तरह काम करते हैं, उनके कानून क्या है इत्यादि यह शास्त्र कहता है।

मानस-शास्त्र मनोविज्ञान का शास्त्र है। तरह-तरह की वृत्तियां कैसे उठती हैं, उन सबका वर्णन उसमें आता

है। उनपर काबू कैसे पाया जाय, इसका विवेचन करने वाला मानस-शास्त्र का दूसरा अंग है। उसको हम 'योग' कहते हैं। मन के व्यापार का विवेचन करके उनपर काबू कैसे पाना, इसे यह शास्त्र कहता है।

फिर वैद्य-शास्त्र होता है। यह शास्त्र शरीर के धर्म बताता है। किस चीज का शरीर पर और तद्द्वारा मन पर क्या असर होता है, वह यह शास्त्र कहता है।

एक बाजू में शरीर-शास्त्र और दूसरी बाजू में मानस-शास्त्र। एक बाजू में भगवद् भक्ति, एक बाजू में मनोजय-चित्तशुद्धि। एक बाजू ईश्वर, एक बाजू प्रकृति। एक बाजू सामाजिक-शास्त्र, सामाजिक जीवन के कार्य और नियम, एक बाजू उसका शासन; इन सबको एक करने से धर्मग्रंथ बनता है।

धर्मग्रंथ में ये इतने सब विषय आते हैं। विवरण समझने के लिए तरह-तरह की कथाएं होती हैं। वे पौराणिक कथाएं होती हैं। चरित्र-वर्णन होता है, उसको इतिहास कहते हैं। एक इतिहास, दूसरा पुराण, तीसरा समाज-शास्त्र, चौथा व्यवहार-शास्त्र, पांचवां विज्ञान, छठा मनोविज्ञान, सातवां भक्ति, आठवां चित्त-शुद्धि, इतने विविध अंग होते हैं। किस ग्रंथ में किस विषय की चर्चा है, यह देखना चाहिए। भगवान् के नाम से, धर्म के नाम से जो ग्रंथ लिखे गये, उनमें यथावत् विषय समझना मुश्किल है। कुछ विषय ऐसे होते हैं, जो एकदम समझ में आते हैं, जैसे गणित है। ऊपर लिखा रहता है 'गणित' और अंदर चर्चा भी होती है गणित की। व्याकरण-शास्त्र है। ऊपर लिखा रहता है 'व्याकरण-शास्त्र', अंदर चर्चा भी व्याकरण-शास्त्र की। यहां चर्चा स्पष्ट है, प्रकट है। लेकिन जो ग्रंथ भक्ति पर, तत्वज्ञान पर होते हैं, ऐसे ग्रंथ हाथ में आते ही ग्रंथकार क्या कहना चाहता है, यह देखना चाहिए। किसी ग्रंथ के साथ किसी ग्रंथ की तुलना नहीं हो सकती। बाइबिल के साथ 'नामघोषा' की तुलना नहीं हो सकती। बाइबिल धर्म-ग्रंथ है, 'नामघोषा' भक्ति परक ग्रंथ है। उसी तरह मनुस्मृति में समाज-शास्त्र है, दंडनीति है, व्यवहार-शास्त्र है, वैसे 'नामघोषा' में भक्ति का और चित्त-शुद्धि का विचार आया है, दूसरा विचार आया नहीं। उसको सीमित पुस्तक समझ कर ही पढ़ सकते हैं और ऐसे पढ़ने से ही उसका फायदा उठा सकते हैं। बाइबिल पढ़ें तो उसमें पर्याप्त सूचना, नियम और कथाएं मिलती हैं। ऐसा 'नामघोषा' में नहीं। भागवत में भगवद्-लीला, समाज-शास्त्र, भक्ति, तत्वज्ञान, सबकी एक खिचड़ी हुई है। उसको पढ़ते समय, उसका जो मुख्य विचार है, उतना अंश लें, बाकी छोड़िये। यह समझने की बात है कि किस ग्रंथ से क्या लेना चाहिए।

हमारे साथी सत्य, अहिंसा के बारे में खुलासा चाहते हैं। तत्वज्ञान के ग्रंथ से या शंकराचार्य के ग्रंथों से यह नहीं मिलेगा। उसमें सृष्टि, आत्मा के बारे में चर्चा मिलेगी। अगर हम गांधीजी के पास जायंगे तो प्रत्यक्ष समाज-शास्त्र, अहिंसा के अनुभव, सामाजिक क्रांति मिलेगी। ऐसा नहीं है कि वह आत्मा-परमात्मा के बारे में कभी नहीं बोलते थे। तुकाराम एक सांसारिक मनुष्य था। उसके साहित्य में उपाधियों को प्रयत्नपूर्वक फेंककर परमेश्वर के पास कैसे पहुंचना, यह मिलेगा। लेकिन उसमें अगर नीति-शास्त्र समझ लेने की अपेक्षा रक्खें तो थोड़ा मिलेगा भी, लेकिन समाधान नहीं होगा। 'न्यू टेस्टामेंट', 'सरमन आफ दी माउंट' में स्पष्टतः नीति की आज्ञा मिलेगी। तत्वज्ञान और धर्म-ग्रन्थों में उस तरह की स्पष्ट आज्ञा नहीं पायंगे। इस तरह हर ग्रन्थ की विशेषता ध्यान में लेकर उसमें की उपयोगी चीज लेनी चाहिए।

सबसे बड़ी बात तो यह है कि यह समझ लेना चाहिए कि ग्रंथ हमारे लिए हैं, हम ग्रंथों के लिए नहीं। ग्रंथों का उपयोग हमें करना है। हम जीवन-प्रयोजन को ध्यान में लेकर ग्रंथों का उपयोग करते हैं, तो उसका लाभ होता है।

पुराने अनुभवों से, वचनों से चित्त को बांध लेते हैं, तो अपनेको भूतकाल में जकड़ लेते हैं, और मुक्तता खो बैठते हैं। पुराने अनुभवों को ध्यान में लेते नहीं, तो पैर लड़खड़ाते हैं, और जिन चीजों की जमाने में आवश्यकता नहीं, उसमें फिर फिर से फंसते रहते हैं। ऐसे विचारों से मुक्तता हुई तो लाभ है। ऐसी दुहरी दृष्टि रखकर ग्रंथ को पढ़ना चाहिए।

पदयात्रा के दस बरस

●● सुरेश राम

(विनोबाजी की पद-यात्रा का अब बारहवां वर्ष चल रहा है। यह लेख गत वर्ष लिखा गया था परन्तु इसकी भावना में कोई अन्तर नहीं आया। बल्कि वह और भी गहरी हुई है।—सम्पादक)

विहाय कामान्यः सर्वान्पुमांश्चरति निस्पृहः।
निर्ममो निरहंकारः स शान्तिमधिगच्छति॥

समय बीतते देर नहीं लगती। कल की-सी बात है जब संत विनोबा अपने परमधाम-आश्रम (पवनार, जिला वर्धा) से सवेरे पांच बजे निकले। जाना था शिवराम पल्ली (हैदराबाद के नजदीक एक बाग) जहां-देश भर के सर्वोदय-प्रेमियों का मिलन, सर्वोदय-सम्मेलन होनेवाला था। फासला तीन सौ मील। भगवान् का नाम लेकर चल दिये। ७ मार्च १९५१ का वह दिन। दस बरस बीत गये और देश-भर में वह घूम चुके हैं और आज ठेठ पूर्वी प्रान्त, आसाम में उनकी यात्रा चल रही है।

दस बरस! अनन्त काल के प्रवाह में दस बरस का महत्व उतना भी नहीं जितना सागर में बूंद का। किसी देश के अन्दर, विशेषकर भारत जैसे प्राचीन देश के अन्दर, जिसका कई हजार साल का इतिहास है, दस बरस का कोई खास असर नहीं होता। लेकिन यह जमाना विज्ञान का और उसमें भी अणु-शक्ति का है—जिसमें घंटों का काम मिनटों या सैकेन्डों में और सदियों का काम बरसों-महीनों में हो जाता है। फिर, अपना देश स्वतंत्र है, यहां प्रजातंत्र है, और दुनिया के नक्शे पर हमारी अपनी अलग हस्ती है। इस वास्ते, आज की हालत में दस बरस एक बहुत बड़ी चीज बन जाते हैं, और उतने समय में जो काम हुआ या नहीं हुआ, उससे दुनिया हमारे बारे में राय बना लेगी।

शांत चित्त होकर विचार करें कि स्वराज्य-प्राप्ति के बाद अपने देश में क्या-क्या बड़े काम हुए—तो तुरंत जवाब मिलता है कि वे दो हैं। पहला यह कि अंग्रेजी राज्य में जो रियासतें थीं, उनका शांति के साथ विलीनीकरण, जिसके लिए यह देश सरदार पटेल का सदा अहसानमन्द रहेगा। दूसरा यह कि भारत सरकार ने पंचशील का सिद्धान्त अपनाया और दुनियां में गुटबन्दी होने के बावजूद उससे अलग रहा। इसी वजह से आज भारत को इज्जत हासिल है और उसे लगभग सभी देशों का प्रेम और विश्वास मिला। इसके लिए हम सब कृतज्ञ हैं प्रधान मंत्री श्री जवाहरलाल नेहरू के, जो दुनिया-भर में आशा के केन्द्र बन गये हैं। यह दोनों काम शांति और मैत्री की मनोभूमिका में किये गए और अहिंसा की जिस राह पर चलकर देश में जान पैदा हुई थी और आजादी की तमन्ना जाग उठी थी, उसीपर यह आगे के कदम माने जायंगे।

लेकिन यह दोनों काम सरकारी तौर पर किये गए। सरकारी शक्ति के आधार पर किये गए। इनमें जनता का अपना पराक्रम कोई खास प्रकट नहीं हुआ। इनके पीछे जन-जन या लोक-कर्तृत्व नहीं है और न इनसे कोई विशेष शक्ति लोगों में पैदा हुई। तो, एक इतमिनान तो हुआ, कुछ आत्म-सन्तोष भी आया। लेकिन पुरुषार्थ या कर्त्तव्य-प्रेरणा की झलक नहीं मिलती।

सौभाग्य से एक तीसरा भी काम देश में हुआ—जिसको जनता ने खुद अपने अभिक्रम से, अपने उत्साह से, अपनी शक्ति से उठा लिया। इस काम ने दुनिया का ध्यान अपनी तरफ खींचा है और बड़े-बड़े समाज-शास्त्रियों या विशेषज्ञों को सोचने पर मजबूर किया है। इससे देश के अन्दर आत्म-विश्वास पैदा हुआ और अपनी समस्याओं से टक्कर लेने की विधि हाथ आई। इसीके प्रतीक हैं—विनोबा और उनकी दस बरस की पद-यात्रा।

पिछले दस बरस में यह साफ हो गया है कि भारत अपने आर्थिक और सामाजिक सवाल मेल-मुहब्बत, विश्वास और प्रेम के रास्ते से हल कर सकेगा। जिस तरह बिना हथियार उठाये, हमने राजनैतिक आजादी हासिल की, उसी तरह बिना दंड-शक्ति या कानूनी मार के, हम आर्थिक स्वराज्य भी ले

सकते हैं, और बाक़ी की जितनी गुत्थियां हैं, उन्हें भी सुलझा सकते हैं।

हम जरा और स्पष्ट करें। अंग्रेजों की हुकूमत हमपर क्यों चलती थी? हमारी गुलामी का कारण क्या था? जवाब सीधा और सच्चा है—हमारे अन्दर एक-दूसरे को छोटा-बड़ा समझना और अविश्वास करना, अपने हित के आगे दूसरे को ठुकरा देना और शरीर-श्रम को नीची निगाह से देखना। हमारे ऋषियों ने, जैसे दयानन्द और रामकृष्ण परमहंस ने, हमारे नेताओं ने जैसे दादाभाई नौरोजी और लोकमान्य तिलक ने, हमको इन बुराइयों और कमजोरियों से सावधान किया और महात्मा गांधी ने तो एकदम रास्ता ही सामने दिखा दिया—देश आजाद हो गया। इसी भांति, पिछले दस साल के अन्दर लोग यह महसूस करने लग गये हैं कि यह ऊंच-नीच और दलबन्दी खत्म होनी चाहिए, गरीब-अमीर के बीच दीवार न रहनी चाहिए, उत्पादन के साधन उत्पादक को मिलने चाहिएं और गांव के झगड़े गांव ही में तय होने चाहिए—इसीका नाम है भूदान, ग्राम-दान और ग्राम-स्वराज्य।

शंका की जा सकती है कि अभी तो हजारों लाखों भूमिहीन लोग मौजूद हैं, अदालतों में रात-दिन मुकदमे चलते हैं और गांवों में शोषण भी जारी है। तब फिर भूदान की सफलता किस बात से है? माना कि पैंतालीस लाख एकड़ जमीन का भूदान दिया गया, पांच हजार गांवों का ग्रामदान हुआ—लेकिन मसला तो बना ही है। ठीक बात है, जरूर बना है। मगर भूदान की देन कुछ और ही है।

यह समझना कि कोई समय ऐसा आयेगा, जब देश में मसले नहीं रहेंगे, अपने को भुलावे में डालना है। राम आये, कृष्ण आये, बुद्ध आये, शंकर आये, गांधी आये—मसले तब भी थे, अब भी हैं, आगे भी रहेंगे। लेकिन उनका स्वरूप बदलता जाता है। पुराने मसले हल होते हैं, नये सामने आते हैं। यही विज्ञान का क्रम रहा है। किसी वैज्ञानिक ने ठीक ही कहा है कि विज्ञान की प्रगति की कसौटी यह नहीं है कि वह कितने सवालों का जवाब देता है, बल्कि यह है कि वह कितने नये सवाल पूछ सकता है।

हां, तो भूदान की देन यह है कि एक नई चाभी हाथ आई है। वह यह कि उत्पादन के साधनों का स्वामित्व अब न व्यक्ति का रहेगा, न सरकार का रहेगा, बल्कि समाज का होगा, लोगों का होगा और उनकी सर्वसम्मति के अनुसार उसका सम्यक् वितरण होगा। यानी स्वामित्व या मालकियत के पीछे अन्तिम आधार शस्त्र-बल या कानून या पैसे का न होकर प्रेम, विश्वास और नैतिकता का होगा। जन-शक्ति का होगा। पांच हजार गांवों का ग्रामदान इसका जबरदस्त संकेत है। और पैंतालीस लाख एकड़ जमीन के दान का महत्व नहीं है, बल्कि इस बात का है कि चार-पांच लाख दाताओं ने दिया। और यह बताता है कि इंसान की इंसानियत अभी सुरक्षित है, मनुष्य का मन निर्मल है, मानवता का स्रोत सकुशल है। ऊपर जो कटुता या निर्ममता दीखती है, वह कानून के कारण पैदा हुई है जैसे गोभी का ऊपर का पत्ता गन्दा होता है बाहर की हवा के कारण। उसे हटा दीजिये तो अन्दर के पत्ते और गोभी एकदम साफ और ताज़ी है।

गंभीरता से विचार करने पर पता चलता है कि विनोबा के भूदान के तीन परिणाम समाज में व्यापक रूप से आये हैं। पहला, दीन-हीन, भूमिहीनों को जमीन मिली है, जिसपर मेहनत करके वह ईमान की कमाई खा सकेंगे। दूसरा आर्थिक व सामाजिक क्रान्ति और नवरचना का उपाय सामने आया है। तीसरा नैतिकता और मानवता के आधार पर खड़ी होनेवाली, शान्ति की शक्ति का निर्माण हुआ है।

यह तीनों ही बहुत महत्व की बातें हैं। हम लाख दौड़-धूप करें, लेकिन अगर गरीबों-दुःखियों की आर्थिक हालत नहीं सुधरती है, तो वह सब बेकार हैं। भूखे का भगवान् तो रोटी है। वही उसका राग, वही उसका पाठ। जाहिर है कि हमारी पंचवर्षीय योजनाओं का लाभ भूमिहीनों को नहीं मिल सका है, उल्टे उनकी स्थिति बिगड़ी है। सच बात यह है कि सिवाय भूदान के, इन गरीबों का हित करनेवाला कोई दूसरा कार्यक्रम अभीतक सामने नहीं आया।

भूदान ने नई क्रान्ति का पूरा नक्शा सामने रख दिया है। आज सरकार पंचायती राज ला रही है, चुनाव होते हैं, कम्यूनिटी विकास-योजना चलाती है। लेकिन जैसा एक ने दुःखी होकर कहा—अंग्रेजी सरकार तो हिन्दू-मुसलमान को लड़ाती थी, लेकिन आजाद सरकार तो गांव-गांव में भाई-भाई को लड़ा रही है। इस बात में काफ़ी व्याव-

हारिक सच्चाई है। असली चीज है कि दिल से दिल जुड़ने चाहिए। वह नहीं हो सका है। ठीक यही काम विनोबा कर रहे हैं और करना चाहते हैं। और जब दिल से दिल जुड़ेंगे, तब प्रेम और शांति की शक्ति आप-से-आप पैदा होगी।

संघर्ष और अविश्वास के बजाय विनोबा स्नेह और विश्वास पर समाज का भवन खड़ा करना चाहते हैं। इसी श्रद्धा से, उनकी यात्रा अखंड अलग रूप से, दस बरस से लगातार चल रही है। जाड़ा हो, गर्मी या बरसात उनका क्रम चलता ही रहता है और हर जगह वह सत्य, प्रेम, करुणा की अलख जगाते जाते हैं। इसके कारण उन्हें भूदान मिला, ग्रामदान मिला, सम्पत्ति-दान मिला, जीवन-दान भी मिला। और इसी कारण उनके आगे सरनाम डाकुओं ने हथियार भी डाल दिये। चम्बल घाटी में उनका काम चमत्कार समझा जाता है। लेकिन वह चमत्कार नहीं है, वह तो अहिंसा का सहज परिणाम है।

विनोबा से जब पूछा गया कि क्या आप डाकू-क्षेत्र में जायंगे, तो वह बोले, "डाकू कौन है और कौन नहीं, इसका न्याय तो परमेश्वर ही करेगा। डाकू तो दिल्ली में भी हैं, जो सफाई के साथ डाका डालते हैं। हमारा काम तो सज्जनों से मुलाकात करना है। हम तो प्रेम, निर्भयता और मिल-जुलकर काम करने का सन्देश देने आये हैं। हमारा विश्वास है कि यह डाकू-क्षेत्र भी साधु-क्षेत्र बनेगा।"

इसी अहिंसा शक्ति का एक और परिणाम शान्ति सेना है, जिसका श्री गणेश विनोबा ने २३ अगस्त १९५७ को केरल में किया। केरल के आठ प्रमुख कार्यकर्ताओं ने—सात भाई, एक बहन—प्रतिज्ञा की। विनोबा ने उस दिन कहा कि शान्ति-सेना की प्रतिज्ञा लेने का अर्थ यह है कि वे अपनी सेवा में किसी प्रकार का भेद-भाव नहीं रखेंगे। अहिंसा और सत्य पर हमेशा चलने की कोशिश करते रहेंगे। और लोगों को भी इसी राह पर ले जायंगे। परस्पर प्रेम-भाव रख करके आपके पास आपकी सेवा के लिए पहुंचेंगे। यह तो बीज बोया गया है। उसका बड़ा वृक्ष होगा।

आज-शांति सेना में लगभग दो हजार भाई-बहन हैं। अनेक प्रांतों में इसका काम हुआ है—जैसे केरल, तामिलनाद, बिहार, गुजरात, उत्तर प्रदेश। इधर आसाम में भी कई महीने से शांति सैनिक डटे हैं।

विनोबा की मातृभाषा मराठी है और संस्कृत, हिन्दी और गुजराती पर भी उनका उतना ही अधिकार है। इसलिए गुजरात में उनके व्याख्यान गुजराती में हुए, महाराष्ट्र में मराठी में और शेष सारे देश में हिन्दी में। तेलंगाना (आंध्र राज्य) में यात्रा के बाद वह वर्धा होकर दिल्ली आये। फिर आन्ध्र-प्रदेश, बिहार, बंगाल और उड़ीसा में पद-यात्रा करके पहली अक्तूबर १९५५ को आन्ध्र में प्रवेश किया। आंध्र, तामिलनाद, केरल और कर्नाटक में २८ मार्च १९५८ तक रहे। फिर महाराष्ट्र, गुजरात, राजस्थान, पंजाब होकर काश्मीर गये। उसके बाद फिर पंजाब होकर, उत्तर प्रदेश के पश्चिमी जिलों में होते हुए मध्य प्रदेश की चम्बल घाटी में यात्रा की। इन्दौर आये—वहां एक महीना रहे। फिर महेश्वर, खंडवा, बेतूल, जब्बलपुर, रीवां होते हुए उत्तर प्रदेश के मिर्जापुर और काशी जिले घूमकर बिहार चले गये। वहां डेढ़ महीने रहने के बाद उत्तर बंगाल पार करते हुए ५ मार्च १९६१ को आसाम में कदम रक्खा।

अपने प्रवचन में विनोबा कहा करते हैं, कि भगवान् ने हमें दो आंखें दी हैं—एक मातृभाषा और दूसरी राष्ट्र-भाषा, तीसरी आंख—ज्ञान चक्षु—संस्कृत की है। हजारों और लाखों की भीड़ उनकी सभाओं में आई है।

पिछले दस बरस में लगभग साढ़े तीन करोड़ जनता का उन्होंने दर्शन किया है। और उसे अपना सन्देश सुनाया है। इस अर्से में वह लगभग चालीस हजार मील चले हैं और शायद दस हजार व्याख्यान दे चुके हैं। इतना जबरदस्त जन-संपर्क स्वराज्य-प्राप्ति के बाद शायद ही किसी और ने किया हो।

इन्दौर में विनोबा ने एक नया कार्यक्रम भी शुरू किया—अशोभनीय पोस्टर हटाये जायं। इनको वह विषयासक्ति की मुफ्त और लाजमी तालीम कहते हैं। आनन्द की बात है कि देश के अनेक नगरों में यह आन्दोलन जोर पकड़ रहा है और खुद सिनेमावाले भी अपनी ओर से सावधानी बरतने का निर्णय कर चुके हैं।

विनोबा भी पदयात्रा और भूदान-आन्दोलन के कारण खादी, ग्रामोद्योग तथा अन्य रचनात्मक कार्यक्रमों को भी बहुत बल मिला है। प्रदेशों में जोत की सीमा का कानून और

पंचायती राज की स्थापना के विचार के पीछे भी भूदान का असर है। इस प्रकार एक वातावरण बना है और अहिंसा के लिए भूमिका तैयार हुई है।

लेकिन सबसे बड़ी बात यह है कि इन दस बरस में विनोबा ने एक बहुत महत्वपूर्ण और मौलिक विचार दुनियां के आगे रक्खा है। जैसा उन्होंने, काश्मीर में जाहिर किया, उनका मानना है कि मज़हब और सियासत, इन दोनों के दिन अब लद गये। क्योंकि, यह जोड़ने की बजाय तोड़ने का काम कर रहे हैं। अब आगे का जमाना अध्यात्म और विज्ञान का है। इसके आगे विज्ञान बहुत जोरों से विकसित होनेवाला है। उसके साथ जुड़नेवाली, उसे मार्ग-दर्शन करानेवाली कोई शक्ति होनी चाहिए। वही है, रूहानियत या अध्यात्म। विनोबा का सूत्र है—

अध्यात्म + विज्ञान = सर्वोदय

आजकल विनोबा आसाम में घूम रहे हैं। वहां जाते समय उन्होंने कहा था :

"मैं वहां दयालु के नाते नहीं जा रहा हूं, साम्ययोग के उपासक के नाते जा रहा हूं।... वहां कुछ घटनाएं घटीं, वे भूतकाल में शामिल हुईं। मैं भूतकाल में नहीं जाना चाहता। भविष्य में पैठना नहीं चाहता। अतीत अनागत छोड़कर वर्तमान में ही काम करूंगा। मुझे उम्मीद है कि किसीपर मेरा आक्रमण नहीं रहेगा। प्रेम का आक्रमण भी अनासक्ति-युक्त होगा।"

आज बड़ी श्रद्धा और उत्सुकता से देश और दुनिया की आंखें विनोबा पर लगी हैं। और विनोबा की पद-यात्रा भक्ति-भावना से, विश्वासपूर्वक और उपासना-वृत्ति से चल रही है। उनकी आकांक्षा अपनेको शून्य बनाकर लोक-हृदय से एकरूप हो जाने की है। इस प्रकार जो विचार बीज उन्होंने बोया है, वह एक दिन सुन्दर फसल का रूप लेगा, जिससे हमारा दारिद्रय मिटेगा, साम्य-योगी समाज की स्थापना होगी और विश्व-भर में, मानव मात्र को शान्ति के आनन्द का अनुभव होगा।

●

तमसो मा ज्योतिर्गमय

रामेश्वरदयाल दुबे

तमसो मा ज्योतिर्गमय।
हटे तमिश्रा की अंधियारी, दूर हटे भव का भय।
दिशा-दिशा में नाचे किरणें, होकर विभा-विलय॥
तमसो मा ज्योतिर्गमय॥
अरुण राग बरसे धरती पर रंजित बने निलय।
आमन्त्रण पौरुष को देकर खुले पंथ निर्भय॥
तमसो मा ज्योतिर्गमय॥
वर्ण-वर्ण में नव प्रकाश से होवें ज्योति उदय।
पत्र-पत्र पर नाचे जीवन, पाकर मन्द मलय॥
तमसो मा ज्योतिर्गमय॥
बढ़े प्रगति के पथ पर मानव, करे स्नेह-संचय।
ज्ञान प्रखर हो, कर्म सफल हो, उर की रहे विजय॥
तमसो मा ज्योतिर्गमय॥

●

जन्म दिन के अवसर पर ●● विनोबा

(गत वर्ष जन्मदिन के अवसर पर विनोबा जी ने यह संदेश दिया था। आज भी यह उतना ही नया और महत्वपूर्ण है जितना गत वर्ष था। बल्कि कह सकते हैं कि नित-नया और प्रेरणाप्रद है—सम्पादक)।

भारत भूमि को हम लोगों ने पुण्य-भूमि माना है, अगरचे मैं नहीं मानता कि यूरोप और अमरीका से या दूसरे देशों से कोई खास अधिक पुण्य आज हमारे पास होगा, सिवाय इसके कि महापुरुषों के स्मरण हमारे साथ रहे हैं। अगर हम एक-एक महापुरुष को याद करेंगे और उनकी एक-एक तिथि मनाते रहेंगे तो शायद ही कोई दिवस बचेगा, जिस दिन किसी महापुरुष का जन्म या मृत्यु न हुई हो। चौदह-पन्द्रह भाषाएं यहां हैं। सब मंगल भाषाएं हैं। उन सबके मूल में संस्कृत है, थी। इतनी सब भाषाओं में जिन लोगों ने अपने विचार व्यक्त किये और लोगों की सेवा की, जिन्होंने आध्यात्मिक खोजें करने में अपना सर्वार्पण किया, ऐसों की अपार वृष्टि भारत पर हुई है। अकेले ऋग्वेद में कुछ ३०० पुरुषों के नाम आते हैं। उन सबके नाम हम जानते भी नहीं। जब ऋषियों का तर्पण करने हम बैठते हैं, तब **वशिष्ठं तर्पयामि—विश्वामित्रं तर्पयामि** और आखिर में कहते हैं, **सर्वान् ऋषीन् तर्पयामि**—सब ऋषियों को हम तर्पण करते हैं।

यह हमारा भाग्य है कि भारत पर संतों की, सत्पुरुषों की, ज्ञानियों की, और भक्तों की वर्षा हुई। यहां के संत-पुरुष माधव देव ने गाया है कि—भारत-भूमि में जन्म लेकर क्षुद्र विषयों की आशा जो जीव रखेगा, वह बड़ा अभागा होगा। ऐसा ही अनेकों ने कहा है, यह बहुत बड़ी दौलत हमें मिली हैं। "सुजलाम् सुफलाम् मलयज शीतलाम्" ऐसी सुन्दर भूमि हमें मिली है। लेकिन इससे अधिक श्रीमान् और संपन्न देश भी दुनिया में हो सकते हैं। हम गंगा, यमुना और ब्रह्मपुत्र के गुण गाते हैं, लेकिन उनसे बढ़कर विशाल नदियां दुनिया में है। यहां की भूमि उपजाऊ है। लेकिन इससे भी अधिक उपजाऊ भूमि दुनिया में है। इसलिए भारत का मुख्य भाग्य "सुजलाम् सुफलाम्" यह नहीं है, बल्कि वह "सुहासिनीम् सुमधुर भाषिणीम्" रही है—यह उसका भाग्य है। यह "सुहासिनीम् सुमधुर भाषिणीम्", रही, बावजूद इसके कि अनेक आक्रमण हुए, अनेक दुःख आये, अनेक कालखंड ऐसे गये कि जिसमें शोषण और पीड़न रहा। फिर भी भारत-माता के चेहरे पर हास्य ही रहा और उसने मंगल वाणी का ही उच्चारण किया और जैसे हमारे महाकवि ने कहा, "जितने भी यहां आये, चाहे वे आर्य थे, चाहे अनार्य, उनका स्वागत ही किया"—"एशो हे आर्य, एशो अनार्य"। उसको कारण इस भूमि में आध्यात्मिक खोजें हुईं—सब मानव एक हैं, इतना ही नहीं प्राणी-मात्र एक हैं—चराचर सृष्टि एक है, इतनी व्यापक अनुभूति यहीं के ज्ञानियों ने की। और हम लोगों के लिए बहुत बड़ी दौलत, विरासत होगी, वही भारत की सबसे बड़ी दौलत है। "विश्व मानुवः"—हम विश्व-मानव हैं—यह शब्द ऋग्वेद में आया, दस हजार साल हुए उसीकी धुन यहां के लोगों को रही। उसने गौतम बुद्ध जैसे करुणावान्, दयावान महापुरुष निर्माण किये। उसने कपिल महामुनि जैसे तत्वज्ञानी निर्माण किये, अब नाम किस-किसके लिये जायं। उसने उपनिषद्-गीतादि अप्रतिम संदेश दिये। वह हमारी दौलत है।

इन दिनों एक बात हमने बार-बार कही है—हमारे नेताओं ने इस बात को उठा लिया है। वह यह कि इसके आगे छोटे धर्म नहीं चलेंगे, उनका जमाना खत्म हुआ है। और छोटी-छोटी राजनीति आउट-डेटेड हो गई है—आगे नहीं चलेगी। इसके आगे अध्यात्म और विज्ञान चलेगा।

अध्यात्म की भूमि, निश्चित तो नहीं कह सकते, क्योंकि हमें सारा इतिहास कहां मालूम है, लेकिन मैं मानता हूं कि भारत में अध्यात्म है और विज्ञान पश्चिम में बढ़ रहा है। ये दोनों चीजें आगे के जमाने में चलनेवाली हैं। अध्यात्म के मार्ग-दर्शन में विज्ञान चलेगा तो हम दुनिया में स्वर्ग ला सकेंगे। ऐसी मुझे आशा है। मेरा आध्यात्म पर विश्वास है, उतना ही विश्वास विज्ञान पर है। एक सृष्टि का ज्ञान है और एक अंतर-तत्व का, आत्मा का ज्ञान है, जो भारत की अपनी चीज है। विज्ञान भी भारत में एक जमाने में था। आज पश्चिम

में उसका उदय हुआ है। वहां से हमें विज्ञान सीखना होगा और जीवन में पूर्व-पश्चिम-भेद को भूल जाना होगा। यह समग्र विश्व हमारा है और हम समग्र विश्व के हैं—इससे कोई कम चीज अब दुनिया में नहीं चलेगी। यही विचार ध्यान में रखकर हम भूदान मांगते हुए घूम रहे हैं।

पर जितना मैं अपनेको देख पाता हूं उतना अनुभव आता है कि अब कोई खास मेरा अपना जीवन रह गया है ऐसा नहीं दीखता। अब है, चल रहा है खाना पीना...वह चलेगा मरने तक! लेकिन चित्त में कोई व्यक्तिगत आकांक्षा या वासना का अनुभव नहीं होता है। अब गलती होती है बोलने में, व्यवहार में, काम करने में, वह मैं देखता हूं—मुझे मालूम होती है। लेकिन उसकी चिंता नहीं करता।

अभी आपने तुकाराम का वचन सुना। जब मैं किसीका हाथ पकड़ता हूं, चलने के लिए, तो मैं उसे भगवान् रूप ही समझता हूं, ऐसा मुझे अनुभव आता है। हाथ पकड़ता हूं तो किसी लड़के का हाथ या किसी लड़की का हाथ ऐसा नहीं लगता—भगवत् स्पर्श का अनुभव आता है। यह शब्द का विषय नहीं है। इसकी व्याख्या नहीं की जा सकती। यह अनुभव का विषय है। जबतक प्रारब्ध है, मेरा जीवन चलेगा, लेकिन ऐसा भास होता है कि अब एक मात्र प्रवृत्ति है कि भारत के जरिये विश्वात्मा हरि की सेवा हो—और होगी। भगवान् ले रहा है और लेगा "भारत के जरिये" यह शब्द भी मैं ममत्वभाव से नहीं बोला। उतनी ही हमारी शक्ति है—ज्यादा नहीं।

भारत के साथ हमारा अब इतने साल परिचय हुआ। यहां की कुल भाषाओं के अध्ययन में आंखें क्षीण हो गईं। यहां के साहित्य में जैसे मछली पानी में रहती है वैसे हम रहे, तो विश्व की सेवा क्या हम दूसरी जगह रहके करेंगे? मेरा विश्वास है कि विज्ञान इतना बढ़ रहा है कि विश्व की सेवा के लिए विश्व में घूमना नहीं पड़ेगा, बल्कि ऐसी अव्यक्त, अस्पष्ट भावना मन में आती है कि जैसे बैठे-बैठे Ballistic weapon (क्षेप्यास्त्र) का उपयोग करने की क्षमता निर्माण हुई है, वैसे ही हमें ऐसी आध्यात्मिक साधना करनी होगी किसी छोटे-से कोने में हम बैठे हों, वहां से समग्र विश्व को प्रभावित किया जा सकता है। उसके लिए पूर्ण हृदयशुद्धि चाहिए। आपको और हमें ऐसी हृदय-शुद्धि दें, यही हमारी भगवान् से प्रार्थना है।

हम दुनिया के एक कोने में हैं, भारत के भी एक कोने में हैं। लेकिन हमें यह भास नहीं होता है कि हम निज स्थान से दूर हैं, अपने लोगों से दूर हैं। ऐसा एक क्षण के लिए भी भास नहीं होता है। बल्कि यह मानवभाव मेरे मन में आता है और जाता है। लेकिन कभी आता है तो उनमें ये राष्ट्रभेद, भाषा-भेद, प्रांत-भेद नहीं रहता है, बल्कि ये सब मानव हैं, यही भान रहता है। और एक भाव आता है, जो जाता नहीं है, वह यह कि ये सब ईश्वर हैं। यह भावना खास करके हाथ पकड़ के चलता हूं तब तो..."चालबीसी हाती धरुनियां" मेरा हाथ पकड़के तू मुझे चला रहा है, यही एक भाव होता है। और कभी क्षण ऐसे होते हैं जब आंखें सब सृष्टि ईश्वरमय देखती हैं—और वह नहीं हो तब तो मानवभाव होता ही है।[1]

हमारी ६६ साल की उम्र में हम ईश्वर से यह नहीं कह सकते कि तूने हमें दुःख का दर्शन कराया। सर्वत्र सुख-ही-सुख हमने पाया। जितना प्रेम हमने पाया उसका एक अंश मात्र भी हम नहीं चुका रहे हैं। प्राचीनों से, अर्वाचीनों से, दूरवालों से, नजदीकवालों से, शरीर के ख्याल से, इस तरह काश्मीर से कन्याकुमारी तक और यहां असम तक हमें जो मिला है उसका वर्णन हम नहीं कर सकते हैं। हमें जो मिला, वह इतना अत्यधिक मिला है कि हम प्रेम दे रहे हैं, ऋण चुका रहे हैं, ऐसा भास हमें नहीं होता है। माधवदेव ने गुरु के लिए जो लिखा है, वही हम जनता के लिए कहते हैं :—

"बाही अंजलीन परे"

"नमस्कार करने के सिवाय दूसरा कोई उपाय नहीं है। सबको हम भक्तिभाव से प्रमाण करते हैं।"

---

१. अब ६७ साल

विश्व-विभूति विनोबा भावे

गौरीशंकर द्विवेदी

मदोन्मत्त कौरवगण ने जब, सुई-भर भूमि न देना चाही;
विवश हो गये तब पाण्डव सब, विश्व-शान्ति के थे जो राही।

कौरव-पाण्डव-दल तब जूझे, भूमि-भाग-विग्रह को लेकर;
युग-समर्थ श्रीकृष्ण चन्द्र भी, सके न रोक युद्ध यत्न कर।

विस्तृत विवरण वेद व्यास ने, उसका 'भारत' में गाया है;
उस अशान्ति से ही दुर्दित दुःख, दिन-दिन हम सबने पाया है।

उसकी ज्वलित-ज्वाल में अपने, कितने वीर हुए थे स्वाहा;
उस मायाविन तृष्णा से ही, अत्याचार हुआ अनचाहा।

बढ़ते गये देश में जिससे, दिन-दिन दलित दुखी दूने हो;
लगे कोसने त्राहि-त्राहि कर, अपने भाग्य-भाल सूने को।

जब पीड़ित मानवता बिलखी, त्रिभुवन-पति का आसन डोला;
फिर तो प्रलंयकर शंकर ने, नेत्र तीसरा अपना खोला।

शिव का ताण्डव-नृत्य देखकर, कण-कण कांप उठा भूतल का;
विश्व-शान्ति हो गई तिरोहित, विश्व बन गया युद्धस्थल था।

विकट भुखमरी सहकर जन-जन, दाने-दाने को तरसे थे;
उस भीषण अशान्ति के बादल, छाए, मंडराए, बरसे थे।

विश्व-शान्ति का सजग पुजारी, जग को नया मार्ग तब देकर;
निकला निज आश्रम से साधक, पद-यात्रा का बाना लेकर।

भूमिदान के महायज्ञ से, बना मसीहा वह इस युग का;
नये समाजवाद का उत्तम, उसने मार्ग दिया सतयुग का।

मानव मात्र प्रभावित उससे, क्यों न विश्व तब गुण-गण गावे;
'शंकर' साधक सिद्ध बन गया, विश्व-विभूति विनोबा भावे।

●

राष्ट्र का अंतरात्मा

श्रीमाताजी

कोई राष्ट्र एक सजीव व्यक्तित्व होता है; उसका एक अंतरात्मा होता है, ठीक जिस तरह कि एक मनुष्य के अंदर होता है। राष्ट्र का अंतरात्मा भी चैत्य पुरुष होता है, कहने का मतलब, एक सचेतन पुरुष होता है, भागवत चैतन्य से निर्मित एक रचना होता है और भागवत चैतन्य के साथ उसका एक सीधा संपर्क होता है, महाशक्ति की वह एक शक्ति और स्वरूप होता है। कोई राष्ट्र उन सब व्यक्तियों का महज योगफल नहीं होता, जो उसका निर्माण करते हैं, बल्कि वह एक समष्टिगत व्यक्तित्व होता है, जिसके मानो कोषाणु होते हैं, उसके अंदर विद्यमान सभी व्यक्ति ठीक एक जीवंत और चेतन शरीर के कोषाणुओं की ही तरह। किसी राष्ट्र का चैत्य पुरुष या अंतरात्मा निस्संदेह सचेतन होता है। वह जानता है कि उसके जीवन का मूल कारण क्या है, उसके जीवन का उद्देश्य, उसकी भवितव्यता क्या है, उसका प्रधान कार्य क्या है, जिसे उसे भागवत योजना के अंदर एक भागवत यंत्र के रूप में सिद्ध करना है। और उसका संकल्प, क्योंकि उसमें एक संकल्प होता है, वह उसकी चेतना की अभिव्यक्ति होता है, उसके अंदर और उसके द्वारा आनेवाली भगवान् की अंतःप्रेरणा होता है, अनिवार्य होता है, देर से या जल्द पूरा होकर ही रहता है। मनुष्य के अंतरात्मा की तरह ही राष्ट्र का अंतरात्मा भी उन समस्त गतिविधियों के पीछे विद्यमान रहता है, जो उस राष्ट्र के बाह्य जीवन की रचना करती हैं, उसकी राजनैतिक, आर्थिक, सामाजिक या सांस्कृतिक गठन को सहारा देती, निर्माण करती और परिचालित करती है। मनुष्य अपने निजी अंतरात्मा में और उसके द्वारा राष्ट्र के अंतरात्मा को जान सकता और उसके साथ संपर्क स्थापित कर सकता है। जब कोई व्यक्ति अपने चैत्य पुरुष के विषय में सचेतन हो जाता है केवल तभी वह अपने राष्ट्र की समष्टि-सत्ता के अथवा जिस राष्ट्र के साथ उसका आंतरिक साम्य हो उसके चैत्य पुरुष के विषय में सचेतन होने की अवस्था को प्राप्त करता है।

किसी राष्ट्र के जीवन-चक्र में ऐसे काल आते हैं, ऐसे संकटपूर्ण मुहूर्त आते हैं, जब वह भयंकर खतरे में होता है, जब उसका स्वयं अस्तित्व ही विपद्ग्रस्त होता है, अपने भीतर या बाहर से विरोधी शक्तियों द्वारा आक्रांत होता है। उदाहरणार्थ, यही स्थिति थी उस समय जब कि ब्रिटेन पर स्पेनिश आर्मेडा ने आक्रमण किया था अथवा जब फ्रांस इंगलैण्ड के द्वारा पराधीन बनाया जा रहा था। वे बड़ी ही दुश्चिंता के समय थे, पर प्रत्येक प्रसंग में राष्ट्र का अन्तरात्मा आगे आ गया और उसने राष्ट्र को प्रतिक्रिया करने तथा अग्नि-परीक्षा में से गुजरकर बच निकलने की प्रेरणा प्रदान की। जान यार्क (Jeanne D'Arc) को हम फ्रांस के राष्ट्रीय अंतरात्मा का मूर्त्त रूप मान सकते हैं, ठीक जिस तरह कि इससे भी पहले के एक अवसर पर वही अंतरात्मा सेंट जेनेवियेव (St. Genevieve) में मूर्त्तिमान् हुआ था। परन्तु कोई राष्ट्र बहुत अधिक बुरे दिन देख सकता है, अर्थात् उसके लिए ऐसे दिन आ सकते हैं जब वह अपने अंतरात्मा का ही संपर्क खो दे और पथभ्रष्ट हो जाय, उसके जीवन की गति एक गलत मोड़ ले ले। कोई राष्ट्र अपने अंतरात्मा को अस्वीकार कर सकता है, ठीक जिस तरह कि कोई व्यक्ति कर सकता है और तब उसका परिणाम होता है, विनाश। हमारे अपने युग में ही ऐसी दुःखान्त स्थिति का एक भयानक उदाहरण है जर्मनी।

भारत एक दूसरी ही तरह की दुःखांत स्थिति का दृश्य उपस्थित कर रहा है। यहां जो कुछ घटित हो रहा है, वह है एक रोग का आक्रमण जो राष्ट्र के शरीर को अस्तव्यस्त कर रहा है: ऐसा लगता है मानो यह कैंसर जैसा रोग हो, प्रत्येक अंग दूसरे अंग को हानि पहुंचाकर स्वतंत्र रूप से वर्द्धित होने की चेष्टा कर रहा हो। रोगी एक बहुत ही सांघातिक काल में से गुजर रहा है और निस्संदेह यह जीवन और मृत्यु का ही प्रश्न है। परन्तु हम यह आशा करते हैं—हमें पूरा विश्वास है—कि इस प्राचीन राष्ट्र का अंतरात्मा अपने अधिकारों को प्रस्थापित करेगा और चाहे जितने भी उलट-फेरों में से क्यों न गुजरना पड़े, अंत में वह स्वास्थ्य और सामंजस्य की पुनः स्थापना करेगा, क्योंकि उस अंतरात्मा का जीवन-कार्य अभी भी पूरा नहीं हुआ है।

व्यक्ति की तरह राष्ट्र भी मरता है। प्राचीन यूनान और रोम, मिस्र और बेबीलोनिया और काल्डिया अब नहीं हैं। यह पूछा जा सकता है कि उनके अंतरात्माओं का क्या हुआ? ठीक है, पर जब व्यक्ति मर जाता है तब उसके अंतरात्मा का क्या होता है? अंतरात्मा आंतरात्मिक जगत् में वापस चला जाता है। व्यक्तिगत चैत्य-सत्ता की तरह समष्टिगत चैत्य-सत्ता भी अपनी समस्त सम्पदा के साथ, अपने समस्त सौंदर्य और गौरव को समेटकर शांति और ज्योति के गर्भ में चला जाता और वहां विश्राम करता है, जैसे कि एक पक्षी अपने सिमटे हुए डैनों के अंदर सोने के लिए चला जाता है। यूनानी सभ्यता और संस्कृति जो कुछ थी, वह अभी भी अपने सार रूप में एक ऐसे जगत् में बनी हुई है, जहां मनुष्य जा सकता है यदि उसमें चेतना का अपेक्षित सादृश्य और चैत्य उद्घाटन हो। वह अंतरात्मा अपनी शुद्धतम उपलब्धि और सिद्धि की समस्त महिमा के साथ अपने निजी धाम में निवास करता है; और वहां से वह अपना प्रकाश फेंकता है, अपना प्रभाव डालता है, विश्व की सांस्कृतिक संपत्ति तथा आध्यात्मिक विकास के अंदर एक रूपांतरकारी जीवंत प्रभाव के रूप में काम करता है।

परन्तु अंतरात्मा जब पीछे हट जाता है, जब कोई राष्ट्र आंतरात्मिक अभिव्यक्ति के किसी विशेष युग में अपनी भूमि का और दैवनिर्दिष्ट कार्य को पूरा कर लेता है तो राष्ट्र का शरीर धीरे-धीरे ह्रास को प्राप्त होने लगता है। उसकी शारीरिक आकृति का गठन करनेवाले तत्व और राष्ट्रीय जीवन का जीवंत घनत्व भंग होने लगते हैं, अपनी शक्ति और संहत रहने की सामर्थ्य होने लगते हैं, वे मर जाते हैं और तितर-बितर हो जाते हैं अथवा असंबद्ध और यंत्रवत् घूमते हुए कोषों के अस्त-व्यस्त मिश्रण के रूप में कुछ काल तक बने रहते हैं। परन्तु ऐसा भी हो सकता है कि ऊपर से देखने में मरणोन्मुख या मृत राष्ट्र में पीछे हटा हुआ अंतरात्मा फिर वापस आ जाय, पर अपने पुराने आकार और जीवन-पद्धति में ही नहीं—क्योंकि ऐसा नहीं हो सकता, यदि मिस्र आज फिर से जी जाय तो वह फेरोहा राजाओं (Pharaohs) और मीनारों (Pyramids) के युगों को तो नहीं दुहरा सकता—बल्कि एक नये व्यक्ति-रूप में, एक नवीन जीवनोद्देश्य को लेकर आये। ऐसे प्रसंग में जोकुछ घटित होता है, वह सच पूछा जाय तो एक राष्ट्रीय पुनरुत्थान होता है—मानो भिक्षुक लैजेरस भगवान् के स्पर्श से पुनः जीवित हो उठा हो।

हम यह नहीं मानते कि भारत कभी पूर्णतः मृतावस्था को प्राप्त हुआ या बुरी तरह म्रियमाण हो गया था। उसका अंतरात्मा, यद्यपि सर्वदा सामने नहीं रहा, निरंतर एक जीवंत शक्ति के रूप में उपस्थित रहा, उसकी भवितव्यता के ऊपर अधिष्ठित रहा और उसे परिचालित करता रहा। यही कारण है कि भारत में पुनरभ्युत्थान की स्थायी क्षमता तथा घोर अग्निपरीक्षाओं में से गुजरने की सामर्थ्य विद्यमान है। और अपनी विशिष्ट प्रतिभा के अनुकूल जीवन-यापन करने के लिए उसे भी यह जानना होगा कि काल के साथ ताल मिलाकर कैसे चलना चाहिए, अर्थात्, प्राचीन और भूतकालीन आकारों और पद्धतियों से चिपटे नहीं रहना चाहिए। पुरातन अंतरात्मा के प्रति सच्चा होने का तात्पर्य यह नहीं है कि जिन बाहरी ढांचों और सूत्रों ने किसी समय उस अंतरात्मा को अभिव्यक्त किया, उन्हें शाश्वत बना दिया जाय। निश्चय ही जब उस अंतरात्मा को जीवन-यापन करने की योजना का कोई नवीन क्रम प्राप्त हो जाता है जो एक ताजी सृष्टिक्षम क्रिया को, अंतरात्मा की गहराई से निकलनेवाली एक नवीन सिद्धि को मूर्त और रूपांतरित कर सके, तो वह सजीव और सशक्त हो उठता है।

●

मैं सूर्य-प्रकाश की तरह स्पष्ट देख रहा हूं, कि घट-घट में एक ही परमेश्वर रम रहा है। तो फिर क्यों नहीं इस अस्पृश्यता-राक्षसी को नष्ट कर देते हो?

—विवेकानन्द

●

गीत

— रवींद्रनाथ ठाकुर

प्रभु, तुम हित अंखियां क्यों अकुलावें,
देख न पाऊं
पंथ निहारूं
सो भी मन को भावे
प्रभु, तुम हित अंखियां क्यों अकुलावें।
बैठ धूल में द्वार किनारे
हृदय भिखारी यह मेरा रे
तेरी करुणा मांगे।
कृपा न पाऊं
तुमको चाहूं
सो भी मनको भावे।
आज जगत मझधार में
कितने सुख कितने कार में
चले गये सब आगे
साथी नहिं पाऊं
तुमको चाहूं।
सो भी मन को भावे।
चहुं ओर सुधा में है सरसी
व्याकुल श्यामल है धरती
रुला रही अनुराग राग में
देख न पाऊं
व्यथा जगाऊं।
सो भी मन को भावे।
प्रभु, तुम हित अंखियां क्यों अकुलावें

—अनु० मदनलाल जैन

प्रतिभा और प्यार

●● प्रेमस्वरूप श्रीवास्तव

शिल्पी पुंडरीक की प्रतिभा असाधारण थी। वह पत्थर में प्राण फूंक देता था। अनगढ़ बेडौल टुकड़े उसकी कलका स्पर्श पा हीरा बन जाते थे। आंखों में करुणा और शौर्य, अधरों पर विषाद और हर्ष, भुजाओं में प्रचंडता और कोमलता—जीवन के विविध भावों को मूर्त करने में उसकी छेनी दक्ष थी। जिस देवालय में उसकी बनाई मूर्ति प्रतिष्ठित की जाती वहां रम जाने के लिए भगवान् का मन लालायित हो उठता। प्रासादों में उसके शिल्प का स्फुरण देश-विदेश से आनेवाले भ्रमणार्थियों के लिए आकर्षण का केन्द्र बन जाता। अपनी इस प्रतिभा पर गर्व करना पुंडरीक के लिए स्वाभाविक था।

उस दिन पुंडरीक आसन पर बैठने जा रहा था कि उसे सड़क पर जाता हुआ एक व्यक्ति दिखाई दिया। वह वृद्ध था। उसके सिर पर कच्ची मिट्टी के रंगे हुए खिलौनों की टोकरी थी। उन्हें वह उस दिन लगनेवाले कस्बे के बाजार में बेचने ले जा रहा था।

शिल्पी को उन भौंडे और कलाशून्य खिलौनों को देखकर हँसी आ गई। उसने खिलौनेवाले को आवाज दी। वृद्ध ने घूमकर उसकी ओर देखा, फिर निकट चला आया। वह कुछ सहमा हुआ-सा लग रहा था।

"इन्हें बनाने में तुम्हें बड़ा परिश्रम करना पड़ता होगा?" पुंडरीक ने उपहास के स्वर में कहा।

"हां!" वृद्ध ने उत्तर दिया, "अब मेहनत हो जाती है। पहले यह सब खेल था। हाथ जवाब दे रहे हैं, बच्चों की सहायता लेनी पड़ती है। आपका तो बड़ा नाम है, लक्ष्मी बरसती है।"

"मेरी कला लक्ष्मी की उपासिका नहीं है!" पुंडरीक ने कुछ तीखेपन से कहा।

"पहले मेरा भी यही विचार था, मगर अब. . . ।" वृद्ध अटक गया। शिल्पी ने अनुभव किया—यह बात कहते समय वृद्ध की आंखों में यकायक जो चमक आ गई थी वह अकस्मात् इस 'मगर' पर आकर लुप्त हो गई।

उसने खिलौनेवाले को फिर और न रोका। बाजार का समय हो गया था।

शाम को खिलौनेवाला उसी मार्ग से लौटा। पुंडरीक ने देखा, उसके चलने की गति बहुत धीमी थी, पांव थके हुए लगते थे। सिर पर रक्खी हुई टोकरी ज्यों-की-त्यों थी, शायद दो-चार खिलौने बिके भी हों। उसका हृदय वृद्ध के प्रति सदय हो उठा। दो क्षण कुछ सोचने के बाद उसने वृद्ध को अपने निकट बुलाया और पूछा, "आज का काम कैसे चलेगा?"

"जैसे सब दिन चलता आया है!" उसने उत्तर दिया।

"आखिर।"

"उपवास होगा। दो आने के खिलौने बिके थे, बच्चों के लिए चने ले लिये हैं।"

"एक काम कर सकते हो?" सहसा शिल्पी ने पूछा।

"क्या?"

"अब तुम्हें यह धन्धा नहीं करना होगा। मेरे पास एक घंटा आकर बैठा करो, मैं तुम्हारी अधिकतम आय का दुगना धन दूंगा।"

वृद्ध के मुख पर 'क्यों' की जिज्ञासा झलकी।

शिल्पी फिर बोला, "मैं तुम्हारी एक मूर्ति बनाना चाहता हूं। सच कहता हूं, दया और करुणा की वह एक बेजोड़ प्रतिमा होगी।"

वृद्ध की पुतलियों पर विद्युत-सी कौंधकर लुप्त हो गई। उसके अधर कुछ कहने के लिए फड़ककर फिर एक-दूसरे से चिपककर बैठ गये। वह चुप ही रहा।

"मैं तुम्हें और पैसे दे सकता हूं, इतना कि जीवन-भर सुख से बैठ कर खाओ।" शिल्पी ने आकुलता के साथ कहा।

खिलौनेवाले के चेहरे पर जैसे इन्द्रधनुष उग गया। किन्तु वह अब भी मौन रहा।

"बोलो!" पुंडरीक अपना धैर्य खो बैठा।

"मैं अपना यह धंधा छोड़कर जी न सकूंगा, शिल्पी!" वृद्ध ने गंभीर कंठ से कहा।

"क्यों?"

(शेष पृष्ठ ३४२ पर)

बाहर

जे. कृष्णमूर्ति

जो बाहर-ही-बाहर रहता है, वह अन्दर रहना कैसे सीखे? वाचाल सौम्य कैसे बने? तड़क-भड़क से कैसे बचा जाय? वेश पर भरोसा करने की आदत कैसे छुटे? आखिर इन सबसे छुट्टी किसलिए? इसलिए कि इससे छुट्टी पाकर ही हमें उन शक्तियों का ज्ञान होता है, जो हमारे अन्दर छिपी हुई हैं।

पहले हम ये तो जानें कि हम कोरे भड़कीले हैं। ऐसा किये बिना हम अन्दर नजर भी क्यों डालने लगे। वास्तव में हम बाहर ही बाहर रहते हैं, इसकी पहचान क्या है? सीधी पहचान ये कि हम पराधीन हैं, क्रोध के सहारे रहना, चुनौती पर उछल पड़ना, दूसरों के बल पर कूदना, देह-बल पर ऐंठना, अनुभव की डींग मारना, अपनी याद-दाश्तों को लेकर किसीसे भिड़ बैठना, क्या ये सब पराधीनता नहीं है? इस सबमें हम कहां हैं?

मैं रोज दण्ड पेलता हूं। किसलिए? मेरी छाती चौड़ी हो जाय, मेरे भुजदण्ड मोटे हो जायं, मेरी जांघें भर जायं, ये सब बाहरी दिखावा नहीं तो क्या है? मैं सुबह उठते ही भजन गाता हूं, हवन करता हूं, और समझता हूं कि मैं अधूरे से पूरा बन रहा हूं। ये सब दिखावा नहीं है तो क्या है? मैं रोता हूं तो बाहर से, हँसता हूं तो बाहर से। अन्दर तो झांकता ही नहीं।

आज मैं हिन्दुसभाई हूं, कल कांग्रेसी, परसों समाज-वादी। यह सब किसलिए? बाहर-बाहर रहने के लिए के लिए ना? किसी दल के होने का ढिंढोरा पीटना दिखावे के सिवाय और क्या हो सकता है? मैं पराधीन होता जाता हूं, मैं अपनेपन से दूर होता जा रहा हूं, इसका मुझे पता ही नहीं। मालूम तो ऐसा होता है कि हम किसी महान् से जुड़ गये हैं, पर वास्तव में हो यह रहा होता है कि हम अपने से दूर हो रहे होते हैं।

'मैं हूं', इससे मैं इंकार कैसे कर सकता हूं? बस, मुझे यही जानना है कि मैं हूं क्या? जबतक यह न जानूंगा, जगत् से नाता जोड़ता रहूंगा, अपनेको जगत् का भाग समझता रहूंगा, पराधीन रहूंगा। बाहर-ही-बाहर घूमता रहूंगा। अन्दर झांक ही न सकूंगा।

मेरा भला इसीमें है कि मैं ईश्वर में लीन न हो जाऊं। यह पराधीनता होगी। ईश्वर में लीन हो जाना या किसी राजनैतिक दल में मिल जाना, एक ही बात है। मैं हूं। मैं मिट नहीं सकता। बड़े दल में मिलकर मैं बड़ा नहीं हो जाता, छोटा बन जाता हूं। गरीब से राजा होकर मैं बड़ा नहीं होता, दीन हो जाता हूं, पराधीन हो जाता हूं। राज-गद्दी से मैं उतारा जा सकता हूं, पर मुझे अपनी गद्दी से कोई नहीं उतार सकता।

इस तरह के विचारों का परिणाम होता है, अपने ठोस को खोखलेपन में बदल लेना। और यह खोखलापन मुझे बदमाश बना देता है। मैं बड़ी-से-बड़ी बदमाशी करने पर उतारू हो सकता हूं। व्यक्तिगत बदमाशी पर उतर आ सकता हूं। बाहर जो रहा हूं।

हम जो कुछ करते हैं, समझते हैं कि हम ठीक कर रहे हैं और समझते हैं कि हम कर रहे हैं, जबकि हम गलत कर रहे होते हैं, और हम कर नहीं रहे होते, हमसे कराया जा रहा होता है। हम कह बैठते हैं, यह सब हम न करें तो क्या करें? छोड़ें तो और भी किसी काम के न रहेंगे? मन टूक-टूक हो जायगा।

यह सब करते हुए मैं किसी काम में तो लगा हूं, प्रयत्न-शील तो हूं, गतिशील भी हूं। पर यह नहीं समझता कि परा-धीन होता जा रहा हूं! बाहर में रमता जा रहा हूं! अन्दर को भूलता जा रहा हूं। बन नहीं रहा, बिगड़ रहा हूं।

मुझे सबसे पहले यही देखना है कि इस सबमें मैं हूं कहां? मुझे यह स्वीकार करना होगा कि मैं हूं और बहुत कुछ हूं। उस 'मैं' के पास अपना निज का बल है। उसे बाहर की अंगुली पकड़कर चलने की जरूरत नहीं। 'बाहर' उसकी अंगुली पकड़कर चल सकता है। जैसे ही मुझे मैं अपने का ज्ञान होगा तो मुझे झट मालूम होने लगेगा कि अरे! मैं तो बड़ा मूरख हूं, ठोस को पोल समझे हुए हूं, बड़े को छोटा समझे हुए हूं, विशाल को संकीर्ण समझे हुए हूं! यही होगा भीतर झांकना।

अपनेको पहचानते ही मैं एकदम बदल जाऊंगा। मैं कुछ-का-कुछ हो जाऊंगा। जिसका मैं सहारा ले रहा हूं, वह मेरे सहारे की अपेक्षा रखने लगेगा।

खोखलेपन की पहचान क्या ? यही कि वह वास्तविकता से भागता है ? वह क्या है ? यह जानने की कोशिश ही नहीं करता ! अपनेको जानने के लिए मन मारकर काम करना होगा यानी खोखलेपन को दबाकर रखना होगा। यह काम मुश्किल होगा, पर शक्य होगा। जल्दी ही आसान हो जायगा। जिस भीतरवाले को मैं मुरदा समझे बैठा था, उसमें जान पड़ जायगी। मैं मैं बन जाऊंगा।

याद रहे, जैसे ही अपनी तुच्छता का भान हुआ, मैं गहराई में जा पहुंचूंगा। और उन शक्तियों का पता लगा लूंगा, जिनसे मैंने 'मैं' नाम पाया है। और जिनको मैं इन्कार किये बैठा था। भेड़ों के साथ पला हुआ शेर का बच्चा पानी में अपनी शकल देखकर जिस तरह एक क्षण में बदल गया था, उसी तरह मैं अपने खोखलेपन को पहचानकर एक क्षण में कुछ-का-कुछ हो जाऊंगा।

ज्ञानपूर्वक विश्वास का नाम ही है—आत्म-दर्शन, सम्यग्-दर्शन, परमात्म-दर्शन, अटल श्रद्धा। और श्रद्धा ऐसी चीज है, जो पहाड़ों को हिला देती है। हिमालय और आल्पस को नहीं, हमारे कुसंस्कारों के पहाड़ों को, हमारी अंध-श्रद्धा की चोटियों को, हमारे भ्रम की करारों को, हमारे पक्षपातों को, हमारे सैंकड़ों वर्षों के अभ्यासों को।

याद रहे, हमारा सब पढ़ा-लिखा, हमारा सब किया-कराया, हमारे मन को खोखला बनाये रखता है, हमें पराधीन बनाये रखता है, हमें अपने आपकी तरफ झांकने नहीं देता, हमें उससे दूर रखने में ही आनंद मानता है। पर जैसे ही हमें अपना ज्ञान होता है, हम एकदम बदल जाते हैं। जो ज्ञान हमें भरमाये हुए था, वह हमारे पैरों में आ गिरता है। जो हमें दबाये हुए था, वह हमारे पैरों के नीचे आकर हमें ऊपर उठा लेता है। यह सब उसी अटल श्रद्धा का खेल है, जिसे हम ऊपर सम्यग्दर्शन नाम दे आये हैं। अगर मैं को पहचानना सम्यग् दर्शन है तो बाहर-बाहर रहना यानी देह को ही आत्मा समझना और पराधीनता के जाल में फंसे रहना मिथ्यादर्शन या मिथ्यात्व है। बाहर कुफ्र और अन्दर ईमान है। बाहर माया और अन्दर राम है। बाहर प्रकृति और अन्दर पुरुष है। बाहर छाया और अन्दर असलियत है। बाहर अहंकार और अन्दर अहं है।

याद रहे, जीव की रचना अपने ढंग की एकदम अलग है। बाहर रहकर खड़ा किया जंजाल ऐसा मालूम होता है कि दुनिया की कोई शक्ति उसे नहीं ढहा सकती। पर जैसे ही आत्म-ज्ञान हुआ कि वह बिना प्रयास के ढह जायगा। प्रकाश के होने पर न जाने अंधेरा कहां चल देता है, जिसे हम समझे हुए थे कि यह महान् है, इसे किसी तरह नहीं भगाया जा सकता। ढोल में पोल ज्यादा होती है। इसलिए उसके बड़प्पन का कोई महत्व नहीं है। बाहर खड़े जंजाल में महानता बाहर ही होती है। अन्दर तो पोल-ही-पोल होती है। इसलिए आत्म-ज्ञान होने पर अर्थात् मैं में समाने पर वह बिना प्रयास ढह ही जानी चाहिए और ढहती भी है।

खोखला मन वह, जो प्राप्ति की सोचे, परिणाम की सोचे। ठोस मन वह, जो अपनेको ही पर्याप्त समझे और अपने कर्म को ही परिणाम मानें। ये बातें सुनने-भर के लिए अटपटी हैं, करने में बड़ी सरल, बड़ी भली और बेहद रुचिकर हैं।

बस, अब एक ही बात कहने के लिए रह गई कि मन और आत्मा या मन और मैं दो चीज नहीं हैं। सूई की नोंक और सूई दो चीज नहीं है। लेकिन कपड़ा सिलता है, नोंक से। सूई के नीचे के हिस्से से नहीं। ठीक इसी तरह से पराधीनता आती है, मन को मैं मानने से और स्वाधीनता आती है मैं और मन को एक मानने से। मन को अलग मानना ही द्वैत है। मन और मैं को एक मानना ही अद्वैत है।

—अनु० भगवानदीन

●

भक्ति वहां है, जहां हृदय में करुणा है। जिस हृदय में करुणा नहीं, वह कितना ही भक्ति का नाटक करे भक्ति उससे दूर ही रहेगी। इसलिए हमारी राय में वह जो ग्राम-दान का कार्य है, वह भगवान् की वास्तविक भक्ति है, सेवा है, स्मरण है।

—विनोबा

●

शिवानुभव

मास्ति वेंकटेश एयंगार

(१)

शिवानुभव का अर्थ है शिव का अनुभव, शिवत्व का अनुभव और वह अनुभव जो शिव है। प्रत्येक मनुष्य की यह अपेक्षा होती है कि उसका समूचा जीवन शिवानुभव पूर्ण हो। हमें प्राप्त इस भौतिक आवरण का हेतु यही है। धर्म के अनुरूप व्यवहार से शिव का अनुभव होता है। चूंकि उसमें शिवत्व का अनुभव है, इसलिए वह अनुभव शिव है। अनुभूत तत्व का हम तत्व के रूप में ही ग्रहण करें तो उसे शिवत्व का अनुभव कहते हैं, और पुरुषाकार में ग्रहण करें तो शिव का अनुभव कहते हैं। कुछ लोग उसे शिवत्व का अनुभव मानकर संतोष कर लेते हैं तो कुछ लोग शिव का अनुभव समझकर समाधान कर लेते हैं। इसमें न एक उच्च है न दूसरा नीच। सृष्टि-धर्म के अनुसार चलने की आकांक्षा प्रमुख है। पूर्वजों ने इसे ही इन शब्दों में व्यक्त किया—

येनेदं भूतं भुवनं भविष्यद् परिगृहीतं अमृतेन सर्वम्।
यस्मिश्चित्तमोतं प्रजानां तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ॥

(२)

सृष्टि शिव-संकल्प है, यह विचार तभी हृदयंगम होगा जब दृष्टि समग्र होगी। अंश टेढ़ा हो सकता है, पर पूर्ण सुन्दर होता है, जिसमें अंश समा जाता है। शिव के दर्शन से तृप्ति वहां नहीं, जहां दृष्टि समग्र नहीं। केवल अशिव का दर्शन गलत नहीं है, जोकुछ है सारा अशिव ही है, कहना गलत है। मृत्यु है, सृष्टि में मृत्यु समाहित है। एक बहन का पति मर गया। बहन ने कहा कि वह शिवलोक सिधारे। उस स्त्री के लिए पति का शिवजी के सान्निध्य में अस्तित्व उतना ही वास्तविक है जितना कि उसका यहां अभाव। इसीलिए हमारे यहां कहा जाता है कि नाटक दुःखांत नहीं होना चाहिए। मृत्यु होनेपर पिंड-श्राद्ध समाप्त होते ही अगले दिन शुभ-स्वीकार नामक क्रिया की प्रथा चल पड़ी है। मंगल ही सूत्र है, अमंगल उसका विच्छेद है। टूटा हुआ सूत्र टूटा ही नहीं रह जाता। उसमें जीवन-संचार होता है, टूटा जुड़ता है और फिर आगे चल पड़ता है।

(३)

मानव-समाज की शोधमात्र का लक्ष्य शिवत्व का अनुभव है। जिस ऋषि ने यह गाया कि—

भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवाः भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः।
स्थिरैरंगैः स्तुष्टुवांसस्तनूभिः व्यशेम देवहितं यदायुः॥

उसने मानव-मात्र की आकांक्षा ही व्यक्त की है। सारे ही मत, पंथ आदि इसी आकांक्षा की सिद्धि की खोज में निकले हैं। एक मसीहा ने कहा, Seek ye first things first। उसने यह नहीं कहा कि इस अच्छे को छोड़कर दूसरा अच्छा खोजो। सबकुछ अच्छा ही होना चाहिए। तो हमें भी सदा अच्छा ही करना चाहिए, अच्छा ही सोचना चाहिए और अच्छा ही बोलना चाहिए। तभी सदा शिवत्व सिद्ध हो सकेगा। सबको अपने में अच्छी ही धारणा रखनी चाहिए। इसका यह अर्थ नहीं कि सबकी धारणा अच्छी ही होती है। प्रत्येक की अपनी अपनी धारणा, अलग-अलग विचार, वाणी और आचरण होता है। परिस्थिति बदली कि वही विचार, वही वाणी, वही आचार और धारणा बदल जाती है, बदलनी चाहिए। महाभारत ने कहा—

देश-काल निमित्तानां भेदैः धर्मो विभिद्यते।
अन्यो धर्मः समस्थस्य विषमस्थस्य चापरः॥

पर यह भिन्न और वह भिन्न कुल मिलाकर एक ही चित्र के अलग-अलग वर्णों के समान एक ही लक्ष्य की साधना में एक साथ चलते हैं।

(४)

दृष्टि की समग्रता किसलिए ? इसलिए कि दृष्टि समग्र हो। सही दर्शन किसलिए ? इसलिए कि स्वधर्म का ज्ञान हो। स्वधर्म-ज्ञान किसलिए ? इसलिए कि आचरण ठीक हो। यह सारा सधता है तबतक मनुष्य का ज्ञान किसी एक क्षेत्र में एक निर्णय पर पहुंचता है। ईश्वर क्या है, जीव क्या है, मानव का ध्येय क्या है, उसका कर्तव्य क्या है— इत्यादि बातों का एक स्पष्ट निर्णय सद्वर्तन की बुनियाद है। इसका यह अर्थ नहीं कि प्रत्येक व्यक्ति इस निर्णय पर पहुंचेगा या पहुंचना चाहिए। फिर भी प्रत्येक को इन बातों

पर विचार करना होगा, स्वयं जोकुछ समझ नहीं पाता वह किसी अपने से अधिक ज्ञानवाले से समझ लेना होगा और मानकर चलना होगा। यह होगा तब वह अपने ऋषि, उससे सत्य ग्रहण करनेवाले अनुयायी और अपने एक दर्शन का समर्थक बनता है। मैं द्रष्टा हूं, मुझे किसी और से पूछने की आवश्यकता नहीं है—यह जितनी बड़ी गर्व की बात है, इससे यह विनय कम बड़ी नहीं है कि मैं नहीं जानता, यह जानता है और मुझे इसकी बात जंचती है। कम-से-कम इतनी नम्रता मानव में होनी चाहिए। स्वयं भी न जाने और जाननेवाले की भी न माने—यह मूर्खता है। ये लोग **शृण्वन्तोऽपि न शृण्वन्ति, पश्यन्तोऽपि न पश्यन्ति, जानन्तोऽपि न जानन्ति।** इसका अंतिम वाक्य है—**पश्यन्ति ज्ञान-चक्षुषः।** मूल-वाक्य संभवतः स्वयंद्रष्टा के लिए कहा गया होगा। इसका कुछ अर्थ-विस्तार करें तो गलत न होगा। स्वयं-द्रष्टा ऋषि है, ठीक है। जो स्वयं-द्रष्टा नहीं है, पर जो देखते हैं कि अमुक व्यक्ति द्रष्टा है—उन्हें भी ज्ञानी मानना होगा, ऐसे लोग भी पश्यन्ति। उसने ज्ञान का दर्शन किया और इन्होंने ज्ञानी का दर्शन किया। ये भी प्रज्ञा-चक्षु हैं। इनका यह दर्शन इन्हें तारता है।

(५)

ईश्वरविषयक समग्र दृष्टि का एक विचार है—**सर्वं खल्विदं ब्रह्म,** दूसरा है—**न तत्र वाक् गच्छति—, यतो वाचो निवर्तन्ते,** फिर एक विचार है—**अणोरणीयान् महतो महीयान्,** एक और है, **पूर्णमिदः पूर्णमिदं।** "वह तत्व बाजरे के कण के नोक से भी अणु रूप है तो इतना महान् भी है कि सारा ब्रह्माण्ड भी उसमें समा जाता है।" "सारा ही वन तू ही है, उसके सारे वृक्ष भी तू ही है"—यह उस संत अक्क महादेवी के उद्गार है, जिसने शिव को अपना पति माना था। संत बसवेश्वर ने यह जान लिया था कि "आदिशक्ति रूपिणी गिरिजा का पति शिव संतों के मन के नोक पर समाया है।" संत प्रभु लिंग ने कहा, "वह कोई रूप नहीं जो आंखों को दिख सके, वह कोई देही नहीं जो हाथों को मिल सके और वह वाणी की भी पहुंच के बाहर है।" संत दासिमैया ने कहा कि मनकों को पिरोनेवाले धागे के समान है वह राम।" परमेश्वर अचिंत्य है, अद्भुत है, अनिर्वचनीय है, अनादि है, अनंत है और सत्य, ज्ञान और आनन्दरूप है। इससे कम आंकनेवाली दृष्टि गलत है और इन गलत दृष्टियों से ही तो क्षुद्र देवी-देवताओं का निर्माण होता है। इससे कम वर्णन करना भाषा की अनिवार्य न्यूनता है, पर वर्णन उपासना की सुविधा के लिए आवश्यक है। पांचरात्र आगम ने कहा—

न ते रूपं न चाकारो नायुधानि न चास्पदम्।
तथापि पुरुषाकारो भक्तानां त्वं प्रकाशसे॥

उपासक को इस नित्य, अनन्त और सर्वव्यापी तत्व को अपने अन्दर पहचानने का प्रयत्न करना चाहिए। अंदर छिपे हुए शिव की खोज बाहर की सृष्टि में करनेवाले, संत प्रभु-लिंग की भाषा में, बैल पर चढ़कर बैल को खोजनेवालों जैसे हैं। ऋषि फ्रान्सिस थाम्प्सन् ने कहा—Does the fish soar to find the ocean ? or the eagle fly to find the air ? that we ask the stars in their motion to tell us if he is there. पुराणों ने कहा—

आत्मस्थं ये न पश्यन्ति तीर्थे मार्गन्ति ते शिवम्।

(६)

सर्वं खल्विदं ब्रह्म—यह तथ्य जिसने देखा उसके लिए अपने अंदर समाहित ईश्वर जितना सत्य है, उतना ही सामने दिखनेवाले प्रत्येक पदार्थ में—खासकर जीवमात्र में विद्यमान ईश्वर सत्य है। न केवल मानव-मात्र में, परंतु सारी जीवराशि में ईश्वर की उपासना करना ऐसे व्यक्ति के लिए सहज बात है। परतत्व को कुछने विष्णु की संज्ञा दी और कहा—

सर्वभूतेषु यः पश्येत् भगवद्भावमात्मनः॥
भूतानि भगवत्यात्मन्यसौ भागवतोत्तमः।

इन्हीं लोगों ने कहा कि जो व्यक्ति सामनेवाले में विष्णु को नहीं देखता वह नराधम है—

सर्वस्यैव जनस्यास्य विष्णुरभ्यंतरे स्थितः॥
तं परित्यज्य ये यान्ति बहिर्विष्णुं नराधमाः।

इन वाक्यों में विष्णु की जगह शिव रख कर पढ़िये, उस परतत्व को शिव की संज्ञा देनेवालों का वाक्य बन जायगा।

सामनेवाला कुछ भी हो सकता है। अतः यह कहना अनावश्यक है कि देश, काल, कुल, गोत्र, आयु और लिंग आदि भेद के कारण परतत्व भिन्न नहीं हो जाता। उपाधि

विविध हैं, अंतःसत्व एक है। उपनिषदों का उद्घोष है —

नैव स्त्री न पुमानेष न चैवाहं नपुंसकः॥
यद्यच्छरीरमादत्ते तेन तेन स युज्यते।

स्त्री-पुरुष शरीर है। आत्मा अभिन्न है। संत दासिमैया ने कहा, "स्तन को देखकर नारी कहते हैं, दाढ़ी मूंछ को देख कर नर, पर अंतरात्मा नर है, न नारी।"

(७)

शिव को सर्वव्यापी और सर्वशक्त जाननेवालों में अपने अपने स्वभाव के अनुसार कोई उसे निर्गुण देखता है तो कोई सगुण। वह तत्व जैसा मुझमें है वैसा ही सामनेवाले प्रत्येक वस्तु में है, ऐसा समझनेवालों में कुछने कहा कि "सारा वह एक ही है, उससे अलग मैं कुछ नहीं हूं।" दूसने ने कहा, "वह है और उसके अंग रूप में मैं भी कुछ हूं।" तीसरे ने कहा, "वह है, और उसकी कृपा से मैं कुछ हूं।" तीनों तीन प्रकार हुए। प्राचीनों ने इनका नाम रक्खा अद्वैत, विशिष्टाद्वैत और द्वैत। कोई भी शिवानुभवी अपनी धारणा को सही मानेगा ही। ये तीनों शिवानुभवी ही हैं। अतः तीनों धारणाएं सही हैं। इन मंजिलों तक पहुंचने का मार्ग किसीने ज्ञान कहा, किसीने भक्ति कहा, तो किसीने कर्म कहा। कोई भी गलत नहीं है। जिसका जैसा स्वभाव उसके लिए वह प्रमुख। सच तो यह कि किसी एक को अपनाने से बाकी दो छूट नहीं जाते। कट्टर अद्वैती भी आखिरी मंजिल तक पहुंचने के अंतिम क्षण तक द्वैत को प्रत्यक्ष देखता ही है। वैसे ही कट्टर द्वैती भी यह अनुभव करता ही है कि वह स्वयं उस परतत्व से भिन्न कुछ नहीं है। दोनों का विरोध मिटाने का मध्यममार्ग विशिष्टाद्वैत का दिखता है। इसकी समन्वय-दृष्टि उन दोनों परस्पर-विरोधी दिखनेवाले वादों को सही भी सिद्ध करनेवाली है। जिस ज्ञानी ने देख लिया कि परतत्व कितना महान् है, वह उसके सामने भक्ति-भाव से विनत होता ही है। विश्लेषण करने बैठें तो ज्ञान, कर्म और भक्ति तीनों अलग-अलग दिखते हैं, पर अनुभव में तीनों बटकर एक डोरी बनते हैं।

(८)

यों व्यक्ति की मंजिल तय होते-होते उसके व्यवहार को भी कुछ आकार-विशेष आ जाता है। उसका प्रमुख लक्षण यह कि वह सारा ही व्यवहार शिवानुसंधान का साधन बन जाता है। ऐसी कोई वस्तु नहीं, जो उसकी साधना का साधन न बने। उपनिषदों ने कहा,

प्रणवो धनुः शरो ह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते॥
अप्रमत्तेन वेद्धव्यं शरवत्तन्मयो भवेत्।

हजारों वर्षों से जिन्होंने संत प्रभुदेव ने ज्ञान से सिद्धि पाई, बसवेश्वर और अक्क महादेवी ने भक्ति से पाई और सिद्धराम आदि ने कर्म से। तो ये सब इस युग के मार्गदर्शक महापुरुष हैं। इन महान् व्यक्तियों की महानता को देखनेवाला निरहंकारी बनता है। इनकी निःस्वार्थता को देखनेवाला ममकार शून्य बनता है। इनकी उदारता को समझनेवाला भलाई का दास बनता है। इनका निश्चय पहचाननेवाला उदात्त बनता है। सनातन धर्म के सत्य, अहिंसा, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह तथा शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर प्रणिधान रूप यम और नियम उसके लिए निरंतर साधना-सूत्र बनते हैं। वह कहीं कुछ चोरी नहीं कर सकता, मार नहीं सकता, झूठ बोल नहीं सकता, आत्मस्तुति नहीं कर सकता और पर-निंदा नहीं कर सकता। वह हर बुराई से बच कर चलेगा। उसमें अप-पर-भाव नहीं होता। वह किसीको खास अपना बनाता भी है तो ऐसे को ही जो उसकी तरह सत्य के लिए मर मिटनेवाला होता है। ईसा मसीह ने अपने जैसे धर्म-प्रेमियों के बारे में कहा, These are my mothers and brothern। वह जीव-मात्र का दुःख दूर करने में लगता है। सनातन-धर्म के आदेशानुसार वह **सर्वभूतहिते-रतः** होने का प्रयत्न करता है। पर इस भाव से नहीं कि वह खुद कोई बड़ा हो और बाकी छोटे जीवों पर कोई उपकार करता हो। श्री रामकृष्ण परमहंस ने कहा, सामने जो है वह जीव नहीं, शिव है। उसपर दया न दिखाओ, उसकी सेवा करो। श्रीकृष्ण ने कहा—

दास्यमैश्वर्यभावेन बांधवानां करोम्यहम्॥

पाण्डवों ने श्रीकृष्ण को सदा बुजुर्ग माना। वह उनके घोड़ों की मालिश करना अपना काम मानकर चले। शिवानुभवी के हृदय में करुणा और वात्सल्य भरे रहते हैं।

एतावान् अव्ययो धर्मः सद्भिर्नित्यमनुष्ठितः।
यल्लोकशोकहर्षाभ्यां आत्मा शोचति हृष्यति॥

शिवानुभूति प्राप्त होने पर वह किसी का दुःख देखकर

यही मानेगा कि मैं ही इसके दुःख का कारण हूं। इसके लिए वह छटपटायेगा, उसके निवारण के लिए स्वयं आयेगा।

को नु सः स्यात् उपायोऽत्रयेनाहं दुःखजीविनाम्।
अंतः प्रविश्यः भूतानां भवेयं दुःखभाड् सदा॥

(९)

पूर्वजों ने कहा, 'अहिंसा परमो धर्मः।' हाथी के कदम में सभी जानवरों के कदम समा जाते हैं। इसी प्रकार, पौराणिक इतिहास ने माना, कि अहिंसा व्रत में अन्य सारे व्रत समा जाते हैं। संत बसवेश्वर ने यही सत्य दो वाक्यों में रखा, "दयाहीन धर्म कौन-सा है? दया ही धर्म का मूल है।" अहिंसाव्रती शिवानुभवी दूसरे जीवों की हिंसा पर अपना गुजारा नहीं चलायगा। वह मांस नहीं खा सकेगा। हिंसा का अर्थ किसीकी हत्या ही नहीं है, अपने सुख के लिए किसीसे मेहनत करवाना भी हिंसा है। अतः दूसरे के परिश्रम पर वह जी नहीं सकेगा। वह अपरिग्रही होगा, स्वयं श्रम करेगा, स्वधर्म पर चलेगा।

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः।

पास में जोकुछ है, उसका उपयोग वह केवल अपने लिए ही नहीं करेगा। गरजमंद को दे देगा। जो अपने काम का नहीं उसे अपने पास रखना चोरी है, स्तेय है। वह इस चोरी से बचेगा। फिर वह असत्य भाषण करेगा क्यों? स्त्री-संबंध में भी वह उतना ही सच्चा रहेगा। उसके धार्मिक आचार या राजनीति का अपना विशिष्ट स्वरूप होता है। शिवानुभवी अपने से अधिक ज्ञानी को अपना गुरु मानता है, स्वयं उसका शिष्य बनता है। साथियों और कनिष्ठों के साथ आदर-पूर्वक व्यवहार करता है। उसका प्रत्येक काम ईश-सेवा होगा। वह चाहे जैसी स्थिति में रहे, उस स्थिति को हरि-दर्शन का साधन बना लेता है। तब ईश्वर उसके बस में होता है और उसकी सेवा ग्रहण करता है। जीने के लिए जो हिंसा नहीं करता वह ईश्वर के नाम पर क्यों करेगा? उसकी साधना में पशुहत्यावाला यज्ञ नहीं आता है। ईश्वर की शरण जाने का उपदेश देते हुए संत बसवेश्वर ने इसी सत्य का प्रसार किया जो कि सनातन धर्म का सार है।

बीजैः यज्ञेषु यष्टव्यं इति वै वैदिकी श्रुतिः।
अजसंज्ञानि बीजानि छागं नो हंतुमर्हथ॥

यहूदियों का धर्मग्रंथ कहता है—"God says, if I were hungry I would not tell you, for the world is mine and the fullness thereof. Will I eat the flesh of goats or drink the blood of bulls? offer unto God thanks giving and pay the vows unto the most high."

उसकी पूजा में दिखावा, ढोंग और आडम्बर आदि नहीं होगा। प्रातःकाल विस्तर से उठने के बाद रात को फिर सोने जाने तक के सारे काम इसके लिए शिव की उपासना, शिव की साधना और शिव की आराधना होगा। प्रत्येक जीव में चूंकि वह शिवदर्शन करता है, अतः दूसरों का दुःख उसका अपना ही दुःख होता है। हर तरह जीवराशि को सुखी बनाने का वह प्रयत्न करता है। ऋषियों ने कहा—

प्रायशो लोकतापेन, तप्यन्ते साधवो जनाः
परमाराधनं तद्धि पुरुषस्याखिलात्मनः।
येन केन प्रकारेण यस्य कस्यापि जन्तुनः
संतोषं जनयेत् प्राज्ञः तदेवेश्वर-पूजनम्॥

(१०)

शिवानुभवी के लिए जीवन ही साधना का क्षेत्र बनता है। वह समझता है कि लोक-व्यवहार उसकी परीक्षा ले रहा है और इसलिए वह हर क्षण बड़ी सावधानी से धीरज के साथ चलता है। वह अपनी कमजोरियों को पहचानता है। संत दासिमैया भगवान् से यही वर मांगता है कि, "प्रभु, मेरे सामने विषयों की हरियाली न बिछाना।" उसीने कहा कि "घर की आग अपना घर जलाकर ही पड़ोस को जलाने जायगी।" शिवानुभवी का मन इस बात से कभी ऊबेगा नहीं कि लोग ठीक रास्ते पर नहीं चलते। संत अक्क महादेवी ने कहा कि "सागर-तट पर घर बांधकर सागर की गर्जना से परहेज करे तो कैसे चलेगा?" जीवन में आनेवाली किसी भी विपत्ति से भक्त नहीं घबरायगा। भक्त तो अपना तन, मन और धन सबकुछ उसीके अर्पण कर देता है। वह भी भक्त का तन, मन और धन हिला-डुलाकर परखता है, भक्त तब विचलित न हो तो ही वह उसकी भक्ति को कबूल करता है। तिलक-छाप प्रधान नहीं है, मनोवृत्ति प्रधान है। चूंकि भक्त के मन में यह बात पक्की है, इसलिए केवल तिलक-छाप से उसे संतोष नहीं होता है, वह अपनी

मनोवृत्ति सुधारने में लगता है। केश काषायाम्बर धारण से क्या होगा ? संत वह है, जिसमें विचार और आचार दोनों हों। 'जाति न पूछो साधुकी, पूछ लीजिये ज्ञान।' "झुरमुट के ऊपर कोई पत्थर रक्खो तो क्या वह पत्थर शिवलिंग बनेगा, वह झुरमुट भक्त बनेगा या वह रखनेवाला गुरु कहलायगा ?" "रूप लिखा जा सकता है, पर प्राण कैसे लिखा जाय ?" ये और ऐसे वाक्य उस भक्त के लिए दिन में सूर्य की तरह और रात में तारों की तरह रास्ता दिखानेवाले होते हैं। सिद्धि सहज नहीं है, पर उसे कष्टसाध्य समझकर वह हार नहीं मान बैठता। "पर्वत को ठंड लग सकती है ? तो साधक का धीरज क्यों टूटे ?" If the salt bath lost ils savour where with shall it be salted ? भक्त-शिरोमणि ने कहा, "अंदर से पुकारो, जवाब मिलेगा।" "श्री वैकुंठ की दूरी हांक-भर की है।" "विश्वास करो, आवाज दो, पार हो जाओगे।" "हिम्मत न हारो, आगे बढ़ो, मंजिल मिलेगी।"

(११)

परतत्व को शिव के रूप में पहचाननेवाले और विष्णु माननेवाले कोई विरोधी नहीं है। उन्हें विरोधी मानने की आवश्यकता नहीं। परमार्थ-मार्ग में दोनों एक ही हैं, यही नहीं, नित्य-व्यवहार में भी दोनों एक हैं। साधना के सौंदर्य-विशेष की दृष्टि से शिव के साथ एक प्रकार की मूर्ति, एक आभूषण, एक पत्नी, एक पुत्र और एक धाम की कल्पना की गई है, तो विष्णु के साथ दूसरे प्रकार की मूर्ति, दूसरी पत्नी, दूसरा पुत्र, दूसरा आभूषण और दूसरा धाम माना गया है। हमारे आचार हैं, जो उन दोनों में विरोध पैदा करते हैं। कहीं-कहीं संप्रदायों के आचार्य और प्रवर्तकों ने भी कह दिया है कि हमारा तो विष्णु ही है, शिव नहीं अथवा शिव ही है, विष्णु नहीं। इसीके अनुरूप व्यवहार भी कर दिया है। परंतु सनातन धर्म का अंतरंग इस विरोध को पसंद नहीं कर सका है। वेदों ने कहा, **एकं सद् विप्राः बहुधा वदन्ति।** वैष्णवों ने प्रस्तर-स्तम्भों पर खुदवाया—**यं शैवाः समुपासते शिव इति—सोऽयं श्री केशवेशः।** वीरशैवों का वचन-साहित्य इस भाव से भरा पड़ा है कि—ईश एक, नाम अनेक। महाभारत ने कहा—**रुद्रो नारायणश्चैव सत्वमेकं द्विधा कृतम्।** उपनिषदों का उद्घोष है कि शिव और नारायण दोनों एक ही तत्व हैं—**शाश्वतं शिवमच्युतं नारायणं।** शिवोपासक और विष्णु-उपासक दोनों को यह निश्चय जान लेना है कि शिव और विष्णु शब्द भले भिन्न हैं, परंतु उन शब्दों का प्रतिपाद्य तत्व एक ही है।

(१२)

शिवानुभवी को चाहिए कि अपने इस निश्चय को और इससे प्राप्त शुभ परिणामों को संसार-भर में फैला दे। शिव और विष्णु अमुक एक प्रदेश के, राष्ट्र के या केवल पृथिवी के ही देव नहीं है। शिव तीनों लोकों का देव है। उसका अभय-हस्त तीनों लोकों के लिए समान रूप से उठा है। सभी प्रमुख धर्मों के आचार्यों ने एक ही मूल स्रोत से प्रेरणा पाई है। उसके कई नाम हैं—शिव, विष्णु, ब्रह्म, अल्लाह, गॉड आदि-आदि। कोई भी, कहीं भी कैसे भी अपने अत्युन्नत आदर्श का नाम चाहे जो रक्खे वही शिव है और उस अनुभूति का नाम ही शिवानुभव है। यह शिवानुभव वह व्यक्ति भी प्राप्त कर सकता है, जिसने शिव का नाम तक नहीं जाना है। जो शिव का नाम तो लेते हैं, पर अशिव आचरण करते हैं, तथा विष्णु का नाम लेते हैं पर दूसरों में विष्णु का दर्शन नहीं करते हैं, उनको शिव या विष्णु का साक्षात्कार करने से पहले अपने मन को शुद्ध करना चाहिए। Not all who say Lord Lord shall enter the kindom of Heaven. हर प्रदेश के और हर समय के महापुरुष एक ही लक्ष्य की ओर चले हैं और आज भी यह सही है। ये सारे शिवत्व के उपासक हैं, शिवत्व के साधक हैं और शिवत्व के अनुभवी हैं। सारे शिवानुभवियों को एक होकर रहना चाहिए, शिवत्व का पूर्ण अनुभव करना चाहिए। शिवानुभवी अपने-अपने शिव को लेकर अलग जीना चाहे तो वह होगा नहीं। वह अनुभव अधूरा होगा। अनेक में एक और भेद में अभेद तथा समन्वय देखने से और अपना अनुभव विस्तार करने से अनुभव पूर्ण होगा।

सर्वदा सर्वभावानां सामान्यं वृद्धिकारणम्
ह्रासहेतुः विशेषस्तु प्रवृत्तिरुभयस्य च।

भेद को प्राधान्य देना विभाजन का कारण बनता है और समान गुणों को प्राधान्य देना मैत्री का कारण बनता है। शिवानुभवी को विश्वमैत्री के लिए प्रयत्नशील रहता

(शेष पृष्ठ ३४२ पर)

एक दहकता हुआ सवाल

●● उमेश

एक दहकता हुआ सवाल रह-रहकर मेरे मन में उठता है कि यह देश श्री-सम्पन्न है, समृद्ध है, प्रगतिशील है, पर अपने घर में, मुहल्ले में, गली में और शहर के मिलने-जुलनेवालों में रोज हर घड़ी, हर पल, हर मिनट देखता हूं कि लोग गरीब हैं, दुःखी हैं, असंतुष्ट हैं, ऊबे हुए हैं। स्वतंत्र हुए १५ साल हो गये पर सोचने का ढंग जनसाधारण का आज भी सामंती है। ज़मींदारी-प्रथा मिट गई, जागीरदारी समाप्त हो गई, लेकिन आप छोटे-से लेकर बड़े तक के कार्यों पर गहरी दृष्टि डालें तो आप अंगुलियों को पूंजीवादी सरगम बजाते ही पायंगे। हां, कहने के लिए समाजवादी बातें हैं। 'पंडित वही जो गाल बजावा।' जहांतक दिन-प्रति-दिन के जीवन-व्यवहार की स्थिति है, व्यक्तिगत पवित्रता है और सार्वजनिक भ्रष्टता। भ्रष्टाचार को शिष्टाचार कहें तो अतिशयोक्ति न होगी, वस्तु-स्थिति की वास्तविकता होगी और वह भी विशेषकर शिक्षित समाज में।

पढ़े-लिखे बेकार आपको घर-घर में मिल जायंगे—जो सुबह अखबार में केवल 'आवश्यकता है' का कालम देखते हैं, फिर दोपहर को अर्जी लिखते हैं, रोजगार दिलानेवाले से लेकर देनेवाले दफ्तर तक रोज जाते-आते हैं। घंटों पोस्टमैन की इंतजारी के बाद भी आखिर में निराश होकर हाथ-पर-हाथ रखे किस्मत को कोसते, सरकार की शिकायत करते दूसरी सुबह की प्रतीक्षा में दस-पांच दिन नहीं सालों गुज़ार रहे हैं।

इस देश में वृद्धि किस बात में है?—जन-संख्या की बढ़ोतरी में। बस यही एकमात्र विकेन्द्रित उद्योग देशभर में अखिल भारतीय स्तर पर विकसित है। विश्व के कई राष्ट्रों में यह भले ही, वरदान हो पर इस देश में इसका प्रभाव इसी बात से प्रकट हो जाता है कि किसी किसान से पूछिये 'भाई, बच्चे के बारे में क्या सोचा है?' अभी तो वह पढ़ रहा है, फिर किसी अच्छी नौकरी में जाय ऐसी ही भगवान् से प्रार्थना है—ऐसा आपको सबसे उत्तर मिलेगा। "अरे खेती में क्या रक्खा है?" यह उस देश की बात है, जो कृषि-प्रधान है और जहां ८० प्रतिशत लोग गांवों में बसते हैं। सरकार भी जनता की पढ़ाई की मांग पूरा करने के लिए अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा-अभियान चला रही है। शिक्षा पर २५० करोड़ रुपया प्रति वर्ष व्यय हो रहा है, केवल किताबी-शिक्षण देकर बाबूगीरी की अभिलाषा के लिए!

जिन्हें जरूरत नहीं है, वे भी नौकरी चाहते हैं। अपनी सेवा के लिए घर पर नौकर लगाकर खुद दूसरे की नौकरी करेंगे। पुरुषों के साथ-साथ यही समस्या पढ़ी-लिखी स्त्रियों के साथ भी है। सभी शिक्षित महिलाएं नौकरी करना पसंद करती हैं। अगर उनके बच्चों को उनकी सास नहीं संभालती तो नौकरानी रख ली जाती है, आया बच्चों को रखती है। ननद खाना नहीं बनाती तो महाराजिन आ जाती है। इतने पर भी नहीं हुआ तो पति को अलग बंगला लेकर रहने की क्रिया-हठ आरम्भ हो जाती है। पर संतोष फिर भी नहीं मिलता। थोड़े अहं की तुष्टि हो जाती है।

पुरानी रूढ़ियां, अन्ध-विश्वास आदि बहुतेरी बातें हैं। इस सब घने अंधेरे में अपने अन्तर के सार्वजनिक स्नेह, सौहार्द्र को लेकर गांधीजी ने मिट्टी के नन्हे-से दीप जैसी ज्योति जलाई थी, जिससे और भी कई ज्योति जली थीं। इस परिवर्तन को गांधी की आंधी भी कहा गया। नन्हें-से अकेले एक दीप ने बहुतेरी दीपमालिकाओं का रूप लिया। लेकिन उस अकेले एक दीप के बुझने के बाद बाकी के दियों ने अपने अन्तर की खुद की बैटरी को छोड़ बिजली के लट्टू की तरह जगमगाना तय किया। प्रकाश पहले से भले अधिक हो गया हो, लेकिन उसका जलना अपने से न रहकर बल्कि एक छोटे-से बटन में समा गया। यह बटन आज किसके कब्जे में है? किसका इस पर हाथ है, किसी से छुपा नहीं। जनतंत्र में जनता अपने नौकरों के आगे गिड़गिड़ाती है, उनकी दया की भीख मांगती है। साधारण वोटर की तो कोई विसात नहीं। पूछ है तो वोटों के ठेकेदार की। उसकी जिसके कब्जे में हजार-पांच सौ वोट हैं। उसीका काम हो जाता है और हर संभव सहायता उसे मिल जाती है।

सरकार के बाहर जो व्यावसायिक गैर-सरकारी संस्थाएं हैं, उनकी बात तो जाने दीजिये, उनका तो उद्देश्य

ही व्यावसायिक है, लेकिन इन रचनात्मक और सृजनात्मक कही जानेवाली संस्थाओं ने भी टाट में रेशम के पैबंद लगाने शुरू कर दिये हैं। आलीशान इमारतें और वही पूंजीवादी तौर-तरीके, जिनके विरोध करने को इन संस्थाओं का जन्म हुआ था। इनके यहां भी वही दो भेद हैं, एक काम करनेवाला और दूसरा काम करानेवाला। एक नाम का मंत्री और दूसरा काम का मंत्री। कार्य से अधिक दिखावे पर जोर और सरकार तथा गांधी स्मारक निधि से देश के नाम पर अनुदान की लगातार मांग। इन संस्थाओं में भी राजनीति का बोल-वाला है। भेड़ की खाल में भेड़ियों की भरमार है। जिसे कहीं कोई गद्दी, पद या पदवी नहीं मिली तो वह अपने सींग छुपा इन बछड़ों की जमात में शामिल हो गया।

समाज-सुधारकों के लिए सेवा धन्धा बन गई है, पेशा बन गई है। हाल ही में हुए आम चुनावों के परिणामों को देखकर लगने लगा है कि अब मतदान के माध्यम से दूसरा कोई राजनैतिक दल अपनी सरकार निकट भविष्य में नहीं बना सकता। इसलिए राजनैतिक दल अब इस कोशिश में हैं कि मिल-जुलकर कोई विद्रोह खड़ा करें। यह एक ज्वलन्त प्रश्न बन गया है कि इस देश का भविष्य क्या होगा? क्योंकि भविष्य बनानेवाले तो ऐसे बेखबर हैं, जैसे उन्होंने कोई नशा कर लिया है और जो उत्पाती लोग हैं, वे जाग्रत हैं। वे अपनी हर संभव सिफत से देश के नाम पर चल रही कल्याणकारी योजनाओं से खूब लाभ उठाते हैं, प्रतिष्ठा पाते हैं। सामान्य नागरिक जहां-का-तहां अपनी गरीबी में दिन काटता हुआ अभी भी अनुभव नहीं कर रहा है कि देश उसका है, वह उसका स्वामी है, रक्षक है।

●

(पृष्ठ ३३३ का शेष)

"मन का स्वभाव जो बन गया है। खिलौने मुझे अपने बच्चों की तरह लगते हैं। उन्हें बनाते वक्त मैं स्वर्ग में रहता हूं, मगर बेचते वक्त राक्षस बन जाता हूं। मुझे इस सुख-दुःख की भूल-भुलैया में ही जीने दो।" मर्माहत कंठ से कह वह आगे बढ़ गया।

खिलौनेवाला पुंडरीक के हृदय में एक हलचल उत्पन्न कर चला गया। उसकी असाधारण प्रतिभा मूर्तिमन्त हो उसके सामने आ खड़ी हुई। उसने एक बड़ा पैना प्रश्न किया, "क्या तुमने कभी मुझे अपने बच्चे की तरह प्यार किया है?"

और शिथिल पगों से पुंडरीक अपने आसन पर आकर बैठ गया।

●

(पृष्ठ ३४० का शेष)

चाहिए। जीवमात्र के साथ कहना चाहिए—

'संगच्छध्वं संवदध्वं सं वो मनांसि जायताम्।

इस आह्वान को वह न समझ सके और उससे दूर ही रहना चाहे तो भी उसे इससे हार नहीं माननी चाहिए। वह भले न जान सके, मैं तो जानता हूं कि वह मेरा भाई है और मैं उसे कैसे छोड़ सकता हूं—ऐसा विचारकर उसे अपने साथ निभाते चलने का सर्वथा प्रयत्न करना चाहिए। करना चाहिए क्यों कहें, वह करेगा ही। जो व्यक्ति शिवानुभव के लिए चल पड़ा है, उसे शिव स्वयं यह प्रेरणा देगा।

—अनु० ति० न० आत्रेय

●

हमारी धरोहर

जड़ भरत

●● सुशील

भगवान् ऋषभदेव के पुत्र महाराज भरत अपने पुत्र को राजगद्दी सौंपकर हरिहर क्षेत्र में भगवान् की आराधना करने चले गये। एक बार वह नदी के किनारे बैठे हुए थे कि एक हिरनी पानी पीने के लिए आई। उसी समय सिंह की दहाड़ सुनाई दी और वह हिरनी डर के मारे उस पार जाने के लिए उछली। वह गर्भवती थी। उछलते समय उसका बच्चा नदी में गिर पड़ा और वह मर गई। राजर्षि भरत यह सब देख रहे थे। उस बच्चे को नदी से निकालकर वह अपने आश्रम में ले गये। उसके प्रति उनके मन में इतनी ममता पैदा हुई कि उनकी साधना, आराधना सब समाप्त हो गई। यह जीवन पूरा हो जाने पर उन्होंने मृग-योनि में जन्म लिया। क्योंकि उनकी साधना पूरी हो चुकी थी, इसलिए इस जन्म में भी भगवान् का चिन्तन करते हुए अन्त में वह एक ब्राह्मण के घर में पैदा हुए। यहां भी वह हर समय भगवान् के चिंतन में लीन रहते थे और दूसरे लोग उन्हें पागल समझते थे। माता-पिता की मृत्यु के उपरान्त भाइयों ने उन्हें घर से निकाल दिया। वह मजदूरी करने लगे। अन्त में उनके भाइयों ने उन्हें कृषि-कर्म में लगा दिया।

इसी समय डाकुओं के एक सरदार ने नरबलि देने का संकल्प किया। और दैवयोग से उसके सेवक इसी ब्राह्मण-कुमार को पकड़कर ले गये। लेकिन जिस समय बलि देने के लिए सरदार ने खड्ग उठाया तो साक्षात् भद्रकाली वहां प्रकट हुईं। उन्होंने उन दुष्टों को मार डाला और ब्राह्मण कुमार वहां से चले गये।

एक बार राजा रहुगण पालकी पर चढ़कर कहीं जा रहे थे। उन्हें एक कहार की जरूरत पड़ी। महात्मा भरत को जबरदस्ती पकड़कर पालकी में जोड़ दिया गया। लेकिन कोई जीव पैरों तले न दब जाय इस डर से वह बहुत धीरे-धीरे चलते थे। राजा रहुगण इससे बहुत परेशान हुए और ब्राह्मण रूपी जड़ भरत का तिरस्कार करने लगे। भरत मुस्कराये बोले, "राजन्! तुमने जोकुछ कहा है, ठीक है। यदि भार नाम की कोई वस्तु है तो ढोनेवालों के लिए है। मार्ग चलनेवालों के लिए मोटापन भी उसीका है। यह सब शरीर के लिए कहा जाता है, आत्मा के लिए नहीं। तुम राजा हो और मैं प्रजा हूं। इस प्रकार की स्वामी-सेवक-भाव की भेद-बुद्धि भ्रम पैदा करनेवाली है। फिर भी यदि तुम्हें अपने स्वामीपन का अभिमान है तो कहो मैं तुम्हारी क्या सेवा करूं। मैं उन्मत्त और जड़ के समान रहता हूं। मेरा इलाज करके तुम्हें क्या हाथ लगेगा। मुझे शिक्षा देना पिसे हुए को पीसने के समान व्यर्थ है।

जड़ भरत की ऐसी तत्वभरी बातें सुनकर राजा रहुगण चकित रह गये। उन्होंने पालकी से उतरकर भरत के चरणों में सिर टेककर कहा, "महाराज, आप कौन हैं? आपके अवधूत वेष के कारण मैं आपको पहचान नहीं सकता। मैंने आपकी अवज्ञा की है। कृपा करके मुझे इस अपराध से मुक्त कीजिये।" जड़ भरत ने कहा, "राजन्! अज्ञानी होने पर भी तुम पंडितों के समान बातें करते हो, इसलिए तुम श्रेष्ठ ज्ञानी नहीं हो। तत्व ज्ञानी पुरुष स्वामी-सेवक आदि व्यवहार को सत्य रूप से स्वीकार नहीं करते।"

इसके बाद नाना प्रकार से रहुगण को आत्मोपदेश करते हुए महर्षि बोले, "यह मन ही तुम्हारा शत्रु है, इसलिए सावधान होकर श्रीहरि की उपासना करते हुए इसपर विजय प्राप्त करो।"

रहुगण का मन अभी पूरी तरह शान्त नहीं हुआ था। उसने अपनी शंका प्रकट की। इसपर जड़ भरत ने समाधान करते हुए कहा, "राजन्! यह जीवन धन में आसक्त व्यापारी के समान है जिसे माया ने दुस्तर प्रवृत्ति मार्ग में लगा दिया है, इसलिए इसकी दृष्टि सात्विक, राजस और तामस कर्मों पर ही जाती है। उन कर्मों में भटकता-भटकता यह संसार-रूपी घोर वन में पहुंच जाता है। यहां डाकू इसका धन लूट लेते हैं। इस जंगल से कोई प्राणी न तो आज तक लौटा है न किसीने इस संकटपूर्ण मार्ग को पारकर परम आनन्दमय योग की ही शरण ली है। राजा रहुगुण, तुम भी इसी जंगली मार्ग में भटक रहे हो, इसलिए

अनासक्त होकर अब भगवत् सेवा में लग जाओ। वही मुक्ति का एकमात्र साधन है।"

तब राजा रहुगण बोले, "सभी योनियों में यह मनुष्य योनि श्रेष्ठ है। दूसरी देवादि योनियों से क्या लाभ ? जहां भगवान् के पवित्र यश से शुद्ध अन्तःकरणवाले आप जैसे महात्माओं का समागम नहीं होता। जिनके सारे पाप नष्ट हो गये हैं, उन महानुभावों के लिए भगवद् भक्ति प्राप्त करना कोई अचरज की बात नहीं है। मेरा तो अज्ञान आपके इस दो घड़ी के सत्संग से ही नष्ट हो गया। अवधूत वेष में पृथ्वी पर विचरनेवाले आप-सरीखे ब्रह्मज्ञानियों को मैं बार-बार नमस्कार करता हूं।"

इस प्रकार जब ब्रह्मर्षि भरत ने राजा रहुगण को करुणा-वश आत्मतत्व का उपदेश दिया तो सचमुच उसका अन्तःकरण शुद्ध हो गया। वह समझ गये कि प्रवृत्ति मार्ग में पड़कर सुख-दुःख भोगता हुआ यह जीवन रोग-रूपी गिरि-गुहा में फंसकर आधिदैविक, आधि-भौतिक और आध्यात्मिक दुःखों की निवृत्ति-चिन्ता से खिन्न हो उठता है।"

यह ज्ञान प्राप्त हो जाने पर राजा रहुगण निर्मल मन से ब्रह्मर्षि भरत को प्रणाम करके वहां से चले गये।

राजा पुरंजन

प्राचीन काल में पुरंजन नाम का एक बड़ा यशस्वी राजा था। अविज्ञात नाम का उसका एक मित्र था। घूमते-घूमते उसने एक दिन नौ द्वारों का एक नगर देखा। उस सम्पन्न नगर के बाहर एक दिव्य उपवन था। दस सेवक और सहेलियों के साथ एक परम सुन्दरी वहां घूम रही थी। विवाह के लिए उसे एक वर की आवश्यकता थी। पांच फन-वाला एक सर्प उसका रक्षक था।

उसे देखकर पुरंजन ने उसका परिचय पूछा। सुन्दरी ने उत्तर दिया, "नरश्रेष्ठ, मैं कुछ नहीं जानती। केवल यही जानती हूं कि मैं इस पुरी में रहती हूं। ये सब मेरे मित्र हैं। और यह सर्प मेरी रक्षा करता है। आप जबतक चाहें मेरे साथ इस नगर में रह सकते हैं।"

राजा पुरंजन ने उस स्त्री की बात मान ली और सानन्द सौ वर्षों तक उस पुरी में रहता रहा। वह उस सुन्दरी के वश में हो गया। इस प्रकार जिस प्रकार पालतू बन्दर अपने स्वामी के वश में हो जाता है। उससे बिना पूछे जरा भी वह कहीं जाता तो वह सुन्दरी अत्यन्त क्रुद्ध हो उठती। तब नाना प्रकार से अनुनय-विनय करके वह उसे मनाता था। उसके ११०० पुत्र और ११० कन्याएं हुई। फिर पुत्रों में से प्रत्येक के १०० पुत्र हुए। लेकिन ममता के कारण वह विषयों में बंधा रहा। अंत में वृद्धावस्था आ पहुंची।

चण्डवेग नाम का गन्धर्वों का एक राजा था। उसके अधीन ३६० गंधर्व और उतनी ही कृष्ण और शुक्ल वर्ण की गन्धर्वियां थीं। वे सब आकर राजा पुरंजन का नगर लूटती रहती थीं। वह सर्प अकेला ही सौ वर्षों तक उनसे युद्ध करता रहा। लेकिन आखिर वह बलहीन होने लगा। यह देखकर राजा पुरंजन को बड़ी चिन्ता हुई। यही नहीं, भय नाम के एक यवनराज के सैनिक और काल की कन्या, जो हमेशा इस पृथ्वी पर विचरते रहते हैं, उन्होंने भी पुरंजनपुरी को घेर लिया और प्रजा को अपने अधीन कर लिया। काल-कन्या के आधिपत्य से राजा पुरंजन की श्री और विवेक-शक्ति नष्ट हो गई। लुटेरों ने उसका सारा ऐश्वर्य लूट लिया। और इसके साथ ही यवनराज भय के भाई प्रज्वार ने अपने भाई को प्रसन्न करने के लिए उस पुरी में आग लगा दी। यह देखकर सर्प को बड़ी पीड़ा हुई और जब राजा पुरंजन किसी भी तरह उस नगर की रक्षा नहीं कर सका तो उसने भाग जाना चाहा। लेकिन यवनों ने उसे जाने भी नहीं दिया। वह दुखी होकर रोने लगा। तब यवन लोग उसे पशु की तरह घसीटते हुए अपने स्थान को ले गये। उस समय उसके सभी अनुचर और वह सर्प भी उसके साथ ही चल पड़े। उसके जाते ही वह नगर विलुप्त हो गया। लेकिन इतनी दुर्दशा होने पर भी राजा पुरंजन ने अपने मित्र अविज्ञात को याद नहीं किया। कई वर्षों तक वह इस बुरी अवस्था में अन्धकार में पड़ा कष्ट भोगता रहा। स्त्री की आसक्ति के कारण अन्त समय में उसे उसीका चिन्तन बना हुआ था। इसलिए दूसरे जन्म में वह एक सुन्दरी कन्या के रूप में पैदा हुआ। समय आने पर उसका विवाह राजा मलयध्वज से हुआ। राजा मलयध्वज भगवान् के बड़े भक्त थे। अपने पुत्रों को राज्य देकर वह भगवान् की आराधना करने के लिए मलय पर्वत पर चले गये। उनकी स्त्री ने उनका अनुगमन किया। महाराज ने सर्वत्र समदृष्टि रखकर मन को वश में किया और भगवान् से प्रेम हो जाने के कारण माया प्रपंच से उदासीन हो गये। फिर

उन्होंने आत्मा को परब्रह्म में और परब्रह्म को आत्मा में अभिन्न रूप में देखा। अन्त में इस अभेद-चिन्तन को भी त्याग कर वह सर्वथा शान्त हो गये।

उनकी पति-परायणा पत्नी इस रहस्य को न जान पाई और उनके शरीर को बिल्कुल ठंडा देखकर व्याकुल हो उठी, 'राजर्षि उठिये, उठिये समुद्र से घिरी हुई यह वसुन्धरा पापी राजाओं से भयभीत हो रही है, इसकी रक्षा कीजिये।"

लेकिन राजर्षि तो शान्त हो चुके थे, इसलिए चिता बनाकर उसने शव को उसपर रक्खा और स्वयं भी सती होने का निश्चय किया। इसी समय एक आत्मज्ञानी ब्राह्मण वहां आया और उसको समझाते हुए बोला, "तू कौन है? किसके लिए शोक कर रही है? क्या तू मुझे नहीं जानती? मैं तेरा मित्र किसी समय का अविज्ञात नाम का सखा हूं। क्या तू पूर्व जन्म की सब बातें भूल गई है। राजा पुरंजन के रूप में तूने एक नगर में एक सुन्दरी को देखा था और उसीके फंदे में पड़कर तू अपनेको भूल गया था। न तो तू स्त्री ही है, और न यह मलयध्वज तेरा पति है। जिस पुरंजनी ने नौ द्वारों के नगर में बन्द किया था, तू उसका भी पति नहीं है। तू पहले जन्म में अपनेको पुरुष समझता था और अब सती स्त्री। यह सब मेरी फैलाई हुई माया है। वास्तव में न तो तू पुरुष है और न स्त्री। हम दोनों तो हंस हैं। हमारा जो वास्तविक स्वरूप है, उसका तू अनुभव कर। मित्र जो मैं (ईश्वर) हूं, वही तू (जीव) है। तू मुझसे भिन्न नहीं है। तू विचारपूर्वक देख, मैं भी वहीं हूं, जो तू है। ज्ञानी पुरुष हम दोनों में कभी थोड़ा-सा भी अन्तर नहीं देखते। जैसे एक पुरुष अपने शरीर की परछाई को शीशे में और किसी व्यक्ति के नेत्र में भिन्न-भिन्न रूप में देखता है, वैसे ही एक ही आत्मा विद्या और अविद्या के उपाधि भेद से अपनेको ईश्वर और जीव के रूप में दो प्रकार से देख रहा है।

इस प्रकार जब उसके उस मित्र-रूपी ईश्वर ने उसे सावधान किया तब वह जीव अपने स्वरूप में स्थित हो गया और उसे अपने मित्र के विछोह से भूला हुआ आत्मज्ञान फिर प्राप्त हो गया।

●

मेरा रोम-रोम माटी में

निरंजनलाल शर्मा

मैं तो इस धरती का वासी
मुझको अम्बर से क्या लेना!
तुम्हें मुबारक रहे तुम्हारी इस चंदा की बस्ती,
तुम्हें मुबारक रहे तुम्हारी इन तारों
की हस्ती।
तुम आसमान में रहो, तुम्हारी मुझसे
क्या समता है,
मेरी माटी का रोम-रोम तो माटी में
रमता है।

तुम अपना गात सजाओ सुन्दर फूलों से,
मेरा नाता है केवल पथ के शूलों से।
मैं काट-काट पत्थर को राह बनाता हूं,
श्रम-सीकर मस्तक पर धर गीत
सुनाता हूं।
मुझको तो शूलों से नाता
मुझको फूलों से क्या लेना!

—'योजना' से

●

यह चले शांति के युगल दूत

पूर्णचन्द्र जैन

शुक्रवार, १ जून १९६२, की तूफानी संध्या

धूलभरी, जलती हुई, तेज हवा के झोंके,
दिन-भर से गरम उसांसें भरती हुई उत्तप्त भूमि,
इसी क्षण, मेघों का आगमन,
हलकी बौछार,
धूल को कुछ शांत बैठने,
और,
धरती को कुछ ठंडा हो लेने,
की मनुहार।

* * *

राजघाट गांधी-समाधि का सान्निध्य

नव-निर्माण के रास्ते पर--
अधूरी-पूरी बनी दीवारें,
जहां-तहां पड़े गड्ढे,
अस्त-व्यस्त इमारती सामान के ढेर,
इस सबके बीच,
देश के बापू, राष्ट्र के पिता,
विश्व के बंधु, मानव-मात्र के मित्र,
गांधी की
सादी, संजीदा, स्वच्छ, एकाकी समाधि
प्रार्थना में रत कुछ भाई, कुछ बहनें,
टुकुर-टुकुर झांकते कुछ बालक, कुछ बालिकाएं,
जिज्ञासु बन, भक्तिभाव से,
आते-जाते दर्शनार्थियों, यात्रियों
के आखिरी यूथ

* * *

आरंभ में तूफानी,
सद्य बौछार से कुछ शांत वातावरण।

बड़ी दीवारों से घिर विशद बननेवाली,
किन्तु आज,
सादी, विशाल, समाधि

प्रार्थना से उपराम हुए
समर्पण और शुभाकांक्षा की प्रशांत मुद्रा में
छोटा-सा जन-समूह
इस सबने
शुक्रवार, १ जून १९६२ को
सायं ७ बजे,
देश के दो तरुण सपूतों को
'शांति-यात्रा' के लिए
राजघाट से विदा लिया

* * *

"किसी कीमत पर शांति"
और
"निरस्त्रीकरण"
का नारा बुलंद करने,
गांधी-विचार के दो उद्घोषक-सिपाही
दिल्ली से मास्को, और मास्को से न्यूयार्क वाशिंगटन,
के लिए, पैदल पहुंचने को, निकले हैं।

* * *

अंतस की प्रेरणा,
मन की संकल्प-शक्ति,
बुद्धि की निश्चयात्मकता,
तन की समर्पण भावना,
और,
विश्व-मानव के भावना-सागर की
गहनतम, उच्चतम, लहर
"शांति, शांति, शांति"
यही, बस यह ही,
इन दो तरुणों का
ध्रुवतारा, संबल-सहारा,
और प्रेरक प्रकाश है।

* * *

ऐसी यात्रा को
उपयोगिता-अनुपयोगिता,

ग्रौर लक्ष्य-सिद्धि में वास्तविक सहायता देनेवाली
या न देनेंवाली
के रूप में
नहीं जांचा जा सकता,
नहीं परखा जा सकता।

यह देश चमत्कार का, भावोद्रेक का,
साहसिकता का जीवनोत्सर्ग का
देश है।

यह यात्रा भी इस ग्रर्थ में
ग्रौर, देश की परम्पराग्रों के इस संदर्भ में
चमात्कारिक है,
साहसिक है,
ग्रनुपमेय है,
ग्रौर ग्रद्वितीय है।

परिणाम में भी,
यत्र, तत्र, सर्वत्र
जन-मानस को प्रभावित करनेवाली
ग्रौर, युद्ध व संघर्ष,
हिंसा व विद्वेष,
होड़ व-उखाड़-पछाड़
से पराङ्मुख होकर,
ऋजुता, शांति, सह-ग्रस्तित्व, सहकार ग्रौर मैत्री
की ग्रोर ले जानेवाले मानस
के निर्माण में, यह यात्रा
सफल हो
यही ग्राकांक्षा है

* * *

बुद्धि में स्थिरता, मन में शांति,
विचार में तीव्रता, ग्रौर कृति में क्रांति
जाग्रत करे--यह यात्रा,
यही हार्दिक भावना है।

गलत प्रार्थना

लोग भगवान् से प्रार्थना करते समय कहते हैं 'तू भी भक्त कल्पतरु'। हे भगवान्, आप भक्तों के लिए कल्पतरु हैं, लेकिन लोग समझते नहीं हैं कि कल्पतरु एक भयानक वृक्ष है। उससे तो आम और कटहल का पेड़ अच्छा है। आम आम ही देगा और कटहल कटहल ही देगा। लेकिन कल्पवृक्ष तो हम जो-जो कल्पना करेंगे, वही सब देगा। हमारी कल्पना बुरी होगी तो बुरा फल देगा। हम कितनी भी बुरी कल्पना करें तो भी आम का वृक्ष आम ही देगा, कड़ुआ फल नहीं देगा, लेकिन कल्पतरु कड़ुआ फल देगा।

एक था मुसाफिर। गर्मी के दिनों में घूमते-घूमते थक गया, तो एक कल्पतरु के नीचे बैठ गया। सोचने लगा कि बहुत भूख लगी है, खाना मिल जाता तो अच्छा होगा। तत्काल थाली भरकर खाना आ गया, प्यास लगी तो पानी आ गया। फिर उसने सोचा कि नींद आ रही है, अब पलंग मिल जाय तो अच्छा है। पलंग भी मिल गया। उसको लगा कि जो-जो चीज़ चाहिएं, वे सब मिल रही हैं, तो क्या यहां कोई भूत है? इतने में भूत हाजिर। वह डरकर सोचने लगा कि क्या मुझे खायगा? तो भूत ने खा लिया।

—विनोबा

एक निमाड़ी लोककथा

पांच परियों की कहानी

शिवनारायण उपाध्याय

एक गांव में एक गरीब बुढ़िया और उसका लड़का रहता था। वह इधर-उधर से भीख मांगकर लाती व अपना तथा लड़के का पेट पालन करती थी। धीरे-धीरे लड़का भी बड़ा हो गया वह भी मां के साथ भीख मांगने लगा।

एक दिन मां ने कहा, "देख बेटा, भीख की हंडी सींक नहीं चढ़ती। कुछ काम कर।"

दूसरे दिन मां से बेटे ने कहा, "मां मुझे कुछ रोटियां बांध दो, मैं काम पर जाता हूं।" इसपर मां ने बेटे को पांच रोटियां बांध दीं। वह रोटियां लेकर काम की तलाश में गया। चलते-चलते वह ऐसे बियावान जंगल में पहुंचा, जहां शेर डकारते थे व चोर पुकारते थे। ऐसे जंगल में वह एक सुन्दर सरोवर देखकर उसकी पाल पर बैठ गया। सुन्दर जल को देखकर उसने वहीं पोटली खोली व पांचों रोटियां निकालकर रखीं, फिर चार रोटियां एक तरफ कपड़े पर जमा दीं व पांचवीं रोटी बीच में रखकर बोला, "पहले इधर की खाऊं या उधर की खाऊं, इस ओर की खाऊं या उस ओर की खाऊं, या बीच की खाऊं।"

उस सरोवर में पांच परियां रहती थीं। उन्होंने जब सुना तो सरोवर में से बोलीं, "देखो भाई! इसे भी मत खाओ, उसे भी मत खाओ, इस ओर की भी मत खाओ उस ओर की भी मत खाओ, और बीच की भी मत खाओ। हम पांचों बहनें हैं। हमें मत खाओ। हम तुम्हें एक मुर्गी देते हैं, जो कि रोज सोने का अंडा देती है। इसे तुम ले जाओ और राज करो।" लड़का आश्चर्य-चकित था। उसने मंजूर कर लिया और मुर्गी लेकर वापस लौट आया। चलते-चलते उसे रात हो गई, इसलिए वह गांव में एक बुढ़िया के यहां ठहर गया। वह बुढ़िया बड़ी चालाक थी।

रात में बुढ़िया ने लड़के से सब बातें पूछ लीं। इधर लड़के को नींद लग गई, उधर बुढ़िया ने वह मुर्गी घर में छिपा दी और ही दूसरी मुर्गी लड़के की खटिया के साथ बांध दी। सुबह लड़का उठा और मुर्गी लेकर घर आ गया। घर पहुंचकर उसने सारी बात मां को बताई।

दूसरे दिन सुबह जब मुर्गी ने सोने का अंडा नहीं दिया तो मां ने कहा, "बेटा, तू बहुत सीधा है, लोग तेरे साथ धोखा करते हैं।"

लड़के ने कहा, "मां, तू मुझे और पांच रोटियां बांध दे, मैं और जाता हूं।" मां ने रोटियां बांध दी और लड़का रोटियां लेकर फिर उसी सरोवर की पाल पर बैठ गया। लड़के ने फिर जोर से कहा, "पहले इसे खाऊं, उसे खाऊं, इधर की खाऊं या उधर की खाऊं या बीच की खाऊं" तो उसी वक्त परियों की शहजादी ने कहा, "देखो भाई! हमें मत खाओ, हम तुम्हें सोने का घड़ा देते हैं, यह घड़ा रोज तुम्हें एक घड़ा सोने से भरा हुआ देगा और तुम मालामाल हो जाओगे।" वह मान गया और घड़ा लेकर खुशी-खुशी घर लौटने लगा। रास्ते में फिर रात हो गई और वह उसी बुढ़िया के घर ठहरा। बुढ़िया तो सब भेद जानती ही थी। उसने वह घड़ा रात में रख लिया और वैसा ही दूसरा घड़ा लड़के के सिरहाने रख दिया।

सुबह होते ही लड़का घड़ा लेकर घर पहुंचा और मां को सब हाल बता दिया। लेकिन तीसरे रोज भी घड़े में से सोना नहीं निकला। मां ने कहा, "बेटा, यह घड़ा भी तुझे खोटा देकर परियों ने तेरे साथ दगा की है। तू मुफ्त में रोज पांच रोटियां गवां आता है और खराब चीजें ले आता है।" इसपर लड़के ने कहा, "मां, मुझे आज और रोटियां बांध दे, मैं जरूर इस बार कुछ तय करके ही आऊंगा।" बुढ़िया ने बहुत रोका पर नहीं माना व पांच रोटियां बांधकर जंगल में चला गया।

चलते-चलते फिर उसी सरोवर की पाल पर पहुंचा व जोर से बोला, "आज तो पांचों को एक साथ खाऊंगा, आज मैं नहीं मानूंगा।" इसी समय पांचों परियां हाथ बांधकर निकलीं व बोलीं, "देखो भाई, हमें क्यों खाते हो, हमने तुम्हें तो सब सम्पत्ति दे दी।" उस लड़के ने कहा, "तुम लोगों ने सम्पत्ति कहां दी, विपत्ति दी है, न तो तुम्हारी मुर्गी ने सोने का अंडा दिया, न घड़े ने सोने दिया। तुम लोगों ने मुझ गरीब

(शेष पृष्ठ ३५० पर)

रहन-सहन का विवेक

●● जमनालाल जैन

कहं चरे ? कंह चिट्ठे ? कहं आसे ? कहं सये ?
कहं भुंजंतो ? भासंतो ? पाव कम्मं न बंधइ ॥

कैसे चलें ? कैसे रहें ? कैसे बैठें ? कैसे सोयें ? कैसे खायें ? कैसे बोलें ? ताकि पाप का बन्ध न हो।

जयं चरे, जयं चिट्ठे, जयं आसे, जयं सये।
जयं भुंजंतो भासंतो पाव कम्मं न बंधई ॥

—विवेक से चलने, विवेक से रहने, विवेक से बैठने, विवेक से सोने, विवेक से खाने और विवेक से बोलने से पाप का बंध नहीं होता।

जदं तु चरणामस्स दयापेहुस्स भिक्खुणो।
णवं न बज्झदे कम्मं पाराणं च विधूयदि ॥

—दया से द्रवित मुमुक्षु—अपने विवेकपूर्ण रहन-सहन से नवीन पाप का बंध तो करता ही नहीं, पुराने बंधे पाप कर्मों को भी नष्ट कर डालता है।

विवेगे धम्मं माहिए ॥

—विवेक ही धर्म है।

मनुष्य सामाजिक प्राणी है। समाज में रहकर ही उसका विकास होता है। रहन-सहन, खान-पान, रीति-रिवाज, उद्योग-धंधे, विद्या-कौशल, कला-संस्कृति, धर्म-नीतिमत्ता आदि के जो नियम-कायदे, तौर-तरीके समाज में प्रचलित होते हैं, सबका असर व्यक्ति के जीवन पर पड़ता है। बाप के पेट से मां के पेट में जाता है, तब भी मनुष्य सामाजिक ही होता है। सैकड़ों और हजारों वर्षों के संस्कारों का अंश उस छोटे-से बीजाणु में निहित होता है। आंखें खोलने के बाद तो वह पूरी तरह और प्रत्यक्ष रूप से समाज के ढांचे में "फिट" कर दिया जाता है, बल्कि उसे "फिट" हो जाना पड़ता है। इस तरह प्रतिक्षण मनुष्य का निर्माण और गठन होता रहता है। केवल शारीरिक ही नहीं, मानसिक और आत्मिक विकास भी समाज में, समाज के द्वारा और समाज के लिए होता है।

व्यक्तियों का समूह ही समाज नहीं है। आस-पास का वातावरण, प्रकृति, पशु-पक्षी और विचारों का जगत् भी समाज में ही समाविष्ट है। हर मनुष्य के निर्माण और विकास में सारे राष्ट्र का ही नहीं, अपितु समूचे विश्व का भी हाथ रहता है। विज्ञान की तरक्की और दौड़ के कारण तो लोकाकाश और ब्रह्माण्ड भी अत्यंत निकट के हो चले हैं। इस तरह व्यक्ति पर सम्पूर्ण जगत् के अनन्त उपकार हैं। मनुष्य जो कुछ दिखाई देता है, उतना ही नहीं है। उसकी उम्र उतनी लम्बी है, जितनी दूर तक यह सृष्टि जाती है।

मनुष्य के जीवन का कोई क्षण और कोई कार्य ऐसा नहीं है, जिसे सर्वथा निरपेक्ष कहा जा सके। समाज से अलग या निरपेक्ष रहकर एक पल भी नहीं चला जा सकता।

जैसे समाज के अनन्त उपकार मनुष्य पर होते रहते हैं, वैसे ही मनुष्य भी समाज को अपनी सूझ-बूझ, अपनी कल्पनाओं, आविष्कारों और भावनाओं से उपकृत करता रहता है।

समाज निरन्तर बदलता रहता है, फिर भी उसमें एक प्रकार की स्थिरता होती है। पृथ्वी बराबर घूमती रहती है, फिर भी उसमें ऐसी स्थिरता है, जो तकलीफ का कारण नहीं बन सकती। यही हाल समाज का है। बदलते रहना समाज का धर्म है। न बदले तो वह टिक ही नहीं सकता। फिर भी उसमें एक ऐसी स्थिरता है, जो मनुष्य का सहारा है, आधार है।

रहन-सहन में रोजमर्रा के जीवन की सारी बातें आ जाती हैं। जब आदमी को और आदमियों तथा प्राणियों के साथ व्यवहार करना पड़ता है तो कुछ-न-कुछ नियम-कायदे, शिष्टता, सभ्यता, तौर-तरीके होंगे ही। इनके बिना समाज अस्त-व्यस्त हो जायगा। इन तौर-तरीकों में देश, काल, परिस्थिति के अनुसार भिन्नता भी रहती है और निरन्तर परिवर्तन भी होता रहता है। यह परिवर्शनशीलता ही विशेषता है। यह न हो तो समाज की स्थिरता और ताजगी ही लुप्त हो रहे

नियम-कायदे पशु-पक्षियों के भी हैं। एक बन्दर को आफत में फंसा देखकर या पिटते देखकर पचासों बन्दर जुट जायंगे। चींटी तक के नियम-कायदे हैं। अन्तर इतना ही है कि आदमी के नियम-कायदे बुद्धि और अनुभवपूर्वक बनाये हुए होते हैं—वे भले भी होते हैं, बुरे भी। ऐसी भी स्थिति पैदा होती है कि एक कायदा कहीं अच्छा माना जाता है, कहीं

बुरा। छोटी-छोटी बातों के ब्योरों में आकर देखा जाय तो अद्भुत विविधता मिलती है। इस विविधता में ही एकता का, समानता का अनुभव होता रहता है। यह विवेक पर आधारित है।

अविवेकपूर्वक किया गया बर्ताव और सबके लिए तो दुःखदायी होता ही है, स्वयं के लिए भी हानिकारक होता है। अपनी आकांक्षा, सुविधा या स्वार्थ को पीछे छोड़कर मनुष्य को ऐसा व्यवहार करना चाहिए, जिससे सत्य की रक्षा करते हुए सुघड़ता, शालीनता का वातावरण निर्माण हो। इसी विवेक को धर्म कहा गया है।

विवेकरूपी धर्म के पालन में ही उन्नति के बीज निहित हैं। विवेक का अर्थ है हर क्षण परिस्थिति और देश, काल, भाव का खयाल रख अपने-आपको बदलने के लिए तैयार रहना। मिथ्या विश्वास, रीति-रिवाज, अहंकार या मोह छोड़कर सिर्फ आदमी बनने की दिशा में प्रयत्नशील रहना ही विवेक है, धर्म है। विवेक को या कि नित-नूतनता को छोड़ कर जो स्थिरधर्मा बन बैठेगा, वह 'धर्म' से दूर ही रहेगा। मनुष्य का जीवन प्रवाही, गतिशील ही हो सकता है, क्योंकि धर्मतत्व गतिशील है। अविवेक जड़ता ही है। ऋतु के अनुकूल जैसे रहन-सहन, खान-पान, पहनाव-ओढ़ाव में परिवर्तन होता है, वैसे ही व्रत-नियमों में, पारस्परिक बरताव में, मन-वचन-तन की क्रियाशीलता में, परिवर्तन की निरन्तर तैयारीवाला व्यक्ति ही धार्मिक या विवेकी होता है। उसका कर्म स्वाभाविक, और संगत होता है। वैसा व्यक्ति नये पाप-कर्मों का संचय तो करता ही नहीं, पुराने विकारों को भी नष्ट कर डालता है।

जीवन इतना सहज हो चले कि स्मृति-शून्य हो जाय। मल-मूत्र त्याग की बात हमें याद नहीं रहती, शरीर के अंगों का ध्यान नहीं रहता (यद्यपि वे निरन्तर गतिशील रहते हैं) सुबह के भोजन का शाम को स्मरण नहीं रहता, कुछ विचार-तरंगें और बोल याद नहीं रहते, चेहरे याद नहीं रहते, वैसे ही प्रवृत्तियां इतनी सहज हो जायं कि वे चिपक न पाएं। प्रवृत्तियों के स्मृति के साथ चिपकाव को विवेकपूर्ण बर्ताव से दूर किया जा सकता है।

जोकुछ हो, विवेकपूर्वक हो और करके उसे भूल जायं। कर्म से चिपके कि भार बढ़ा। भार बढ़ा कि थके, गिरे और डूबे। हमें थकना जरूर है, गिरना और डूबना नहीं है। हमें तैरना है, देखना है और थककर सुख की नींद सोना है, क्योंकि अगले क्षण के लिए शक्ति अर्जित करनी है।

चिन्ताओं, आकांक्षाओं, भली-बुरी प्रवृत्तियों का भार लाद लेने से तन और मन अस्वस्थ हो जाते हैं। कर्म में इतना हल्कापन हो कि कर्म अकर्म हो रहे। कर्म की याद भी कर्म को भारी बोझिल बना देती है। यह भार या चिन्ता ही पाप है।

●

(पृष्ठ ३४८ का शेष)

के साथ दगा की है।"

इसपर परियों की शहजादी ने उससे सब हाल पूछा। उसने सारी बात बता दी। शहजादी समझ गई कि बुढ़िया ने इसके साथ दगा की है। फिर शहजादी ने कहा कि मैं तुझे एक छड़ी व रस्सी देती हूं। तू ले जा और वहीं ठहरना। लड़का छड़ी और रस्सी लेकर चला गया, और रात फिर उसी बुढ़िया के यहां ठहरा। बुढ़िया ने रात में वह छड़ी और रस्सी छिपा दी और वैसी ही दूसरी छड़ी और रस्सी रख दी।

सुबह होते ही लड़का छड़ी और रस्सी लेकर घर आ गया, और उधर वह रस्सी बुढ़िया के हाथों पर लिपट गई तथा छड़ी उठकर खटाखट बुढ़िया की पीठ पर पड़ने लगी। बुढ़िया रोते-रोते परेशान हो गई। तब छड़ी ने कहा, "दे, दे, दे, लड़के की सब चीजें दे।" बुढ़िया मुर्गी और घड़ा हाथ में लेकर लड़के के घर आ गई और दोनों चीजें लड़के को सौंप दी।

तो उस दिन से वह मुर्गी रोज सोने का अण्डा देने लगी व घड़ा भी रोज सोना देने लगा। इसके बाद वे दोनों मां-बेटे चैन से रहने लगे।

●

कसौटी पर

हिन्दी *साहित्यानुशीलन*—**प्रो० सत्यकाम वर्मा; भारती साहित्य मन्दिर (फव्वारा), दिल्ली; ६०० पृष्ठ; ६.०० रुपये।**

वर्मा महोदय के 'अनुशीलन' को, एक अध्ययन व इतिहास न कहकर, एक शोध-प्रबन्ध कहना अधिक उचित होगा। इतिहास के प्रति उनकी दृष्टि यदि एक सहृदय साहित्यिक की रही है तो साहित्य के प्रति एक पक्षपातविहीन इतिहासकार की। साहित्यिक दृष्टि से, स्पष्ट है कि मुख्य प्रश्न तुलसी के जन्मस्थान को अथवा कबीर की निधिन-तिथि को खोज निकालने का नहीं (यह नहीं कि इन प्रश्नों की विवेचना यहां न हुई हो), सूर के जन्मान्धत्व को हृदयंगम कर लेने का है (पृ० १६६–७०); और एक ऐतिहासिक के नाते लेखक का कर्तव्य हो जाता है: पृष्ठभूमि की व्यापकता के साथ-साथ समय-समय पर सरस्वती की जीवन-यात्रा में किस प्रकार अन्य धाराएं आ-आकर मूल प्रवाह में सात्म होती गईं—इस वस्तु-स्थिति का सही-सही विश्लेषण।

भारतीय साहित्य में (मात्र हिन्दी साहित्य में नहीं) —छायावाद, रहस्यवाद, प्रगतिवाद पश्चिम की देन नहीं हैं; और न ही हमारे आधुनिक कथा-साहित्य, उपन्यास-साहित्य किसी भी अंश में पंचतन्त्र-कथासरित्सागर की 'देसी'-परंपराओं का अविच्छिन्न सातत्य हैं। इस सत्य का अनुभव हम तभी कर सकते हैं जबकि हमें सबसे पहले, यह आत्मबोध हो चुका हो कि हमारी यह 'भारतीयता' है क्या वस्तु। प्राचीन काल में जो-कुछ हमारा परिवेश था, हमारी परिस्थितियां थीं, वह सब-कुछ आज हमारी अ-दृश्य 'अन्तर्भूमि' बन चुका है; और बहिरंग (जगत्) का बहुत-कुछ अब भी है जो, हमारे 'भगीरथ' प्रयत्नों के बावजूद, हमारी आत्मा की अन्तरंग नहीं बन सका।

साहित्यकार एवं ऐतिहासिक की इस समन्वय-दृष्टि ने विषय को जिस रूप में स्वागत किया है, वह (चित्र) भी, परिणामतः, विवेचन में एकदेशी एवं आंगिक न होकर 'समग्र' ही उतरा है। नये 'काल-विभाजन तथा नामकरण' का आधार भी यही (दृष्टिकोण) रहा है—अपूर्ण लोक-मानस की (अपनी परिपूर्णता में) स्वातन्त्र्य-मयी एवं विद्रोह-मयी अभिव्यक्ति। इन स्थापनाओं का महत्व उन मनीषियों के लिए और भी अधिक है, जिन्होंने कि हिन्दी-साहित्य के दो वृहद् इतिहासों के सम्पादन का भार अपने पर लिया हुआ है, क्योंकि इन महाग्रन्थों के प्रकाशित खंडों में भी कुछ ग़लतियां, कुछ भ्रान्तियां—नई सामग्री एवं नये तथ्यों के प्रकाश में आ जाने के उपरान्त भी—ज्यों-की-त्यों चली आती हैं।

—क्षेमेन्द्र

क्या व कैसे ?

'सर्वोदय-पर्व'

११ सितम्बर और २ अक्तूबर की तिथियां हमारे लिए विशेष महत्व रखती हैं। ११ सितम्बर विनोबाजी की और २ अक्तूबर गांधीजी की जन्मतिथि है। विनोबाजी भारत की उन विभूतियों में से हैं, जिन्होंने नैतिक मूल्यों को प्रतिष्ठा दी है और दिलवाई है। उनकी वैयक्तिक साधना अद्वितीय रही है और अब ग्यारह बरस से भूदान-यज्ञ के द्वारा उन्होंने अहिंसक क्रांति के लिए जो भूमिका तैयार की है, वह अपने ढंग की निराली है।

गांधीजी के विषय में तो जितना कहा जाय, वही थोड़ा है। उन्होंने भारत को नई चेतना दी और विश्व-चेतना को प्रबुद्ध किया। उनके नेतृत्व में हमारे देश ने राजनैतिक स्वतंत्रता प्राप्त की। लेकिन गांधीजी की उससे भी बड़ी देन यह है कि उन्होंने प्रत्येक क्षेत्र में नीति का समावेश कराया। उनके लिए मानव सर्वोपरि था, अतः उन्होंने मानव-नीति को केन्द्र में रखकर सारी प्रवृत्तियों का संचालन किया।

विनोबा और गांधी भारतीय संस्कृति के प्रतीक हैं और यदि भारत को भारत रहना है तो उनके द्वारा प्रतिष्ठापित मूल्यों के आधार पर भावी भारत की नींव रखनी होगी।

इस अवसर पर हम विनोबाजी को अपने प्रणाम निवेदित करते हुए कामना करते हैं कि वह शतंजीवी हों और उनके स्वप्न उनके जीवन-काल में ही पूर्ण हो जायं।

गांधीजी को हम अपनी श्रद्धांजलि अर्पित करते हैं। ईश्वर करे, उनकी प्रेरणाएं देश का मार्ग-दर्शन करें और देशवासियों को सही रास्ते पर चलने का विवेक और बल दें।

'सर्व सेवा संघ' ने ११ सितम्बर से लेकर २ अक्तूबर तक के समय को 'सर्वोदय-पर्व' की संज्ञा दी है। गत वर्ष उसने 'शरदारंभ में शारदोत्सव' अर्थात् सर्वोदय-साहित्य के प्रचार के लिए देशव्यापी अभियान चलाया था। इस वर्ष विनोबाजी की प्रेरणा से उसने इस पर्व को मनाने के लिए पंचविध कार्यक्रम निश्चित किया है, यानी सर्वोदय-साहित्य के प्रचार को मध्यबिन्दु में रखकर शान्ति-सेना, भूदान, राष्ट्रीय एकता, ग्राम-स्वराज्य तथा निरस्त्रीकरण के विषय में लोक-जाग्रति की जायगी। विनोबाजी ने इस संबंध में अपनी भावना व्यक्त करते हुए लिखा है—"मैं आशा करता हूं, यह उपक्रम सर्वोदय के माने गये चंद कार्यकर्ताओं तक सीमित नहीं रहेगा और उसको सार्वजनिक रूप दिया जायगा। सर्वोदय कार्यकर्ताओं के लिए तो यह नित्य-कार्यक्रम है। सारे देश का ध्यान खींचने और सहयोग हासिल करने के लिए यह नैमित्तिक आयोजन है।"

इन शब्दों में इस पर्व का ध्येय बड़े सुन्दर ढंग से आ जाता है। सब से कठिन काम सही रास्ता निश्चित करना होता है। वह हो चुका है। अब उसपर चलने की बात है। आज देश के सामने बड़े-बड़े प्रलोभन हैं, बड़े-बड़े आकर्षण हैं और ऐसा प्रतीत होता है कि पश्चिमी हवा में उसके स्वप्न धूमिल हो गये हैं और कुछ दूसरे रास्ते खुल गये हैं। ये रास्ते हमें कहां ले जायंगे, इसका ठीक-ठीक उत्तर तो समय देगा; लेकिन इतना निश्चित है कि इनपर चलकर देश गांधीजी की मंजिल पर नहीं पहुंचेगा। देश की आर्थिक समृद्धि शायद बढ़ जाय, पर इंसानियत की दौलत घट जायगी।

सर्वोदय-पर्व देश में लोकशक्ति को जाग्रत करने के लिए है, नैतिक मूल्यों के प्रति देशवासियों की डगमगाती आस्था को दृढ़ करने के लिए है।

हम सारे देश से अपील करते हैं कि वह इस पर्व को सफल बनाने में योग दे और 'सर्व-सेवा-संघ' ने जो कार्यक्रम निर्धारित किया है, उसे पूरी लगन और निष्ठा से कार्यान्वित करने में हाथ बंटावे।

किशोरलालभाई की पुण्य-स्मृति

९ सितम्बर को हमने अपने एक महान् चिन्तक को खोया था। श्रद्धेय किशोरलाल मशरूवाला गांधी-परिवार के प्रमुख सदस्य थे। आजादी की लड़ाई में उन्होंने जो हिस्सा

लिया, वह तो लिया ही; लेकिन अपने सुलझे हुए विचारों और स्वतन्त्र चिन्तन से उन्होंने देश को जो दिया, उसकी मिसाल मुश्किल से मिलेगी। वह गांधीजी के 'हरिजन'-पत्रों के सम्पादक थे। उनकी लेखनी ने ऐसी सामग्री प्रस्तुत की, जो आज भी उतनी ही प्रेरणादायक है। वह गांधीजी के सिद्धान्तों के व्याख्याता थे, लेकिन उनकी सबसे बड़ी विशेषता उनके विचारों की मौलिकता थी।

दुबले-पतले, शरीर से अस्वस्थ इस मनीषी में प्राणों का इतना बल था कि अपने जीवन के अंतिम क्षण तक वह कार्य में संलग्न रहे।

आज देश में स्वतंत्र चिन्तकों का बड़ा अभाव होता जा रहा है। लोगों की चिन्ता बढ़ती जा रही है, चिन्तन की शक्ति का स्रोत सूख रहा है। ऐसे समय में किशोरलालभाई की बड़ी याद आती है। रचनात्मक कार्यकर्ताओं को तो उनका अभाव विशेष रूप से खटकता है, क्योंकि जब-जब कोई जटिल समस्या देश के सामने आती थी, किशोरलाल-भाई उसकी गुत्थियों को खोलकर उसे सर्वसाधारण के लिए बोधगम्य बना देते थे।

ऐसे महान चिन्तक, निर्भीक आलोचक, खरे लेखक, परिश्रमशील सेवा-व्रती को हमारे शत-शत प्रणाम!

विज्ञान की ये उपलब्धियां!

कुछ समय पूर्व सोवियत संघ के दो साहसी युवक गगारिन और तितोव ने अंतरिक्ष की यात्रा करके संसार का ध्यान अपने देश द्वारा की गई आश्चर्यजनक वैज्ञानिक प्रगति की ओर आकर्षित किया था। हाल ही में उस देश ने एक और चमत्कार कर दिखाया है। उसके दो अन्य वीर मेजर आंद्रि-यान निकोलाएव और लेफ्टीनेंट कर्नल पापोविच ने क्रमशः ९० घंटे और ७० घंटे तक अंतरिक्ष में पृथ्वी की परिक्रमाएं कीं और निकोलाएव १५ लाख किलोमीटर की तथा पापो-विच १२॥ लाख किलोमीटर की यात्राएं करके सानंद भूमि पर वापस लौट आये। यात्रा के दौरान में ये यात्री कभी-कभी एक-दूसरे के बहुत निकट आ गये थे और समाचारों का आदान-प्रदान तो दोनों में बराबर होता रहा।

इस महान् उपलब्धि के लिए हम इन दोनों साहसी नौजवानों को तो बधाई देते ही हैं, सोवियत संघ का भी अभि-नंदन करते हैं। विज्ञान के इस युग में यह प्रगति निस्संदेह सराहनीय है। हम जानते हैं कि विज्ञान के बढ़ते कदम यहीं नहीं रुकेंगे। भविष्य में और अधिक करिश्मे होंगे, जिनके परिणामस्वरूप नई-नई चीजें दुनिया के सामने आवेंगी।

यद्यपि सफलता का मुकुट अबतक मुख्यतः रूस ने ही पहना है, तथापि अमरीका भी इस दिशा में उदासीन नहीं है। पिछले दिनों उसने जॉन ग्लेन नामक अपने एक युवक को अंतरिक्ष में भेजा था और वह पृथ्वी के तीन चक्कर लगा आया था। वहां के वैज्ञानिक रूस से आगे बढ़ने का पूरा प्रयास कर रहे हैं। इस प्रतिस्पर्द्धा से प्रगति की रफ्तार और तेज होगी, इसमें शक नहीं।

लेकिन सवाल उठता है कि ये सब चमत्कार और उपलब्धियां आखिर हैं किसलिए? उत्तर होगा—आदमी के सुख के लिए, उसकी शान्ति के लिए। ठीक है, पर क्या ऐसा हो रहा है? जबसे आणविक अस्त्रों का आविष्कार हुआ है और उन्हें लेकर रूस और अमरीका के बीच पागलपन-भरी होड़ चल रही है, तबसे सारे संसार में शीत-युद्ध की स्थिति उत्पन्न हो गई है और सारे राष्ट्रों के लोग भारी बेचैनी अनुभव कर रहे हैं। रूस अमरीका को धमका रहा है, अम-रीका रूस को, और दोनों देश अपने प्रभुत्व को बढ़ाने और एक-दूसरे को दबाने के लिए प्रयत्नशील हैं।

कोरा विज्ञान मानव के लिए वरदान नहीं हो सकता। उसमें मनुष्य के हृदय के संवेदन का जबतक योग नहीं होगा, वह इंसान के लिए सुखकर नहीं हो सकता। विनोबाजी ठीक कहते हैं—विज्ञान की उन्नति करो और खूब करो; लेकिन यदि आदमी का भला चाहते हो तो विज्ञान के साथ अध्यात्म का भी समन्वय करो।

संसार का त्रास आज इतना बढ़ गया है कि विवेकशील लोग अब गंभीरता से इस बारे में सोचने लगे हैं। उन्होंने देख लिया है कि आज की समस्याओं का समाधान अस्त्रों से नहीं होगा, पर उस विनाशकारी मार्ग को छोड़ देने का साहस वे अपने में नहीं पा रहे हैं।

विज्ञान के क्षेत्र में रूस ने जो अद्‌भुत सफलता प्राप्त की है, उसमें चार चांद लग जायंगे, यदि उसके कर्णधार घोषणा कर दें कि अमरीका और दूसरे देश कुछ भी करें, वे अणुशक्ति का प्रयोग विनाशकारी कार्यों में कदापि नहीं करेंगे। इसके साथ ही यदि वे निरस्त्रीकरण की दिशा में इकतरफ़ा पहल

कर दें तो उनकी नैतिक शक्ति अनंत गुनी बढ़ जायगी और दुनिया के दिलों में उनका वह स्थान बन जायगा, जो सदा सुरक्षित रहेगा।

आज दुनिया को सबसे अधिक आवश्यकता शान्ति की और प्रेम की है, पर यह तभी संभव हो सकता है, जबकि राष्ट्रों की अधिकार-लिप्सा दूर हो और विज्ञान का उपयोग सृजनात्मक कार्यों में हो।

विज्ञान की कृपा से दुनिया इतनी छोटी हो गई है कि कहीं कुछ होता है तो उसकी प्रतिक्रिया सब जगह हो जाती है। नागासाकी और हिरोशिमा में जो हुआ, उसका असर सारे संसार पर पड़ा।

दिलों की दौलत सबसे मूल्यवान होती है और जो राष्ट्र इस दौलत को जितना अधिक प्राप्त करेगा, उतना ही उसे स्थायी लाभ होगा। अस्त्रों की विजय दिलों की विजय की तुलना में कुछ भी नहीं है और विज्ञान की उपलब्धियां प्रेम की सिद्धि के आगे हेय हैं।

हम चाहते हैं कि रूस अब इस नई दिशा में कुछ चमत्कार करे।

भाषा के सरलीकरण की समस्या

आकाशवाणी के अधिकारियों ने हिन्दी के समाचारों की भाषा को सरल (?) करने की अवांछनीय नीति द्वारा देश में जो बेचैनी पैदा की थी, वह कुछ-कुछ शांत हो गई है। सूचना तथा प्रसार मंत्री श्री गोपाल रेड्डी ने कहा था कि वह जोकुछ कर रहे हैं, प्रधान मंत्री पं० नेहरू के कहने से कर रहे हैं; लेकिन नेहरूजी ने हाल ही में स्पष्ट कर दिया कि रेडियो के समाचार सुनने का उन्हें अवकाश ही कहां है, इसलिए वह नहीं जानते कि उनके समाचारों की भाषा कैसी होती है। इस घोषणा ने अधिकारियों पर क्या असर डाला होगा, यह बताने की आवश्यकता नहीं है; पर बाद में जो हुआ, वह यह कि इस प्रश्न पर सम्यक् रूप से विचार करने के लिए सर्वश्री मामा वरेरकर, दिनकरजी, डा० रामसुभगसिंह प्रभृति राज्यसभा तथा लोकसभा के कतिपय सदस्यों की एक कमेटी बन गई। हमने सुना है कि जबतक यह कमेटी कुछ निर्णय न करे, तबतक समाचारों की भाषा में कोई परिवर्तन नहीं होगा, ऐसा निश्चय हुआ है।

देश के सामने आज बहुत-से ज्वलंत प्रश्न हैं। हमारी समझ में नहीं आता कि ऐसे नाजुक समय में इस प्रश्न को क्यों उठाया गया? दस वर्ष से जो नीति चल रही थी और जिसके विषय में अधिकांश लोगों को कोई असंतोष नहीं था, उसे पलटने की आखिर क्या जरूरत थी? ऐसा प्रतीत होता है कि हमारे यहां सत्ताधारी व्यक्ति देशहित की अपेक्षा अन्य प्रेरणाओं से प्रभावित होते हैं और इस प्रकार उनके हाथों बहुत-से ऐसे काम होते रहते हैं, जो अंततोगत्वा बड़ी उलझन पैदा करते हैं।

भाषा के सरलीकरण के विषय में भी कुछ ऐसा ही हुआ है। यदि नेहरूजी ने कहा था कि आज की हिन्दी उनकी समझ में नहीं आती तो आकाशवाणी के समाचारों की भाषा को सरल करने के लिए दौड़ पड़ने से पहले श्री रेड्डी को इस बारे में विशेषज्ञों की सलाह लेनी चाहिए थी और इस काम को यदि कराना था तो विशेषज्ञों के द्वारा ही कराना था। हम पहले लिख चुके हैं कि हिन्दी के शब्दों के स्थान पर उर्दू और अंग्रेजी के शब्द रखकर भाषा को सरल नहीं बनाया जा सकता और इस कार्य को वही व्यक्ति कर सकता है, जिसके सामने भाषा का पक्षपात न हो। ऐसे आदमी के सामने उस व्यक्ति का चित्र होगा, जो बेपढ़ा या कमपढ़ा लिखा है, न कि भाषा-विशेष के बहिष्कार का आग्रह। जो 'अधीन' के स्थान पर 'मातहत', 'उन्नति' के स्थान पर 'तरक्की', 'विधान सभा' के स्थान पर 'लेजिस्लेटिव असेम्बली' को रखकर यह समझता है कि भाषा सरल हो गई, वह निश्चय ही इस कार्य के लिए सक्षम नहीं है।

भाषा का प्रश्न बड़े महत्व का है। देश की एकता उसी पर निर्भर करती है। ऐसे प्रश्न से खिलवाड़ करना नितान्त अनुचित है।

हम आशा करते हैं कि हमारे देश के शासक जल्दबाजी में ऐसा कोई कदम नहीं उठावेंगे, जिससे देश के व्यापक हित को चोट पहुंचे और शासन और जनता के बीच फासला बढ़े।

लोकमत का अपमान

हमारा देश जब स्वतंत्र हुआ था तो देशवासियों ने आशा की थी कि हिन्दी राष्ट्रभाषा हो जायगी और देश का सारा राज-काज उसीके द्वारा हुआ करेगा; लेकिन तीन वर्ष बाद जब अपना संविधान स्वीकृत हुआ तो उसमें यह मानकर कि हिन्दी में कुछ कमियां हैं, अंग्रेजी को पंद्रह वर्ष

की छूट दे दी गई और यह निश्चय हुआ कि सन् १९६५ के बाद हिन्दी अंग्रेजी का स्थान ले लेगी। लेकिन इस बीच भाषा को लेकर हमारे राज-नेताओं ने खूब उलझनें पैदा कीं और आज स्थिति यह है कि संसद के अधिवेशन में शीघ्र ही यह विधेयक आ रहा है कि सह-भाषा के रूप में अंग्रेजी अनिश्चित समय तक रहेगी। इसका मतलब यह हुआ कि अंग्रेजी का साम्राज्य अब आगे बराबर बना रहेगा और हिन्दी तथा अन्य भारतीय भाषाएं अपने देश में पराई भाषा की दासी बनी रहेंगी।

शासकों की दलील है कि हम क्या करें, देश नहीं चाहता कि अंग्रेजी हमारे बीच से जाय और हिन्दी इतनी भरी-पूरी नहीं है कि हमारा सारा काम-काज उसमें चल सके। हम पूछते हैं कि सारा देश, जिसमें ९८ प्रतिशत वे व्यक्ति हैं, जो अंग्रेजी नहीं जानते, अंग्रेजी को रखने के बारे में ऐसा मत किस प्रकार दे सकता है? हम जानते हैं कि जहां से हिन्दी के प्रति मतभेद की बात कही जाती है, वहींपर हजारों स्त्री-पुरुष और बच्चे प्रति वर्ष हिन्दी सीखते हैं। सीखते ही नहीं, हिन्दी साहित्य में उनमें से बहुतों की अच्छी गति है।

हमारे देश ने लोकतंत्र को मान्यता दी है और शासन को उसीके आधार पर चलाने की घोषणा की जाती है; लेकिन बिना लोकभाषा के सच्चा लोकतंत्र कैसे स्थापित होगा? देश की आबादी का ५० प्रतिशत से अधिक भाग हिन्दी-भाषी है। उसकी अवहेलना करके लोकतंत्र की स्थापना अंग्रेजी जाननेवाले केवल २ प्रतिशत के बल-बूते पर की जा रही है! यह लोकतंत्र की प्रतिष्ठा नहीं, लोकमत का अपमान है।

फ्रांस में जब राज्य-क्रांति हुई थी, उससे पहले वहां लोक-चेतना इतनी सुप्त हो गई थी कि अपने ऊपर होनेवाले अत्याचारों को अत्याचार ही नहीं मानती थी, उनकी पीड़ा को अनुभव ही नहीं करती थी। हमें ऐसा लगता है कि हमारी लोक-चेतना भी कुछ वैसी ही अवस्था में है। लोकहित के नाम पर ऐसे-ऐसे काम हो जाते हैं, जो घोर अहितकर हैं और लोक-चेतना पर उसका कोई असर नहीं पड़ता।

अंग्रेजी का बोझ भारत के कंधों पर अनिश्चित काल के लिए लादना किसी प्रकार भी हितकर नहीं है और यदि सत्तात्मक राजनीति में लिप्त कुछ व्यक्ति वैसी मांग करते भी हैं तो हमारे देश के कर्णधारों को दृढ़तापूर्वक उसे मानने से इन्कार कर देना चाहिए। कोई कारण नहीं कि हमारा सारा राजकाज हिन्दी और उसकी सहोदराओं की मदद से न चल सके और इसीकी मांग सारे देश को करनी चाहिए। बिना अपनी भाषा के देश में राष्ट्रीयता की भावना सुदृढ़ नहीं हो सकती और न एकता ही सम्पादित हो सकती है। जिस प्रकार हमारी अपनी गलती से देश का विभाजन हो गया, उसी प्रकार यदि भाषा के बारे में हमने विवेक नहीं रक्खा तो आगे ऐसी परिस्थिति उत्पन्न हो जायगी कि उसे संभालना मुश्किल होगा।

हम चाहते हैं कि समय रहते लोकमत जाग्रत हो और अपने ऊपर होनेवाले इस अत्याचार को सहन न करे।

—य०

भूल-सुधार

'जीवन साहित्य' के अगस्त अंक में निम्नलिखित लेखों पर मूल लेखकों का नाम गल्ती से रह गया है और उनके स्थान पर अनुवादकों का नाम चला गया है। पाठक सुधार लें।

१. तीन प्रतीक—मूल लेखक : जे० कृष्णमूर्ति, अनुवादक : महात्मा भगवानदीन
२. अछूता फूल—मूल लेखक : तीर्थ वसन्त, अनुवादक : मोतीलाल जोतवाणी

'मंडल' की ओर से

गांधी-डायरी

सन् १९६३ की गांधी-डायरी गांधी-जयंती, अर्थात् २ अक्तूबर तक तैयार हो जाय, इसके लिए प्रयत्न हो रहा है। कागज़ की कमी और महंगाई के कारण हम उन्हें सीमित संख्या में ही छपवा रहे हैं। अतः हम पाठकों से अनुरोध करते हैं कि वे अपनी प्रतियां अपने यहां के पुस्तक-विक्रेता के यहां सुरक्षित करा लें और उनकी मांग हमारे पास भिजवा दें। गत वर्ष बहुत-से व्यक्तियों को निराश होना पड़ा था। हम चाहते हैं कि इस वर्ष ऐसा न हो। अपनी मांग तत्काल नियमानुकूल पेशगी के साथ भिजवाने की कृपा करें।

अन्य वर्षों की भांति इस वर्ष भी डायरी बड़े और छोटे आकारों में छापी जा रही है। बड़ी का मूल्य २॥) है, छोटी का १।)। दोनों की जिल्द पक्की, कपड़े की होगी, उसमें गांधीजी के वचन यथापूर्व रक्खे गये हैं। अन्य आवश्यक जानकारी भी।

'मण्डल' का नया सूची-पत्र

'मण्डल' का नया विस्तृत सूची-पत्र हाल ही में छपकर तैयार हुआ है। एक कार्ड लिखकर उसकी एक प्रति मंगा लीजिये। उससे आपको 'मंडल' के अद्यतन प्रकाशनों की जानकारी मिल जायगी। उसमें पुस्तकें विशिष्ट लेखकों तथा विषयों के आधार पर दी गई हैं। अच्छा तो यह होगा कि 'मंडल' का पूरा सेट आप अपने यहां रक्खें, पर यदि आपके साधन सीमित हों तो आप अपनी रुचि के लेखक और विषय को चुन सकते हैं। अपनी पुस्तकों की मांग आप अपने यहां के पुस्तक-विक्रेताओं से करें। उनके यहां वे पुस्तकें न मिलें तो हमें लिखें।

समाज-विकास-माला

'मंडल' की इस माला से पाठक भली-भांति परिचित हैं। स्त्री, पुरुष, बालक, साक्षर, नवसाक्षर सबको इसकी पुस्तकें पसंद आती हैं। अबतक इसमें १६३ पुस्तकें निकल चुकी हैं। पाठकों की मांग है कि इस माला में बराबर वृद्धि होती रहे। इन पुस्तकों में हमने इस बात का ध्यान रक्खा है कि भारत की सांस्कृतिक निधियों का पाठकों को ज्ञान हो जाय। इसलिए हमने संत, तीर्थ, नदियां, पर्वत, आदि-आदि, अनेक विषय लिये हैं और बड़ी ही सरल-सुबोध भाषा में उन्हें तैयार कराया है।

इस माला में प्रति वर्ष हम १५–२० पुस्तकें निकालते हैं। हम चाहते हैं कि पाठक पूरी माला की पुस्तकों को देखकर हमें सूचित करें कि आगामी वर्ष अर्थात् १९६३ में हम कौन-कौन-सी पुस्तकें निकालें। हमारी दृष्टि यह भी रही है कि इसमें पूरे भारत का चित्र आ जाय और किसी भी प्रदेश की महत्वपूर्ण चीजें छूटने न पावें। इस दृष्टि से पाठक इस माला का अध्ययन करके अपनी राय भेजें। आगामी सेट का निर्णय करते समय हम इन सूचनाओं का ध्यान रक्खेंगे।

एक नई परिपाटी

कलकत्ते के हमारे एक मित्र लोकोपयोगी साहित्य के, विशेषकर आध्यात्मिक साहित्य के बड़े प्रेमी हैं। वे 'मंडल' की पुस्तकें बड़े ध्यान से पढ़ते हैं और उनमें से जो पुस्तक उन्हें बहुत पसंद आती है, उसकी प्रतियां खरीदकर अपने मित्रों में बांट देते हैं। उनकी रुचि की पुस्तक दूसरों के द्वारा पढ़ी जायं, इससे उन्हें प्रसन्नता तो होती ही है, उस किताब का प्रचार और प्रसार भी हो जाता है।

यह परिपाटी हमें बड़ी ही अच्छी मालूम होती है। जिस पुस्तक को हम पसंद करें, आवश्यक नहीं कि उसकी सैकड़ों प्रतियां ही हम खरीदकर वितरित करें। अपनी सामर्थ्य के अनुसार हम जितनी प्रतियां ले सकें और दूसरों को पढ़वा सकें, उतना ही लाभदायक है।

हम चाहते हैं कि इस स्वस्थ परिपाटी का प्रचलन बढ़े। सत्साहित्य के प्रचार में हमारा जितना योग होगा, उतनी ही समाज और राष्ट्र की सेवा होगी। व्यक्तिगत संतोष होगा, वह अलग।

—मंत्री

जंजीर खींचने
के पहले
सोचिए
खतरे की जंजीर सुरक्षा का एक साधन
है । इसका उपयोग केवल अत्यन्त आवश्यक
परिस्थितियों में ही करना चाहिए ।
बिना विशेष कारण के खतरे की
जंजीर खींचने का परिणाम होता है, किसी
रोगी को निराशा, राष्ट्रीय योजनाओं की
पूर्ति में विलम्ब, कर्मचारियों के काम पर पहुंचने
में रुकावट और उन अनेक सह-यात्रियों को
परेशानी जिनमें बूढ़े और बीमार भी हैं ।
और एक ट्रेन को बिना कारण रोकने
का अर्थ है अन्य तमाम सम्बन्धित ट्रेनों के
आने-जाने में देरी ।
INDIAN RAILWAYS
—उत्तर रेलवे द्वारा प्रचारित

हमारे प्रकाशन : दूसरों की दृष्टि में

प्रार्थना-प्रवचन (दो भाग) : गांधीजी : पृष्ठ-संख्या—पहला भाग ४७०, दूसरा ३५५, मूल्य : ३.०० रुपये; २.५०

"इसमें गांधीजी द्वारा अन्तिम दिनों में दिये गए प्रार्थना-प्रवचनों का संग्रह किया गया है।...विनोबाजी ने इन पुस्तकों के प्रकाशन को 'ईश्वर के लिए की गई सेवा' कहा है।"

इलाहाबाद —**'लीडर'**

"इन प्रवचनों में बापू की आत्मा बोलती है। इनमें विभिन्न समस्याओं का हल तो है ही, साथ ही आत्म-निर्माण के लिए भी अपूर्व संदेश है।"

इलाहाबाद —**'भारत'**

"इन प्रवचनों में अत्यंत संक्षेप में सर्व-साधारण के समझने योग्य भाषा में तत्कालीन समस्याओं का विश्लेषण किया है और उनपर अपने विचार प्रकट किये हैं। इनमें से अधिकांश समस्याएं हमारे सामने ज्यों-की-त्यों बनी हुई हैं। प्रार्थना प्रवचनों द्वारा गांधीजी अपना हृदय जनता के सम्मुख खोलकर रख दिया करते थे और उनके हृदय की वेदना जनता के हृदय को बेध देती थी।...'सस्ता साहित्य मंडल' ने गांधीजी के समस्त साहित्य को शुद्ध और बढ़िया ढंग से हिन्दी में प्रकाशित करने का निश्चय किया है।

पटना —**'प्रदीप'**

"इन प्रवचनों का संग्रह यथासाध्य गांधीजी की ही भाषा में देने का प्रयत्न किया है। इनकी भाषा और शैली इतनी सरल और सुबोध है कि सामान्य पाठक भी उन्हें आसानी से समझ सकते हैं और अपने राष्ट्रपिता का मार्ग-दर्शन पा सकते हैं। गांधीजी की प्रज्ञा उनके अंतिम दिनों में चरम अवस्था को पहुंच चुकी थी, इसलिए इन प्रवचनों का विशेष मूल्य है।"

नई दिल्ली —**'हिन्दुस्तान'**

"...इन अमूल्य उपदेशों का घर-घर में पहुंचना इसलिए और भी जरूरी हो जाता है कि ये कोई नया धर्म या विधान हमारे सामने नहीं रखते बल्कि इन्सानियत, भाई-चारे और रोजमर्रा की जिन्दगी में सही रुख अख्तियार करने की प्रेरणा हमें देते हैं।"

कलकत्ता —**'नया समाज'**

"...इन भाषणों का, प्रवचनों का महत्व बहुत अधिक है। वह केवल पढ़ने की नहीं, मनन और अध्ययन की चीज है।"

बनारस —**'आज'**

गीता-माता : गांधीजी; पृष्ठ-संख्या ५१८ मूल्य : ४·०० रुपये।

"इसमें श्रीमद्भगवद्गीता का तात्पर्य, हिन्दी टीका, मूल संस्कृत पाठ, सरल और भक्ति-प्रधान श्लोकों का संग्रह बहुत ही सुन्दर, सुबोध और आकर्षक ढंग से किया गया है।

बम्बई —**'नवभारत टाइम्स'**

व्यवस्थापक

सस्ता साहित्य मण्डल, नई दिल्ली

सर्वोदय-पर्व

(११ सितम्बर से २ अक्तूबर)

के पावन अवसर पर महात्मा गांधी, आचार्य विनोबा तथा उनकी विचार-धारा से संबंधित साहित्य का अध्ययन और मनन कीजिये।

गांधी-साहित्य

गांधीजी लिखित

प्रार्थना-प्रवचन—भाग १	३.००	आज का विचार (दो भाग)	०.७४	हिन्द-स्वराज्य	०.७५
प्रार्थना-प्रवचन—भाग २	२.५०	आश्रमवासियों से	०.४०	हृदय-मंथन के पांच दिन	०.३०
गीता-माता	४.००	एक सत्यवीर की कथा	०.२५	देश-सेवकों के संस्मरण	१.२५
पन्द्रह अगस्त के बाद	२.००	गांधी-शिक्षा : तीन भाग	०.६२	अगर मैं डिक्टेटर होता	०.३०
धर्म-नीति	२.००	गीता-बोध	०.५०	शराबबंदी करें	०.३०
मेरे समकालीन	५.००	ग्राम-सेवा	०.३७	स्वराज में अछूत कोई नहीं	०.३०
दक्षिण अफ्रीका का सत्याग्रह	३.५०	नीति-धर्म	०.३७		
आत्मकथा (संपूर्ण) सजिल्द	४.००	ब्रह्मचर्य—भाग १	१.००	खादी पहनो	०.३०
आत्मकथा (संपूर्ण) अजिल्द	२.५०	ब्रह्मचर्य—भाग २	०.७५	शिक्षा ऐसी हो	०.३०
आत्म-संयम	३.००	बापू की सीख	०.५०	कंगाली ऐसे दूर होगी	०.३०
आत्मकथा (संक्षिप्त)	१.००	मंगल-प्रभात	०.३७	कताई यज्ञ है	०.३०
अनासक्तियोग	०.७५	सर्वोदय	०.३७	ग्राम-सेवा यों करें	०.३०
अनीति की राह पर	१.००	हमारी मांग	१.००	स्त्रियां यह करें	०.३०

अन्य लेखकों द्वारा लिखित

राष्ट्रपिता	(जवाहरलाल नेहरू)	२.००	श्रद्धा-कण	(वियोगी हरि)	०.७५
गांधी की कहानी	(लुई फिशर)	१.५०	गांधीवादी संयोजन के सिद्धांत	(श्रीमन्नारायण)	५.००
अहिंसा की शक्ति	(रिचर्ड बी० ग्रेग)	१.५०			
गांधी-अभिनन्दन-ग्रंथ	(सं०-राधाकृष्णन्)	४.००	स्वतंत्रता की ओर	(हरिभाऊ उपाध्याय)	४.५०
गांधी-श्रद्धांजलि-ग्रंथ	"	३.००	सर्वोदय की बुनियाद	"	१.००
गांधीजी की छत्रछाया में	(घनश्यामदास बिड़ला)	१.५०	इंग्लैंड में गांधीजी	(महादेव देसाई)	१.२५
जीवन-प्रभात	(प्रभुदास गांधी)	५.००	बापू की कारावास-कहानी	(सुशीला नैयर)	७.५०
बा, बापू और भाई	(देवदास गांधी)	०.५०	सर्वोदय-योजना		०.५०
बापू	(घनश्यामदास बिड़ला)	२.००	विनोबा के जंगम विद्यापीठ में	(कुंदर दिवाण)	[illegible]
डायरी के पन्ने	"	१.००	बापू की बातें	(अशोक[illegible])	[illegible]
बापू के पत्र	(सं०—काका कालेलकर)	१.२५	गांधीजी का विद्यार्थी-जीवन	"	०.४०
बापू के आश्रम में	(हरिभाऊ उपाध्याय)	१.२५	गांधीजी का संसार-प्रवेश	"	०.४०
गांधी-विचार-दोहन	(किशोरलाल मशरूवाला)	१.५०	गांधीजी के आश्रम—दो भाग	"	०.८०

विनोबा-साहित्य

ईशावास्यवृत्ति	०.७५	भूदान-यज्ञ	०.२५	शान्ति-यात्रा	१.५०
ईशावास्योपनिषद्	०.१२	राजघाट की संनिधि में	०.६२	स्थितप्रज्ञ-दर्शन	१.००
उपनिषदों का अध्ययन	१.००	सर्वोदय-संदेश	१.५०	स्वराज्य-शास्त्र	०.५०
गांधीजी को श्रद्धांजलि	०.३७	विचार-पोथी	१.००	सर्वोदय का घोषणा-पत्र	०.२५
जीवन और शिक्षण	२.००	विनोबा के विचार (दो भाग)	३.००	सर्वोदय-विचार	१.१२

इन पुस्तकों को अपने यहां के पुस्तक-विक्रेता से मांगिये। वहां न मिलने पर हमें लिखिये।

सस्ता साहित्य मंडल, नई दिल्ली

मार्तण्ड उपाध्याय, मंत्री, सस्ता साहित्य मंडल, नई दिल्ली द्वारा न्यू इंडिया प्रेस, नई दिल्ली में छपवाकर प्रकाशित।

जीवन साहित्य

सत्साहित्य प्रकाशन

बापू
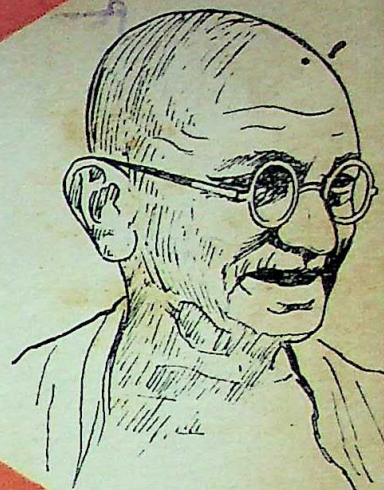
सम्पादक
हरिभाऊ उपाध्याय
यशपाल जैन
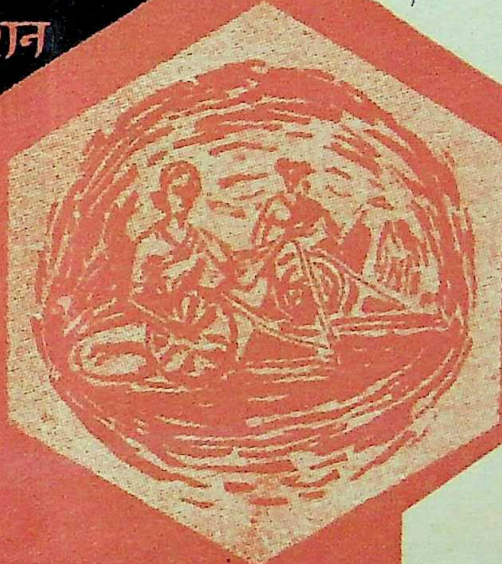
मेरे सपने का स्वराज्य

मेरे सपने का स्वराज्य तो गरीबों का स्वराज्य होगा। जीवन की जिन आवश्यकताओं का उपयोग राजा और अमीर लोग करते हैं, वही उन्हें भी सुलभ होनी चाहिए। इसमें फर्क के लिए कोई स्थान नहीं हो सकता। —मो. क. गांधी

अहिंसक नवरचना का मासिक

वार्षिक ४) : एक प्रति ४० न.पै.

जीवन-साहित्य

अक्तूबर, १९६२

विषय-सूची

आवश्यक

पत्र-व्यवहार करते समय अपनी ग्राहक-संख्या अवश्य दें, जिससे कार्रवाई सुविधापूर्वक और अविलंब हो जाय।

उत्तर प्रदेश, राजस्थान, मध्यप्रदेश, हिमाचल प्रदेश, दिल्ली, बिहार तथा पंजाब राज्य-सरकारों द्वारा कालेजों, लाइब्रेरियों तथा उत्तर प्रदेश की ग्राम-पंचायतों के लिए स्वीकृत

वर्ष २३
अंक १०

अक्तूबर, १९६२

स्वामी विवेकानंद

विनोबा

अपनी यात्रा में हम इतने मग्न रहते हैं कि बहुत दफा बहुत-सी महत्व की घटनाओं का भी ख्याल नहीं रहता। ठीक भी है। जो काम हमने उठाया है और भगवान् ने हमें सौंपा है, उसमें पूर्ण तन्मय होना हमारा धर्म ही है। लेकिन उनके साथ-साथ अन्य प्रेरणादायी घटनाएं या भावनाएं समाज में होती हैं, उनके विषय में भी हमको जागरूक रहना चाहिए। उससे हमको बल ही मिलता है।

आज चौदह अगस्त है और स्वामी विवेकानंद के जन्म का यह शतसांवत्सरिक दिन है। उनके जन्म को आज सौ साल हुए। उनकी मृत्यु अल्प आयु में ही हुई थी। वह चालीस साल पूरे नहीं कर पाये थे। उन्होंने अल्प आयु में बहुत मेहनत की। जनाधार पर रहे, भगवान् पर सब सौंप कर पूर्ण निर्भयता से उन्होंने काम किया। शांकर वेदांत में इस युग में इतना पराक्रमशील व्यक्ति शायद दूसरा कोई नहीं मिलता। महाराष्ट्र में ज्ञानदेव, कर्नाटक में विद्यारण्य ऐसे नाम हैं, जिन्होंने अपने जमाने में और अपने प्रदेश में जो असर डाला है, वह अमित है और आज भी वह कम नहीं हुआ है, बल्कि जहांतक ज्ञानदेव का ताल्लुक है, वह असर बढ़ रहा है। फिर ये मिसालें पुराने जमाने की हुईं। आधुनिक युग में वेदांत का इतना महान् आचार्य, जिसने दुनिया का ध्यान एकदम खींच लिया, दूसरा ध्यान में नहीं आता।

अद्वैत के साथ उपासनाएं हो सकती हैं, यह तो मूल शांकर-विचार में ही था। शंकराचार्य ने स्वयं पंचायतन पूजा की स्थापना की थी और उपासना का समन्वय किया था। यह उपासना-समन्वय उन्होंने जिस जमाने में किया था, उस जमाने के लिए पर्याप्त था। लेकिन आधुनिक समय के लिए वह अपर्याप्त है। इसलिए उसमें इस्लाम, ईसाई आदि उपासनाएं जोड़ने का काम इस युग में श्री रामकृष्ण परमहंस ने किया। विवेकानन्द उनके सर्वोत्तम शिष्य ही थे। यह उपासना-समन्वय उनको अपने गुरु से सहज ही प्राप्त था। लेकिन शांकर-विचार के लिए यह कोई नई बात नहीं मानी जायगी, क्योंकि उसका मूल आरंभ शंकराचार्य ने स्वयं

किया ही था—अद्वैत को भक्ति के साथ जोड़ा था। यह अलग बात है कि उनके बाद ऐसे अनेक आचार्य भारत में हुए कि शांकर-विचार में भक्ति को जितना स्थान मिला था, उससे उनका समाधान नहीं हुआ और उसमें भक्ति को अधिक उत्कट स्वरूप देने की कोशिश उन्होंने की—जैसे विष्णुस्वामी, रामानुज, निम्बार्क, वल्लभ, इत्यादि। लेकिन वेदांत के साथ भक्ति का समन्वय यह पुरानी ही बात मानी जायगी।

विवेकानंद ने विशेष बात यह की कि अद्वैत के साथ, जिसमें परमेश्वर की भिन्न-भिन्न उपासनाएं समाविष्ट होती हैं, उन्होंने आर्त-सेवा और दरिद्रनारायण की सेवा को जोड़ दिया। यह शब्द भी उनका अपना है—दरिद्रनारायण। और प्लेग के दिनों में, जैसे महाराष्ट्र में लोकमान्य तिलक ने, वैसे बंगाल में विवेकानंद ने साक्षात् सेवा का बहुत काम किया था। यहां सहज ही यह कहने में खुशी होती है कि लोकमान्य और विवेकानंद की आध्यात्मिक बनावट में कोई फरक नहीं था, सिवा इसके कि लोकमान्य कर्मयोग-क्षेत्र में और उससे भी खास करके राजकारण में काम करते थे, वैसा विवेकानंद ने प्रत्यक्षतः नहीं किया। मैं तो यह कहता था कि दरिद्र-नारायण की सेवा में यह विचार अद्वैत के साथ जोड़ने की प्रक्रिया स्वामी विवेकानन्द ने की थी। उसके बाद वह शब्द, जो लोकमान्य को बड़ा प्रिय था और देशबंधु चित्तरंजनदास ने प्रचलित किया, उस शब्द को घर-घर पहुंचाने का काम और तदनुसार कुल रचनात्मक कार्य को जोड़ने का काम महात्मा गांधी ने किया। महात्मा गांधी की और विवेकानन्द की प्रतिभा भी एकरूप थी। महात्मा गांधी लोकमान्य से अधिक अंतरनिष्ठ थे, बाह्य जीवनाकार में; इसलिए वह विवेकानन्द के बहुत नजदीक आते हैं। महापुरुषों की तुलना नहीं करनी चाहिए, न करना योग्य है, न करने की जरूरत है। लेकिन जिनका भारत पर अत्यंत उपकार हुआ है, ऐसे ये पुरुष थे, जिनका अभी हमने स्मरण किया।

दुःखितों की सेवा का ईश्वर-उपासना के तौर पर अपने शब्दों से और अपनी कृति से विश्व को संदेश देनेवाला ईसा मसीह से बढ़ कर कोई नहीं। इसके पहले महात्मा गौतम बुद्ध ने इसकी प्रेरणा उससे भी अधिक गहरे रूप में भारत को दी थी—करुणा की प्रेरणा, जिसकी लपेट में मानव के साथ अन्य प्राणियों को भी स्थान मिला था। निस्संशय यह प्रेरणा बहुत गहरी थी। लेकिन जिसे हम प्रत्यक्ष मानव-सेवा का नाम आजकल देते हैं, उस कल्पना का विशेष रूप से, व्यापक रूप से आविर्भाव ईसा मसीह के शिक्षण में होता है। जहांतक मैं समझा हूं, ईसा मसीह अद्वैती ही था—भले ही उस दार्शनिक अर्थ में न हो, जिस अर्थ में शंकर अद्वैती थे। लेकिन 'अमृतस्य पुत्राः', अमृत के पुत्र, परमात्मा के पुत्र यह संज्ञा पिता-पुत्र का अभेद मानकर उपनिषदों में दी थी। वह वेदों में भी दी थी, यही भाषा ईसा मसीह साक्षात् बोलते थे और उस जमाने के लोग इस अद्वैत विचार को ईश्वर के विरुद्ध एक अपराध के तौर पर मानते थे। इसलिए वे ईसामसीह पर चिढ़े हुए थे और जैसे मंसूर को अनलहक कहने के लिए पत्थर की मार खाकर मरना पड़ा, वैसे ईश्वर-पुत्र और ईश्वर से अभिन्न होने के कारण ईसा मसीह क्रूस पर चढ़ाये गये, ऐसा मैं मानता हूं।

मैंने कहा दार्शनिकवाद हम छोड़ दें तो ईसा मसीह की भूमिका तत्वतः अद्वैत वेदांत के अत्यंत निकट आती है, खास करके पॉल की बाइबिल पर से यह बात विशेष स्पष्टरूपेण ध्यान में आती है। फिर भी जहांतक भारतीय वेदांत का ताल्लुक है, अद्वैत के साथ मानव-सेवा जोड़ने का काम सर्व-प्रथम विवेकानन्द ने किया, ऐसा ही मानना चाहिए। यह बहुत बड़ी चीज उन्होंने की, जिसके परिणामस्वरूप अद्वैत तत्वज्ञान तत्साधक विभिन्न उपासनाओं में और तत्प्रकाशक भूत-सेवा, तदंतरगत मानव-सेवा, इस प्रकार जीवन में एकरस विचार भारत को मिल गया। महात्मा गांधी ने उस मानव-सेवा के विचार को और भी व्यापक बनाकर उसके साथ उत्पादक शरीर-परिश्रम की भी आवश्यकता स्पष्ट की।

मैं जब इस सबपर सोचता हूं, तो मुझे बड़ा आश्चर्य होता है। इतने ये नये-नये विचारों के पहलू निकलते गये और फिर भी ये कुल-के-कुल भगवत् गीता में उपलब्ध होते हैं। भगवत् गीता में जो प्रतिभा, जो श्रद्धा और जो प्रेम बिलकुल एकरूप हुआ दीखता है, वह इस ग्रंथ को शायद दुनिया के कुल साहित्य में अद्वितीय स्थान देता है। और विवेकानन्द भगवत् गीता के परम उपासक थे। मैं अभी गीता-गौरव अधिक नहीं गाऊंगा। उसके तो दूध पर ही मैं पला हूं। उसको मैं हमेशा ही याद करता हूं। आज इसके गौरव-कथन का लोभ मैं अधिक नहीं करूंगा। विवेकानन्द ने भारत को जो दान दिया, उस दान का मैं स्मरण कर रहा हूं, उनके

शतसांवत्सारिक दिन के निमित्त से। इकतीस-बत्तीस साल का युवक, परतंत्र हिंदुस्तान देश में जन्मा हुआ, एक परकीय भाषा में पारंगत होकर संन्यासी के रूप में शिकागो में विश्व-धर्म परिषद् में खड़ा होता है और भारत की तरफ से भारत के वेदांत की गर्जना सुनाता है। उस घटना से भारत की और हम लोगों की जो इज्जत दुनिया में हुई, उसको वे लोग नहीं भूल सकते, जो इस पारतंत्र्य काल में जीवन-मृतप्राय भारतीय जनता को देख चुके हैं।

विवेकानंद ने गुरु-सेवा का भी एक आदर्श हमारे सामने रखा है, जो हमारे लिए नया नहीं। लेकिन इस जमाने के लिए, जब आलोचक-तार्किक वृत्ति सब कहीं फैली थी, और है, बहुत जरूरी था। गोविंद पूज्यपाद और शंकराचार्य, निवृत्तिनाथ और ज्ञानदेव, ऐसी इस जमाने की जोड़ी है—रामकृष्ण और विवेकानन्द। जैसे इधर असम में शंकर-देव और माधवदेव एक जोड़ी है, जिसका नाम यहां के हर घर में चलता है, वैसे ही यह आधुनिक जोड़ी है। आजकल जो शिक्षा स्कूल और कालेज में मिलती है, उसमें गुरु-शिष्य-संबंध के लिए लगभग अवकाश ही नहीं रहा है, ऐसा कहना चाहिए। आज का शिक्षक लगभग पुस्तक के स्थान में आ गया है। पुस्तक की मदद मिलती है, वैसे शिक्षक की मदद मिलती है।

गुरु दूसरी ही वस्तु है। वह गुरु-शिष्य की भावना, जो प्राचीन गुरुकुलों में थी, अब एक स्मरणीय वस्तु रह गई है। लेकिन उसका उत्कट स्वरूप रामकृष्ण और विवेकानन्द के अन्योन्य संबंध में हमको देखने को मिलता है।

विवेकानंद जाहिर ही प्रचारक थे। जैसे सैंट पाल में हमको आवेश दीखता है, वैसे इनमें भी दीखता है। लेकिन इस आवेश के बावजूद जैसे सैंट पाल वैसे विवेकानन्द समत्व खोये हुए नहीं थे, अंतस्थल में समत्व को रक्खे हुए थे। एक अद्वैती के लिए इसमें आश्चर्य नहीं; क्योंकि जो समत्व खोता है, वह अद्वैत ही खोता है। लेकिन अद्वैत में आवेश भी आ सकता है, यह उधर सैंट पाल ने दिखा दिया, इधर शंकराचार्य ने दिखा दिया और इस जमाने में विवेकानंद ने दिखा दिया। यह आवेश केवल शब्दावेश नहीं, कोई एकांगी कल्पनावेश नहीं, वह भगवतावेश है। इस आवेश का प्रवेश जिसके जीवन में हुआ, उसका कुल जीवन भावना-भावित होता है और उसकी कठोर परिश्रम की कोई थकान महसूस नहीं होती। महापुरुष का स्मरण करने में पावन आनंद मिलता है। लेकिन उसका हृदय में ही समावेश करके यहां अधिक विस्तार मैं नहीं करूंगा।

●

दो चीजें

●● मोतीलाल जोतवाणी

भला, किस-किसको रोकोगे? भई, अपना कोई आगे बढ़ेगा, उससे संबंधित लोगों में तुम्हारा नाम भी आयगा। तुम ऊंचे न सही, पास का ऊंचा पेड़ आंधी का वेग सह लेगा। उसके फल लगेंगे। सुन्दरता और सुगन्धि बढ़ेगी।

अनजान जगत में कोई तरक्की करे तो करे, पर परिचित व्यक्ति कम रहे—तुम यह क्यों चाहते हो?

दिमाग में बुखार है। निढाल पड़े हो। विशाल न बने, इसलिए बिस्तर तुम्हारा घेरा है।

आंखें लाल-लाल जल रही हैं। उनमें भेड़िया आ बैठा था।

द्वेष बुरी चीज है।

… … …

राजा का महल मिले, महल का दुःख नहीं। मुनि की शान्ति मिले, उसकी झोंपड़ी नहीं। मन की अनेक आकांक्षाएं हैं। महत्वाकांक्षा नियति के लिए चुनौती-जैसी है। पत्थर से क्यों टकराते हो?

शरीर पर वार हैं। चूर हुए पड़े हो। सीमा पर न रहे। इसलिए छः फुट तुम्हारा दायरा है।

आंखें निस्तेज, पत्थर हो गई हैं। मन में घोड़ा आ बैठा था।

संतोष बड़ी चीज है।

… … …

अपनेको छोड़ दो। उसे जैसा अच्छा लगे, वैसा करे। उसकी चाह हमारी राह बने।

अहिंसा

भगवानदीन

गृहस्थ पेड़ की जड़ है सत्य। गृहस्थ ही धर्म है। इसलिए धर्मवृक्ष की भी जड़ सत्य ठहरती है। गृहस्थ की पीढ़ है ब्रह्मचर्य। इसीमें से तरह-तरह की शाखाएं फूटती हैं। जो सत्य बोलता है, वह हिंसा कर ही नहीं सकता, वह चोरी कर ही नहीं सकता, वह बेमतलब का संग्रह कर ही नहीं सकता। इतना ही नहीं, उसके ज्यादा बच्चे भी नहीं हो सकते।

यह है तो बहुत सीधी-साधी बात कि दुनिया में कोई चीज़ पूर्ण नहीं है। कोई गुण पूर्ण रूप से कहीं नहीं मिल सकता। पूर्ण के लिए अंग्रेजी शब्द है 'एब्सोल्यूट'। जो कुछ है, सापेक्ष है, इसलिए कोई भी सत्य उससे ऊंचे दर्जे के सत्य के सामने असत्य-सा जंचेगा। और वह ही असत्य-सा जंचनेवाला सत्य अपने से कम सत्य के सामने पूर्ण सत्य-सा जंचेगा। धर्म का भी यही हाल है। ब्रह्मचर्य का भी यही हाल है। पूर्ण ब्रह्मचारी, पूण धर्मात्मा, पूर्ण सत्यवादी यह बहलाने की चीजें हैं। दुनिया में कहीं हैं नहीं। इस बात को सब जानते हैं। सबके अंतस्थल में यह दार्शनिक और तर्कपूर्ण सचाई मौजूद है। फिर भी हरकोई इस मामले में समय-बेसमय भोला बन बैठता है या अड़ पकड़ जाता है और इस सचाई को मानकर नहीं देता।

जो विज्ञानी यह कहता था कि सूरज और दूसरे ग्रह पृथ्वी की परिक्रमा करते हैं, वह यूनान में आज भी यूनानियों का श्रद्धा पात्र बना हुआ है। क्योंकि सैंकड़ों और बातें वह ऐसी कह गया, जो आज भी विज्ञान के क्षेत्र में बड़े काम आ रही हैं और ठीक समझी जाती हैं। एक समय था, जब ग्रहों का पृथ्वी के चारों ओर घूमना पूर्ण सत्य समझा जाता था, पर आज तो स्कूल का बालक भी इस सचाई पर हंस देगा।

यह बेशक विचारणीय है कि अहिंसा, अचौर्य, और अपरिग्रह, इन तीनों के लिए निषेधात्मक शब्द हैं विध्यात्मक नहीं, यह क्यों? इसका उत्तर सीधा-साधा है हिंसा, चौर्य और परिग्रह इनके बिना एक क्षण भी कोई प्राणी जीवित नहीं रह सकता। जीव का आहार ही जीव है। फिर कोई अहिंसक कैसे हो सकता है। अहिंसा, परिग्रह, और अचौर्य के अ-निषेध प्रदर्शन नहीं करते। वह तो ईषद्पन के द्योतक हैं, जिसे बोलचाल की भाषा में 'हल्के' शब्द से बताया जा सकता है। 'अहिंसा' अर्थात् हल्की हिंसा? 'अचौर्य' अर्थात् हल्की चोरी। 'अपरिग्रह' यानि हल्का या थोड़ा परिग्रह। संस्कृत में ही नहीं, जहांतक हमारा ख्याल है या जहांतक हमारी जानकारी है, दूसरी भाषाएं भी इस मामले में इतनी ही गरीब हैं।

प्रेम हिंसा के लिए इस्तेमाल नहीं हो सकता। साहूकारी अचौर्य का बदल नहीं हो सकती। त्यागी और अपरिग्रही एकार्थवाची नहीं हो सकते। बिलकुल नंगा अपरिग्रही नहीं हो सकता। फिर तो पशु-पक्षी और नवजात शिशु भी अपरिग्रही बन जायगा। नंगा कुत्ता, नंगा बालक राजगद्दी पर बैठे हुए राजा से ज्यादा परिग्रही हो सकता है। परिग्रह का लक्षण समझदारों ने मूर्छा बताया है, यानि ममता। उसका नंगेपन से क्या ताल्लुक। वह कपड़ों और महलों में नहीं रह सकती। उजाड़ और नंगे में रह सकती है। उसका संबंध प्राणी के मन-मस्तक से है, बाह्य पदार्थों से नहीं।

जिनका हम ऊपर जिक्र कर आये हैं, वे ऐसी सचाइयां नहीं हैं, जिन्हें हमने नया खोज निकाला हो। वे तो ऐसी सचाइयां हैं, जो हर अच्छे ग्रन्थ में मिल सकती हैं। जो हर खुले दिल में मौजूद मिलेंगी। जो हर स्वाधीन विचारक के पास हैं। जो हर धर्मग्रंथ में अंकित हैं। पर नहीं हैं, तो वक्त पर मौजूद नहीं हैं।

गोआ के मामले को ले लीजिये। गोआ पर हिन्दुस्तानी सरकार ने चढ़ाई की। बन्दूक, तोप और टैंकों से लैस होकर दसियों, बीसियों मौत के घाट उतरे, उतारे गये। शोर मच गया। गांधी के देश में हिंसा। भारत का प्रधान मन्त्री चारों तरफ से ऊका जाने लगा। भारत के अखबार चुप, बोले तो तो अजीब बोले। पर यह कोई न कह पाया कि यह कृत्य पूरा अहिंसात्मक था। हिन्दुस्तान की आजादी, जो अहिंसा से प्राप्त की हुई समझी जाती है उसकी जड़ में पांच लाख प्राणियों का खून है। ढाई लाख हिन्दु और ढाई लाख मुसलमान। हां, उसमें शायद किसी अंग्रेज के खून की एक बूंद

भी न होगी। यह घोर हिंसा से पाया हुआ स्वराज्य अंग्रेजों के लिए तथा दूसरे और देशों के लिए अहिंसा से पाया हुआ स्वराज्य समझा जा सकता है, पर उनके द्वारा नहीं जिनके मां-बाप मारे गये। उनके द्वारा नहीं, जिनके बाल-बच्चे मारे गये। उनके द्वारा नहीं जिनकी मां-बहनों के साथ बलात्कार किया गया। उनके द्वारा नहीं, जिनकी धन-धरती सब-की-सब हर ली गई। उनके द्वारा नहीं जिनका मन अपने सगे-संबंधियों से अपने इष्ट-मित्रों से सदा के लिए फाड़ डाला गया। बस, यह कहना कि हमने स्वराज्य अहिंसात्मक आन्दोलन से पाया है सापेक्ष कथन है। किसी लिहाज से कोरा मन-समझौता है।

आज दूसरे देश आज़ाद हो रहे हैं। हमारे ढंग की अहिंसा के तरीके से नहीं, अपने ढंग की अहिंसा के तरीके से। हमारे रास्ते की दुहाई सब जगह दी जाती है, पर हमारा रास्ता कहीं अपनाया नहीं जाता। अलजीरिया कल आज़ाद हो जायगा। हमारा ढंग अपनाकर नहीं, अपने ढंग से। उसका ढंग भी अहिंसक समझा जायेगा। वही सापेक्ष अहिंसक।

किसीकी जान ले लेने को हिंसा नहीं कहते। हो सकता है, जान लेने का काम अहिंसात्मक हो। जैसे मां और बच्चे दोनों को मरने देने की अपेक्षा एक के प्राण हरकर एक को बचा लेना अहिंसक कृत्य है, वैसे ही और भी हिंसक कृत्य दिखाई देते हुए भी अहिंसक कृत्य हो सकते हैं। खटमल को दया के सागर में डूबकर जेठ-बैशाख की तपती धूल में छोड़ देना घोर हिंसा है। पर वैसा करनेवाला तो यही समझता रहता है कि वह अहिंसा-धर्म का पालन कर रहा है। और अपनी समझ में वह सचमुच वैसा कर रहा भी होता है। खटमल ने उसके कितने परिणाम बिगाड़ रक्खे थे, उसको वह ही जानता है, हम नहीं जानते। उधर खटमल रक्त बीज माना गया है, यानि अगर कोई उसे पांव से रगड़कर मार दे तो वह सैकड़ों हजारों खटमलों को पैदा होने का रास्ता खोल देगा, जो घोर हिंसा का कारण होंगे। इसलिए खटमल को धूप में पटककर मारना किसी अपेक्षा से अहिंसक कृत्य हो सकता है। यहां तो इतना समझना है कि हिंसा जान लेने भर का नाम नहीं है। हिंसा का लक्षण है किसीके प्राणों को दुःख पहुंचाना। सैंकड़ों आदमियों को उनकी इच्छा के खिलाफ या बहला-फुसलाकर गुलाम बनाये रखना कहीं ज्यादा बड़ी हिंसा है, उस आदमी की हिंसा से, जो ऐसे आदमी को या ऐसे आदमियों के कुछ समूह को तलवार के घाट उतारकर उन सैंकड़ों, हज़ारों को आजाद करा देता है। गोवा में यही हुआ। गोवावासियों को, सात समुद्र-पार के देश पुर्तगाल के द्वारा शासित गुलाम बने हुए थे, इस घोर हिंसा से बचाने के लिए जो कृत्य किया गया, वह हिंसात्मक नहीं समझा जा सकता। हिन्दुस्तान का मानचेस्टर के माल का बायकाट हिंसात्मक कृत्य होते हुए भी अहिंसात्मक था, क्योंकि हिन्दुस्तान अपने व्यापार की रक्षा करना चाहता था। तलवार हिंसोपकरण है जब वह किसी निरीह प्राणी को मारती है। तलवार रक्षकोपरण है, अहिंसोपकरण है, जब वह उस शेर की गरदन पर पड़ती है, जो आदमी के बच्चे पर मुंह मारने को तैयार खड़ा होता है।

जबतक इस दृष्टि से अहिंसा पर विचार नहीं किया जायगा तबतक जो कुछ अहिंसा के द्वारा किया जायगा वह अंत में बुरे फल लायेगा, भले नहीं। ना समझों के हाथ में पड़ी हुई अहिंसा कायरों को जन्म देती है, जो घोर अहिंसक होते हैं। जबकि समझदारों की अहिंसा ऐसे आदमी तैयार करती है, जो देखने में हिंसक से दिखलाई देते हैं, पर वे सब सिर से पैर तक अहिंसक होते हैं। क्योंकि वे बहादुरी का काम कर रहे होते हैं।

बस, अगर तुम बहादुर हो तो तुम अहिंसक हो। अगर तुम कायर हो, तो तुम हिंसक हो। बहादुर निडर होता है। कायर डरपोक होता है।

सत्य और अहिंसा के बीच चुनाव करना पड़े तो मैं अहिंसा को छोड़कर सत्य को रखने में आगा-पीछा नहीं देखूंगा।

—महात्मा गांधी

इंद्रियों का बौद्धिक तथा कलात्मक विकास

●● श्रीमाताजी

मैं समझती हूं कि आदि मनुष्य पशुओं के बहुत समीप था। वह बुद्धि की अपेक्षा सहज प्रेरणा के द्वारा अधिक जीवन यापन करता था। वह बिना किसी निश्चित नियम के जब भूखा होता था तभी खाता था। हो सकता है कि उसकी रुचि और पसंद भी हो, पर इस विषय में हम अधिक कुछ नहीं जानते; परन्तु यह हम जानते हैं कि वह बहुत अधिक शारीरिक जीवन यापन करता था और आजकल की तरह उसका मानसिक अथवा प्राणिक जीवन बहुत कम था।

मूलतः, बहुत-कुछ पशु की भांति ही, मनुष्य भी अपने स्वभाव में अत्यंत भौतिक था अर्थात् शरीर और उसकी आवश्यकताओं के अंदर ही उसकी चेतना आबद्ध थी; फिर अनेक शताब्दियों या सहस्राब्दियों की अपनी क्रमोन्नति के द्वारा वह अधिकाधिक मानसिक, अधिकाधिक प्राणिक बना। और जैसे-जैसे वह अधिकाधिक मानसिक और अधिकाधिक प्राणिक बनता गया, वैसे-वैसे उसके सुसंस्कृत होने की संभावना भी उत्पन्न होने लगी, उसमें बुद्धि बढ़ने लगी, पर साथ ही विच्युति और विकृति की संभावना भी पैदा हो गई। यह एक बात है कि हम अपनी इंद्रियों को इस प्रकार शिक्षित करें कि उनमें प्रत्येक प्रकार का उत्कर्ष आ जाय, उनका विकास हो, उनमें ज्ञान, मूल्यांकन की शक्ति, सुरुचि आदि उत्पन्न हो, अर्थात् चेतना में प्रगति हो; पर यह एकदम अलग ही बात है कि हम अपनी इन्द्रिय के विषय के प्रति आसक्त हो जायं, लोभ-लालसा का पोषण कर, महापेटू बन जायं।

तुम रस (स्वाद) का बहुत विशद अध्ययन कर सकते हो, उदाहरणार्थ, तुम विभिन्न वस्तुओं के विभिन्न स्वादों का, स्वाद से संबंधित भावनाओं या धारणाओं का विस्तृत ज्ञान प्राप्त कर सकते हो, जिसका अर्थ शायद प्राण की उन्नति नहीं है, बल्कि इसका अर्थ है कम-से-कम इस विशेष इंद्रिय का विकास। यह चीज तो विधेय है पर इनमें और लोभ के वश खाने में, सदा-सर्वदा भोजन की ही बात सोचते रहने में, आवश्यकता के वश नहीं बल्कि भोजन की वासना और पेटूपन के कारण खाने में जमीन-आसमान का अंतर है।

सच पूछा जाय तो जो लोग अपने स्वाद को विकसित करने की चेष्टा करते हैं, उनमें से बहुत कम लोग ही भोजन के प्रति अत्यधिक आसक्त होते हैं। वे खाने के लिए नहीं, बल्कि अपनी इंद्रियों को विकसित और परिमार्जित करने के लिए अपने स्वाद को उन्नत करने का अभ्यास करते हैं। इसी तरह एक कलाकार, जैसे चित्रकार, अपनी आंखों को शिक्षित करता है, जिसमें कि वह यह जान सके कि भौतिक प्रकृति में पाये जानेवाले रूप और रंग के, रेखा और रेखा-चित्र के, रचना और सामंजस्य-सौंदर्य का मूल्यांकन कैसे किया जाता है। उसे महज कामना या भूख ही परिचालित नहीं करती, बल्कि दर्शनेन्द्रिय का रस, संस्कार और विकास, सौंदर्य का मूल्यांकन ही होता है, उसका मुख्य कार्य। साधारणतया जो कलाकार सच्चे कलाकार होते हैं, जो अपनी कला को प्यार करते और उसे अपने जीवन में उतारते हैं, जो सौंदर्य की खोज करते हैं, उनमें बहुत अधिक कामनाएं नहीं होतीं। वे अपने रसात्मक बोध में निवास करते हैं, अपनी इन्द्रियों में वास करते हैं, जो सौंदर्य का भोग और सृजन करने की ओर मुड़ी होती हैं। वे ऐसे लोग नहीं होते, जो अपने प्राणगत प्रवेगों और शारीरिक कामनाओं के द्वारा जीवन यापन करते हैं।

साधारण तौर पर, अपनी भद्दी सहज प्रेरणा और कामना और आवेग की क्रियाओं को सुधारने का उपाय है इन्द्रियों को सुशिक्षित, सुसंस्कृत और परिमार्जित करना। उन्हें नष्ट कर डालना, उन्हें सुधारना नहीं है। बल्कि उन्हें तो उन्नत करना होगा, बौद्धिक रूप में ढालना होगा और सुन्दर रूप प्रदान करना होगा। यही उन्हें सुधारने का सबसे अधिक अचूक उपाय है। चेतना की प्रगति और विकास की दृष्टि से उन्हें इस प्रकार अधिक-से-अधिक विकसित करना चाहिए, जिसमें कि मनुष्य सामंजस्य-बोध और यथार्थ अव-

लोकन शक्ति प्राप्त कर सके। मानव-सत्ता की संस्कृति और शिक्षा का यह भी एक अंग है। मनुष्य अपनी बुद्धि को इसी भांति उन्नत करते हैं। वे पढ़ते हैं, सोचते हैं, तुलना करते और अंतर समझते हैं, वे इस तरह एक प्रकार का अध्ययन करते हैं। इससे उनका मन विस्तारित होता है, वह उन लोगों के मन की अपेक्षा अधिक विशाल और अधिक व्यापक हो जाता है जो मानसिक शिक्षा के बिना जीवन यापन करते हैं, जिनमें महज थोड़े-से विचार होते हैं, और वे भी शायद एक-दूसरे के विरोधी। वैसे लोग पूर्ण रूप से उन्हीं विचारों के द्वारा चालित होते हैं, क्योंकि उनके पास दूसरे विचार होते ही नहीं; वे समझते हैं कि केवल ये ही विचार ऐसे हैं, जिनके द्वारा उन्हें परिचालित होना चाहिए। ऐसे मन अत्यंत संकीर्ण और सीमित होते हैं। दूसरी ओर, जिन लोगों ने अपनी बुद्धि को समुन्नत किया है, जिन्होंने अध्ययन और चिंतन किया है, जिन्होंने अपने मन के क्षेत्र को थोड़ा विस्तृत किया है और इसलिए जो अन्य विचारों और संभवनीय धारणाओं को देख सकते और ध्यान में रख सकते तथा उनका मिलान कर सकते हैं, उन्हें सहज ही यह मालूम हो जाता है कि किसी सीमित विचार-समूह के प्रति आसक्त होना और बस उसे ही सत्य की अभिव्यक्ति समझना महज अज्ञान और मूर्खता है।

रूचि का यह प्रशिक्षण, इंद्रियों का शिक्षण चेतना को उच्चतर विकास के लिए तैयार करने का एक बहुत अच्छा और आवश्यक साधन है। कुछ लोग ऐसे होते हैं, जो अपने स्वभाव में बहुत अनगढ़ और अत्यन्त सरल होते हैं। उन्हें एक प्रबल अंतःप्रेरणा प्राप्त होसकती है और वे एक विशिष्ट आध्यात्मिक उन्नति तक पहुंच सकते हैं, परन्तु नींव सदा ही निम्न कोटि की एक चीज बनी रह जायगी; और जब वे अपनी साधारण चेतना में वापस आयंगे तब वे वहां महान् बाधाओं के सम्मुखीन होंगे; क्योंकि वहां असली सत्व ही गायब होगा, वहां तो प्राणगत और शरीर-चेतना में वे तत्व ही पर्याप्त मात्रा में नहीं हैं जो निम्न आधार को उच्चतर शक्ति के अवतरण को धारण करने की क्षमता प्रदान कर सकें।

●

गांधीजी

दिन के उजाले में भी दीपक जलाकर अरे ओ मौजी तू यह कौन-सा आड़ा-टेढ़ा लेख लिख रहा है। सुन, नगर के पथ पर कोलाहल उठ रहा है 'गांधीजी, गांधीजी'। वातायन से यह किसकी किरण-रेखा किस नवीन ज्योतिष्क से विकीर्ण होकर चली आ रही है। किस चन्द्र के अनुराग से जन-समुद्र में आज तरंगें उठ रही हैं। जगन्नाथ के निशानधारी रथ का वह कौन सारथी है, जिसके लिए कतार-की-कतार उत्सुक नर-नारी राह देख रहे हैं। किसान के वेश में कृश देह अग्नि की लय छवि के समान वह कौन जगत् के यज्ञ में सत्याग्रह के द्वारा प्राणों की हवि अर्पण कर रहा है ? किसकी पताका को घेरकर वकील और मजदूर परस्पर प्रेमालिंगन कर रहे हैं। किसकी मृदु वाणी में गर्वीले गोरों की भेरी का शब्द आज डूब गया है। किसकी भिक्षा की झोली में कोटि-कोटि मुद्रा आ समाती हैं। किसकी कीर्ति ऐसी महासुन्दरी है। किसकी अंगुलियों के इशारे पर कोटि-कोटि हिन्दू-मुसलमान आज संकल्प-तत्पर हैं। आत्मा के जल से पशुबल के मस्तिष्क में किसने सनसनी फैला दी है। वह कौन है, जो इतना-सा है फिर भी सर्वपूज्य हैं 'गांधीजी, गांधीजी।'

—सत्येन्द्रनाथ दत्त

●

मा गांधी ●● बसवराजु अप्पाराव

तेलुगु

कोल्लाई गट्टिते नेमी
मा गान्धी
कोमटे पुट्टिते नेमी
वेन्नपूसा मनसु
कन्न तल्ली प्रेम
पंडंटि मोमुपै
ब्रह्म तेजस्सु ।

नालुगु परकल पिलक
नाट्यमाड़े पिलक
नालुगु वेदाल
नाण्यमेरिगिन पिलक ।

बोसिनोर्विप्पिते
मुत्याल तोलकरी
चिरुनव्वु नव्विते
वरहाल वर्षमे
चका चका नडिस्तुनु
जगति कंपिचेनु
पलुकु पलिकितेनु
ब्रह्मवाक्केनु ।

कौशिकुडु क्षत्रियुडु
कालेद ब्रह्मर्षि
नेडु कोमटि बिड्डु कूड
ब्रह्मर्षाये ।।

हिन्दी

अंगोछा पहने तो क्या
हमारे गान्धी
वणिक-कुल में जनमे तो क्या
माखन जैसा मन
मां का सा प्यार
परिपक्व मुख पर
ब्रह्म तेज ।

चार बालों की चुटिया
नाचनेवाली चुटिया
चारों वेदों का सार
जाननेवाली चुटिया ।

पोपला मुँह खोलने पर
मोतियों की बौछार
मन्द मन्द मुस्कुराने पर
रत्नों की बारिश खुलकर
सर सर पग बढ़ाते
जग सारा डगमगाता
उनके दो बोल
अमरबोल, वेदवाक्य ।

कौशिक क्षत्रिय
क्या हुए नहीं ब्रह्मर्षि
आज वणिक-पुत्र भी
हुए ब्रह्मर्षि ।

—अनु० राघवराव

गांधीजी और दरिद्रनारायण

●● टी० भीमाचारी

गुरुदेव रवीन्द्रनाथ ठाकुर की 'गीतांजलि' के निम्नलिखित गीत में हमें दरिद्रनारायण की झलक मिलती है :

नाथ ! जहां सबसे अधम, दीनों के दीन जन रहते हैं, वहां सबसे पिछड़े और सबसे तिरस्कृत लोगों के मध्य तेरे चरण विराजमान हैं।

जब मैं तुझे प्रणाम करता हूं, तब मेरा विनत मस्तक नमन की सीमा तक पहुंचकर भी तेरी चरण-पीठिका तक नहीं पहुंच पाता।

क्योंकि, तेरे चरण सबसे निम्न और दीन जनों के मध्य स्थित हैं। मेरा मस्तक झुककर भी तेरे चरणों की सतह तक नहीं पहुंचता !

जहां तू दीन जनों के दरिद्र वेश में सर्वदलित, सर्व तिरस्कृत, अति दीन जनों के मध्य संचार करता है, वहां मेरा अहंकार नहीं पहुंचता।

धन-मान संपन्नों के मध्य मैं तुझे पाने की आशा करता हूं; किन्तु तेरा साहचर्य तो उनसे है, जिनका कोई और सहचर नहीं !

उन सर्वदलित, तिरस्कृत और दीनों के दीन जनों तक मेरा हृदय नहीं पहुंच पाता !

एक दूसरे गीत में कवीन्द्र रवीन्द्र कहते हैं कि ईश्वर वहां है, जहां कृषक भूमि जोत रहा है और जहां धूरि-धूषित वस्त्र पहने रास्ता बनानेवाला श्रमिक पत्थर तोड़ रहा है।

भगवान् गरीबों के अधिक समीप रहता है, गरीब उसके प्यारे हैं। जब ईसा मसीह ने यह कहा कि 'ऊंट के लिए सूई की नोक में से निकल जाना आसान है, बनिस्बत इसके कि धनाढ्य व्यक्ति स्वर्ग-लोक में कदम रख सकें', तो उनका मंतव्य यही था कि गरीबों की भगवान् तक पहुंच सरल होती है।

उपर्युक्त उद्धरण हमें बताते हैं कि यदि हम परमात्मा के दर्शन करना चाहते हैं, तो हमें गरीबों में जाना चाहिए, यदि हम ईश्वरोपासना करना चाहते हैं, तो हमें उसकी सेवा करनी चाहिए। लेकिन हमें गरीबों तक अहंकार-त्याग, नम्रतापूर्वक जाना चाहिए, क्योंकि अहंकार के रहते हुए हम भगवान् तक नहीं पहुंच सकते, जहां वह दीन जनों के दरिद्र वेश में दीनों के दीन, सर्व-दलित और सर्व-तिरस्कृत जनों के बीच निवास करता है।

यदि हम इस पृष्ठभूमि में विचार करें तो इससे हमें सही दृष्टि से इस तथ्य को समझने में सहायता मिल सकती है कि महात्मा गांधी ने गरीबों के लिए क्या किया।

युग-युगान्तर से जितने भी ऋषि-मुनि, संत-महात्मा आदि महामानव हुए हैं, उन सभीने अपने-अपने ढंग से दीन-हीनों का त्राण करने का प्रयत्न किया है। किन्हींने उपदेश दिया, किन्हींने लिखा और किन्हींने महान् क्रांतियां कीं। लेकिन गरीबों के प्रति गांधीजी का दृष्टिकोण इनसे भिन्न था। उनके लिए दीन-हीनों की सेवा ही भगवान् की उपासना थी। गरीबों के प्रति उनके मन में बहुत गहरी सहानुभूति थी। वस्तुतः गांधीजी ने गरीबों के लिए जो कुछ भी किया, वह उनके प्रति पायी जानेवाली उनके हृदय की सहानुभूति की अभिव्यक्ति ही थी, यह कोई राजनैतिक सिद्धान्त अथवा अर्थशास्त्र का सिद्धान्त या समाज-सुधारक की भावना नहीं थी, जिसने उन्हें अपने कर्म के लिए प्रेरित किया हो। यह उनकी स्वयं की दरिद्रनारायण के प्रति पवित्र सहानुभूति थी जिसने उनकी उस कार्यशीलता के पीछे केन्द्रीय शक्ति का काम किया, जिसको उन्होंने एक नितांत आवश्यकता समझा। यह वही सहानुभूति थी, जो बाद में चलकर ऐसे कई कार्य-क्षेत्रों में, जैसे कि सामाजिक, आध्यात्मिक, शैक्षणिक, राजनैतिक आदि में प्रस्फुटित हुई, जिन सभीके पीछे दीन-हीनों की हालत में चतुर्दिक विकास करने की भावना निहित थी। यह सर्वविदित है कि अनवरत स्वतंत्रता-संग्राम के दिनों में भी उन्होंने एक क्षण के लिए भी दरिद्रनारायण को अपनी दृष्टि से ओझल नहीं किया, एक पल के लिए भी वे इस बात को नहीं भूले कि जबतक भारत के दीन-हीनों की अकथनीय दुरवस्था जैसी-की-तैसी बनी रहेगी, तब तक स्वतंत्रता प्राप्ति के भी उनके लिए कोई माने नहीं हैं। इसीलिए हम देखते हैं कि गरीबों के प्रति गांधीजी का ममत्व उस केन्द्रीय शक्ति के समान है, जिसके चारों ओर उनकी अन्य सभी

गतिविधियां परिचालित थीं।

गांधीजी के लिए भारत गांवों का देश था और गांवों में उन्होंने महान् गरीबी देखी। यहीं उन्हें ऐसे मानव के दर्शन हुए, जो आशारहित व अभिक्रमहीन था और यदि उसे अपने पर छोड़ दिया जाय तो काम करने के बजाय भूखों मर जायेगा। भारत विश्व में होनेवाली घटनाओं के प्रति निष्क्रिय, उदासीन और अन्यमनस्क था। यहीं गांधीजी ने दीनों में दीन, सर्वदलित और सर्व-तिरस्कृतों के बीच ईश्वर का साक्षात्कार किया तथा उन्होंने उनकी सेवा करने का निश्चय किया। गांधीजी का गरीबों के प्रति यही दृष्टिकोण, उन्हें विश्व की अन्य विभूतियों से अलग करता है। वे अपनी भावनाओं को उपदेश के माध्यम से अभिव्यक्ति का रूप देने अथवा कोई समाजवादी सिद्धान्त विश्व के सामने रख देने मात्र से संतुष्ट नहीं हुए। उन्होंने अपनेको गरीबों में मिला दिया, उन्होंने स्वयं गरीबी का बाना धारण कर लिया।

गांधीजी का जीवन ऐसी अनेक घटनाओं से भरा पड़ा है, जिनसे प्रकट होता है कि किस प्रकार उन्होंने गरीबी के जीवन में अपनेको ढाल लेने का अनवरत प्रयास किया। यह जानकर कि एक साधारण भारतीय को तन ढांकने के लिए पर्याप्त वस्त्र नहीं मिलता, उन्होंने स्वयं लंगोटी अपना ली। इससे प्रकट होता है कि किस प्रकार वे अपनेको उन दीन-हीनों में मिला देना चाहते थे, उनके सुख में सुखी और दुःख में दुःखी होना चाहते थे और उन्हींके समान वस्त्र पहनकर अपनेको धन्य समझना चाहते थे। जिसे गुरुदेव ने महसूस किया, अपनी रचनाओं में अभिव्यक्त किया; गांधीजी ने उसे अपने जीवन में उतार लिया। यदि गुरुदेव की भावनाओं की अभिव्यक्तियों का कहीं साक्षात् रूप देखना हो तो वह महात्मा गांधी में मिलेगा।

महात्मा गांधी ने गरीबों व भारत के पुनर्निर्माण के लिए जो कुछ किया, उसके लिए वर्तमान इतिहास साक्षी है। जिस चरखे को उन्होंने अपनाया, वह भावी ग्रामीण भारत की बुनियाद बन गया। यह एक प्रतीक बन गया, जिसमें भारतीय वातावरण के उपयुक्त जीवन के स्वरूप का प्रतिबिम्ब मिलता है और जिससे भारतीय कौशल के अनुरूप कला अथवा दस्तकारी का संकेत मिलता है। यह ऐसे राज्य का प्रतीक बन गया, जहां राजा भी उतना ही मेहनती होता है जितना एक किसान और उतना ही बुद्धिजीवी जितना कि एक दार्शनिक। आगे चलकर चरखे ने स्वावलंबन के आधार पर भारतीय ग्रामों की पुनर्रचना करने के विचार को जन्म दिया। महात्मा गांधी के मस्तिष्क में आदर्श गांव की कल्पना कैसी थी, इसका चित्र उन्हींके शब्दों में इस प्रकार अंकित किया जा सकता है:

"एक आदर्श भारतीय गांव इस ढंग से बनाया जायेगा कि उसमें पूरी सफाई रक्खी जा सके। उसमें ऐसी कुटियां होंगी, जिनमें काफी हवा और रोशनी रहेगी और जो पांच मील के घेरेमें प्राप्त होनेवाली सामग्री से बनी रहगी। कुटियों में आंगन होंगे, जिनमें घरवाले घरू इस्तेमाल की साग-भाजी लगा सकें और अपने मवेशी रख सकें। गांव की गलियों और रास्तों में यथासंभव धूल नहीं होगी। उसमें गांव की जरूरत के अनुसार कुएं होंगे और उनसे सब पानी ले सकेंगे।

"वहां सबके लिए पूजा-स्थान होंगे, एक ग्राम सभा-स्थान होगा, पशु चराने के लिए एक सम्मिलित चरागाह होगा, एक सहकारी दुग्धालय होगा, प्राथमिक और माध्यमिक पाठशालाएं होंगी, जिनमें औद्योगिक शिक्षा मुख्य वस्तु होगी, और झगड़े निपटाने के लिए पंचायतें होंगी।

"वह अपना अनाज, अपनी साग-भाजी, अपने फल और अपनी खादी आप तैयार कर लेगा। मोटे रूप में आदर्श ग्राम की मेरी यह कल्पना है। जहां लोगों में सहयोग होगा, वहां आदर्श कुटियों के सिवाय लगभग सारे कार्यक्रम पर सरकारी सहायता बिना उतने ही खर्च से अमल किया जा सकता है, जो गांव-वालों के साधनों के भीतर होगा। सरकारी मदद से गांवों की पुनर्रचना का काम इतना बढ़ाया जा सकता है, जिसकी कोई हद नहीं।

"परन्तु अभी तो मेरा काम यह पता लगाना है कि देहातियों में आपस में सहयोग हो और वे सबकी भलाई के लिए स्वेच्छापूर्वक श्रमदान करें, तो वे खुद अपनी सहायता क्या कर सकते हैं। मेरा दृढ़ विश्वास है कि यदि उन्हें समझकर रास्ता बताया जाय, तो वे गांव

की आमदनी दुगुनी कर सकते हैं। व्यक्तिगत आय की बात अलग है। हमारे देहातों में असीम साधन हैं, जो व्यवसाय के लिए तो नहीं, परन्तु स्थानीय कामों के लिए लगभग हर हालत में काफी हैं। सबसे बड़े दुःख की बात तो यह है कि ग्रामीण लोग अपनी हालत सुधारने के लिए बिलकुल तैयार नहीं हैं।"

इसके लिए कि शहरों द्वारा ग्रामों का शोषण न हो, उन्होंने एक स्थान पर कहा है कि 'गांव में जो चीज बनाई जा सके, उसे शहरों में नहीं बनाने देना चाहिए। शहरों को गांवों में तैयार की गई चीज़ों के लिए 'क्लियरिंग हाउसेज' का काम करना चाहिए।"

गांधीजी जानते थे कि भारतीय ग्रामों का स्वावलंबन के आधार पर पुनर्गठन करना एक महान् कार्य है। वह जानते थे कि एक लंबे समय से गांवों की अवहेलना की जाने से आलसीपन ग्रामीण जीवन का एक अंग बन गया है। उन्होंने एक स्थान पर लिखा है, "चरित्रवान कार्यकर्ताओं द्वारा उनसे सजीव सम्पर्क रखने, उनके बीच चरखा चलाने और उनका नम्रतापूर्वक पथ-प्रदर्शन करके इस आलस्य को मिटाया जा सकता है।" वह आगे कहते हैं :

> "असल में वस्त्र-स्वावलंबन न्यारे ढंग से, न्यारी दृष्टि से कार्यकर्ताओं को समझाना चाहिए। वह यह कि वस्त्र-स्वावलंबन से समूचे देहात का पैसा बचकर देहात में ही रहता है। बेकार समय का उपयोग होने से लोग उद्यमशील बनते हैं। यानी वस्त्र-स्वावलंबन का काम अहिंसक ग्रामोत्थान या ग्राम-संगठन के अंग स्वरूप समझ कर करने से ही स्थायी लाभ हो सकता है। अमुक वर्षों में इतने ग्रामों को पूर्ण वस्त्र-स्वावलम्बी बना लेना है, ऐसा कार्यक्रम मुझे नहीं जंचता। सही समझ के साथ जितना काम करना सीखेंगे, वही सच्चा काम होगा। केवल जोश और भावावेश से किया हुआ काम आखिर तक टिकता नहीं।"

गांधीजी ने गरीबों के प्रति अपनी सहानुभूति के फलस्वरूप जो कार्यारम्भ किया था, वह आज भारतीय अर्थ-व्यवस्था का आधार-स्तंभ बन गया है। अब यह पूर्णतः स्वीकार कर लिया गया है कि हमारी विकास-योजनाओं का महत्वपूर्ण साधन-स्रोत देश की महान् मनुष्य-शक्ति है, जिसे अभीतक पूर्णरूपेण उत्पादन कार्य में नहीं लगाया गया है। चूंकि खादी और ग्रामोद्योगों में लोगों को बहुत बड़ी संख्या में काम देने की शक्ति है, इसलिए उन्हें प्रोत्साहित किया जा रहा है और राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था में उनके स्थान को मान्यता दी जा रही है।

फिर भी, यह खेद की बात है कि जहां इन उद्योगों की रोजी-संबंधी क्षमता पर जोर दिया जा रहा है, वहां 'अहिंसक समाज-व्यवस्था पर आधारित आत्म-निर्भर ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था' के विकास में सभी प्रकार की हिंसा को सावधानी-पूर्वक समाप्त करने की बात निहित है। अहिंसा का अर्थ केवल लड़ाई अथवा एक-दूसरे से झगड़ना मात्र नहीं है। हिंसा कई प्रकार की होती है। उदाहरण के लिए धनवान द्वारा गरीब का शोषण, शहरों द्वारा ग्रामों का शोषण आदि हिंसा के ही प्रकार हैं। मानव पर मशीन का अधिकार भी हिंसा है, क्योंकि यह उसका व्यक्तित्व मिटा देती है और उसे मशीन का पुर्जा मात्र बना देती है। इसके अतिरिक्त मशीन-प्रधान उद्योगों में अनेक प्रकार के शोषण के लिए स्थान है। प्रसिद्ध दार्शनिक बर्ट्रेण्ड रसल कहते हैं कि "मशीन मानव की शक्ति को बहुत अधिक बढ़ा देती है। आप शक्ति के इस्तेमाल पर कितना ही नियंत्रण क्यों न रखना चाहें, लेकिन ऐसा कर सकना प्रायः असंभव है।" हिरोशिमा और नागासाकी पर फेंके गये अणु बम इस बात के प्रत्यक्ष प्रमाण हैं, यद्यपि उनका फेंकना कोई जरूरी नहीं था। श्री चक्रवर्ती राजगोपालाचारी द्वारा 'हिन्दू' को लिखे गए १५ अप्रैल सन् १९५५ के पत्र में फ्लीट एडमिरल विलियम डी० लीबे (राष्ट्रपति रुजवेल्ट और राष्ट्रपति ट्रूमैन के चीफ् ऑव् स्टाफ) के 'आय वाज देयर' (मैं वहां था) से उद्धृत निम्न वंश उपर्युक्त कथन की पुष्टि करते हैं —

> "मेरी राय में जापान के विरुद्ध हमारी लड़ाई में हिरोशिमा और नागासाकी पर फेंके गये नृशंस शस्त्र कोई बहुत बड़े सहायक नहीं थे; परम्परागत हथियारों से बमवारी करने तथा सफलतापूर्वक सामुद्रिक घेरा-बंदी के कारण जापान पहले से ही पराजित हो चुका था और हथियार डालने को तैयार था। मेरी प्रतिक्रिया यह है कि वैज्ञानिक तथा अन्य व्यक्ति परीक्षण करना

चाहते थे; क्योंकि इनके बनाने पर बहुत बड़ी रकम खर्च हुई थी।"

श्री चक्रवर्ती राजगोपालाचारी के कथनानुसार अणुबमों का अनावश्यक प्रयोग विज्ञान की दबाई न जा सकनेवाली उत्कट इच्छा के कारण था, जो स्वयं का प्रदर्शन करना चाहती थी और जिसके लिए चारों ओर से रास्ता साफ था। श्री राजगोपालाचारी आगे लिखते हैं :

"जो विज्ञान के क्षेत्र में रहे हैं और जिन्होंने विज्ञान तथा अनुसंधान के क्षेत्र में काम किया है, वे उस उत्कट, इच्छा की गहनता समझ सकते हैं, जिसका मैंने जिक्र किया है . . .विज्ञान में अनुसंधान के साथ-साथ उतनी ही शक्तिशाली एक दूसरी बात भी चलती है। जिस चीज की खोज कर ली गई है, उसका प्रत्यक्ष प्रदर्शन करने की भूख वह दूसरी शक्तिशाली बात है।"

विज्ञान की प्रकृति इस प्रकार की होने की वजह से वैज्ञानिक खोजों का समीचीन उपयोग करने का सवाल अप्रासंगिक बन जाता है। यह हमें उस प्राचीन मुनि की कहानी की याद दिलाता है, जिसे दैव संयोग से तलवार मिल जाने पर उसका प्रयोग करने के लिए वह इतना लालायित हो गया कि आगे चलकर वह नर-संहारक बन गया। इसमें कोई आश्चर्य नहीं कि उद्योगों में विवेक-हीन ढंग से मशीनों का प्रयोग करना हमें नृशंस औद्योगीकरण की ओर प्रवृत्त कर सकता है और जिसके साथ उसमें निहित सभी प्रकार का शोषण भी फैल सकता है। इसीलिए गांधीजी ने इस बात पर जोर दिया कि केवल उन्हीं उत्पादन तरीकों को काम में लाया जाय, जो अहिंसक समाज-रचना में सहायक हों, उसके अनुकूल पड़ें।

निष्ठावान अहिंसक जीवन-यापन किन्हीं महान् आत्माओं का दिवास्वप्न मात्र नहीं है। मानव के अस्तित्व के लिए यह एक 'अनिवार्यता' बन गया है। मानवता की वर्तमान अवस्था उसके आर्थिक तथा राजनैतिक जीवन में अहिंसक मार्ग की आवश्यकता व अनिवार्यता प्रस्तुत करती है। महात्मा गांधी ने इस दिशा में पहले से ही मार्ग प्रशस्त कर दिया है। श्री स्टेनली जॉन्स के शब्दों में महात्मा गांधी अपने चरखे के साथ सही दिशा में सही कदम हैं। अपनी पुस्तक "महात्मा गांधी : एन इन्टरप्रिटेशन" (महात्मा गांधी: एक अध्ययन) में वह कहते हैं :

"शीघ्रगामी व क्रूर औद्योगीकरण के मार्ग के बीच बैठकर महात्मा मुनाफे के लालच में आगे बढ़नेवाले लोगों की भीड़ से कहता है : 'करोड़पति नहीं पैदा करना, महल व गंदे-नीचे झोपड़े भी नहीं बनाना, और न बड़े पैमाने पर उत्पादन कर बड़े पैमाने पर गरीबी फैलाना। विकेन्द्रीकरण कर और यह लाभ, धन-सम्पत्ति घरों में वापस पहुंचाना।' इस विरोध में एक महानता है। महात्मा और उसका चरखा औद्योगिक आन्दोलन के अन्तरात्मा होंगे। उसकी दुखी, आर्द्र आंखें बड़े मुनाफे की ओर देखेंगी और धन-लोलुप व्यक्ति यह जान जायंगे कि उन्होंने यह मुनाफा गरीबों का खून चूसकर प्राप्त किया है। ये आंखें उन्हें ये बातें बता देंगी।"

स्टैनली जॉन्स के ये शब्द हम सभीके लिए समय पर जाग उठने का आवाहन करते हैं। हम विज्ञान द्वारा प्रस्तुत अनेक प्रकार के आराम की ओर झुक जानेवाले हैं और मानव की सहज कमजोरी को भूल जाते हैं; जिसे सामान्यतः विज्ञान प्रोत्साहन देता है। वैमनस्य, लालच, प्रतिस्पर्धा आदि कमजोरियां हैं, जो स्वयं इतनी शक्तिशाली बन सकती हैं कि समृद्धि में भी गरीबी की कालिमा ला सकती हैं। फिर रास्ता क्या है ? इसका उत्तर 'महात्मा गांधी' हैं। अहिंसक जीवन-मार्ग अपनाने और गरीबों के प्रति सहानुभूतिपूर्ण दृष्टिकोण रखने से हम सही दिशा में बढ़ सकते हैं। बरट्रेण्ड रसल के अनुसार सहानुभूति और यह भावना कि मनुष्य-मात्र खुशहाल रहे, कुछ ऐसी बातें हैं, जिनकी हमारे वर्तमान युग को आवश्यकता है।

—खादी-ग्रामोद्योग से

जिस बात को आप सच मानते हैं, वही करें। बाद में जगत भी उसको सच ही कहेगा।

—महात्मा गांधी

गांधी और महर्षि पतञ्जलि

●● लक्ष्मीविलास डबराल

गांधी अब एक व्यक्ति नहीं, जीवन का एक मार्ग है, जिस मार्ग पर चलकर हम भौतिक जीवन की तीव्र निन्दा पाते हैं। गांधी शब्द में ही आत्मोदय, सन्तोष और भारतीय दर्शन की जीवन्मुक्ति परिभाषा के स्पष्ट संकेत हैं। गांधी जीवन और जगत् के लिए हैं। वह ऐसे संदेश हैं, जिस संदेश का पालन कल्याण है और उल्लंघन विनाश।

'मोहनदास को गांधीत्व की सिद्धि के प्रेरक तत्व कहां प्राप्त हुए ?'—इस प्रश्न के समाधान को खोजने सभी पश्चिम की ओर गये। 'अण्टु द लास्ट' का लेखक रस्किन तथा सन्त ताल्स्ताय ने गांधीजी को प्रभावित अवश्य किया था; लेकिन प्रभावित करनेवाला व्यक्ति सबल प्रेरणा-स्रोत भी बन जाय—यह सार्वकालिक सत्य नहीं। केवल प्रभावित होना, प्रशंसा करने का एक स्वरूप मात्र है।

यह तो सभी मानते हैं कि भविष्य के आत्मिक सुख के लिए वर्तमान की नीति तथा व्यवहारों को सुरक्षित रखते हुए गांधीजी शुद्ध प्राचीनतावादी थे। इसलिए गांधीजी के व्यक्तित्व-निर्माण के प्रेरणास्रोत यदि प्राचीन भारत में ही खोजे जायं तो अधिक न्यायसंगत होगा।

योगसूत्र के प्रणेता महर्षि पतंजलि ही गांधीजी के वास्तविक प्रेरणा-स्रोत थे—ऐसा मेरा विश्वास है। सभी भारतीय दर्शन योग पर आधारित हैं, क्योंकि सभी 'धर्मों' के आदि साधन शरीर तथा मन को नियमित तथा नियंत्रित करना ही 'योगदर्शन' का मूल उद्देश्य है। योग शब्द 'युज्' धातु से बना है, जिसका अर्थ है 'जोड़ना'। योग-दर्शन शारीरिक नियमितता के आधार पर ही जीवात्मा को परमात्मा से जोड़ता है और जहांपर यह जोड़ है, वहांपर हम अब गांधीजी को स्पष्ट देखते हैं।

गांधीजी 'सार-सार को गहकर थोथा उड़ा देने' वाली प्रवृत्ति के आधुनिक युग-पुरुष थे। 'योग-सूत्र' से चुनकर उन्होंने 'यम' और 'नियम' लिया और अपने आदर्श जीवन को इन्हीं सांचों में ढालने का प्रयत्न किया। 'यम' और 'नियम' को लेना जहां गांधीजी का प्राचीनतावाद है, वहां केवल इन्हीं दो को लेकर अन्यान्य कष्टसाध्य सूत्रों का परिहार करना उनका आधुनिकतावाद भी है। शायद अष्टांग मार्ग के अन्य साधन—आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि बीसवीं सदी की राजनैतिक उथल-पुथलों में खरे न उतरते।

'यम क्या है ?—महर्षि पतंजलि लिखते हैं, "**अहिंसा-सत्यास्तेय ब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः।**" १. अहिंसा (प्राणीमात्र को कष्ट न पहुंचाना), २. सत्य (झूठ न बोलना), ३. अस्तेय (चोरी न करना), ४. ब्रह्मचर्य (इन्द्रिय-निग्रह करना) तथा ५. अपरिग्रह (अनावश्यक वस्तु न लेना)—इन पांचों का समुच्चय यम है।

'नियम'—"**शौचसन्तोषतपः स्वाध्यायेश्वरप्राणिधानानि नियमाः।**" अर्थात्, १. शौच (शारीरिक तथा आन्तरिक शुद्धि), २. संतोष (लोभ न करना), ३. तप (शीतातप-साधन या शरीर को कष्टसहिष्णु बनाना), ४. स्वाध्याय (नियमपूर्वक धार्मिक ग्रंथों का मनन करना), ५. ईश्वर-प्रणिधान (ईश्वर का ध्यान करना)—ये पांचों साधन 'नियम' के अन्तर्गत आते हैं।

इन दोनों साधनों को ही गांधीजी ने अपने जीवन की संहिता (कोड ऑव् मॉरल ड्यूटीज) समझकर उनका विधिवत् पालन किया। रक्तहीन-सफल-स्वातंत्र्य संग्राम में अहिंसा का राजनैतिक रूप अपने निखार पर आया है। फिर 'हिन्दु-मुस्लिम, सिख-ईसाई' आपस में हैं भाई-भाई' मंत्र में साम्प्रदायिक अथवा सामाजिक हिंसा का निषेध है। सत्यनिष्ठा तो शायद वह युधिष्ठिर से भी आगे की रखते थे। '**परद्रव्येषु लोष्ठवत्**' दूसरे के धन को मिट्टी के समान समझो यह 'अस्तेयवाद' की प्रथम प्रेरणा है। गांधीजी अपने वन तथा वसनहीन जीवन में पूर्णतः सन्तुष्ट होकर इसी 'वाद' का समर्थन करते थे।

ब्रह्मचर्य तो गांधीजी के जीवन का एक अविच्छेद्य अंग बन गया था। मूलतः यही गांधीजी की सफलताओं का रहस्य भी था। अपरिग्रह का रूप गांधीजी में यह है कि उन्होंने वही कर्म किये, जिनकी आवश्यकता सात्विक जीवन को होती है।

शारीरिक तथा मानसिक पवित्रता को लेकर गांधी स्वयं शुद्धि के पर्याय बन गये (शौच)। मन में संतोष तथा होठों में मुदिताभाव लेकर वह तपस्वियों की तरह शीतातप साधना करने में समर्थ हुए (संतोष तथा तप)। नियमित रूप से उन्होंने गीता तथा उपनिषदों का पाठ किया और उनके आदर्शों को अपने जीवन में उतारा (स्वाध्याय)। अन्त में ईश्वर-प्रणिधान उनके जीवन में दो रूपों में आया—एक व्यक्तिगत, दूसरा समाजगत। इन 'द्विविध रूपों' का कारण यह था कि उनकी 'सन्तता' के आगे 'राजनैतिक' लगा हुआ है, अर्थात् वे राजनैतिक सन्त थे। जहां व्यक्तिगत ध्यान है, वहां गौतम का-सा वह एकान्त ध्यान है। जब यही ध्यान सामाजिक बना तब बिड़ला-मन्दिर की सायंकालीन प्रार्थना सामने आ गई—

रघुपति राघव राजा राम,
पतित-पावन सीता-राम।
ईश्वर अल्लाह तेरे नाम,
सबको सन्मति दे भगवान्!

महर्षि पतंजलि का 'यमनियमवाला' मार्ग ही बीसवीं सदी में गांधी-मार्ग में रूपान्तरित हुआ। प्रेरक पतंजलि थे, प्रेरणा यम-नियम और प्रेरित हुए गांधीजी। प्रेरित का चरम विकास वहां होता है जहां वह प्रेरणा के बल पर स्वयं दूसरों के लिए आदर्श बन जाय। गांधीजी इसी विकास को प्राप्त हुए। उनकी व्यावहारिकता ही इसका एकमात्र कारण है।

उद्‌बोधन !

जगदीशचन्द्र शर्मा

दिव्ये! दमकाओ दीप-थाल!
दीपित हो मेरा अंतराल!

मेरी श्रद्धा की सज्जा में
भर दो जीवन का नया रंग;
जिस पर अतीव तरुणाई से
नाचे आकर्षक नव-उमंग;

खिल जाय ऋतुपति का अनन्त
प्रेरणा - पुंज वैभव - विशाल!

मधुहासमयी मुस्कानों से
बिखरे नव-जागृति का पराग;
अंतस के अवयव पुलक-पुलक
उबटें मलयानिल-अंगराग;
निखरे आशाओं से गुंथित
लावण्यवती प्रिय - विजय माल!

मैं आतुर हूं, तत्परता से
गाऊं प्राची का अरुण-गीत;
जिसके अनुमोदन में सम्प्रति
रच दो यह छवि वर्णनातीत—

दिव्ये! दमकाओ दीप-थाल!
दीपित हो मेरा अंतराल!

तेलुगु काव्य में बापू

●● राघवराव

भारतीय राजनैतिक आकाश में बापू के उदय को सचमुच एक चमत्कार ही समझना चाहिए। उनके आगमन से न केवल स्वराज्य आन्दोलन का रंग-ढंग बदला, अपितु सत्य और अहिंसा के सिद्धान्तों के समावेश के कारण भारतीय विचार-धारा में ही आमूल परिवर्तन हुआ।

यह वह समय था जबकि देश पराधीनता की शृंखलाओं में जकड़ा हुआ था, समाज अनेक कुरीतियों व कुप्रथाओं से ग्रसित था, संस्कृति शुष्क परंपराओं व नीरस आड़म्बरों से आवेष्टित थी और साहित्य, समाज से कोसों दूर, निर्जीव-सा था। ऐसे समय में आवश्यकता थी एक ऐसे युग-प्रवर्तक की जो चारों ओर के इस तिमिराच्छन्न वातावरण को चीरकर प्रकाश की किरणें फैला सकें। सचमुच बापू एक ऐसे आलोक-स्तंभ थे, जिनके व्यक्तित्व व सिद्धांतों से समूचा देश आलोड़ित हुआ, आलोकित हुआ।

उनके द्वारा चलाये गए स्वतंत्रता-आंदोलन की लहरें आंन्ध्र में भी उत्तुंग उठीं। हजारों नर-नारी उसमें कूद पड़े। कई सुप्रसिद्ध कवियों ने उस समय न केवल देशभक्ति से परिपूर्ण अनेक गीत रचे, अपितु स्वयं स्वराज्य-आंदोलन में भाग लेकर जेल की कठोर यातनाएं भोगीं।

प्रथम महायुद्ध समाप्त हुआ। अंग्रेजों के प्रति बापू का विश्वास अभी पूर्णरूप से चकनाचूर नहीं हुआ था। इस बीच में रौलट एक्ट और पंजाब का दारुण हत्याकांड शुरू हुए, जैसे नवनीत के बदले उन्होंने हमें चूना और गारा दिया हो। इससे जनता उद्विग्न हो उठी, किन्तु स्थिति ऐसी थी कि वह मुक्त-कंठ से रो भी नहीं सकती थी। ऐसे संकट के समय तेलुगु के देशभक्त कवि स्व० गरिमेल्ला ने जो सिंहनाद किया वह मार्के का है :—

नूटनलबदिनालुगु नोटिकि तगि लिंचि
माटला डवद्दंटाडु, मम्मु
पाट पा डवद्दंटाडु, टोपी
तीसि वीपुन बादुताडु
मा को द्दुई तेल्ल दोरतनमु
दंडालंडोय् बाबू, मेंमुंडलेमंडोस्।

अर्थात्

एक सौ चवालीस मुंह को लगाकर
कहता है हमसे बात मत करो
गीत मत गाओ, टोपी
निकाल, कमर तोड़ देता है
हमें नहीं चाहिए गोरों का यह राज्य
बाबू नमस्ते,
हम नहीं रह सकते॥

गांधीजी का व्यक्तित्व भी कम प्रभावशाली नहीं था। उनका रहन-सहन, उनकी वेश-भूषा व शक्ल-सूरत अजीब ढंग की थी। उस ओर आकृष्ट होकर देशभक्त कवि स्व० बसवराजु अप्पाराव ने, सरल किन्तु प्रभावोत्पादक शैली में, बापू के चित्र को किस सुन्दर रीति से चित्रित किया है, देखिये :

कोल्लाइ गट्टिते नेमी
मा गान्धी कोमटै पुट्टिते नेमी
वेन्नपूसा मनसु कन्नतल्ली प्रेम
पंडंटि मोमु पै ब्रह्म तेजस्सु॥

अर्थात्

अंगोछा पहने तो क्या हमारे गान्धी
वणिक कुल में जन्मे तो क्या ?
मन माखन जैसा, मां का सा प्यार
परिपक्व मुख पर ब्रह्म तेज॥

आगे गांधीजी की चुटिया को लेकर वह कहते हैं —

नालुगु परकल पिलक नाट्यमाडे पिलक
नालुगु वेदाल नाण्यमेंरिगिन पिलक
बोसिनोर्विप्पिते मुत्याल तोलकरी
चिरुनव्वु नव्विते वरहाल वर्षमे
चकचका नडिस्तेनु जगति कंपिचेनु
पलुकु पलिकितेनु ब्रह्मवा वकेनु

अर्थात्

चार बालों की चुटिया,
नाचती चुटिया,

चारों वेदों का सार जानती चुटिया
पोपला मुंह खोलने पर
मोतियों की बौछार
मुस्कुराये तो फिर
रत्नों की बारिश खुलकर
सर सर चलते तो
जग कंप जाता
उनके दो बोल, अनमोल, ब्रह्म के बोल।

चरखा गांधीजी का मानों चक्र ही था। गांव-गांव में और घर-घर में उसके प्रयोग के द्वारा उन्होंने विदेशी पंछी के पंख जैसे उड़ा ही दिये। गांधी के चरखे की ओर ध्यान देकर कवि कोंडय्या ने कहा है :

रम्मंदि राट्नमु
मिम्मल्नि जिम्मल्नि चेर रम्मंदि सेवाग्राम
रम्मंदि राट्नमु
ई जन्म ई ब्रतुकु लिवियै कावंदि
पोदामु रम्मंदि ए त्रोववेंटो,
रम्मंदि राट्नमु।

अर्थात्

चरखा तुमको बुलाता है
तुमको बुलाता है सेवाग्राम
चरखा तुम को बुलाता है
कहता है यह जन्म यह जीवन यही नहीं सच्चा
कहता है, चलो किसी पथ पर
चरखा तुमको बुलाता है।

दरअसल गांधीजी एक अद्भुत व्यक्ति थे और उनकी विचार-धारा भी विलक्षण प्रकार की थी। उनकी अहिंसा अजीब ढंग की थी। क्या शिक्षित व अशिक्षित, क्या किसान व मजदूर, क्या स्त्री-पुरुष, व बच्चे-बूढ़े, ब्राह्मण-शूद्र, हिन्दू-मुसलमान--सभी जाति, धर्म व वर्ग के लोग उनके अनुयायी थें। इसीलिए बापू को "पगला' संबोधित कर श्री सीतारा-मांजनेय शास्त्री कहते हैं --

आयन गायित्रिनि वोदिलिन कर्मिष्ठि
वांछलु तीरनि स्वेच्छा ज्ञानी
गुल्लोकन्ना वेल्लनि भक्तुडु
नायनलो अद्वैतपु चिटारकोम्मन
अनेकत्वपु आभासं
ब्रह्मचर्यपु गार्हस्थ्यं
वनप्रस्थमु लो संन्यासं
कुलालन्निटि कलगापुलगं
आयनिकि शत्रुवु कानि मित्रुडु लेडु
अइना, आयन अजातशत्रु
अंदुकने मनुषुलिक कावालिमा पिच्चि बाबू॥

अर्थात्

वह, गायत्री को परित्यक्त
कर्मिष्ठि, अद्भुत
अपूर्ण वांछाओं के स्वेच्छा ज्ञानी
परम भक्त, पर मंदिरों के दर्शनों से दूर
अद्वैत के शिखर पर, उनमें अनेकता का भास्वर
कल, कल बहती कर्म, ज्ञान भक्ति की
पावन मन्दाकिनी
ब्रह्मचर्य का गार्हस्थ्य
वानप्रस्थ में सन्यास
सब कुलों का अजीब मेल-जोल।
हर कोई उनका शत्रु, कोई नहीं उनका मित्र
पर, फिर भी, वे अजातशत्रु
मानवता के परम मित्र, पगला बापू।

भारतवर्ष के लिए बापू के अमर संदेश के बारे में, तेलुगु के प्रख्यात प्रगतिशील कवि श्री० श्री० ने बापू के जन्म-दिन के अवसर पर कहा :

पोलंलो हलंतो रेतु निलुस्ताडिव्वाल
प्रपंचान्नि पीडिंचिन पाडु कलनि
प्रभात नीरजालंलो वेदककु
उत्पातं वेनुकंजवेसिंदि
उत्साहं उत्सवं नेडु
अवनीतात पूर्ण गर्भला
आशियाखंडं उप्पोंगिंदि
नवप्रपंच योनिद्वारं
भारतं मेलकुंटोंदि
जैस्तं मन दुखालकु वाइदावेद्दां
असौकर्यालु मूटकट्टि अवतल पारेद्दां

(शेष पृष्ठ ३७९ पर)

गांधीजी का बानिया

●● मनसुखा

वणज करे सो बानिया

जा को काम ताको साजे, और करे तो मूरख बाजे।

कम्युनिस्ट विचार-धारा ने एक बहुत बड़ी भूल की। धनोपार्जन के लिए, जो एक विशेष प्रकार की योग्यता-क्षमता होती है, उसको स्वीकृति न दी। न ही उसका उचित मूल्य या महत्व ही स्वीकार किया। परंतु, इससे कोई इन्कार नहीं कर सकता कि पैसा कमाना, हरेक के लिए मुमकिन नहीं, न ही उसका संभालकर रखना, या पूंजी के रूप में और भी धनोपार्जन के लिए काम में लाना। हम वैश्य उसको कहेंगे, जो यह धन-संबंधी आवश्यक काम बखूबी कर पाये। इतना ही नहीं, बल्कि 'माया का खेल' मुख्य तौर पर जिसका शौक 'स्वाभाविक रूचि' हो।

वैश्य बुद्धि के अलावा और कोई अत्यधिक धनोपार्जन या अतुल धन-संगृह न कर पायेगा, न ही किफायतशारी का ख्याल करके, मुनाफा बढ़ाने के लिए, जहां-तहां अक्ल से तरकीब सोच, कोई दूसरा, इतना प्रयत्नशील हो, उत्साह ही दिखला सकता है।

वेद में वैश्य-बुद्धि को 'विराट् पुरुष' का उदर कहा गया। उसका काम भी क्षत्रिय (रक्षा), ब्राह्मण (ज्ञान) और शूद्र (सेवा) की तरह आवश्यक ही है और एक विशेष मूल्य तथा महत्व का है। उसके काम को बन्द करना नामुमकिन है। उसको रोकना या उसमें बाधा डालना सर्वहित के विरुद्ध है।

परन्तु, आवश्यकता सिर्फ एक बात की है। वैश्य लोभी न हो जाय। कहीं वे बेईमानी से तो धनोपार्जन नहीं कर रहे? या संगृहत धन के किन्हीं पाशविक कार्यों में इस्तेमाल कर रहे हों, अथवा, आवश्यक जनहित-कार्यों के लिए अपना धन न देना चाहें। यदि ऐसी बातें हों तो जनसमुदाय के सर्वहित के लिए, राज्य-सत्ता उनके व्यवहार और अधिकारों में हस्तक्षेप करे। अन्यथा, वैश्य-बुद्धि को खुली छूट होनी चाहिए।

कहोगे, आज तो वे वैश्य नहीं हैं, जिनके बारे में उपनिषद में चर्चा है, कि राजा कहता है 'मेरे राज्य में कोई धनी लोभी नहीं।' मैं मानता हूं। परंतु क्या वैश्य-बुद्धि की विकृति देख उसके शुद्ध रूप और महत्वपूर्ण कार्य की अवहेलना या विरोध करने से काम चलेगा? यदि नहीं, तो हम समझ लें कि बनिये बिना हमारा गुजारा नहीं और उसे बेहतर से बेहतर बनाने की कोशिश करें, ताकि वह हमारी ज्यादा-से-ज्यादा सेवा कर पाये, उसका काम कोई दूसरा नहीं कर सकता। करेगा तो मूरख बनेगा। क्योंकि, बनाने से ज्यादा काम बिगाड़ देगा।

और गांधी का बनिया ऐसा ही तो है—जो ईमानदारी से धन कमाये, फिर उसे सत्कार्य में लगाये। जो धन को अपने-आपमें साध्य न मानकर जनता-जनार्दन के हितार्थ उपयोग करे। उसकी देन क्या कुछ कम होगी?

हमारी धर्म-संस्कृति ने असली वैश्य को 'दाता' की उपाधि प्रदान की—सो यूं ही नहीं। आज यदि असली वैश्य नहीं मिलते या कम हैं, तो इसमें कसूर वैश्य-बुद्धि का नहीं, बल्कि उसकी विकृति का है। विकृत और अशुद्ध चीज हरेक ही बुरी होती है। क्या अन्यायी राजा, जो रक्षक की बजाय भक्षक बन जाय, कुछ कम बुरा है?

आवश्यकता वैश्य-बुद्धि को मिटाने की नहीं, बल्कि उसको शुद्ध बनाने की है।

●

राम और रावण भलाई और बुराई की ताकतों के बीच हमेशा चलनेवाली लड़ाई के प्रतीक हैं।

—महात्मा गांधी

गांधी-वाक्यामृत

माईदयाल जैन

१. मौन

१. सत्य के शोधक को चुप रहना चाहिए।

२. जहां बोलने के बारे में शंका हो, वहां मौन रहना ही सत्यव्रती का कर्तव्य है।

३. यदि सब लोग सारा दिन न सही, सुविधानुसार कुछ घंटे या कुछ मिनट भी मौन ले सकें और अन्तर्मुख आत्म-मंथन करें, तो कितने ही पापों से बच सकते हैं।

४. मौन का अर्थ न बोलना, न इशारा करना, न देखना, न सुनना, न खाना, न पीना अर्थात् एकान्त में रहकर अन्तर्ध्यान होना। मौन के दिन ईश्वर ध्यान होना चाहिए और मौन का हेतु अन्तर्ध्यान होना है।

२. प्रेम

१. शुद्ध प्रेम के लिए कुछ भी असंभव नहीं है।

२. प्रेम किन बंधनों को नहीं तोड़ सकता?

३. जहां प्रेम है वहां जीवन है, द्वेष नाश की ओर ले जाता है।

४. प्रीति कोई कानून से पैदा होनेवाली अथवा नियमों में रहनेवाली वस्तु नहीं है।

५. प्रेम सत्य का सक्रिय रूप है।

३. भूल मानना

१. भूल सुधार करना मानवता है, परन्तु भूल सुधार न करना राक्षसीपन है।

२. तमाम उन्नति गलतियों और उनके सुधार के द्वारा प्राप्त होती है।

३. भूल करने के अधिकार का अर्थ प्रयोगों को आजमाने की स्वाधीनता है और यह समस्त उन्नति की विश्व-व्यापी शर्त है।

४. कोई अपयश भूल को मानने से इन्कार करने की अपेक्षा कड़ा नहीं है।

४. रामनाथ

१. मेरी कल्पना के रामनाम में और जंतर-मंतर में कोई संबंध नहीं है।

२. हृदय से रामनाम लेने का अर्थ एक अतुलनीय सत्ता से सहायता प्राप्त करना है। उस सत्ता में सब प्रकार की पीड़ा मिटाने की सामर्थ्य है।

३. रामनाम के बिना चित्त-शुद्धि नहीं हो सकती।

४. रामनाम का एक क़ानून यह है कि कुदरत के नियम न टूटने चाहिए।

५. निस्वार्थता

१. निस्वार्थ व्यवहार से अत्यंत कारगर नतीजा निकलेगा।

२. स्वार्थ का त्याग करने का अर्थ है, अहंता, मेरापन, छोड़ना।

३. जिस मनुष्य की स्वार्थ-त्याग की इच्छा अपनी जाति से आगे नहीं बढ़ती, वह अपने-आपको और अपनी जाति को स्वार्थी बना देता है।

६. सेवा

१. सेवा के दाम नहीं लिये जा सकते।

२. यह शरीर हमें इसलिए दिया गया है कि उससे हम सारी सृष्टि की सेवा कर सकें।

३. निष्काम सेवा परोपकार नहीं, अपना उपकार है।

४. जो अपने मानव-बांधवों की सेवा करता है, उसके हृदय में निवास करने की भगवान स्वयं इच्छा करते हैं।

५. सेवा तबतक संभव नहीं, जबतक उसका मूल प्रेम या अहिंसा न हो।

७. त्याग

१. त्याग के क्षेत्र की सीमा ही नहीं है।

२. त्याग का अर्थ संसार से भागकर अरण्यवास करना नहीं, बल्कि जीवन की समस्त प्रवृत्तियों में त्याग की भावना का होना है।

३. त्याग की प्राप्ति के लिए सम्यक् ज्ञान जरूरी है।

४. जिस त्याग से पीड़ा होती है, उसकी पवित्रता नष्ट हो जाती है और अधिक जोर पड़ने पर वह खतम हो जाती है।

८. समालोचना

१. एक-दूसरे के दोष देखने में किसीका लाभ नहीं है।

२. कभी-कभी हम अपने विरोधी के द्वारा ही ऊपर चढ़ते हैं।

३. आलोचना करने के अधिकार के लिए हममें स्पष्ट समझ और पूरी सहिष्णुता की प्रेम-शक्ति होनी चाहिए।

४. जगत की सारी आलोचना को सोने के कांटे से न तोलकर लोहे या पत्थर के कांटे का उपयोग करना चाहिए। उसमें मन-आधे-मन का तो हिसाब तक नहीं होता।

९. स्वराज

१. यदि जनता स्वराज-सरकार की तरफ़ जीवन के हरेक काम के नियंत्रण के लिए देखेगी, तो वह एक खेदपूर्ण कार्य हो जायगा।

२. स्वराज्य एक पवित्र शब्द है। वह एक वैदिक शब्द है, जिसका अर्थ आत्मशासन और आत्म-संयम है।

१०. राजनीति

१. वास्तविक राजनीति कोई खेल नहीं है।

२. जो चीज राजनैतिक है, उसमें सामाजिक और धार्मिक तत्व हैं।

३. जैसा नेता करेंगे, जनता बदले में खुशी से वैसा ही करेगी।

४. मेरी दृष्टि में राजनैतिक सत्ता कोई साध्य नहीं है, परन्तु जीवन के प्रत्येक विभाग में लोगों के लिए अपनी हालत सुधार सकने का एक साधन है।

(पृष्ठ ३७६ का शेष)

इंकोमाटु वाग्वादं इंकोनाडु कोट्लाट
इव्वालमात्रं आह्लादं तुरुफासु ॥

अर्थात्

नाचेंगे किसान खेतों में
हाथों में हल धरे
पापी पंकिल स्वप्नों को
जग पीड़ित था जिनसे
खोजो मत, उषा के कुहासे में
अब मन्द पड़ा उत्पात
अब बरस पड़ा उत्साह
उमड़ आया एशिया सारा
भू मां का पूर्ण गर्भ जैसा
नव जग का मुख द्वार
जाग रहा है भारत
बन्धु, भुला दो अपने दुखों को
फेंक दो, गठरी बांध असुविधाओं को
फिर कभी वाग्विवाद
फिर कभी लूट-पाट
आज तो आह्लाद, आनन्द
आज हमारा सितारा बुलन्द ॥

सचमुच बापू की परिपुष्ट विचारधारा ने भारतीय जीवन को ही झकझोरा है। उससे प्रेरणा ग्रहण कर न जाने कितने कवियों ने गीत गाये, कितने चित्रकारों ने देशभक्ति से परिपूर्ण चित्र खींचे, कितने गायकों ने मुक्त कंठों से उनके राग अलापे हैं। सच तो यह है कि उनके आदर्शों का साहित्य पर कितना प्रभाव पड़ा है और उनके सिद्धान्तों ने हमारे जीवन को कितना आलोक प्रदान किया है इसका ठीक-ठीक मूल्यांकन करना सरल नहीं है।

हमारी धरोहर

सुशील

पतिव्रता का प्रभाव

महर्षि भृगु अपने समय के महान् तपस्वी थे। वह ब्रह्मदेव के पुत्र थे और उनके पुत्र का नाम था च्यवन। च्यवन भी परम तपस्वी थे। पुष्कर क्षेत्र में उन्होंने घोर तपस्या आरंभ की। युग बीत गये। उनका शरीर धूल से भर गया। दीमकों के ढेर के भीतर उनकी देह छिपने लगी। उनकी गरदन में सांप लटकने लगे। उनकी जटाओं में पक्षियों ने घोंसले बना लिये। दूर से देखने पर ऐसा लगता था कि वहां कोई दीमकों का टीला है।

एक बार महाराज शर्याति मृगया की कामना से पुष्कर क्षेत्र में आये। उनके साथ उनका परिवार भी था। उसमें उनकी तरुणी कन्या सुकन्या भी थी। वह जैसी सुन्दर थी वैसी ही बुद्धिमती भी थी। पिता की बड़ी लाड़ली थी। वन की शोभा निरखते हुए वह उस ओर जा निकली, जहां च्यवन ऋषि कठिन तपस्या कर रहे थे। राजा को यह बात मालूम थी और उन्होंने आदेश दिया था कि कोई व्यक्ति उनकी तपस्या में विघ्न न डाले। इसलिए कोई भी उधर नहीं जाता था। लेकिन सुकन्या तो राजा की लाड़ली थी। ऋषि को इस अवस्था में देखकर उसके मन में बहुत कौतूहल हुआ। उसके साथ के बालकों ने महर्षि को बूढ़ा और निकम्मा जानकर बहुत परेशान किया। ऋषि क्रुद्ध हो उठे। राजा ने यह सुना तो तुरन्त वहां आये। उन्होंने तपोवृद्ध और वयोवृद्ध च्यवन ऋषि को देखा तो सिर झुकाकर प्रणाम किया और बालकों के अपराध की क्षमा मांगी। तपस्वी का हृदय कोमल था। उसने एक शर्त पर राजा को क्षमा कर दिया और वह शर्त यह थी कि सुकन्या का विवाह उनके साथ कर दिया जाय।

राजा यह सुनकर बहुत दुखी हुए। लेकिन यह प्रस्ताव उन्हें स्वीकार करना ही पड़ा। सुकन्या स्वयं भी इसके लिए प्रस्तुत थी। उसने सहर्ष महर्षि के साथ विवाह करना स्वीकार कर लिया। यही नहीं, राजा के चले जाने पर वह बहुत लगन से वृद्ध महर्षि की सेवा करने लगी। आश्रम में जैसे जीवन लौट आया। देखते-देखते चारों ओर उसका यश फैल गया।

एक बार अश्विनीकुमार उस आश्रम में आ निकले। उन्होंने सुन्दर सुकन्या को देखा और उसका परिचय पाकर कहा, "अरे, तुम क्या इस आश्रम के योग्य हो! तुम जैसी सुन्दरी को तो किसी राजा से विवाह करना चाहिए था। यह सफेदा बालोंवाला और दन्तहीन मुखवाला तुम्हारा पति होने के योग्य नहीं है। सो तुम हममें से किसी एक का वरण कर जीवन को आनन्द से बिताओ।" सुकन्या अश्विनी-कुमारों को पहचानती थी। बोली, "भारतीय ललनाएं रूप का नहीं, हृदय का व्यापार करती हैं। परिणय ही पति-पत्नी के हृदय को बांधनेवाला है। पति की सेवा मेरा परम धर्म है।"

अश्विनीकुमार तो परीक्षा लेने आये थे। राजकुमारी की बातें सुनकर उन्हें बहुत सन्तोष हुआ। वे देवताओं के वैद्य थे। उन्होंने च्यवन के साथ पुष्कर में गोता मारा। बाहर निकलते ही सबने आश्चर्य से देखा—दो के स्थान पर तीन अश्विनी कुमार थे। एक जैसे सुन्दर और एक जैसे सुहावने। लेकिन सुकन्या तो पतिव्रता थी। अपने पति को पहचानने में उसे देर नहीं लगी। आश्रम में चारों ओर आनन्द बहने लगा।

च्यवन ऋषि ने अश्विनीकुमारों के इस उपकार को गद्गद होकर स्वीकार किया और उन्होंने मन-ही-मन प्रतिज्ञा की कि इस उपकार के बदले में अश्विनी कुमारों को सोमरस पीने का अधिकारी बनाऊंगा।

उस समय तक देवता अश्विनी कुमारों को अपने समान सोमरस का अधिकारी नहीं मानते थे। राजा शर्याति ने यह समाचार सुना तो वह आश्रम में आये। महर्षि के रूप को देखकर उन्हें बड़ा सुख हुआ और महर्षि ने उनसे विराट् यज्ञ का आयोजन करने को कहा। उस यज्ञ के अन्त में उन्होंने अश्विनी कुमारों को दूसरे देवताओं के साथ सोमरस पीने के लिए निमंत्रित किया। यह देखकर इन्द्र क्रुद्ध हो उठा। उसने च्यवन ऋषि को चुनौती दी। लेकिन च्यवन ऋषि ने भरे मण्डप में इन्द्र के सामने ही गंभीर स्वर में कहा, "हे

देवतागण, अश्विनी कुमार आयुर्वेद के पण्डित हैं। वे शरीर की रक्षा करते हैं। ऐसे जगत् का कल्याण करनेवाले प्राणाचार्यों का तिरस्कार नहीं करना चाहिए। शरीर ही धर्म का साधन है। शरीर खराब हो जाता है तो धर्म नहीं ठहर सकता। अश्विनी कुमारों ने अनेक ऋषियों, अनेक नारियों, अनेक राजाओं, देवताओं, दैत्यों, महर्षियों के प्राणों की बार-बार रक्षा की है। हे देवाधिदेव, देवताओं और मानवों का सहयोग आवश्यक है। मैं चाहता हूं कि आज से संसार आयुर्वेद के महत्व को समझे। मैं दोनों भाइयों को सोमरस पिलाऊंगा। सामर्थ्य हो तो कोई मुझे रोके।"

इतना कहकर उन्होंने सोमरस का पात्र अश्विनी कुमारों के सामने रक्खा। सभा में निस्तब्धता छा गई और इन्द्र ने वज्र प्रहार करने के लिए भुजा उठाई कि सहसा वह वहीं बीच में ही ठहर गई और एक महा भयंकर दानव इन्द्र को खाने के लिए आगे बढ़ा। अब तो इन्द्र कांपने लगा। उसने महर्षि च्यवन की नाना प्रकार से प्रार्थना की, "हे महर्षि, आपकी बात पूरी हो, मुझे कोई आपत्ति नहीं है।"

महर्षि प्रसन्न हुए और अश्विनी कुमारों ने सोमरस का पान किया। जनता ने आश्चर्य से चकित होकर च्यवन ऋषि के तप के प्रभाव को देखा और देखी सुकन्या के पातिव्रत्य धर्म की महिमा।

लक्ष-भेदी राजकुमार

प्राचीनकाल में वाराणसी में राजा ब्रह्मदत्त राज्य करता था। उसकी पटरानी की कोख से बोधिसत्व ने जन्म लिया और उसका नाम हुआ असदिसकुमार। दो वर्ष बाद एक और पुत्र का जन्म हुआ। उसका नाम रक्खा गया ब्रह्मदत्त कुमार।

राजकुमार असदिसकुमार पढ़ने के लिए तक्षशिला गये। वहां उन्होंने तीनों वेद और अठारह विद्याएं पढ़ीं। तीर-तलवार चलाने में उन्होंने जो दक्षता प्राप्त की, उसका कोई मुकाबला नहीं कर सकता था। उसके बाद वह वाराणसी लौट आये। कुछ दिन बाद महाराज ब्रह्मदत्त बीमार हो गये और अपनी मृत्यु के समय उन्होंने बड़े राजकुमार को राजा और छोटे को उपराजा बनाने की घोषणा की।

लेकिन पिता की मृत्यु के बाद राजकुमार असदिस कुमार ने राजा बनना स्वीकार नहीं किया। उन्होंने अपने छोटे भाई को राजगद्दी पर बैठाया और अपना समय भगवद् भजन में बिताने लगे। चारों ओर उनका यश फैल गया।

इस प्रकार काफी दिन बीत गए। तब एक दिन एक चुगलखोर दरबारी ने छोटे राजकुमार से कहा, "क्षमा कीजिये महाराज, बड़े राज कुमार परोपकार का ढोंग कर रहे हैं। वास्तव में वह प्रजा को अपनी ओर करके आपको एक दिन गद्दी से उतार देंगे।"

राजा कानों का बहुत कच्चा था। उसने कुछ नहीं सोचा। बस बोधिसत्व को कैद करके तहखाने में डाल देने की आज्ञा निकाल दी। लेकिन बोधिसत्व के किसी हितैषी ने उन्हें सावधान कर दिया। बोधिसत्व बहुत खिन्न हुए और तुरन्त वहां से दूसरे देश में चले गये।

वहां के राजा ने उनका अद्भुत रूप देखा तो बड़ा प्रभावित हुआ। पूछा, "कहो वीर, यहां किसलिए आये हो? क्या काम करोगे? कितना वेतन लोगे?"

बोधिसत्व ने उत्तर दिया, "मैं धनुर्धारी आपकी सेवा करना चाहता हूं। वर्ष में एक लाख रुपये वेतन लूंगा।"

राजा ने तुरंत उसकी बात स्वीकार कर ली और बोधिसत्व वहां आराम से रहने लगे। इसी तरह बहुत दिन बीत गये। एक दिन राजा उद्यान में लेटा हुआ था तो उसकी दृष्टि सबसे ऊंची डाल पर लगे हुए एक आम पर गई। उन्होंने सैनिकों को बुलाया। कहा, "क्या कोई तीर मारकर इस आम को साबुत-का-साबुत गिरा सकता है?"

एक सैनिक ने कहा, "अपने नये धनुर्धर को बुलाइये न, उसकी परीक्षा भी हो जायगी।"

राजा को यह बात जंच गई और उसने बोधिसत्व को बुला भेजा। बोधिसत्व ने आकर सबकुछ देखा-समझा। उसने सफेद वस्त्र उतारकर लाल वस्त्र और कच्छा पहना, शरीर पर अस्त्र-शस्त्र और सर पर पगड़ी धारण की। फिर कमान लेकर राजा से पूछा, "महाराज इस आम को ऊपर जानेवाले तीर से गिराऊं या नीचे आनेवाले तीर से?"

महाराज ने कहा, "मैंने ऊपर जानेवाले तीर से तो चीज कटती देखी हैं। आज तुम नीचे आनेवाले तीर का चमत्कार दिखाओ।"

तीर को सम्भालकर बोधिसत्व बोला, "महाराज, यह

तीर चातुर्महाराजिक भवन तक जाकर लौटेगा। इसमें कुछ समय लग सकता है। तीर डोर से छूटकर आम को लेकर नीचे आ जायगा।"

महाराज और दरबारी इस कौशल को देखने के लिए तैयार हो गये। बोधिसत्व ने तीर छोड़ा। वह डण्ठल को छेदता हुआ ऊपर को निकल गया। उसके बाद उसने उससे भी अधिक तेज गति से जानेवाला एक दूसरा तीर छोड़ा। चातुर्महाराजिक भवन तक पहुंचकर इस दूसरे तीर ने पहले तीर की पूंछ से लगकर उसको नीचे मोड़ दिया और स्वयं देवलोक चला गया। पहला तीर तेजी से हवा को चीरता हुआ नीचे लौटा। उतरते हुए उसने ठीक स्थान पर डण्ठल को छेदा। दोनों साथ-साथ नीचे आ गये। बोधिसत्व ने एक हाथ से तीर और दूसरे हाथ से आम को पकड़ लिया। यह चमत्कार देखकर प्रजा जय-जयकार कर उठी। राजा ने उसे धन और मान देकर सम्मानित किया।

इसी समय वाराणसी के राजा के शत्रुओं को पता लगा कि धनुर्धारी असदिस कुमार वहां नहीं है तो उन सबने मिलकर वाराणसी पर आक्रमण कर दिया। अब राजा को अपने भाई की याद आई। उसने एक दूत को उनके पास भेजा कि वह अनुनय विनय करके उन्हें लौटा लाये।

असदिस कुमार अपने भाई का सन्देश पाकर तुरन्त वाराणसी लौटे। वहां की स्थिति का अध्ययन किया और फिर एक तीर पर यह लिखा, "मैं असदिस कुमार वाराणसी आ गया हूं। यदि किसी भी शत्रु ने वाराणसी की प्रजा का बाल भी बांका किया तो दूसरा तीर चलाकर मैं सबको नष्ट कर दूंगा। इसलिए जो कुशल चाहते हैं, वे तुरंत भाग जायं।"

और उस तीर को उन्होंने कमान पर चढ़ाकर वहां फेंका जहां राजा लोग भोजन कर रहे थे। उन्होंने यह सन्देश पढ़ा तो घबरा गये और जिसे जिधर मार्ग मिला, वह उधर ही भाग गया।

इस प्रकार वह संकट टल गया और बोधिसत्व ने अपने भाई को धर्म से राज करने की सलाह दी। फिर स्वयं भी संन्यास ग्रहण करके तप करने चले गये।

बापू के प्रति

उर के चरखे में कात सूक्ष्म युग-युग का विषय-जनित-विषाद,
गुंजित कर दिया गगन जग का, भर तुमने आत्मा का निनाद।
रँग-रँग खद्दर के सूत्रों में नवजीवन, आशा, स्पृहा 'ह्लाद,
मानवी कला के सूत्रधार हर दिया यंत्र कौशल प्रवाद।

जड़वाद जर्जरित जग में तुम अवतरित हुए आत्मा महान।
यंत्राभिभूत युग में करके मानव-जीवन का परित्राण।
बहु छाया-बिम्बों में खोया पाने व्यक्तित्व प्रकाशमान,
फिर रक्तमांस प्रतिमाओं में फूंकने सत्य से अमर प्राण।

—सुमित्रानंदन पंत

बापू का आध्यात्मिक साम्यवाद

●● गोपालकृष्ण मल्लिक

बापू का संपूर्ण जीवन ही यद्यपि उत्कृष्ट तथा भव्य है, तथापि अस्पृश्यता-निवारण, साम्प्रदायिक ऐक्य आदि सामाजिक समस्याओं के लिए उन्होंने कई बार जान की बाजी लगाई। नोआखाली की पैदल-यात्रा से लेकर दिल्ली के महाबलिदान के महाप्रयाण तक के क्षण तो अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं। उन्होंने भारत को ब्रिटिश-हुकूमत के पंजे से छुड़ाया, अवश्य ही यह उनका महान् कार्य माना जायगा, किन्तु उनके जीवन का सबसे महान् कार्य इतिहास के पन्नों में यदि लिखा जायगा तो वह यह कि उन्होंने अस्पृश्यता-निवारण, साम्प्रदायिक एकता आदि दूसरे रचनात्मक कार्यों द्वारा भारतीय समाज को नवजीवन के पथ पर अग्रसर किया, और उसके जरिए बेहोश हुई दुनिया को शांति तथा न्याय का मार्ग दिखाया। भारत में मुसलमान आज अगर शांति तथा सलामत के साथ रहकर नागरिकता के पूरे हक़ों का उपभोग कर रहे हैं, तो उसका मुख्य श्रेय बापू के महाबलिदान को ही है।

अस्पृश्यता आज लगभग मिट चुकी है। 'लगभग' इसलिए कि यद्यपि कानून में और हमारे अधिकतर व्यवहार में वह मिट गई है, फिर भी देश के कुछ अंधेरे कोनों में अज्ञानी लोग––सवर्ण और हरिजन दोनों, इस मरे मुर्दे से अबतक चिपटे पाये जाते हैं। इस रहे-सहे अंधकार तथा अज्ञान का संपूर्ण नाश अब सिर्फ समय का ही सवाल है। गांधीजी के पहले से ही संत-महात्माओं द्वारा अस्पृश्यता के विरोध में आवाज उठाने की परम्परा अवश्य चलती आई है, किन्तु इसे मिटाने का देशव्यापी अन्दोलन तो गांधीजी के द्वारा ही संभव हो सका। अस्पृश्यता-निवारण का राष्ट्रव्यापी उत्साह तो इनकी ही आत्मशक्ति के योग से प्रकट हुआ। किन्तु इस उत्साह को कायम रखकर जीवन के एक-एक क्षेत्र से जितनी जल्दी हो सके अस्पृश्यता का नामोनिशान मिटा देने का काम हमारे हिस्से में आया है। रंग-द्वेष तथा जाति-द्वेष के कारण एक प्रकार की अस्पृश्यता दूसरे देशों में भी है, किन्तु जैसी अस्पृश्यता हिंदू-समाज में चलती आई है, वैसी कहीं भी नहीं है। ऐसा क्यों हुआ? क्योंकि हमने उसे धर्म का रूप दिया। आश्चर्य है कि हमारे देश में अभी तक लोगों की कमी नहीं है, जो धर्म के नाम इस बुराई से चिपटे हैं।

अमुक ऊंचे और अमुक नीचे, ऐसे क्रमवाली जाति-प्रथा जब तक हिंदू-समाज में जीवित है, तबतक केवल अस्पृश्यता को कानून मात्र से मिटा देने से क्या होगा? जो अस्पृश्य माने जाते हैं, हिंदू-समाज में जबतक ठेठ नीची सीढ़ी पर रहेंगे, तबतक उनकी सामाजिक दशा में क्या बड़ा परिवर्तन हो पायेगा? ऐसी दलील गांधीजी के साथ बहुत-से विदेशी पत्रकार एवं हिंदू-जाति के सुधारकों ने अनेक बार पेश की थी। गांधीजी ने यद्यपि जातियों की चार-दीवारी को नष्ट करने की राय दी थी, फिर यह भी उनकी ही राय थी कि ऐसे कार्यक्रम का बोझ अस्पृश्यता-निवारण के कार्यक्रम पर नहीं डाला जाय। इस चीज को वे कितना महत्व देते थे, यह उनके इस वचन से समझ में आ सकता है: "यह कौन जानता है कि मुझे कबतक जीना है? पर फुर्सत मिल जाय तो यह जरूर हो सकता है कि मैं वर्णाश्रम-धर्म की बात लेकर बैठ जाऊं।"

किन्तु वर्ण-व्यवस्था वह नहीं है, जिसे हिंदू-समाज जाति-पांति की व्यवस्था के रूप में मानता है। बल्कि गांधीजी तो इस व्यवस्था के कट्टर विरोधी थे। वर्ण-व्यवस्था यानि सामाजिक व्यवस्था में काम की व्यवस्था, जिसकी व्याख्या उन्होंने वेद तथा गीता के आधार पर है। उन्होंने कहा, "मैं इसीको उचित समझता हूं कि बढ़ई का लड़का बढ़ई बने और लुहार का लड़का लुहार बने। इस तरह सैकड़ों जातियां बनती हों तो बन जाय। जबतक इन जातियों या वर्णों के बीच रोटी-बेटी का व्यवहार रहे, तबतक भले चाहे जितनी जातियां हों। इन रोटी-बेटी के बंधनों ने सारा मामला मुश्किल कर दिया है।...द्रोणाचार्य धर्म-भ्रष्ट हो गये थे; (क्योंकि जन्म से ब्राह्मण होनेपर भी उन्होंने क्षत्रिय का पेशा किया) यह मैं जरूर कहूंगा। मेरा कहना है कि एक वर्ण के मनुष्य को दूसरे वर्ण का काम करने का अधिकार न हो सो बात नहीं, पर ऐसा करना अनुचित है।

यह धर्म सबके लिए है। उसका पालन अनायास नहीं, जान-बूझकर होना चाहिए। जैसे हिंदू इसका पालन करें, मुसलमान भी करें। मैंने इसी अर्थ में कहा था कि वर्ण-धर्म हिंदू-धर्म को मानव-जाति को सबसे बड़ी देन है। इस धर्म के पालन से सारे समाज की रक्षा होगी। सारा समाज अजेय बन जायगा।"

वर्ण-धर्म का यह विचार सही समझ में आये, इसीलिए उन्होंने यह भी कहा था—"भले ही वेद में ऐसा कोई वाक्य मिल जाय कि उस समय ऊंच-नीच का भेद था, पर मैं तो शुद्ध वर्ण-धर्म में ऊंच-नीच का भेद पाता ही नहीं। ब्राह्मण शूद्रों का उतना ही आदर करेंगे, जितना दूसरे ब्राह्मणों का करेंगे। यह बात नहीं कि शूद्र को ज्ञान नहीं मिल सकता। तुलाधार का ज्ञान कैसा था? यह कहा जाता था कि ज्ञान प्राप्त करना हो तो तुलाधार के पास जाओ।" और "मूल्य ऐसा था ही नहीं कि अमुक नीचे और अमुक ऊंचे हैं। विचार तो यह था कि मनुष्य जन्म से यह खोज करने के लिए है कि अमुक मनुष्य की आध्यात्मिक शक्यता कितनी है। ईश्वर को पहचानने का छोटे-से-छोटा रास्ता वर्ण-धर्म का आदर करना है। जिस क्षण आप वर्ण-धर्म का आदर करने लगते हैं, उसी क्षण अपनी नीति और ईश्वर-सेवा के बारे में दूसरे सबसे आगे बढ़ जाते हैं।" बापू का यह विचार नूतन ही नहीं, वैज्ञानिक और क्रांतिकारी भी है! काश! इसे हम सही-सही समझते और अमल भी कर पाते!

वर्ण-धर्म के अनुसार समाज-व्यवस्था तथा अर्थ-व्यवस्था किस तरह न्याय और समानता के आधार पर कायम हो, उस विषय में बापू के विचार को खास तौर से ध्यान में रखना चाहिए; उनके विचार एवं आदर्श की गहराई में पैठकर मूल तत्व की खोज-ढूंढ करने के लिए उनका यह विचार विशेष महत्व का है: "हाथों और पैरों का श्रम ही सच्चा श्रम है, और हाथ-पैर से मजदूरी करके ही रोजी कमानी चाहिए। मानसिक और बौद्धिक शक्ति का उपयोग समाज-सेवा के लिए ही करना चाहिए।...सब रोटी के लिए मजदूरी करें, तो ऊंच-नीच का भेद मिट जाय, और फिर भी धनिक रह जाय तो वह अपनेको मालिक न मानकर धन का केवल रखवाला या ट्रस्टी मानें। और मुख्यतः उसका उपयोग केवल लोक-सेवा के लिए करे।" अतः वर्ण-व्यवस्था का वैज्ञानिक आधार उन्होंने सामाजिक तथा आर्थिक समता का आधार माना। जिस समतायुक्त समाज को उन्होंने सर्वोदय-समाज की व्यवस्था कहा, जिसकी तुलना समाजवाद और साम्यवाद की सामाजिक एवं आर्थिक समता से भी की जा सकती है।

वर्ण-धर्म के इस वैज्ञानिक आधार एवं आदर्श की व्याख्या करते हुए आगे उन्होंने कहा, "वर्ण-धर्म की रचना के लिए आश्रम-धर्म की बुनियाद चाहिए। उसके बिना सारी इमारत कच्ची रहेगी।...आश्रम-धर्म की सारी इमारत संयम पर खड़ी की गई है। शुरू में माता-पिता और गुरु संयम की तालीम दें, लाजमी तौर पर संयम का पालन करावें और अंत में वानप्रस्थ होकर मनुष्य संयम रक्खे और संन्यासी होकर सर्वस्व ईश्वरार्पण कर दे। यह हो तो शुद्ध वर्ण धर्म-का पुनरुद्धार हो जाय।" और..."वर्ण-धर्म में संतोष रहा है। अपने-अपने धर्म के बारे में समाधान रहा है। इस प्रकार वर्णाश्रम-धर्म दैवी प्रवृत्ति है। वर्णाश्रम-धर्म सात्विक है, जबकि दूसरी सब प्रवृत्तियां राजसी है।"

वर्णाश्रम-समाज का ऐसा आदर्श समाज क्या किसी काल में, वेदकाल में भी था? अनेकों के मन में यह प्रश्न उठा ही होगा। छाया की तरह गांधीजी के साथ रहनेवाले उनके अनन्य अनुगामी स्व० महादेवभाई के मन में भी यह प्रश्न उठा था। और उन्होंने बापू के सामने यह प्रश्न प्रस्तुत किया भी था। उसका जवाब देते हुए उन्होंने कहा था, "मान लो कि न पाला जाता हो, तो भी एक देश की प्रजा के जीवन में पांच हजार वर्ष की क्या गिनती है? आगे किसी दिन पाला जायगा, यह स्वप्न सेवन करने लायक तो है ही।" और "इतना याद रखना चाहिए कि ऐसा हिंदू-धर्म भी पांच हजार वर्ष से जीवित रहा है। पता नहीं महाभारत कब लिखा गया। पर यह मानने को जी चाहता है कि यह धर्म किसी समय पाला जाता था और उस समय पराधीनता नहीं थी। आज भी हम उस धर्म के बारे में बातें करते हैं, यह क्या बताता है?...यह बतलाता है कि वह धर्म अभी तक प्राण-वान है और आगे ज्यादा प्राणवान बननेवाला है।"

फिर अपनी अभिलाषा या कल्पना के आदर्श समाज के साक्षात्कार होने के विषय में बोलते हुए बापू ने कहा, "आदर्श आश्रम द्वारा किसी दिन इस वर्णाश्रम को फिर से स्थापित

(शेष पृष्ठ ३८६ पर)

सत्याग्रह और भूदान

●● सत्यनारायण तिवारी •

सत्याग्रह शब्द स्वयं अपने-आपमें परिपूर्ण है। सत्याग्रह यानी सत्य—आग्रह अर्थात् सत्य का आग्रह करना ही सत्याग्रह है। वर्तमान युग में जगह-जगह सुनने में आता है: कहीं कोई अपना अलग राज्य कायम करने के लिए सत्याग्रह कर रहा है तो कहीं कोई वेतन बढ़वाने के लिए। कहीं विद्यार्थी अपनी मांगों के लिए सत्याग्रह कर रहे हैं तो कहीं पण्डित-जन अष्टग्रह योग के निवारण के लिए। इस प्रकार सत्याग्रह के भिन्न-भिन्न रूप आज देखने को मिलते हैं।

गांधीजी ने अंग्रेजों से कहा था, "भारत छोड़ो!" अन्त में उन्हें भारत छोड़कर जाना पड़ा। आज विनोबाजी कहते हैं, "जिसके पास ज्यादा जमीन है, वह उसका अमुक हिस्सा गरीबों के लिए दे दे।" इस चीज की भी आज बहुत-से लोग खिल्ली उड़ाते हैं। भूदान की इतनी सफलता के बावजूद भी कुछ लोगों के अन्दर से अभी यह दकियानूसी विचार कि "कहीं मांगने से जमीन की समस्या हल हो सकती है" नहीं गया है। उनका ऐसा मानना है कि अन्य 'दानों' की तरह ही विनोबाजी 'दान' स्वरूप जमीन लेकर गरीबों को दे रहे हैं। पर विनोबाजी ने अपनी इस पद-यात्रा को और भूदान को 'सत्याग्रह' का ही रूप माना है। इस संबंध में पूज्य विनोबाजी के विचार इस प्रकार हैं:

"भूदान-यज्ञ में उग्र सत्याग्रह के लिए स्थान नहीं है और अभी जो काम किये जा रहे हैं, जैसे पद-यात्रा, ग्राम-ग्राम में जाकर विचार समझाना और प्रेमपूर्वक भूमिदान मांगना, वह भी सत्याग्रह है और सौम्य सत्याग्रह है।"

विनोबाजी ने सत्याग्रह की तीन श्रेणियां—सौम्य, सौम्यतर और सौम्यतम—बतलाई हैं। उनका विचार है कि "हमलोगों ने जो सौम्य सत्याग्रह शुरू किया है, उससे काम न चलने पर अपेक्षाकृत अधिक सौम्य सत्याग्रह की खोज करनी पड़ेगी, जिससे शक्ति बढ़े। उससे भी काम न चलने पर शक्ति और बढ़ाने के लिए सौम्यतम सत्याग्रह करना होगा। आपलोग जानते हैं कि होमियोपैथी यह शिक्षा देती है कि औषधि का कम मात्रा में ही व्यवहार होना चाहिए। बार-बार 'डाल्यूशन' के द्वारा सूक्ष्म-से-सूक्ष्मतर की ओर बढ़ा जाता है, जो अधिक फलदायी साबित होता है। हममें यह दृढ़ धारणा रहनी चाहिए कि हमलोग जो कर रहे हैं, उससे काम न चलने का कारण हमारी सौम्यता की कमी होगी और हमें सौम्यता में वृद्धि करनी पड़ेगी, यही सत्याग्रह का स्वरूप है।"

ऊपर विनोबाजी का जो विचार उद्धृत किया गया है, वह हमें नया भले ही मालूम पड़े, पर उसकी शुरुआत तो हनुमानजी ने प्रत्यक्ष रूप में ही की थी। इसलिए किसीको यह भ्रम नहीं होना चाहिए कि विनोबाजी का सत्याग्रह के बारे में यह विचार कि "हमें धीरे-धीरे नम्रता की ओर बढ़ना चाहिए' ग़लत है। नीचे सुरसा और हनुमान का एक प्रसंग दिया जा रहा है, जिससे विनोबाजी के इस विचार पर हमारा विश्वास और भी दृढ़ हो जायगा।

हनुमानजी को सुरसा ने जब लंका में प्रवेश करने से रोका तो उन्होंने कहा, "मैं प्रभु का कार्य कर आऊं उसके बाद मैं तुम्हारे मुख में बैठ जाऊंगा।" इस विनती को सुरसा ने जब अस्वीकार कर दिया तब हनुमानजी ने कहा, "मुझे खा क्यों नहीं लेती?" इसके बाद

जोजन भर तेहि बदन पसारा, कपि तनु कीन्ह दुगुन बिस्तारा

फिर

सोलह जोजन मुख तेहिं ठयऊ, तुरत पवनसुत बत्तिस भयऊ॥

इसके बाद जैसे-जैसे सुरसा ने बदन बढ़ाया, उससे दूना रूप हनुमानजी ने दिखाया और जब सुरसा ने अपना मुख सौ योजन किया तब अन्त में हनुमानजी ने बहुत छोटा-सा रूप धारण कर लिया:

सत योजन तेहि आनन कीन्हा, अति लघु रूप पवनसुत लीन्हा।

और फिर

बदन पैठि फिर बाहिर आवा, मांगी बिदा ताहि सिर नावा।"

अतः यह सिद्ध होता है कि कोई भी काम बिना नम्रता के पूर्ण सफल नहीं हो सकता। इसीलिए विनोबाजी सत्य, प्रेम और करुणा की धारा आज गांव-गांव में घूमकर बिखेर रहे हैं।

यह विचार भूदान पर पूरे तौर से लागू होता है। पहले विनोबाजी धनिकों से उनकी भूमि का छठा हिस्सा मांगते थे, पर अब वे २०वां हिस्सा मांगते हैं। कुछ लोगों ने इसे 'भूदान की असफलता' भी कहा है। लेकिन इसके पीछे उनका जो विचार है, उसे हमने समझने की कोशिश नहीं की। वास्तव में भूदान का दायरा बड़ा विशाल है। वह केवल जमीन प्राप्त करने तक ही सीमित नहीं है। लोगों से सम्पर्क, शांति का संदेश, प्रेम का विस्तार आदि सारे विषय इसमें सन्निहित हैं। इस समय बिहार में 'बीघा-कट्ठा आंदोलन' खूब जोरों से चल रहा है। इससे जमीन तो मिलेगी ही, पर सबसे ज्यादा महत्व का काम जो हमारी निगाह में होगा, वह यह कि लोगों को सोचने का एक रास्ता प्रशस्त होगा। आज गांव की जनता बहुत पिछड़ी है। राजनैतिक पार्टियों-वाले उसका मनमाना फायदा उठा रहे हैं। लालच देकर के वोट प्राप्त करना और बाद में उनपर भार-रूप हो जाना, यह तो उनका स्वधर्म-सा बन गया है। इन सब दोषों को दूर करने में भी बिहार का यह 'बीघा-कट्ठा'-अभियान बहुत मददगार होगा, ऐसी हमें आशा है।

सत्य का आग्रह विभिन्न रूपों से किया जा सकता है। विनोबाजी की प्रेरणा से बिहारविलों ने जो यह कदम उठाया है, वह एक तरह से सत्याग्रह का 'सौम्यतम' स्वरूप है और हमें उसमें मददगार होना चाहिए।

●

(पृष्ठ ३८४ का शेष)

करने का मेरा ध्येय है जरूर। अभी तो आश्रम में सब जड़ की तरह पड़े हैं। परन्तु ध्येय यही बना हुआ है। इसलिए कोई-न-कोई ऐसा निकलेगा ही। प्राचीन ऋषि की सारी भावना किसी-न-किसी दिन शुद्ध वर्णाश्रम-धर्म---आध्यात्मिक 'कम्युनिज्म'---स्थापित करने की थी।. . .जहां सच्चा वर्ण-धर्म प्रचलित हो, वहाँ पराधीनता हो ही नहीं सकती। . . .सब संदर्भ बनाकर अपना-अपना काम सेवा-भाव से करने लगें, तो वर्णाश्रम का पुनरुद्धार असंभव नहीं।"

इस पर विचार हुए कहा जा सकता है कि हम बापू के समग्र रचनात्मक कार्यक्रम को जिस हदतक अमल में लायंगे उसी अंश में उनका विचार तथा आदर्श समझ में आ सकेगा। नहीं तो मुमकिन है या तो वह समझ में ही नहीं आयेगा या उससे हमारा विरोध रहेगा। फिर उनका विचार तथा आदर्श खटाई में फूलता रह जायगा। बापू ने अपने अनेक गहन विचारों की तरह आध्यात्मिक कम्युनिज्म का भी विचार तथा आदर्श बार-बार प्रकट किया था। और इसके साथ ही उन्होंने रचनात्मक कार्यकर्ताओं को अपने स्वप्न को साकार करने के लिए आह्वान भी किया था। रचनात्मक-कार्यक्रम के लिए जीवन समर्पित करनेवाले कार्यकर्ताओं के द्वारा ही इस आदर्श की पूर्ति की उन्होंने आशा व्यक्त की थी। तो क्या भारत के समस्त रचनात्मक कार्यकर्ताओं का तथा बापू के विचार तथा आदर्श पर आस्था करनेवाले समस्त व्यक्तियों का ध्यान आज भी बापू के इस आह्वान की ओर जायगा ?

●

प्रेरणा के स्रोत

●● सुमेरसिंह दइया

एक लम्बे समय के बाद लिखने बैठा हूं। सोच रहा हूं। कल्पना के पंख लग गये हैं और वह आकाश की गहराइयों में एक पक्षी के समान उड़ानें भरने लगी है। स्मृतियों के पट खुल गये हैं और नये विचार, नये पात्र और एक नई कहानी की रूपरेखा अपने-आप बनती जा रही है।

उषा के रक्तिम आवरण को चीरकर बाल-रवि की सुनहली किरणें पूर्वी क्षितिज पर चमकने लगी हैं। पक्षीगण अपने मधुर कण्ठ से मंगल-गान करने लगे हैं। प्रभात की आलस्य-जनित शांति एकाएक भंग होकर सारा वातावरण गतिशील तथा कोलाहलपूर्ण हो गया है। मंदिरों से घंटों का निनाद गूंज उठा है। आरती बोलते हुए भक्तों की ऊंची आवाज़ से प्रभात की उजली कुहासेभरी स्तब्धता मुखरित हो उठी है।

क़लम चलने लगी है। एक सुन्दर कहानी काग़ज़ के पन्नों पर उतर रही है। कल्पना मानों साकार रूप धारण करके मेरी कला का नया श्रृंगार करने लगी है। भावनाओं की भूल-भुलैया को चीरकर, विचारों की तीव्र प्रसव-वेदना के बाद नये सबल पात्रों का जन्म हो रहा है...

तभी राजू की चीख़ और श्रीमतीजी का कर्कश कंठ-स्वर सुनकर मुझे सहसा एक झटका-सा लगा। मैं जिस कल्पना-जनित वातावरण में खोया हुआ था, वह अशांत हो गया। क्या करें? एक लुटे हुए निर्धन की भांति मेरा मन टुकड़े-टुकड़े हो रहा है। खीझ उत्पन्न हो रही है। दोष दें तो किसे? श्रीमतीजी और राजू एक लेखक के एकांतवास और एकाग्र-चित्त के उन क्षणों का मूल्य नहीं जानते हैं। कैसी बिड़म्बना है! राजू तो चार बरस का अबोध बालक हैं; मगर श्रीमतीजी को क्या करें? वह इसे निठल्लों की महज़ एक सनक समझती हैं।

रोता हुआ राजू सीधा मेरे पास आया। उसे गोदी में बैठाया। गालों पर बहते हुए आंसू पोंछे और मैंने बड़े प्यार से पूछा, "क्या हुआ राजू?"

लेकिन राजू है, जो रोये जा रहा है।

मैंने उसके कपोल चूमे और पुचकारकर कहा, "मां ने पीटा है, राजू?"

"हां...हां...!"

हिचकियों व रुलाई के संग मिलकर उसका स्वर काफी लम्बा होगया।

"अच्छा, हम मां को पीटेंगे। तुम रोओ मत। मेरे अच्छे राजा बेटे!"

धीरे-धीरे राजू का रोना खतम हुआ; मगर वह अभी तक सुबकियां ले रहा है।

उधर श्रीमतीजी की शिकायत सुनाई पड़ी।

"राजू बड़ा शैतान हो गया है। मुट्ठीभर राख अभी पिसे हुए आटे में डाल गया है।"

"तो कौन-सा ग़ज़ब हो गया है। बच्चा जो है।"

अनचाहे ही कंठ-स्वर अस्वाभाविक रूप से प्रखर हो गया।

एकाएक श्रीमतीजी सुनकर स्तब्ध रह गईं; परंतु शीघ्र ही जैसे द्वन्द्व-युद्ध के लिए सन्नद्ध हो गईं।

"जी, हां। बच्चा जो है। हुम्! इसी प्रकार के लाड-प्यार से बच्चे बिगड़ते हैं।"

राजू ने सहमी हुई दृष्टि मुझपर डाली। मैंने उसके सिर पर हाथ फेरा और धीरे-से हँस दिया। कहीं इस ज़रा-सी बात से महाभारत न छिड़ जाय—इस आशंका से घबराकर मैंने उसे एक विनोद का रूप दे दिया।

"अच्छा तो हम और राजू अब अलग ही रहेंगे। राजू अब तंग करता है, भविष्य में नहीं करेगा।"

मेरा यह प्रयोग आशा से भी अधिक सफल सिद्ध हुआ। तत्काल ही प्रभाव पड़ा और वह तनावपूर्ण स्थिति क्रमशः समाप्त होने लगी। वे रसोई में बैठी-बैठी फिक् से हँस पड़ी।

"हां, जाइये। किसने मना किया है। चूल्हा फूंकोगे तो सारा लेखकपना निकल जाएगा।"

"अजी, रहने भी दो।"—मैं थोड़ा रस लेकर बोला—"इन धमकियों से डरनेवाले वे और हैं। इसी प्रकार की चुनौती माताजी ने पिताजी को भी दी थी; मगर सात साल तक चूल्हा फूंकते रहे—हार नहीं मानी।"

श्रीमतीजी की मधुर हँसी पुनः रसोई में गूंज उठी।

"तो ज्ञात हुआ कि आप खानदानी रसोईये हैं।"

"ज़रा हम भी देखें, हमारी हेकड़ी कैसे निकलती है।"

हास-परिहास से सारा वातावरण आनन्ददायक तथा रसपूर्ण हो गया।

... ...

राजू चला गया है। मैं अकेला बैठा हूं। श्रीमतीजी घर के काम-काज में व्यस्त होगईं हैं।

अब लिखने का सारा उत्साह प्रायः खत्म होगया है। पढ़ने में भी मन नहीं लग रहा है। चित्त उचट गया है। एक निश्चेष्ट, सूनी मनःस्थिति लेकर चुपचाप बैठा हूं।

आंखों की दृष्टि खिड़की में से दूर तक देख रही है।

राजू अपनी बाल-सखी मुन्नी के संग खेल रहा है। हाथों में गोलियां हैं। सामने गड्ढा है। राजू फेंकता है। कुछ गोलिएं अन्दर और कुछ बाहर! दोनों ताली बजाकर हँसते हैं।

मैं एकटक उनके इस खेल में रस लेने लगा हूं। मेरा निरुद्देश्य भटकता हुआ ध्यान एक स्थान पर आकर टिक गया है।

अब वे दोनों धरती पर बैठ गये हैं। उन्होंने धूल से मुट्ठीयां भरी। तनिक सशंकित होकर चारोंओर देखा और चुपके से धूल मुंह में भर ली। उनके मुखों पर एक सरल तथा निष्कपट मुस्कान खिल उठी।

मुझे यह सब बुरा लगा; किन्तु उनकी यह अकृत्रिम मुस्कान! उदास और खिन्न हृदय को छूकर मुग्ध कर गई। भला, मैं उसके आनन्द से कैसे वंचित रहूं?

गोली का खेल पुनः आरम्भ हुआ; लेकिन इस बार शीघ्र ही किसी बात पर झगड़ा हो गया। राजू ने मुन्नी को गिरा दिया और वह बुक्का फाड़कर रोने लगी।

राजू ने झगड़ालू बिल्ली के समान आंखें दिखाईं और फिर भय-त्रस्त दृष्टि से मुन्नी के घर की ओर देखने लगा।

कुछ समय बीता।

मुन्नी रोती रही। राजू उसे खामोश निगाहों से घूरता रहा। दोनों एक-दूसरे से खिंचे रहे, रूठे रहे।

अचानक राजू जैसे सुलह का प्रस्ताव लेकर मुन्नी के पास गया; परन्तु उसने स्पष्ट उपेक्षा कर दी।

राजू उसके इस व्यवहार से निष्प्रभ रह गया।

अब वह उसके समीप बैठ गया। अधरों पर कोमल मुस्कान तथा आंखों में निश्छल स्नेह की तरलता लेकर बोला, "मुन्नी!"

मुन्नी ने इस बार उसे देखा। अश्रु-प्लावित पलकों से झांकती वह क्रोधित दृष्टि अब शीतल हो रही है। ललाट पर पड़े बल अब मिट रहे हैं। होठों पर उभरनेवाली शिकायत दब जाती है—जैसे उसे वाणी से ध्वनि नहीं मिल रही है।

राजू ने उसके सिर पर से धूल झाड़ी और धीरे-से चूम लिया।

राजू की मुस्कान के संग मिलकर मुन्नी की मुस्कान सतरंगी होगई...

मैं इस दृश्य को देखकर मुग्ध हो गया। कैसा मनोहर और हृदयग्राही दृश्य है!—जहां मानवता का शैशवकाल मूर्त रूप धारण करके सम्मुख खड़ा है; जहां मनुष्य के मन में कोई दुर्भावना नहीं घृणा नहीं, प्रतिहिंसा नहीं, तिरस्कार नहीं..और है एक सच्चा स्नेह तथा सहृदयता की कोमल भावनाएं...

...तभी मेरे मन के अंतराल में एक आंधी-सी उमड़ पड़ी। कहां मैं अपनी कहानी के पात्र, उसका कथानक और भावपूर्ण विचार कल्पना में खोज रहा था—और कहां ये जीवन के सच्चे पात्र मेरी आंखों के आगे...कहां वे कल्पित पात्र...कहां ये जीवित सशक्त पात्र!

और मेरी क़लम अविराम गति से चलने लगी।

विश्व-शांति-सेना

●● हीरालाल जैन

अपने तमाम मानवीय संबंधों में आज मनुष्य एवं समाज भारी तनाव महसूस कर रहे हैं तथा अपनेको शक्तिहीन पाकर निराशा के गर्त में गिरे हुए हैं या फिर अपनी समस्याओं को सुलझाने के लिए हिंसक कार्रवाई करने के लिए उत्कंठित हो रहे हैं। तमाम समस्याएं निश्चित रूप से सामंजस्य की समस्याएं हैं और इसलिए न तो उदासीनता और न ही हिंसा द्वारा सामंजस्यपूर्ण स्थिति में सह-अस्तित्व के लिए परिस्थितियों का निर्माण किया जा सकता है।

विश्व में साधन-स्रोत एवं यांत्रिक ज्ञान की कोई कमी नहीं है, लेकिन फिर भी मनुष्य को जिन्दगी की अनिवार्य आवश्यकताओं के अभाव का सामना करना पड़ रहा है। स्वतन्त्रता के लिए उसके दिल में भारी उमंग है, लेकिन फिर भी वह उसे प्राप्त नहीं कर पा रहा। आध्यात्मिक एवं नैतिक मान्यताओं एवं दिल व दिमाग की विशेषताओं का भारी खजाना हमें विरासत में मिला है, लेकिन फिर भी बीभत्सता, घृणा एवं युद्ध के बादलों का भूत सब ओर छाया हुआ है।

इस भयंकर असामंजस्यता, हिंसा और हतोत्साहपन से छुटकारा पाने का क्या कोई रास्ता नहीं है? यदि मनुष्य-जीवन के पीछे कुछ अर्थ और उद्देश्य सन्निहित है, तो यकीनन कोई रास्ता निकलेगा। अहिंसा एक परीक्षित हल है। सब जगह मानवीय समस्याओं के समाधान के लिए इसकी सशक्त उपयोगिता के प्रदर्शन मात्र की आवश्यकता है और इस आवश्यकता की पूर्ति करने के हेतु ही इस शान्ति-आन्दोलन का श्रीगणेश हुआ।

दिसम्बर १९६० में गांधीग्राम (भारत) में हुए 'वार रेजिस्टर्स इन्टरनेशनल' (युद्ध-निरोधकों का अन्तर्राष्ट्रीय संगठन) के दसवें त्रिवर्षीय सम्मेलन के समय एक अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति-सेना बनाने की आवश्यकता महसूस की गई।

लिहाजा बुम्माना (बेरुत) में इसी उद्देश्य से बुलाये गए विशेष अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन में ता० १ जनवरी, १९६२ को अहिंसक कार्रवाई हेतु 'बर्ल्ड पीस बिगेड' (विश्व-शान्ति-सेना) की स्थापना की गई। इसके उद्देश्य हैं:

१. अहिंसक कार्रवाई के हेतु एक ब्रिगेड संगठित एवं प्रशिक्षित करके तैयार रखना!

(अ) देश में या अन्तर्राष्ट्रीय चल रहे या आशंकित झगड़ों की हालतों में

(ब) हर प्रकार के युद्ध, युद्ध की तैयारियों और सामूहिक विनाश के शस्त्रास्त्रों के निरन्तर हो रहे विकास के विरोध में।

२. आधुनिक युद्ध के खतरे का मुकाबला करने के लिए अहिंसक विकल्पों में श्रद्धा एवं विश्वास पैदा करके उत्तरदायी एवं सशक्त ताकत बनने के लिए सब जगह लोगों को जागृत करना।

३. अन्याय के प्रतिरोध के तरीकों में उन गुणों का समावेश करके, जिनके द्वारा मानव की जिन्दगी एवं सम्मान की रक्षा की जा सके, क्रांति की प्रणाली में क्रांति करना तथा शांति के लिए आवश्यक वातावरण पैदा करना।

४. स्वतंत्रता एवं सामाजिक पुनर्निर्माण के लिए चल रहे अहिंसक जन-आंदोलन में योगदान करना।

५. जिन देशों में ब्रिगेड को सहयोग देनेवाले संगठन नहीं हों, वहां ब्रिगेड की राष्ट्रीय यूनिटें स्थापित करना।

६. मौजूदा संगठनों को शांति, मुक्ति एवं मानव-सेवा के प्रयासों में भरसक सहयोग देना और जहां आवश्यकता हो विश्व-भर में अहिंसक कार्यकलापों के बीच ताल-मेल पैदा करनेवाले एवं सूचना केन्द्र का काम करना।

७. ब्रिगेड के कार्य से सम्बन्धित क्षेत्रों में खोज करना एवं उसको प्रोत्साहन देना।

सबसे पहले एवं तुरंत की जो समस्या विश्व-शांति-सेना के सामने है वह है, उत्तरी रोडेशिया की, जहां स्थानीय अफ्रीकी जनता ने प्रशासन में असरदार हिस्सा एवं आवाज प्राप्त करने के लिए जोरदार तरीके पर मांग उठा रक्खी है, लेकिन जो बरबोर्ड-बेलेन्सकी धुरी द्वारा कठोरता के साथ दबाई जा रही है।

मध्य व दक्षिणी अफ्रीका में जो विस्फोटकात्मक स्थिति चल रही है, उसने विश्व-शांति-सेना के लिए उसमें भाग लेना अनिवार्य कर दिया। अफ्रीकी जनता तड़फड़ा रही है

और गुलामी के जुए को उतार फेंकने का दृढ़ निश्चय कर चुकी है। ऐसी हालत में विस्तृत खून-खराबी होने और उसकी आड़ में शक्ति-गुटों द्वारा सैनिक हस्तक्षेप किये जाय जाने का बुनियादी खतरा बना हुआ है। यदि समस्या को अपने तरीके पर छोड़ दिया गया तो उस क्षेत्र में भी शीत-युद्ध के विस्तार की आशंका है।

यूनाइटेड नेशनल इंडिपेंडेंस पार्टी और उसके नेता श्री कोंडा अबतक भारी उत्तेजनात्मक परिस्थितियों तक में आत्मिक विश्वास के रूप में अहिंसा की नीति पर चलते आये हैं। लेकिन जैसा कि स्वाभाविक है कि लोग अब ज्यादा समय तक सहन कर सकेंगे। यदि भारी खून-खराबी के खतरे को टालना है, तो उसका केवल एक ही रास्ता है कि विश्व-भर से उनके लिए नैतिक समर्थन जुटाया जाय और उनके अहिंसात्मक आंदोलन में भाग लिया जाय, एवं उसको सहायता दी जावे। अतः टांगानिका अफ्रीकन नेशनल यूनियन, यूनाइटेड नेशनल इंडिपेंडेंस पार्टी ऑव नार्दर्न रोडेशिया, एवं पान-अफ्रीकन फ्रीडम मूवमेंट नाम की संस्थाओं के सहयोग से 'विश्व-शांति-सेना' ने टांगानिका से उत्तर रोडेशिया में एक मार्च संगठित करने का निश्चय किया है, जिसमें अफ्रीकी राष्ट्रों के सत्याग्रहियों के साथ विश्व के सब भागों के सत्याग्रही शामिल होंगे। इस तरह की योजना है कि जिस दिन इस प्रकार सिविल नाफरमानी करके सीमा में घुसा जाय उस दिन सम्पूर्ण नॉर्दर्न रोडेशिया में आम हड़ताल रहे।

विश्व-शांति-सेना के कार्य-संचालन हेतु एक 'विश्व-परिषद्' का निर्माण किया गया, जिसमें विश्व के विभिन्न राष्ट्रों के सदस्य शामिल हैं।

परिषद् के तीन संयुक्त चेयरमैन इस प्रकार हैं : ए० जे० मुश्ते (अमेरिका), माइकल स्कॉट (ग्रेट ब्रिटेन) तथा जयप्रकाश नारायण (भारत) ब्रिगेड का मुख्य कार्यालय फिलहाल ८८, पार्क एवेन्यू, एनफिल्ड मिडेका (इंग्लैण्ड) में स्थित है।

विश्व-शांति-सेना के प्रारम्भ-कर्ता हैं : होरेस अलक्जेण्डर (ग्रेट ब्रिटेन), एन्थोनी ब्रुक (ग्रेट ब्रिटेन), आल्डो केपितिनी (इटली), रिचार्ड ग्रेग (सं० रा० अमेरिका), हगबार्ड जोनासन (डेनमार्क), मार्टिन लूथर किंग (सं० रा० अमेरिका), क्लेरेंस पिकेट (सं० रा० अमेरिका), एडमंड प्रिवाट (स्विट्जरलैण्ड), बरट्रेन्ड रसल (ग्रेट ब्रिटेन) इ० सी० क्वेयी (घाना), तिवोर सीकलज (यूगोस्लाविया), लांजा डेल वास्तो (फ्रांस)।

विश्व-शांति-सेना की तीन रीजनल कौंसिलें, यूरोप के लिए ग्रेट ब्रिटेन में, उत्तरी अमरीका के लिए सं० रा० अमरीका में तथा एशिया के लिए भारत में बनाई गई हैं। आस्ट्रेलिया एवं न्यूज़ीलैंड एशियाई ज़ोन में रखे गये हैं।

एशियाई रीजनल कौंसिल का मुख्य कार्यालय सर्व-सेवा-संघ के कार्यालय के साथ राजघाट, वाराणसी में है।

हमारी आंख नहीं खुलती

सीने पर खार चुभा है। खून बूंद-बूंद होकर टपक रहा रहा है। जहां कहीं गिरता है, वहीं धरती पर लाल-लाल फूल खिल उठता है। पर मेरे फूल अकेले हैं। यह दुनिया तो मुगलों के शाही बगीचों की ओर जा रही है।

मेरे यहां मतलब की कई बातें हैं। प्रेम की पुस्तक है। पर मेरी यह पुस्तक २१ नम्बर बस के तेज़ भागनेवाले धुएं और शोर में खो गई है। ये लोग तो यूनिवर्सिटी लायब्रेरी की ओर जा रहे हैं।

आणविक बादल के साये में संसार जाग रहा है। (जाग रहा है जैसे कोई भयंकर सपना देखने के बाद जागे।) पर जब मेघ को देखकर मोर खुश है तो मानव की आंख नहीं खुलती।

—मोतीलाल जोतवाणी

कसौटी पर

आधुनिक हिन्दी कवयित्रियों के प्रेम-गीत : **सम्पादक : क्षेमचन्द्र सुमन; प्रकाशक : राजपाल एंड संस, पो० ब० १०६४,दिल्ली;, पृष्ठ-संख्या ४१६; मूल्य : ७) रुपये।**

प्रेम हृदय का सहज धर्म है। न जाने किस युग में और किन परिस्थितियों के कारण प्रेम के साथ वर्जन और भय का सहयोग हो गया, विशेष कर नारी के सन्दर्भ में। जैसे उसे प्रेम को व्यक्त करने का अधिकार ही न हो। और जो अधिकार का उपयोग करती है वह कोई पाप कर रही हो। इस पुस्तक की भूमिका में शील और संयम की दुहाई देनेवाली नारी का एक पत्र इसका प्रमाण है। और यह इस बात का भी प्रमाण है कि हमारे चिंतन की धारा कितनी अस्वस्थ और अस्वाभाविक है। सहज को अधर्म की संज्ञा देना अस्वाभाविक ही है।

इसलिए श्री क्षेमचन्द्र सुमन ने १७५ प्रेम-गीतों का संग्रह करके स्तुत्य कार्य किया है। इससे न केवल हम नारी-हृदय के अन्तर की झांकी पा सकेंगे, बल्कि साहित्य की दृष्टि से भी अध्ययन की अनमोल सामग्री हमें मिलेगी। इस संग्रह के अनेक गीत मन को छूते हैं। बार-बार पढ़ने को मन करता है। पढ़कर मन में वासना नहीं जागती, पवित्रता की अनुभूति होती है। निश्चय ही सभी गीत एक स्तर के नहीं हैं, क्योंकि यह संग्रह पहले है, अध्ययन बाद में। परन्तु फिर भी ऐसे गीतों की संख्या बहुत अधिक है, जो किसी भी साहित्य के लिए गौरव हो सकते हैं। हम इस संग्रह का मुक्त हृदय से स्वागत करते हैं। और विषयों को लेकर ऐसे ही संग्रह प्रकाशित होने चाहिए। **—सुशील**

वोरा एण्ड कम्पनी पब्लिशर्स प्रा० लि० बम्बई-२ के प्रकाशन

१. *राम-रेखा* **(उपन्यास) : लेखक : श्री गुणवंत राय आचार्य; अनुवादक : श्री परदेशी; आकार क्राउन पृष्ठ-संख्या : २६०, सजिल्द; मूल्य : पांच रुपये।**

यह विजयनगर राज्य-संबंधी एक मध्यकालीन राजनैतिक-ऐतिहासिक उपन्यास है। जिस समय दक्षिण भारत की ओर तुर्क हमलावर तूफान की तरह बढ़ रहे थे, उस समय विजयनगर में रामहरिहर राज्य करते थे। पर वहां भाषा और और सम्प्रदायों के भेद के कारण तुर्कों का डटकर तथा मिलकर सामना करने की शक्ति जनता में न थी। उसी समय इस विपत्ति का सामना करने के लिए राजा ने भाषागत तथा सम्प्रदायगत वाद-विवादों को तथा वैमनस्य को बड़ी चतुराई से बहुत-कुछ मिटाकर सीमाबद्ध कर दिया, एक रेखा के अन्दर मर्यादित कर दिया। इसी मर्यादा-रेखा का नाम राम-रेखा था। उस रेखा का कोई उल्लंघन नहीं कर सकता था। उपन्यास आज के भारत की स्थिति में हमें बहुत-कुछ सिखाता है। इसमें राजा हरिहर तथा जैन वणिक पुत्री गोमती के चरित्र बड़े अच्छे उभर सके हैं और श्रमणबेल गोतम की बाहुवली की विशाल मूर्ति तथा उसके अभिषेक का वर्णन अत्यंत सुन्दर है। उपन्यास पढ़ना आरम्भ करने के बाद छोड़ने को जी नहीं चाहता।

२. *महाराणा उदयसिंह* **(उपन्यास) : लेखक : श्री रमणलाल वसंत लाल देसाई; अनुवादक : श्री श्यामलाल मेढ़; पृष्ठ-संख्या : ३०८; मूल्य : रु० ५.५० नये पैसे।**

यह एक गुजराती ऐतिहासिक उपन्यास का हिन्दी अनुवाद है। यद्यपि महाराणा उदयसिंह न अपने पिता राणा सांगा के समान वीर था न अपने पुत्र महाराणा प्रतापसिंह के समान, पर इतिहास में उसका अपना स्थान है, क्योंकि उस मध्यकालीन संकटपूर्ण वीरता युग में वह कई वर्षों तक मेवाड़ पर निष्कंटक राज्य करता रहा। कुछ इतिहासकार उदयसिंह को विलासी कहते हैं। इस बात का उत्तर लेखक ने इस उपन्यास में 'न' में दिया है। उपन्यास में महाराणा उदयसिंह, महाराणी स्वरूपरानी, प्रेम जोगिनी, गणिका नन्दिनी, पीठ-में

छुरा भोंकनेवाले मित्र हाजी खां, पन्ना तथा दूसरे वीर राजपूतों के चरित्र अच्छे बने हैं। उपन्यास रोचक है और मेवाड़ के इतिहास के एक महत्वपूर्ण अध्याय पर प्रकाश डालता है।

३. महारात्रि (उपन्यास) : मूल लेखक : श्री यशोधर मेहता; अनुवादक : सर्वश्री श्यामू संन्यासी तथा मगनलाल जैन; पृष्ठ-संख्या २८०; मूल्य : रु० ५.५०।

इस उपन्यास का नायक धर्मवीर, जो रतिनाथ के नाम से प्रसिद्ध है, अपनी प्रेयसी के अपने छोटे भाई से विवाह होने पर उपनिषद के इस सूत्र 'तेन त्यक्तेन भुंजीथा:' से प्रेरित होकर त्याग के मार्ग को अपनाता है। वह इंग्लैंड की योग भूमि में जाकर वहां के अनेक लोगों को अपने आध्यात्मिक तथा रहस्यवादी विचारों से प्रभावित करता है। उपन्यास में सभी अच्छे तत्व होते हुए भी आध्यात्मिकता का स्वर मुख्य है। वहां की अनेक युवतियां तथा पुरुष उसके अनुयायी बन जाते हैं और वे भारत आकर आध्यात्मिकता का प्रचार करते हैं। उपन्यास के कुछ वाक्य तो सूक्ति रूप लिये हुए हैं, जैसे (१) 'प्रेम उत्तम वस्तु है और राग अधम। राग मनुष्य को पराधीन और दुखी करता है।' (पृ० ८५)। (२) राग यौवन की प्रकृति है, विकृति नहीं। फिर राग अनुभव का द्वार भी है और अनुभव के बिना आत्मज्ञान कदापि नहीं होता।' (पृ० ८७)। (३) 'जो छोड़ता है, वह जीता है? (पृ० ११५), (४) 'बिना श्रम की सम्पत्ति विनाश को ही निमंत्रित करती है।' (पृ० ११७)। आध्यात्मिक चर्चा के साथ-साथ पाठक को इसमें इंग्लैण्ड की सैर का स्वाद भी प्राप्त होगा। उपन्यास की थीम सर्वथा नये ढंग की है। यह इसकी विशेषता है।

४. दोपहर को अंधेरा (उपन्यास) : लेखक : श्री यमुनादत्त वैष्णव 'अशोक'; पृष्ठ-संख्या : २३०; मूल्य : रु० ३.५०

यह हमारे समसामयिक भ्रष्टाचारपूर्ण जीवन पर आधारित एक सोद्देश्य उपन्यास है और वर्तमान शासन तथा उसके भ्रष्ट अधिकारियों और कर्मचारियों के हथकंडों तथा करतूतों पर गहरी चोट करता है। उपन्यास में एक ईमानदार, सत्यवादी और कर्तव्यपरायण तहसीलदार की कथा, जो अपने दुश्मन साथियों के द्वारा कष्ट पाता है, नौकरी से बरख्वास्त होता है और हथकड़ी पहनता है। पर बाद में वह तहसीलदार बड़ा नेता बनता है। हमारे भ्रष्ट शासन से जनता को जो संकट हो रहे हैं, और स्वराज्य सुराज या रामराज्य नहीं बन पाया है, उसका इसमें अच्छा सशक्त कलापूर्ण शैली से वर्णन है।

५. धर्मात्मा, ६. बाबा भारती का घोड़ा, ७. अजातशत्रु ८. हृदय-परिवर्तन।

ये चार छोटी पुस्तिकाएं वोरा एण्ड कम्पनी की ज्ञानोदय माला के अंतर्गत प्रकाशित नवसाक्षरों के लिए अत्यंत उपयोगी हैं। इनके लेखकों ने कहानियों के माध्यम से क्षमा, सेवा, प्रभु की सच्ची पूजा, सच्चा साधु और आदमी अपना शत्रु आप है, आदि विषयों को पाठकों को समझाने का सफल प्रयत्न किया है। पुस्तकें शिक्षाप्रद हैं और इनकी भाषा सरल है। प्रत्येक पुस्तक का मूल्य ४० नये पैसे हैं।

—माईदयाल जैन

भूल-सुधार

'जीवन-साहित्य के सितम्बर १९६२ के अंक में प्रकाशित लेख 'बाहर' के लेखक महात्मा भगवानदीनजी हैं, श्री जे. कृष्णमूर्ति नहीं, पाठक कृपया भूल सुधार लें।

—सम्पादक

हमारी राय

क्या व कैसे ?

गांधीजी के प्रति श्रद्धांजलि

हमारे देश के लिए वैसे तो सभी मास गांधी-मास हैं, क्योंकि हमारे नेता बार-बार कह रहे हैं कि वे भारत का नव-निर्माण गांधीजी के आदर्शों के अनुसार करना चाहते हैं, फिर भी अक्तूबर-मास का विशेष महत्व है, क्योंकि इस महीने की २ तारीख को गांधीजी का जन्म हुआ था। उनकी जयंती मनाने का सर्वोत्तम ढंग एक ही है और वह यह कि उनके विचारों का अध्ययन और तदनुकूल आचरण किया जाय। हम कई बार कह चुके हैं और उसी बात को पुनः दोहराते हैं कि गांधीजी को उनका नाम रटकर अथवा उनके प्रति औपचारिक श्रद्धांजलि अर्पित करके जीवित नहीं रक्खा जा सकता और न उनकी मूर्ति को प्रतिष्ठित करके ही। गांधीजी को जीवित रखने का एकमात्र उपाय उनके विचारों को समझना और अपनाना है, उनके द्वारा प्रज्वलित की गई ज्योति को प्रकाशित रखना है।

पाठकों से हमारा अनुरोध है कि वे इस मास में गांधीजी की अधिक-से-अधिक पुस्तकों का अध्ययन करें। जो पढ़ें उस-पर चिन्तन करें और उस आदर्श को चरितार्थ करने में कृत-संकल्प हों, जो गांधीजी ने स्वतंत्र भारत के भावी रूप के बारे में अपने सामने रक्खा था।

भारत की विशेषता इसलिए है कि वह एक महान परम्परा का देश है। सारा विश्व उसे इसीलिए मान देता है कि गांधीजी ने उस परम्परा को आगे बढ़ाया और उसके कल्याणकारी रूप को संसार के सामने रक्खा।

हम आशा करते हैं कि इस पुनीत मास में पाठक अधिका-धिक गांधीजी के सान्निध्य में रहेंगे और उनके विचारों से ऐसी प्रेरणा लेंगे, जो उनके जीवन को कर्त्तव्य-परायण बनाने में सहायक होगी। इससे बढ़कर गांधीजी के प्रति और कोई श्रद्धांजलि नहीं हो सकती।

आगे 'हिन्दी-दिवस' इस प्रकार मनावें

१४ सितम्बर १९५० को भारतीय संविधान में हिन्दी को राष्ट्रभाषा और देवनागरी को राष्ट्र-लिपि के रूप में मान्यता प्राप्त हुई थी। उसीकी स्मृति में प्रति वर्ष १४ सितम्बर को 'हिन्दी-दिवस' मनाया जाता है। उस दिन सभाएं होती हैं और हिन्दी की महत्ता के विषय में भाषण होते हैं। इस वर्ष भी यह दिवस सारे देश में मनाया गया, लेकिन सच यह है कि इस बार वह प्रसन्नता और उमंग नहीं दिखाई दी, जो पिछले वर्षों में देखने में आई थी और यह स्वाभाविक ही था। हिन्दी के साथ अनिश्चित समय तक के लिए अंग्रेजी का गठबंधन कर देना किसी भी राष्ट्रभाषा-प्रेमी को रुचिकर नहीं हो सकता।

जो हो, हमारा मत है कि भविष्य में इस दिवस को कुछ दूसरे ही रूप में मनाना चाहिए। उस दिन स्थान-स्थान पर हिन्दी-प्रेमी एकत्र हों और गंभीरतापूर्वक विचार करें कि हिन्दी के भण्डार में किन-किन चीजों की कमी है और उसे दूर करने और कराने का प्रयत्न करें। उनका संकल्प होना चाहिए कि अगले पांच वर्षों में हिन्दी के बहुत-से अभावों को मिटा देंगे।

दूसरा कार्यक्रम यह हो कि हिन्दी तथा भारतीय भाषाओं के बीच पूर्ण सद्भाव स्थापित किया जाय। भारत की सारी भाषाएं बहनें हैं और देश की राष्ट्रीयता तथा अखंडता की पोषक हैं।

तीसरा कार्यक्रम यह हो कि 'अंग्रेजी हमें नहीं चाहिए' का स्वर ऊंचा किया जाय। देश का जाने कितना रुपया इस विदेशी भाषा के बोझ को ढोने पर खर्च हो रहा है। आगे जोरदार मांग होनी चाहिए कि हम इसे सहन नहीं करेंगे।

यदि 'हिन्दी-दिवस' को भविष्य में इस प्रकार मनाया गया तो वह सारे देश के लिए लाभदायक होगा।

विनोबाजी के पाकिस्तान-प्रवास के फलितार्थ

पूज्य विनोबाजी ने ४ सितम्बर को पूर्वी पाकिस्तान में प्रवेश किया था और १८ दिन तक वहां के विभिन्न स्थानों की पद-यात्रा करके २१ तारीख को वह पुनः भारत की सीमा में आगये। राजनैतिक स्तर पर भारत और पाकिस्तान के संबंध जैसे हैं, वे किसीसे छिपे नहीं हैं। आएदिन कोई-न-कोई समस्या उठ खड़ी होती है। कुछ समस्याएं स्थायी रूप से बनी हुई हैं और वे आपसी कटुता को अधिकाधिक गहरा कर रही हैं। इन समस्याओं को सुलझाने के लिए बराबर प्रयत्न किये जाते हैं; लेकिन उनका अपेक्षित फल नहीं निकलता। दो पड़ोसी देशों के बीच, जो कुछ ही समय पूर्व तक एक रहे हों और जिनकी आत्मा आज भी अखंड हो, सौहार्द का न होना दोनों के लिए ही कष्टदायक है; पर दुर्भाग्य से आपस की गांठ खुल नहीं पा रही है।

विनोबाजी की पाकिस्तान-यात्रा ने साफ़ दिखा दिया है कि वह गांठ खुल सकती है, पर उसे खोलने का तरीका दूसरा है। जिस समय विनोबाजी काश्मीर में थे, उन्होंने अपने एक प्रवचन में कहा था, "मुझे विश्वास है कि मैं पाकिस्तान जाऊंगा तो वैसा ही प्रेम पाऊंगा, जैसा यहां भारत में पाता हूं। वहां की जनता मुझे जमीन देगी, सर्वोदय-विचार सुनेगी।"

इसी अदम्य विश्वास को लेकर वह पाकिस्तान गये और अठारह दिन के अनुभव ने यह सिद्ध कर दिया कि उनका विश्वास सही था। उन्हें भूदान-यज्ञ में जमीन मिली। इतना ही नहीं, वहां के लोगों ने प्यार और श्रद्धा की उनपर वर्षा की। हृदय शुद्ध हो तो उसका प्रभाव पड़े बिना नहीं रहता और प्रेम कभी अकारथ नहीं जाता।

विनोबाजी की यात्रा के समाचारों से हम जिन निष्कर्षों पर आये हैं, वे संक्षेप में ये हैं :

१. प्रत्येक देश के जन-सामान्य का हृदय शुद्ध होता है। यदि साफ़ दिल से उनके हित की बात की जाय तो वे उससे अवश्य प्रभावित होते हैं।

२. प्रेम से बड़े-से-बड़े प्रश्न भी हल किये जा सकते हैं। प्रेम की शक्ति सर्वोपरि है।

३. संसार की विभाजक भौगोलिक सीमाएं लोगों के दिलों को नहीं बांट सकतीं। विभाजन का काम तो राज-नैतिक महात्वाकांक्षाएं करती हैं।

४. विश्व का वास्तविक हित विज्ञान की उपलब्धियों से नहीं होगा। उसके लिए प्रेम और पारस्परिक सहयोग आवश्यक है।

५. व्यष्टि का सुख समष्टि के सुख में है। इस अनुभूति और तदनुकूल आचरण के बिना शान्ति स्थापित होना असंभव है।

ये तथा अन्य फलितार्थ आज की समस्याओं को हल करने में बहुत सहायक हो सकते हैं। अपने देश के राज-नेताओं से हमारा अनुरोध है कि वे इस ओर ध्यान दें और राजनीति की बुनियाद उन अधिष्ठानों पर रक्खें, जिनसे मानवीय मूल्यों को मान्यता प्राप्त हो और उनका अधिका-धिक प्रचार एवं प्रसार हो।

भारत की राजधानी

दिल्ली को भारत की राजधानी होने का गौरव है और कहा जाता है कि वह धीरे-धीरे एशिया का एक प्रमुख केन्द्र बनती जा रही है। आए-दिन विभिन्न देशों के प्रमुख व्यक्ति यहां आते रहते हैं, राष्ट्रीय-अंतर्राष्ट्रीय कांफ्रेंसें होती रहती हैं, बड़ी-बड़ी योजनाएं बनती रहती हैं। लेकिन यह तस्वीर का एक पहलू है। दूसरा पहलू यह है कि उसकी आंतरिक स्थिति, अन्य नगरों की भांति, बल्कि उनसे भी अधिक असंतोषजनक है। पिछले दिनों बिजली का संकट आया और वह दूर हुआ कि अब पानी का संकट आ गया। कई दिन तो ऐसी हालत रही कि लोगों को पीने का पानी तक मुश्किल से मिल पाया। यद्यपि अब स्थिति कुछ सुधर गई है, तथापि आज भी लोग पानी की तंगी अनुभव कर रहे हैं।

इतना ही नहीं, ज़रा सड़कों और बसों की हालत देख लीजिये। बेला रोड का राजघाट के निकट का एक भाग महीनों से अधूरा पड़ा है। सुना है, ठेकेदार से झगड़ा हो जाने के कारण काम बंद हो गया है। पिछले साल सड़कों की बुरी हालत को लेकर जब तीव्र आलोचना हुई तो सारी सड़कों की मरम्मत करा दी गई। लेकिन इस बार अधिक पानी न पड़ने पर भी सड़कों का जो हाल होगया है, वह शासन के ऊपर एक बहुत बड़ा लांछन है।

बसों की हालत भी देखने योग्य है। हजारों रुपयों की बसों की कोई गद्दी कटी हुई है तो किसीकी सीट गायब

है; किसीकी चद्दर उखड़ी हुई है तो किसीका इंजन बेहद आवाज करता है; किसीसे काला-काला धुंआ निकलता है तो किसीका टायर चलते-चलते जवाब दे जाता है। एक दिन एक फटी हुई गद्दी और इंजन के पास की उखड़ी हुई चद्दर की ओर जब हमने कन्डक्टर का ध्यान खींचा और कहा कि वह अधिकारियों से इसकी रिपोर्ट क्यों नहीं करता तो उसने तत्काल उत्तर दिया, "रिपोर्ट करने से क्या फायदा ! कोई सुनता ही नहीं।"

शहर की गंदगी तो किससे छिपी है ! बाजारों में खाने-पीने की चीजों पर मक्खियां भिनकती रहती हैं, स्कूलों के बाहर बच्चों के स्वास्थ्य के लिए हानिकारक चीज़ें, धूल-मिट्टी और मक्खियों से भरी, खुले आम बिकती हैं और जामा मस्जिद पर तथा अन्य स्थानों पर जिस तरह मांस की बिक्री होती है, उसके लिए 'बीभत्स' शब्द भी ओछा पड़ेगा।

राजनीति के क्षेत्र में यों तो सभी जगह गंदगी है, पर राजधानी की गंदगी बेमिसाल है। दिल्ली के तथाकथित नेताओं के आपसी झगड़ों, केन्द्रीय सरकार के पारस्परिक मतभेदों तथा कांग्रेस के कर्णधारों की ढिलमिल नीति जैसे आपस में होड़ लगाती रहती हैं। दिल्ली के वरिष्ठ राजनेता (!) चिन्तित हैं कि उनके नगर का 'स्टेटस' किस प्रकार ऊंचा हो और वह कैसे एक राज्य बने; केन्द्रीय मंत्रिमंडल के मंत्री आश्वस्त नहीं हैं कि उनका सितारा कब-तक बुलंद रहेगा। कांग्रेस के कर्णधारों ने प्रधान मंत्री की नीतियों का पोषक मात्र बनकर कांग्रेस के स्वतंत्र अस्तित्व को ही एक प्रकार से समाप्त कर दिया है।

नई पीढ़ी, जिसपर किसी भी स्वाधीनचेता राष्ट्र की आशा अवलम्बित होती है, अपनी पुरानी पीढ़ी से किस प्रकार की प्रेरणा प्राप्त कर रही है, यह सर्वविदित है। स्कूल-कालेज के छात्रों को हम प्रायः सड़क पर सिगरेट का धुंआ उड़ाते तथा बसों में अभद्र व्यवहार करते, ज़रा-ज़रा-सी बात पर लड़ने के लिए आमादा देखते हैं। उनकी क्षमता और प्रतिभा सृजनात्मक कार्यों में काम नहीं आ रही है, विनाशकारी मार्ग पर जा रही है।

यह स्थिति दिल्ली के लिए ही नहीं, समूचे देश के लिए अत्यन्त हानिकारक है। वह शासन और नागरिकों की चेतना के लिए भारी चुनौती है। यह निर्विवाद सत्य है कि यदि दिल्ली पाक-साफ़ नहीं बनी, उसने देश के सामने अच्छी मिसाल पेश नहीं की, तो देश-विदेश में उसका जो मान है, वह अधिक दिन नहीं टिकने का।

किसी भी स्वतंत्र देश की राजधानी की बड़ी जिम्मेदारियां होती हैं। वह राष्ट्र के शरीर का हृदय और उससे भी अधिक उसकी आत्मा होती है। यदि हृदय विकृत और आत्मा कलुषित है तो बेचारे शरीर के दुर्भाग्य की सहज ही कल्पना की जा सकती है।

दिल्ली की वर्तमान दुरवस्था के लिए शासन और नागरिक दोनों दोषी हैं। उसका वास्तविक अभ्युदय तब होगा जबकि शासन और नागरिक मिलकर काम करेंगे। दुर्भाग्य से आज नागरिकों की यह धारणा बन गई है कि सरकार उसके लिए सबकुछ करेगी, पर वे यह भूल जाते हैं कि सबकुछ करना अलादीन के चिराग़ के लिए ही संभव है और यह चिराग़ शासन के हाथ में नहीं है, लोक-शक्ति के रूप में जनता के पास है।

शासन और नागरिक, दोनों से हमारा अनुरोध है कि वे देश के हृदय को दृढ़तापूर्वक संभालकर उसकी त्रुटियों और कमियों को देखें और उन्हें पूरी शक्ति से दूर करें। दोनों के जागरूक और तत्पर हो जाने पर दिल्ली के जीवन में नया अध्याय खुलने में देर नहीं लगेगी।

अहिंदी-भाषियों की जिम्मेदारी

हाल ही में भारत सरकार के गृह-मंत्री श्री लालबहादुर शास्त्री ने अपने एक भाषण में कहा है कि संसद् के आगामी अधिवेशन में वह उस विधेयक को प्रस्तुत कर रहे हैं, जिसमें अंग्रेजी को अनिश्चित समय तक हिन्दी की सह-राजभाषा के रूप में स्वीकार किया गया है। उनका मुख्य तर्क यह है कि अहिन्दी-भाषी हिन्दी को नहीं चाहते हैं और उनकी इच्छा और मांग है कि अंग्रेजी अभी हमारे देश में रहनी चाहिए।

उनके कहने का मतलब यह होता है कि हमारे देश को विदेशी भाषा का बोझ अहिन्दी-भाषियों के कारण उठाना पड़ रहा है और भविष्य में भी इसके लिए वे ही जिम्मेदार रहेंगे। यदि ऐसा नहीं है तो वे मांग करें कि हमारे देश की राज-भाषा हिन्दी ही रहनी चाहिए, अंग्रेजी को संविधान में निर्धारित सन् १९६५ की अवधि के बाद कोई स्थान नहीं

मिलना चाहिए।

बात स्पष्ट है। श्री शास्त्रीजी के हिन्दी-प्रेम के बारे में दो मत नहीं हो सकते; लेकिन राजनीति उन्हें वह काम करने को बाध्य कर रही है, जो उनकी इच्छा के विरुद्ध है। जो हो, सन् १९६५ तक अंग्रेजी को रखने के लिए देश संविधान के अनुसार बाध्य था, पर अब उसके सामने ऐसी कोई लाचारी नहीं है कि वह उसे रक्खे ही।

पर चूंकि भार अब अहिन्दी-भाषियों पर आ पड़ा है, इसलिए उनको आगे आकर कहना चाहिए कि हमको अंग्रेजी नहीं चाहिए, हम सन् १९६५ के बाद अपनी राष्ट्र-भाषा हिन्दी में अपना राज-काज चलायंगे।

अहिंदी-भाषियों की हिन्दी के प्रति जो निष्ठा है, उसकी बराबरी कोई नहीं कर सकता। वे बड़े परिश्रम और लगन से हिन्दी का अध्ययन कर रहे हैं और बहुतों ने हिन्दी में आश्चर्यजनक योग्यता प्राप्त कर ली है। वे इतनी शुद्ध हिन्दी लिखते हैं कि उनकी रचनाओं में एक शब्द इधर-उधर नहीं किया जा सकता। वे एक ऐसी भाषा को, जो अपनी नहीं है और जिसे हमारे देश में केवल दो प्रतिशत लोग जानते हैं, कदापि नहीं चाहेंगे। सच बात यह है कि जो लोग उनकी ओर से बोल रहे हैं, वे उनके प्रतिनिधि नहीं हैं। राजनीति के दलदल में फंसकर वे इन इने-गिने सरकारी उच्चाधिकारियों की भाषा बोल रहे हैं, जो अंग्रेजी के हिमायती हैं और जो इस भ्रम में हैं कि भारत का उद्धार और अभ्युदय अंग्रेजी भाषा से ही संभव हो सकता है। लेकिन सबसे बड़ी कठिनाई और उलझन यह है कि अहिन्दी-भाषी लोग यह कहने की हिम्मत नहीं कर पा रहे हैं कि उनके तथा-कथित प्रतिनिधि और प्रवक्ता उनकी वास्तविक आकांक्षा व्यक्त नहीं कर रहे हैं, बल्कि उल्टी बात कर रहे हैं। कोई भी स्वाधीन-चेता व्यक्ति किसी विदेशी भाषा की गुलामी हर्गिज बर्दाश्त नहीं कर सकता।

अब समय आगया है कि अहिन्दी-भाषी अपनी आवाज ऊंची करें और कहें कि अंग्रेजी को जो स्थान देने का प्रस्ताव है, वह उनकी इच्छा के प्रतिकूल है। उन्हें अंग्रेजी नहीं, हिन्दी चाहिए।

आगे आनेवाला विधेयक अहिन्दी-भाषियों के लिए, उनके राष्ट्र-प्रेम के लिए एक ऐसी चुनौती है, जिसका मुकाबिला किया जाना चाहिए। इतना ही नहीं, अब अवसर है कि हिन्दी की रफ्तार को और तेज किया जाय और किसी भी विदेशी भाषा के आने की संभावना को सदा-सदा के लिए समाप्त कर दिया जाय।

हम आशा करते हैं कि अहिन्दी-भाषी अपने नाम पर इस झूठ और अन्याय को नहीं चलने देंगे और वे अविलम्ब संगठित रूप में अपनी आवाज उन अधिकारियों तक पहुंचावेंगे, जो २ प्रतिशत व्यक्तियों की खातिर ९८ प्रतिशत व्यक्तियों पर अनुचित एवं अवांछनीय बोझ डालने पर तुले हुए हैं।

'पर उपदेश कुशल बहुतेरे'

गांधी-शान्ति-प्रतिष्ठान के तत्वावधान में पिछले दिनों दिल्ली में जो कांग्रेस हुई थी, उसमें निर्णय हुआ था कि श्री राजाजी प्रभृति का एक शिष्ट-मंडल अमरीका जायगा और श्री ढेबरभाई आदि का दूसरा शिष्टमंडल रूस जायगा। ये दोनों शिष्टमंडल क्रमशः प्रेसीडेंट केनेडी तथा प्रधान मंत्री ख्रुश्चेव से मिलेंगे और निरस्त्रीकरण के पक्ष तथा आणविक अस्त्रों के परीक्षणों के विपक्ष में वायुमंडल तैयार करेंगे। फलतः दोनों शिष्टमंडलों ने अपना कार्य आरंभ कर दिया है। राजाजी का शिष्टमंडल अमरीका और ढेबरभाई का शिष्टमंडल रूस पहुंच गया है।

इनके प्रयास का क्या परिणाम निकलेगा, यह कहना कठिन है। मास्को में विभिन्न देशों के प्रतिनिधियों की शान्ति-कांग्रेस के समाप्त होने पर आशा की जानी चाहिए थी कि उसका प्रभाव कुछ समय तो रहेगा ही; लेकिन ज्योंही अंतिम अधिवेशन खत्म हुआ कि वहां आणविक अस्त्रों के परीक्षणों का सिलसिला शुरू होगया। अमरीका भी पीछे रहनेवाला नहीं था। वह भी मैदान में आगया। शान्ति के प्रयत्नों का अंततोगत्वा यह परिणाम निकला!

हमारे इस कटु तथ्य का उल्लेख करने का आशय यह नहीं है कि हमारे भारतीय नेताओं के प्रयत्नों का भी यही नतीजा निकलेगा; लेकिन इतना हम अवश्य कहना चाहते हैं कि जब हम अपने देश में शान्ति स्थापित नहीं करा सके, हिंसा का परित्याग नहीं करा सके तो अपनी बात वहां जोर से किस प्रकार कह सकते हैं? गांधीजी से जब लोगों ने

कहा था कि आप पाकिस्तान जाइये तो उन्होंने उत्तर दिया था कि जबतक मैं अपने घर की आग नहीं बुझा लेता, वहां क्या मुंह लेकर जाऊं? उनका कहना ठीक था। हमारी कथनी और करनी में जितना सामंजस्य होगा, हमारे आदर्श हमारे घर में जितने लागू होंगे, उतना ही हमारी बात का, हमारे आचरण का, दूसरों पर प्रभाव पड़ेगा। राजाजी हमारे देश के एक मूर्द्धन्य नेता हैं, ढेबरभाई भी एक सदाशयी व्यक्ति हैं, लेकिन उनके तथा उनके अन्य साथियों के प्रयास अपने देश में उत्साहवर्द्धक परिणाम नहीं ला सके हैं। हमारे यहां जहां कहीं उपद्रव होता है, गोलियों से उसका सामना किया जाता है। उत्तरी सरहद पर चीन के सैनिकों का मुकाबला करने के लिए हमारी सेनाएं तैनात हैं और काश्मीर की सुरक्षा भी सैन्यबल से की जा रही है।

जब अपने देश की ऐसी हालत है तो अमरीका और रूस पर कैसे नैतिक दबाव डालकर उनसे अहिंसा के मार्ग को अंगीकार कराया जा सकता है? वे लोग कह सकते हैं कि हमसे कुछ कहने से पहले अपनी उत्तरी सरहद से आप अपनी फौजें हटा लीजिये, काश्मीर को सेनाओं से खाली करा दीजिये और अपने उपद्रवों का शमन अहिंसा से करके दिखाइये। क्या हमारे लिए यह संभव है? यदि नहीं है तो हमारा उनसे हिंसात्मक प्रवृत्तियों को रोकने के लिए कहना क्या अर्थ रक्खेगा?

जो हो, हमारा प्रथम प्रयास अपने घर को व्यवस्थित करने की दिशा में होना चाहिए। जो आदर्श हम दूसरों के सामने रखना चाहते हैं, उनपर पहले हम अपने देश को चलावें। गांधीजी ने यही किया था। तभी उनकी बात सबने सुनी। अपनी कमजोरी से हम उसपर स्थायी रूप से अमल नहीं कर सके, यह दूसरी बात है।

जो लोग दूसरे देशों पर भारतीय विचार-धारा, विशेषकर गांधीजी के सिद्धान्तों का प्रभाव डालना चाहते हैं, उन्हें पहले भारतीय जीवन को उस सांचे में ढालने में सफलता प्राप्त करके दिखानी चाहिए, अन्यथा 'पर उपदेश कुशल बहुतेरे' वाली कहावत चरितार्थ होगी।

—य०

'मंडल' की ओर से

हमारे आगामी प्रकाशन

इन दिनों हमारी कई नई पुस्तकें तैयार हो रही हैं। उनमें स्व० इन्द्र विद्यावाचस्पति की **'लोकमान्य तिलक और उनका युग'** बड़ी मार्के की किताब है। उसमें विद्वान लेखक ने न केवल लोकमान्य तिलक की जीवनी दी है, अपितु उस युग की प्रमुख घटनाओं का भी विवरण प्रस्तुत किया है। अबतक तिलक के विषय में जितनी पुस्तकें निकली हैं, उनमें इस पुस्तक का ऊंचा स्थान होगा, ऐसा हमारा विश्वास है।

हमारी बहुत दिनों से इच्छा थी कि अपने प्राचीन ग्रंथों से चुने हुए सुभाषितों के संग्रह हिन्दी के पाठकों को प्राप्त हों। अतः महाभारत के सुभाषितों का संग्रह **'महाभारत के विचार-रत्न'** के नाम से छप रहा है। इस पुस्तक में मूल सुभाषित दिये गए हैं, उनके साथ हिन्दी-रूपान्तर भी। पाठकों की सुविधा के लिए सुभाषितों का वर्गीकरण कर दिया गया है। दैनिक स्वाध्याय के लिए यह पुस्तक बड़ी उपयोगी होगी। इसका संग्रह संस्कृत के विद्वान् डा० इंद्रचन्द्र शास्त्री ने किया है।

श्री घनश्यामदास बिड़ला की लेखन-शैली से पाठक भली-भांति परिचित हैं। उनके बड़े ही हृदयस्पर्शी संस्मरणों का संग्रह **'मुझसे सब अच्छे'** के नाम से निकल रहा है। इसमें लेखक ने महात्मा गांधी के विषय में बहुत ही भावपूर्ण सामग्री दी है, साथ ही पं० नेहरू, सरदार पटेल, ठक्करबापा, महादेवभाई, मणिबेन पटेल प्रभृति के संस्मरण दिये हैं। पुस्तक इतनी रोचक और सामग्री इतनी मार्मिक है कि बिना पूरी पढ़े हाथ से नहीं छूटती।

हमारी भारतीय भाषाओं के चुने हुए उपन्यासों की माला में छठा उपन्यास तमिल के विख्यात लेखक श्री सुब्रह्मण्यन् का निकल रहा है **'हृदय-नाद'**। उसमें एक संगीतज्ञ के जीवन के उतार-चढ़ावों की बड़ी हृदय-द्रावक कहानी है। इस माला में अबतक पांच उपन्यास हिन्दी, मराठी, कन्नड़, बंगला और गुजराती के निकल चुके हैं।

महात्मा भगवानदीन की **'आज़ाद बनो'** पुस्तक प्रत्येक भारतीय के हाथ में होनी चाहिए। यह पुस्तक विचार-पूर्ण सामग्री से परिपूर्ण है और उसकी शैली इतनी सरल-सुबोध है कि सामान्य पढ़े-लिखे पाठक भी उसे सहज ही समझ सकते हैं। इस प्रकार की प्रेरणादायक और जीवन को सही राह सुझानेवाली पुस्तक हिन्दी में दुर्लभ है।

इनके अतिरिक्त और भी कई पुस्तकें तैयार हो रही हैं। इन सबके प्रकाशन की सूचना समय-समय पर 'जीवन-साहित्य' द्वारा मिलती रहेगी।

पुनर्मुद्रण

'मंडल' की यों तो बहुत-सी पुस्तकों के पुनर्मुद्रण होते रहते हैं; लेकिन हम दो का विशेष रूप से उल्लेख करना चाहते हैं। उनमें पहली है राजेन्द्रबाबू की **'आत्मकथा'**। इस पुस्तक को एक आलोचक ने हिन्दी आत्म-कथा-साहित्य की सर्वश्रेष्ठ आत्म-कथा माना है। यह मात्र आत्म-चरित नहीं है, देश की आजादी की लड़ाई का पूरा इतिहास इसमें आगया है। सरदार पटेल ने पुस्तक की भूमिका में लिखा है कि कोई भी देश-प्रेमी इस पुस्तक को पढ़े बिना नहीं रहेगा। इतनी सरल, इतनी स्पष्ट और इतनी प्रामाणिक आत्म-कथा सचमुच हिन्दी में मुश्किल से मिलेगी। इसका प्रकाशन शीघ्र ही हो रहा है।

पं० जवाहरलाल नेहरू की **'विश्व-इतिहास की झलक'** के बारे में तो कुछ कहना ही व्यर्थ है। उस पुस्तक का विश्व के साहित्य में अपना स्थान है। उसका पिछला संस्करण इतने बृहदाकार में निकला था कि पाठकों को कुछ असुविधाजनक लगा था। इस बार उसे दो भागों में प्रकाशित किया जा रहा है और उसमें बहुत-से नक्शे जोड़ देने से उसकी उपयोगिता में पर्याप्त वृद्धि होगई है। दोनों भागों की छपाई बहुत अच्छी हो रही है।

पहली जिल्द लगभग तैयार है। दूसरी को भी शीघ्र ही निकालने का प्रयत्न हो रहा है।

गांधी-डायरी

सन् १९६३ की गांधी-डायरी छोटे-बड़े दोनों आकारों में इस महीने में तैयार हो जायगी। अपनी मांग नियमानुसार पेशगी के साथ शीघ्र ही भेजिये अथवा अपने यहां के पुस्तक-विक्रेता द्वारा भिजवाइये। हम कई बार सूचना दे चुके हैं कि यदि आर्डर जल्दी न मिला तो बाद में निराश होना पड़ सकता है। इस समय जैसी मांग हो रही है, उससे लगता है कि डायरियां तैयार होते ही समाप्त हो जायंगी।

—मंत्री

हमारे प्रकाशन : दूसरों की दृष्टि में

धर्म-नीति : गांधीजी; पृष्ठ-संख्या : २५६; मूल्य : २·०० रुपये।

बापू के साहित्य की तीन विशेषताएं हैं—दर्शन, भाषा की सरलता एवं दलीलों की मौलिकता। बापू के दर्शन के बारे में यह लिखना आवश्यक है कि वह व्यक्ति पर, उसके विकास पर अधिक जोर देता है, यद्यपि बापू के अपने जीवन में व्यक्तिनिष्ठा एवं वस्तुनिष्ठा का बड़ा अच्छा सामंजस्य था। प्रकाशकों द्वारा एक ही विचारधारा के अधिक मिलते-जुलते प्रवाहों को इस प्रकार एक ही पुस्तक में सम्मिलित करना अध्ययन को सुविधाजनक बना देता है। प्रकाशक बधाई के पात्र हैं।

इन्दौर

—नई दुनिया

प्रस्तुत पुस्तक गांधी-साहित्य का पांचवां भाग है, जिसमें नीति-धर्म, सर्वोदय, मंगल-प्रभात और आश्रम-वासियों से शीर्षकवाले गांधीजी के चार स्वतंत्र विचार-संकलनों को एकत्र कर दिया गया है।...धर्म और नीति के विषय में गांधीजी के दृष्टिकोण को समझने के लिए यह पुस्तक बहुत उपयोगी है।

दिल्ली

—नवयुग

पंद्रह अगस्त के बाद : गांधीजी; पृष्ठ-संख्या : २४०; मूल्य : २·०० रुपये

प्रस्तुत पुस्तक में पंद्रह अगस्त १९४७ से लेकर २९ जनवरी १९४८ अर्थात् गांधीजी के निर्वाण के समय तक के गांधीजी के विचारपूर्ण सामयिक लेखों का अपूर्व संग्रह है।

...अखंड भारत के खंड हो जाने पर देश में जो अमानुषिक हत्याएं हुईं, लाखों-करोड़ों की सम्पत्ति नष्ट हुई, अनेक स्त्रियों का सतीत्व अपहरण किया गया और नैतिक व आध्यात्मिक मूल्य की चीजों का नाश हुआ, इन सबका चित्रण गांधीजी ने बड़ी ही सरल और कोमल भाषा में किया है।

पुस्तक सर्वथा पठनीय, मननीय और संग्रहणीय है। भारत के घर-घर में इसका प्रचार होना आवश्यक है।

खंडवा

—कर्मवीर

...ये लेख ऐसे समय लिखे गए हैं जब कि हिन्दुस्तान का विभाजन होकर हिन्द का शासन कांग्रेस के तथा पाकिस्तान शासन मुस्लिम लीग के हाथों आ गया था तथा हिन्द और पाकिस्तान में धर्म के नाम पर इंसानों का खुले आम वहशियाना ढंग से कत्ले आम चल रहा था तथा गांधीजी की हत्या भी हिन्दूधर्म की रक्षा के नाम पर की गई थी। प्रस्तुत पुस्तक में न सिर्फ गांधीजी द्वारा लिखे गये राजनैतिक लेख हैं, बल्कि गांधी-दर्शन से संबंधित तमाम विषयों पर लिखे गये लेखों का संग्रह है।

...पुस्तक की भाषा है गांधीजी की अपनी भाषा, हिन्दुस्तानी जिसे समझना साधारण-से-साधारण व्यक्ति के लिए आसान है।

इंदौर

—नई दुनिया

...अपने जीवन के अंतिम दिनों में वह किस दिशा में विचार करते थे, यह इस पुस्तक के लेखों से स्पष्ट हो जायगा।

दिल्ली

—वीर अर्जुन

इसमें 'पंद्रह अगस्त के उत्सव' से 'हे राम' तक (जो गांधीजी के मुख से निकले अंतिम शब्द माने जाते हैं) एक सौ लेख पूरे हो जाते हैं। गांधीजी के लेखों का ऐसा सुन्दर और सुलभ चयन और कहीं से नहीं हुआ है। अतः यह संग्रहणीय और संदर्भयोग्य है।

बंबई

—नवभारत टाइम्स

व्यवस्थापक

सस्ता साहित्य मण्डल, नई दिल्ली

रजिस्टर्ड नं० डी. २२८

गांधी-जयंती मास

में युग-पुरुष गांधीजी तथा उनकी विचारधारा से संबंधित साहित्य का अध्ययन और मनन कीजिये।

गांधी-साहित्य

गांधीजी-लिखित

प्रार्थना-प्रवचन—भाग १	३.००	आज का विचार (दो भाग)	०.७४	हिन्द-स्वराज्य	०.७५
प्रार्थना-प्रवचन—भाग २	२.५०	आश्रमवासियों से	०.४०	हृदय-मंथन के पांच दिन	०.३०
गीता-माता	४.००	एक सत्यवीर की कथा	०.२५	देश-सेवकों के संस्मरण	१.२५
पन्द्रह अगस्त के बाद	२.००	गांधी-शिक्षा : तीन भाग	०.९२	अगर मैं डिक्टेटर होता	०.३०
धर्म-नीति	२.००	गीता-बोध	०.५०	शराबबंदी करें	०.३०
मेरे समकालीन	५.००	ग्राम-सेवा	०.३७	स्वराज में अछूत कोई नहीं	०.३०
दक्षिण अफ्रीका का सत्याग्रह	३.५०	नीति-धर्म	०.३७		
आत्मकथा (संपूर्ण) सजिल्द	४.००	ब्रह्मचर्य—भाग १	१.००	खादी पहनो	०.३०
आत्मकथा (संपूर्ण) अजिल्द	२.५०	ब्रह्मचर्य—भाग २	०.७५	शिक्षा ऐसी हो	०.३०
आत्म-संयम	३.००	बापू की सीख	०.५०	कंगाली ऐसे दूर होगी	०.३०
आत्मकथा (संक्षिप्त)	१.००	मंगल-प्रभात	०.३७	कताई यज्ञ है	०.३०
अनासक्तियोग	०.७५	सर्वोदय	०.३७	ग्राम-सेवा यों करें	०.३०
अनीति की राह पर	१.००	हमारी मांग	१.००	स्त्रियां यह करें	०.३०

अन्य लेखकों द्वारा लिखित

राष्ट्रपिता	(जवाहरलाल नेहरू)	२.००	गांधी-विचार-दोहन	(किशोरलाल मशरूवाला)	१.५०
गांधीजी को श्रद्धांजलि	(विनोबा)	०.३७	श्रद्धा-कण	(वियोगी हरि)	०.७५
गांधी की कहानी	(लुई फिशर)	१.५०	गांधीवादी संयोजन के सिद्धांत	(श्रीमन्नारायण)	५.००
अहिंसा की शक्ति	(रिचर्ड बी० ग्रेग)	१.५०	स्वतंत्रता की ओर	(हरिभाऊ उपाध्याय)	४.५०
गांधी-अभिनन्दन-ग्रंथ	(सं०-राधाकृष्णन्)	४.००	सर्वोदय की बुनियाद	,,	१.००
गांधी-श्रद्धांजलि-ग्रंथ	,,	३.००	इंग्लैंड में गांधीजी	(महादेव देसाई)	१.२५
गांधीजी की छत्रछाया में	(घनश्यामदास बिड़ला)	१.५०	बापू की कारावास-कहानी	(सुशीला नैयर)	७.५०
जीवन-प्रभात	(प्रभुदास गांधी)	५.००	सर्वोदय-योजना		०.५०
बा, बापू और भाई	(देवदास गांधी)	०.५०	विनोबा के जंगम विद्यापीठ में	(कुंदर दिवाण)	२.५०
बापू	(घनश्यामदास बिड़ला)	२.००	बापू की बातें	(विष्णु प्रभाकर)	०.४०
डायरी के पन्ने	,,	१.००	गांधीजी का विद्यार्थी-जीवन	(अशोक)	०.४०
बापू के पत्र	(सं०—काका कालेलकर)	१.२५	गांधीजी का संसार-प्रवेश	,,	०.४०
बापू के आश्रम में	(हरिभाऊ उपाध्याय)	१.२५	गांधीजी के आश्रम—दो भाग	,,	०.८०

इन पुस्तकों को अपने यहां के पुस्तक-विक्रेता से मांगिये। वहां न मिलने पर हमें लिखिये।

सस्ता साहित्य मंडल, नई दिल्ली

मार्तण्ड उपाध्याय, मंत्री, सस्ता साहित्य मंडल, नई दिल्ली द्वारा न्यू इण्डिया प्रेस, नई दिल्ली में छपवाकर प्रकाशित।

वर्ष २३ : अंक ११

जीवन साहित्य

सत्साहित्य प्रकाशन

जवाहरलाल नेहरू

सम्पादक
हरिभाऊ उपाध्याय
यशपाल जैन
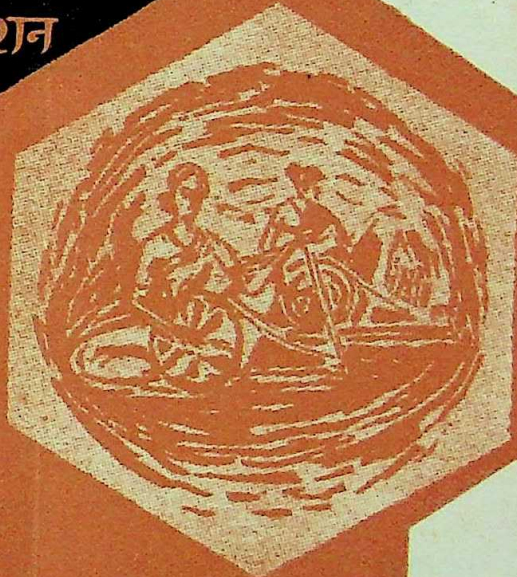
अहिंसक प्रतिकार

हिंसा के सामने दब जाना या हिंसा की नींव पर टिके हुए किसी अन्याय को स्वीकार कर लेना अहिंसा की भावना के सर्वथा विरुद्ध है।

जवाहरलाल नेहरू

अहिंसक नवरचना का मासिक

जीवन-साहित्य

नवम्बर, १९६२

विषय-सूची

पाठकों से

अपनी मातृभूमि के हम सब ऋणी हैं। वर्त्तमान संकट की घड़ी में हमारा कर्त्तव्य है कि हम उसे अपनी सर्वोत्तम देन दें। चीनियों को भारत-भूमि से हटाने का काम सैनिक करेंगे; पर देश की बुनियाद को पक्का करने की जिम्मेदारी नागरिकों की है।

हमारे हाथ में जो भी काम हो, छोटा या बड़ा, उसे सच्चाई, लगन और तत्परता से करें;

आपसी मतभेदों को मिटा दें और पारस्परिक सहयोग तथा सुमति से कार्य करें;

जात-पांत, छुआछूत, ऊँच-नीच आदि के भेदभाव समाप्त कर दें और पारिवारिक भावना का विकास करें;

उत्तम साहित्य का अध्ययन करें और सद्विचारों के आधार पर अपने जीवन को ढालें।

देश को शक्तिशाली बनाने के लिए हमें कृतसंकल्प होकर फौरन काम में जुट जाना चाहिए।

—संपादक

आवश्यक

पत्र-व्यवहार करते समय अपनी ग्राहक-संख्या अवश्य दें, जिससे कार्रवाई सुविधापूर्वक और अविलंब हो जाय।

उत्तर प्रदेश, राजस्थान, मध्यप्रदेश, हिमाचल प्रदेश, दिल्ली, बिहार तथा पंजाब राज्य-सरकारों द्वारा कालेजों, लाइब्रेरियों तथा उत्तर प्रदेश की ग्राम-पंचायतों के लिए स्वीकृत

वर्ष २३
अंक ११

नवम्बर, १९६२

चीन का आक्रमण

विनोबा

हाल ही में अपनी बंगाल पद-यात्रा में भूदान प्रणेता आचार्य विनोबा भावे ने पड़ोसी देश चीन द्वारा किये गये आक्रमण के संबंध में अपने रचनात्मक विचार प्रकट करते हुए देशवासियों का ध्यान उनके कर्त्तव्यों की ओर आकर्षित किया है। आशा है देश पर छाये संकट की इस घड़ी में प्रस्तुत लेख पाठकों को मार्गदर्शक साबित होगा।

—सम्पादक

आप सब जानते होंगे कि हमारा देश इस वक्त गंभीर परिस्थिति में है! चीन का आक्रमण भारत पर हो रहा है और भारत कहता है कि बचाव के लिए लड़ना लाज़िमी है। दोनों देशों में लड़ाई चल रही है। चीन कहता है हमारे प्रदेश पर भारत का आक्रमण हुआ है। इस तरह आरोपप्रत्यारोप हो रहे हैं। किसके किस आरोप में कितना तथ्य है, कितना नहीं इसका निर्णय सामान्य नागरिक नहीं कर सकते। इसलिए उस-उस देश के लोग उस उस सरकार की तरफ से जो जानकारी निकलती है, उसीको मानेंगे। लेकिन मेरी समझ में एक बात नहीं आती कि भारत ने एक बहुत बड़ा सुझाव दिया था—वह क्यों नाकबूल हुआ? पंडितजी (पं० नेहरू) ने सुझाव रक्खा था कि दोनों देशों के क्लेम, जिस प्रदेश पर हैं उतने प्रदेश से दोनों का दावा हट जाय और अपने-अपने दावे पेश करें। उसके बाद बातचीत चले, मध्यस्थ का उपयोग किया जाय और फैसला हो। मैं समझता हूं कि यह सुझाव बिलकुल निर्मल है।

अगर यह सुझाव नहीं माना जाता तो मेरे जैसे तटस्थ मनुष्य के चित पर भी असर पड़ता है। भारत पर यह लड़ाई लादी जा रही है। और इस तरह से आक्रमण होता रहेगा तो कोई देश सहन नहीं कर सकता। बल्कि सहन करने से देश आगे नहीं बढ़ सकता।

युद्ध का जमाना गया है—यह सब समझते हैं। फिर भी अपने-अपने छोटे-छोटे नजरिया रखते हैं। उस दृष्टि को छोड़ने के लिए लोग तैयार नहीं होते और लड़ाइयां छेड़ी जाती हैं। उसके बहुत भयानक परिणाम हो सकते हैं।

इसलिए मैं परमेश्वर की प्रार्थना करूंगा कि पंडित नेहरू की तरफ से यह जो सुझाव पेश किया गया है वह मान्य करने की सद्बुद्धि भगवान् उनको (चीन) दे। फिर मध्यस्थ की ओर से जो फैसला होगा—दोनों सरकार की बातें सुनकर मानने का निर्णय हो जाय। उससे बढ़कर और उपाय नहीं हो सकता। लेकिन और कोई उपाय सुझाना हो तो वह सुझाया जाय और उसपर विचार हो लेकिन लड़ाई तो बन्द होनी चाहिए। खैर, परमेश्वर जो बुद्धि देगा, वह होगा। उसकी दृष्टि क्या होगी हम नहीं समझ सकते। उसकी करुणा अपार है। ऊपर-ऊपर से हमको दूसरा दर्शन होता है। अन्दर करुणा छिपी रहती है वह तो हम नहीं पहिचान सकते। लेकिन हमको सोचना चाहिए कि इस वक्त हमारा कर्तव्य क्या है? फौजें तो वहां पहुंच गई हैं, उनका वहां चलेगा सो चलेगा। लेकिन ऐसी हालत में जनता का कर्तव्य क्या है? मेरी दृष्टि से दो-तीन प्रकार के कर्तव्य हैं।

एक तो यह कि सब प्रकार के भेद मिट जाने चाहिए। सारा राष्ट्र एक दिल हो गया—ऐसा होना चाहिए।

दूसरी बात यह कि धैर्य छोड़ना नहीं चाहिए। हिम्मत रखनी चाहिए। ये दो बातें तुरंत होनी चाहिए।

और तीसरी बात जो लम्बी है और सबको करनी है वह यह कि गांव-गांव मजबूत बनाने चाहिए। एक-एक गांव एक-एक परिवार के समान बनना चाहिए। सबको तय करना चाहिए कि हमारे गांव की योजना हम बनायेंगे। हमारे गांव में कोई भूखा नहीं रहेगा, बेकार नहीं रहेगा, दुःखी नहीं रहेगा। कोई दुःखी हो तो उसके दुःख का हिस्सा सब लेंगे—ऐसा होगा तो सिर्फ लड़ाई की दृष्टि से ही लाभ नहीं होगा—वह तो होगा ही—लेकिन उसके अलावा देश बहुत मजबूत बनेगा। और उसका हमेशा के लिए लाभ मिलेगा। और इस प्रकार हमारे द्वारा हासिल किया हुआ वह सच्चा स्वराज्य होगा।

अभी भारत को स्वराज्य मिला है, लेकिन उसका आनन्द अनुभव नहीं कर सके। जैसे सूर्योदय होता है तो सिर्फ कलकत्ता या दिल्ली में नहीं होता—उसका दर्शन गांव-गांव और घर-घर होता है और बच्चा पहचानता है कि सूर्योदय हुआ। उसी तरह से स्वराज्य के सुख की अनुभूति भी गांव-गांव के बच्चें को महसूस होनी चाहिए।

स्वराज्य में एक उष्णता है। उसका एक प्रकाश है। यह प्रकाश और उष्णता हरेक को महसूस होनी चाहिए। हम स्वतंत्र हैं, आज़ाद हैं, हमपर कोई जुल्म नहीं कर सकता और हम किसी पर जुल्म नहीं करते। हम सहयोगी समाज हैं। हमारे में ऊंच-नीच नहीं। जमीन पर सबका अधिकार है। जो काश्त करेगा उसको जमीन मिलनी चाहिए—ऐसा होगा तो चीन जैसे देश का शांति से प्रतिकार कर सकते हैं। उसके लिए निर्भयता चाहिए। पूर्ण प्रेम और सहयोग चाहिए। तब अहिंसा की शक्ति बन सकती है।

कम-से-कम हम यह करें कि भारत में कहीं अशांति न हो। अशांति के जो कारण हों उनपर विचार करें और निराकरण करें। गांव के मसले गांव में हल करें। यह होता है तब देश की नैतिक शक्ति बनती है और फौजी शक्ति भी बनती है। अगर हिंसा से लड़ना है तो सारे देश की सहानुभूति होनी चाहिए। अगर अहिंसा से लड़ना है तो भी सारे देश की सहानुभूति होनी चाहिए। सारे देश की सहानुभूति एक करके हिंसा को समर्पण करने की जरूरत नहीं—अहिंसा को समर्पण कर सकते हैं। भारत का हर नागरिक अंतःशक्ति बढ़ाये, देश का उत्पादन बढ़ाने में अपनी शक्ति दे और गरीब लोगों में उसका वितरण करने में योग दे।

हम सोचते हैं कि तब यह एक विराट् रूप लगता है। लेकिन हर चीज का एक विराट् रूप होता है और एक छोटा रूप होता है। भगवान का गीता के ११वें अध्याय में एक विराट् रूप देखकर अर्जुन घबरा गया। यह जैसे विराट् रूप है वैसे ही एक छोटा रूप भी होता है, जिस छोटे रूप में भक्त को भगवान का साक्षात्कार होता है। वैसे ही कुल देश में शांति बनें यह विराट रूप है। इसीका एक छोटा रूप भी है वह यह गांव-गांव में ताकत बनें। भक्ति के लिए छोटा रूप अनुकूल होता है।

अभी राजाजी अमेरिका गये थे और ढेबरभाई रूस गये थे। अब वे कहते हैं कि बातें करके आये है। अब यह बीच-बीच में बातचीत का प्रयत्न चलता है लेकिन शब्द में शक्ति तब आती है जब अपनी जगह उसका अमल होता है। भारत देश में अगर हम अमल करते हैं और एक गांव को अहिंसक नमूने पर बनाने की कोशिश करते हैं तो यह बन सकता है और यह कठिन नहीं।

जीवन

●● महात्मा भगवानदीन

एक तरह से ईश्वर 'नहीं है', जैसा है। इस 'नहीं है' को 'है' कहते हैं। उन्हें माना जाना चाहिए, तो था—नास्तिक। पर उन्हें लोग कह बैठे हैं—आस्तिक। नास्तिक जो 'नहीं' को 'है' कहे। आस्तिक वह जो 'है' को 'है' कहे। जो 'है' को 'है' कहता है और 'नहीं' को 'नहीं' कहता है, वह सच्चा है। उसे नास्तिक कहकर झूठा क्यों बताया जाय? जीवन है; इसका अर्थ पूछना बेकार है। मौत जीवन का अर्थ रोज तो बताती रहती है। जरा ध्यान से उसकी सुनिये, आपकी समझ में जीवन का अर्थ आ जायगा।

जीवन का छोटा अर्थ है—जानदार। पर महान् और असली अर्थ है—बदलते रहना।

इस 'बदलते रहने' के साथ एक बड़ी मुश्किल है। यह जानदार और बेजान सबके साथ लगा हुआ है। पत्थर भी जानदार है, क्योंकि वह बदलता है। काल, आकाश आदि सब जानदार हो जाते हैं, क्योंकि सभी बदलते हैं। पर इतनी दूर जाने की जरूरत नहीं। हमें सिर्फ अपने यानी आदमी के जीवन की बात सोचनी है।

आदमी के जीवन का सौ में से सिर्फ एक अंश ही ऐसा है, जिसका कुछ अर्थ हम लगा सकते हैं। जिसका कुछ मतलब हो सकता है। जो शेष निन्यानवें अंशों से सदा रगड़ में आता रहता है, हारता है, जीतता है फिर हार जाता है, फिर जीतता है, वर्षों दास रहता है और वर्षों मालिक बना रहता है।

हम मां के पेट में आ गये। अपनी मरजी से नहीं आये। हम पैदा हो गये। अपनी मरजी से पैदा नहीं हुए। दो सौ अस्सी दिन से पहले भी गिराये जा सकते थे। हमारे उस रूप को नष्ट किया जा सकता था। पैदा होने पर हमें कपड़े पहनाये गये, न हमारी मरजी के, और न हमारी मरजी से। अभी तो हम फेंक देते थे। हमारा नाम रखा गया। इस मामले में हमसे कोई सलाह नहीं ली गई। हम नहीं बोल सकते थे, तो न सही। बालक या मुन्ना नाम लेकर तो हम पैदा हुए ही थे। और नाम की जरूरत भी क्या थी? यह सब हम कहां तक गिनाये? जाति-कुल-धर्म, खाना-पीना, ओढ़ना-पहनना, बोलना, कुछ भी तो हमारा अपना नहीं है। अब तो ऐसा मालूम होता है कि जीवन का अर्थ है—दासता।

कहा जाता है कि हम सोचने के लिए स्वाधीन हैं। यह सुनकर हमें हँसी आ जाती है। मुसलमान हर मामले में मुसलमान की तरह सोचेगा, फिर चाहे खुदा की बात हो, सरकार की हो, ब्याह-शादी की हो, रस्म-रिवाज की हो, या किसी भी तरह की हो। हिन्दू, हिन्दू की तरह सोचेगा। कभी लाखों में कोई एक निकलता, जो अपनी तरह सोचता है। बस, उसी एक अंश में जीवन जीवन है।

हम ऊपर कह चुके हैं कि जीवन परिवर्तनशील है। अब हम यह कहते हैं कि परिवर्तन जीवन का जीवन है। परिवर्तन उससे छीन लीजिए, जीवन खतम! यह दूसरी बात है कि जीवन से परिवर्तन छीना नहीं जा सकता। तभी तो वह अनादि अनंत है। एक कहावत चल पड़ी है—'जीते रहने के लिए खाओ।' इसीसे टक्कर लेनेवाली दूसरी कहावत है—'खाने के लिए जीओ'। ये दोनों चल भी रही हैं। पर सब के सिर पर सवार यह कहावत है कि 'जीने के लिए जीओ'। और सचमुच हम जीते कहां है? जीना पड़ता है। हजारों में कभी कोई एक आत्मघात कर लेता है। और उसे ऐसा मालूम होता है कि उसने जीवन का अंत कर दिया। पर उसे यह नहीं मालूम कि जीवन का अंत करने के बजाय उसने यह सिद्ध कर दिया कि जीवन सदा से है और सदा बना रहेगा।

जिसे देखो, वही अपने जीवन से संतुष्ट नहीं दिखाई पड़ता! तंग आकर कभी-न-कभी हरएक के मुंह से यह निकल पड़ता है कि यह क्या जीवन है? इससे तो मर जाना अच्छा! रेलगाड़ी में हमारे पास बैठा एक तहसीलदार कह रहा था, मेरे जीवन से तो मजदूर का जीवन ही कहीं अच्छा है। वह रातभर आराम से सोता तो है, मुझे तो घर पर भी काम का बंडल लाना पड़ता है। उसी डब्बे में बैठा एक चमार कह रहा था कि हे ईश्वर, तू एक दिन के लिए भी

(शेष पृष्ठ ४२३ पर)

अंग्रेजी का विधेयक और हम

काका कालेलकर

संविधान में अंग्रेजी के प्रचलन की जो मियाद दी है, उसके पूरे होने पर केन्द्रीय सरकार का कर्तव्य होता था कि या तो अंग्रेजी को हटाया जाय अथवा संविधान में बदल किया जाय।

इन दस-पन्द्रह वर्ष के अन्दर पारिभाषिक शब्द हिन्दी में बनाये गये हैं। पालियामेंट की कार्यवाही का हिन्दी में अनुवाद होने लगा है। हिन्दी-साहित्य के विकास के लिए योजनाएं बनीं और उनके लिए आर्थिक सहायता भी दी गयी। किन्तु अंग्रेजी का प्रचलन क्रमशः कम करने का प्रयत्न नहीं हुआ है। इसमें केवल सरकार का दोष होता तो बात अलग थी। भारत की सार्वजनिक संस्थाओं में जहां अंग्रेजी का प्रचलन था आज भी करीब-करीब वैसा-का-वैसा ही है। जिन राज्यों में हिन्दी ही जनता की भाषा है वहां राज्य-व्यवहार का और सार्वजनिक संस्थाओं का व्यवहार अगर हिन्दी में होने लगा तो उससे हम यह नहीं कह सकते कि राष्ट्रभाषा का प्रचलन बढ़ रहा है।

सरकार नया विधेयक ले आये इसका तो कोई विरोध नहीं कर रहा है। अंग्रेजी के प्रचलन के लिए फिर से कोई मियाद निश्चित की जाय, यही आज की मांग दीख पड़ती है।

जब भारत स्वतंत्र हुआ और हमारा संविधान बना तब हिन्दी के पक्ष में जितना व्यापक लोकमत था उतना आज नहीं है। इसलिए अब मियाद निश्चित करना ठीक नहीं है, ऐसा कहा जाता है।

मैं स्पष्ट रूप से कहूंगा कि स्वराज्य होने पर राजतन्त्र जिन लोगों के हाथ में गया और शिक्षा का तन्त्र भी जिन लोगों के हाथ में रहा वे सब अंग्रेजी के आदी हैं। इन्हें अंग्रेजी की जगह हिन्दी लाने का उत्साह कभी नहीं था और अब तो उनके हाथ-पांव और मजबूत हुए हैं। भारत की सार्वजनिक संस्थाओं में भी हिन्दी को लाने की चेष्टा नहीं के जैसी हुई। ऐसी हालत में आज संविधान की दुहाई देकर सरकार को अगर हम कोसने लगें तो सरकार इतना ही कहेगी कि देश की हालत और देश के लोगों की तैयारी देखकर हमें यह नया विधेयक ला रहे हैं।

लोकमत का जोर होता है और हिन्दी के पक्ष में रचनात्मक काम १५ वर्ष तक यदि जोरों से चलता तो आज की जैसी लाचारी की हालत पैदा नहीं होती।

दूसरी दृष्टि से भी हम देखें। कांग्रेस और कांग्रेस सरकार में हिन्दी को लाने की कोशिश, अधिक-से-अधिक, महात्मा गांधी ने की। जनता ने उनका समर्थन किया। लेकिन गांधीजी के विचारों का प्रचार गुजरात में गुजराती के द्वारा जैसा हुआ वैसा भारत में हिन्दी द्वारा नहीं हुआ। गांधीजी सर्वत्र हिन्दी में बोलते थे, जैसा आज विनोबा हिन्दी में और देशी भाषाओं में बोलते हैं। लेकिन गांधीजी के दिनों में जैसे लोग 'यंग इंडिया' पढ़ते थे वसे 'हिन्दी नवजीवन' या 'उर्दू नवजीवन' नहीं पढ़ते थे। गांधीजी ने हिन्दी और उर्दू जनता को कई बार नोटिस दिया, लेकिन हिन्दी-जगत् ने 'हिन्दी नवजीवन' को कभी स्वावलम्बी नहीं बनाया।

कांग्रेस की स्थापना के दिन से भारत का सारा अखिल भारतीय काम भारत के छोटे-मोटे नेता लोग अंग्रेजी में ही चलाते आये। इसमें कोई बड़ा फर्क कभी नहीं हुआ। इसका अर्थ यही होता है कि राष्ट्र का संकल्प क्षीण है और अंग्रेजी की परम्परा अक्षुण्ण है। ऐसी हालत में हमें अपना ही दोष देखना चाहिए। लोक-नियुक्त सरकार जब कोई विधेयक लाती है तब समझना चाहिए कि वह अपनी शक्ति देखकर ही लाती है। सब राज्यों की सरकारें केन्द्रीय सरकार के साथ हैं। इसलिए सरकार का दोष बताकर सरकार को कोसने से देश में कटुता बढ़ेगी। विषम दिनों में सरकार कमजोर बनेगी। लेकिन हमारा कार्य होगा नहीं। हमें अन्तर्मुख होकर अपनी शक्ति बढ़ाने की कोशिशें अभी से शुरू करनी चाहिए।

आज यदि हम विधेयक में मियाद का आग्रह रखेंगे, तो वह मियाद हम सरकार को नहीं देते हैं लेकिन अपने लिए मांग रहे हैं कि हमें दस या बीस बरस दीजिए। इतने बरसों के अन्दर अपने विधायक प्रयत्नों से हम हिन्दी का पक्ष मजबूत करेंगे और सारे राष्ट्र की ओर से प्रचण्ड बहुमत के साथ मांग पेश करेंगे कि अब शासन की भाषा अंग्रेजी नहीं

हिन्दी होनी चाहिए।

आज की सरकार, स्वराज्य सरकार है। लेकिन उस पर हम यह बोझ नहीं डाल सकते। अगर लोकमत समर्थ होता और आजतक जनता में हमने पूरा काम किया होता तो आज की नौबत नहीं आती।

एक और बात है। भारत की अन्यान्य प्रान्तीय भाषाएं अपना-अपना विकास कर रही हैं। अंग्रेजों का राज्य शुरू हुआ। उसके पहले उनमें समर्थ ग्रन्थ पैदा हुए थे सही, लेकिन उस समय जहां सार्वजनिक जीवन आज के जैसा नहीं था, वहां इन भाषाओं का लोकगत विकास आज के जैसा नहीं हुआ था। दैनिक और नियतकालिक अखबारों के द्वारा और भाषणों के द्वारा इन भाषाओं का जो विकास हुआ वह पिछले १००–१५० वर्ष के अंदर ही हुआ है। एक भी भारतीय भाषा को अंग्रेजों के दिनों में शासन की भाषा बनने का गौरव प्राप्त नहीं हुआ। इन सब भाषाओं ने अपना विकास अंग्रेजी की छत्रछाया में ही यथासाध्य सिद्ध किया है। इस आदत में अभी भी कोई परिवर्तन नहीं हुआ है। दक्षिण भारत में हिन्दी-प्रचार के आमंत्रण-पत्र हिन्दी में और अंग्रेजी में निकलते थे। बड़ी कोशिश करने पर हिन्दी और प्रान्तीय भाषाओं में निकलने लगे किन्तु अंग्रेजी हट नहीं सकी।

यह सब देखते हुए स्वीकार करना पड़ता है कि राष्ट्र-भाषा का पक्ष भारत के सार्वजनिक जीवन में कभी भी पूरा मजबूत नहीं था। गांधीजी के प्रभाव के कारण हम मानते थे कि हमारा पक्ष प्रभावशाली है। प्रत्यक्ष-व्यवहार की कसौटी पर देखेंगे तो ऊपर का विधान कबूल करना ही पड़ेगा। ऐसी हालत में हम अपनी शक्ति केन्द्रीय सरकार का विरोध करने और प्रान्तीय सरकारों और वहां की जनता का हिन्दी-विरोध बढ़ाने में खर्च न करें।

मैंने एक ही वाक्य में परिस्थिति स्पष्ट की है। देश में आज राजमुकुट हिन्दी के सिर पर रखकर राजदण्ड, जो अंग्रेजी के हाथ में शुरू से ही है, उसीके हाथ में मजबूत किया जा रहा है। इससे हमारी संस्कृति का पारावार नुकसान होगा। जनता की शक्ति बढ़ेगी नहीं। अंग्रेजी कमोबेश जाननेवाले लोगों की जमात ही राज्यकर्ता बनेगी। इससे स्वराज्य मजबूत नहीं होगा। पिछड़े हुए लोग सिर ऊंचा नहीं कर सकेंगे। हरएक जमात के लोग अपने में से थोड़े होशियार लोगों को अंग्रेजी की जमात में दाखिल करेंगे और उनके द्वारा अपना स्वार्थ और अपनी प्रतिष्ठा बढ़ाएंगे। हमारा राज अंग्रेजी में चले तो उसे मैं स्वराज्य कहने को भी तैयार नहीं हूं। लेकिन जिस तरह गांधीजी ने सारे देश को अंग्रेजों के राज्य के खिलाफ संगठित किया इसी तरह अखिल भारतीय पैमाने पर अंग्रेजी का राज हटाने के लिए हमें गांधीजी के जैसे प्रयत्न करने होंगे। प्रथम रचनात्मक प्रयत्न और बाद में जरूरत पड़ने पर सत्याग्रह के प्रयत्न करने होंगे। अगर रचनात्मक प्रयत्नों में सफलता मिली तो सत्याग्रह करने की नौबत ही नहीं आएगी। भारत का राजकाज जिन लोगों के हाथ में है, वे हृदय से देशी भाषा के पक्षपाती हैं। अंग्रेजी के आदी होने के कारण वे अंग्रेजी के असर का जहर नहीं समझते। लोगों का बल बढ़ा तो यही आज के राज्यकर्ता देशी भाषा के पक्ष में आएंगे और हमारे नेता बनेंगे।

हिन्दी का पक्ष मजबूत करने के लिए हिन्दीवालों को अपनी सारी नीति बदलनी होगी :—

१. पंजाबी, राजस्थानी, छत्तीसगढ़ी, मैथिली आदि का प्रचलन चाहे जितना बढ़े उसके खिलाफ हिन्दी की रक्षा का आन्दोलन उग्ररूप में न चलाया जाय।

२. हिन्दी में अरबी-फ़ारसी के शब्द उधर-उधर बढ़ें या सरकार ने ऐसे शब्दों के प्रचलन को बढ़ाने की नीति का स्वीकार किया तो भी उसकी उपेक्षा की जाय। स्वतंत्र भारत की सांस्कृतिक शक्ति ही अरबी-फारसी के शब्द बढ़ाने को मदद नहीं देगी। इसलिए नहीं कि उसमें हिन्दू-मुसलमानों का सवाल है। आज की प्रजा की संस्कृति को अरबी-फारसी से पोषण नहीं मिल रहा है। इसलिए प्रजा राज के दिनों में अगर उर्दू को जीना है तो उसे आसान बनना ही पड़ेगा। जहांतक मैं जानता हूं ऐसे प्रयत्न हो भी रहे हैं। उर्दू का विरोध करने के दिन कब के खत्म हुए हैं।

३. अगर हमारी भाषा में अंग्रेजी के कुछ शब्द आ गये तो उसका भी जोरों से विरोध न किया जाय। जब अंग्रेजी हटेगी तब अंग्रेजी के काफी शब्द हमारी भाषाओं में घुसेड़कर ही हटेगी। यह स्वाभाविक प्रक्रिया है। न उससे हम डरें और न उसका विरोध करें। हमारे स्वाभाविक प्रयत्न से अंग्रेजी के बहुत-से शब्द यथासमय हट जाएंगे। और जो रहेंगे वे हिन्दी के बन जाएंगे।

४. राजभाषा के तौर पर अंग्रेजी को हटाने के लिए जो प्रयत्न किये जाएंगे उसका नेतृत्व अहिन्दी प्रदेश के लोगों को दिया जाय। नहीं तो, मतलबी लोग हिन्दी के साम्राज्य का डर दिखाते रहेंगे। अंग्रेजी के प्रचलन के लिए मियाद फिर से तय करनी पड़े तो वह भी अहिन्दी प्रदेश के लोगों की इच्छा पर ही छोड़ देना चाहिए। इससे आज अंग्रेजी का पक्ष कुछ मजबूत होगा पर अंत में हिन्दी को ही सारा पूरा बल मिलेगा।

हिन्दीवाले अंग्रेजी विरोधी आंदोलन के नेता बनकर प्रादेशिक भाषाओं की मदद ले तो सकेंगे लेकिन इससे हिन्दी का आन्दोलन मजबूत होते हुए भी हिन्दी का पक्ष कमजोर ही रहेगा।

हिन्दी की शैली का सवाल आज हमें छोड़ ही देना चाहिए। देश की सब भाषाओं के साहित्यिकों के हाथ में और देशी अखबार-नवीसों के हाथ में हिन्दी की शैली सुरक्षित है। इतना विश्वास यदि हमें नहीं है तो हिन्दी का अखिल भारतीय आन्दोलन हमें छोड़ ही देना चाहिए। हिन्दी का स्वरूप कैसा हो इसका निर्णय सरकार के हाथ में नहीं है। वह तो अखबार-नवीस और लेखकों के हाथ में है। वे देश की किसी भी भाषा का रूप कायम के लिए बिगड़ने नहीं देंगे। शैली के नाम पर आज हम अपनी शक्ति का अपव्यय कर रहे हैं और लोकमत में नाहक ही फूट डाल रहे हैं। अगर शैली का आंदोलन चलाये बिना नहीं रहा जाता तो उसे उत्तरप्रदेश तक ही सीमित रखा जाय।

अंत में यही कहना है कि जो विधेयक आनेवाला है उससे अंग्रेजी के संकट को पहचान कर हमारे राष्ट्र में हिन्दी और देशी भाषाओं का पक्ष मजबत करने में अपनी सारी शक्ति लगा दें।

●

(पृष्ठ ४०८ का शेष)

से भरत को पृथ्वी पर खड़ा कर दिया। फिर बाहुबली स्वयं भरत के सामने सिर झुका कर खड़े हो गए। लेकिन हार के इस अपमान के कारण भरत नीति-अनीति को भूल गये। उन्होंने बाहुबली पर चक्र से आक्रमण कर दिया। लेकिन वह चक्र भी बाहुबली का कुछ न बिगाड़ सका।

यह देखकर सभी भरत की निन्दा करने लगे। बाहुबली यद्यपि विजयी हुए थे लेकिन भाई के इस कृत्य को देख कर उनका मन ग्लानि से भर उठा। उन्होंने कहा, "इस राज्य के कारण आपकी मति भ्रष्ट हो गई है। यह राज्य किसीका नहीं है। मैं इसे छोड़ता हूं।"

लज्जित होकर भरत ने भाई को बहुत समझाया। लेकिन वह नहीं माने और अपने पुत्र को राज्य देकर वह वन में जाकर तप करने लगे। लेकिन अनेक वर्षों तक भयंकर तप करने के बाद भी उनको कैवल्य की प्राप्ति नहीं हुई। ज्ञानी लोगों को इस पर बड़ा आश्चर्य हुआ। उनकी तपस्या की कीर्ति दिग्-दिगन्त में फैल गई थी। उनका तेज चारों दिशाओं को प्रकाशित कर रहा था। लेकिन मोक्ष उनसे दूर था। आखिर लोगों ने भगवान् आदिनाथ से पूछा, कि इसका क्या कारण है? भगवान् बोले, "बाहुबली को कोई नहीं जीत सकता, इस विचार को वह अपने मन से नहीं निकाल सका है। उसके मन में एक और भी फांस है कि जिस भूमि पर वह खड़ा है वह भरत के राज्य में है।"

बाहुबली के कानों में यह बात पहुंची। जैसे मन का कांटा एकदम निकल गया। वह स्वच्छ हो उठे। कहते हैं कि इसी समय एक दिन चक्रवर्ती भरत मुनिराज बाहुबली के दर्शन करने आये। बड़ी भक्ति और विनय से उन्होंने बाहुबली की पूजा की। बाहुबली के हृदय में जो रहा-सहा मैल था वह भी दूर हो गया। और उन्हें कैवल्य की उपलब्धि हो गई।

●

हमारी धरोहर

●● सुशील

पिता और पुत्र

वनवास के समय अर्जुन जब इधर-उधर घूम रहे थे, तो वह मणिपुर भी गये थे। वहां पर उन्होंने राज कन्या चित्रांगदा से विवाह किया था। इसी समय नाग-कन्या उलूपी से भी उनका विवाह हुआ था। विवाह के बाद अर्जुन कुछ समय तक मणिपुर में रहे और फिर हस्तिनापुर लौट गये। उनके पीछे चित्रांगदा ने एक पुत्र को जन्म दिया। उसका नाम था बभ्रुवाहन। क्योंकि मणिपुर के राजा के कोई संतान नहीं थी इसलिए बभ्रुवाहन नाना के राज्य के उत्तराधिकारी हुए।

महाभारत के युद्ध में विजय पाकर पांडव एकबार फिर दिग्विजय पर निकले। अनेक देशों को विजय करते हुए अर्जुन फिर मणिपुर आये। पिता के आगमन का समाचार पाकर बभ्रुवाहन को बहुत खुशी हुई। वह बड़े ठाठ के साथ उनका स्वागत करने के लिए नगरके बाहर पहुंचा। उसकी सौतेली मां उलूपी भी साथ थी। वास्तव में उसीने बभ्रुवाहन का लालन-पालन किया था। अर्जुन ने जैसे ही अपने पुत्र को इस प्रकार आते हुए देखा तो वह क्रुद्ध हो उठा। बोला, "अरे मूर्ख! अपने प्राणों के मोह के कारण ही तू मुझे अपना पिता कहता है। तुझे लज्जा नहीं आती? यदि तू सचमुच अर्जुन का पुत्र होता तो अर्जुन के समान ही सीना तानकर उसके सामने आता। यदि मैं यह मान भी लूं कि तू सचमुच अर्जुन का पुत्र है तो भी क्या होता है। आज मैं तेरा पिता बनकर तुझसे मिलने नहीं आया हूं। मैं तेरा शत्रु हूं और दिग्विजय के लिए आया हूं। जब लोगों को यह मालूम होगा कि अर्जुन के पुत्र ने अपनी पराजय स्वीकार कर ली तो वे क्या कहेंगे? उस समय मुझे कितनी वेदना होगी। मेरा पुत्र इतना कायर, ओह! मैं नहीं जानता था कि चित्रांगदा तेरे जैसे नपुंसक पुत्र की माता होगी। वरना मैं क्यों उससे विवाह करता। यदि तू मेरे सामने शत्रुओं की तरह धनुष ताने हुए मेरा सामना करने के लिए, मुझे पराजित करने के लिए ललकारता तो आत्म-गौरव के कारण मेरा वक्षस्थल फूल उठता। तू मुझे पराजित करता। लेकिन वही मेरी विजय होती। संसार को यह कहने का अवसर मिलता कि अर्जुन का पुत्र अर्जुन से बढ़कर निकला। लेकिन अब संसार क्या कहेगा? यही ना, कि अर्जुन का पुत्र कायर है। कुरु-कुल को कलंकित करनेवाला है। ऐसा सुनकर क्या मैं आत्म-ग्लानि से गड़ नहीं जाऊंगा। क्या चित्रांगदा का मुंह काला नहीं पड़ जायगा। धिक्कार है उसे, और धिक्कार है मुझे।"

बभ्रुवाहन के काटो तो खून नहीं। उसका चेहरा मलिन हो आया। लेकिन वह कुछ उत्तर देता इससे पहले ही नाग-कन्या ज्येलूपी नागिन की भांति फुंकार उठी। अर्जुन का एक-एक शब्द उसके वक्ष को भेद रहा था। उसने एक बार तिरस्कार के साथ अपने पति की ओर देखा। फिर बभ्रुवाहन से बोली, "हे पुत्र! या तो तू इस पाण्डु-सुत का मान मर्दन कर इसके झूठे गर्व को खंड-खंड कर दे, या फिर मुझे और अपनी माता चित्रांगदा को मार डाल। क्षत्राणी मर सकती है लेकिन अपना अपमान नहीं सह सकती। इस पाण्डु-सुत ने तेरी माता चित्रांगदा का आज घोर अपमान किया है। वह इस समय यहां नहीं हैं। लेकिन मैं तो हूं। उसने केवल तुझे जन्म दिया है किन्तु मैंने तो तेरा पालन-पोषण किया है। तेरे ऊपर मेरा पूर्ण मातृ-अधिकार है। इसलिए चित्रांगदा का अपमान मेरा अपमान है। पाण्डु-सुत ने ये सब अपशब्द मुझे ही लक्ष्य करके कहे हैं।"

कहते-कहते नाग-कन्या के नयन रक्तवर्ण हो उठे और वह घायल सिंहनी के समान गरज उठी, "हे पुत्र! युद्ध के लिए प्रस्तुत हो जा। यह पाण्डु-पुत्र तुझसे अधिक बलवान् नहीं हो सकता। इसने तुझे कायर कहा है। तेरी मां को कायर कहा है। किन्तु यह वे दिन भूल गया जब द्रौपदी की साड़ी खींची गई थी, जब भरे दरबार में दुर्योधन ने उसके लात मारी थी। जब यह स्वयं प्राणों के भय से राजा विराट के यहां बृहन्नला बनकर नाचा गाया करता था। सर्वनाशी महाभारत के युद्ध में विजय पाकर यह अपने सामने आज किसीको कुछ नहीं समझता। मानो समस्त पृथ्वी वीरों से शून्य हो गई है। यदि मैं आज इसकी पत्नी न होती तो मैं

स्वयं युद्ध-भूमि में उतरती। परन्तु मेरा पातिव्रत धर्म मुझे ऐसा करने की आज्ञा नहीं देता। इसलिए हे पुत्र! अपनी माता के अपमान का बदला लेने के लिए तू इस पांडु-सुत का मान मर्दन कर। और इसे बतला दे कि तूने सचमुच किसी वीर क्षत्राणी का दूध पिया है।"

पिता के अपमान-भरे शब्दों से वीर बभ्रुवाहन का रक्त उत्तेजित होता आ रहा था, उलूपी के ये ओजस्वी शब्द सुनकर उसका वक्ष तन गया। उसने तलवार निकाल ली और यह कहते हुए, "मेरी मां का अपमान करनेवाला जीवित नहीं रह सकता" उसने अर्जुन पर आक्रमण कर दिया। अर्जुन भी युद्ध के लिए प्रस्तुत था। देखते-देखते पिता-पुत्र में घमासान युद्ध छिड़ गया। चकित होकर सारा मणिपुर इस अद्भुत युद्ध को देखने लगा। दोनों बराबर के वीर थे लेकिन बभ्रुवाहन युवक था। इसलिए अन्त में उसने अपने पिता को पराजित करके मूर्छित कर दिया।

युद्ध बंद हो गया। माता और पुत्र सब अर्जुन के उपचार में लग गये। कुछ क्षण बाद माता और पुत्र का स्नेह-स्पर्श पाकर अर्जुन ने आंखें खोलीं। उसके मुख पर स्नेह का दिव्य प्रकाश चमक रहा था। बभ्रुवाहन को उसने ललक कर छाती से लगा लिया और गद्गद् होकर बोला, "पुत्र! तू सचमुच वीर है। मेरा पुत्र ऐसा ही हो सकता है।"

और फिर उलूपी तथा चित्रांगदा की ओर देखकर अर्जुन प्यार से मुस्कराने लगे। उनके घायल हो जाने का समाचार पाकर चित्रांगदा स्वयं भी वहीं आ गई थी। और उनका मस्तक अपनी गोद में रखे बैठी थी।

बाहुबली

बहुत पुरानी बात है। एक राजा थे आदिनाथ। उनका दूसरा नाम ऋषभनाथ था। उनका राज्य अयोध्या के पास पोदनपुर में था। उनके अनेक पुत्र-पुत्रियां थीं। उनमें सबसे बड़े थे भरत। दूसरे राजकुमारों में बाहुबली प्रसिद्ध थे। जब राजा आदिनाथ ने वानप्रस्थ आश्रम में प्रवेश किया तो भरत को राजगद्दी मिली।

गद्दी पर बैठने के बाद भरत के मन में चक्रवर्ती बनने की इच्छा हुई। इसके लिए वे दिग्विजय पर निकले। चारों दिशाओं के राज्यों को जीत कर उन्होंने अपने राज्य का विस्तार किया। इस जीत से उनका अभिमान जाग उठा। लेकिन जब वह अपनी राजधानी में लौटे तो उनका चक्र रुक गया। पता लगा कि अभी कुछ राज्य जीते नहीं गये हैं। और वे राज्य उनके अपने भाइयों के हैं।

भरत तो चक्रवर्ती बनने का आतुर थे सो तुरंत अपने भाइयों को जीतने के लिए निकले। दूसरे सभी भाइयों ने तो अपने पिता के उपदेश के अनुसार, अपना-अपना राज्य भरत को सोंप दिया और स्वयं साधु बन गये, लेकिन बाहुबली ने ऐसा नहीं किया। जिस समय भरत का दूत उनके पास पहुंचा तो उन्होंने मुस्कराते हुए कहा, "हमें अपने बड़े भाई भरत के चक्रवर्ती बनने का समाचार सुनकर बड़ी खुशी हुई। लेकिन जैसा सहयोग वह हमसे चाहते हैं वैसा हम नहीं दे सकते। तलवार की शक्ति के सहारे हम अधीनता स्वीकार नहीं कर सकते।"

बाहुबली का यह संदेश पाकर भरत नें राजगुरु से सलाह की। कहा, "गुरुदेव! क्या भाई से लड़ना होगा।"

गुरुदेव ने उत्तर दिया, "राजनीति में कोई किसी का भाई नहीं है।"

अब तो युद्ध अनिवार्य था। लेकिन दोनों ओर के मंत्रियों ने मिलकर यह निश्चय किया कि दोनों भाई दृष्टि-युद्ध, जल-युद्ध और मल्ल-युद्ध आदि करके आपस में फैसला कर लें। सेना के लड़ने की आवश्यकता नहीं। यह बात दोनों ने स्वीकार कर ली। और एक दिन अनेक दर्शकों की उपस्थिति में दोनों भाई अखाड़े में उतरे। आरंभ के चार युद्धों में बिना किसी प्रयास के बाहुबली विजयी होते चले गये। लेकिन इस विजय से न तो बाहुबली उल्लसित थे और न भरत उदास। मल्ल-युद्ध अंतिम युद्ध था। दर्शकों की उत्सुकता इस समय अपनी सीमा पर पहुंच गई थी। बहुत देर तक दोनों एक-दूसरे के दावों को काटते रहे। दोनों ने खूब पैंतरे बदले। कभी बाहुबली भरत पर झपटते तो कभी भरत बाहुबली की टांगों के बीच में घुस जाते। ऐसा लगा जैसे दोनों थककर चूर होगये हैं। लेकिन तभी दर्शकों ने आश्चर्य से देखा कि बाहुबली ने भरत को दोनों हाथों पर ऊपर उठा लिया है। दर्शकों के प्राण कंठ में आ गये। उन्हें लगा चक्रवर्ती भरत अब चित्त हुए, अब चित्त हुए। लेकिन उन्होंने देखा कि बाहुबली ने धीमे-धीमे अपने हाथों को नीचे किया और बड़ी सावधानी

(शेष पृष्ठ ४०६ पर)

गीत ●● मधुकर

मुझसे है नाराज ज़िन्दगी, मुझसे यमराजा नाखुश है--
मैंने बात न मानी सुरभित फूलों की, भरमित शूलों की।

मेरी सांसों ने आंधी को पिया धूल को गले लगाया,
मेरा तन बेकार जिया हो ऐसा कोई दिवस न आया,
कितना सुख मिलता है डूब-उतर आने में मुझसे पूछो--
मैंने तट को बार-बार छूकर लहरों से रास रचाया,

मुझसे है नाराज समुन्दर, मुझसे धरती भी नाखुश है--
मैंने बात न मानी मँझधारों की, अकुलाते कूलों की।

हर पतझर मेरे कानों में यौवन का संगीत भर गया,
बसन्त आया तो पीले पत्ते-सा मेरा रूप झर गया,
जेठ मास की दुपहरिया में मेरा मौन मुखर हो बैठा--
किन्तु गीत गाते फागुन में मेरे कवि का कंठ डर गया,

मुझसे है नाराज नियामक, मुझसे डाल-डाल नाखुश है--
मैंने बात न मानी कालपुरुष की, सावन के झूलों की।

मैं प्रभात संग उगा सांझ के बादल में ढलकर आया हूं,
शलभ-सखा सा बुझा दीप की बाती में जलकर आया हूं,
उतना ही रवि-किरणों के पथ में मेरा अस्तित्व निहित है
जितना मैं तम की अनजान घाटियों में चलकर आया हूं,

मुझसे है नाराज रोशनी, मुझसे अंधियारा नाखुश है--
मैंने बात न मानी सूरज की, निशि की चर्चित भूलों की।

●

शंख तभी बजा

विियोगी हरि

(कथा प्रसिद्ध है कि पाण्डवों के राज सूय-यज्ञ की पूर्ण सफलता की कसौटी यह मानी गई थी कि पांचजन्य शंख अपने-आप जब बज उठेगा तभी यज्ञ परिपूर्ण समझा जायगा। महाराज युधिष्ठिर ने बिना किसी भेद-भाव के सभीको भोजन करने के लिए आमंत्रित किया था, परंतु शंख नहीं बजा। तब भगवान् श्रीकृष्ण के सुझाव पर पांडवों ने एक हरिभक्त श्वपच को सादर आमंत्रित किया, जो भूल से छूट गया था। उसके यज्ञस्थल पर आते ही भोजन परोसने पर शंख से अपने-आप घोष हुआ और यज्ञ पूर्ण सफल माना गया। पांडव-यज्ञ की इस कथा को भक्तवर सूरदासजी ने निम्नलिखित पद रचकर हरिभक्त-महिमा का बड़ा ही सुन्दर चित्रण किया है। 'वैश्वानर' मासिक पत्रिका वर्ष १५, अंक ५ से हम नीचे उस पद को भावार्थ-सहित दे रहे हैं :--

पांडव कीन्हों जग्य, बिप्र लख-कोटि जिमाये,
बज्यौ न संख पंचान, कृष्ण को बूझन आये।
हाथ जोरि बिनती करी, सुनिए कृपा-निधान।
बेद बिचारि जग्य कीन्हों, तउ क्यों न बज्यो पंचान ॥
कहौ गोपाल हरि ॥ १ ॥

सुनि अर्जुन के बचन, कृष्ण तब उत्तर दीन्हों,
वाकौ यही विचार, अजहुँ तुम नाहिन चीन्हों।
विष्णुभक्त आई नहीं, जग्य तुम्हारे माँहि।
जग्यपुरुष तृपत्यो नहीं, तातें बाज्यों नाँहि ॥
कहत गोपाल हरि ॥ २ ॥

हम तो पूजे जानि बिप्र सब तें अधिकारी,
चारि बरन कुल ऊँच, बड़े षटकरम अचारी।
उनसों उत्तम कौन हैं, हमें सुनाओ भाखि।
ब्राह्मण सो भगवान कहावै, वेद बदत जिहिं साखि ॥
कहौ गोपाल हरि ॥ ३ ॥

बेदबचन परमान, भेद कछु वाकौ जान्यौ,
ब्राह्मण सोई साँच, सकल में ब्रह्म पिछान्यौं।
उत्तम है मोकों भजै, तजै सो मध्यम जान।
और अधम सब बात बनावै, धरम-करम उरझान ॥
कहत गोपाल हरि ॥ ४ ॥

चारि वेद मुख सों पढ़ै, करै षटकरम-अचारा,
मेरी भक्ति न होइ, सुपच तोलौं निरधारा।
सुपच होइ मोकों भजै, प्रेमभक्ति में लीन।
सोई ब्राह्मन देव हमारो, हम भक्तन-आधीन ॥
कहत गोपाल हरि ॥ ५ ॥

पारथ कहै प्रभु सुनो, बड़े मुनिजन ब्रतधारी,
बन बैठे तप करैं, कंद-फल-मूल-अहारी।
रात-दिवस तुमकों भजैं, तारैं कुल-आचार।
सो क्यों नाहीं भक्त तुम्हारे, इनकौ कहा बिचार ?
कहौ गोपाल हरि ॥ ६ ॥

तब बोले भगवान, भजत कोउ मोकों नाहीं,
सब माया कों भजैं, आस लीएँ मन-माहीं।
कोऊ चाहै स्वर्ग कों, कोउ इक भोग-विलास।
कोउ इक चहै महात्म्य कों, कोउ जगत की आस ॥
कहत गोपाल हरि ॥ ७ ॥

भक्त अनन्य निज दास, और कछु बांछै नाहीं,
तप तीरथ ब्रत दान सबै देखै मो माहीं।
स्वर्ग, बैकुंठ इच्छै नाहीं, नहिं बांछै भोग-बिलास।
मो बिन सब फीको लगै, सो मेरो निज दास ॥
कहत गोपाल हरि ॥ ८ ॥

हम भूले जदुनाथ, ताहि तुम हमहिं बतावो,
भक्त अनन्य निज दास, कौन सो हमहिं दिखावो।
जा दरसन पातक हरैं, भरम-करम सब जाहिं।
जाके जीमें सो बजै, को ऐसो जग माहिं ?
कहौ गोपाल हरि ॥ ९ ॥

सुनि अर्जुन के बचन कृष्ण तब मनहिं बिचार्यौ,
गर्वगंजन गोपाल सबन कौ गरब उतारयो।
भक्त हमारो सुपच है, न्यौति जिमाओ ताहि।
जाके जेयें पंचान बजै, पाप तुम्हारो जाहि ॥
कहत गोपाल हरि ॥१०॥

मैं अरु मेरो दास कछू अंतर मति जानौ।
भक्त पुजायें पुजौं, भक्त दुक्खै दुख आनौं ॥

जेतो परदो भक्त सों, तेतों हमसों जान।
सुध मन सेवा कीजिये, यों सीख देत भगवान्।
कहत गोपाल हरि ॥११॥

सेवा में चित भक्त बीच अंतर मति आनो।
कुल-अभिमान बिसारि ताहि ईश्वर करि जानो।
प्रेम-मगन आनंद सों, चरनोदक तुम लेहु।
धूप दीप नैवेद्य आरती, भाव सों भोजन देहु॥
कहत गोपाल हरि ॥१२॥

तब राजा, अर्जुन, भीम, नकुल, सहदेव पधारे।
करि अंबुज परनाम, चरन-रज सिर पर धारे॥
हाथ जोरि बिनती करी, चलिए राजदुआर।
कुटुंब-सहित पावन करौ, बोहोत करी मनुहार॥
कहत गोपाल हरि ॥१३॥

'राजा, हम कुल-नीच, ऊँच कुल-जनम तुम्हारो।'
मन में आवत भ्रांति, चलै नहिं चित्त हमारो॥
'तुमतौ संत-सिरोमनी, तुम समान नहिं कोइ।
जग्य पावन करौ, काज हमारो होइ॥'
कहत गोपाल हरि ॥१४॥

बलमीकै पधराइ राजमंदिर में लाये।
नाना बिधि पकवान द्रौपदी बोहोत बनाये॥
कनक-थार आगें धरयौ, धरयौ जमुनजल छान।
पाक परोसि रही द्रौपदी, भोग लगत भगवान॥
कहत गोपाल हरि ॥१५॥

आरोगौ भगवान्, जग्य परिपूरन कीजै।
करता-हरता आप दास को सीमा दीजै॥'
भोजन सब इकठो कियो, ग्रास धरयौ मुख माहिं।
देखि द्रौपदी के मन आई, कुल-कारन नहिं जाहिं॥
कहत गोपाल हरि ।१६॥

बाज्यौ संख पंचान, ग्रास के संगहिं बोल्यौ, ।
मौन रह्यौ चुपचाप, बहुरि अंतर नहिं खोल्यौ॥
कोपि कृष्ण कर में गह्यौ संख कियौ चकचूर।
प्रेम-मगन आनन्द सों, क्यों नहिं बोल्यौ कूर?
कहत गोपाल हरि ॥१७॥

संख कहै, 'सुनो स्याम, दोष कुछ नाहिं हमारो।
पंचाली मन माहिं संत कौ दोष बिचार्यौ॥
मन में आनी मलिनता, तातें बाज्यौ नाहिं॥
दौरि द्रौपदी चरन लगि, प्रभु, चूक परी मो पाहिं॥
कहत गोपाल हरि ॥१८॥

तुम क्यों आनी भ्रांति, सती सों कहत मुरारी।
हम भक्त की जाति, भक्त है जाति हमारी॥
भक्तन के हिय में बसौं, भक्तन के मुख खाउँ।
भक्तन अधीन सदा सौं, भक्त-बछल मेरो नाऊँ॥
कहत गोपाल हरि ॥१९॥

भक्त लगायौ भोग, सोइ हम मुख सों खायौ॥
हम पायौ है स्वाद, सकल ब्रह्मांड अघायौ॥
जैसे पोषत पेड़ कों, फल कों पहोंचै जाहि।
सुर नर मुनिजन नागलोक, तृपत भये जगमाहिं॥
कहत गोपाल हरि ॥२०॥

संसे कीन्हों दूर, ग्रास मुख में बरसायौ।
स्थावर जंगम माहिं, प्रगट परताप दिखायौ॥
देखत हीं अचरज भयौ, भरम गयौ सब भागि।
जैजैकार भयौ जग्य में, रहे चरनन सों लागि॥
कहत गोपाल हरि ॥२१॥

बाज्यौ संख पंचान, कृष्ण की आग्या पाई।
जग्य भयो परिपूरन संत की महिमा गाई॥
द्वादस कोटि मुनि जिमायें, ज्ञान कोटि सप्तान।
दर्सनीक हूँ कोट जिमायें, तोहुँ न भक्त समान॥
कहत गोपाल हरि ॥२२॥

भक्त-बछल भगवान भक्त की महिमा राखी।
जो न होइ परतीति पूछौ जाइ सास्त्रन साखी॥
पांडु-जग्य पूरन भयौ, कथा सुनाई व्यास।
इन संतन के चरन-कमल पर, सीस नवै 'सूरदास'॥
कहत गोपाल हरि ॥२३॥

भावार्थ—

युधिष्ठिर, भीम, अर्जुन आदि पांडवों ने राजसूय-यज्ञ किया और उसमें लाखों-करोड़ों ब्राह्मणों को भोजन कराया, तो भी पांचजन्य शंख का घोष नहीं हुआ, वह अपने-आप नहीं बजा। तब उन्होंने इसका कारण श्रीकृष्ण भगवान् से जाकर पूछा।

(पांडवों से कहा गया था कि यज्ञ पूर्ण सफल हुआ तभी समझना चाहिए जब पांचजन्य शंख अपने-आप बजे उठे।)

पांडवों ने हाथ जोड़कर विनती की, "हे कृपा-निधान!

क्या कारण है कि वेदोक्त विधि से यज्ञ किया गया, तब भी पांचजन्य शंख बजा नहीं? हे गोपाल, हे हरि, इसका कारण आप कृपा कर हमें बताएं ।। १ ।।

अर्जुन आदि के इस प्रश्न का उत्तर देते हुए श्रीकृष्ण ने कहा, "तुम लोगों ने शंख के आंतरिक मर्म को अबतक नहीं पहचाना।

बात यह है कि तुम्हारे यज्ञ में एक विष्णु-भक्त सम्मिलित नहीं हुआ है। इसीलिए यज्ञ-पुरुष भगवान् को तृप्ति नहीं हुई, और यही कारण है कि शंख नहीं बजा ।। २ ।।

इसपर पांडवों ने आश्चर्यपूर्वक कहा, "पूजन के सबसे बड़ अधिकारी समझकर हमने ब्राह्मणों की पूजा की है। चारों वर्णों में उनका कुल ऊंचा है। वे षट्कर्मों का आचरण करते हैं।

उन ब्राह्मणों से श्रेष्ठ दूसरा कौन है, हमें आप बताइए तो। वेद इसके साक्षी हैं। वे कहते हैं कि जो ब्राह्मण वही भगवान्! हे गोपाल हरि! तब आप हमारी भूल बताइए ।। ३ ।।"

श्रीगोपाल हरि ने कहा, "वेद वचन सत्य हैं, प्रमाण रूप हैं, किन्तु वेद का वास्तविक आशय तुम्हें समझ लेना चाहिए। सच्चा ब्राह्मण वही है, जो सभी प्राणियों में एक ब्रह्म को ही देखता है।

उत्तम जीव वही है जो मुझे भजता है। जिसने मेरा भजन छोड़ दिया वह मध्यम कोटि का है, और जो धर्म-कर्म में, कोरे कर्मकांड में अपने-आपको उलझा देता है और अहंकारवश बातें बनाता रहता है, वह अधम है ।।४।।

चारों वेदों का जो पाठ करता है और षट्कर्मों का आचार, परन्तु मेरी भक्ति से विमुख है, उसको श्वपच समझना चाहिए।

किन्तु श्वपच होकर भी जो भक्तिपूर्वक मेरा भजन करता है, मेरी प्रेम-भक्ति में तल्लीन रहता है, वही हमारा ब्राह्मण देव है। हम सदा ही भक्तों के अधीन रहते हैं।" ऐसा श्रीगोपाल हरि ने कहा ।। ५ ।।

पार्थ की शंका तब भी दूर नहीं हुई। उसने फिर पूछा, "ऐसे महान् मुनि जो व्रत धारण करके वन में बैठकर तप करते हैं, कन्द-मूल और फल ही जिनका आहार है जो दिन-रात आपका भजन, और अपने कुल-आचार का पालन करते हैं वे क्या आपके भक्त नहीं हैं? उनके बारे में आप क्या कहेंगे ।। ६ ।।"

भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा, "वास्तव में कहा जाय, तो उनमें से कोई भी मुझे नहीं भजता। सभी माया को भजते हैं, मन में कोई-न-कोई आशा लेकर।

कोई स्वर्ग को चाहता है, कोई भोग विलास की इच्छा करता है, तो कोई मान-बड़प्पन का भूखा है और कोई दुनिया की आशा लगाये बैठा है।" श्रीगोपाल हरि ने अपना मत स्पष्ट किया ।। ७ ।।

कहा, "मेरा जो अनन्य दास होगा, वह किसी भी वस्तु की इच्छा नहीं करेगा। तप, तीर्थ, व्रत, दान सभी साधनों को वह मुझमें ही देखता है।

न तो वह स्वर्ग चाहता है और न वैकुंठ। भोग-विलास चाहने की तो बात ही क्या? मुझे छोड़कर उसे सारे ही रस फीके लगते हैं। ऐसा प्राणी ही मेरा निज दास है।" वही गोपाल हरि ने कहा ।। ८ ।।

"हे यदुनाथ! यज्ञ में ऐसे अनन्य हरिभक्त को न्यौता देना यदि हम भूल गये, तो आप कृपाकर बताएं वह कौन है।

ऐसे अनन्य भागवत का दर्शन करके हम अपने सारे पापों को धो डालें और हमारे सब भ्रम नष्ट हो जायं। जगत् में ऐसा वह कौन है, जिसे भोजन कराने से पांचजन्य बज उठेगा? हे गोपाल! हे हरि! आप उसे बताएं ।।९।।"

अर्जुन की जिज्ञासा सुनकर श्रीकृष्ण ने मन में विचार किया। गर्वगंजन गोपाल ने पांडवों का सारा गर्व दूर कर दिया।

बोले, "मेरा ऐसा अनन्य भक्त एक श्वपच है। तुम उसे आदरपूर्वक लाकर भोजन कराओ, तभी यह शंख बजेगा, और तुम निष्पाप हो जाओगे ।।१०।।"

श्रीगोपाल हरि ने कहा, "मुझमें और मेरे भक्त में लेशमात्र भी अंतर नहीं मानना चाहिए। जो मेरे भक्त की पूजा करता है, वह मेरी ही पूजा करता है। जो मेरे भक्त को दुःख देता है, उसे मैं स्वयं अपना दुःख मानता हूं।

जो भक्त के साथ भेद-भाव रखता है वह मेरे ही साथ भेद करता है। जाओ शुद्ध मन से मेरे उस भक्त की सेवा करो।" भगवान् गोपाल हरि ने पांडवों को ऐसी शिक्षा दी ।। ११ ।।

"हरि-भक्त की सेवा में चित्त लगाकर उसमें और मुझमें कुछ भी भेद न मानना। वंश का अभिमान भूलकर उसे परमेश्वर ही समझना।

प्रेम-मग्न होकर आनन्द से तुम उसका चरणोदक लो। धूप, दीप, नैवेद्य और आरती भक्तिभाव से करो" ॥१२॥

महाराज युधिष्ठिर अपने भ्राताओं--अर्जुन, भीम, नकुल और सहदेव--को लेकर उस श्वपच की कुटिया पर गये। उसे प्रणाम किया और उसके चरणों की धूल को मस्तक पर रखा।

फिर हाथ जोड़कर विनती की, "चलिए, राजद्वार को अपने कुटुम्ब-सहित आप पवित्र कीजिए।"

पांडवों ने इस प्रकार उसकी बहुत अभ्यर्थना की ॥१३॥

"हे राजन्! हम नीच कुल के हैं, और आपका जन्म ऊंचे कुल में हुआ है। हमें भ्रम हो रहा है, कुछ समझ में नहीं आ रहा (कि आप हमारा इस प्रकार आदर-सम्मान क्यों कर रहे हैं।)

"तुम संत-शिरोमणि हो। तुम्हारे समान (श्रेष्ठ) कोई दूसरा नहीं। पधारकर हमारे यज्ञ को तुम पवित्र करो, जिससे वह सफल हो" ॥१४॥

वाल्मीकि को बड़े आदर के साथ पांडव राज-मंदिर में ले आये। महारानी द्रौपदी ने उनके लिए अनेक प्रकार के पकवान तैयार किये।

सोने का थाल सजाकर उनके आगे रखा, और छानकर यमुना का जल।

द्रौपदी पकवान परोस रही है और वाल्मीकि भक्त भगवान् को भोग लगा रहे हैं ॥१५॥

"भगवान् भोग आरोगिए, और यज्ञ को सफल बनाइए, कर्त्ता और हर्त्ता तो आप ही हैं। अपने इस दास को इतना यश दीजिए।"

भगवान् को भोग लगाकर उस हरि-भक्त ने अपने मुख में ज्यों ही एक ग्रास लिया, उसे देखकर द्रौपदी का चित्त उसके श्वपच-कुल की ओर चला गया ॥१६॥

पांचजन्य शंख बजा, ज्योंही उस हरि-भक्त ने अपने मुख में ग्रास रखा। किन्तु एक बार बजकर शंख मौन हो गया, फिर नहीं बजा।

श्रीकृष्ण ने यह देखकर उसे हाथ में लेकर चूर-चूर कर दिया, और कहा, "अरे क्रूर! प्रेम-मग्न होकर आनंद से दुबारा तूने घोष क्यों नहीं किया?" इस प्रकार श्रीगोपाल हरि ने शंख से पूछा ॥१७॥

शंख का उत्तर था, "हे श्यामसुन्दर! मेरा कोई दोष नहीं। द्रौपदी के मन में आपके इस संत के प्रति जब कुशंका आ गई और इसके कुल की ओर पांचाली का चित्त चला गया, तब मेरे अंतर से घोष कैसे निकले?"

द्रौपदी ने दौड़कर तब हरि-भक्त के चरण पकड़ लिये। बोली, "प्रभो! मुझसे भूल हो गई" ॥१८॥

श्रीगोपाल हरि ने सती द्रौपदी की शंका का निवारण करते हुए कहा, "तुम अपने मन में ऐसी शंका क्यों लाई? हमारी जाति तो भक्त की जाति है, और भक्त हमारी जाति का है।

मैं सदा भक्तों के हृदय में बसता हूं और भक्तों के मुख से ही खाता हूं, सदा भक्तों के अधीन रहता हूं, और मेरा एक नाम भक्तवत्सल है ॥१९॥

मेरे इस भक्त ने जब भोग लगाया तब वह मैंने ही ग्रहण किया। मुझे उसका रसास्वाद मिला, तो मानो सारा ब्रह्माण्ड तृप्त हो गया, उसी प्रकार जैसे किसी वृक्ष को पानी देने से वह फल तक पहुंच जाता है।"

देव, मनुष्य, ऋषि, मुनि और नाग सभी तृप्त हो गये, ऐसा श्रीगोपाल हरि ने कहा ॥२०॥

जो ग्रास भक्त के मुख में गया था, उसे भगवान् कृष्ण ने अपने मुख में दिखलाकर सारा संशय दूर कर दिया। चराचर जगत् में भक्त की महिमा को प्रत्यक्ष दिखा दिया।

भगवान् की यह लीला देखकर उन सबको आश्चर्य हुआ, और उनका सारा भ्रम दूर हो गया। यज्ञ-स्थल में जय-जयकार हुआ और भगवान् के चरणों पर वे गिर पड़े ॥२१॥

श्रीकृष्ण की आज्ञा पाकर पांचजन्य ने घोष किया। यज्ञ परिपूर्ण हुआ। श्वपच संत की महिमा का बखान सब करने लगे।

बारह करोड़ मुनियों को भोजन कराया जाय और सात करोड़ ज्ञानियों को और करोड़ों दार्शनिकों को, तो भी हरि-

(शेष पृष्ठ ४१९ पर)

:बुजुर्गों की बुजुर्गी

●● सत्यदेव विद्यालंकार

समाज-सेवा और मिलनसारिता दो ऐसे विशिष्ट गुण हैं, जो भारतीय जीवन के अभिन्न अंग कहे जा सकते हैं। बड़े बुजुर्गों का जीवन इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है। उन बुजुर्गों की पीढ़ी अब उठती जा रही है और भारतीय जीवन में इन विशिष्ट गुणों का ह्रास होता जा रहा है। वंश-परंपरा से प्रकट होनेवाले ये गुण आज की पीढ़ी में प्रकट न हों, यह बड़े दुःख और खेद का विषय है। कदाचित् ही कोई परिवार ऐसा होगा जिसमें बड़े बुजुर्गों में ये गुण कम अधिक मात्रा में पाये न जाते हों। उनमें जो सहृदयता और आत्मीयता पाई जाती थी, उसीके कारण सारे मुहल्ले में कुछ ऐसा वातावरण बना रहता था कि किसी भी घर पर कुछ भी संकट आ पड़ने पर मुहल्ले के सारे लोग उसको अपना ही मान लेते थे और जबतक वह दूर नहीं हो जाता था, उसके लिए चिंतित रहते थे। जात-बिरादरी, धर्म-सम्प्रदाय अथवा ऐसा कोई भी अन्य भेद इसमें बाधक नहीं बन सकता था। सहृदयता और आत्मीयता का यह व्यवहार सभीके प्रति समान रूप से किया जाता था। हिन्दू, मुसलमान, सिख, ईसाई तो क्या हरिजनों के प्रति भी कोई भिन्नता नहीं बरती जाती थी। तब संकीर्ण धार्मिक विचारों से सामाजिक जीवन में छूत-छात की जो बीमारी फैली हुई थी, उसके कारण किसीके प्रति नफरत का कोई व्यवहार नहीं किया जाता था। आज वह धार्मिक व सामाजिक छूतछात दूर होती जा रही है, परंतु नफरत निरंतर बढ़ती पर है। दिल और दिमाग वैसे साफ नहीं रहे, जैसेकि निजी व्यवहार में धार्मिक विश्वासों के आधार पर कुछ अंतर होनेपर भी पहले पाये जाते थे। पहले धार्मिक व सामाजिक विचार व्यक्तिगत जीवन तक सीमित रहते थे। वे सार्वजनिक जीवन को मैला नहीं करते थे। वे दिन भी हममें से बहुतों ने देखे होंगे, जब दशहरा, दिवाली, ईद, मुहर्रम तथा ऐसे ही सब त्योहार बस्ती के सब लोग मिलकर, मनाया करते थे और बस्ती का सबसे बड़ा बुजुर्ग बिना किसी अधिक भेदभाव के त्यौहार का नेतृत्व और शुभारम्भ किया करता था। बस्ती के सभी लोग सभी त्यौहारों को अपना मानकर उनमें शामिल हुआ करते थे।

बुजुर्गों की उस पीढ़ी के उठते जाने से एकता की वे सब भावनाएं कमजोर पड़ती जा रही हैं। अब भावात्मक राष्ट्रीय एकता की चर्चा तो बहुत है, परन्तु बुजुर्गों के इस आदर्श जीवन को अपनाने की भावना का नितान्त अभाव है।

मैं जब अपने वयोवृद्ध स्वर्गीय माता-पिता के जीवन का सिंहावलोकन करता हूं तब उनकी इस बुजुर्गी पर चकित रह जाता हूं। यह बिल्कुल सच है कि उनके जीवित रहते उनकी इस बुजुर्गी के महत्व को मैंने ठीक-ठीक रूप में शायद कभी नहीं आंका। आज उनके उठ जाने पर उनकी बुजुर्गी की एक-एक घटना मेरे लिए सबक बन कर रह गई है। मुझे वह घटनाएं याद आते ही कुछ ऐसा अनुभव होता है कि यदि हम उनसे कुछ सीख सकें तो आज की बहुत-सी राष्ट्रीय समस्याएं भी स्वतः ही हल हो जायं। राष्ट्रीय एकीकरण के लिए तब बड़े-बड़े सम्मेलन करके समितियां नियुक्त करने और लम्बे-चौड़े प्रस्ताव पास करने की आवश्यकता न रहे। समाज-सेवा के लिए लोगों को प्रेरित करना अनावश्यक हो जाये। दिल-से-दिल मिल जाये, तो सामाजिक जीवन में से कटुता का सारा विष स्वतः ही बुझ जाये।

यह मेरा दुर्भाग्य ही है कि मैं अपने बुजुर्ग माता-पिता की छाया में कुछ अधिक नहीं रह सका। सात-आठ वर्ष की आयु में गुरुकुल कांगड़ी भेज दिया गया। विद्यार्थी जीवन के १४ वर्ष वहां पूरे हुए। उन दिनों में विद्यार्थी अवस्था में गुरुकुल के विद्यार्थी घर नहीं आ-जा सकते थे और घरवालों के साथ उनका कोई सम्पर्क नहीं रहता था। जैसे ही गुरुकुल की पढ़ाई समाप्त हुई, देश में राष्ट्र-पिता महात्मा गांधी असहयोग व सत्याग्रह का शंख फूंक चुके थे, और देश के युवक उनकी ओर सर हथेली पर रख वैसे ही आकर्षित हो रहे थे, जैसे कि दीपक की लौ पर आत्मोत्सर्ग करने के लिए पतंग आकर्षित होता है। तब देश-सेवा का जो रंग चढ़ा, वह निरंतर गहरा ही होता गया। घर ऐसा छूट गया कि कई-कई वर्ष एकबार भी घरवालों से मिलना नहीं हुआ। विवाह घर-गृहस्थी में बांध देनेवाला एक बंधन बताया जाता है,

पर मेरे लिए विवाह वैसा बंधन नहीं बन सका। अपने विवाह के बाद और भी अधिक निश्चित व निर्भय होकर मैं देश-सेवा के व्रत को निरंतर निभाता रहा। मेरी पत्नी सुभद्रा जी भी उसी रंग में रंग गई और मुझसे भी चार कदम आगे बढ़ गई। इसलिए घर आने-जाने का अवसर और भी कम हो गया। १९३१–३२ में पिता सरकारी नौकरी से विमुक्त हुए तब हम दोनों जेल में थे। भाई-बहन के विवाह का निमंत्रण हम दोनों को जेल में ही मिला। ऐसे अधिकांश पारिवारिक प्रसंगों पर हम जेलों में रहने के कारण उपस्थित नहीं हो सके। तात्पर्य यह है कि बुजुर्ग माता-पिता के सान्निध्य में रहने का पुण्य हमें प्राप्त नहीं हुआ। फिर भी, उनकी समाज-सेवा और मिलनसारिता की कहानियां सुन-सुनकर मैं गद्गद होता रहा।

माताजी एकबार जालंधर आ रही थीं। रेल के डिब्बे में कलकत्ता से लाहौर जानेवाली साथ की एक महिला को प्रसव-वेदना हुई। गाड़ी स्टेशन पर ठहरी। वह डिब्बा उन्होंने खाली करवा लिया। साथ के यात्रियों को दूसरे डिब्बों में बैठा दिया गया। दोनों ओर चादर तानकर चलती गाड़ी में प्रसव करवा दिया गया। जालंधर उतरीं तो महिला को अपने साथ घर ले आईं। उसके घरवालों को सूचना दी गई और वे आकर जच्चा-बच्चा को अपने साथ लिवा ले गये। यह एकाकी ही घटना नहीं थी, ऐसे कितने ही प्रसंग आये होंगे जबकि उन्होंने इसी प्रकार कितनी ही महिलाओं की सेवा की होगी। अपने मुहल्ले में किसी के भी यहां बच्चा होने को होता तो सुनते ही दौड़ पड़ती थीं। रोटी चाहे चकले पर बेलन के नीचे हो या तवे पर, वे छोड़कर चल देती थीं। एक क्षण के लिए भी रुक नहीं सकती थीं, जच्चा-बच्चा की साज-संभाल करके ही लौटती थीं। भले ही उसमें कितना ही समय क्यों न लग जाय। प्रसव-प्रक्रिया में वे इतनी चतुर और सिद्धहस्त थीं कि बड़ी-बड़ी सुशिक्षित दाइयां भी उनका मुकाबला नहीं कर सकतीं थीं। जिस प्रसव के लिए डाक्टरी सहायता आवश्यक समझी जाती थी, उसे भी वे संभाल लेने में सिद्धहस्त थीं। मुहल्ले के गृहस्थ डाक्टरों व अस्पतालों पर इतना भरोसा नहीं रखते थे, जितना कि माताजी पर।

भोजन के बाद रात्रि के समय घर की ड्योढ़ी में बैठकर, आंख के कष्ट से पीड़ित गोदी के बच्चों की आंखों में दवाई डालना उनका नित्य का नियम था। ठीक समय पर बैठ जातीं और मुहल्ले की महिलाओं का तांता लग जाता। १५–२०–२५ बच्चों की आंखों में दवाई डालकर वह उठतीं और संतोष से बिस्तर पर सोने के लिए लेट जातीं। शहर में दूर पास किसीके यहां कोई संकट उपस्थित होता, तो सुनते ही, घर से निकल पड़तीं और जोकुछ सेवा बनती करके ही लौटतीं। सबके सुख-दुख में हाथ बंटाना उनका स्वयं-स्वीकृत ऐसा व्रत था, जिसका पालन उन्होंने वैसी ही तत्परता के साथ किया, जिस तरह महिलाएं अपने धार्मिक व्रतों का पालन करती हैं। दीन-दुखियों, गरीबों व अनाथों के यहां विवाह आदि के अवसर पर तन-मन-धन से सहयोग देना उनका स्वभाव बन गया था। छोटे-बड़े या ऊंच-नीच की कोई संकीर्णता उनको छू तक नहीं गई थी।

हिन्दू-मुस्लिम-भेदभाव से वह इतना ऊंचा उठ गई थीं कि घर में आनेवाले अतिथि की सुख-सुविधा तथा स्वागत-सत्कार आदि में सांप्रदायिक भेद के कारण कभी कोई कोताही नहीं होती थी और कोई अंतर नहीं आता था। स्वयं भोजन बनाने और परोसने में उनको सर्वाधिक सुख व संतोष अनुभव होता था। अतिथि-सेवा में वह स्वान्तः सुखाय संलग्न रहती थीं। जोकोई एकबार भी उनके हाथ का खाना खा गया, वह उनको कभी नहीं भूला।

निर्भीकता, साहस व धैर्य के लिए भी उनकी बड़ी ख्याति थी। उनके समय में मुहल्ले में चोरियों आदि की बहुत ही कम दुर्घटनाएं होती थीं, कारण यह था कि वह रात को भी बड़ी जागरूक और सावधान रहती थीं। अनेक बार चोरों को पकड़वाने के लिए उन्होंने उनका सामना भी किया। एक बार एक घर में कोई चोर घुसकर छिप गया। पुलिस ने कई घंटों तक घर को घेरे रखा। सब हार गये, तब माताजी ने कहा कि मुझे भी एक बार ढूंढ लेने दो। वे अंदर गईं और छिपे हुए चोर को पकड़कर बाहर ले आईं। अपने ही घर में एकबार एक चोर का हाथ इतने जोर से पकड़ा कि उसको पुलिस के आनेतक नहीं छोड़ा। किसी भी अजनबी आदमी को अपने मुहल्ले में देखकर वह उसपर प्रश्नों की झड़ी लगा देती थीं। लड़कियों के साथ छेड़छाड़ करने का कभी कोई दुःसाहस नहीं कर सका। उसकी इस जागरूकता का

लाभ सभीको समान रूप से मिलता था।

हिन्दू-मुस्लिम एकता में उनका ऐसा अटूट विश्वास था कि देश का दुर्भाग्यपूर्ण विभाजन हो जानेपर भी उनके इस विश्वास में कमी नहीं आई। जालंधर से पाकिस्तान गये हुए मुसलमान जब कभी किसी धार्मिक पर्व पर जालंधर लौटते थे, तब हमारे मुहल्ले के मुसलमान भाई माताजी से मिलने के लिए हमारे घर आया करते थे और माताजी भी उनके निवास-स्थान पर जाकर उनसे मिला करती थीं। उनके भोजन-आदि की व्यवस्था बड़े स्नेह से किया करती थीं। राष्ट्रीय काम-काज में वह बड़े उत्साह से हाथ बंटाया करती थीं। वह न तो पढ़ी-लिखी थीं न शिक्षित और न राज-नीतिक दाव-पेंच में कुछ दिलचस्पी रखती थीं, परंतु नागरिक तथा संसदीय चुनावों में मुहल्ले के सारे मतदाता जुलूस बनाकर मतदान केंद्र में मत डालने जाया करते थे और माताजी तिरंगा झंडा लिये उनका नेतृत्व किया करती थीं। हम दोनों के घर से दूर, बार-बार जेल जीवन बिताने की उनपर कभी कोई प्रतिकूल प्रतिक्रिया होने का कोई प्रसंग मुझे आज भी स्मरण नहीं पड़ता।

अपने स्वर्गीय पूज्य पिताजी की बुजुर्गी की घटनाएं क्या लिखी जावं। आप भी माताजी के समान बड़े समाज-सेवी, मिलनसार और प्रगतिशील विचारों के समाज-सुधारक थे। मेरा ननिहाल उन इने-गिने प्रमुख परिवारों में था, जिसने जालंधर शहर में अमर शहीद स्वामी श्रद्धानन्द (तब महात्मा मुन्शीरामजी) और कन्या महाविद्यालय के संस्थापक स्व० लाला देवराजजी के दिनों में आर्यसमाज में प्रवेश किया था। पिताजी बहुत पुराने आर्यसमाजी थे। वह मूलतः पटियाला के निवासी थे। परंतु आर्यसमाजियों पर वहां रियासत की ओर से राजद्रोह के षड्यंत्र का जो मुकदमा चलाया गया था, उसमें गिरफ्तार न किये जानेपर भी आपका मन इतना खिन्न हो गया कि आपने पटियाला छोड़कर जालंधर में ही बसना पसंद किया। यहां आर्य-समाज की गतिविधि में यथाशक्ति भाग लेते हुए भी आप कभी धर्मान्ध व कट्टर नहीं बने। आपकी आयु का बड़ा हिस्सा रेलवे स्टेशनों पर स्टेशन मास्टरी में बीता। कभी कोई यात्री 'नमस्ते' कह देता तो आर्यसमाजी मानकर उसे निजी रूप में सब प्रकार की सुख-सुविधा देना आप अपना कर्तव्य मानते थे। कोई भी आर्यसमाजी भजनीक, उपदेशक अथवा अधिकारी आपका आतिथ्य स्वीकार किये बिना, आपके स्टेशन से खाली नहीं जा सकता था। आर्यसमाज के प्रति इस रुचि से ही पिताजी में समाज-सुधार की भावना पैदा हुई। अपनी लड़कियों के विवाह जात-बिरादरी के संकीर्ण दायरे को लांघकर किये। उनको सुशिक्षित बनाने में भी कुछ बाकी नहीं रखा। उन्हें बी० ए० तथा एम० ए०, बी०टी० तक शिक्षित कराया। समाज-सेवा की भावना भी आपमें आर्य-समाज से ही पैदा हुई थी। परन्तु वह आर्यसमाज तक सीमित नहीं रही। उसका दायरा निरंतर विस्तृत होता गया।

धर्म-कर्म और पूजा-पाठ में आपकी श्रद्धा अद्भुत थी। नित्य-नियम से दोनों समय संध्या-वंदन करना आपका दैनिक कार्यक्रम बन गया था; और इसमें किसी भी कारण चूक नहीं हो सकती थी। स्वर्गीय स्वामी सत्यानंदजी महाराज ने आर्यसमाज में रामनाम महिमा का जो क्रम शुरू किया था, उसका पिताजी पर बड़ा गहरा प्रभाव पड़ा था और उस क्रम को आजीवन बड़ी निष्ठा के साथ निभाया। 'हरे-राम', 'हरे-राम' चौबीसों घंटे आप जपते रहते थे।

मिलनसार ऐसे थे कि अपना कोई दुश्मन या विरोधी नहीं बनाया। आप सच्चे अर्थों में अजातशत्रु थे। घर से बाजार के लिए जब निकलते तब आस-पास के सब लोगों की आवश्यकता पूछ कर निकलते और सबका सामान खरीदकर लौटते। जालंधर से बाहर अमृतसर, लाहौर, दिल्ली अथवा हरिद्वार आदि जानेपर भी आस-पास वालों की सब आवश्य-कताओं का पूरा ध्यान रखते। दूसरों के अभाव को वह अपना ही मानते और उसकी पूर्ति के लिए यथाशक्ति प्रयत्न-शील रहते।

आप अपने पीछे अपने परिजनों से भी अधिक बड़ा प्रियजनों का परिवार छोड़ गये हैं। माताजी के बाद पिताजी का भी स्वर्गवास हो जानेपर मैंने जो सूनापन अनुभव किया, वह पहले कभी न किया था। दोनों की उपस्थिति में घर-बार से सर्वथा अलिप्त रहकर जिस प्रकार देश-सेवा, समाज-सेवा व पत्रकारिता में लीन रहा, उसका वास्तविक श्रेय आपही को दिया जाना चाहिए। मैंने कभी भी आप

(शेष पृष्ठ ४२६ पर)

अहिंसा-प्रचार कैसे ?

●● अगरचन्द नाहटा

विश्व की विचित्रता बहुत ही आश्चर्यजनक है। कितने रंग-रूपों में यह सृष्टि दिखाई पड़ रही है इसपर यदि गंभीर विचार किया जाय तो बहुत-से नये तथ्य प्रकाश में आ सकते हैं, प्रत्येक कार्य के पीछे कोई-न-कोई कारण है ही। और कार्य-कारण के संबंध को ठीक से जान लिया जाय तो अपने ज्ञान का अद्भुत विकास हो सकता है पर हम प्रायः गहराई में नहीं जाते और इसीलिए विश्व के रहस्य से अज्ञात हैं।

अन्य वैचित्र्य को छोड़ केवल मनुष्य को ही लें तो प्रत्येक मनुष्य की आकृति, ध्वनि, रुचि, स्वभाव, में भिन्नता दिखाई देती है। इस भिन्नता का कारण क्या है? और इन बाहरी भिन्नताओं के साथ-साथ मानव-मात्र में मूल-भूत एकता व समानता क्या है? इस विषय में गहराई से विचार करने पर मानव मानव के पारस्परिक संघर्ष को मिटाया जा सकता है और सारे विश्व के मानवों में प्रेम का संबंध स्थापित किया जा सकता है। तत्वज्ञ महापुरुषों ने इस पर खूब चिन्तन किया था और अहिंसा का सिद्धांत उसी चिंतन का परिणाम है। भगवान् महावीर ने कहा है कि समस्त प्राणी जीना चाहते हैं, मरना कोई नहीं चाहता। इसी तरह सुख की अभिलाषा सभी करते हैं, दुख की कोई नहीं। इसलिए किसीको मारना या दुख देना अनुचित हिंसा है। जैसे हमारा जीवन हमें प्रिय है, वैसे ही दूसरे प्राणियों को भी "अपना जीवन प्यारा' है। वैदिक ऋषियों ने इसी बात को अन्य रूप में कहा है कि 'दूसरों के साथ ऐसा व्यवहार नहीं करना चाहिए जैसा कि हम अपने लिए पसंद नहीं करते--"आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत--आत्मानं सर्वभूतेषु यः पश्यति स पश्यते।" अनेकता में रही हुई यह एकता की खोज प्राणी-मात्र के लिए परम कल्याणकारी है। शरीर आदि का बाह्य भेद गौण करके यह सोचा जाय कि आत्मा सबमें विद्यमान है एवं जैसी मेरी आत्मा है वैसी ही अन्य आत्माएं हैं। जिस प्रकार मुझे मारने, कटु वचन कहने आदि व्यवहारों से दुःख होता है, उस प्रकार का व्यवहार मैं दूसरों के साथ करूंगा तो उसे भी वैसा ही कष्ट होगा और जब मैं अपने को दुःखी बनाना नहीं चाहता तो, दूसरों को दुःखी कैसे कर सकता हूं?

दूसरों को दुःख न देना यह तो ठीक है ही पर उन्हें किसी प्रकार के कष्ट में पड़ा देखकर उनके दुःख निवारण का हर संभव प्रयत्न करना यह भी मानव का कर्तव्य है क्योंकि जब हम अपने कष्ट के समय दूसरों की सहानुभूति और सहयोग की अपेक्षा करते हैं वहां दूसरों को दुःखी देखकर हमें भी उनके दुःख को हल्का करने में सहायक होना चाहिए। संभव है उनके दुःख निवारण की पूर्ण सामर्थ्य हम में न हो, पर मीठे वचनों से उन्हें सान्त्वना देकर सहानुभूति द्वारा भी उनके कष्ट को कुछ तो हल्का कर ही सकते हैं। पर आज का मानव इतना अधिक स्वार्थी हो गया है कि अपने एवं अपने परिवार आदि के लिए दूसरों को दुःख देने में उसे तनिक भी विचार नहीं होता। दूसरों को दुःखी देखकर उनकी सहायता करना तो दूर, सहानुभूति प्रकट करने की भी उसे न फुरसत है, न उसके दिल में वैसी भावनाएं ही उत्पन्न होती है। मानव-हृदय ही हिंसा, द्वेष, संघर्ष और युद्ध का कारण है।

प्रकृति से ही प्राणि-मात्र में अच्छी या बुरी, कोमल या कठोर दोनों प्रकार की भावनाएं कमी-वेशी रूप में विद्यमान रहती हैं। भारतीय मनीषियों ने उसकी अच्छाइयों और कोमल भावनाओं को प्रकट करने और बढ़ाने का सदा प्रयत्न किया, जिससे बुरी और कठोर भावनाएं दबी रहें। कोमल भावनाओं में 'करुणा' सबसे अधिक हितकारी है। जब हम दूसरे के कष्ट को देखकर बेचैन से हो उठते हैं तो अपनी उस बेचैनी को दूर करने के लिए भी हम उस कष्ट के निवारण का भरसक प्रयत्न करते हैं क्योंकि हमसे वैसा किये बिना रहा नहीं जाता और इस स्थिति में हम दूसरों को कष्ट तो दे ही कैसे सकते हैं, उनका कष्ट देख भी नहीं सकते। जगत् के जीवों के कल्याण की भावना का उदय भी इसी करुणा वृत्ति से हुआ है। महापुरुषों ने देखा कि जगत् के प्राणी दुखी हैं। अज्ञान और मोह से वे स्वयं अपने दुःख का कारण बन बैठे हैं तो, उन्होंने ज्ञान का प्रकाश फैलाया और कल्याण का मार्ग, दिखाया। आज भी उस करुण वृत्ति और विश्व-प्रेम की

भावना को मानव-हृदय में अधिक-से-अधिक प्रगट एवं प्रतिष्ठित करना आवश्यक है, उसके बिना विश्व-शांति की बातें केवल मौखिक ही होंगी। हृदय में जहांतक दूसरों के कष्ट को अपना कष्ट समझा नहीं जायगा, वहांतक हमारे आपसी व्यवहार में औपचारिकता व दिखाऊपन ही रहेगा, आत्मीयता और सच्चा-प्रेम नहीं मिलेगा।

आज विश्व में हिंसा का बोलवाला है। एटम बम के युग में लाखों-करोड़ों का संहार एक साधारण-सी बात हो गई है। पशु-पक्षियों की हिंसा भी इतनी अधिक बढ़ गई है कि मनुष्य अपनी सुख-सुविधा के लिए उनका करुण-क्रन्दन सुनकर भी उनके संहार में तनिक भी नहीं हिचकिचाता। इस स्थिति में यह अत्यंत आवश्यक है कि अहिंसा प्रचार के नये-नये उत्तम तरीकों को ढूंढ़ा जाय और उनके प्रचार का पूर्ण प्रयत्न किया जाय। हमारा लक्ष्य यह हो कि मनुष्य की करुणा, वात्सल्य आदि कोमल-वृत्तियों को अधिकाधिक प्रोत्साहन दिया जाय। आज का युग बुद्धि-प्रधान है। पर हृदय की सद्भावनाएं भी अभी समाप्त नहीं हुई हैं। ऐसे विचार मनुष्य के सामने लाए जाय जिससे वह हिंसा करते हुए रुक जाय। उसके हृदय की पुकार इतनी बलवती हो कि दूसरों के कष्ट को अपना दुख अनुभव कर वह अपने आचरण को ऐसा बनाये जिससे सबको शांति मिले।

हम देखते हैं कि भारत जैसे शाकाहारी प्रधान देश में आज मांसाहार का प्रचार दिनोंदिन बढ़ता जा रहा है। हत्यादि के अपराध भी इतने अधिक बढ़ गये हैं कि दूसरों की हत्या की तो बात ही क्या, अपने आत्मीय-जनों की हत्या करने में भी हिचक नहीं रही है। अनैतिकता जोरों से बढ़ रही है। यदि इसकी रोकथाम का कोई सफल उपाय नहीं खोजा गया तो अध्यात्म और धर्म-प्रधान भारत का गौरव टिक नहीं पायगा।

मेरी राय में आज के विज्ञापन व प्रचार के युग में कुछ ऐसे विज्ञापनादि प्रचारित किए जायं, जिनकी कोमलकांत पदावली हृदयस्पर्शी हो। पढ़ते ही हृदय के तार झंकृत हो जायं, एक हलचल-सी मच जाय और विचार करने के लिए बाध्य होना पड़े। बच्चों से लेकर वृद्ध तक और पशु-पक्षी तक मनुष्य का जो कठोर और अनुचित व्यवहार हो रहा है उसकी ओर ऐसे शब्दों में ध्यान आकर्षित किया जाय कि मनुष्य उसके संबंध में कुछ सोचने को बाध्य हो। उसके हृदय में परिवर्तन होकर, व्यवहार में भी शीघ्र ही सुधार हो। उदाहरणार्थ—दैनिक हिन्दुस्तान के ४ अप्रेल '६२ के अंक में यातायात की दुर्घटनाओं को रोकने के लिए राजधानी में जो बोर्ड लगाये गये हैं उसका संवाद छपा था उसमें छोटे-छोटे वाक्यों में बहुत महत्व की बात कह दी गई है। वे वाक्य इतने हृदयस्पर्शी हैं कि पढ़नेवाले के दिल में हल-चल पैदा करते हैं और कुछ विचार करने की प्रेरणा देते हैं। ऐसे ही उत्तम और प्रेरणादायक बोर्ड आदि अहिंसा प्रचार में भी उपयोगी सिद्ध हो सकते हैं। इसलिए पाठकों का ध्यान इस ओर आकर्षित किया जाता है। जहां-जहां जिस रूप में हिंसा होती हो उसके निवारण के लिए लोगों का ध्यान ऐसे ही वाक्यों द्वारा आकृष्ट किया जाय तो बहुत साधारण खर्च में बहुत बड़ा लाभ हो सकता है। 'हिन्दुस्तान' में 'प्रकाशित वह संवाद इस प्रकार है : **'कृपया धीमें चलाएं' 'हमें बच्चे प्यारे हैं'**। राजधानी के यातायात संबंधी और अन्य विषयों के जो बोर्ड लगाए गए हैं उनमें काफी कल्पना और मनोविज्ञान का परिचय दिया गया है।

दुर्घटनाएं रोकने के लिए यातायात पुलिस की ओर से अंग्रेजी में लगाए गये कुछ निर्देशों का अर्थ इस प्रकार है:

जीवन छोटा है, इसे और छोटा मत बनाइये। सुरक्षा में हमारी दिलचस्पी है, क्या आपकी भी है?

स्कूलों के निकट अब नये बोर्ड लगाये गये हैं जिनपर लिखा है—**बच्चे बचाओ**। अंग्रेजी में जो लिखा है उसका अर्थ है महंगी (या प्रिय) क्रासिंग।

सुन्दरनगर में लगे कुछ बोर्ड शायद इन सभीसे अधिक दिलचस्प और कल्पनाशील है। **कृपया धीमें चलाएं—जीवन जीने योग्य है**। दूसरा बोर्ड है—**कृपया धीमें चलाएं—हमें अपने बच्चे प्यारे हैं।**

यह तो सर्वमान्य तथ्य है कि आदर्श वाक्यों का मनुष्य के हृदय पर तत्काल और स्थायी प्रभाव पड़ता है। बहुत बार तो एक छोटे-से वाक्य से ही मनुष्य का कायापलट हो जाता है। इसलिए हृदय को शीघ्र एवं सीधे प्रभावित करनेवाले वाक्यों का प्रचार अधिकाधिक उपयोगी होगा ही। हम देखते हैं कि कई लोग अपने बच्चों को बहुत पीटते हैं। यदि उनके

सामने ऐसा बोर्ड रहे कि ये बच्चे ही भावी राष्ट्र का निर्माण करनेवाले हैं। इन्हें प्रेम से सुधारिये। ऐसे कोमल बच्चे पीटने के योग्य नहीं हैं। इनको अच्छे सांचे में ढालना आपका कर्तव्य है। मार-पीट करना एक बुरी आदत है। आज आप इनको मारते हैं, कल ये दूसरों और बड़े होनेपर अपने बच्चों को भी मारेंगे। कृपया ऐसा संस्कार छोड़ न जाय जिससे उनके भावी जीवन पर बुरा प्रभाव पड़े, इत्यादि।

इसी तरह गाड़ी चलानेवाले और दूध बेचनेवाले आदि व्यक्ति पशुओं के साथ बहुत ही बुरा व्यवहार करते हैं। उन्हें अनावश्यक पीटते हैं, उनकी भूख, प्यास, घाव आदि कष्टों की कुछ भी परवाह नहीं करते। उनके सामने यदि ऐसे आदर्श वाक्य रहें तो अवश्य प्रभाव पड़ेगा, कि "आपकी आजीविका के साधन होने से आप पर इनका बड़ा उपकार है, उसे ध्यान में रखते हुए इन्हें समय पर पूरा और अच्छा खाना दें। इनके स्वस्थ और पुष्ट रहने से ही आपकी कमाई में वृद्धि होगी। इन पर डंडा चलाने और चाबुक मारने से पहले जरा एक डंडा या चाबुक अपने पर भी लगा के देखिये कि कैसा कष्ट होता है। इनसे काम लीजिये, पर दुर्व्यवहार न करके इन्हें अपने बच्चे की तरह पालिये। ये आपके आश्रित हैं, इनकी रक्षा व भरण-पोषण आपका कर्तव्य है। गाय का दूध इतना न निकालिये जिससे उसका बच्चा भूखों मर जाय। अधिक दूध निकाल कर आपको थोड़ा-सा ही लाभ होगा पर यदि यह बछड़ा जीवित रहा तो इससे आपको अधिक लाभ हो सकता है।"...इत्यादि।

इसी तरह मांसाहारी होटलों के आगे ऐसे बोर्ड लगाये जा सकते हैं जिससे उन्हें पशु-पक्षियों के मारने में हिचक हो। शाकाहार की उपयोगिता को जानकर मांसाहार से निवृत हो जाय। आशा है अहिंसा-प्रेमी अहिंसा प्रचार के उस उत्तम सरल और सस्ते साधनों का अधिकाधिक उपयोग कर देश में बढ़ती हुई हिंसा कम करने में प्रयत्नशील होंगे।

(पृष्ठ ४१३ का शेष)

भक्त को भोजन कराने की तुलना में वह पलड़ा हल्का ही रहेगा। श्रीगोपाल हरि ने यह निश्चित मत प्रकट किया ॥२२॥

भक्तवत्सल भगवान् ने भक्त की महिमा बढ़ाई, उसकी लाज रखी। अरे! फिर भी विश्वास न हो, तो शास्त्रों से जाकर पूछो न, वे इसकी साक्षी भर रहे हैं।

पांडवों का यज्ञ परिपूर्ण हुआ। यह कथा भगवान् व्यास ने सुनाई।

ऐसे संतों के चरणकमलों पर यह 'सूरदास' जन अपना शीश झुका रहा है।

देवीः भागवत-महापुराण

●● बालमुकुन्द मिश्र

श्री देवी भागवत-महापुराण के आधुनिक संस्करण का सम्पादन (वर्तमान बाराहकल्प में) २८वें (कृष्ण-द्वैपायन) व्यास ने, लगभग पांच हज़ार वर्ष पूर्व किया था। देवी-भागवत की सामग्री कृष्णद्वैपायन व्यास से पूर्व भी थी, पर वह वर्तमान प्राप्य रूप में न थी; तात्पर्य इतना ही है, कि आधुनिक समय में प्राप्य देवी-भागवत-महापुराण के संयोजक, संकलन-कर्ता एवं संपादक प्रातःस्मरणीय कृष्णद्वैपायन व्यास थे।

देवी-भागवत-महापुराण में 'सारस्वत' नामक 'कल्प' (युग) का पौराणिक इतिहास-प्रसंग संगृहीत है। सारस्वत-कल्प में देवी, शक्ति, महामाया की प्रधानता थी। एक कल्प (एक सहस्र महायुग और १४ मन्वन्तर होते हैं) के पौराणिक-इतिहास को 'पुराण' कहते हैं, अतएव सारस्वत-कल्प का पुराण देवी-भागवत-महापुराण है। सारस्वत-कल्प की चर्चा करते हुए कहा गया है:[१]

सारस्वतस्तु द्वादश्यां शुक्लायां फाल्गुनस्य च

(स्कन्द-पुराण, नागर खण्ड)

१२ शुक्ला फागुन को सारस्वत-कल्प का आविर्भाव काल था। और इसी दिन:

महाविद्या जगद्धात्री सर्वविद्याधिदेवता।
द्वादश्यां फाल्गुनस्यैव शुक्लायां समभून्नृप॥

(शिव पुराण, उमासंहिता)

शक्ति-भागवती का प्रादुर्भाव हुआ था, और सारस्वत-कल्प का भी उद्भव हुआ।

महापुराणों के नाम—वक्ता, श्रोता व प्रतिपाद्य विषय के अनुसार प्रचलित हुए हैं। 'देवी-भागवत' पुराण का प्रतिपाद्य देवता—भगवती-शक्ति-देवी-महामया-दुर्गा आदि, ब्रह्म की शक्ति है। देवी-भागवत-महापुराण के आदिम श्रोता-वक्ता के विषय में वचन है:

ब्रह्मणा संगृहीतं च।

(देवी भागवत २-१२-३०)

'देवी भागवत' ब्रह्मा द्वारा संगृहीत हुआ है।

देवी भागवत में निज के प्रति महत्वपूर्ण कथन है:

तत्र भागवतं पुण्यं पंचमं वेदसम्मितम्।

(देवी भागवत, प्रथम अध्याय)

वेद के समान परम-पवित्र 'देवी-भागवत' पुराण, गणना क्रम में, पांचवां महापुराण है।

"भागवत" द्वय में महापुराण कौन ?

पुराण साहित्य में दो भागवतों का अस्तित्व पाया जाता है:

१. देवी-भागवत
२. श्रीमद्-भागवत

भागवत-द्वय का विवाद कोई नूतन नहीं है, अति-प्राचीन है—जिसका निर्णय कभी किया न जा सका। पुराण-लक्षण-सिद्धान्त के अनुसार दोनों ही भागवतों की गणना 'महापुराण' कोटि में आती है। दोनों भागवतों के कल्प भिन्न है, देवता प्राधान्य में अन्तर है, पर है दोनों में ही शाश्वत-धर्म की इतिवृत्तात्मक कीर्तन गाथा, विभिन्न देवरूपों की चर्चा पर केन्द्रीय शक्ति का वर्णन।

१८ महापुराणों ने अपने-अपने यहां, अपने क्रम से अन्य पुराणों के नाम प्रकट किये हैं। कुछ पुराणों ने अन्य पुराणों के नामों के साथ उनकी श्लोक संख्या भी अंकित की है। 'भागवत' की चर्चा—पद्म, विष्णु, शिव, लिंग, नारद, देवी और श्रीमद् भागवत, ब्रह्मवैवर्त, मार्कण्डेय, वाराह, मत्स्य तथा कूर्म—महापुराण में की गई है।

---

१. "पुराण-क्रम-रहस्य" पर विचार करते हुए—" ...पंचमो जनलोकोऽयं आख्यातः सोऽपां स्थानमिति शेष-धरसमुद्ररूपेण चित्रीकृतः पुराणेषु। स एव सर्वैश्वर्यसम्पन्नः सर्वशक्तिशाली भगवानिति सर्वशक्तिरूपा भगवतीति वा समुपास्यः, इति द्विविधेन पञ्चमेन भागवतपुराणेनायं व्याख्यातः। अतएव भागवतस्य सारस्वतकल्पाश्रयत्वं व्यवहरन्ति। सरस्वान् हि समुद्रः परमेष्ठिमण्डलम्—तन्निरूपकं पुराणमिदमिति।"

महामहोपाध्याय गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी, "संस्कृत-रत्नाकरः" पत्रिका (दिल्ली), श्रावण-पौष, २०१५ वि०

पद्म, विष्णु, लिंग, नारद, ब्रह्मवैवर्त, मार्कण्डेय, बाराह, मत्स्य, कूर्म--महापुराणों में भागवत की गणना पंचम स्थान पर की गई है, परन्तु शिवपुराण (रेवा माहात्म्य[1]) में 'भागवत' को नवम स्थान पर स्वीकार किया गया है। एक विशिष्ट बात ध्यान देने योग्य है, कि अधिकांशतया महापुराणों में 'भागवत' का नाम तो प्रकट किया गया है, पर यह बात अस्पष्ट ही रह गई कि देवी या श्रीमद्-भागवत में से किसको वे 'महापुराण' बताते हैं।

शिव (रेवा माहात्म्य), नारद, देवी एवं श्रीमद् भागवत, ब्रह्मवैवर्त और मत्स्य इन सभी पुराणों में 'भागवत महापुराण' की श्लोक संख्या १८,००० बताई गई है। देवी और श्रीमद्-भागवत के प्राप्य संस्करणों में आजकल १८,००० श्लोक ही मिलते हैं, न्यूनाधिक नहीं। दोनों ही भागवतों में द्वादश (१२) स्कन्ध हैं, और साथ ही समान श्लोक संख्या भी पाई जाती है।

शिव (वायु), मत्स्य-महापुराण[2], कालिका-उपपुराण

---

१. विद्यावारिधि ज्वालाप्रसाद मिश्र कृत 'अष्टादश-पुराण-दर्पण', उपोद्घात, पृ० ५१।

भगवत्याश्च दुर्गायाश्चरितं यत्र विद्यते।
तत्तु भागवतं प्रोक्तं न तु देवीपुराणकम् ॥५॥

शिवपुराण, उत्तर खंड, मध्यमेश्वर महात्म्य।

श्री भगवती दुर्गा का चरित्र जिस ग्रंथ में वर्णित हुआ है, वह देवी-भागवत नाम से प्रसिद्ध है, परन्तु देवी पुराण वह पुराण नहीं है।

२. यत्राधिकृत्य गायत्रीं वर्ण्यते धर्मविस्तरः।
वृत्रासुरवधोपेतं तद्भागवतमुच्यते ॥२०॥
सारस्वतस्य कल्पस्य मध्ये ये स्युर्नरोत्तमाः।
तद्वृत्तान्तोद्भवं लोके तद्भागवतमुच्यते॥
अष्टादशसहस्राणि पुराणं तत्प्रचक्षते ॥२२॥

मत्स्य पुराण, ५३ अध्याय।

गायत्री के माध्यम से जिस ग्रंथ में धर्मतत्व का निरूपण हुआ है, जिसमें वृत्रासुर-वध क सम्पूर्ण वृत्तान्त है--वह 'भागवत' है। जिस ग्रंथ में 'सारस्वत-कल्प' के मनुष्य एवं देवताओं की अनेक कथाएं संगृहीत हैं--लोक में वह 'भागवत' नाम से प्रसिद्ध है, और जिसकी श्लोक संख्या १८,००० है।

एवं आदित्य-औपपुराण--'देवी भागवत' को 'महापुराण' कहते हैं। पद्म, विष्णु धर्मोत्तर, गरुड़, कूर्म महापुराण एवं मधुसूदन सरस्वती ने 'सर्वशास्त्रार्थ-संग्रह' में नागोजो भट्ट ने अपने 'धर्म-शास्त्र' में 'देवी भागवत' को 'उप-पुराण' माना है।

पद्म, नारद, स्कन्द, कूर्म महापुराणों की दृष्टि में 'श्रीमद् भागवत' महापुराण है।

'भागवत'-द्वय के संबंध में नीर-क्षीर कर के देखने पर आधुनिक सनातनधर्मी विद्वान् इसी परिणाम पर पहुंचे हैं, कि देवी और श्रीमद् भागवत--दोनों ही 'महापुराण' हैं। महापुराणों में जो 'भागवत' शब्द आया है--वह 'जाति-वाचक' रूप में आया है, इसलिए 'भागवत' शब्द से देवी और श्रीमद्--दोनों ही भागवतों का ग्रहण किया जाना चाहिए। इस संदर्भ में पुराण मर्मज्ञ त्रय धर्मप्राण आचार्यों की सम्पति प्रस्तुत है :

(१)

"पद्म-कल्प में श्रीमद् भागवत और सारस्वत-कल्प में देवी-भागवत की प्रधानता रही है। बिना प्रकृति-पुरुष के जगत् ही नहीं चलता! इस कारण व्यास जी ने दोनों की महिमा में एक-एक स्वतंत्र ग्रंथ की रचना की है, यह दोनों ही महापुराण हैं।"

विद्यावारिधि ज्वालाप्रसाद मिश्र,
'अष्टादश-पुराण-दर्पण' पृ० १९४, द्वितीय सं० १९९३ वि.

(२)

"(त्यक्तानुबन्धे सामान्य ग्रहणम्) अनुबन्ध त्याग देने से समस्त का ग्रहण होता है। पुराण संख्या गिनवाते हुए 'देवी' और 'श्रीमद्' ये दोनों अनुबन्ध त्याग कर (पुराणों में) केवल 'भागवत' नाम का ग्रहण हुआ, इस न्याय से 'देवी-भागवत' और 'श्रीमद्भागवत' दोनों का ही ग्रहण होगा, और दोनों ही (महा) पुराण हैं।" (पृ० ११७)

"भागवत शब्द से (देवी और श्रीमद्-महापुराण) दोनों ही आ गये, दोनों को एक ही गिना तब (महापुराण) अट्ठारह ही हुए. . . .अतएव पुराण अट्ठारह हैं।" (पृ० १२३)

युक्तिविशारद कालूराम शास्त्री,
'पुराण वर्म', पृ० ११७-२३।

(३)

"पुराण गणना में केवल 'भागवत' नाम ही दिया गया है, कहीं भी 'श्रीमद्' या 'देवी' शब्द का प्रयोग नहीं किया गया है। भागवत शब्द की व्युत्पत्ति भी—'भगवतो भगवत्या वा इदं भागवतम्' इस प्रकार दोनों पुराणों के एकत्व में प्रमाण है। श्रीमद्भागवत में पुरुष प्राधान्य से और देवी-भागवत में प्रकृति प्राधान्य से उस एक ही जगन्नियन्ता का वर्णन किया गया है, अतः दोनों के सम्मिलित कर देने पर एक पूरा पुराण बनता है।"

शास्त्रार्थ महारथी माधवाचार्य शास्त्री,
'पुराण-दिग्दर्शन' पृ० ८, १९९० वि०

महापुराण, उपपुराण, औपपुराण की मान्यता के विषय में यही बात शास्त्र-बुद्धि सम्मत है, कि अतिशय संकीर्ण साम्प्रदायिक दृढ़ भक्तिमूलक भावना के कारण ही भागवत-द्वय का विवाद उत्पन्न हुआ। कट्टरता के ही कारण वैष्णवों ने शैव-पुराणों को तामस कहा, और शैव वा शाक्तों ने वैष्णव कृतियों को तमोगुणी बताया। इस मतभेद की झलक महापुराणों तक में प्रवेश कर गई। सार्वजनिक शास्त्र, सीमा की परिधि में आबद्ध कर दिये गये। एक पुराण ने कहा:

विष्णोर्हि वैष्णवं तच्च तथा भागवतं तथा ॥४॥
नारदीयं पुराणं च गारुड़ं वैष्णवं विदुः।

(स्कन्द महापुराण, शिव रहस्य खण्ड, संभवकाण्ड २)

विष्णु, भागवत, नारद, गरुड़—यह सब महापुराण 'वैष्णव' हैं। और अन्य पुराण में यह कहा गया है।

शैवमादि पुराणं च देवीभागवतं तथा

(पद्म महापुराण, भागवत माहात्म्य, १९ अध्याय)

देवी-भागवत महापुराण 'शैव' है।

भागवत-द्वय—देवी एवं श्रीमद् महापुराण सनातन-धर्म का हृदय है। हिन्दू जाति की अनमोल धरोहर है। दोनों ही भागवतों के प्रचार ने, आर्य भारत-हिन्दू धर्म-संस्कृति-सभ्यता को भूमण्डल में गौरवान्वित होने में महान् योग प्रदान किया है—अतएव भागवत-द्वय को ही महापुराण समझना चाहिए।

देवी (शक्ति-शाक्त) मत का साहित्य

देवी-शक्ति-शाक्त-मत के अस्पष्ट विषयों पर संधान-कर्ताओं का कथन है, कि इस विचार-धारा का प्रवाह न्यूनाधिक रूप में—वेद, ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद एवं सूत्र ग्रंथों में है। भारत के धार्मिक इतिवृत से यह बात स्पष्ट है, कि इस मत का संगठित रूप देवी भागवत महा-पुराण की छाया में ही प्रगति कर पाया था। शक्ति की महिमा १८ महापुराणों में प्रकारान्तर से आई है, पर शैव और शाक्त—पुराणों ने इस सम्प्रदाय के विकास-प्रचार में अद्भुत सहयोग किया था।

शक्ति-मत के पौराणिक साहित्य में—देवीभागवत पर नीलकंठ की टीका एवं प्रस्तावना और इसी महापुराण का 'देवी-गीता' प्रकरण, मार्कण्डेय का 'देवी-सप्तशती' या 'देवी-माहात्म्य', ब्रह्माण्ड-महापुराण के द्वितीय भाग का 'ललितासहस्र' (३२० श्लोकों का प्रकरण) और औप-पुराणों में कालिका, देवी महाभागवत एवं सूत-संहिता के यज्ञवैभव खंड के ४७वें अध्याय का 'शक्ति-स्तोत्र' महत्वपूर्ण श्रेष्ठ वाङ्मय है।

उप-पुराण और औप-पुराणों में शक्ति विषयक पर्याप्त दुर्लभ और उत्कृष्ट सामग्री लुप्त पड़ी है। पर उप एवं औप—पुराणों का मूल स्रोत महापुराण ही हैं शैव नीलकंठ का कथन है:

यदिदं कालिकाख्यं तन्मूलं भागवतं स्मृतम्।

(कालिका-औपपुराण पर हेमाद्रि प्रस्ताव

'कालिका' नामक औपपुराण का मूल स्रोत (देवी) भागवत महापुराण ही है।

शाक्त-मत जिसका संबंध शक्ति एवं देवी-भागवत आदि के साथ संयोजित हुआ है, उसमें विकृति यहांतक आई कि तंत्रमात्र तक की तात्विक समाज को भर्त्सना करनी पड़ी। शाक्तमत की अनेक वीभत्स क्रिया-साधनाओं को समाज ने ग्रहण न किया। तंत्र-मंत्र के आचार्य (ओझाओं) का कथन है, कि उनकी साधना का ध्येय जीवात्मा की परमात्मा के साथ, व्यष्टि की समष्टि के साथ अभेद-सिद्धि ही है, पर शाक्तों एवं वाममार्गिक आदिकों के पंचमकार, स्त्री-पुरुष के रज-वीर्य तथा शव आदि के षड्विध अभिचार प्रयोगों के सिद्धांतों की मान्यता के रहते, 'पवित्रता' वहां भारतीय एवं विदेशी एक भी विद्वान स्वीकार नहीं करता। निश्चय ही शक्तिवाद का श्रोत, ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद, सूत्र

और आगम (तंत्र नामक शक्तिवाद के साहित्य पर) भाष्य, वृत्ति, टीका, निबन्ध, विवरण एवं स्तोत्र-साहित्य विस्तृत और महान् है—जो वर्तमान में वैज्ञानिक प्रकार से अध्ययन-मनन-चिन्तन की महती अपेक्षा रखता है।

देवी-शक्ति के मत पर यंत्र-तंत्र साहित्य में काश्मीर के पंडितों की कृतियां, दाक्षिणात्य विद्वानों के अद्‌भुत ग्रंथ एवं बड़ौदा-बंगाल की पोथियां भी द्रष्टव्य हैं।

विदेशों में भी देवी-शक्ति-शाक्त-वाममार्ग और उसके मंत्र-तंत्र साहित्य पर बहुत भारी खोज एवं प्रकाशन कार्य सम्पन्न हुआ है। इस संदर्भ में ब्रिटिश प्राच्य विद्याविद्-ज्यूरिष्ट और संस्कृतज्ञ Sir John woodroffe जिनका एक अन्य प्रसिद्ध नाम Arthur Avalon भी था, अविस्मरणीय विभूति थे। शाक्त-धर्म और मंत्रतंत्र-शास्त्र के संबंध में उन्होंने कई सहस्र पृष्ठ लिखे हैं। उनकी निम्न कृतियां इस मत के गौरव ग्रंथ हैं :

1 : Shatchakrnirūpana and Pādukapanchaka.

मूल संस्कृत, टीका-टिप्पणी और अंग्रेजी अनुवाद।

2 : Shākti and Shakta.

इस कृति का चतुर्थ संस्करण १९५१ में छपा था।

3 : Garland of Letters.

सन् १९२२ में इस कृति का प्रथम बार संकलन किया गया था। इसमें उनके तंत्र विषयक चिन्तनपूर्ण अनेक निबंध और व्याख्यान संगृहीत हुए हैं। कृति का द्वितीय संस्करण अन्तिम बार १९५१ ई० में प्रकाशित हुआ था।

4 : World as Power ग्रंथमाला—जो निम्न ६ खंडों में प्रकाशित की गई थी :—

- Power as Reality.
- ,, ,, Life.
- ,, ,, Mind-
- ,, ,, Matter.
- ,, ,, Causality and Continuity.
- ,, ,, Consciousness—MAHĀMĀYĀ

आदरणीय Arthur Avalon की अन्तिम कृति थी : मूल तंत्र और उस पर अंग्रेजी भाषा में विद्वत्तापूर्ण टीका—

5 : Serpent Power.

इस कृति का चतुर्थ संस्करण सन् १९५० में छपा था।

आंग्ल-भाषा में मूल और अंग्रेजी अनुवाद सहित 'देवी माहात्म्य' एवं दुर्गासप्तशती' का प्रशंसनीय संस्करण श्री रामकृष्ण मठ Mylapore : Madras से श्रीस्वामी जगदीश्वरानन्द के सम्पादकत्व में १९५३ में प्रकाशित हुआ था।

देवी-भागवत-महापुराण का एक भी विदेशी रूपान्तर व अनुवाद आजतक मेरे देखने में नहीं आया। इस महापुराण का अनुवाद अंग्रेजी में और उन विदेशों की राष्ट्रीय भाषाओं में प्रकाशित किया जाना चाहिए, जिनकी सीमाओं तक बौद्धमत पहुंचा था और आज जहां-जहां पर वह प्रचलित है।

●

(पृष्ठ ४०३ का शेष)

अगर मुझे तहसीलदार बना दे तो मैं तहसीलदारों से खूब बेगार लूं। उसे इससे क्या मतलब कि तहसीलदार तहसीलदार से बेगार नहीं ले सकता। हमें भी उसकी इस बात से क्या लेना देना? हमें तो यहां इतना ही कहना है कि वह अपने जीवन से संतुष्ट नहीं है।

अब हम इस परिणाम पर पहुंचे कि जो हम हैं, वह नहीं रहना चाहते। इस बात का कुछ संत लोग भले ही मज़ाक उड़ाएं, पर जीवन है यही चीज़। जो निन्नानवें अंश हमारे अधिकार में नहीं है, वे भी यही कर रहे हैं। हम दुधमुंहे से किशोर हुए। किशोर से युवा। युवा से प्रौढ़। और प्रौढ़ से बुड्ढे। अपढ़ थे, पढ़े-लिखे बन गये। चलना नहीं आता था, दौड़ना सीख गये। यह सब होता रहा। क्योंकि यही जीवन था। बस, अब हमारा एक अंश वाला जीवन यहीं रह जाता है कि हम शेष निन्नानवें अंश की नक़ल तो करें, पर जान-बूझ कर करें। परिस्थितियों में डूबकर न करें। यही है मनुष्य जीवन का अर्थ। और यही है मनुष्य जीवन।

जिन्दगी का मोल

●● जीवन

अरे मियां रहीम ! तुम तो सालों के बाद दिखायी दिये आज। कहो, कहां गायब रहे आजतक ? अरे, अब तो तुम बिल्कुल बदले हुए दीखते हो !"—अपने कभी के परिचित रहीम को माल रोड पर देखकर, गौर से उसके चेहरे को कुछ देरतक देखते रहने के बाद सहसा मैं पूछ ही तो बैठा।

यह रहीम एक मोटर ड्राइवर है। पांच-छः साल पहले की बात है कि वह एक प्रसिद्ध सेठजी को कार के ड्राइवर के नाते, इस नगर में, गर्मियों में हवाखोरी की खातिर लाया हुआ था। सेठजी के कारण मेरी भी उससे पहचान हो गई थी। सेठजी को यहां रहते कोई डेढ़-दो महीने ही हुए होंगे कि एक दिन अचानक रातोंरात रहीम लापता हो गया। न किसीसे कुछ कह गया न कोई ऐसा संकेत ही छोड़ गया कि उसके अन्तर्धान हो जाने का कोई कारण पता चल सके। फिर भी काफी पूछताछ की गई। यह पता भी लगाया गया कि कहीं कुछ माल तो उठा नहीं ले गया, पर रहीम का कोई पता नहीं चला, क्योंकि उसके चले जाने से सेठजी को कोई आर्थिक हानि तो हुई न थी, बात आई गई होगई और सेठजी भी एक-दो महीना अधिक गुजार कर अपना कारोबार सम्हालने लौट गये।

आज इतने बरसों के बाद रहीम दिखायी पड़ा। रहीम का मेरी जिन्दगी पर कोई ऐसा प्रभाव तो था नहीं, कि उसे याद रखता। आये दिन ऐसे कितने ही लोगों से जान-पहचान हो जाती है। भागती हुई रेलगाड़ी-से दीखनेवाले अगणित दृश्यों की तरह उन सभीको याद रखा नहीं जा सकता। रहीम को भी मैं भूल ही चुका था। उस दिन जब अपने सुर में मस्त सुबह के नियमित भ्रमण की खातिर मैं चला जा रहा था तो अकस्मात् मुझे ऐसा लगा जैसे कोई मुझे पुकार रहा हो।

"बाबू साहब, अजी बाबू साहब !"

मैं चौंक पड़ा जैसे किसीने गहरी नींद से मुझे जगा दिया हो ! देखा कि मेरी पीठ की ओर से आकर एक व्यक्ति मेरी बगल में खड़ा है। कोई पैंतालीस के करीब उसकी वयस रही होगी। काफी दिनों से बनी न होने के कारण उसकी खिचड़ी दाढ़ी, आधा सफेद आधा काला रंग लिये, बरसात की उगती हुई घास के साथ मिली खेती सी दीख रही थी। उसकी भूरी आंखें चमक रही थीं। उसने एक पायजामा और एक लम्बा-सा कोट पहन रखा था। कुछ क्षणों तक मैं उसे एकटक देखता रहा। सोचता रहा शायद इस आदमी से कहीं मुलाकात हुई है, पर कहां ?

"आदाब अर्ज है। शायद आप पहचान नहीं रहे हैं मुझे ! सोचिये जरा, क्या कहीं आपने मुझे देखा था या नहीं ?"—उस आदमी ने मुझे हैरत में डालते हुए अभिवादन कर ही तो दिया।

"तस्लीम अर्ज !"...मैंने कहा पर आगे और कुछ कह नहीं पाया।

"क्यों याद नहीं आया क्या ?"—उसने कुछ मुस्कुराती चमकती आंखों से देखते हुए कहा।

"माफ करना भाई, मैं सचमुच तुम्हें ठीक-ठीक पहचान नहीं पाया।" अपनी असमर्थता प्रकट कर ही दी मैंने।

"मेरा नाम रहीम है। आप याद कीजिए रहीम ड्राइवर को। चार-पांच साल पहले मैं यहां सेठ भगवानदास के साथ आकर 'हिमालयन व्यू' में टिका था, उसके ही पड़ोस में आपका मकान है। अब तो याद आयी होगी ?"

सहसा वह सभी पूर्व-स्मृतियां एक-एक कर मुझे याद आ गईं। मैं भी अपनी उत्सुकता रोक नहीं सका। पूछ ही बैठा कि आखिर इतने दिन वह कहां रहा, किस तरह रहा।

मेरे प्रश्न के उत्तर में रहीम ने अपनी रामकहानी सुनाई। माल रोड पर चलते-चलते वह कहता रहा—

... ...

"आप तो जानते ही हैं कि मैं सेठ भगवानदास का ड्राइवर था। सेठजी के साथ मेरी जिन्दगी काफी आराम के साथ गुजर रही थी। सेठजी की दुआ से मुझे किसी किसम की तकलीफ नहीं थी। तनख्वाह भी वह काफी देते थे, जितनी आम तौर पर किसी ड्राइवर को मिलती नहीं है और वह भी

बिना मांगे। खाना-पीना, वर्दी, इनाम यह सब तो थे ही।

पर, आप कहेंगे आखिर मैं उस तरह यकायक उन्हें छोड़कर चल कैसे दिया। मैं आपको वह कहानी सुनाऊंगा जिसकी वजह से मेरे दिल में सेठजी के लिए कोई जगह बाकी न रही। मैं मजबूर हो गया कि सेठजी के साथ अपना रिश्ता तोड़ दूं और चला जाऊं।

"बात यह हुई कि एक दिन शाम के वक्त सेठजी ने मुझे बुलाया और कहा, "रहीम कार निकालो। हम डाक्टर शर्मा के घर जायंगे।" मैं कार लेकर आया और सेठजी को लेकर कार डाक्टर शर्मा की तरफ चली। डाक्टर शर्मा पहाड़ी के सिरे पर के बंगले में रहते थे इसलिए मैंने माल रोड को छोड़कर कार को ऊपर की ओर जानेवाली सड़क की ओर मोड़ा। सड़क के दो मोड़ काट चुकने के बाद अगले मोड़ पर फिर मैंने हार्न बजाया और कार के स्टीयरिंग ह्वील को घुमाया। पर वहां पर बदकिस्मती से एक खच्चर खड़ा था। खच्चर से कार को बचाने के इरादे से मैंने ब्रेक मारा। ब्रेक से रुकते-न-रुकते कार अचानक चट्टान से टकरा गई। खच्चर भाग खड़ा हुआ और कार का मडगार्ड चट्टान से टकराने के कारण जरा-सा पिचक गया।

धक्का लगने के कारण सेठजी एकदम जैसे आसमानसे नीचे आ गिरे।

"रहीम!" सेठजी भूखे शेर की तरह गुर्राये।

"हुजूर।"

"यह हुआ क्या?"

"हुजूर, एक किस्मत का मारा खच्चर आगया था, कार को बचा रहा था, बच गई।"

"रहीम!"—सेठजी चीख उठे।

"हुजूर।"

"जानते हो इस कार की कीमत!"

"जानता हूं सरकार, चौदह हजार।"

"रहीम।"

"जी सरकार।"

"जानते हो इस खच्चर की कीमत।"

"जी हुजूर! सौ एक रुपया।"

"फिर क्यों तुमने खच्चर को बचाने के लिए कार को खतरे में धकेल दिया?"

"हुजूर माफ करें। एक जान की कीमत एक बेजान-दार चीज से हर हालत में ज्यादा है। और आपकी बेश-कीमती कार को कोई खास नुक्सान भी नहीं हुआ है।"—मैंने कहा, और कार को स्टार्ट कर आगे बढ़ा दिया।

"देखो रहीम, यह बात ठीक नहीं है, तुम हमारे पुराने आदमी हो इसलिए माफ किया। आयन्दा ऐसी गलती न हो। तुम ही सोचो, खच्चर अगर मर भी जाता तो क्या होता। फिर आसानी से मिल सकता है। कोई कमी है खच्चरों की!"

"हुजूर! मैं कुछ अर्ज करूं!"—मैं अपनी जबान रोक नहीं पाया, कहता ही गया, "अगर खच्चर फिर लिया जा सकता है तो कार भी नई खरीदी जा सकती है। खच्चरों की कमी हो भी, कारों की कोई कमी नहीं, और सच बात तो यह है कि आप तो कई कारें खरीद सकते हैं, पर इस खच्चर का मालिक, बेचारा बनजारा शायद ही दूसरा खच्चर ले सके। आपके लिए दस-पन्द्रह हजार की जो कीमत है उस गरीब के लिए खच्चर की उससे कहीं ज्यादा कीमत है। बेचारे ने कितने दिन बिन खाये पिये रहकर और कर्ज मांग कर रुपये बचाये होंगे। तब कहीं खच्चर खरीद सका होगा। आप सेठ हैं, गरीब परवर हैं। आप ऐसी कितनी ही कारें खरीद सकते हैं, वह बेचारा मुश्किल से ही बरसों के बाद नया खच्चर खरीद पाता। इस एक खच्चर के मर जानेपर उसके बाल-बच्चों का भूखे मरने की नौबत आ सकती थी। आपका क्या है? यह कार नहीं तो दूसरी। एक दिन के सट्टे की आमदनी में ऐसी कारें कई बार मिल सकती हैं। फिर आपकी कार का तो हजारों का बीमा है, जिसके साथ आपका भी बीमा है, खच्चर की जिन्दगी का तो बीमा है नहीं।"—मैं जोश में बह गया।

सेठजी ने जैसे सांप देख लिया हो। वह मेरी बातें सुनकर आग-बबूले हो उठे। उस दिन तक कभी मैंने उनके सामने जबान नहीं खोलती थी। पर उस वक्त उनकी बातें सुनकर मुझे जाने क्या होगया कि मैं अपने-आपको रोक न पाया।

"बकवास बन्द करो, रहीम, जानते हो तुम क्या बोल रहे हो?"—सेठजी की आवाज मेरे कानों के अन्दर जा टकराई।

"हुजूर अच्छी तरह जानता हूं", मैंने कहा।

"तुम बहुत मुंह लग गये हो, रहीम। मैं खाने-पीने के ऊपर तुम्हें अस्सी रुपया माहवार देता हूं, । इतनी तनख्वाह के तुम लायक नहीं हो। उसपर तुम्हारी यह गुस्ताखी कि इस तरह मुंह लगो। मुझे यह सब पसंद नहीं है। तुम रखने लायक आदमी नहीं, पर आज तुमपर पचास रुपया जुर्माना करने को छोड़े देता हूं।"—सेठजी ने अपना फैसला सुना दिया।

"आप जुर्माना कीजिये, तनख्वाह ही सारी काट लीजिये। और क्या कीजिएगा! पर मैं अब ऐसे आदमी के नीचे काम करना बिल्कुल पसन्द नहीं करता जो एक जान की कोई कीमत नहीं समझता। मैं कल को ही आपकी नौकरी छोड़ दूंगा। आप अपना इंतजाम कर लें।"—मैंने भी अपना फैसला सुना दिया सेठजी को।

डाक्टर साहब का बंगला आ गया था। मैंने कार खड़ी कर दी। सेठजी कार से उतर कर बंगले में चल दिये। मैं बैठा रहा।

दो घंटे के बाद सेठजी आये। मैंने कार स्टार्ट की। रास्ते भर कोई नहीं बोला। दूसरे दिन सुबह मैं सेठजी के पास पहुंचा। सेठजी से हिसाब मांगा। पचास रुपए जुर्माने के काटकर मुझे बाकी रुपए मिल गये। बाहर आया। दिल में किसीने कहा, रहीम अभी भी मौका है, माफी मांग लो। कहां दर-दर भटकते रहोगे ? पर सेठजी के लिए मेरे दिल में जो नफरत पैदा हो गई थी उसने इन जज्बातों को पीछे धकेल दिया और बिस्तरा बांध, टिकट खरीद, बिना किसीको कुछ बतलाये, मैंने आपका यह शहर छोड़ दिया।

इसके बाद कई जगह नौकरी की। भटकता रहा। पर अपने-आपको बेचना मंजूर नहीं किया। आप ही कहिये जो आदमी दौलत के नशे में चूर होकर जिंदगी का मोल चन्द चांदी के टुकड़ों में तौलता है, वह भी क्या कोई इंसान है ?"

मैंने रहीम की ओर देखा। उसकी काली सूरत में दो हीरों की तरह आंखें चमक रही थीं। मैंने अपने हृदय में सम्मान के तराजू की ओर देखा, रहीम की कीमत का पलड़ा बहुत भारी था।

●

(पृष्ठ ४१६ का शेष)

ही के कारण यह अनुभव नहीं किया कि मैं 'गृहस्थ' हूं और 'गृहस्थी' का उत्तरदायित्व मुझ पर है।

यदि मैं अपने और परिवार के जीवन के प्रवाह को गंगा और जमुना की धाराओं की तरह अलग-अलग बहनेवाला कहूं तो कोई अत्युक्ति न होगी। परंतु आपके निधन के बाद आज मुझे ऐसा अनुभव होता है जैसे कि संगम की तरह वह दोनों धाराएं एक हो गईं और आज मुझपर परिवार का उत्तरदायित्व आ पड़ने से मैं 'गृहस्थ' बन गया हूं। आपकी आदर्श समाज-सेवा, मिलन-सारिता तथा परिवार के प्रति कर्तव्य-परायणता मेरे लिए प्रकाश-स्तम्भ का काम करेगी और मैं इस नये उत्तरदायित्व को निभाने में कुछ समर्थ हो सकूंगा।

●

मैत्री

●● विनोबा

आज गांव में कुछ लोग दुःखी हैं, तो कुछ सुखी, कोई हिंदू हैं तो, कोई मुसलमान; कोई उच्च हैं तो, कोई नीच; कोई आदिवासी हैं तो, कोई अनादिवासी और कोई एक भाषावाले हैं, तो कोई अनेक भाषावाले। हम चाहते हैं कि इन सबकी मैत्री हो। सारा गांव एकरस बने, सबका दिल एक हो। हरएक का दिमाग तो अलग-अलग होना चाहिए, अनेक बुद्धि का लाभ मिलना चाहिए, लेकिन हृदय एक हो। भूदान का उद्देश्य यही है, जिसे एक शब्द में 'मैत्री' कह सकता हूं। एक साल हमने यहां असम में मैत्री का ही काम किया।

मैंने सोचा, जिस मैत्री का काम किया, उसका शिक्षण दिया जाय, इसलिए यहां एक आश्रम बनाया है। मैं ऐसी संस्था नहीं बनाना चाहता, जो नियमों से बंधी हो। साथ रहते हैं, तो कुछ नियम होते ही हैं, यह हम अपने जीवन में देखते हैं। फिर भी वे ज्यादा नहीं रखने चाहिए, उससे अपाय होता है। 'बड़ी फजर खुली हवा में घूमना चाहिए, कम-से-कम आधा घंटा घूमना चाहिए। जो यह नहीं करेगा, वह नियम का भंग करता है', यह विचार तो अच्छा है। लेकिन जब नियम बन जाता है तो बंधन आता है।

इसके बजाय यहां एक घंटा खाली रखा है। जिसे घूमने जाना हो जाय, जिसे न जाना हो न जाय, जो करना हो करे, गाना हो तो गाये, घंटाभर खाली है। इसके विपरीत सुबह से शाम तक नियम रखते और बांध देते हैं, तो परिणाम उलटा होता है।

एक उदाहरण देखें। छात्रालय में ६-६ साल रहा हुआ लड़का जिस दिन घर आता है, दिनभर सोता रहता है; क्योंकि उसपर नियमों का बोझ लदा हुआ था। वहां रात को ठीक समय पर सोता था और सुबह ठीक समय पर उठता था। वहां उससे जितने नियमों का पालन कराया गया, घर आकर उसने मानो कुल बोझ नीचे पटक दिया। गधे पर हम बोझ रखें और कहें कि यह तो शक्कर का बोरा है, मीठा बोझ है, तो वह कहेगा : "शक्कर हो या पत्थर, है तो बोझ ही।" इसी तरह वह लड़का भी मानता है और घर आने पर सारा बोझ पटक देता है। आश्चर्य होता है कि इतने सारे नियम उसे सिखलाये गए, पर उसे उनका स्पर्श तक नहीं हुआ। आप दीवाल पर पत्थर लगाते हैं, तो दीवाल उसे फेंक देती हैं। गोबर लगा दिया, तो वह चिपक जाता है। सारांश, भलाई सहज चिपक जाय, तो ठीक है। अनुराग से वह ग्रहण हो। इसीका नाम है 'नियम-मुक्ति'। जब हम 'मैत्री' और उसके शिक्षण की कल्पना करते हैं, तो शिक्षार्थियों को सब प्रकार के नियमों से मुक्त रखने की इच्छा रखते हैं!

हमारे आश्रम में एक पिता अपने एक बच्चे को ले आये। पूछा, "आप इसे रखेंगे?" मैंने पूछा, "लड़के में गुण क्या हैं?" बोले, "लड़का बदमाश है। किसीकी बात नहीं मानता।" मैंने कहा, "अच्छा गुण है, जो किसीकी नहीं मानता, वही लड़का है। नहीं तो उसे प्रौढ़ कहना चाहिए।" यह सुनकर लड़के को आश्चर्य हुआ। मैंने उसे रख लिया और किसी नियम का बंधन नहीं रखा। लेकिन उसने सब नियमों का ठीक-ठीक पालन किया और आजाद होकर रहा। इसलिए मैंने मैत्री-आश्रम के बारे में सोचा तो, यही कहा कि इस आश्रम का ध्येय मैत्री रहेगा, नियम मैत्री रहेगा और प्राप्ति का साधन भी मैत्री रहेगा।

मैं आपको एक विचार समझा रहा हूं। इन दिनों लोग अपने-अपने विचारों का आग्रह रखते और उसी पर जोर देते हैं। मैं पूछता हूं, "भाई! विचार मनुष्य के लिए है या मनुष्य विचार के लिए? विचार के कारण आपस में अनबन न होने दें। इसलिए सबसे बड़ी बात है स्नेह, अनुराग और प्रेम कायम रखना। यही सब सिद्धान्तों का सार है। वेद में मंत्र आया है :

"मित्रस्य मा चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षन्ताम्।
मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे॥"

सब प्राणिमात्र मेरी तरफ मित्र की दृष्टि से देखें, यह मैं चाहता हूं, तो मुझे भी सारी दुनिया की तरफ मित्र की दृष्टि से देखना चाहिए। इससे सारी दुनिया और मैं मित्र बनेंगे। वेद ने इस मंत्र में मैत्री की बात की है, विचार की नहीं। प्रेम रहा तो बाकी बातें यों ही हो जाएंगी।

प्रेम और विश्वास न रहा, तो जो राजनीति में चला है, वही यहां भी चलेगा। वहां बातचीत के लिए आमने-सामने टेबल पर बैठते हैं, पर चित्त में अविश्वास रखते हैं। 'यूनो' में यही नाटक चलता है। पहले एकसाथ आमने-सामने नहीं बैठते थे, आज बैठते हैं, यह तो अच्छा है। पर गोल बैठते हैं, शून्याकार बैठते हैं और चर्चा करते हैं, तो परिणाम भी गोल, शून्याकार आता है! सबका समान दर्जा सिद्ध करने के लिए गोल बैठते हैं, लेकिन परिणाम शून्य आता है। मन में अविश्वास लिये बैठते हैं, इसलिए ऐसा परिणाम आता है। हम दुनिया से प्रेम पाने के लिए लालायित हैं, लेकिन प्रेम नहीं देते, प्रेम नहीं करते। देना नहीं जानते, भोगना जानते हैं। फिर प्रेम कैसे मिले?

आज सुबह हम बात करते थे। कोई अच्छा बच्चा देखा तो झट उसे उठाते हैं, उसका चुम्बन लेते हैं। गाय का अच्छा बछड़ा देखा, तो उसे उठाते हैं, याने भोग करना चाहते हैं। बच्चे का चुम्बन करते हैं याने क्या है? वह खाने का नाटक है। तुम इतने प्यारे हो कि जी चाहता है कि तुझे खा लूं। इसमें प्रीति प्रकट होती है, ऐसा माना जाता है। लेकिन इसमें प्रीति नहीं, भोग प्रकट होता है। लड़के की जगह अच्छा पूरा आम होता, तो खा ही डालते! मान लें कि हमारे सामने रखी थाली में आम है। हम उसे खाने के लिए उठाने जाते हैं, तो वह दौड़ कर भागने लगता है, तो हम उसके पीछे भागने लगेंगे, झपट पड़ेंगे, जैसे शेर हिरन पर झपट पड़ता है। पर बिचारा आम थाली में चुपचाप पड़ा रहता है, भागता नहीं। यह प्रेम नहीं, यह भोग है। उसे भोग्य वस्तु मानकर हमारी वासना के लिए हम उसका भोग करना चाहते हैं, बच्चे पर, पत्नी पर, पति पर जो प्यार होता है, उसमें प्रेम कितना और भोग-वासना कितनी यह देखें, तो पता चलेगा कि हम प्रेम नहीं, भोग करते हैं। दूसरे के लिए वृत्ति त्याग की नहीं, भोग की है। पत्नी पति की हर आज्ञा मानती है। लेकिन साल भर में दो प्रसंगों में उसने उनकी बात न मानी, तो पतिदेव वही याद रखते और नाराज होते हैं। यह कोई पत्नी पर प्रेम नहीं, अपने पर प्रेम है। उसके लिए हम पत्नी का उपयोग करना चाहते हैं। इस तरह विश्लेषण करने पर पता चलता है कि शुद्ध प्रेम नहीं। शुद्ध प्रेम प्रकट होगा, तो आनन्द के सिवा दूसरी वस्तु नहीं मिलेगी।

हमने कहा कि करुणा होनी चाहिए और हरएक को देना चाहिए। अपने पास जो हो, वह देना चाहिए। किसीने पूछा, "जिसके पास नहीं है, वह क्या देगा?" हमने कहा, "जमीन न हो तो सम्पत्ति दे; वह न हो तो बुद्धि दे; वह भी न हो तो श्रम दे। 'कुछ नहीं' वाला आदमी दुनिया में नहीं है।" वे भाई कहने लगे, "इनमें से एक भी चीज जो नहीं दे सकता, जो अस्पताल में बीमार पड़ा है, सबकी सेवा ले रहा है, वह क्या देगा?" मैंने कहा, "बहुत-कुछ दे सकता है। देखिये, उस अस्पताल में उसके अलावा और कई बीमार हैं, उनसे मिलने के लिए अनेक लोग आते हैं। उन्हें यह देखता है, लेकिन कोई आनन्द महसूस नहीं करता। आठ दिन बाद उसका बेटा जो दूर था, आता है। उसे देखते ही आंसू की धारा बहने लगती है। कहता है, 'बेटा, तुम्हारे दर्शन से बड़ा आनन्द हुआ।' दोनों को आनन्द होता है। उसी लड़के पर वह बीमार प्रेम बरसाता है। दूसरे सैकड़ों आये और गए। मान लीजिए, उनमें से हरएक को वह यही प्रेम देता, हरएक को देख उसका अन्तःकरण गद्गद होता, तो कितना दान दे सकता? उसके सामने भूदान और सम्पत्तिदान की क्या कीमत? लेकिन उसने प्रेम बांध रखा। देने की चीज आपके पास थी, देते तो भर-भर पाते। लेकिन देने की वृत्ति नहीं हुई। बच्चा आया तब दिया, उसने भी आपको वापस दिया। ऐसा क्यों? प्रेम तो सबको देना चाहिए। प्रेमदान से बढ़कर दान नहीं।"

मानव के जीवन में पचासों चीजें आई हैं। विद्या, धन, बड़े-बड़े शस्त्रास्त्र, यह लाउड स्पीकर, जिससे सबकी सेवा हो सकती है। यह चश्मा, जिसके बिना मैं आपको देख नहीं सकता। ऐसे साधन मिले हैं, तो जीवन आनन्दमय बनना चाहिए था। लेकिन नहीं बना, कारण प्रेम को मनुष्य ने कैद बनाया। जहां मैंने एक बच्चा अपना माना, वहीं करोड़ों बच्चों को दूर किया। एक घर माना तो करोड़ों घर दूर किये। हम भिखारी बने। सबके घर अपने बनाता, तो मैं कितना पाता! आज मैं अपनी सेवा करता हूं, तो दो हाथों से करता हूं। लेकिन जब दूसरों की करूंगा, तो हजारों हाथों से पाऊंगा। आज मेरी सेवा आप सब करते हैं। मेरे कमजोर हाथ बोझ, वजन नहीं उठा सकते तो, दूसरे लोग

उठाते हैं। थोड़ा देना है, ज्यादा पाना है। कटहल का एक बीज बोने से कितने बीज मिलेंगे, हिसाब कीजिये। दस साल में हजारों, लाखों बीज मिलेंगे। हम कंजूस बनते हैं, तो दुनिया कंजूस बनती है।

यह ग्रामदान तो छोटी चीज है। जिनके जमीन नहीं या कम है, उनको थोड़ा देना चाहिए। उतने से ही उनका प्रेम हासिल होगा। सब मिलकर गांव का उत्पादन बढ़ाएंगे। प्रेम तो है, लेकिन हमने परिवार में बांध लिया है। पानी तो है, लेकिन वह गढ़े में सड़ रहा है। बहता तो स्वच्छ, निर्मल बनता, पर वह संचित हुआ। प्रेम बहता, तो भाई-बहनों पर, दूसरे घरों पर, दूसरी जातियों पर, दूसरे देशों पर, पशु पर, पक्षी पर, वृक्षों पर प्रेम कर पाते। स्वच्छ, निर्मल भक्ति का स्रोत बनता। लेकिन प्रेम को घरों में बंद कर दिया, तो उसका रूपांतर काम-वासना में होगा और होता भी है। तीस-तीस साल के सतत सहयोग के बावजूद प्रेम नहीं बनता। स्कूल में विद्यार्थी बीमार है, शिक्षक सिर्फ लिख देगा कि लड़का हाजिर नहीं है। वास्तव में उसके घर जाना चाहिए, पूछताछ करनी चाहिए। लेकिन प्रेम नहीं बना, इसलिए यह सब नहीं होता।

सालभर यहां यहां रहे। कुछ प्रेम, मैत्री बनाने का काम किया। इसका शिक्षण देने के लिए मैत्री-आश्रम उत्तर-लखीमपुर में बनाया है। आप उसे मदद कर सकते हैं, उसका लाभ उठा सकते हैं। वह मैत्रीभाव फैलायेगा तो बहुत अच्छा होगा, हमारी असम की यात्रा सफल होगी।

●

'प्राप्य': नीर, क्षीर

राजेन्द्र तिवारी 'तृषित'

मन. . . .,

तुम किसी चीज पर अपना ही एकाधिपत्य क्यों चाहते हो !

संभव है, जो कुछ आज तुम्हारे कगारों पर आकर ठहर गया है। उसका लक्ष्य कहीं अन्यत्र और उसकी दिशा तुम्हारी ओर के बहाव से सर्वथा विपरीत दिशा की ओर हो।

और, तुम्हारे कगारों तक उसे खींच लाने का श्रेय समय विशेष के किसी चक्रावात को हो।

सावधान, उसका लक्ष्य उसकी व्यग्र प्रतिक्षा में हो सकता है। यदि तुम्हें ऐसा कोई आभास मिले, तो तत्काल उसे उसके लक्ष्य तक--पहुंचाने की व्यवस्था करो।

भले ही, वह तुम्हें अपने प्राणों से भी अधिक प्रिय हो !

लेकिन जान लो--यह धारणा, मात्र सुःख-प्राप्ति की कामना की दिशा में एक भ्रम है--बस।

बलात् किसी का लक्ष्य नहीं बना जा सकता।

सुख, अभिनयात्मक अपनत्व में नहीं, अपनी दिशा और लक्ष्य का एकात्म पा लेने में है।

किसी अन्य के प्राप्य को उसे देकर अपने प्राप्य की प्रतीक्षा करो। संभव है, वह कहीं से तुम्हारी ओर ही बढ़ता चला आ रहा हो, धीरे-धीरे।

अंगूर

●● लालबहादुरसिंह चौहान

आहार का अर्थ रोटी, दाल, चावल और दूध-दलिया तक ही सीमित नहीं है; केला, आम, पपीता और अनार आदि फल भी आहार हैं। यह प्राकृतिक खाद्य-पदार्थ मनुष्य के समस्त आहार को पूर्ण करनेवाले होते हैं। यह सोचना सरासर भूल है कि मिश्रित भोजन और घी-तेल आदि से बने हुए स्नेहयुक्त पदार्थों की अपेक्षा फलाहार कम बल-प्रद है।

प्राचीनकाल में ऋषि-मुनि और हमारे पूर्वज अधिक बलवान तथा दीर्घजीवी होते थे। वे लोग दूध, घी और फलाहार को अपने भोजन में अधिक महत्व देते थे। आज की भांति प्राचीन युग में देश निर्धन न था। उन दिनों देश इतना समृद्ध था कि दूध, घी और फलों की यहां अफरात थी। बाद में सदियों की गुलामी ने हमारे देशवासियों को गरीब बनाकर ऐसा निकम्मा कर दिया कि हमारा स्वास्थ्य ही नष्ट होगया।

हमारे पुरखे फलों को सात्विक और पवित्र भोजन मानते थे। यही कारण है कि एकादशी व्रत आदि के अवसरों पर हिन्दू-परम्परा में फलाहार का प्रचलन जारी है, जो हमारे पूर्वजों के स्वास्थ्य-संबंधी नियमों की धार्मिक रूप में स्मृति दिलाकर आज वर्तमान से गठबंधन कर रहा है। फलाहार का लाभ अनुभव-सिद्ध है कि फलाहारी व्यक्ति सदा प्रसन्नचित्त और सतोगुणी प्रकृति का होता है।

मनुष्य शरीर के रक्षण एवं पोषण के लिए वह उपयोगी फल, जिसमें भोजन के अधिकांश तत्व विद्यमान रहते हैं, अंगूर है, जो अपनी श्रेष्ठता के कारण फलों में अपना एक विशिष्ट स्थान रखता है।

अंगूर भारतवर्ष में तो उत्पन्न होता ही है, परन्तु अन्य देशों से भी अपने यहां काफी मात्रा में मंगाया जाता है। यों तो अपने देश में विदेशों से और भी फल आते हैं, पर अंगूर की मात्रा सबसे अधिक है। अपने देश में काश्मीर का अंगूर सर्वोत्तम माना जाता है। 'कश्मीरी सेब' और 'कश्मीरी अंगूर' दोनों ही वहां के प्रसिद्ध फल है। अंगूर की पैदाइश प्रायः ऊंचे स्थानों पर होती है।

अंगूर की दो किस्में होती हैं--एक दानेदार और दूसरी बिना दानेदार। एक वह जो किशमिश का रूप इख्त्यार करता है। दूसरा वह जो मुनक्का बनता है। जो अंगूर बिना दानेदार होता है, वह सुखाये जानेपर किशमिश की शक्ल धारण करता है। आप लोगों ने देखा होगा कि किशमिश के अंदर बीज (दाना) नहीं होता, परन्तु दानेदार अंगूर सूख कर मुनक्का कहलाता है।

अंगूर को आहार के रूप में खाने का भी प्रचलन है। इतनी बात अवश्य है कि अंगूर महंगा पड़ता है और सर्व-सुलभ फल नहीं है। इस कारण सर्वसाधारण इसका प्रयोग नित्य प्रति पेट-भर नहीं कर पाता। कई बीमारियों में दवा के रूप में भी अंगूर खाया जाता है। तपेदिक, श्वास तथा जीर्णकास में अंगूर को दवा के रूप में लेने पर यथेष्ट लाभ पहुंचते देखा गया है। पका हुआ अंगूर कुछ दस्तावर होता है, इसलिए टट्टी साफ लाकर पेट को स्वच्छ करता है। यह स्वाद में मीठा होता है, परन्तु थोड़ी-सी खटास भी इसमें विद्यमान रहती है। इससे इसके स्वाद में चार-चांद लग जाते हैं। खाते ही जिह्वा की अरुचि को मिटाकर उसे अधिक स्राव करने को प्रेरित करता है। नेत्र और स्वर के लिए हितकर क्रिया करता है। स्वर को शुद्ध एवं तीव्र करता है।

पका अंगूर प्यास और बुखार को शांत करता है। इधर टट्टी व पेशाब साफ लाता है, इसी कारण इसके सेवन से ज्वर में शांति अनुभव होती है; क्योंकि उदर-विकार के कारण ही मुख्यतः ज्वर की उत्पत्ति होती है और ज्वर में मल-मूत्र ठीक नहीं उतरते। आंतें पूर्णतः साफ नहीं हो पातीं। अंगूर का प्रयोग इस आपत्ति से छुटकारा दिलाने में बड़ा भाग लेता है।

क्षय रोग में अंगूर बहुत उपयोगी है। इसीलिए वैद्य लोग क्षय व खांसी की बीमारी में अंगूरासव, द्राक्षासव और द्राक्षारिष्ट आदि अंगूरों से निर्मित औषध देते हैं। श्वास तथा वात रोग में भी अंगूर खिलाने से लाभ पहुंचता है।

मूत्र-कृच्छ की बीमारी, जिसमें पेशाब करने की बार-बार इच्छा होती है, और कष्ट के साथ बूंद-बूंद पेशाब

आता है अथवा पेशाब बिल्कुल होता ही नहीं और भयानक वेदना होती है, इस बीमारी में भी अंगूर का सेवन लाभ-प्रद है। अंगूर पौष्टिक भी है। नियमित रूप से अंगूर खाने से मनुष्य-शरीर पुष्ट हो जाता है। वीर्य की अभिवृद्धि होती है। अंगूर शरीर की जलन को शांत करता है और रक्त-पित्त की बीमारी को दूर करता है।

दिनभर परिश्रम करने से जब मनुष्य श्रांत हो जाता है तब उसे अंगूर खिलाये। देखिये निश्चित ही यह मनुष्य के श्रम को मिटाकर उसके शरीर की तृप्ति करेगा। प्यास को दूरकर हृदय की व्यथा को शांत करने में काफी योगदान करेगा।

अंगूर खाने से भूख बहुत बढ़ती है। इसकी वजह यह है कि जब हम अंगूर खाते हैं, तो उसके रस से पहले यकृत शुद्ध होता है, फिर इस शोधन के कारण यकृत-क्रिया में वृद्धि होती है, जिससे अंगूर-प्रयोग द्वारा क्षुधा-वर्द्धन होता है।

अंगूर के नियमित सेवन से शरीर में खून बढ़ जाता है। खून बढ़ने से मनुष्य सुन्दर और सुडौल और रूपवान दिखने लगता है। क्या बालक, क्या युवक, क्या वृद्ध, सभीके लिए अंगूर हितकारी फल है।

अंगूर का मुरब्बा भी बड़ी स्वादिष्ट वस्तु है। यह भोजन में रुचि उत्पन्न करता है, पाचक होता है और विशेष बात यह है कि अंगूर का मुरब्बा शरीर के लिए शक्तिवर्द्धक भी है।

अंगूर के द्वारा खाने की अन्य चीजें भी बनती हैं। अंगूर की चटनी बड़ी प्रिय होती है। टमाटर की चटनी और 'सास' की तरह ही अंगूर की चटनी भी स्वादिष्ट तथा भोजन में रुचि उत्पन्न करती है। चटनी बनाने की विधि यह है कि अंगूरों को पीसकर कल्क लुगदी जैसा गाढ़ा पदार्थ बना लेते हैं। फिर इसमें जीरा, काली-मिर्च और सेंधा नमक मिलाते हैं। वैद्य लोग द्राक्षा चटनी का प्रयोग अजीर्ण व उदर शूल में कराते हैं। इस चटनी से रोगी को दस्त साफ होता है और अजीर्ण नष्ट हो जाता है। भूख खुलकर लगने लगती है।

ग्रीष्म ऋतु के पेय पदार्थों में अंगूर अपना स्थान रखता है। यह शरबत शरीर की जलन को शांत कर ठंडक पहुंचाता है। इस शरबत का एक लाभ यह भी है कि यह शरीर में खून बढ़ाकर स्फूर्ति लाता है।

गांवों में, जहां चिकित्सा के साधन पूरे सहज उपलब्ध नहीं है, वहां परिवार के वृद्ध जन अथवा अनुभव व अभ्यास से सीखे ग्रामीण वैद्य हकीम साधारण बीमारियों में घरेलू चिकित्सा बरतते हैं। इस विधि में प्रयोग होनेवाली चीजें प्रायः घर में ही मिल जाती हैं या फिर गांव की छोटी-मोटी दुकान से प्राप्त कर लेते हैं। अंगूर के परिवर्तित रूप किशमिश व मुनक्का का वहां कई बार प्रयोग होता है। देखा गया है कि जब ज्वर के रोगी को प्यास अधिक लगती है और बार-बार पानी पीने से भी शांत नहीं होती तो काली मिर्च और सेंधा नमक के साथ मुनक्का देकर चिकित्सा करते हैं, इससे प्यास शांत होकर रोगी की बेचैनी मिट जाती है।

घर में जब किसीको कब्ज़ की शिकायत रहती है तो मुनक्का खिलाकर दूध पिलाने से कब्ज दूर हो जाता है। दूध में सौंफ, सनाय और मुनक्का डालकर उबाल लेते हैं और इसे छानकर रोगी को पिला देते हैं। इन दोनों तरीकों से दस्त साफ होकर कब्ज़ मिट जाता है।

पहलवान लोग शक्तिवर्द्धन के लिए भीगे चने, बादाम की मींग और किशमिश का प्रयोग करते हैं, इससे उनमें शक्ति बढ़ती है और शरीर पुष्ट होकर सुडौल बनता है।

●

गर्व किस बात का

वेदप्रकाश 'वटुक'

न जाने क्यों ?

समुद्र अशान्त था, क्रुद्ध था और तुला था मानवीय तथा प्राकृतिक सम्पत्ति को एक साथ नष्ट करने पर।

तूफान आया, नावें डूब गईं, किनारे के गली-गांव बाढ़ से डूब उठे, वृक्ष टूट गये, मानवीय अस्तित्व मृत्यु की कालिमा में शून्य हो उठा। चारों ओर मच गया हाहाकार।

समुद्र शान्त हो गया, विजय के अत्यावेग की प्रतिक्रिया से प्रसुप्त या पश्चात की शान्ति !!

और तभी देखा उसने : एक नन्हा-सा "असहाय तृण"—जो उसकी छाती पर तैरता हुआ अट्टहास कर रहा था—उसकी शक्ति का, गौरव का, गरिमा का।

लज्जा से समुद्र की नीलिमा और भी गहरी हो गई।

●

हमारी राय

क्या व कैसे ?

नेहरूजी दीर्घायु हों

पं० जवाहरलाल नेहरू के जीवन के पचास वर्ष पूरे होने पर सन् १९३९ में हमारी यशस्वी कवियित्री सरोजिनी नायडू ने अपने एक पत्र में लिखा था :

"तुम्हारे जीवन की पहली आधी शताब्दी इतिहास, गीत और गाथा बन चुकी है। मेरी कामना है कि उत्तरार्द्ध के प्रारंभिक वर्षों में ही तुम्हारे स्वप्न और कल्पनाएं पूर्ण हों और मानव-प्रगति के इतिहास में तुम्हारा नाम महान् मुक्ति-दाताओं की सूची में अमर हो जाय।"

गहरी भावना के साथ आगे उन्होंने लिखा :

"मैं तुम्हारे लिए रीतिसम्मत 'शुभ उपहार' की कामना नहीं कर सकती। मुझे नहीं लगता कि निजी सुख, आराम अवकाश, धन-दौलत आदि साधारण वस्तुओं का, जिन्हें मामूली स्त्री-पुरुष बड़ी नियामत समझते हैं, तुम्हारे जीवन में अधिक महत्व होगा।...दुख, पीड़ा, बलिदान, कष्ट, संघर्ष—हां, तुम्हारे लिए जीवन में पूर्व-निर्धारित उपहार यही हैं। तुम किसी-न-किसी प्रकार इन्हींको चरम आनंद, विजय और स्वाधीनता का सार बना लोगे। तुम भाग्य-पुरुष हो, जो भीड़ के बीच भी अकेला रहने के लिए जन्म लेता है, जिसे लोग बेहद प्यार करते हैं, पर समझते जिसे बहुत कम हैं।...तुम्हारी जिज्ञासु आत्मा को अपना लक्ष्य मिले और वह गौरव तथा सौंदर्य के साथ आत्म-दर्शन कर सके, यही मेरी कामना है।"

इन शब्दों में श्रीमती नायडू ने नेहरूजी का जो चित्रण किया है, वह आज उनके ७३ वर्ष पूरे करके ७४वें वर्ष में प्रवेश करने पर अक्षरशः यथार्थ प्रतीत होता है। यद्यपि तबसे आज परिस्थिति बदल गई है, हमारा देश स्वतंत्र होगया है, तथापि इस भाग्य-पुरुष के लिए विश्राम नहीं और वह आज भी संघर्षों से जूझ रहा है। पहले उनका लक्ष्य था कि उनका राष्ट्र विदेशी सत्ता से मुक्त हो, और आज उनका प्रयास है कि उनका राष्ट्र शक्तिशाली हो।

नेहरूजी की सीमाएं हैं, उनमें कमियां हैं, पर इसमें संदेह नहीं कि उनका जीवन त्याग, बलिदान तथा निस्स्वार्थ सेवा का उज्ज्वलतम प्रतीक है। यही कारण है कि सारा देश, उनकी बहुत-सी बातों से असहमत होते हुए भी, उनके व्यक्तित्व को मान देता है, उन्हें प्यार करता है।

जब से उन्होंने राजनीति में पैर रक्खा है तब से अबतक वह बराबर कसौटी पर कसे जा रहे हैं। आजादी की लम्बी लड़ाई, देश का विभाजन, राष्ट्र का पुनर्निर्माण आदि-आदि परीक्षाओं में से वह गुजरे हैं और अपनी मंजिल पर आगे बढ़ने का निरंतर प्रयास करते आ रहे हैं।

आज भारत बड़ी संकट की स्थिति से गुजर रहा है। जिसे उसने 'भाई' माना, वही आज आक्रामक बनकर उसकी भूमि को हड़पने का प्रयत्न कर रहा है।

नेहरूजी की वर्षगांठ पर हमारी यही कामना है कि वह दीर्घायु हों और उनके वे स्वप्न पूरे हों जिन्हें वह अपने देश के लिए देखते आ रहे हैं।

चुनौती की चेतावनी

चीन के संबंध में हमारे देश में जो आशंकाएं थीं, वे आखिर सामने आ ही गईं। हमारे प्रधान मंत्री ने और उनकी प्रेरणा पर भारत ने अपने इस पड़ोसी देश को 'भाई' माना और उसके साथ आत्मीयता का व्यवहार किया; लेकिन चीन ने जो किया, वह विश्वासघात की बेजोड़ मिसाल है। एक ओर 'हिन्दी-चीनी भाई-भाई' के नारे लगते रहे, पंचशील और सह-अस्तित्व की दुहाई दी जाती रही, दूसरी ओर भारत की उत्तरी सीमा पर चीनियों द्वारा सड़कें बनाई जाती रहीं, आक्रमण की तैयारियां होती रहीं। अवसर मिलते ही चीन ने भारत की सीमा पर आक्रमण कर दिया।

चीन के इस दुष्कृत्य की चारों ओर तीव्र भर्त्सना हुई है और हो रही है, लेकिन ऐसा जान पड़ता है कि इस सबका

चीन के शासकों पर कोई असर नहीं पड़ रहा है। सच यह है कि उनकी नीयत में बदी है। यदि ऐसा न होता तो पहले तो वे भारत पर हमला ही न करते और यदि किसी कारण से उनका कदम आगे बढ़ गया था तो वे शीघ्र ही अपनी भल अनुभव करके अपने कदम को पीछे हटा लेते। मित्रता की कीमत 'मान-अपमान' से कहीं अधिक होती है और चीन भारत को शत्रु बनाकर नहीं, मित्र रखकर अपना ज्यादा फायदा कर सकता था।

भारत का समूचा इतिहास इस बात का साक्षी है कि उसने कभी किसी दूसरे देश पर आक्रमण नहीं किया। चीन पर हमला करने की तो वह कभी कल्पना भी नहीं कर सकता था; लेकिन चीन को ऐसा करने में तनिक भी हिचकिचाहट नहीं हुई। आज उसके अविवेक ने सारी दुनिया के लिए भयंकर बेचैनी पैदा कर दी है।

छोटे-बड़े प्रायः सभी राष्ट्रों की सहानुभति और इस इच्छा के बावजूद कि यह मामला शान्ति से निबट जाय, यह कहना मुश्किल है कि भारत के सिर से ये काले बादल कब हटेंगे; लेकिन एक बात निर्विवाद है और वह यह कि चीन का पक्ष अन्यायपूर्ण है और उसे अपने गलत ध्येय की पूर्ति में सफलता प्राप्त नहीं होगी।

आज सारे देश में छटपटाहट हो रही है। भावनाओं का इतना उभार, भारतीय स्वाधीनता-संग्राम के उपरान्त पहली बार देखने में आ रहा है। अपनी सामर्थ्य के अनुसार देश की सुरक्षा के लिए लोग धन दे रहे हैं, रक्त दे रहे हैं। अपनी मातृभूमि को बचाने के लिए कोटि-कोटि भारतवासी कृत-संकल्प हैं।

आम शिकायत है कि यदि हमारे शासक पहले से सावधान होते तो यह नौबत न आती। बात सही है। हमारे अधिकारियों ने इस मामले में जितनी गफलत से काम लिया है, उसकी मिसाल मुश्किल से मिलेगी। पर अब उसे लेकर पछताने का अवसर नहीं है। अब तो जो चुनौती मिली है, उससे सबक लेना है।

हमारा निश्चित मत है कि चीन के हौसले को हमारे आपसी झगड़ों और कमजोरियों ने बढ़ाया। कांग्रेस की अंदरूनी फूट, एक-दूसरे को गिराने के प्रयास, पदलोलुपता, भ्रष्टाचार आदि व्याधियों ने देश के शरीर को दुर्बल कर दिया। यदि भारत एक ओर संगठित होता तो चीन की उसकी ओर देखने की हिम्मत ही न होती।

जो हो, अब भी निराश होने का कोई कारण नहीं है। इस चुनौती से हमारी आंखें खुल जानी चाहिए और हमें अच्छी तरह से देख लेना चाहिए कि हमारे देश का हित किसमें है। अपने स्वार्थ को हम पंद्रह वर्ष तक देख चुके हैं। अब हमें मालूम हो जाना चाहिए कि उसकी देश ने कितनी कीमत चुकाई है। आगे कड़ाई के साथ अपनी त्रुटियों को दूर करके देश को एकसूत्र में बंध जाना चाहिए। बिना एकता के भारत की रक्षा दुनिया की कोई भी ताकत नहीं कर सकती। यदि चीन के हमले ने देश की आंतरिक स्थिति को सुधारने का विवेक जाग्रत कर दिया तो वह निश्चय ही वरदान सिद्ध होगा।

धन के सदुपयोग की आवश्यकता

देश की सुरक्षा के लिए इस समय भारत के कोने-कोने से पैसा एकत्र हो रहा है। अपनी-अपनी सामर्थ्य के अनुसार लोग धन दे रहे हैं, सोना दे रहे हैं, कपड़े तथा अन्य वस्तुएं दे रहे हैं। जिस गति से पैसा आ रहा है, हमारा अनुमान है कि थोड़े ही समय में करोड़ों रुपए एकत्र हो जायंगे। चालीस करोड़ की आबादी के देश में करोड़ों रुपया इकट्ठे हो जाना कोई बड़ी बात नहीं है, लेकिन जिस भावना के साथ यह सहायता आ रही है, उससे इसका महत्व कई गुना बढ़ जाता है। डेढ़ सौ रुपये मासिक पानेवाले व्यक्ति का पचास रुपये महीने की मदद देने का निश्चय बिना गहरी भावना के संभव नहीं हो सकता। स्त्रियों का अपने सोने के आभूषण उतार-उतार कर दे देना इस बात का द्योतक है कि उनके लिए देश की आजादी से बढ़कर और कोई चीज नहीं है।

भावना में से निकलकर आनेवाली इस सहायता का वास्तव में बड़ा मूल्य है और इस बात को इस धन के व्यय करने में ध्यान में रखना नितान्त आवश्यक है। सरकार के बारे में सब जानते हैं कि वह अपने कामों में पैसा पानी की तरह बहाती है और बहुत-सा पैसा तो बीच के लोगों की जेबों में पहुंच जाता है। बंगाल के अकाल में कुछ लोग करोड़-पति बन गये, जबकि लाखों व्यक्तियों की भूख से तड़प-तड़प कर जान चली गई।

शासन तथा सार्वजनिक संस्थाओं आदि को, जो धन-संग्रह के काम में निस्स्वार्थ भाव से लगी हैं, इस बात की पूरी सावधानी रखनी चाहिए कि एक-एक पैसे का सदुपयोग हो। कौन जाने यह संकट कबतक चलेगा। हो सकता है, भारत के हौसले से अथवा अंतर्राष्ट्रीय शक्तियों के दबाव से वह जल्दी ही समाप्त हो जाय, पर यह भी संभावना हो सकती है कि वह अधिक समय तक चले। इसलिए यह नहीं मानना चाहिए कि इस समय जो पैसा आ रहा है, उसीसे काम चल जायगा। यदि पैसे का उचित उपयोग होगा तो संकट के अधिक समय तक चलने की हालत में आगे और भी आर्थिक सहायता मिल जायगी; लेकिन यदि पैसे को खर्च करने में सावधानी नहीं रक्खी गई तो जनता में आलोचना आरंभ हो जायगी और पैसे मिलने का रास्ता बंद हो जायगा।

भाषा का प्रश्न गौण है

चीन के आक्रमण से उत्पन्न हुई स्थिति के कारण संसद का अधिवेशन पूर्व-निर्धारित समय से पहले ही बुलाया जा रहा है। उसके सामने जो मसले आयंगे, उनमें स्वाभाविक रूप से मुख्य मसला चीन का संकट होगा। उसपर विचार-विमर्श किया जायगा और इस संकट को करने के लिए नये उपाय खोजे जायंगे।

कुछ समय पूर्व हमारे गृह-मंत्री श्री लालबहादुर शास्त्री ने घोषणा की थी कि संसद में आगामी अधिवेशन में वे अंग्रेजी को अनिश्चित समय तथा हिन्दी को सह-भाषा के रूप में रखने के लिए एक विधेयक प्रस्तुत करेंगे। हमें मालूम नहीं कि अब वह इस बारे में क्या सोचते हैं, लेकिन हमारा मत है कि वर्तमान परिस्थिति को देखते इस विवाद-ग्रस्त प्रश्न को लाना उचित नहीं होगा। जब से यह प्रश्न उठा है तब से सारे देश में भारी क्षोभ पैदा हो गया है और लोकमत अंग्रेज़ी को स्थायी महत्व दिये जाने के विपक्ष में अपनी आवाज़ उठा रहा है। इस नाज़ुक घड़ी में ऐसी कोई भी बात नहीं आनी चाहिए, जो आपस में फूट और शासन के विरुद्ध दुर्भावना उत्पन्न करे।

भाषा आदि के मसले अत्यन्त गौण हैं। वे कभी भी सुलझाये जा सकते हैं। इस समय तो सारे देश का ध्यान एक ही बिन्दु पर केन्द्रित होना चाहिए। अपने देश पर किसी दूसरे देश का आक्रमण होना सामान्य बात नहीं है। उसका अर्थ है देश की आजादी पर आंच आना और इस चीज़ का किसी भी हालत में सहन नहीं किया जानना चाहिए।

गृहमंत्री से हमारा अनुरोध है कि यदि वह भाषा-संबंधी सवाल को संसद के इस अधिवेशन में लाने का विचार कर रहे हों, तो फिलहाल उस विचार को छोड़ दे। भाषा का मुख्य प्रयोजन किसी भी राष्ट्र की एकता को बनाये रखने में सहायक होना होता है, न कि उसका विघटन करने में। दुर्भाग्य से हमारे देश में भाषा का प्रश्न बड़ा अप्रिय रूप ले बैठा है। लेकिन दैवयोग से एक बड़े संकट के आजाने से वह इस समय दब गया है। उसे परिस्थिति के सुधरने तक उभारना किसी भी हालत में उचित नहीं होगा।

—य०

'मंडल' की ओर से

विचार-प्रेरक साहित्य का प्रसार

आज हमारा देश भारी संकट से गुजर रहा है। सीमा-रेखा को पार करके चीनी हमारी भूमि पर आ गये हैं। इससे सारे देश में क्षोभ होना स्वाभाविक है। लेकिन कोरे क्षोभ से काम नहीं बनता। हमारे विचारों में स्थायी क्रांति का होना जरूरी है। विचारों की क्रांति से हममें विवेक उत्पन्न होता है और हम यह जान सकते हैं कि हमारा वास्तविक हित किसमें है और एक नागरिक के नाते हमारा क्या कर्तव्य है।

इस दिशा में उत्तम साहित्य विशेष रूप से सहायक हो सकता है। रस्किन की 'अन्टू दिस लास्ट'––सर्वोदय––पुस्तक ने गांधीजी की जीवन-धारा नई दिशा में मोड़ दी थी। वाल्टेयर और रूसो के साहित्य ने फ्रांसीसी क्रांति को जन्म दिया था और टाल्स्टाय आदि के साहित्य ने रूस में नई चेतना उत्पन्न की थी।

समय आ गया है कि हम अपने देश में विचार-प्रेरक साहित्य को व्यापक रूप से प्रसारित कर, उसे घर-घर पहुंचावें। इतना ही नहीं, जगह-जगह पर स्वाध्याय-मंडलों की स्थापना करें, जहां सत्साहित्य के पठन-पाठन के उपरान्त सामूहिक चिन्तन हो, पारस्परिक विचार-विनिमय हो और लोकोपयोगी पुस्तकों को उन मंडलों द्वारा चारों ओर फैलाया जाय।

भौतिक साधन हमारी उन्नति में सहायक होते हैं, पर कुछ ही अंशों तक। हमारी असली प्रगति तो हमारे विचारों की शक्ति पर निर्भर करती है। विश्व का इतिहास बताता है कि जिन राष्ट्रों के पास विचारों की दौलत थी, वे आगे बढ़े; पर विचार-हीन राष्ट्र अपना अस्तित्व कायम नहीं रख सके।

हिन्दी तथा अन्य भाषाओं में आज बहुत-सा साहित्य निकल रहा है। उसमें कुछ ऐसा भी है, जो विचारों को उठाने की बजाय गिराता है। ऐसा साहित्य सर्वथा त्याज्य है। विवेक के, साथ अच्छी-अच्छी पुस्तकें चुनकर उनको पढ़ना और उनके विचारों पर मनन करना सदा लाभदायक होता है।

'मण्डल' से हम बराबर ऐसा साहित्य निकालने का प्रयत्न कर रहे हैं, जो लोकरुचि को परिष्कृत करे और पाठकों को स्वस्थ पाठ्य सामग्री दे। गांधीजी, आचार्य विनोबा, राजेन्द्रबाबू, डा० राधाकृष्णन, पं० नेहरू, राजाजी प्रभृति हमारे देश की ऐसी विभूतियां हैं, जिनकी कृतियां प्रेरणा का अक्षय स्रोत हैं। इनके अतिरिक्त अन्य अनेक ऐसे देशी-विदेशी चिन्तक हैं, जिनके विचार देश-काल की सीमा नहीं जानते और सबके लिए हितकर हैं। राष्ट्र-निर्माताओं, चिंतकों, विद्वानों आदि का बहुत-सा साहित्य 'मंडल' से प्रकाशित हुआ है। एक कार्ड लिखकर 'मंडल' का विस्तृत सूची-पत्र प्राप्त किया जा सकता है और अपनी पसंद की पुस्तकें अपने यहां के पुस्तक-विक्रेताओं द्वारा मंगाई जा सकती हैं।

हम चाहते हैं कि आगे सत्साहित्य का तेजी से प्रचार और प्रसार हो और हमारे देश-वासियों के विचारों में एक नया चैतन्य जागृत हो।

––मंत्री

बदलते दृश्य
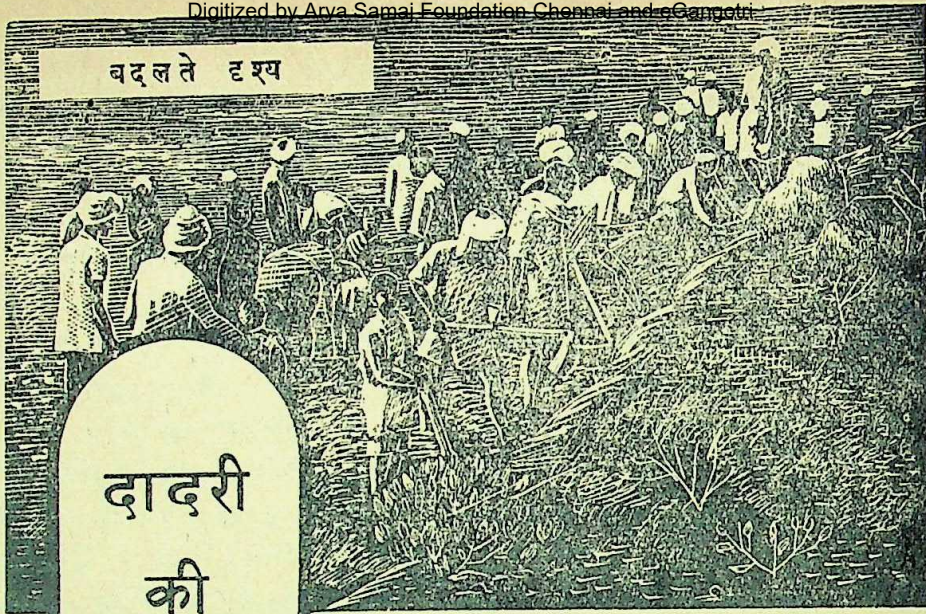
दादरी की सड़क

दादरी—उत्तर प्रदेश के इलाहाबाद जिले का एक छोटा सा गांव—जो वर्षों से नवयुग की हवा से अछूता रहा, सारी दुनियां से अलग-थलग क्योंकि वहाँ एक कच्ची सड़क तक न थी—
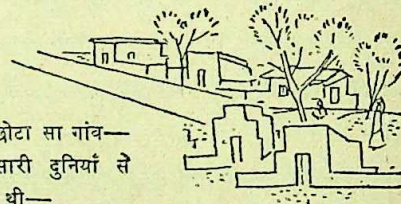
पर फिर एक बदलाव आया—सारे देश में नव-निर्माण की जो लहर चली उससे दादरी भला अलग कैसे रहता? खेती के उन्नत तरीके अपनाने का यह फल निकला कि गन्ने की उपज काफी बढ़ गई पर सवाल यह था कि गन्ना मण्डी में पहुँचे कैसे क्योंकि वहाँ कोई सड़क ही नहीं थी।

इसका भी गांव वालों ने हल निकाला। सबने मिलकर योजना बनाई कि गांव से पक्की सड़क तक एक मिलाने वाली सड़क बनाई जाए। उस रास्ते में जिन-जिन किसानों की जमीन पड़ती थी वह उन्होंने प्रसन्नतापूर्वक गांव की भलाई के लिए दान कर दी। सबकी मेहनत और कोशिश का नतीजा यह निकला कि सड़क बन कर तैयार हो गई। दादरी की यह सड़क विकास आंदोलन तथा सबके उज्ज्वलतर भविष्य में लोगों की आस्था का प्रतीक है।

नई नई सड़कों के जाल से देहातों का रूप ही बदलता जा रहा है। योजनाओं के पहले दस सालों में हमारी कच्ची सड़कों की लम्बाई १,५१,००० मील से बढ़ कर २,५०,००० मील तथा पक्की सड़कों की लम्बाई ९७,५०० मील से बढ़ कर १,४४,००० मील हो गई है। तीसरी योजना काल में कच्ची सड़कों में पर्याप्त वृद्धि के साथ ही २५,००० मील लम्बी पक्की सड़कें और बनाये जाने का अनुमान है।

सबका सुख सबकी सुविधा

DA 62/408

जंजीर खींचने
के पहले
सोचिए
खतरे की जंजीर सुरक्षा का एक साधन
है। इसका उपयोग केवल अत्यन्त आवश्यक
परिस्थितियों में ही करना चाहिए।
बिना विशेष कारण के खतरे की
जंजीर खींचने का परिणाम होता है, किसी
रोगी को निराशा, राष्ट्रीय योजनाओं की
पूर्ति में विलम्ब, कर्मचारियों के काम पर पहुंचने
में रुकावट और उन अनेक सह-यात्रियों को
परेशानी जिनमें बूढ़े और बीमार भी हैं।
और एक ट्रेन को बिना कारण रोकने
का अर्थ है अन्य तमाम सम्बन्धित ट्रेनों के
आने-जाने में देरी।
NPS/NR/10
INDIAN RAILWAYS
—उत्तर रेल्वे द्वारा प्रचारित

कुछ महत्वपूर्ण नवीन प्रकाशन

(१९६१-६२)

पुस्तक	लेखक	मूल्य
कुछ पुरानी चिट्ठियां	जवाहरलाल नेहरू	१०.००
खंडित पूजा (कहानियां)	विष्णु प्रभाकर	३.००
पुष्पोद्यान	शंकरराव जोशी	३.००
'कहिये समय विचारि'	लक्ष्मीनिवास बिड़ला	१.००
जानवरों का जगत	सुरेशसिंह	२.००
विनोबा के जंगम विद्यापीठ में	कुंदर दिवाण	२.५०
सर्वोदय-संदेश	विनोबा	१.५०
जड़ जगत की कहानियां	नंदलाल जैन	२.००
भा० स्वाधीनता-संग्राम का इतिहास	इन्द्र विद्यावाचस्पति	५.५०
प्राकृतिक जीवन की ओर	एडोल्फ जस्ट	१.५०
बरगद की छाया	देवराज दिनेश	२.५०
नवीन चिकित्सा	महावीरप्रसाद पोद्दार	१.५०
गांधीवादी संयोजन के सिद्धान्त	श्रीमन्नारायण	५.००
सूफ़ी संत-चरित	महात्मा भगवान	३.००
भारतीय दर्शन-सार	बलदेव उपाध्याय	५.५०
बाल राम-कथा	सुदक्षिणा	२.००
रूसी युवकों के बीच	रामकृष्ण बजाज	२.५०
आओ, विमान चलायें	देवव्रत वसु	२.००
सरल योगासन	धर्मचंद सरावगी	२.५०
आज का इंगिलस्तान	मुकुटबिहारी वर्मा	२.००
बालकों का पालन-पोषण	डॉ० आचार	२.५०
यूरोप-यात्रा	विट्ठलदास मोदी	१.५०
रेबेका	दाफ्न द्यू मोरिये	५.००
अनोखा	विक्टर ह्यूगो	२.५०
संघर्ष नहीं, सहयोग	क्रोपाटकिन	२.००
अतलांतिक के उस पार	रामकृष्ण बजाज	२.५०
सूक्ति-रत्नावली	संपादक-आनंदकुमार	१.५०
नीरोग होने का सच्चा उपाय	ट्राल	१.००
गुरुदेव और उनका आश्रम	शिवानी	१.००
बोधि-वृक्ष की छाया में	भरतसिंह उपाध्याय	२.५०
सेतुबंध	बनारसीदास चतुर्वेदी	२.००
आकृति से रोग की पहचान	लुई कूने	२.००
अफ्रीका जागा	एन्क्रूमा की आत्मकथा	३.००
कीड़े-मकोड़े	सुरेशसिंह	२.००
विनोबा के पत्र	संपा. रामकृष्ण बजाज	४.००
हमारा भोजन	ओमप्रकाश त्रिखा	०.७५
धरती के देवता	खलील जिब्रान	१.००

समाज-विकास-माला

प्रत्येक का मूल्य ०.४० न. पै.

१५२. भक्त पोतना (जीवनी) १५३. संत फ्रांसिस (जीवनी) १५४. 'सबै भूमि गोपाल की' (ज्ञान-वर्द्धक) १५५. दक्षिण की काशी (वर्णन) १५६. फाहियान की भारत-यात्रा (ज्ञानवर्धक) १५७. संगीत की कहानी (ज्ञानवर्धक) १५८. राजा राममोहन राय (जीवनी) १५९. भारतेन्दु हरिश्चन्द्र (जीवनी) १६०. चम्बल की कहानी (परिचय) १६१. सबसे बड़ी सेवा (कहानी) १६२. पुष्कर (वर्णन) १६३. सुख की कुंजी (विचार)

पुनर्मुद्रण

पुस्तक	लेखक	मूल्य
विश्व इतिहास की झलक (संपूर्ण)	जवाहरलाल नेहरू	२०.००
आत्म-रहस्य	रतनलाल जैन	३.५०
हमारे गांव की कहानी	रामदास गौड़	२.००
जीवन-प्रभात	प्रभुदास गांधी	५.००
भागवतधर्म	हरिभाऊ उपाध्याय	७.००

सस्ता साहित्य मंडल, नई दिल्ली ।

रजिस्टर्ड नं० डी. २२८

मार्तण्ड उपाध्याय, मंत्री, सस्ता साहित्य मंडल, नई दिल्ली द्वारा न्यू इण्डिया प्रेस, नई दिल्ली में छपवाकर प्रकाशित।

वर्ष २३ : अंक १२

जीवन साहित्य

सत्साहित्य प्रकाशन

डा० राजेन्द्रप्रसाद

सम्पादक
हरिभाऊ उपाध्याय
यशपाल जैन

अहिंसक नवरचना का मासिक

जीवन-साहित्य

दिसम्बर, १९६२

विषय-सूची

पाठकों से

अपनी मातृभूमि के हम सब ऋणी हैं। वर्त्तमान संकट की घड़ी में हमारा कर्त्तव्य है कि हम उसे अपनी सर्वोत्तम देन दें। चीनियों को भारत-भूमि से हटाने का काम सैनिक करेंगे; पर देश की बुनियाद को पक्का करने की जिम्मेदारी नागरिकों की है।

हमारे हाथ में जो भी काम हो, छोटा या बड़ा, उसे सच्चाई, लगन और तत्परता से करें;

आपसी मतभेदों को मिटा दें और पारस्परिक सहयोग तथा सुमति से कार्य करें;

जात-पांत, छुआछूत, ऊंच-नीच आदि के भेदभाव समाप्त कर दें और पारिवारिक भावना का विकास करें;

उत्तम साहित्य का अध्ययन करें और सद्‌विचारों के आधार पर अपने जीवन को ढालें।

देश को शक्तिशाली बनाने के लिए हमें कृतसंकल्प होकर फौरन काम में जुट जाना चाहिए।

—संपादक

आवश्यक

पत्र-व्यवहार करते समय अपनी ग्राहक-संख्या अवश्य दें, जिससे कार्रवाई सुविधापूर्वक और अविलंब हो जाय।

उत्तर प्रदेश, राजस्थान, मध्यप्रदेश, हिमाचल प्रदेश, दिल्ली, बिहार तथा पंजाब राज्य-सरकारों द्वारा कालेजों, लाइब्रेरियों तथा उत्तर प्रदेश की ग्राम-पंचायतों के लिए स्वीकृत

वर्ष २३
अंक १२

दिसम्बर, १९६२

रक्षण की हमारी योजना

विनोबा

इस समय हमारा देश गंभीर परिस्थिति में हैं। चीन का आक्रमण भारत पर हो रहा है, और भारत कहता है कि बचाव के लिए लड़ना लाजमी है। दोनों देशों में एक तरह से लड़ाई ही चल रही है। चीन कहता है: हमारे प्रदेश पर ही भारत का आक्रमण हुआ है। इस तरह आरोप-प्रत्यारोप किये जा रहे हैं। किसके किस आरोप में क्या तथ्य है, क्या नहीं, इसका निर्णय सामान्य नागरिक नहीं कर सकते। लेकिन मेरी समझ में एक बात नहीं आती। भारत की ओर से पंडितजी ने एक सुझाव दिया था कि दोनों देशों के दावे जिस प्रदेश पर हैं उतने प्रदेश से दूसरे का ताबा हट जायं, उसके बाद बातचीत चले, आवश्यक हो तो मध्यस्थ का भी उपयोग किया जाय और फैसला हो। जब ऐसा सुझाव भी नहीं माना जाता तो मेरे जैसे तटस्थ मनुष्य के चित्त पर भी असर पड़ता है और लगता है कि भारत पर यह लड़ाई लादी जा रही है। इस तरह से आक्रमण होता रहेगा तो कोई देश सहन नहीं कर सकता, बल्कि सहन करने से देश आगे नहीं जा सकता।

युद्ध का जमाना अब नहीं रहा है, यह सब समझते हैं। फिर भी लोग अपने छोटे-छोटे नजरिये रखते हैं। उनको छोड़ने के लिए वे तैयार नहीं होते और लड़ाइयां छेड़ देते हैं। इसके बहुत भयानक परिणाम हो सकते हैं। इसलिए मैं परमेश्वर की प्रार्थना करूंगा कि यह जो सुझाव पेश किया गया है, वह मान्य करने की सद्बुद्धि भगवान् उनको दे। और कोई उपाय सुझाना हो तो वह सुझाया जाय और उसपर विचार हो। लेकिन लड़ाई तो बंद होनी चाहिए।

खैर, दोनों सरकारों को परमेश्वर जो बुद्धि देगा वह होगा। लेकिन हमको सोचना चाहिए कि इस वक्त हमारा कर्तव्य क्या है?

ऐसी हालत में क्या हम घबड़ा जाएंगे? क्या सेना में भरती हो जाने से काम हो जायगा? मरने के लिए आपके पास जितने लोग हैं, उससे चीन के पास कम नहीं हैं! पर एक बात निश्चित है कि इन दोनों देशों की लड़ाई से दोनों

राष्ट्रों के गरीब मर जायंगे। चीन क्या सोचता होगा मालूम नहीं। उसके क्या-क्या 'रिसोर्सेस' (स्रोत) हैं, कहां-कहां से उसको क्या मदद मिलेगी, हम नहीं जानते। पर भारत का संबंध बाहरी दुनिया से है। उसके लिए आवश्यक चीज़, अन्न भी बाहर से आता है। लड़ाई छिड़ेगी तो भारत के लिए बाहर से अनाज आना मुश्किल होगा। यह हमको सोचना है।

मैंने कई दफा कहा है कि हमारी पंचवर्षीय योजना में हम यह मान कर चले हैं कि दुनिया में शांति रहेगी। दुनिया में शांति की आशा रखते हुए उसके आधार पर ही हमारी योजनाएं बनायी गईं। लेकिन यदि दुनिया में अशांति हुई और भारत के ही नजदीक अशांति हुई, तो क्या होगा? हमारी आयात-निर्यातों में बाधा पहुंचेगी। हमारे व्यवसाय-वाणिज्य को धक्का लगेगा। तब योजना का क्या होगा? उसकी जरूरतें पूरी नहीं होंगी और योजना गिरेंगी। आज की योजनाएं अशांति के समय कुछ काम नहीं आ सकती है। लेकिन हमारा ग्रामदान का जो विचार है, वह शांति के समय में तो चलेगा ही, अशांति हो तब भी चलेगा। इतना ही नहीं, अशांति के समय उसके सिवाय और कोई उपाय नहीं है। जब आयात-निर्यात बन्द होगा, बाहर से चीज़ें नहीं आएंगी और योजनाएं स्थगित हो जायंगी तो गांवों की क्या हालत होगी? उनको कैसे बचाया जाय? इसमें गांवों को सैनिक आक्रमण (मिलिटरी अटैक) से नहीं आर्थिक आक्रमण से बचाने की बात है।

आज चीजों के भाव काफी बढ़ गये हैं। कहते हैं कि जनतान्त्रिक ढंग से आर्थिक उन्नति करते समय भाव चढ़ेंगे। पर रोजमर्रा की आवश्यक चीज़ों के और गरीबों के लिए भी आवश्यक चीज़ों के भाव चढ़ रहे हैं। लोगों को वे चीज़ें खरीदना कठिन हो रहा है। इससे देश की बुनियाद ही ढह जाती है। अगर आवश्यक चीजों के दाम सामान्य लोगों की पहुंच में न रहें तो देश की आर्थिक व्यवस्था ही टूटेगी। उस समय गांव की स्थिति क्या होगी? इसलिए गांव के लिए जो आवश्यक चीज़ें हैं उन्हें गांव में ही पैदा कर लेना पड़ेगा, गांव में ही रख लेना पड़ेगा। जिन्दा रहने के लिए रोटी, शील रखने के लिए कपड़ा, बच्चों को दूध, बीमारी की दवा, उनके लिए दूसरों पर निर्भर नहीं रह सकते। इन मुख्य चीजों में तो गांव-गांव स्वावलम्बी होने चाहिएँ।

देश की रक्षा मिलिटरी से, फौज से नहीं हो सकती। गांव-गांव में ही ग्राम की रक्षा होनी चाहिए। उसका मतलब यह नहीं कि गांव-गांव में सेना बनाओ और सैनिक रक्षा करो, बल्कि उपरोक्त आर्थिक आक्रमण से उनको बचाना है। शहर तो आर्थिक आक्रमण से बच जाएंगे, क्योंकि गांव की चीजें शहरों में पहुंच जाती हैं, और उन्हें खरीदने के लिए पैसा भी वहां रहता है। उनको खतरा मिलिटरी-आक्रमण से है। जहां लड़ाई होगी, वहां के गांवों को छोड़ कर साधारणतया बाकी सब गांव मिलिटरी-आक्रमण से बचे रहेंगे। लेकिन उनको आर्थिक आक्रमण से सुरक्षा चाहिए।

आज आपके सामने मैं जो विचार रख रहा हूं, यही पांच साल पहले मैंने देश के नेताओं के सामने रखा था। एलवाल में उस समय सब पार्टियों के लोग आये थे। शुरू में ही मैंने ग्रामदान को 'डिफेन्स-मेज़र' के रूप में उनके सामने रखा था। इस पर उन सबने चर्चा की और फिर सबने मिलकर प्रस्ताव किया कि ग्रामदान को प्रोत्साहन देना है। किसीने उसका प्रतिवाद नहीं किया। नेताओं ने यह कह तो दिया, लेकिन इस ओर ध्यान किसीने नहीं दिया। अगर इस ओर ध्यान दिया होता तो अब तक उससे बहुत काम निकला होता।

अब गांव-गांव की रक्षा के लिए आपको ही तैयार होना है। आप नहीं होंगे तो और कौन होगा? आप याने कौन? जिनके पास शिक्षा नहीं, पैसा नहीं, ज़मीन नहीं, उत्साह नहीं, वे लोग जनतंत्र के बारे में और इन सब चीजों के बारे में सोचेंगे। अभी भारत में इतनी जनतांत्रिक जागृति नहीं है। इसलिए गांव-गांव के जो मुख्य लोग हैं याने जमीन के मालिक, सम्पत्ति के मालिक, व्यापारी, शिक्षक, सरकारी अफसर, इत्यादि पर गांव के संभालने की जिम्मेदारी है।

गांव की रक्षा करने के लिए गांव में सबके प्रति सहानुभूति चाहिए। सबमें एकता आनी चाहिए। उनकी शुरुआत २०वां हिस्सा गरीबों के लिए दान देने से करो तो अच्छा है। प्रत्येक व्यक्ति २०वां हिस्सा दे, ऐसा भी नहीं। प्रत्येक दे, इतना काफ़ी है। नहीं तो गांव के मुख्य-मुख्य लोग बैठ कर तय करें और कुल ज़मीन का २०वां या आवश्यक हिस्सा

(शेष पृष्ठ ४४९ पर)

सीधापन

●● महात्मा भगवानदीन

सीधापन क्या है? यह सवाल तो बड़ा सीधा-सादा है, पर इसका जबाव सीधे-सीधे नहीं दिया जा सकता। भोलापन सीधेपन के लिए ठीक नहीं बैठ सकता। यों तो महादेव जी को भोलानाथ कहा गया है, पर आजकल भोलापन जिन अर्थों में काम आता है, वे अर्थ सीधेपन से दूर पड़ जाते हैं।

जिसकी नज़र सबकुछ छोड़कर उसीपर पड़े, जो बिल्कुल ज़रूरी है और वह उसे अच्छी तरह समझ ले तो क्या ऐसे आदमी को सीधा समझा जा सकता है?

हमारे मुंह से कभी-कभी किसीके लिए ये शब्द निकल पड़ते हैं—"वह तो बड़ा धर्मात्मा है।" फिर भी अगर हमसे कोई पूछ बैठे कि धर्मात्मा कहते किसे हैं, तो शायद हम ठीक-ठीक न बता सकेंगे। इसी तरह, किसी-किसीके लिए हमारे मुंह से यह निकल पड़ता है कि "वह आदमी बड़ा सीधा है।" क्यों सीधा है? कैसे सीधा है? यह हम समझा सकें या न समझा सकें, पर हमारा अन्तस्तल सीधेपन को पहचानता जरूर है। अब सीधेपन को कैसे परखें? आइए, यों परखें कि कौन सीधा नहीं है? जो सीधा नहीं है, उसे हम नासीधा क्यों कहते हैं, यह हम जरूर बता सकेंगे। अब सीधे को पहचानना मुश्किल न रह जायगा। ऋषियों के मुंह से 'नेति-नेति' शब्द निकले थे. पर हम वैसी 'नेति' से यहां काम नहीं लेंगे। हम 'नहीं' से किसी परिणाम पर पहुंचेंगे?

सीधापन या सादगी के लिए संस्कृत में एक शब्द है—ऋजुता। वह जितना साफ है, उतने दूसरे शब्द नहीं। अंग्रेज़ी का लफ्ज़ Simplicity भी है। पर वह भी धोखे का लफ्ज़ है। उसमें मूर्खता का भाव छिपा हुआ है। जबकि सीधापन मूर्खता से एकदम दूर है। जिस सीधेपन की बात हम कह रहे हैं, वह चीज़ ही दूसरी है। वह न कहीं मिलती है, न किसीसे मिल सकती है। मुक्ति की तरह वह एकदम अंदरूनी चीज़ है। वह हम सबमें है, पर प्रस्फुटित नहीं होती। कली खिल उठने पर फूल कहलाने लगती है। सब कुछ वही तो रहती है, फिर भी नाम बदल जाता है। सीधेपन का भी कुछ ऐसा ही हाल है। यह उस वक्त प्रस्फुटित होता है, जब आदमी सब तरह के मद से ऊंचा उठ चुका होता है। जैसे—ज्ञान-मद, बल-मद, धन-मद, अधिकार-मद, योग-मद, भक्ति-मद, भेष-मद इत्यादि।

जिसे अपने ज्ञान का ज्ञान है, वह आदमी सीधा नहीं हो सकता। जो लंगोटा बांधकर पंचाग्नि तपता है, वह सीधा नहीं हो सकता। लंगोटा तो अमीरों को चूसने का साधन है। लंगोटे से अमीरों की पूजा मिलती है। इसमें सादगी कैसे रह सकती है?

एक आदमी काम में लगा हुआ है। परोपकार के काम में लगा हुआ है। इतने ज़ोर-शोर से लगा हुआ है कि सबकुछ भूल बैठा है। लेकिन अगर उसमें प्रशंसा पाने की इच्छा है, तब सादगी उसके पास नहीं फटकेगी। त्यागी से सादगी कोसों दूर भागती है। त्याग और ढोंग एकार्थवाची शब्द हैं। बेटे छोड़ कर चेले बनाना, गृहस्थी छोड़कर परम गृहस्थी बनना है। फौज़ें तोड़कर साधु-संघ तैयार करना राजा का भी बाप बनना है। ये सब काम बेहद चालाकी की अपेक्षा रखते हैं। इनका सादगी से कोई संबंध नहीं है।

अभीतक हम ऋषियों की तरह 'नेति-नेति' ही कहते जा रहे हैं। आखिर सादगी अपने आपमें भी कुछ है या नहीं? है, जरूर है। ऊपर कहा न कि वह मुक्ति की तरह आत्मा की ही एक अवस्था विशेष है। थोड़े शब्दों में सादगी वह गज है, जिससे आत्मा को नापा जाता है। सादगी वह कसौटी है, जिसपर आत्मा की विशुद्धता परखी जाती है। सादगी वह प्रकाश है, जिससे अकाली और अनामी ढूंढा जाता है।

हम ऐसी जगह पहुंच गये, जहां ऐसा मालूम होता है कि हमने जो कुछ पाया, वह सब गंवा बैठे। इसलिए जरा पीछे हटकर हम यों कहेंगे कि सादगी आत्मा की उस अवस्था का नाम है कि जब उसे अपने अमरत्व में कोई शंका नहीं रह जाती। डर उससे दूर भाग जाता है। कांक्षाएं रहती हैं। पर जली हुई मूंज के बट की तरह। वह एक दूसरी ही तरह का आदमी हो जाता है। ऐसे सीध-सादे कम मिलते हैं। नापैद नहीं है। ऐसी चीज़ कामयाब होनी ही चाहिए।

चीनी आक्रमण क्यों हुआ ? ●● काका कालेलकर

जैसी हमारी पंचवर्षीय योजनाएं होती हैं वैसी भगवान् की भी होती होंगी। उसने हमें तैयारी के लिए दस-बारह बरस दिये। इस मुद्दत में हमने पूरी तैयारी की या नहीं, इसका सवाल भगवान् के यहां नहीं उठ सकता। अब भगवान् की योजना के अनुसार हमारी कसौटी के दिन शुरू हुए हैं। आजतक हमलोगों ने अपनी तैयारी धीरे-धीरे की होगी। अब जोरों से करनी होगी।

चन्द लोग 'अनागतविधाता' होते हैं। जो संकट आया नहीं, जिसकी छाया भी पड़ी नहीं है उसे क्रान्त दृष्टि से देख-कर पहचाननेवाले को और उस संकट का इलाज शुरू करने वाले को 'अनागतविधाता' कहते हैं। इनको तो हमेशा सफ-लता मिलती ही है। लेकिन जो लोग संकट आते ही तुरंत अपना दिमाग चलाकर, हिम्मत हारे बिना इलाज ढूंढ लेते हैं और अमल में लाते हैं, ऐसों को भी सफलता मिलती है। ऐसों को हमारे पुरखों ने 'प्रत्युत्पन्नमतिः' कहा है। ये 'हाजर दिमाग' के लोग होशियार भी होते हैं और उत्साही भी होते हैं। संकट आते घबड़ाते नहीं। संकट कितना बड़ा है इसका हिसाब लगाकर तुरंत इलाज का सामान तैयार करते हैं और जो थोड़ी गफलत हुई उसकी चिन्ता न करते हुए उत्साह के साथ संकट का सामना कर लेते हैं। पिछले युद्ध में ब्रिटेन ने अपने इस प्रत्युत्पन्न स्वभाव का अच्छा परिचय दिया। हिटलर के दिल में पाप था। उसने अपनी तैयारी अच्छी कर रखी थी। युद्ध के पहले ब्रिटेन गफलत में रहा। युद्ध टालने की और जर्मनी के साथ समझौता करने की ब्रिटेन ने कोशिशें कर देखी। लेकिन जब देखा कि युद्ध आ ही पहुंचा है, तब उसे तुरंत अपने सींगों पर लेने की तैयारी की चर्चिल ने। ब्रिटेन के लिए यह आसान नहीं था। लेकिन चर्चिल का ब्रिटेन के हृदय के साथ ऐक्य था। उसने लोगों में जान फूंकी। हारने से तो उसने इंकार ही किया और आखिर-कार हिटलर को और उसकी जर्मनी को हराकर ही छोड़ा।

हम युद्ध नहीं चाहते। हमने हमारे पड़ोसी के वचन पर विश्वास रखा। हम विश्वास पर चले इसका हमें दर्द है किन्तु शरम नहीं। विश्वास न रखने से विश्वास रखना अच्छा है। लेकिन जब चीन ने अपना असली स्वरूप प्रकट किया है; हमें जल्द-से-जल्द पूरी तैयारी करके चीन का मुकाबला करना ही चाहिए।

चीन के आक्रमण से एक बड़ा लाभ यह हुआ कि सारे राष्ट्र के हृदय का ऐक्य जोरों से प्रकट हुआ। छोटे-मोटे झगड़े और रोजमर्रा के मतभेद एकदम गौण हो गये। गौण क्या, लोग भूल ही गये। अब देश की रक्षा और देश की इज्जत की रक्षा एक ही बात लोगों के मन में काम कर रही है। पूरब से पश्चिम तक और हिमालय से हिन्द महासागर तक सारा देश एक ही निश्चय करके खड़ा हुआ यह अच्छा लक्षण है, यह बड़ा लाभ है।

दूसरा लाभ हम यह देखते हैं कि दुनिया के करीब-करीब सब राष्ट्र भारत के प्रति अपनी हमदर्दी बता रहे हैं। पाकिस्तान को तो हम भूल जायं। उसके सिर पर जो खब्त सवार हुआ है, उसे छोड़ता नहीं। रशिया और चीन एक-दूसरे के यार हैं। साथ रहे बिना उन्हें चारा ही नहीं है। जापान से लेकर अमरीका तक सारी दुनिया की सहानुभूति हमारे साथ है। इसका नैतिक महत्व कम नहीं है।

लोग पूछेंगे कि यह तो सब ठीक है। किन्तु हमारे शान्ततावाद का क्या हुआ ? हम युद्धविरोधी हैं, शान्तता चाहते हैं। सारी मानवजाति को एक परिवार मानते हैं। दुश्मन भी आखिरकर हमारे भाई ही हैं यह हम भूलते नहीं। तब युद्ध छिड़ने पर हमारा कर्तव्य क्या होता है ? हम तो यूरोप के ऐसे लोगों की टीका-टिप्पणी करते थे कि जो शांति के दिनों में शांततावादी होते हैं और युद्ध छिड़ने पर कहने लगते हैं कि 'अब की बार तो लड़ना ही चाहिए। युद्ध का नाश करने के लिए ही युद्ध चलाना चाहिए।' ऐसा कहनेवाले लोगों को हम Peace time Pacifists कहते थे। अब हमारी भूमिका क्या ?

हमारा दिल साफ है। हम तो अहिंसावादी हैं, शत्रु हो या मित्र, किसीको मारेंगे नहीं। जहांतक हो सके, शांति-सेना के द्वारा देश की रक्षा करेंगे। लेकिन इतना करने से हमारा कर्तव्य पूरा नहीं होता। हम सारे देश को

अहिंसावादी नहीं बना सके हैं। हिंसा का अभाव अहिंसा नहीं है। अहिंसा एक ठोस चीज है। उसमें ठंडा किन्तु तेजस्वी शौर्य होता है। हम शुरू से कहते आये हैं कि हम केवल अहिंसावादी नहीं हैं। हम हैं अहिंसक प्रतिकार में माननेवाले। मुख्य तत्व है अन्याय के प्रतिकार का। ऐसा प्रतिकार पूरा-पूरा अहिंसायुक्त हो यह है हमारा आग्रह। इसके लिए तैयारी करनी पड़ती है। केवल मानसिक नहीं, किन्तु शारीरिक भी। और वह भी केवल व्यक्तिगत नहीं, सामूहिक तैयारी होनी चाहिए। तब जाकर अहिंसक प्रतिकार आजमाया जा सकता है। आज इतनी तैयारी हो नहीं सकी है इतना कबूल किये बिना चारा नहीं। लेकिन जो कुछ तैयारी है उससे हम काम जरूर ले सकते हैं।

मुख्य बात प्रतिकार की है। अन्याय, अत्याचार और आक्रमण का प्रतिकार तो करना ही चाहिए। अगर राष्ट्र अहिंसक प्रतिकार के लिए, शांति सेना के द्वारा किये जानेवाले सत्याग्रही युद्ध के लिए तैयार नहीं है, तो शस्त्रयुद्ध से ही सही, फौज लड़वाकर ही सही, प्रतिकार तो करना ही चाहिए।

जब अर्जुन ने कहा कि शस्त्र धारण करके मेरे भाई निःशस्त्र मुझ को मार भी डालें तो भी मैं उसे बेहतर समझूंगा। किन्तु अपने ही पिता, चाचा, भतीजे और गुरुजनों को मारकर मैं विजय पाना नहीं चाहता। तब भगवान् ने उस वृत्ति को क्लैब्य कहकर नापसंद किया।

महाभारत के दिनों में यह बड़ा धर्मसंकट था। स्वजनों को, गुरुजनों को और आप्त जनों को युद्ध में मारना भी अधर्म था, और अन्याय का प्रतिकार न करते हुए शरण जाना, यह भी अधर्म था। ऐसी हालत में आदमी क्या करे? इस धर्मसंकट का व्यक्तिगत इलाज भगवान् श्रीकृष्ण ने अपने लिए ढूंढ ही निकाला। युद्ध में शरीक तो हूंगा, लेकिन हाथ में शस्त्र लेकर किसीको मारूंगा नहीं। गांधीजी ने अपने युग में धर्मसंकट का सच्चा इलाज सत्याग्रह के रूप में ढूंढ निकाला, जो सारे समाज के लिए काम में आ सकता है। इसमें युद्ध टालने की बात नहीं, युद्ध का रूप बदलने की है। सत्याग्रह-युद्ध में न तो गोला-बारूद बनाना पड़ता है, न और देशों से खरीदना पड़ता है। इसके लिए किसी भी राष्ट्र से आर्थिक या कौशल्य की मदद भी नहीं लेनी पड़ती। लेकिन उसके लिए आध्यात्मिक श्रद्धा और आध्यात्मिक शौर्य की जरूरत रहती है। आज उसकी तैयारी नहीं है। इसलिए लोगों के सामने केवल दो ही प्रश्न रहते हैं। अहिंसा की दुहाई देकर हम शरण जायं अथवा निर्वीर्यता टालकर अन्यायकारी आक्रमण का जैसा हो सके प्रतिरोध करें। इसका जवाब एक ही हो सकता है कि प्रतिकार तो करना ही चाहिए।

हमने झगड़ा शुरू नहीं किया। टालने की पूरी कोशिश की। 'विरोधी के मन में पाप नहीं है, केवल गलतफहमी है' ऐसा मानकर उसके साथ अनुनय-विनय भी किया। कुछ हदतक उसकी ज्यादती भी बरदाश्त की। अब यह कहांतक चल सकता है? भारत सरकार फौज रखती आई है। उसने शांति की नीति अपनायी है सही, किन्तु युद्ध न करने की शपथ नहीं ली। इसलिए भारत सरकार को युद्ध में उतर कर ही देश की रक्षा करनी चाहिए। और क्योंकि हमें पूरा विश्वास है कि भारत का सत्पक्ष है, भारत को हमें मदद करनी ही चाहिए।

हम भारत सरकार को कहेंगे कि अगर हमारी सत्याग्रह करने की पूरी तैयारी होती, तो हम आपसे इजाजत मांगते कि पहला मौका हमें दीजिये। किन्तु ऐसा नहीं है इसलिए हम कहेंगे कि जब आपको भारत की सीमा की रक्षा के लिए वहां फौज भेजनी पड़ती है, देश के अन्दर कहीं भी दंगा-फिसाद न हो, इसके लिए शांतिसेना के द्वारा हम वह जिम्मेवारी उठाते हैं। आपको पुलिस की संख्या बढ़ने की भी जरूरत नहीं रहेगी। हम स्थान-स्थान पर शांति-सेना की स्थापना करेंगे और सरकारी कर्मचारियों का सहकार पाकर देश की आंतरिक सुरक्षा का भार हम उठाएंगे।

अगर यह काम हमने सफलतापूर्वक करके दिखाया तो हममें अनुभवमूलक आत्मविश्वास आ जायगा, जनता भी हमारी इज्जत करेगी और सब राजनैतिक पक्ष और दल हमारी तटस्थ वृत्ति और सेवा को देखकर हम पर विश्वास करेंगे कि हम सच्चे और कामयाब शांति-सैनिक हैं।

अब की बार चीनी आक्रमण का जो सामना करना है इसमें हमारा शांति-सेना पक्ष का इतना ही कर्तव्य है कि

हम आंतरिक सुरक्षा का जिम्मा ले लें और स्वराज सरकार को एक बड़ी चिन्ता से मुक्त करें।

इसके बाद दुनिया के दुर्भाग्य से अगर दूसरा कोई युद्ध छिड़ा तो हम अंतरराष्ट्रीय पैमाने पर सत्याग्रह करके सिद्ध करेंगे कि सत्याग्रह की आध्यात्मिक शक्ति सार्वभौम है। और राष्ट्र को सफलता तक पहुंचा सकती है।

सत्याग्रह में माननेवालों का इस वक्त यही कर्तव्य है। साथ-साथ सारे राष्ट्र को चाहिए कि वह सारे देश को सामाजिक क्रांति के लिए तैयार कर दे। आर्थिक शोषण भी बन्द होना चाहिए और शारीरिक शक्ति के जोरों, अत्याचार के जोरों वर्ग-विग्रह चलाने की नौबत ही नहीं आनी चाहिए। सर्वोदय की स्थापना हमारे जीते-जी होनी चाहिए। भूमिदान और ग्रामदान उसका प्राथमिक और अमली रूप है। पूंजीवाद और समाजसत्तावाद दोनों को बाजू पर रखकर सर्वोदयी समाज की स्थापना के लिए राष्ट्र को तैयार करना यही है हमारा युगकार्य। चीनी आक्रमण नहीं होता तो इसका साक्षात्कार हम कर नहीं सकते। भगवान् रामचन्द्र के दिनों से हम राम-राज्य के गीत गाते आये। किन्तु सेवा करते रहे साम्राज्य की, इसीलिए तो देश की और दुनिया की ऐसी दुर्दशा हुई।

हमें स्वराज्य मिला है, सर्वराज्य की यानी सर्वोदय की स्थापना के लिए। इसमें देरी हुई या गफलत हुई तो स्वराज्य टिकेगा नहीं। स्वराज केवल साधन मात्र है। साध्य है सर्वोदय का सर्वराज्य।

भोर तक जलूंगा मैं

हरीश

वह माटी की देह मुझे दी जिसने
प्राण दिया
प्राणों को नेह दिया
कितना उपकार किया;
ज्वाला दी, गेह दिया,
जग-मग जग दिखलाया
जग ने संदेह दिया;
माटी तो माटी है !
यहां देह, देह की
नेह भरे नेही की
प्राणों की, गेही की
अपनी परिपाटी है !
देही हूं;
निश्चय ही, देह पा ढलूंगा मैं
नेही हूं;
एक बूंद रहने तक नेह के, गलूंगा मैं
गेही हूं;
संध्या का घर आया,
भोर तक जलूंगा मैं !
भोर से मिलूंगा मैं !!

हमारी धरोहर

●● सुशील

राजा नृग का उद्धार

एक बार यदु कुल के अनेक राजकुमार घूमने के लिए एक उपवन में गये। घूमते-घूमते उन्हें प्यास लग आई और वे एक कुएं पर पहुंचे। लेकिन वह कुआ बड़ी दुर्दशा में था। पानी निकालने के प्रयत्न में एक राजकुमार उसमें गिर पड़े। अंदर उन्होंने एक भीमकाय गिरगिट को देखा। उसे वहां देखकर उनके मन में करुणा पैदा हुई और उसे बाहर निकालने का बहुत प्रयत्न किया परंतु निकाल नहीं सके। निराश होकर वह भगवान श्रीकृष्ण के पास आये। श्रीकृष्ण जैसे सब कुछ जानते हों। वह तुरत कुएं पर पहुंचे और बड़ी आसानी से उसे बाहर निकाल लिया। लेकिन यह क्या, उनके करकमलों का स्पर्श पाते ही वह गिरगिट एक देवता के रूप में परिणत हो गया। उसका यह रूपांतर देखकर श्रीकृष्ण ने पूछा, "तुम कौन हो? किस कर्म के फल से तुम्हें इस योनि में आना पड़ा। अपना परिचय देकर हमारा कौतूहल दूर करो।"

भगवान के इस प्रकार पूछने पर उसने कहा, "प्रभो! मैं इक्ष्वाकु का पुत्र राजा नृग हूं। मैंने अपने समय में अनेक दुधारू कपिला गाएं दान में दी थीं। मैंने उनके सींगों को सोने से मढ़ दिया था। उनको कीमती वस्त्रों और हारों से सजाया था और मैं जिन ब्राह्मणों को दान दिया करता था वे शील सम्पन्न, दंभ रहित और विद्या दान करनेवाले होते थे। लेकिन प्रभु, एक दिन ऐसा हुआ कि एक तपस्वी की दान में गई हुई गाय छूट कर मेरी गायों में आ मिली। मुझे इस बात का कुछ भी पता नहीं था। अनजाने ही मैंने वह गाय अपने नियम के अनुसार किसी दूसरे ब्राह्मण को दान कर दी। जिस समय वह ब्राह्मण उस गाय को ले जा रहा था तभी उसका पहला स्वामी वहां आ पहुंचा और बोला, "यह गाय तो मेरी है।"

दान ले जानेवाले ने भी कहा, "राजा नृग ने यह गाय मुझे अभी दान में दी है, इसलिए यह मेरी है।"

इसके बाद उन दोनों में वाद-विवाद आरंभ हुआ। झगड़ते हुए दोनों मेरे पास आये। भगवन्, उन दोनों की बात सुनकर मैं बहुत दुखी हुआ। उस धर्मसंकट में पड़कर मैंने उनसे कहा, "इस गाय के बदले में मैं आपको और बहुत-सी गाय दूंगा। आप यह गाय मुझे दे दीजिए। मुझसे अनजाने ही यह अपराध हो गया है। मैं तो आपका सेवक हूं। कृपा करके मुझे इस संकट से उबार, लीजिए। लेकिन गाय का पहला स्वामी किसी भी शर्त पर नहीं माना। और असंतुष्ट होकर वहां से चला गया।

हे भगवन्, आखिर एक दिन मेरी आयु समाप्त हुई तो यमराज के दूत मुझे यमराज के सम्मुख ले गए। उन्होंने मुझसे पूछा, "राजन्! तुम पहले पुण्य का फल भोगना चाहते हो या पाप का? तुम्हारे दान और धर्म के फलस्वरूप तुम्हें ऐसा तेजस्वी लोक प्राप्त होनेवाला है जिसकी लालसा बड़े-बड़े ऋषि मुनि करते रहते हैं?"

मैंने उत्तर दिया, "धर्मराज! मैं पहले अपने पाप का फल ही भोग लेना चाहता हूं।" बस, उसी क्षण मैं वहां से विदा हुआ और गिरगिट बन गया। प्रभो! मैं तपस्वी ब्राह्मणों का सेवक हूं और आपका भक्त हूं। मेरे मन में आपके दर्शनों की बड़ी अभिलाषा थी। आपकी कृपा से मेरे पूर्वजन्म की स्मृति नष्ट नहीं हुई थी। बड़े-बड़े योगीश्वर अपने निर्मल हृदय में आपका ध्यान करते रहते हैं लेकिन आप अनायास ही मेरे नेत्रों के सामने कैसे आ गये? सब कुछ होने पर भी मैं बहुत-से व्यसनों और दुखदायी कर्मों में फंसा हुआ था। आपका दर्शन तो तभी होता है जब संसार के बंधन से छूटने का समय आ जाता है। हे प्रभो! अब आप मुझ पर ऐसी कृपा कीजिए कि मेरा चित्त सदा आपके चरण-कमलों में ही लगा रहे। मैं बार-बार आपको नमस्कार करता हूं।"

राजा नृग ने इस प्रकार विनय कर भगवान् की परिक्रमा की और उनके चरण छूकर उन्हें प्रणाम किया। फिर उनकी आज्ञा पाकर वह विमान पर सवार हुए और स्वर्ग को चले गये।

वहांपर उपस्थित भगवान् श्रीकृष्ण के सभी कुटुम्बी जन यह देखकर बहुत ही चकित और प्रभावित हुए। उनको

इस प्रकार विस्मित हुआ देखकर श्रीकृष्ण ने उनसे कहा, "अग्नि के समान ऐसे तेजस्वी पुरुष भी पराये धन को नहीं पचा सकते। फिर अभिमानी राजाओं की क्या हस्ती है जो वे इस पाप से मुक्त हो सकें। मैं हलाहल विष को विष नहीं समझता चूंकि उसकी चिकित्सा हो सकती है परन्तु दूसरों की सम्पत्ति को पचा लेने की शक्ति इस धरती के किसी भी प्राणी में नहीं है। विष खा लेने से केवल उसी प्राणी का नाश होता है जो विष खाता है लेकिन दूसरे का धन का हरण करने से जो अग्नि पैदा होती है वह सारे कुल को, समाज को, जाति को, समूल नष्ट कर देती है। जिन उदार हृदय और बहु-कुटुम्बी लोगों की सम्पत्ति छीन ली जाती है, उनके रोने पर, उनके आंसुओं की बूंदों से इस धरती के जितने धूलिकण भीगते हैं इतने वर्षों तक धन हरण करनेवाले और उसके वंशजों को नरक का दुख भोगना पड़ता है। अभी आप लोगों ने राजा नृग को देखा। उन्होंने अनजाने ही यह अपराध किया था जिसके फलस्वरूप अनेक वर्षों तक उन्हें गिरगिट बनकर इस अंधे कुएं में रहना पड़ा। आप अब ही समझ सकते हैं—जो जानबूझ कर दूसरों का धन छीनते हैं, उनकी क्या गति होती होगी।"

इस प्रकार श्रीकृष्ण के वचन सुनकर यदुवंश के राजकुमारों का मन निर्मल हो गया और वे राजा नृग को मन-ही-मन प्रणाम करते हुए अपने अपने घरों को लौट गये!

महाराज चित्रकेतु का पुत्र-शोक

प्राचीनकाल में शूरसेन देश में महाराज चित्रकेतु राज्य करते थे। वे सभी गुणों और ऐश्वर्य से सम्पन्न थे। किन्तु उनके कोई सन्तान नहीं थी। इसलिए उन्हें सदा चिंता रहती थी। संयोगवश एक दिन अंगिरा ऋषि वहां आये और चिंता का कारण जानकर बोले, "मैं आपके लिए यज्ञ करूंगा।"

तब उन्होंने त्वष्ठा देवता के योग्य चरु तैयार कर उससे यज्ञ किया और उसका अवशेष-प्रसाद रानी को देकर राजा से कहा, "हे राजन्! तुम्हारी पत्नी से तुम्हें हर्ष और शोक दोनों ही देनेवाला पुत्र उत्पन्न होगा।"

समय आनेपर महारानी के सुन्दर पुत्र उत्पन्न हुआ। चारों ओर आनन्द छा गया। राजा ने बालक के उचित संस्कार कराए और ब्राह्मणों को खूब दान दिया। महाराज अब अधिकतर उसी रानी के पास रहने लगे जिसके पुत्र उत्पन्न हुआ था। यह देखकर दूसरी रानियां ईर्ष्या से जलने लगीं। उनकी स्थिति दासी से भी बदतर हो गई थी और बुद्धि भी भ्रष्ट हो गई थी। इसलिए एक दिन छुपकर उन्होंने नन्हे-से राजकुमार को विष दे दिया।

सहसा धाय के रोने की आवाज सुनकर मां अपने पुत्र के शयन-गृह में पहुंची तो देखा बच्चा मरा हुआ पड़ा है। वह मूर्च्छित होकर वहीं गिर पड़ी। समाचार पाकर राजा चित्रकेतु पागलों की तरह दौड़ते हुए वहां आये। उनकी आंखों के आगे अंधेरा छा गया। राजा-रानी दोनों इस तरह विलाप करने लगे कि सारे राज-कर्मचारी रुदन कर उठे। देश भर में दुख के बादल छा गये। महर्षि अंगिरा और देवर्षि नारद यह समाचार पाकर वहां आ पहुंचे और तरह-तरह की वैराग्यपूर्ण उक्तियां सुनाकर उन्हें समझाने लगे। उन्होंने कहा, "राजन्! जिसके लिए आप शोक कर रहे हैं वह बालक इस जन्म और पूर्व के जन्म में तुम्हारा कौन था। उसके तुम कौन थे? आगे तुम्हारा क्या संबंध रहेगा, कौन जानता है? जल के वेग से बालु के कण जैसे एक-दूसरे से जुड़ते और बिछुड़ते रहते हैं वैसे ही काल के प्रवाह में प्राणियों का मिलन और विछोह होता रहता है। भगवान समस्त प्राणियों के अधिपति हैं। यह संसार उन्हींकी माया से मिथ्या होता हुआ भी सत्य-सा प्रतीत होता है।"

इस प्रकार महर्षि अंगिरा ने राजा चित्रकेतु को नाना प्रकार से उपदेश दिया परन्तु उसका शोक दूर नहीं हुआ। तब देवर्षि नारद ने मरे हुए राजकुमार के जीव को प्रत्यक्ष बुला कर कहा, "देखो, तुम्हारे माता-पिता तुम्हारे वियोग से अत्यन्त शोकाकुल हैं। तुम अपने शरीर में फिर आ जाओ।"

जीव ने उत्तर दिया, "देवर्षि! मैं अपने कर्मों के अनुसार कितनी योनियों में, कितने जन्मों से भटक रहा हूं। ये लोग किस जन्म में मेरे माता पिता हुए। विभिन्न जन्मों में सभी एक-दूसरे के भाई-बन्धु, शत्रु-मित्र होते रहते हैं। जबतक जिसका जिससे संबंध रहता है तभीतक ममता भी रहती है। आत्मा नित्य, अविनाशी, सूक्ष्म और स्वयं प्रकाश है, इसका न कोई प्रिय है न अप्रिय, न अपना न पराया।"

यह कहकर वह जीव चला गया। उसीके साथ राजा का स्नेह बंधन भी कट गया। उसका शोक भी जाता रहा।

तब देवर्षि नारद के कहने पर उसने मंत्रोपनिषद ग्रहण किया। विधिपूर्वक अनुष्ठान करने पर उन्हें विद्याधरों का अखंड आधिपत्य प्राप्त हो गया। कुछ दिन और अनुष्ठान करने पर उसे भगवान के दर्शन हुए और उसके बचे-खुचे पाप नष्ट हो गये। भगवान ने कहा, "राजन्! देवर्षि नायद ने तुम्हें जिस विद्या का उपदेश दिया है उससे और मेरे दर्शन से तुम सिद्धि प्राप्त कर चुके हो।"

भगवान् ने चित्रकेतु को और भी उपदेश दिया और फिर वह चले गये। एक दिन चित्रकेतु ने विमान पर घूमते हुए शंकर-पार्वती को देखा और पार्वती से कहा, "शिव तो समस्त प्राणियों में श्रेष्ठ हैं फिर वह भरी सभा में अपनी पत्नी के साथ साधारण पुरुषों की तरह क्यों बैठे हैं?"

चित्रकेतु की यह बात सुनकर शंकर तो हँस पड़े लेकिन पार्वती को बड़ा क्रोध आया और उन्होंने उसे शाप देते हुए कहा, "जिन भगवान् शंकर का बड़े-बड़े महर्षि और देवर्षि निरंतर ध्यान करते हैं उनका तुमने इस प्रकार तिरस्कार किया है, इसलिए हे दुर्मते, तू पापमय असुर योनि में चला जा।"

यह शाप सुनकर चित्रकेतु ने सिर झुका कर पार्वती को प्रसन्न करने का प्रयत्न करते हुए कहा, "माता मैं आपका शाप स्वीकार करता हूं। प्रारब्ध के अनुसार जीव अज्ञान से मोहान्ध होता है और इसी कारण सुख-दुख भोगता रहता है। सुख-दुख देनेवाला न तो अपना आत्मा है, न दूसरा है। जो अज्ञानी हैं वे ही अपने की सुख-दुख का कर्ता मानते हैं। आपको जो मेरी बात अनुचित मालूम हुई उसके लिए क्षमा करें।"

यह कहकर चित्रकेतु वहां से चला गया। भगवान् शंकर ने पार्वती से कहा, "प्रिये! जो लोग भगवान् के शरणागत हैं उन्हें स्वर्ग, मोक्ष और नरक में समान भाव से भगवान् के दर्शन होते हैं। जीवों को देह के संयोग होने के राग या द्वेष नहीं करते। यह चित्रकेतु के भगवान् के अनुचर और समदर्शी है इसलिए हे पार्वती, तुम्हें इसके व्यवहार पर चकित नहीं होना चाहिए।"

यह सुनकर पार्वती शान्त हो गई। चित्रकेतु चाहते तो उन्हें शाप दे सकते थे पर उन्होंने ऐसा नहीं किया, क्योंकि वह साधु पुरुष थे। शाप के अनुसार उन्हें दानव योनि में जाना पड़ा और वृत्रासुर के रूप में उन्होंने जन्म लिया। इस योनि में आनेपर भी उनका हृदय ज्ञान और भक्ति से भरा रहा और उस जन्म में इन्द्र ने छल से उनको मारा। फिर भी वह मुक्ति को प्राप्त हुए।

●

(पृष्ठ ४४२ का शेष)

भूमिहीनों को दें। इससे गांव के भूमिहीन और बड़े लोग एक हो जाएंगे। अगर आप अच्छी जमीन, जोत की जमीन देते हैं तो ठीक है। परती जमीन देंगे तो उसे अपने बैलों से जुतवा कर दीजिये। जुती हुई जमीन जब भूमिहीनों को देंगे तो वे उसपर फसल उगायेंगे। बीज भी दीजिये। इस तरह अच्छी फसल होगी। किसीको ठगने से कोई काम नहीं होगा। अच्छे कार्यों से ही शक्ति बनेगी और बढ़ेगी। इस तरह गांव-गांव में भूमिहीनों का मसला हल करें। बची जमीन अभी आप आपने पास रखें तो भी हर्ज नहीं।

फिर गांव के जितने बालिग हैं, उन सबकी मिलकर ग्राम-सभा बने। ग्राम-सभा का काम चलाने के लिए हर साल अपनी फसल में से एक हिस्सा दें। शुरू में एक-दो हजार रुपये दान के रूप में ग्राम-सभा को दे। यही उसकी पूंजी होगी, उसके आधारपर गांव के लिए उद्योग-धंधे खड़े किये जा सकते हैं। इस तरह एक 'पैटर्न' बनेगा। धीरे-धीरे सब बदलेंगे। पर इसके लिए पहले बड़े लोगों को त्याग करना होगा। देश के लिए आप थोड़ा भी त्याग न करें तो फिर देश कैसे बचेगा? देश ही न बचे तो फिर क्या आप बचे रहेंगे? अपने स्वार्थ को जरा दूर करके देखो तब काम बनेगा।

कन्नड़ का प्रसिद्ध राष्ट्रीय कवि

●● अवनीन्द्रकुमार विद्यालंकार

आधुनिक कन्नड़ कवियों के अग्रणी कवि का नाम है, दत्तात्रेय रामचन्द्र बेंद्रे। कन्नड़ साहित्य के पुनरुज्जीवन में आपका अंशदान अनुपम है। आप कितने उच्च कोटि के कवि हैं, यह इस बात से जाना जा सकता है कि १९५९ में साहित्य अकादमी ने आपको पुरस्कृत किया व सम्मानित किया। आपका 'अरालू मरालू' काव्य-संग्रह को कन्नड़ साहित्य में सर्वोत्कृष्ट माना गया।

आपकी कविता का क्षेत्र विशद और अत्यन्त व्यापक है। मानव की सब प्रकार की अनभूतियां आपकी कविता के विषय हैं। प्रेम, जीवन का शाश्वत सुख, प्रगाढ़ देश-भक्ति, उच्च मानव-आदर्श इन सबने आपकी कविता में स्थान पाया है। विविध विषयों पर कविता होने से आपका व्यक्तित्व और आपकी कविता दोनों इन्द्र-धनुष के समान विविधवर्णी हैं।

आपकी कविता में पहाड़ी झरने के कल-कलनाद सदृश जीवन के प्रति उमंग व उछाह भरा उत्साह है, बरसाती, तूफानी नदी के गर्जन के समान यौवन का उन्माद है, गंगा-प्रवाह के समान युवावस्था का उत्साह है, और सृष्टि की हर वस्तु के प्रति जहां अनुराग है, वहां प्रत्येक प्राणी के प्रति अनुकम्पा है। 'कूनीएन् वा', 'कोलू सखी चन्द्रमुखी कोले नन्दलीला', 'बंतीदो श्रृंगमा मासा' इसके प्रमाण हैं। इनके गीत गेय ही नहीं हैं, हृदय में एक विलक्षण अनुभूति भी उत्पन्न करते हैं। आपके देशभक्तिपूर्ण गीत 'मूवात्तू मूरूकोती' में संगृहीत हैं। विशुद्ध रूप से लिखे गीतों का संग्रह 'भृंगदा बन्नेरी बंता कल्पना विलास' में है। कन्नड़ बच्चों की जिह्वा पर आपके ये गीत सिनेमा के गीतों के समान चढ़े हुए हैं। आपका जन्म ३१ जनवरी १८९६ को धारवाड़ में हुआ। आपके जीवन का बड़ा भाग शिक्षा और साहित्य को अर्पित हुआ है। धारवाड़ में आपने शिक्षक का भी काम किया। आपकी शिक्षा एम० ए० तक हुई। आपकी कविताओं का पहला संग्रह मैसूर के मित्रों की सहायता से १९३२ में, छत्तीस साल की आयु में, प्रकाशित हुआ।

१९४६ में आपकी स्वर्ण-जयंती मनाई गई और कन्नड़ कविता की सेवा करने के बदले आपको एक थैली भेंट की गई। धारवाड़ में आपकी हीरक जयंती बड़े विशाल पैमाने पर १९५६ में मनाई गई।

श्री बेंद्रे कवि होने के साथ-साथ नाटककार और आलोचकभी हैं। मदारी की वीणा में सांप को मंत्र-मुग्ध करने का जो गुण है वही गुण और प्रभाव आपके गीतों में है।

गाड़ी, नाद लीला, सखीगीता, कन्नड़ मेघ सन्देश अत्यन्त लोकप्रिय काव्य-संग्रह हैं। सूयोपन और सप्तर्षि आपकी हाल की रचनाएं हैं। पिछली में जीवन-परिचय देने वाले निबन्धों का संग्रह है। भाव सोपान साहित्यिक निबन्धों का संग्रह है। बाल्य कन्नड़ सखी गीता का पहला भाग है और पूर्ण है।

श्री बेंद्रे आत्म-सन्तुष्ट व्यक्ति हैं। उनको जनता से कोई शिकायत नहीं। उनको इस बात की प्रसन्नता है कि लोग उनकी कविता और उनके गीतों को पसन्द करते हैं, चाव से उनको गाते हैं। इस समय उनकी आयु ६९ साल की है।

श्री बेंद्रे साहित्य चर्चा बड़े प्रेम और उत्साह से करते हैं। उनके अपने विचार हैं। वे अनुभव के आधार पर बनाए गये हैं। राष्ट्र के पुनरुज्जीवन में साहित्य का क्या भाग है? इस विषय में आपका कहना है कि राजनीतिज्ञों और अर्थ-शास्त्रियों के समान कवि समसामयिकों में महत्वपूर्ण प्रतीत नहीं होता। परन्तु इतिहास के पृष्ठों को पलटने से ज्ञात होगा कि वाल्मीकि, व्यास, कालिदास और शेक्सपियर के नाम और उनकी कृतियां आज भी आदृत, सम्मानित और पूजित हैं, परन्तु राजनीति और अन्य क्षेत्रों के उनके समसामयिकों के नाम आज कोई नहीं जानता।

आधुनिक भारत की बात लीजिए। अरविन्द घोष, रवीन्द्रनाथ ठाकुर, विवेकानन्द, महात्मा गांधी और डा० एनी बिसेंट के लेखों ने अतिशय गहरा प्रभाव जन-जीवन पर डाला है। राजनीति की अपेक्षा साहित्य अधिक स्थायी वस्तु है। तात्कालिक घटनाओं पर अवश्य राजनीति का अत्यधिक प्रभाव पड़ता है, परन्तु भविष्य का निर्माण साहित्य ही करता है और वही दिशा दिखाता है। साहित्यिक और कलाकार राष्ट्र-जीवन के जीवन-तार है, फ्यूज है। राष्ट्र

की कल्पना ही कवि के मन की कल्पना है। वेद तक में एक कवयित्री ने दावा किया है :

"अहं राष्ट्री संगमनी वसूनाम्"

असुरों और देवों के मध्य एकता कराई है। कवि और कलाकार राष्ट्र की सब समय सेवा करते हैं।

कवियों के काव्यों का क्या वर्गीकरण करना, उनका क्रमांक लगाना क्या संभव है? इस विषय में कवि बेंद्रे का मत है कि यह संभव नहीं है। क्योंकि, कविता कवि की सर्वोत्तम मन-प्रवृत्ति की उपज है। वह बिशिष्ट समय के मनोभावों को प्रकट करती है।

कविता की आधुनिक धारा के विषय में आपका कहना है कविता के साथ विशेषण जोड़ने का आज फैशन हो गया है। लेकिन कविता पुरानी हो या नई, इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि कविता में साहित्यिकता बनी रहे और वह रस परिप्लुत हो, रस-शून्य न हो। नव्य काव्य के अनेक कवि मेरे मित्र हैं। मेरी अनेक कविताएं 'नव्य-काव्य' मानी गई हैं। परन्तु मैं यह नहीं मानता कि 'नव्य-काव्य' (माडर्निस्ट) ही कविता है और प्राचीन सर्वथा कविता नहीं है।

कवि बेंद्रे की कविता पर अरविन्द घोष की गहरी छाप है। पांडीचेरी के सन्त का कवि पर जो ऋण है, उसको कन्नड़ राष्ट्रकवि ने कृतज्ञता-पूर्वक स्वीकार किया है। आपने अपना मंतव्य इस संबंध में इस प्रकार व्यक्त किया है: निराशावाद के कारण श्री अरविन्द के सिद्धान्तों को मैंने स्वीकार नहीं किया है। कालेज में जब पढ़ता था, तब से मैं इन सिद्धान्तों को अपने में ढालने की कोशिश करता था। मेरी प्रारंभिक कविताओं में श्री अरविन्द का प्रभाव देखा जा सकता है। श्री अरविन्द के सिद्धान्त विश्व के पुनरुज्जीवन में सहायक हैं। ये भारत के पुनर्निर्माण में सहायक हैं, यह तो पृथक् रूप से कहने की आवश्यकता ही नहीं।

राष्ट्र-सेवा श्री अरविन्द की अनुपम है। वेद, उपनिषद, भगवद् गीता, भारतीय संस्कृति, राजनीतिक आदर्श, योग-मार्ग की समरसता, सावित्री का ऐतिहासिक काव्य, दिव्य जीवन आदि पुस्तक लिखकर उन्होंने भारत के बहुमुखी गौरव को उद्भासित किया है। इस प्रकार की पूर्णता तिलक, गांधी, और रवीन्द्र में भी नहीं पाई जाती।

पांडीचेरी के अन्तर्विश्वविद्यालय में श्री अरविन्द ने जिस शिक्षा-प्रणाली का श्रीगणेश किया था, उसका हमारे विश्वविद्यालय में प्रारंभ होना शेष है।

कन्नड़ साहित्य की विशिष्ट साहित्यिक विशेषता है, और 'मस्ती' का यह कहना सोलहों आने ठीक है। परन्तु, यदि इसको गौरव के नूतन शिखर पर पहुंचना है, तो इसका विस्तार होना चाहिए।

कन्नड़ साहित्य विश्व-साहित्य के स्तर पर पहुंच सकता है। परन्तु इसके लिए आवश्यक है कि कन्नड़ियों की नसों में सार्वभौम जीवन का रक्त प्रवाहित होना चाहिए। कवि और कलाकार, सार्वभौम जीवन का जो चित्र चित्रित करे, उसकी सराहना करने की क्षमता तो उनमें होनी चाहिए। भारत के विभिन्न प्रान्तों के मध्य अभी और समरसता होनी चाहिए। सार्वभौम जीवन का महत्व समझने से पहले हमें एशिया के विषय में और अधिक ज्ञान प्राप्त करना चाहिए। हमारा साहित्य विश्व-स्तर को स्पर्श करें, इससे पहले यह अधिक आवश्यक है कि जनता साहित्य की ओर अग्रसर हो।

शिक्षा का माध्यम क्या हो, इस विषय में श्री बेंद्रे का विचार है कि विशिष्ट क्षेत्र की भाषा में ही शिक्षा दी जानी चाहिए। ऐसा न होने की अवस्था में जनताकष्ट पायगी। हमारी शिक्षा में प्रान्तीय भाषाओं का गौरवपूर्ण स्थान होना चाहिए। इसके अभाव में यह दावा कि हम जनता की सेवा करते हैं, सर्वथा अर्थ-शून्य है।

आज अवस्था यह है कि लोग अपनी भाषा भी भलीभांति नहीं जानते। इस अवस्था में यदि क्षेत्रीय भाषा के अतिरिक्त अन्य कोई भाषा उनपर थोपी गई तो, इससे किसीको भी लाभ न होगा। अन्य भाषाओं को पढ़ाने की व्यवस्था होनी चाहिए। परन्तु इसपर सदा सतर्क दृष्टि रखनी चाहिए कि क्षेत्रीय भाषाओं की प्रगति में किसी प्रकार की बाधा न आवे।

आपका विचार है कि कल्याण राज्य में कवियों और कलाविदों के योगक्षेम की ओर राज्य को ध्यान देना चाहिए। राज्य यदि उनकी ओर ध्यान न देगा, तो वे अपने 'योग' में लगे रहेंगे, यदि उनके योग-क्षेम की ओर राज्य का ध्यान न रहेगा; तो वे कभी पूर्णता प्राप्त न कर सकेंगे। अतः गुणियों का सम्मान करना राज्य का कर्तव्य है।

नागा जाति

नवासण

भारत की पूर्वी सीमा पर आबादी और क्षेत्रफल की दृष्टि से सबसे छोटा प्रदेश नागा राज्य भारत का सोलहवां राज्य बन गया है। इसी सितम्बर महीने में भारत की लोक-सभा ने इस राज्य की स्वतंत्र स्थिति की मान्यता दे दी है। वस्तुतः पिछले दिनों इस प्रदेश के निवासी नागाओं ने अपने लिए अलग स्वतंत्र राज्य की मांग को लेकर आंदोलन किया और भारत के स्वतंत्र होने के पन्द्रहवें वर्ष में नागा राज्य को स्वीकार कर लिया गया। अपनी मांग के लिए, संख्या में थोड़ी होनेपर भी नागा जाति ने जिस प्रकार दृढ़ता से संग्राम किया, वह एक ओर अत्यन्त खूंखार और जनता में संत्रास फैलानेवाला था, दूसरी ओर उनके अदम्य साहस का, अटूट मनोबल का और लड़ाकूपन का प्रतीक है। नागा इलाके में ही नहीं अपितु असम के पार्श्ववर्ती जिलों में खूंखार नागाओं की लूट-मार से जनता और सरकार दोनों को अत्यंत सतर्क रहना पड़ता था, फिर भी हमलों की घटनाएं किसी प्रकार कम नहीं होती थी। भारत ने नागाओं के अलग राज्य के रूप में अपने स्वतंत्र विकास की अदम्य मनोवृत्ति का आदर करते हुए नागा प्रदेश को स्वतंत्र राज्य के रूप में स्वीकार कर लिया, और अब सबकी आशा तथा कामना यही है कि नागा लोग अपने राज्य की प्रगति में किसीसे पीछे नहीं रहेंगे और उनमें व्याप्त असंतोष अवश्य दूर होजायगा।

नागा जाति बाहर के लोगों में 'नरमुंड शिकारी', 'नग्न रहनेवाले', 'खूंखार', आदि नामों से परिचित है। वे बहुधा समझ लेते हैं, 'नागा' किसी एक जाति विशेष का नाम है। परन्तु नागा राज्य में रहनेवाले सभीको नागा नहीं कहते। वे लोग वस्तुत. कुछ गोष्ठियों में अलग-अलग विभाजित हैं, जिनके नाम अलग-अलग हैं तथा आचार-व्यवहार भी अलग-अलग होते हैं। नृ-तत्व की दृष्टि से ये लोग एक ही वंश के माने जाते हैं परन्तु उनकी इन गोष्ठियों में इतनी पारस्परिक भिन्नता हो जाने का कारण यह है कि विगत युगों में ये गोष्ठियां विभिन्न दलों के रूप में सदैव एक-दूसरे के साथ संघर्ष में लगी रहती थी। ज्यादातर उनका कोई स्थायी निवास नहीं था और यायावर रूप में नागा लोग जहां जाकर बस जाते थे वहां की पहाड़ियों का और स्थानों का अपना जातिगत नाम-करण कर देते थे। शुरू से ही नागा अपनी विशिष्टताओं की रक्षा का पूरा ध्यान रखते आये हैं।

कुछ विद्वानों ने 'नागा' शब्द के अलग-अलग अर्थ लगाये हैं। कुछ लोगों ने असम में निवास करनेवाली दूसरी प्रमुख जनजाति—कछारियों—के 'नंगरा' शब्द के साथ इसका मेल बैठाने की कोशिश की है, जिसका अर्थ होता है वीर या लड़ाकू। आहोमों के असम-आगमन से पहले उत्तर-पूर्वी सीमा पर कछारी राज्य बहुत विस्तृत, सम्पन्न और शक्ति-शाली था। इसकी राजधानी 'डिमापुर' बड़ी समृद्धिशाली नगरी थी। कछारी राज्य जब उन्नति पर था, उस काल में 'माइ बांग' नामक स्थान के कला-कौशल भी काफी बढ़े-चढ़े थे। इन कछारी राजाओं की सेना में बड़ी संख्या में नागा लोगों को लिया जाता था। उनकी वीरता और साहस सर्वत्र प्रशंसित और स्वीकृत थे और संभवतः कछारी राजाओं ने ही उन्हें वैसा नाम दे दिया हो। किसी-किसी विद्वान् के मत से 'नंगरा' का ही अंगरेजी रूप 'नागा' बन गया है। कुछ दूसरे विद्वानों ने 'नागा' शब्द को संस्कृत 'नाग' (सर्पपूजक) और 'नग्न' शब्द के साथ संपर्कित दिखाने का प्रयत्न किया है। परन्तु सभी नागा न तो सर्प-पूजक हैं और न सम्पूर्ण रूप से आभूषण व आवरणहीन नंगे ही हैं। असम के खासिया पहाड़ में निवास करनेवाली खासी जाति की एक शाखा में नाग-पूजन प्रचलित है, वहाँ कुछ नागा नाग-भोजी हैं। प्रसिद्ध विद्वान् वोन फ्यूटर हैमनडोर्फ ने अपनी 'नंगे नगा' पुस्तक में नागाओं के कुछ बड़ी सुन्दर नंगी तस्वीर छापी हैं परंतु उन्होंने यह भी लिखा है, "कुछ भाषा-विज्ञानवेत्ता संस्कृत शब्द 'नागा' (जिसका अर्थ 'पहाड़' है) से 'नागा' शब्द की व्युत्पत्ति हुई है, ऐसा अनुमान लगाते हैं, जबकि कुछ दूसरे लोग 'नग्न' शब्द से। परंतु वास्तविकता तो यह है कि नागा लोग केवल पहाड़ों में ही नहीं रहते। वे अपने सुडौल शरीर पर ऐसे-ऐसे चमकदार आभूषण भी धारण करते हैं, जिन्हें कोई भी मूर्तिकार अपनी कल्पना का सजीव चित्र बना सकता है। नागा लोगों को बिलकुल असंस्कृत

समझना और उन्हें 'नंगा' कहना भी गलत है।"

प्राचीन काल में नागाओं की अपनी लिपि भी थी परन्तु दुख की बात है, आज वह लिपि सम्पूर्ण रूप से विलुप्त हो चुकी है। इसका कारण यह है कि निरंतर निवास-परिवर्तन के कारण कला-विषयक चर्चा का अवसर उन्हें बहुत कम मिला और वे अपने पूर्व-पुरुषों की देन को रख नहीं पाये।

नागाओं का मूल निवास कहां था इस विषय पर भी विद्वानों में काफी मतभेद पाया जाता है। नागाओं की लिपि न होने के करण ही इनके द्वारा लिखित प्राचीन साहित्य भी नहीं है, जिससे उनके मूल स्थान का पता लगाया जा सके। हालांकि कुछ गोष्ठियों में उनके पहाड़ों पर आगमन व विचरण संबंधी दंतकथाएँ पायी जाती है पर उनके बारे में निश्चित रूप से कुछ कह सकना कठीन है। प्रसिद्ध विद्वान् ए० सी० हाडेन ने 'मानव वंश और उसका विभाजन' पुस्तक में लिखा है, "नृतत्व विश्लेषण से असम की जन-जातियों के बारे में यह पता चलता है कि कुछ ऐसे कुल जो राजनीतिक सूत्र में संगठित न हो सके, दूसरे कुलों के सम्पर्क में आने पर अपना-अपना अस्तित्व ही खो बैठे। असम की खासी कूकी, मणिपुरी, मिकिर, कछारी आदि जन-जातियों में पूर्व-द्रविड़ संस्कृति की कुछ परम्पराएं अबतक विद्यमान हैं, परंतु नागाओं में द्रविड़ संस्कृति के चिह्न सम्पूर्ण रूप से मिट चुके हैं। असम की नागा और दूसरी कई पहाड़ी जातियों में हिन्द-चीनी-तत्व काफी परिमाण में पाये जाते हैं। हिन्द-चीनी जातियों के मुख्य लक्षण लम्बा सिर परन्तु गोल नाक है।

दूसरे कुछ विशेषज्ञ नागाओं को तिब्बती-बर्मी वंश गोष्ठी से संबद्ध बताते हैं। नागा लोगों की कुछ परंपराएं भी दक्षिणी पूर्वी एशिया को जन-जातियों से खासकर मिलती जुलती हैं। कई विद्वानों का ऐसा विचार है कि असम की जन-जातियों में जो परम्पराएं मौजूद हैं, प्राचीन काल में वे ही पूरे दक्षिण पूर्व एशिया में पायी जाती थी, परंतु बीच में परस्पर विच्छिन्न हो जाने के कारण उनका सम्पर्क धीरे-धीरे कम होता गया और उनकी परम्पराएं भी अलग-अलग जान पड़ने लगीं। नागा लोग अपनी देह की सजावट करते समय जिस अंगरखे का व्यवहार करते हैं, और युद्ध के प्रस्थान के अवसर पर जिस प्रकार के लकड़ी के बने हुए ढ़ोल बजाते हैं, उन्हें देखकर पता चलता है कि वे बहुत पहले कभी-न-कभी समुद्रतट के निवासी थे। नागाओं के अतिरिक्त बोर्नियो द्वीप के 'ड्याक' और 'कायाह' तथा फिशिपाइन के 'इगोरोट' जातियों में भी ऐसी ही विशेषताएं पायी जाती हैं। परन्तु अबतक किसी विद्वान द्वारा इन जातियों का तुलनात्मक अध्ययन नहीं किया गया है जिससे इन तत्वों पर और अधिक प्रकाश पड़ सके।

हम पहले ही कह आये हैं, नागा किसी एक विशेष जाति का नाम नहीं है। अपने-अपने इलाकों में हर जाति अपना-अपना अलग परिचय देती है। इससे ज्ञात होता है 'नागा' नाम वास्तव में बाहर के लोगों द्वारा ही दिया गया है। असल में 'नागा' कहने से जिन लोगों का बोध होता है, वे अंगामी, आव, लोथा, सेमा रंगमा, कोन्यक, फोम, चांग, संगटेम, काल्यू, कोन्‌यू, इम चुंगरि, टांखुल, माव, काछा, मराम, काबै, नोक्ते, वान्च् और तांगसा इन विभिन्न गोष्ठियों में बंटे हैं।

नागा लोग जहां बसते हैं उसके इर्द-गिर्द दूसरी कोई जाति नहीं बसती। नागा-प्रदेश का जो हिस्सा मणिपुर के अन्तर्गत पड़ता है केवल उसी भाग में कुछ मणिपुरी और कुकी जातियां निवास करती है।

अन्य जन-जातियों की तरह नागाओं की भी राजनैतिक संस्थाएं हैं जिनका मुख्य आधार ग्रामीण इकाइयों पर है। ये ग्रामीण राजनैतिक इकाइयां संगठन में गणतांत्रिक होती हैं और युगों से इनकी परंपरा तथा लोकप्रियता कायम हो चुकी है।

नागा बड़े ही निर्भीक तथा स्वतंत्रता-प्रिय होते हैं। अंग्रेजों ने जब असम पर कब्जा कर लिया तो इन पहाड़ों पर भी उनकी दृष्टि पड़ी क्योंकि ये नागा कभी-कभी ब्रह्मपुत्र घाटी पर उतर आते और अचानक हमले बोल देते। आखिर इन पर अधिकार करने के लिए आदेश भेजा गया। सन् १८३५ से लेकर १८८६ तक नागाओं ने निरंतर अपनी स्वतंत्रता की रक्षा के लिए संग्राम किया था, परन्तु धीरे-धीरे आधुनिक अस्त्र-शस्त्रों से सम्पन्न अंग्रेज बढ़ते ही गये और इस प्रदेश पर भी अपना कब्जा कर लिया। यद्यपि नागा लोग इसके बाद अंग्रेजों के शासन के अंतर्गत आ गये

(शेष पृष्ठ ४५६ पर)

'प्यार की रोशनी' आचार्य सर्वे

दीप जलता रहे, राष्ट्र बढ़ता रहे
मंजिलों तक उजाला मचल जायगा।

*　　*　　*

प्यार की रोशनी का नया दौर है
क्या, इसी ठौर तेवर बदल जायगा
देखकर क्या, अंधेरे की सरगर्मियां, रोशनी का कलेजा दहल जायगा ॥१॥

कल तलक आप जो भाई-भाई रहे
क्या, उन्हीं का झुका शीश टकरायगा
कौन-सी मां हमारी-तुम्हारी यहां, क्या, इसी बात पर जंग छिड़ जायगा ॥२॥

चाहते हैं यही गिद्ध औ भेड़िये
खायें मिल-बांट इंसान की लाश को
गर्दिशे-खल्क में गिर न संभले हमीं, क्या पता, कारवां फिर किधर जायगा ॥३॥

कोई शिकवा करे गैर-मुमकिन नहीं
कोई सिजदा करे मुल्क की आन पर
नौजवाने-शहादत बढ़े हम-कदम, दोस्तों का इरादा बदल जायगा ॥४॥

खो न जावे कहीं संतुलन आपका
ज्योति के पुंज है, शान्ति के देवता
दीप जलता रहे, राष्ट्र बढ़ता रहे, झोंपड़ी में महल फिर बदल जायगा ॥५॥

मौत की गोद में प्यार पलता चले
काफिला जिन्दगी का संभलता चले
आपकी कोशिशों से कसम आपकी, आफतों का जनाजा निकल जायगा ॥६॥

आफताबे-वतन बादलों से ढका
रह सकेगा नहीं आपदा में फंसा
मौसमें रफ्ता-रफ्ता बदलती रहीं, आपका भी ये मौसम बदल जायगा ॥७॥

महिलावत्सल कर्मवीर कर्वे

●● काका कालेलकर

शतायुर् वै पुरुषः ।' मनुष्य को सौ बरस की आयु मिली है। यह ऋषि वाणी पूरी-पूरी सिद्ध करने-वाले महाराष्ट्र के एक महर्षि इस महीने की नौ तारीख को इस लोक को छोड़ गये। मृत्यु के समय उनकी आयु १०४ साल की थी और आखिर तक स्वास्थ्य अच्छा रखकर वह कुछ-न-कुछ काम करते ही रहे।

महर्षि कर्वे महाराष्ट्र के हमारे जमाने के सर्वोत्तम प्रवृत्तिपरायण संत थे, सात्विकता की मूर्ति थे।

लोकमान्य तिलक, नामदार गोखले, समाज-सुधारक आगरकर, आचार्य आपटे और गोले जैसे लोगों ने जिस फर्ग्युसन कॉलेज को चलाया उसी कॉलेज में प्राध्यापक धोंडो केशव कर्वे भी थे। इस काम को छोड़ कर युवावस्था में ही उन्होंने स्त्री-जाति की उन्नति का कार्य अपनाया। कर्मवीर कर्वे ने एक विधवा के साथ विवाह करके अपनी सेवा का प्रारंभ किया। महाराष्ट्र का रिवाज है कि किसी भी तत्व-निष्ठ कर्मवीर की कसौटी करने में कचास नहीं रखनी चाहिए। दया-माया छोड़कर उसका जितना प्रतिवाद हो सकता है, करते रहना। जब कर्मवीर ने पुनर्विवाह किया तब समाज ने उनका यहांतक बहिष्कार किया था कि वे किसीसे मिलने गये तो बैठने की दरी हटाकर इस बहिष्कृत को फर्श पर बैठने को कहते थे। इस तरह की परेशानी कर्वे ने शान्ति से सहन की। उनके ग्राम के लोगों ने जब ग्राम-भोज में उनको न्यौता नहीं दिया तब उन्होंने कहा कि, "मान लिया कि पुनर्विवाह करने से मैं ब्राह्मण भ्रष्ट हो गया। लेकिन गांव के चांडाल भी तो ग्राम भोजन में अन्न पाते हैं। मुझे मंदिर में न लीजिये। रास्ते पर बिठाकर मुझे खिलाइये। मेरा स्पर्श टालने के लिए मेरी पत्तल पर दूर से अन्न फेंक दीजिये। लेकिन आप मेरा बहिष्कार तो नहीं कर सकते। ग्रामवासी जो हूं।"

इतनी निरभिमान आत्मीयता और सात्विकता के सामने दकियानूसी समाज का भी क्रोध कहांतक टिक सकता है?

कर्मवीर कर्वे ने विधवाओं के लिए पूना के पास एक आश्रम विद्यालय खोला, जो आज तिहत्तर बरस हुए, लगातार विकास करता ही आया है और आज उसने स्त्री-जाति के लिए स्थापित विश्वविद्यालय का रूप धारण किया है। जिस आदमी को अपनी दरी पर बिठाना भी समाज को मंजूर नहीं था, उस समाज ने साठ पैंसठ बरस तक अपनी लड़कियों को पढ़ने के लिए, अच्छे संस्कार पाने के लिए उन्हींके पास भेजा और जीते जी उन्हें महर्षि की पदवी प्रदान करके उनके चरणों में अपनी श्रद्धांजलि अर्पित की।

महर्षि कर्वे शिक्षा के आचार्य थे, समाज-सुधार के अध्वर्यु थे। उनके शिष्य, अनुयायी और भक्त सारे महाराष्ट्र में और भारत में फैले हुए हैं। अपने ध्येय का पालन करते व्यवहार की दृष्टि उन्होंने कभी छोड़ी नहीं थी। सारी शिक्षा विद्यार्थी को उसकी स्वभाषा में ही मिलनी चाहिए और ऐसी शिक्षा आसानी से दी जा सकती है इस पक्ष के सफल समर्थक महर्षि कर्वे थे। महाराष्ट्री जनता प्रेम से कहती थी कि बोलनेवाले समाज-सुधारक और राष्ट्रसेवक बहुत होते हैं। जो करके दिखायेगा वही 'कर-वे' हैं। एसे महर्षि को श्रद्धांजलि अर्पण करना राष्ट्र के लिए ऋषितर्पण का प्रकार है।

●

अफवाहें : न सुनिये, न फैलाइये।

विकेन्द्रित शिक्षा पर कुछ विचार

●● गुरुशरण

प्रधान मंत्री पं० जवाहरलाल नेहरू प्रायः कहा करते हैं कि पंचायत, सहकारी समिति और स्कूल ये तीनों मजबूत हो जायं तो प्रजातंत्र और समाजवाद दोनों ही संभव हैं। सत्ता के लोकतांत्रिक विकेन्द्रीकरण से पंचायती राज की बुनियाद पड़ रही है और गांव-गांव में सहकारी समितियां भी नित-नूतन खुल रही हैं पर अभी शिक्षा की दिशा में विकेन्द्रीकरण की और अधिक नहीं सोचा गया है। कुछ इने-गिने व्यक्तियों ने इस दिशा में कुछ प्रयास किया है जो संकेत मात्र है, उसमें और भी बहुत कुछ जोड़ा जा सकता है। उसे संशोधित, परिवर्द्धित और परिमार्जित कर अधिक अच्छे ढंग से प्रस्तुत किया जा सकता है। पर इतना निश्चित है कि वर्तमान परिस्थिति में वह एक करने लायक काम है, नहीं तो यदि ऐसा ही किताबी शिक्षण चलता रहा तो देश की गाढ़ी कमाई का २५० करोड़ रुपया प्रति वर्ष नष्ट होगा ही, साथ-ही-साथ देश भी बर्बाद हो जायगा।

डा० एनीबेसेंट ने लिखा है कि ब्रिटिश ईस्ट इंडिया कंपनी के समय बंगाल में हर ४०० जन-संख्या पीछे एक स्कूल था। उस समय गांव-गांव में शिक्षा की योजना ग्राम-सभा की ओर से थी। उस समय गांव की जरूरत के भी धंधे गांव में थे। पर वे योजनापूर्वक खत्म किये गये। उड़ीसा के कलावान बनकरों के अंगूठे काटे गये, भारतीय मलमल पर ४०० प्रतिशत कर लगाकर भारत के कलात्मक व्यवसाय को बर्बाद किया गया। लार्ड मेकाले ने केन्द्रित कालेज शिक्षा का आरंभ करते हुए कहा था, "हमारा उद्देश्य है कि भारत के लोग रंग में तो भारतीय रहें किन्तु आचार-विचार, रहन-सहन, बोल-चाल, खान-पान और भाव-संस्कार आदि सब बातों में अंग्रेज बन जायं।" परिणाम उसके सोचने से भी कहीं बढ़कर हुआ।

स्वतंत्र भारत में अब स्थिति बदलना आवश्यक ही नहीं वरन् अनिवार्य है विशेषकर उस परिस्थिति में जब कि शासन ने अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा अभियान चलाकर गांव-गांव स्कूल खोलना तय किया है और ये प्राथमिक स्कूल पंचायत समितियों के सुपुर्द किये हैं। पंचायत समितियां वर्तमान युग प्रवाह को परिवर्तित तो नहीं कर सकतीं पर इतना अवश्य है कि वे छोटी लकड़ी के आगे बड़ी लकड़ी रखकर सामाजिक मूल्यों में नया मोड़ ला सकती है। समाज-शास्त्रियों की मान्यना है कि सामाजिक मूल्यों के बदलाव के साथ शिक्षण पद्धति भी बदलती है। नया सीखने का शौक पैदा हो जाय तो राह भी निकल आती है।

विकेन्द्रित शिक्षा की दिशा में सन् १९०० ई० में श्री अश्विनी कुमार दत्त ने पूर्व बंगाल में स्थित ब्रजमोहन विद्यालय में एक प्रयोग किया कि गांव में चल रही १० उद्योग प्रवृत्तियों को विद्यालय का विषय मानकर काम करते-करते, जहां लिखने-पढ़ने का प्रसंग आया, अक्षर-ज्ञान कराकर शिक्षा की योजना चलाई।

अखिल भारत सर्व-सेवा-संघ के भूतपूर्व अध्यक्ष श्री धीरेन्द्र मजूमदार ने पूरे गांव को विद्यालय मानकर ग्राम भारती के नाम से विकेन्द्रित शिक्षा के कुछ प्रयोग खादी ग्राम, बलिया और बरनपुर (उ० प्र०) आदि स्थानों पर किये जिसमें उन्होंनेपांच उद्देश्य निश्चित किये :

१. गांव में कोई भूखा नहीं रहेगा। २. गांवमें कोई झगड़ा नहीं होगा। ३. गांव में कोई बेकार नहीं रहेगा। ४. गांव में कोई बीमार नहीं रहेगा। ५. गांव में कोई अज्ञानी नहीं रहेगा।

उपरोक्त उद्देश्यों की पूर्ति के लिए उन्होंने पंचविध सहकार को शिक्षा-क्रम बनाया : १. खेती सहकार, २. न्याय सहकार, ३. उद्योग सहकार, ४. स्वास्थ्य सहकार, ५. ज्ञान सहकार। इस विद्यालय में गांव के बूढ़े से लेकर बच्चे तक सब छात्र माने गये। अच्छे किसान जिन्होंने उन्नत कृषि का उज्ज्वल उदाहरण प्रस्तुत किया है वे खेती सहकार के शिक्षक, जो थोड़ा पढ़े-लिखे रहे वे दूसरों को पढ़ना-लिखना सिखाने के शिक्षक माने गये। जब आपस में कोई झगड़ा-झंझट खड़ा हुआ तो उसमें परस्पर न्याय सहकार रहा। लोग अदालत या पुलिस की शरण नहीं गये।

अखिल भारत ग्रामीण उद्योगीकरण आयोग के अध्यक्ष श्री अ० वा० सहस्रबुद्धे ने ५ लाख की जन-संख्या पर क्षेत्रीय

दृष्टि से ग्राम-नियोजन और ग्राम व्यवस्था को शिक्षा-क्रम मानकर विकेन्द्रित शिक्षा की एक योजना प्रस्तुत की है जिसमें उस क्षेत्र की आवश्यकताओं और स्थानीय साधन स्रोतों को देखकर वहां की उत्पादन संभावनाओं के आधार पर छोटे-छोटे विकेन्द्रित उद्योगों के द्वारा जीविका का प्रबंध कर ज्ञान की योजना रखी है। अभी इसपर केवल वर्धा जिले में आंशिक रूप से प्रयोग हुआ है जिसमें लोग लाभान्वित भी हुए हैं। इन उद्योगों में विद्युत शक्ति के उपयोग का भी सोचा गया है और जहां गोबर गैसप्लांट से काम चल सके वहां उसका प्रावधान रखा गया है।

रिचर्ड हाउजर ने भी ग्राम नियोजन अथवा शहर में श्रमिक वर्ग के किसी क्षेत्र की समस्याओं को लेकर अध्ययन करने और उन्हें हल करने के लिए उन्हीं लोगों के अभिक्रम से सरकारी और गैर सरकारी साधन मोबिलाइज़ कर, विकेन्द्रित उद्योग प्रधान शिक्षा क्रम की कल्पना भारत का काफी पर्यटन करने के बाद इस देश के लोगों के समक्ष रखी है।

योरोप के कई देशों में मैट्रिक के स्तर के बाद उद्योग विशेष के अध्ययन के लिए विकेन्द्रित रूप से स्थान-स्थान पर विद्यालय हैं जैसे कोई खेती या किसी उद्योग में मैट्रिक के बाद चार वर्ष तक काम करता है तो, उसे काम का वेतन मिलते रहने के साथ-साथ, उसके काम की समीक्षा और मूल्यांकन से उसे चार या पांच वर्ष बाद, उन विषय विशेष के स्नातक का भी प्रमाण-पत्र मिल जाता है। शासन केवल इन विद्यालयों और उनके प्रमाण-पत्रों को मान्यता देता है। शिक्षा-क्रम पर उसका कोई किसी प्रकार का नियंत्रण नहीं है। हर विद्यालय अपन शिक्षा-क्रम निश्चित करने में स्वतंत्र है।

उपरोक्त प्रयोगों के विवेचन के पश्चात् यह निष्कर्ष निकलता है कि पंचायती राज के संदर्भ में पंचायत समितियां अथवा जिला परिषद विकेन्द्रित शिक्षा की आवश्यकता पर गंभीरतापूर्वक विचार कर कुछ कार्यक्रम निश्चित करें :—

१. वह कार्य-क्रम स्थानीय आवश्यकताओं के अनुकूल हो।
२. उसमें आज के कालेज शिक्षण की तरह कोई रेजीमन्टेशन (सैन्यीकरण) न हो। अर्थात् एक ही पुस्तक पढ़ाई जाना या एक ही तरह का उद्योग या ज्ञान देना न रहे।
३. दुनियां के इतिहास, भगोल, खगोल आदि को बताने के पहले गांव, जनपद और जिले का भौगोलिक, ऐतिहासिक ज्ञान, कृषि, सिंचाई, उद्योग धंधे, व्यवसाय, सहकारिता और पंचायत के काम की जानकारी दी जाय।
४. इस तरह के विद्यालय में दो वर्ग हो सकते हैं। १. गांव के भूमिहीन मजदूर जिन्हें काम चाहिए। उनकी खेती के स्थायी मज़दूरों के साझ साझीदारी हो और साथ ही साथ खेती, विभिन्न उद्योग, स्वास्थ्य, सफाई, सुरक्षा आदि में उनको टैक्नीकल जानकारी देकर एक टेक्नीकल स्क्वाड के रूप में तैयार किया जाय। काम लायक उनको लिखने पढ़ने का भी ज्ञान दिया जाय। २. गांव के १६ से २१ साल तक के युवक ६ घंटे की कमाई का काम और २ घंटे पढ़ाई का काम करें। यह ६ घंटे की कमाई श्रमशाला या मज़दूरों की सहकारी समिति के रूप में हो सकती है।

इस प्रकार कुछ शुरू होगा तो देश के अनेक स्थानों में विकास और शिक्षण कुछ कार्यकर्ताओं या सरकार की ही चिन्ता का विषय न रहकर स्वयं ग्राम समुदाय के चिंतन का विषय बन जायगा। तभी श्री जयप्रकाश नारायण का सपना भी साकार होगा कि काश देश के किसी एक विद्यालय के आगे तो यह तख्ती लगी हो कि यहां क्लर्की की नौकरी के लिए तालीम नहीं दी जाती। गांधीजी की आत्मा को भी शांति मिलेगी जो, यह कहते-कहते ही चले गये कि बुद्धि का सच्चा व्यवस्थित विकास तो शुरू ही गांव की दस्तकारियों द्वारा शिक्षा देने की प्रणाली से होगा और हमारे अन्दर जो मायूसी है फिर उसकी जगह उम्मीद होगी। कंगालियत की जगह रोटी का सामान तैयार होगा। बेकारी की जगह धंधा होगा, झगड़े की जगह एका होगा। और लिखना पढ़ना सीखने के पहले हुनर सिखाये जाएंगे और उसी की मार्फत अक्षर ज्ञान भी दिया जायगा।

यह सब तभी होगा जब तालीम के पतंग की डोर ग्राम समुदाय के हाथ में होगी, फिर वह चाहे विश्वविद्यालय तक भले उड़े। विकेन्द्रित शिक्षा से यही तात्पर्य है। अभी तो वह पतंग गांव की छत पर उड़ रही है और उसकी डोर हायर सैकेंडरी बोर्ड, यूनिवर्सिटी और गवर्नमेंट के हाथ में है।

जीवन का सही दृष्टिकोण

●● दादा धर्माधिकारी

मनुष्य हमेशा जों है, उससे असंतुष्ट रहता है। कोई आदमी बहुत दिनों तक अगर रेशमी कपड़ा पहनता रहे तो वह सोचता है कि अब कुछ दिन सूत का कपड़ा पहने तो अच्छा है। जो आदमी मैदान में रहता है, वह हवाखोरी एवं स्थान परिवर्तन करने के लिए पहाड़ पर चला जाता है और वहां जाकर कहता है कि यहां सृष्टि-देवी का सौंदर्य अनंत है! कितना रम्य स्थान है! लेकिन पहाड़ का आदमी कहता है कि मैदान कितना अच्छा है। मनुष्य में उसका एक ऐसा स्वभाव धर्म है कि वह परिवर्तन चाहता है। वह कभी प्राप्त परिस्थिति से संतुष्ट नहीं रहता। अगर प्रगति जैसी कोई चीज है तो उसका बीज इसी असंतोष में है। असंतोष ही मनुष्य की प्रगति का जनक है।

ऐसी कौन-सी अवस्था है, जिसमें असंतोष न हो? इसके जवाब में दो अवस्थाएं हैं: एक तो जड़ता और दूसरी परिपूर्णता। 'इदर ए गाड आर ए बीस्ट', 'स वै मुक्तोऽथवा पशुः' यानि असंतुष्ट नहीं रहनेवाला या तो मुक्त होगा या पशु होगा।

मनुष्य अपनी स्थिति से खिसकना नहीं चाहता। वह परिस्थितियों के साथ समझौता करता है और अपने साथ भी समझौता करता है। वह समझौते के कारण नुकसान में भी फायदा देखता है, हानि में भी हित देखता है और दुःख में भी सुख मानता है। इसे एडजेस्टमंट कहते हैं। एडजेस्टमंट मानसिक आलस्य का लक्षण है। जिस तरह से पटिया पर से लड़के खिसकते हैं और उछलते हैं, वैसे ही मनुष्य खिसक कर और उछल कर पार हो जाना चाहता है। वह समस्या को समझना नहीं चाहता! यह आत्म-तुष्टि कहिए या स्वयं-तुष्टि, मनुष्य को जड़ बना देती है।

जिंदगी में आकर हम फंस गये हैं, उसको किसी तरह से काट लेना है। इस तरह का संतोष भी अपने में ठीक नहीं है। स्वयं संतुष्ट वृत्ति से भी मनुष्य का विकास नहीं होता। लेकिन निरन्तर असंतोष भी एक ऐसी वस्तु है, जो मनुष्य को आनन्द से वंचित कर देती है। इसलिए नित्य व्यग्रता भी न हो और स्वयं संतुष्टि भी न हो, इस प्रकार का एक तटस्थ चित्त होना चाहिए। वैसे तटस्थ चित्त को हम अहिंसक चित्त कहते हैं। गांधीजी ने उसे अनासक्त चित्त कहा है और श्री कृष्णमूर्ति (विश्व के एक विख्यात दार्शनिक) इसे ह्यूमिलिटी (Humility) विनयशीलता कहते हैं। अनासक्ति और विनय को अहिंसा की परिभाषा में रखना चाहे तो हम तटस्थता कहेंगे।

तटस्थता वहां आती है, जहां व्यग्रता न हो। नित्य असंतोष से व्यग्रता आती है, इसलिए हमको समन्वय चाहिए। समन्वय का मतलब है—सबकी बात समझने की तैयारी। अपना चित्त ऐसा होना चाहिए जो सबकी बात समझने के लिए तैयार हो, किसीको दबाय नहीं। इसे हम उन्मुक्त, खुला चित्त कहते हैं। इसी में से समन्वय आता है। पर यह बहुत महत्व की चीज है। जो समझने के लिए तैयार नहीं हो, उसे समझाने का अधिकार नहीं है। आप अपनी बात समझाना चाहते हैं, इसका क्या मतलब है? दूसरे की बात समझने की तत्परता हो, तभी आप समझाने के अधिकारी हो सकते हैं। जिसे आप अहिंसक क्रांति कहते हैं, वह समझने और समझाने की क्रांति है। हम समझगे और समझाएंगे।

आज तो हो यह रहा है कि हम समझाने की कोशिश अधिक करते हैं और समझने की कम। इसलिए हमारे जीवन में अहिंसा नहीं आती। अहिंसक साधना के लिए इस बात की बहुत बड़ी आवश्यकता है कि हम पहले यह सोच लें कि दूसरा आदमी जो हो, वह हमारे ढांचे में न ढले। हर व्यक्ति अपने में अपवाद भी है और अपने में विभूति भी है। हमारे एक बहुत बड़े मित्र हैं। वे पहले असेम्बली में थे। उन्होंने एक बार मुझसे कहा कि तुम आजकल किस दुनिया में रहते हो? मैंने कहा—मैं उस दुनिया में रहता हूं जिसमें तुम रहते हो। उन्होंने कहा कि तब क्या तुम जानते हो कि अब हम मनुष्य को भी विज्ञान से बनाएंगे। पहले आंख की जगह आंख, नाक की जगह नाक, हृदय की जगह हृदय, ब्रेन की जगह ब्रेन तो होता ही था, पर अब तो हम पूरा

मनुष्य ही बनाएंगे। मैंने कहा कि अगर हमें दुबारा बनाना हो तो, कृपा करके आप न बनाइएगा। जिस भगवान् ने हमें बनाया, हमें तो उससे भी शिकायत है। उसने हमें शरीर दिया, पर भीमकाय शरीर क्यों नहीं दिया? मदन जैसा रूप क्यों नहीं दिया? गंधर्व की आवाज क्यों नहीं दी? सर्वशक्तिमान् होकर भी अगर उसने हमको इतना भद्दा बनाया तो क्या पता तुम हमें कैसा बनाओगे? जितनी तुम्हारी अकल होगी, उतना ही तो बनाओगे न? विज्ञानवादी स्थूलतर, स्थूल भूमिका से मनुष्य का और सृष्टि का निर्माण करना चाहते हैं। वैसे ही हम अध्यात्म से करना चाहगे तो अनर्थ हो जाएगा। दूसरों के चित्त को अपने कब्जे में करनेवाली जितनी युक्तियां हैं, उनमें न मर्दानगी है, न इंसानियत है, न पुरुषार्थ है और न मानवता है।

जहां दूसरों को समझाने की बात आती है, वहां सफलता का विचार मान में अधीरता पैदा कर देता है। फिर चित्त एकाग्र नहीं रहता। और जहां एकाग्रता नहीं है वहां नम्रता, विनयशीलता और अहिंसा भी नहीं हो सकती।

हम किसीको समझाने के लिए आग्रह न रखें, इसका मतलब इतना ही है कि आग्रह अपना होता है। आग्रह किसी तत्व का नहीं होता। विनोबा वेद से एक शब्द देते हैं: 'मम सत्यम्'। सत्य जब मेरा बन जाता है तब वह असत्य हो जाता है। जहां सत्य मेरा होता है, वहां समझाने का आग्रह होता है। आग्रह हमेशा अहंकार के साथ जुड़ा हुआ रहता है। इसलिए सफलता का आग्रह जितना कम होता है, उतनी ही अनासक्ति के कारण काम में उत्कटता आती है, हृदय काम के साथ एक रूप होता है। उसमें एकाग्रता आती है और व्यग्रता कम होती है। हम आग्रह नहीं चाहते इसका मतलब इतना ही है कि अपने विचार में जितना अहंकार है उसे कम करते चले जायं। जीवन की व्यग्रता को मिटाने के लिए यही सम्यक् दृष्टिकोण है।

●

(पृष्ठ ४५३ का शेष)

फिर भी अंग्रेजों के सार्वभौम शासन ने नागाओं की परंपराओं और सामाजिक नियमों पर हस्तक्षेप नहीं किया। शासन और सीमान्त की सुरक्षा को ध्यान में रख कर अलबत्ता उन्होंने वहां कुछ सुधार अवश्य किये। अंग्रेज़ों के आने से पहले नागा लोग आधुनिक सभ्यता की छाया में नहीं आ पाये थे, अंग्रेज़ शासक उनके पिछड़ेपनका फायदा उठाना चाहते थे और वहां काफी संख्या में ईसाई मिशनरियों को भेजा गया। धीरे-धीरे नागाओं का बड़ा भाग ईसाई मतावलम्बी बनता गया। फिर भी अंग्रेज़ इनके पिछड़ेपन को बिलकुल दूर करना नहीं चाहते थे। भारत सरकार के सन् १९३५ के १३वीं और १२वीं धारा के अनुसार नागा पहाड़ जिले को 'विशिष्ट जन-जातीय क्षेत्र' घोषित कर दिया गया। परन्तु इसके बाद वहां की जनता की हालत को सुधारने की दिशा में और कोई महत्वपूर्ण कदम नहीं उठाया गया था।

भारत के स्वतंत्र होने के बाद असम के जन-जातीय इलाकों में भी जागृति आई। नागाओं ने अपने को भारत से अलग राष्ट्र के रूप में स्वतंत्र होने की मांग की। भारत सरकार ने शांतिपूर्ण रूप से उन्हें अपने विकास का सुयोग प्रदान किया। स्वतंत्र भारत में प्रत्येक जाति को अपना आत्मविकास करने का अधिकार है; और इसी तत्व पर नागाराज्य को अलग प्रदेश के रूप में मान लिया गया है।

अभी नागा-प्रदेश की जनता बहुत ही पिछड़ी दशा में है। जीवन के हर क्षेत्र में उनके लिए उचित विकास अपेक्षित है। स्वतंत्र भारत में दूसरे प्रान्तों के समान ही नागा राज्य एकता बद्ध होकर पारस्परिक झगड़ों से ऊपर उठता जा रहा है और उसका सर्वतोमुखी विकास भी हो रहा है। नागा राज्य भारत की पूर्वी सीमा का सशक्त और सदा जागृत प्रहरी बनेगा इसमें संदेह नहीं।

●

दो पत्र : दो यात्राएं

स्वामी सुन्दरानंद

उत्तराखंड के चार धामों में गंगोत्री का बड़ा महत्व है। प्रतिवर्ष सहस्रों नर-नारी वहां की तीर्थ-यात्रा करते हैं। गंगोत्री में भागीरथी की महिमा तो है ही, लेकिन वहांपर एक और नदी है केदार-गंगा, जो केदार-शिखर से निकल कर गंगोत्री में भागीरथी में अपने को विसर्जित कर देती है। उनका संगम अत्यंत दर्शनीय है।

गंगोत्री में स्थायी निवास करने वाले स्वामी सुन्दरानंदजी वहां के दुर्गम स्थानों की यात्रा स्वयं तो करते रहते ही हैं, अन्य व्यक्तियों को भी कराते रहते हैं। हम लोगों की टोली को भी गोमुख की यात्रा करा लाये हैं। नीचे हम उनके हाल ही के अपने तथा विष्णु प्रभाकरजी के नाम लिखे दो पत्र दे रहे हैं, जिसमें उन्होंने केदार-गंगा के उद्गम तथा उससे और ऊपर एक सरोवर की ओर गोमुख के ऊपर के प्रदेश की रोमांचकारी यात्राओं का हाल दिया है। हमें विश्वास है कि इन यात्रा-विवरणों से पाठकों को आनंद मिलेगा और यात्रा करने की उनमें उत्सुकता भी उत्पन्न होगी।

—सम्पादक

(१)

मैं कुछ दिन पूर्व पांच महात्माओं को संग लेकर केदार-गंगा के ऊपर विचरण करने और ईश्वर की अनिर्वचनीय सृष्टि का दर्शन करने गया था। बड़ा ही बीहड़ और मन को विकसित करनेवाला दुर्गम मार्ग था। गंगोत्री से एकदम दस मील की सीधी चढ़ाई थी। मार्ग तो था ही नहीं। दो महात्मा तो बीच मार्ग से ही वापस लौट गये। आखिर एक लघु उपत्यका में तम्बू तान कर रात्रि व्यतीत की। आकाश मेघाच्छादित था। रिमझिम-रिमझिम नन्हीं-नन्हीं बूंदों की वृष्टि हो ही थी। सर्दी की तो कल्पना ही नहीं की जा सकती।

हम गंगोत्री से कोई सात ही मील आये होंगे। वहां की ऊंचाई सोलह हजार फुट होगी। चार मील और चलकर गंतव्य स्थान पहुंचना था। थके हुए होने के कारण और शीत अत्यधिक होने पर भी सब के एकत्र शयन करने से रात्रि सुख से कटी। सुबह नित्य-कर्म से निवृत्त हो, चाय-नाश्ता करके आगे कूच किया। केदार-गंगा के उद्गम को लांघ कर केदार ग्लेशियर पर ऊंची-नीची पथरीली जगह पर चलते रहे। वामकों में चलने के अभ्यस्त न होने से साथी फिसल कर गिर भी पड़ते थे। ऊंचाई के कारण और प्राण-वायु न्यूनतम होने से सिर-दर्द, उल्टी, मूर्च्छा और क्रोध भी करते थे। आखिर चलते-चलते एक अनुपम लावण्य से सम्पन्न दिव्य सरोवर के सन्निकट पहुंच गये। यही हमारा लक्ष्य था। कर्म-फल को सम्मुख देखकर कौन प्रफुल्लित नहीं हो उठता। सभी मार्ग के कष्टों को भूलकर एकटक उसे देखते रहे। पू० ब्रह्मलीन स्वामी तपोवनजी कहा करते थे कि केदार-गंगा के ऊपर एक दिव्य सरोवर है, लेकिन गंगोत्री-वासी किसीने भी अबतक उसे नहीं देखा था। मार्ग-दर्शन न होने पर भी आज हम खोजते-खोजते, भटकते-भटकते, पू० स्वामीजी कथित सरोवर के निकट पहुंच ही गये। यह सरोवर केदार नामक सुमेरु शिखर और रुद्र हिमालय के कुक्षि भाग में बसा हुआ है। इसका सौंदर्य देखते ही बनता है।

ईश्वर ने कैसी सृष्टि की है! इस सरोवर की अंडाकार जैसी गोलाई थी। उसका घेरा तीन मील का होगा। नील गगन के सदृश नीली अगाध जल-राशि थी। सरोवर के दोनों पटों (दक्षिण और उत्तर) के निकट स्वर्ण के समान जल था। किनारे पर जल कम और निर्मल होने के कारण नीचे मिट्टी-पत्थर दीखते थे, जो स्वर्ण जैसे थे। उसीसे पानी स्वर्ण के समान दीखता था। 'केदार-खंड' के अंतर्गत 'गंगासहस्रनाम' में इस ताल का 'वासुकि सरोवर' के नाम से उल्लेख हुआ है—"वासुकी प्रमुखन्नागां तपस्तप्तुं समास्थितान" नागों में प्रमुख वासुकी नाग ने समवस्थित हो तप किया था। उसमें जिस सुमेरु शिखर का उल्लेख आया है, वह सुमेरु शिखर पास ही विद्यमान है। सुमेरु शिखर भी अपनी दिव्य कला से दर्शकों को मुग्ध कर रहा था। वह शिखर भी स्वर्ण जैसा प्रतीत होता था, पर वास्तव में वह स्वर्ण नहीं था। मिट्टी और गले हुए पत्थर उठाकर हाथ में रगड़ते तो स्वर्ण कण जैसे चमकते थे।

दर्शन, स्नान, पूजन, स्तुति कर वापस लौटकर डेरे पर आये। वहां से रुद्र हिमालय की सीधी चढ़ाई को पार कर रुद्रगैरु वामक में आ निकले। रुद्रगैरु ग्लेशियर में से ग्यारह नदी फूटी हैं और कुछ दूर जाकर एक हो जाती हैं ग्यारह नदियों के एक होकर प्रवाहित होने से ऋषियों ने रुद्रगंगा करके नामकरण किया। यहां एक पर्वत-राज वैलक्ष्यणों से विराजमान है। उस पर्वत का नाम गणेश पर्वत है, वह हूबहू गणेश जैसा दीखता है। लम्बोदर, सूंड, विस्तृत कर्ण इत्यादि। यहां की उपत्यका बड़ा महत्व रखती है। हरी-भरी दूब होने से वह मेड़-पालकों का घास चराने का केन्द्र बना हुआ है। इस तरह नयनाभिराम दृश्य देखकर पटांगना में आ निकले। उस हिम प्रदेश में छः दिन व्यतीत किये। (यशपाल जैन के नाम)

(२)

आपका पत्र यथासमय प्राप्त हो गया था, लेकिन तब मैं यहां न होकर देव प्रदेश, गोमुख के ऊपर तपोवन, नन्दन-वन आदि में ग्लेशियरों में विचरण कर रहा था। ता० ६–९–६२ को सानंद गंगोत्री लौट आया। तब आपका पत्र मिला। समाचार जाना। आपने उस महान रूस प्रदेश में जी भरकर भ्रमण किया, यहां मैं रजत मंडित घनघोर हिम-प्रदेश में घूम लिया। आप-बीती कहानी क्या लिखूं। इस बार एकाकी ही प्रकृति की गोद में रहकर, अव्यक्त प्रकृति से व्यक्त आनंद का अनुभव करने, पन्द्रह दिन के लिए खाद्य-सामग्री और वस्त्र पीठ पर लाद कर गोमुख के ऊपरी भाग की ओर चल पड़ा। शीत की पराकाष्ठा थी, पर नयनाभिराम दृश्यों का लोभी मन कष्टों की परवाह न कर मुसीबत झेलते-झेलते आगे-आगे दौड़ता था। विचारा मुर्दा शरीर क्या करे, लुड़कता-लुड़कता, 'जहां मन वहीं शरीर' की कहावत चरितार्थ कर रहा था। इन मनमोहक हिम खंडों का दर्शन कर मन पुलकित हो उठता, रोमांच हो जाता, न मालूम कौन-सी शक्ति से न चाहने पर भी अश्रु-धारा बहने लगती, कभी ईश्वर के गुणगान में मस्त हो नाचने लगता, कभी रुदन करने लगता। मैं अपने आपको बहुत सम्हालता था, पर सम्हलता नहीं था। कभी पाषाण की कंदराओं की शरण में जाकर रात्रि व्यतीत करता, कभी नीलाम्बर की छत्रछाया में जमीन पर शयन करता, पड़े-पड़े नीलगगन में झिलमिल-झिलमिल करते हुए असंख्य तारागणों की ओर एकटक देखने लगता। चंद्रोदय होते ही ज्योत्स्ना अपने दिव्य शीतल तेज पुंज से चहुं ओर हिम शिखरों को चकाचौंध कर देती। कभी रिमझिम-रिमझिम नन्हीं-नन्हीं बूंदों के और श्वेत बादलों के बीच बसेरा लेता। कभी अजपाल गादी-वालों के डेरे पर विश्राम करता, इस तरह रात्रि कटती। दिन में भयानक बीहड़ वामकों अथवा ग्लेशियरों में और लघु उपत्यकाओं में विचरण करते हुए प्रकृति की अनिर्वचनीय सृजन-लीला का अनुभव करता। कभी मार्ग से च्युत हो दिनभर भूखा प्यासा भटकता रहता। ईश्वर ही एकमात्र सहारा था। स्वप्न में जो मार्ग देखता, उसीका अनुसरण कर वापस डेरे पर पहुंचता। दो रात्रि बिना वस्त्र उस महान् हिम प्रदेश में पत्थरों के सहारे व्यतीत की। गंगोत्री ग्लेशियर में कई सुन्दर गगनवत् नील-सरोवरों के भी दर्शन किये। आस-पास के शिखरों के प्रतिबिम्ब सरोवर में दिखाई देते थे। तपोवन, नन्दन वन, सुन्दर वन, आदि के प्रांगण में अकेले ही पंद्रह दिनतक विचरण किया। बड़ा ही आनंद रहा। वापस जाने को जी नहीं करता था, पर क्या करें, अवशेष प्रारब्ध भोगने स्वर्ग से मृत्युलोक आना ही पड़ा। वापस आते समय गोमुख गये और भक्ति-पूर्वक स्नान, पूजन, स्तुति की। स्नानादि के समय आप लोगों का स्मरण हो आया। मातेश्वरी से आपलोगों की शुभ कल्याण कामना याचना की। यहां कुछ दिन ठहर कर हरिद्वार आऊंगा। प्रभु कृपा से मेरा स्वास्थ्य ठीक है। आशा है, आप पूर्ण-रूपेण स्वस्थ ही होंगे। **(श्री विष्णुप्रभाकर के नाम)**

"संकट में हम एक संकट से दूसरे संकट में गुजरने से जीते हैं। हम अब भी एक संकट से गुजर रहे हैं। इन संकटों की तबतक समाप्ति नहीं होगी, जबतक संसार व्यावहारिक ढंग से यह नहीं समझेगा कि हरेक राष्ट्र को बिना किसी दूसरे के हस्तक्षेप के अपनी इच्छा के अनुसार जीने का अधिकार है। शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व का यही अर्थ है।"

—डा० राजेन्द्रप्रसाद

स्वाध्याय में प्रमाद मत करो

●● दुर्गाशंकर त्रिवेदी

"मैं नरक में भी उत्तम पुस्तकों का स्वागत करूंगा। क्योंकि ये जहां भी होंगी, वहां आप ही स्वर्ग बन जायगा।"—तिलक

महर्षि तिलक का यह चिरंतन सत्य संदेश हमारा ध्यान सद्ग्रंथों की महत्ता की ओर बरबस मोड़ देता है। ज्ञानार्जन के प्रशस्त पथ पर बढ़ने के लिए उनका यह अमृत संदेश हमें मार्गदीप की तरह ही पथ बताता है। हमारा समस्त ज्ञान पुस्तकों में संचित है। जबसे लेखन-कला का आविष्कार हुआ है, मनुष्य ने ज्ञान को लिपिबद्ध करके संचित कर दिया है। इस प्रकार जब हम किसी ग्रंथ का अध्ययन करते हों, तो दूसरे अर्थों में एक विकसित मस्तिष्क के जीवन संबंधी महान ज्ञान के अनुभवों को ग्रहण करते हैं।

हम अपने जीवन में ज्ञानार्जन दो प्रकार से कर सकते हैं: (१) स्वानुभव द्वारा, (२) स्वाध्याय द्वारा।

स्वानुभव द्वारा ज्ञान प्राप्ति का मार्ग बड़ा लम्बा और कांटों भरा है। हम सांसारिक कार्य करते हैं, पग-पग पर गलती करते हैं, परिणामस्वरूप दण्ड पाते हैं। सांसारिक क्रम में हमें मिथ्याचार, झूठ, कपट, स्वार्थ, धोखादेही आदि का अनुभव होता है। यहां उसके पथभ्रष्ट होने का, फिसल कर गिर पड़ने का डर बना रहता है। यहां वह कुछ खोकर पाता है। ठगाकर ठाकुर बनता है। इस प्रकार जीवन के खट्टे-मीठे चरपरे अनुभवों की शाला में उसका शिक्षण आजीवन चलता रहता है।

स्वाध्याय का मार्ग सीखने का दूसरा और सरल मार्ग है। है तो केवल इस मार्ग पर दृढ़तापूर्वक चलते रहने की आवश्यकता। स्वाध्याय से तात्पर्य है, श्रेष्ठ ग्रन्थों का अध्ययन, मनन, चिन्तन, सत्-पुरुषों का सहवास, अपनी आन्तरिक त्रुटियों का शोधन, प्रकृति, मनुष्य, रीति-रिवाजों का स्वाध्याय। इन सबके माध्यम से मनुष्य अपना ज्ञानार्जन पर्याप्त मात्रा में कर सकता है। यह मार्ग सरल है।

सत्साहित्य का अध्ययन मनुष्य के लिए उतना ही आवश्यक है जितना कि एक मनुष्य को स्वस्थ रहने के लिए संतुलित आहार। तभी तो प्राचीनतम शिक्षा-शास्त्री श्रीकृष्ण ने भगवद् गीता में उसे वाणी का तप घोषित किया है, और उसकी महती महत्ता से लाभान्वित होते रहने का गुप्त निर्देश दिया है:—

"स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते।"

—गीता १७।१५

(स्वाध्याय करना वाणी का तप है।)

हर मानव को अपने धर्म का पालन करना होता है। धर्माचरण में एक विशिष्ट बंधन में या विशेष परिस्थिति में अपने आपको ढालना पड़ता है। इसलिए हमें स्वाध्याय इस क्षेत्र में काफी सहायता दे सकता है। तभी तो धर्म के त्रिस्कन्धों में 'स्वाध्याय' का भी महत्वपूर्ण स्थान है।

"त्रयो धर्मस्कन्धा यज्ञोऽध्ययनं दानमिति।"

—छान्दोग्य २।२३।१

(धर्म के तीन स्कंध हैं: यज्ञ, स्वाध्याय और दान।)

विश्व के सभी मनीषियों ने एक स्वर से स्वाध्याय की महत्ता को स्वीकारा है, क्योंकि वह मानसिक उन्नति का सरलतम और सर्वोत्कृष्ट साधन है। जब हम किसी सद्-ग्रन्थ का अध्ययन, मनन, चिन्तन या किन्हीं विद्वानों के विचारों को मन में ग्रहण करते हैं, तब हमारे मानसिक ज्ञान की वृद्धि होती है। यह ज्ञान पिपासा शनैःशनैः बढ़ती जानी चाहिए। इस प्रकार ज्ञान प्राप्ति की आंतरिक आकांक्षा को बढ़ाते जाकर, उसे पुष्पित-फलित करके ही मनुष्य अपने ही श्रम से विद्वान् बनता है। कई अर्वाचीन विद्वान् इसके प्रत्यक्ष प्रमाण हैं।

स्वाध्याय शब्द का एक अभिप्राय स्वयं का अध्ययन करते रहने से है। इसीका दूसरा अर्थ यह है कि अपने आप, बिना किसी दूसरे की सहायता के अध्ययन करते रहना। स्वाध्याय के कई तत्व हैं, जिनका अपना-अपना महत्व है। इन तत्वों का स्वरूप यह है। (१) विचार-पुस्तकों को पढ़ते जाना, भाषणों को सुनना, उनसे प्राप्त विचारों को अपने अन्तर्मन में धारण करना, खुद उन विचारों को समझने का विचार करना। इन विचारों को मन में धारण करके तदनुकूल अपना जीवन बनाना ही स्वाध्याय का "सत्यं

शिवं सुन्दरम्" स्वरूप है, जो हरएक के लिए ग्राह्य है।

स्वाध्याय का दूसरा तत्व चिन्तन है। पढ़ते रहने से कुछ भी समस्या हल नहीं हो सकती है, जबतक की हम पढ़ी हुई सामग्री पर चिन्तन न करें। चिन्तन के समय हमें प्राप्त विचारों को किसी एक पंहलू विशेष द्वारा उनका मूल्य आंकना उचित नहीं है। यह भी विचार करना अत्यंत ही आवश्यक है कि हम उन विचारों से कहांतक सहमत हैं, असहमत हैं, और क्यों ? इन बातों का पूर्ण रूपेण विश्लेषण अपने मनमें करते रहना आवश्यक है।

स्वाध्याय का तीसरा तत्व है, 'मनन' ! प्राप्त ज्ञान को पचाने का प्रयत्न करना, उसमें अपनी धारणाएं आरोपित करके पचाना। मनन, स्वाध्यायी के लिए सबसे आवश्यक तत्व है। श्री शंभूसिंह 'कौशिक' के मतानुसार जीवन का प्रत्येक क्षण कुछ-न-कुछ सीखते रहने के लिए होता है, अतः जीवन ही स्वाध्याय है।

डा० रामचरण 'महेन्द्र' ने स्वाध्याय का अर्थ स्पष्ट करते हुए एक बढ़िया बात कही है : "लेखक के मूल तात्पर्य को समझने की कला, अर्थात् प्रत्येक विचार को पचाने की शक्ति ही सच्चा स्वाध्याय है।"

हमारे एक मित्र कहा करते हैं : "त्रिवेदी ! तुम स्वाध्याय की महत्ता पर बात बात में लघु भाषण दे डालने के आदी हो। पर यह तो बहुत बड़ी कठिनाई है। क्या बताऊं, नई-नई पुस्तकें, नये-नये विषय, समझ में नहीं आते हैं। शब्दों की कठिनता, भाषा, भाव, सौंदर्य आदि के अनेक ऐसे स्थल हैं, जो सहज ही समझ में नहीं आ पाते हैं, ऐसे समय में क्या किया जाय। भाई, मैं तो इसे समय का अपव्यय ही मान बैठा हूं, एक इसी कारण से।"

ऐसे शंकाशील मनुष्यों के लिए एक ही मार्ग है, दृढ़ निश्चय। तीव्र ज्ञान-पिपासा हम जबतक अपने मन में जागृत नहीं कर लेंगे, तबतक हम अपने गंतव्य पथ की ओर नहीं बढ़ सकेंगे। हम बिना कारण ही परिस्थितियों का रोना रोया करते हैं। सच तो यह है कि हम केवल प्रमादवश पढ़ना ही नहीं चाहते हैं।

आज तो स्वाध्याय के लिए पर्याप्त मात्रा में मार्ग खुले हैं। प्रत्येक विषय पर आपको कई पत्र-पत्रिकाएं मिल सकती हैं। श्रेष्ठ ग्रंथों के सार संक्षेप, अल्पमोली संस्करण, श्रेष्ठ ग्रंथ आदि आज सस्ते मल्य में सुलभ हैं। हर छोटी बड़ी जगह में, स्कूलों, कालेजों में, पुस्तकालय, वाचनालय की व्यवस्था है। कई विद्या व्यसनी सज्जनों से भी आप पढ़ने की पुस्तकें ले सकते हैं। आज, आवश्यकता है, केवल दिल लगाकर दृढ़ निश्चयपूर्वक पढ़ने की और स्वाध्याय करते रहने के दृढ़ निश्चय की, और उसपर जमकर चलने की।

दूसरी बात यह है कि हम एक सपाटे से पढ़ जाते हैं। अतः यह गलत है। किसी विचार को दृढ़ता प्रदान करने के लिए यह अत्यन्त आवश्यक है कि हम ध्यान पूर्वक धीरे-धीरे उसे पढ़ें। पढ़नेवाले सज्जनों को सुप्रसिद्ध वयोवृद्ध विद्वान् श्री संतराम जी, बी० ए० की यह बात हृदयंगम कर लेनी चाहिए।

"मानसिक जीवन में सफलता प्राप्त करने तथा स्मृति को पुष्ट करने के लिए नोट्स लेने की आदत डालिये। व्याख्यानों, नाटकों, भाषणों, पुस्तकों, वार्तालापों की अच्छी अच्छी बातें, नवीनतम शैलियां, उत्तेजक विचार, आदि को यदि हम भली-भांति नोट नहीं कर लेते हैं, तो ये हमारे मस्तिष्क से तुरंत निकल जाते हैं। यदि हमारा मनोयोग इतना अनिश्चित है कि केवल क्षणस्थायी संस्कार ही बनता है, तो वह अध्ययन निष्फल हो जाता है। विचार बहुत ही शीघ्र नष्ट हो जानेवाली वस्तु है। हमारी स्मृतियां बड़े-बड़े छेदोंवाली चलनी की भांति टपकती हैं।"

इसी प्रकार नोट्स लेने के साथ-ही-साथ मनन करते रहना भी अत्यंत ही आवश्यक है। पढ़ी हुई, सुनी हुई या देखी हुई बात पर पुनः-पुनः विचार करना, स्मरण और चिंतन करना, जिससे कि वह मन में बैठ जाय, जम जाय, वह हमारे दिमाग में स्थायित्व प्राप्त कर ले। इसलिए यह आवश्यक है कि पढ़ी हुई बात पर जितना चिंतन किया जाएगा, उतनी ही बात हमारी स्मृति में अच्छी तरह से बस जायगी, स्थायी बन जायगी।

एक सज्जन से भेंट हुई, वे काफी पुस्तक खरीदने के आदी हैं। पर वह उन्हें आलमारी में ही सजाये रहते हैं। उनमें पुस्तक संग्रह की प्रवृत्ति है, वह गर्व करते हैं कि उनके यहां श्रेष्ठ पुस्तकालय है। परंतु गर्व करने की बात तो यह है, कि हम खूब पढ़ें, खूब स्वाध्याय करें, मनुष्य समाज और

(शेष पृष्ठ ४६६ पर)

'बांह की चोरी'

रामनारायणसिंह चौहान

अर्ध-रात्रि के बारह बजे हैं। फाल्गुन के कृष्ण पक्ष की द्वितीया का लगभग पूर्ण-सा चांद संत-हृदय के समान निर्मल आकाश के वक्ष पर यश के सूर्य की भांति दमक रहा है। अखंड धरा पर—उसकी संपूर्ण अवर्णनीय सृष्टि की छोटी-बड़ी रेखाओं पर चंद्रिका का स्निग्ध हास नव-विवाहिता की आकर्षक लज्जा की भांति बिखरा है। अदेखे-अनजाने कीटाणुओं का मन्द स्वर अनंत शांति के महासागर में लघु-लहरियों की भांति उतर रहा है। बीच-बीच में द्वार पर बंधे जानवरों के सांस लेने तथा खांसने की ध्वनि सुनायी पड़ रही है। मुझे जागने का रोग है। मेरी नींद प्रायः बीमार रहती है। मैं जग रहा हूं। अभी-अभी मैं अपने बिस्तरे को छोड़कर बाहर हो आया हूं—लघु-शंकार्थ बाहर गया था। अब केवल दिशा-दिशा से कुत्तों के भोंकने और लोगों की बातें करने की आवाज़ आ रही है। लोग इधर-उधर आ-जा रहे हैं, जैसे—सुबह हो गयी है और नींद जगने से पूर्व करवटें ले रही है तथा सुधी-जन शौचक्रिया के लिए बाहर निकल पड़े हैं।

मेरे घर के उत्तर सारा-का-सारा माटी का गांव है। धरती का गांव, भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति का गांव अथवा किसानों का गांव अर्थात् साक्षात् जीवन का गांव—सारा दिन अपने माटी के खेतों में परिश्रम से थककर गहरी नींद में सो रहा है। गांव की नींद में कोई आकर्षक सपना नहीं है। उसका अपना लक्ष्य-पथ पूर्व निश्चित-सा है। उसके पांवों में पथ का अनंत अभ्यास बंधा है। सांझ तक की प्रगति के आगे की राह सुबह की भांति स्पष्ट है। प्रभात होने से पहले वह नई सुबह के साथ नई शक्ति और नया उत्साह लेकर खेतों की ओर चल पड़ेगा। यही खेत गांव के कल-कारखानें हैं। वहीं वह परिश्रम करता है। गांव के पास जीवित यंत्र हैं—बैल और हाथ। उसका अपना ही मस्तिष्क उसके कारखाने का निर्देशक है। उसके खेत ही उसके मालिक हैं। वे ही उसको पारिश्रमिक देते हैं। वह अपने यंत्रों को ठीक रखना खूब जानता है। वह सही अर्थों में अपने यंत्रों का विशेषज्ञ है। वह काम समाप्त होनेपर उन्हें सुरक्षित स्थान पर लाकर भरण-पोषण के लिए आवश्यक जल एवं भोजन का प्रबन्ध किये बिना स्वयं भोजन नहीं करता। गांव अपने जीवित यंत्रों पर शीत एवं ग्रीष्म के अनपेक्षित प्रभाव के बचाव का ध्यान भी खूब रखता है। इस समय गुलाबी सर्दी पड़ रही है। अतः बैलों को वह सुरक्षित छायादार अथवा बंद जगह में रखता है और परिश्रमी बांहों के साथ स्वयं लेटकर रजाई ओढ़ लेता है। दोनों को तब कहीं गहरी नींद आती है।

गांव स्वतंत्रता, आत्मनिर्भरता एवं पारस्परिक सहयोग-सद्भावना का प्रतीक होता है। वह स्थान के दृष्टिकोण से नहीं, सदय आचार-विचार तथा धर्म-कर्म के कारण ही व्यापक एवं महान् है। यहां एक ही स्थान पर दस घरों का निर्वाह होता है। एक स्थान पर दस व्यक्तियों की वस्तुएं गले-से-गला मिलाकर सहेलियों की भांति पड़ी रहती हैं। एक ही छांह में दस घरों के जानवर एक साथ अभिन्न मित्रों की भांति रहते हैं। लेकिन कोई कभी किसी की वस्तु पर कुदृष्टि नहीं डालता। सांझ की धरी वस्तुएं कितने ही प्रभातों तक जहां की तहां धरी रहती हैं। उनमें परस्पर कभी कोई कलह नहीं सुना गया। सारे गांव में श्रम की सहस्र बांहें हैं। प्रत्येक व्यक्ति दो-दो बांहें लेकर प्रत्येक सांझ को अपने घर में सोता है। सारी रात मनुष्य उन दो बांहों पर पहरा नहीं देता। किन्तु कभी उनमें कोई वैमनस्यता नहीं सुनी गयी और न आजतक किसी एक की बांह किसी दूसरे आदमी ने चुरायी है। गांव के इतिहास में अथवा कहें परिश्रम के इतिहास में आज पहली बार बांह के चुरा जाने का संवाद मृत्यु की दुखद सूचना की भांति माटी के जीवन-पृष्ठों पर अर्ध-रात्रि की रजत-रश्मियों द्वारा लिखा जा रहा है। इसका लेखक कौन है? इतना क्रूर इतिहासकार आज पहली बार गांव में आया है। अब वह आकर जा चुका है। उसे जो-कुछ लिखना था—लिख चुका। अनजाने-अटपट अक्षर अब भी आंखों के सामने हैं। उनसे केवल भय का बोध होता है। दिशाएं भयभीत हैं। मैं अपनी चौपाल के अपने बिस्तरे पर आ बैठा हूं।

माटी के खेत गांव के जीवन-शासन की राजधानी हैं। कृषक इस माटी की राजधानी के संसद-सदस्य हैं। बांहें उपमंत्री हैं और बैल मंत्री। संसद-सदस्य खुले आकाश के तले मेड़ की कुर्सियों पर बैठकर जीवनोपयोगी नये-नये संविधानों की रचना करते हैं और उपमंत्री उन्हें कार्यरूप में परिणत करने में शीघ्र ही लग जाते हैं। किसी और राजधानी में इतना विशाल संसद-भवन नहीं देखा गया। किसी और संविधान में इतनी अधिक तीव्रगति से साकार होनेवाली कार्य-प्रणाली नहीं देखी गई और न किसी अन्य शासन में इतने कुशल तथा ईमानदार लोग सुने गये हैं।

विगत संध्या का चित्र है——मैं खेतों की ओर अपनी बैलगाड़ी पर जा रहा हूं। मार्ग के दोनों ओर खेत ही खेत हैं। कहीं छाती तक ऊंची गेहूं की बालोंदार उपज की दूर तक चली गई पांत। कहीं अरहर की हरी पांत पर लरज रहे हल्दी के कुसुमों के सुन्दर आकर्षक आभूषण। कहीं चना की बौनी उपज से भरे हरे-हरे खेत और कहीं फल गयी मटर के खेतों पर उतर रहा पंक्षियों का झुण्ड। कहीं गन्ना के ऊंचे-ऊंचे खेत और कहीं घनी-घनी अमराइयों के पल्लवों पर विकस रही मंजरिया। सब-कुछ जाना-पहचाना है। और तब मेरा ध्यान राह के साथ खेत में हल चला रहे महादेव पर केन्द्रित हो गया। वही एक लाल और एक सफेद बैल। वही झूम-झूम कर उतावले पांवों से जल्दी-जल्दी चलने का ढंग। गीली-नर्म मिट्टी हल की नोंक पर चढ़ चढ़कर करवटें ले रही है। इन्हीं करवटों पर बरसात होने के बाद ज्वार की लम्बी उपज जीवन की तरह लहलहा उठेगी। मुझे भी लगा——इस समय खेतों की जोतना एक प्रकार से उनमें खाद डालना है। लेकिन मैं बैलगाड़ी रोक कर वहां खड़ा सोचता ही नहीं रह गया। अभी पूरा सोच भी न पाया था कि मेरे बैल अपने खेतों के पास खड़े हो गये। मैं उतरा। बैलों को खोल कर चरी की ओर ले गया। पानी बरस जाने के कारण नयी घास पनप आयी है। सोचा तबतक थोड़ा-बहुत चर लेंगे!

लेकिन मन काम में नहीं लगा। मैं मेंड़ के रास्ते से चलकर अपने गेहूं के खेत की मेंड़ पर खड़ा हूं। मेरे खेत से लगा दूसरा खेत महादेव का है। उनके खेत में भी गेहूं हैं। लेकिन मेरे खेत से एक हाथ ऊंचे और उन पर लम्बी-लम्बी खनखजूर जैसी बालियां सचेत खड़ी हैं। मन पुनः लौट आया वहीं महादेव के पास और उसी लाल बैल को ध्यान से देखता रहा——कितना खरा पानी है इसका। ऐसा सपूत कि जहां पांव धर देता है, वहां की बांझ धरती भी सोना उगल देती है। उभरा हुआ सीना और बड़ी-बड़ी आंखें। और तब याद आई——महादेव की। अपने काम में व्यस्त। अपनी धुन में मस्त। लगन के पक्के। ईमान के सच्चे। गीता और रामायण के नियमित पाठक। दया और धर्म के स्रोत। अपने-बैलों को पूत की तरह खिलाते। अपनी बांहों को इस्पात की तरह गलाते। अपनी धरती की मां की तरह सेवा करते। खेत की माटी का मोह ऐसा कि सारा दिन उसीके साथ रहते। सारी रात उसीका सपना देखते। तब कहीं उनके खेत सोना उगलते हैं——बैल मन की तरह चलते हैं——धरती मां की तरह पसीजती है।

मैं अनमना होकर घर की ओर चल पड़ा। मार्ग में ही महादेव का घर पड़ता है। देखता हूं——सामने ही खुले तथा साफ स्थान में बैल बंधे हैं। अभी अंधेरा नहीं हुआ। मैं ठीक-ठीक देख रहा हूं कि बैलों के सामने हरी दूब का ढेर पड़ा है और महादेव उस ढेर को हिला-हिलाकर उससे लकड़ी तथा ढेले बीन-बीनकर बाहर फेंक रहे हैं। बैल बड़ी तन्मयता से घास खा रहे हैं। महादेव के चेहरे पर एक विचित्र संतोष स्पष्ट है। राह के दूसरी ओर महादेव का खंडहर है। खंडहर में प्रवेश-द्वार के साथ एक दालान है। दालान की छत मजबूत है। उसमें दरवाज़े भी लगे हैं। दालान के पीछे खाली खंडहर है और चारों तरफ तीन-चार फीट ऊंची दीवाल है। इसी खंडहर की दीवार में रात्रि के समय महादेव के बैल रहते हैं। मेरा ध्यान महादेव के चौतरे पर गया——वहां, हरेरी का मिला हुआ सुन्दर चारा ढेर होकर लगा था। यह रात्रि के लिए है——ऐसा लगा। कितनी सुन्दर खिलायी होती है इन बैलों की। कितना अगाध प्यार मिलता है इन्हें अपने परिश्रम के प्रतिकार में। बहुत कम ऐसे लोग हैं जो अपने बैलों की इतनी देख-रेख रखते हैं——इतनी सेवा करते हैं।

और रात्रि के असीम सन्नाटे में जो इतिहासकार आया वह महादेव के खंडहर में पीछे की ओर से दीवार लांघ कर

अन्दर चला गया। वह अकेला नहीं था। उसके साथ उसका सहयोगी लिपिक भी था। उसके हाथ में एक लेखनी थी—एक फावड़ा था। लिपिक दीवाल को धीरे-धीरे गिराने लगा। मिट्टी भीगी थी—भयभीत थी। एक अपरिचित पौरुष उसपर निरंतर लौह-प्रहार कर रहा था। वह चिल्ला भी न सकी। एक क्षण में समतल हो गई। एक मार्ग बन गया। इतिहासकार बैलों के पास पहुंचा। लाल वाला बैल—खरा पानी, अपनी बड़ी-पड़ी आंखों से उसे घूरने लगा। लेकिन इतिहासकार के पास अमोघ अस्त्र थे। बैल असहाय हो गया। उसका स्वर अधर तक आने के पहले ही कंठ में सूख गया। इतिहासकार ने उसे खूंटे से खोला। पगही उसके हाथ में थी। बैल उसके पीछे चल पड़ा। दीवाल की सीमा पर आकर बैल ने आगे बढ़ने में आनाकानी की, किन्तु तभी इतिहासकार की कठोर ताड़ना से बैल कांप उठा। उसे धरती के मनुष्य की इस नई निर्दयता पर आश्चर्य हो रहा था। आगे बढ़ने के अतिरिक्त और कोई चारा न था। वह आगे बढ़ा और दूसरे क्षण वह गांव की सीमा के पार निकल गया।

महादेव के घर में उफन रहे कुहराम का स्वर अब भी कानों में गले रांगे की तरह धंसा जा रहा है। शरीर रोमांचित है। आत्मा अज्ञात भय से सिहर रही है। चेतना कुंठित है और मैं हूं कि महादेव की बात नहीं, माटी की बात सोच रहा हूं। परिश्रम की कथा लिखे जा रहा हूं। बांह के चोरी चले जानेपर विस्मित हूं—चकित हूं।

अभी-अभी सुन आया हूं। महादेव अपना सिर धुन-धुन कर रो रहे थे—कह रहे थे—मेरा बैल नहीं, मेरा सपूत गया है। मेरी एक बांह टूट गई है।

संभावनाएं विलक्षण हो गई हैं। कल रात्रि से प्रत्येक बांह पर, प्रत्यक बैल पर, कृषक-जागरण का सजग पहरा लग जायेगा। एक कुत्ता भोंकेगा तो दस पहरेदार अपनी-अपनी लाठियां लेकर दौड़ पड़ेंगे।

लेकिन प्रभात अभी दूर है। माटी को यह दुखद समाचार अभीतक कदाचित नहीं मिला। मां ने सपूत के अपहरण-विछोह की कहानी अभीतक नहीं सुनी। धरती का धीरज अभीतक मनुष्य की आंखों द्वारा कभी निरखा-परखा नहीं गया। लेकिन आशा है कि प्रभात के समय जब मैं अपने खेतों की ओर जाऊंगा, तबतक महादेव के खेतों को यह सब ज्ञात हो चुकेगा और मैं अपनी डबडबाई आंखों के अश्रु-बिन्दु को माटी के कण-कण में अपलक निहारता रहूंगा। तब विशाल, मार्मिक एवं कठिन, क्रन्दन की आंधी में धरती का धीरज, परिश्रम की बांह के चोरी चले जाने की सत्यता पर, पीपल-पात की तरह कांप रहा होगा।

(पृष्ठ ४६३ का शेष)

प्रकृति का। यदि हम मोटे ग्रंथों की प्रदर्शनी लगा दें तो वह आभूषणों की भांति केवल दर्शनीय बन जाएंगी। उनकी सही उपयोगिता तो अध्ययन करते रहने से ही संभव है। हम स्वयं पढ़ें, दूसरों को पढ़ने दें, पुस्तक के विषय में चर्चा परिचर्चा करते रहें। स्वाध्याय की ओर अन्य मनुष्यों को प्रवृत्त करें, यह आज की सबसे बड़ी आवश्यकता है।

स्वाध्याय से पूर्ण लाभ पाने के लिए यह भी अत्यंत ही आवश्यक है कि हम योजना बनाकर पढ़ें। हम पढ़ते समय ज्यों-ज्यों ऊंची कक्षाओं की तैयारी आरंभ करते हैं, त्यों-त्यों हमें अधिक पुस्तकें, उच्च विषय-सामग्री पढ़नी पड़ती है। इसी प्रकार हमें भी क्रमेण पढ़ने की योजना बनाकर पढ़ना चाहिए, जिससे पढ़ने का पूर्ण लाभ उठाया जा सके। अपनी योजनाओं में, संस्कृति, धर्म, समाज, राजनीति, चरित्र-निर्माण, लोक-व्यवहार आदि सभी विषयों से संबंधित सामग्री रखिए। इससे आपकी रुचि पढ़ने में बनी रहेगी।

अतः आइए, !

"स्वाध्यायान्मा प्रमदः।"

(स्वाध्याय करने में प्रमाद मत करो।)

अधिक दिन जीने के लिए थोड़ा खाइये

●● गंगाप्रसाद गौड़ 'नाहर'

एक समय ईरान के बादशाह बहमन ने अपने ज़माने के एक प्रसिद्ध हकीम से पूछा, "दिन-रात में मनुष्य को कितना खाना चाहिए ?"

उत्तर मिला, "३९ तोला।"

बादशाह ने कहा, "इतने से क्या होगा ?"

हकीम बोला, "शरीर-पोषण के लिए इससे अधिक भोजन नहीं चाहिए।"

प्रमाणों से यह बात भी साबित हो चुकी है कि मिताहारी की आयु बड़ी लंबी होती है। सौलहवीं शताब्दी की लोकोक्ति थी, "दस बजे दिन को भोजन और शाम को केवल हल्का जलपान करके दस बजे रात को शयन करने के नियम का पालन करने से व्यक्ति की आयु दसगुनी बढ़ जाती है।"

एक मिताहारी व्यक्ति ब्रह्मचर्य-व्रत बड़ी आसानी से धारण कर सकता है और १०० वर्ष तक नीरोग रहकर सुखपूर्वक जीवित रह सकता है। इसी सिद्धान्त के बल पर सुप्रसिद्ध अमरीकी यंत्रकार थाम्स एडिसन ने एक बार कहा था, "मैं सौ वर्ष अवश्य जीऊंगा।" और हमारे राष्ट्रपिता महात्मा गांधी ने कहा था, "मैं १२५ वर्ष अवश्य जीऊंगा।"

एडिसन ने एक जगह यह भी लिखा है, "मैं अपने स्वास्थ्य की रक्षा संयत खान-पान द्वारा करता हूं। कुछ लोग घी के पकवान, पेस्टरी, मांस, मसालेदार और चटपटे खाद्य नाक तक ठूंस कर खाते हैं और अपने ही हाथों अपना स्वास्थ्य नष्ट कर लेते हैं।"

आयर्वेद में वाग्भट्ट मिताहार के लक्षण इस प्रकार देते हैं :—

"अन्नेन कुक्षेर्द्वविंशौ पानेनैकं प्रपूरयेत्।
आश्रयं पवनादीनां चतुर्थमवशेषयेत्।"

अर्थात्, पेट के दो हिस्से भोजन से भरो, तीसरा पानी से और चौथा अवकाश तथा वायु के लिए छोड़ दो।

महर्षि चरक ने इसी परिमाण के आहार को 'मात्राशी स्यात्' कहकर करने की आज्ञा दी है। और स्वामी रामतीर्थ ने तो इसके विपरीत अधिक भोजन करने को महापाप माना है। वह कहते हैं, "पाप और कुछ नहीं। खूब ठूंस-ठूंस कर खाना ही सबसे बड़ा पाप है।"

मिताहार के लिए भोजन-परिमाण सबके लिए एक-सा नहीं हो सकता। क्योंकि मनुष्य की प्रकृति, उसकी पाचन-शक्ति, वय, धंधा, देश, काल, तथा आवश्यकता अलग-अलग होती है। इसलिए प्रत्येक व्यक्ति को इन सारी बातों पर विचार करके ही अपना मिताहार निश्चित और निर्धारित करना चाहिए। मोटे तौर पर कहना चाहें तो कह सकते हैं कि मिताहार करनेवालों को थोड़ी भूख बाक़ी रहते ही भोजन की थाली से हाथ खींच लेना चाहिए। एक चिकित्सक का कथन है कि मिताहार के लिए नियम यह होना चाहिए कि हमारा पेट जितना भोजन बिना फैले ग्रहण कर सकता है उसका आधा ही लिया जाय। इसके लिए गर्भिणी स्त्री को उसकी गर्भावस्था भी कोई बाधा नहीं पहुंचा सकती। एक अन्य चिकित्सक का कथन है कि जो-कुछ हम खाते हैं उसके केवल चतुर्थांश से हमारे शरीर को पोषण मिलता है और शेष तीन-चौथाई डाक्टरों को पोषण देता है। यह बात स तरह भी कही जा सकती है कि थोड़ा खानेवाला भोजन को खाता है और अधिक खानेवाले को भोजन खुद खाता है।

इसी बात को अमरीका के प्रसिद्ध डाक्टर मैकफ़ेडेन यों कहते हैं :—

"आजकल साधारणतः भोजन के बहाने जितने खाद्य पदार्थों का सत्यानाश लोग करते हैं, उनके एक-चौथाई से ही उनका काम बड़ी आसानी और आराम के साथ चल सकता है। अकाल में भोजन के अभाव से जितने लोग मरते हैं, उतने ही सुकाल में अधिक और अनावश्यक भोजन करने के फलस्वरूप तरह-तरह के रोगों से पीड़ित होकर मर जाते हैं।"

एक प्राचीन कहावत के अनुसार जितने आदमी युद्ध में तलवार की घाट नहीं उतरते, उससे कहीं अधिक पेटूपन

की बदौलत मर जाते हैं।

सुलेमान का कथन है कि दुनिया में अधिक भोजन से बहुत-से लोग मृत्यु तक को प्राप्त हुए हैं, पर जो कम खाते हैं, वे अपनी आयु को लम्बी कर लेते हैं।

मसल मशहूर है :—

'रहै निरोगी जो कम खाय,
बिगरै काम न जो गम खाय।

तथा— 'कम भात में दूना बल,
अधिक भात रसातल।'

एक बार सन् १९५८ ई० में, भारतीय संसद दिल्ली में स्वास्थ्य सचिवालय की पूरक मांगों के ऊपर बहस हो रही थी। उस समय प्रधान मंत्री पं० जवाहरलाल नेहरू ने बहस में भाग लेते हुए अधिक भोजन करनेवालों की दुरवस्था की चर्चा की और बताया, "यहां एक सबसे बुरी आदत यह है कि जहां एक ओर भोजन की कमी होती है तो दूसरी ओर बहुत-से लोग ज़रूरत से ज्यादा खा जाते हैं। एकबार पश्चिमी बंगाल के मुख्य मंत्री डा० बी० सी० राय ने मुझसे कहा था कि उनके पास जो मरीज़ इलाज के लिए आते थे उनमें से ७५ से ८० प्रतिशत मरीज़ अत्यधिक भोजन से पीड़ित रहते थे।

आस्ट्रेलिया के प्रसिद्ध डाक्टर हर्न का बयान है कि मनुष्य जितना खा लेता है उसका एक तिहाई हिस्सा भी नहीं पचा सकता। बचा भोजन पेट में रहकर रक्त को विषैला बनाता है और असंख्य रोग पैदा करता है जिससे शरीर की जीवनी-शक्ति को दोहरा काम करना पड़ जाता है। एक भोजन को पचाने का काम और दूसरा आमाशय-स्थित अनावश्यक भोज्य पदार्थ-जनित विषों से शरीर को मुक्त करने का काम।

वैद्यक शास्त्र में आया है :

'ये गुणाः लंघने प्रोक्ता : ते गुणाः स्वल्पभोजने।'

अर्थात्, उपवास करने से जो लाभ होता है, वही लाभ कम खाने से भी होता है। भगवान् बुद्ध कहते हैं :

"एकबार हल्का आहार करनेवाला महात्मा है, दो बार सम्हलकर खानेवाला बुद्धिमान् और भाग्यवान् है, और इससे अधिक बेहिसाब खानेवाला व्यक्ति महामूर्ख, अभागा, और पशु का भी पशु है।"

भंक्तदास वामन के विचार से निकम्मा वह है जो पेटू है।

किंवदन्ती है कि वाग्भट्ट ने जब रोगों को जड़-मूल से नष्ट कर दिया तब रोगों ने स्वर्ग में जाकर अश्विनी कुमार से प्रार्थना की कि महाराज! अब हम कहां जायं? यह सुनकर अश्विनीकुमार बड़े चकित हुए और वाग्भट्ट की परीक्षा लेने के लिए पक्षी का रूप धारण कर उनके मकान पर बैठ कर बोले, "नीरोग कौन?"

वाग्भट्ट बोले, **"हितभुक, मितभुक"**, अर्थात्, हितकर और कम भोजन करनेवाला।

गीता (श्लोक ६।१-१७ तथा १८।५२।५२) में भगवान् कृष्ण ने भी स्पष्ट शब्दों में मिताहार की महिमा का वर्णन किया है और कहा है कि ठूस-ठूस कर खानेवाले का योग सिद्ध नहीं होता और न उसे कभी ईश्वर की ही प्राप्ति होती है।

आहार-शास्त्री हैरी बेंजमिन लिखते हैं :

"अज्ञान में मनुष्य जो बेवक़ूफ़ियां और जुर्म करता है, उनमें सबसे बड़ी बेवक़ूफ़ी और जुर्म उसका अधिक भोजन करना है।"

डा० लोएंड ने अपनी एक प्रसिद्ध पुस्तक में आयु को कम करनेवाली दस चीज़ों के नाम दिये हैं, जिनमें एक अधिक भोजन भी है।

जर्मन बौद्ध-भिक्षु श्री अनागरिक गोविन्द किसी ज़माने में जर्मनी की लड़ाई में भी शामिल थे। जर्मनी के लड़ाके सिपाही जब चारों ओर से घेर लिए गये थे और उनको जब खाद्य-सामग्री नहीं मिल रही थी, तब वे कैसे स्वस्थ और जीवित रहे, इसपर गोविन्दजी ने अपना अनुभव बतलाया है कि उन दिनों का जर्मनों को क्षुधा-संकट, शाप होकर भी उनके लिए वरदान बन गया था। स्वल्प और सादे भोजन के कारण जर्मनों का स्वास्थ्य बहुत उत्तम हो रहा था। वास्तव में महायुद्ध के पहले बहुत-से जर्मन अधिक भोजन के कारण मरते थे, इसलिए मृत्यु-संख्या भी जर्मनी की तब अधिक थी। स्वल्पाहार उनके स्वास्थ्य के लिए बहुत ही हितकर साबित हुआ। बात अजीब-सी लगती है, पर है सत्य।

एथेंस के प्रसिद्ध दार्शनिक सुकरात, संसार विख्यात डा० गोल्डस्मिथ, तथा स्वामी विवेकानन्द आदि महापुरुष बहुत कम खाते थे।

संसार के कुछ प्रसिद्ध व्यक्तियों की नामावली नीचे दी जाती है जिन्होंने केवल मिताहार की बदौलत ही लंबी-लंबी उम्रें पाई थीं।

(१) पीट्स झोर्टन—हंगरी देश का निवासी। १८५ वर्ष की उम्र में मरा। मरते दम तक सशक्त रहा।

(२) मेलेटो—अमेरिका निवासी। १८७ वर्ष की उम्र में मरा। अंत समय तक उसकी सभी इन्द्रियां अपना-अपना काम बखूबी करती रहीं।

(३) हेनरी जेनकिंस—यार्कशायर का रहनेवाला था। १६१ वर्ष की उम्र में मरा। १०० वर्ष की उम्र में भी तैर कर नदियां पार कर जाता था। वह मरते दम तक स्वस्थ रहा।

(४) जोसेफ़ रींगटन—१६० वर्ष की उम्र में मरा। ११२ वर्ष की उम्र में उसने गर्भाधान किया। मृत्यु के समय उसके सबसे बड़े लड़के की उम्र १०८ वर्ष और सबसे छोटे की ८ वर्ष थी।

(५) थोमसपार—इंगलैण्ड निवासी। १५२ वर्ष का होकर मरा। इंगलैण्ड के दस राजा इसके सामने गद्दी पर बैठे और मरे।

(६) कैथराइन काउंटेस डेसमांड—१४६ वर्ष जीवित रही। तीन बार इसके नये दांत निकले।

(७) जोनाथन हारटोप—१३६ वर्ष जीवित रहा। मृत्यु के समय ७ पुत्र और २६ पौत्र तथा १४० प्रपौत्र छोड़े।

जैसे तैल दिया बाती हो

जफ़र कपूर

सहज तभी है जीवन जीना।
हंसते-हंसते आंसू पीना॥
तेरे घर में कमी नहीं है।
मेरा घर ही कहीं नहीं है।
मैं अल्हड़ अलमस्त अगर हूं—
तेरे होठों खुशी नहीं है॥
दुःख की बाहें सुख में गहना।
हंसते-हंसते आंसू पीना॥
मेरे दुःख में तू साथी हो।
जैसे तैल दिया बाती हो।
तू जिस दिन भी मुझे पुकारे—
तेरी याद मुझे आती हो!!
सहज तभी है मिलकर चलना।
हंसते-हंसते आंसू पीना॥
एक डगर मंजिल के राही।
लेकिन उनके बीच तबाही।
ऐसे सफर न पूरा होगा—
कहीं उजाला कहीं सियाही॥
भाई का भाई से लड़ना।
बहुत बुरा है मानो कहना॥

राजनीति और धर्म

मनसुखा

मुहम्मद साहब ने राजनीति और धर्म को पूर्णतया एक बतलाया। राजनीति को धर्म का ही एक अंग या रूप माना जो विशेष कर मनुष्य के सामूहिक जीवन से संबंधित है। वह स्वयं भी तो राजा और पैगम्बर दोनों ही थे और उनके विचार में खलीफा बनने का केवल वही अधिकारी था जो धर्म में अति उत्तम और राज्य कार्य संभालने के योग्य हो। खलीफा का एक मुख्य काम राज्य-व्यवस्था और राज्य रक्षा था। जबकि होना चाहिए था धर्म प्रचार और विधर्मियों से धर्म की रक्षा।

हिन्दू राजनीतिक विचार-धारा और धर्म भी इस विचार और आदर्श से लगभग सहमत है। राजा पृथ्वी पर ईश्वर का प्रतिनिधि परंतु मुख्यतया धर्म का अवतार अर्थात् धर्म-परायण, कर्तव्यनिष्ठ, आचारवान, नीति-गुणों में सर्वश्रेष्ठ होना चाहिए वरना वह प्रजा को क्या-कैसे व्यवस्था देगा, उन्हें कैसे सत्पथ पर चलाएगा। यदि स्वयं ही चलना न जानता होगा, तो इन्द्रियलोलुप, स्वार्थी वासना का शिकार और ऐबी होगा। राजा का मुख्य काम भी रक्षा-व्यवस्था के साथ-साथ था और होना चाहिए धर्म प्रतिष्ठा और धर्म पालन। यदि राजा स्वयं इतना योग्य पंडित, पहुंचा हुआ योगी, राजा जनक की तरह मुक्त ब्रह्मनिष्ठ न हो तो भले ही किसी योग्य पुरोहित, ऋषि, मुनि, ज्ञानी को अपना गुरु बना ले, राज्य पुरोहित या प्रधान मंत्री और उसके कहने ही में चले। स्वयं केवल आज्ञाकारी मुख्य कार्य-कर्ता या व्यवस्थापक बन जाय—जैसा जोड़ा चाणक्य और चन्द्रगुप्त का था। यह हुआ राजनीति और धर्म का एक अटूट संबंध।

प्लैटो और अरिस्टोटल ने भी राजनीति और नीति-शास्त्र (पालिटिक्स्ट एण्ड मॉरल फिलासफी) को एक माना। राजनीति वह जो राज्य कार्य, मनुष्यों के सामूहिक जीवन, सार्वजनिक कार्यों, विशेष कर राजा या सरकार के काम, उनके विशेष लक्षण, गुण, धर्म, उद्देश्य और आदर्शों की चर्चा करे। परंतु है तो वह 'नीति' सामान्य नीति का ही एक अंग। हम मनुष्य के व्यक्तिगत तथा सामूहिक जीवन को पूर्णतया पृथक् नहीं कर सकते। मनुष्य एक है; उसके काम भी एक हैं भले ही वह ज्यादा उसके निजी जीवन से ताल्लुक रखते हों। 'राजा' या 'प्रजा' कार्य होने का यह मतलब नहीं कि किसी दूसरी दुनिया की बात है जहां, नीति के सर्वमान्य सिद्धान्त लागू नहीं होते। राजा को भी राजा बनने से पहले अच्छे और बुरे का विशेष ज्ञान होने की आवश्यकता है, वरना वह प्रजा को अच्छा कैसे बनाएगा। प्लैटो ने तो स्पष्ट शब्दों में कहा कि जो कोई भी राज्य सत्ता संभाले उसे दार्शनिक या ब्राह्मण होना चाहिए। उसका विशेष गुण नीति-परायण वीतराग दार्शनिक योगी होना है। बिना इन सदगुणों के कोई भी राज्याधिकारी होने के योग्य नहीं। प्लेटो इस बात में हिन्दू धर्म से पूर्णतया सहमत है।

परंतु आधुनिक काल में राजनीति और धर्म को बिलकुल अलहदा-अलहदा किया गया। धर्म तो एक निजी मामला है और राजनीति या राज्यकार्य एकदम दूसरा। सामूहिक जीवन में किसी का क्या धर्म है, क्या उसकी विशेष धर्म-संबंधी विचार-धारा राय या आचार व्यवहार है, इससे किसी दूसरे को क्या मतलब। यदि कोई स्थापित कानून का पालन करता है, चोरी, व्यभिचार, मार-धाड़ नहीं करता, न ही स्थापित राज्य-सत्ता के विरुद्ध प्रचार, तो किसीको अधिकार नहीं उसके व्यक्तिगत मामलों, विशेषकर उसके धर्म में हस्तक्षेप करे। भले ही वह किसीको वेद-कुरान माने, किसीको पूजे, में आस्था रखे या न रखे। यह हुआ धर्म कार्य में निरपेक्ष भाव। जहांतक राज्य-सत्ता के रुख का सवाल है कोई विशेष राज्य-धर्म नहीं, न ही कोई विशेष धर्म प्रचार, परंतु सब धर्मों के प्रति सम-भाव केवल सुरक्षा, सुव्यवस्था-स्थापन और जनता हितैषी नीति---यह है राज्य का मुख्य काम।

यह तबदीली क्यों हुई, जहां एक ओर आदर्श था केवल धर्म पालन और धर्म प्रचार, वहां दूसरी ओर एकदम सोलह आने धर्म की उपेक्षा। कारण बहुत प्रबल है विज्ञान की तरक्की और यातायात के साधनों में वृद्धि तथा उन्नति ने दुनिया को बहुत छोटा बना दिया है। साम्राज्य भी दूर-दूर के देशों, भिन्न-भिन्न जातियों, भिन्न-भिन्न धर्मानुयायियों को पराधीन बनाकर

स्थापित किये गये। पहले जमाने की तरह यह मुमकिन ही न रहा कि धमका कर या लोभ-लालच देकर समूचे लोगों का धर्म परिवर्तन करा लिया जाय। कारण आम लोगों की, विशेष कर यूरोप निवासियों की धर्म पर से आस्था ही उठ गयी। नैतिक तथा भौतिकवादी दार्शनिकों ने भिन्न-भिन्न मत सम्प्रदाय फैलाकर रही-सही धार्मिक श्रद्धा को भी खत्म कर दिया। विशेष कर धर्म का स्थान मानव सेवा के आदर्श ने ले लिया। धर्म के प्रति इस अश्रद्धा का मूल कारण धर्म ही है और वह सच्चा धर्म नहीं, धर्म का प्रचलित विकृत रूप है।

कौन नहीं जानता कि ईसा द्वारा प्रचलित ईसाई मजहब वह कदापि नहीं है जो मध्यकाल में पोपों का ईसाई मजहब था या आज है। क्या हमारा सच्चा सनातन धर्म वही-कुछ है जो आज का प्रचलित हिन्दू धर्म है? इस प्रश्न का उत्तर हम स्वयं दे सकते हैं। इसी तरह इस्लाम भी मुहम्मद साहब के बाद विशेष कर पहले चार खलीफाओं के पश्चात् हौले-हौले अपना शुद्ध आध्यात्मिक तत्व खोने लगा।

यदि वही कुछ धर्म है जो आज प्रचलित है तब तो धर्म निरपेक्ष-भाव ही अच्छा है। अन्ध-विश्वास, रूढ़ि, विचार-संकीर्णता, कर्मकाण्ड, साम्प्रदायिक वैमनस्य को कौन स्वीकार कर सकता है और साथ-ही-साथ बुद्धिमत्ता, निष्पक्षता या विचार-स्वातंत्र्य का दावा कर सकता है। यदि यूरोप में और अब दुनियाभर में धर्म के खिलाफ ऐसी प्रतिक्रिया हुई तो बहुत ही अच्छा हुआ। वह धर्म नहीं है, धर्म का विकृत रूप है, अधर्म है।

सच्चे सनातन धर्म का एक आवश्यक लक्षण है उसका सनातन होना इंसान, हरेक जाति, देश और काल के किये समान रूप में सम्मान्य, और श्रेयस्कर होना। जैसे ही, धर्म किसी विशेष सम्प्रदाय, जाति या लोगों का बना, समझ लो कि वह विकृत हो गया, सच्चा नहीं रहा। जैसे ही कि धर्म ने प्रचार-प्रसार के लिए तलवार का सहारा लिया, समझो कि वह कमजोर है या कमजोर पड़ गया क्योंकि सत्य को जीतने के लिए पशुबल के सहारे की जरूरत नहीं। यदि कोई सच्चा धर्म है तो वह मनुष्य को मनुष्य से अलहदा करने, होने या आपस में बैर रखने को नहीं कह सकता। जो ऐसा कहे या करे वह सच्चा धर्म नहीं। दुनिया में खुदा है या नहीं, इसमें संदेह हो सकता है, परंतु हम-सब एक हैं, इसमें सन्देह नहीं। और हमें ईसा की कही यह बात कदापि नहीं भूलनी चाहिए कि वह ईश्वर की सेवा, प्रेम क्या करेगा जो इंसान अपने भाई से नफरत करता है। सच्चे हिन्दू-धर्म ने भी कहा है कि जो हरेक प्राणी में मुझको देखता है, जो अपने ही समान हरेक आत्मा को जानता है, केवल वही देखता है, केवल वही सच्चा ज्ञानी है।

यदि हम धर्म के इस अभिप्राय को लें; जिसे गांधीजी ने नीति-धर्म कहा है तो यह तर्कसंगत है। स्वीकृत धर्म का उद्देश्य इंसान को वास्तव में इंसान बनाना है। उसे जीवन-यापन का सच्ची राह, सही तरीका बतलाना है। किस प्रकार धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष की सिद्धि है, किस प्रकार अभ्युदय निःश्रेयस दोनों सिद्ध हैं, किस तरह जीवन चरितार्थ, फलीफूत, सफल, सुखी, वास्तव में स्थायी रूप में आनन्दमय बन सकता है, बनाया जा सकता है ऐसा, उपाय और साधन बतलाता है। यह सबको स्वीकृत होना चाहिए। कोई जोर-जबरदस्ती, लोभ-लालच का सवाल नहीं होना चाहिए क्योंकि सच्चे धर्म के प्रसार व प्रचार का केवल एक तरीका है प्रेम भाव, निस्वार्थ सेवा और बुद्धि-गम्यता अर्थात् केवल सच्ची बात कहना और दूसरे की बुद्धि को अपील करना।

यदि यही धर्म है तब इसमें सन्देह नहीं रह जाता कि प्रत्येक बुद्धिमान् और स्वतंत्र विचारक प्रत्येक समाज, जाति, देश या राष्ट्र, प्रत्येक सरकार को यह मान्य होना चाहिए। यदि यही सच्चा धर्म है तब तो राजनीति और धर्म का एक अटूट संबंध हुआ क्योंकि राज्य या तो केवल किसी एक स्वार्थी वर्ग द्वारा जनता का शोषण करने की एक कुव्यवस्था मात्र है या वह समस्त जनता के हितार्थ, जनता द्वारा या उनके चुने हुए प्रतिनिधियों का जनता के लिए राज्य है। यदि राज्य केवल एक शोषण यंत्र है तब तो वह राज्य ही नहीं; चोर, लुटेरों का गुट है। यदि राज्य और वास्तव में अपने शुद्ध रूप में क्रियावान हैं तब इससे बढ़कर उसका उद्देश्य क्या हो सकता है कि वह लोगों को रोटी की सुरक्षा तो दे ही, नैक भी बनावे और सच्चा धर्म भी सिखलावें।

कसौटी पर

प्रभावशाली व्यक्तित्व——लेखक : स्वेट मार्डेन; प्रकाशक : हिन्द पाकेट बुक्स प्रा० लि०, जी० टी० रोड, शाहदरा, दिल्ली; मूल्य : एक रुपये।

स्वेट मार्डेन मनुष्य के व्यक्तित्व के निर्माण के संबंध में जो कुछ लिखते हैं वह महत्वपूर्ण ही नहीं अत्यंत उपयोगी भी होता है। सरल-सहज भाषा में वह जैसे जीवन की छिपी हुई शक्ति को मनुष्य के सामने प्रस्तुत कर देते हैं। प्रस्तुत पुस्तक में व्यक्तित्व किस प्रकार प्रभावशाली हो सकता है, इस संबंध में कुछ नियम उन्होंने बताये हैं। उनकी दृष्टि में 'आकर्षण शक्ति' के विकास का अर्थ है अपने सर्वोच्च गुणों को व्यक्त करना। लोकप्रिय आकर्षक स्त्री या पुरुष का हृदय कृपालु होता है। उसकी आत्मा उदार होती है. . .और सबसे अधिक अनाकर्षक प्रवृत्ति स्वार्थ है।'

इस एक उदाहरण से पुस्तक की विचार-धारा का पता लग सकता है। श्रीमती मोहिनी राव द्वारा किया हुआ अनुवाद सुन्दर है।

जुदाई की शाम——लेखक : रवीन्द्रनाथ ठाकुर; प्रकाशक : वही, मूल्य वही।

रवि बाबू के प्रसिद्ध उपन्यास 'शेषेर कविता' का यह अनुवाद श्री रामनाथ सुमन द्वारा प्रस्तुत किया गया है। प्रस्तुत उपन्यास में एक ऐसे प्रेम की कहानी है जो शारीरिक संबंधों से ऊपर है। वह प्रेम सरोवर की तरह प्रकृति की शोभा है, घर की नहीं। पुस्तक में उसी अपार्थिव प्रेम की कहानी मानो कविता में वर्णन की गई है। इस संबंध में मतभेद हो सकता है लेकिन पढ़ते समय हृदय में जो धड़कन मचती है उसकी वेदनामय अनुभूति से इंकार नहीं किया जा सकता।

राजकमल प्रकाशन, दरियागंज, दिल्ली की दो पुस्तकें——

गिरिजाकुमार माथुर——लेखक : डा० नगेन्द्र और कैलाश वाजपेयी, रामधारीसिंह दिनकर——लेखक : मन्मथनाथ गुप्त, मूल्य २) रु०।

आज के लोकप्रिय हिन्दी कवि माला की ये दो पुस्तक जिस उद्देश्य के लिए लिखी गई हैं उसे सन्तोषजनक रीति से पूर्ण करती हैं। अपने प्रसिद्ध कवियों से जनता को परिचित होना ही चाहिए। और वह परिचय सुन्दर रूप में प्रस्तुत किया गया है। पुस्तक आलोचनात्मक नहीं है। मूल्यांकन की दृष्टि से भी इनकी कोई अधिक उपयोगिता नहीं है। जिस दृष्टि से लिखी गई हैं, उसी दृष्टि से इन्हें आंकना चाहिए। और हम समझते हैं उस दृष्टि से ये बहुत ही उपयोगी और सफल कृतियां हैं।

युग निर्माता द्विवेदी——लेखक : कुलवन्त कोहली, प्रकाशक, बोरा एण्ड कम्पनी पब्लिशर्स प्रा० लि०, ३ राउंड बिल्डिंग, कालबा देवी रोड। बम्बई, पृष्ठ संख्या १२०, मूल्य २॥)

प्रस्तुत पुस्तक हिन्दी के महान् निर्माता श्री महावीरप्रसाद द्विवेदी के जीवन और कर्तृत्व दोनों का संक्षिप्त मूल्यांकन और अध्ययन प्रस्तुत करती है। द्विवेदीजी को समझने के लिए लेखक ने पूर्ववर्ती साहित्य का वर्णन करते हुए उनके जीवन पर भी एक दृष्टि डाली है। उसके पश्चात् उनके विभिन्न रूपों का अध्ययन प्रस्तुत किया है। लेखक ने विस्तृत विवेचन प्रस्तुत करने का दावा नहीं किया। विद्यार्थियों के लिए ही उसे लिखा है। इस दृष्टि से तो यह सफल है ही साधारण पाठक के लिए भी इसकी उपयोगिता असंदिग्ध है।

मास्टर सिलबिल——लेखक : चिरंजीत, प्रकाशक, आत्माराम एंड संज, काश्मीरी गेट, दिल्ली-६ पृ० सं० १६०, मूल्य ३) रु०।

चिरंजीत हास्य नाटक, विशेषकर रेडियो टेकनीक के हास्य नाटक लिखने में सिद्धहस्त हैं। आकाशवाणी पर

मास्टर सिलबिल की कहानी कई वर्ष तक प्रसारित होती रही है। उसने अनेकानेक श्रोताओं का मनोरंजन किया है। उसीको कहानियों के रूप में अब पाठकों के लिए भी प्रस्तुत किया गया है। इसमें कोई संदेह नहीं कि यह पाठकों का मनोरंजन करेगी। उनको हंसाएगी, गुदगुदाएगी। और हो सकता है कि लेखक की आशा के अनुसार मास्टर सिलबिल शेखचिल्ली की तरह अमर हो जाएं। उनकी कहानी किसी विशेष आयु, किसी विशेष युग के व्यक्तियों के लिए नहीं है, वह व्यक्तिमात्र के लिए है। आज के संघर्षमय युग में (इस पुस्तक की कला से मतभेद हो सकता है लेकिन) इसकी उपयोगिता और सफलता से इंकार नहीं किया जा सकता।

आधुनिक हिन्दी कहानी—लेखक : डा० लक्ष्मीनारायण लाल, प्रकाशक : हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर प्रा० लि०, हीराबाग, बम्बई-४ पृ० १२२।

डा० लक्ष्मीनारायणलाल हिन्दी कहानी के शिल्प विधान पर थीसिस लिखकर प्रसिद्धि प्राप्त कर चुके हैं। वह उन व्यक्तियों में से हैं जो अपने विषय का विस्तार से और गहराई से अध्ययन करने के बाद लेखनी उठाते हैं। स्वयं कहानी लेखक होने के नाते कहानी के मर्म को समझते हैं। प्रस्तुत पुस्तक में उन्होंने जैनेन्द्र के बाद से लेकर नई कहानी तक का अध्ययन प्रस्तुत किया है। यह अध्ययन उनकी पैनी दृष्टि और सहानुभूतिपूर्ण विश्लेषण का प्रमाण है। नई कहानी को लेकर आज जो ऊहापोह मचा है उसका उन्होंने बड़े सुन्दर रूप में समाधान किया है। कहानी के शिल्प के विकास और कथानक के ह्रास पर उनके विचारों से बहुत कम लोग असहमत होंगे। आज की नई कहानी संकेत तथा प्रतीकात्मकता, अनुभूति के क्षणों की अपूर्व कलात्मक अभिव्यक्ति और शिल्प के सौंदर्य के लिए प्रख्यात है, यह बड़ी सरलता से समझ में आ जाता है। लेखक ने नई कहानी की संक्षेप में सही लेकिन जीवंत व्याख्या की है। हमारी दृष्टि में कहानी की वर्तमान स्थिति को समझने के लिए यह पुस्तक बहुत उपयोगी है। क्या ही अच्छा होता कि अपने परिवेश में वे नई कहानी की सभी धाराओं को समेट लेते। वे धाराएं हैं अवश्य, परन्तु वह प्रयत्न इसलिए अधूरा लगता है कि उन्हें बस छुआ मात्र है। लेकिन कुछ भी हो पुस्तक बहुत सुन्दर और उपयोगी है।

अंकित होने दो—लेखक : अजितकुमार, प्रकाशक, भारतीय ज्ञान पीठ काशी, पृ० संख्या २६२, मूल्य ४) रु०।

अजितकुमार अपेक्षाकृत नये लेखक हैं। लेकिन इसी कारण उनके साहित्य में कच्चापन नहीं है। भोलापन बहुत स्पष्ट है लेकिन अनुभूति की गहराई और पकड़ की दृढ़ता बहुत शीघ्र ही पाठक पर प्रगट हो जाती है। अजितकुमार की एक विशेषता है कि उन्होंने दिन-प्रति-दिन के जीवन को लेकर परिचित व्यक्तियों और स्थितियों के बड़े आत्मीयतापूर्ण चित्र खींचे हैं। प्रस्तुत पुस्तक में कहानियां और रेखा-चित्र, कविताएं और जिन्हें लेखक 'अंकन' कहता है, सब कुछ है। पहली कहानी 'झुकी गर्दन वाला ऊंट' लेखक की प्रतीकात्मक और अनुभूतिपूर्ण शैली का सशक्त उदाहरण है। उनकी कविताओं में भी मानव मन की अंतरतम स्थितियों का बड़ा ही मार्मिक चित्रण है। अध्ययन के अतिरिक्त उनमें आत्म मंथन अर्थात् स्वयं का अध्ययन भी है। कहीं-कहीं तो वह जैसे हृदय को एक गहरी अनुभूति और उपलब्धि से भर देता है। अंकन खंड में छोटी-छोटी कविताओं की भांति छोटे-छोटे चित्र हैं। वे चित्र उतने ही अनुभूतिपूर्ण और मार्मिक हैं। अजित की भाषा सरल, सारगर्भित और मन को छूने वाली है।

कालिदास—लेखक : उदयशंकर भट्ट, प्रकाशक, आत्माराम एंड संज, पृ० सं० १२०, मूल्य २) रु०।

प्रस्तुत पुस्तक में सुप्रसिद्ध कवि और नाटककार पंडित उदयशंकर भट्ट के ३ ध्वनिरूपक कालिदास, मेघदूत और विक्रमोर्वशी संगृहीत हुए हैं। भट्टजी ने बहुत कुछ लिखा है। वह उपन्यासकार, नाटककार, कवि सभी रूपों में सफल और सशक्त हैं। पद्यरूपक लिखने में उन्हें विशेष रूप से सफलता मिली है। तीनों रूपकों की कथा विश्व प्रसिद्ध है। लेकिन लेखक ने जिस आत्मीयता और दक्षता से उन्हें प्रस्तुत किया है, वह सचमुच श्लाघ्य है।

—सुशील

क्या व कैसे ?

वर्तमान संकट और हमारा कर्त्तव्य

भारत के मंच पर चीन ने जो नाटक खेला है और अब भी खेल रहा है, उसने भारत को ही नहीं, सारे संसार को चिंतित एवं उद्विग्न कर दिया है। हिमालय भारत की दुर्लंघ्य सीमा मानी जाती रही है, पर उसपर चीन की आंख इधर कई वर्षों से रही और वह चुपचाप तैयारी करता रहा। सड़कें बनीं, अस्त्र-शस्त्र एकत्र हुए, फौजों की व्यवस्था हुई और जबकि भारत तनिक आशंका भी नहीं कर रहा था, उसने लद्दाख और नेफ़ा पर आक्रमण कर दिया। यह एक ऐसा विश्वासघात था और है, जिसकी मिसाल दुनिया के इतिहास में मुश्किल से मिलेगी। पंचशील, सह-अस्तित्व आदि के सारे बंधन चीन ने तोड़ दिये और 'चीनी-हिन्दी भाई-भाई' पर भारत की आस्था को चकनाचूर कर दिया।

इस लड़ाई का अंततोगत्वा क्या परिणाम होगा, यह कहना कठिन है। चीन की युद्ध-विराम की घोषणा और अपनी सेनाओं को पीछे हटाने के प्रस्ताव के बावजूद ऐसा जान पड़ता है कि यह संघर्ष जल्दी ही समाप्त होनेवाला नहीं है। पर इसमें संदेह नहीं कि भारत की अब आंखें खुल गई हैं और चीन जानता है कि मैदान में भारतीय फौजों का मुकाबला करना टेढ़ी खीर है।

इस युद्ध के पीछे चीन का वास्तविक हेतु क्या है, यह स्पष्ट है। चीन विस्तार चाहता है और अपने प्रभुत्व को बढ़ाकर अपनी साम्यवादी विचार-धारा को भारत में ही नहीं, सारे एशिया में प्रसारित करने का आकांक्षी है, लेकिन अपनी अदूरदर्शिता से उसने भारत को सदा के लिए खो दिया। चीन और भारत के संबंध बहुत पुराने रहे हैं और गत वर्षों में दोनों देशों के बीच बड़ा सौहार्द स्थापित हो गया था। चीनियों के लिए भारतवासियों के दिलों में गहरी आत्मीयता पैदा हो गई थी, पर चीन के शासकों ने उस आत्मीयता पर पानी फेर दिया।

इस लड़ाई से भारत को जहां भारी क्षति हुई है, वहां कई लाभ भी हुए हैं। आजादी के बाद यहां के लोगों में एक प्रकार का शैथिल्य आ गया था, पारस्परिक फूट पैदा हो गई थी, पद-प्रतिष्ठा के लिए मोह पैदा हो गया था, भ्रष्टाचार आदि व्याधियों ने सभी क्षेत्रों में अपने पैर फैला दिये थे और विभिन्न राजनैतिक दल अपनी-अपनी ढपली पर अपना-अपना राग अलाप रहे थे। इस संघर्ष ने भारत को एक-सूत्र में बांध दिया। समूचे देश से एक ही स्वर मुखरित हुआ—'चीन को हम अपनी भूमि से खदेड़ कर मानेंगे।' अमीर-गरीब सबने पैसा दिया, सोना दिया, रक्त दिया, अपनी सामर्थ्य के अनुसार जो जितना कर सकता था, उसने उतना किया, बहुतों ने तो सामर्थ्य के बाहर किया। दलगत झगड़े समाप्त हो गये, धार्मिक वैमनस्य मिट गया, भ्रष्टाचार आदि बुराइयों ने मुंह छिपा लिया। आग में तपकर जैसे सोना कंचन बन जाता है, इस परीक्षा ने भी भारत को निखार दिया।

अपनी मातृभूमि और अपनी स्वतंत्रता की सुरक्षा के लिए देशवासियों का सजग होना और सब प्रकार से सहायता देना बिल्कुल स्वाभाविक है। मातृभूमि से बढ़कर प्यारा और कुछ नहीं हो सकता और स्वतंत्रता का मूल्य तो आंका ही नहीं जा सकता।

पर स्मरण रहे कि अबतक जितना हुआ है, वह पर्याप्त नहीं है। पहली चीज़ तो यह है कि हमें अब हमेशा के लिए सावधान हो जाना चाहिए। दूसरे, प्रत्येक नागरिक को अपने कर्तव्य का पालन पूरी सच्चाई और तत्परता से करना चाहिए। युद्ध-क्षेत्र में जाकर लड़ना हर किसीके लिए संभव नहीं है, हर किसी के बस का भी नहीं है, पर अपने-अपने क्षेत्र में कसकर ईमानदारी से काम करना सब के लिए संभव है। असली लड़ाई तो नागरिकों के द्वारा ही जीती जा सकेगी। तीसरी बात यह कि अब हमें विग्रह की भावना को किसी भी रूप में प्रकट होने का अवसर नहीं देना चाहिए। चौथे, अपने जीवन में से, चाहे वह वैयक्तिक हो या सामाजिक,

सरकारी हो या गैर-सरकारी, हमें अपव्यय को एकदम रोक देना चाहिए। पांचवें, पदों का आडम्बर समाप्त हो जाना चाहिए। छठे, हिंसात्मक प्रवृत्तियों को आपत्कालीन कर्तव्य मानकर भविष्य के लिए ऐसा प्रयत्न करना चाहिए कि जिससे हिंसा के लिए गुंजाइश न रहे, अर्थात् हमें इतना आत्मिक बल सम्पादित करना चाहिए कि किसीको भी बुरी नीयत से हमारी ओर देखने का साहस न हो।

इन तथा ऐसे ही अन्य उपायों से भारत की नींव पक्की होगी। इसके लिए कोटि-कोटि भारतवासियों को कमर कस-कर जुटना होगा। इस समय हमारी कड़ी परीक्षा हो रही है, आगे के वर्षों में और भी कड़ी होगी, पर यदि हमारा विवेक बना रहा और अपने कर्तव्य के प्रति निष्ठा और उसके पालन में तत्परता बनी रही तो चीन का यह आक्रमण भारत के लिए भारी वरदान सिद्ध होगा।

राजेन्द्रबाबू दीर्घायु हों

३ दिसम्बर को हमारे मूर्द्धन्य नेता तथा भारत के भूतपूर्व राष्ट्रपति डा० राजेन्द्र प्रसाद अपने जीवन के ७८ वर्ष पूरे करके ७९वें में प्रवेश करेंगे। हम उनके दीर्घायु की कामना करते हुए प्रभु से प्रार्थना करते हैं कि वह स्वस्थ रहें और उनके परिपक्व विचारों तथा अनुभवों का लाभ देश को चिरकाल तक मिलता रहे।

राजेन्द्रबाबू का त्याग और तपस्या निस्संदेह सराहनीय है। देश की आजादी का बिगुल सुनते ही उन्होंने अपने जीवन को नई दिशा में मोड़ दिया था और तब से अबतक वह अखंड गति से सेवा के पथ पर अग्रसर हो रहे हैं। दमे से पीड़ित होते हुए भी उन्होंने कभी विश्राम की आकांक्षा नहीं की और भारी-से-भारी दायित्व को तत्परतापूर्वक उठाते रहे हैं। वस्तुतः उनका जीवन एक साधक का जीवन रहा है और आज भी है। चीन के आक्रमण से उत्पन्न उनकी व्यथा को देखकर पता चलता है कि अपना देश उन्हें कितना प्यारा है। वह भारतवासियों को बराबर आह्वान कर रहे हैं कि वे संगठित रूप में, दृढ़तापूर्वक, इस संकट का सामना करें।

राजेद्रबाबू की उपस्थिति देश के लिए बहुत बड़ा सहारा है। वह पुरानी पीढ़ी की एक मज़बूत कड़ी हैं और भारत का सच्चे अर्थों में प्रतिनिधित्व करते हैं।

उन्हें हमारे शत-शत प्रणाम।

पुण्य-स्मरण

५ दिसम्बर हमें श्रीअरविन्द और १५ दिसम्बर सरदार वल्लभभाई पटेल के विछोह का स्मरण दिलाते हैं। ये दोनों ही हमारी अनुपम विभूतियां थीं। श्रीअरविन्द की साधना ने भारत को बहुत बड़ी देन दी। योग के क्षेत्र में उनकी उपलब्धियां अद्वितीय थीं। उन्होंने मानव-जीवन को कृतार्थ बनाने के लिए दिशा-निर्देश किया। उनका साहित्य प्रेरणा का अक्षय स्रोत है और उनके विचार अंधेरे में भटकती मानव-जाति के लिए प्रकाश-पुंज हैं। योग के लक्ष्य को स्पष्ट करते हुए उन्होंने एक स्थान पर लिखा है, "योग का लक्ष्य है भागवत उपस्थिति और चेतना में प्रवेश करना और उनसे अधिकृत होना, भगवान से—एकमात्र भगवान् ही के लिए—प्रेम करना, अपनी प्रकृति को भगवान् की प्रकृति के साथ एक स्वर करना और अपने संकल्प, कार्यकलाप एवं जीवन को भगवान का यंत्र बनाना।"

इसीकी सिद्धि में उनके सारे दर्शन का सार आ जाता है। "भगवान् की ओर मुड़ना ही जीवन का एकमात्र सत्य है।" "अपने अंतःस्थ सत्य की निर्द्धारक शक्ति तो उनमें भी है, जो सबसे अधिक शक्तिहीन हैं। व्यक्ति को केवल उसका पता लगानी है, उसे निरावृत करना है तथा यात्रा और संघर्ष में उसे बराबर सबसे आगे रखना है।" श्रीअरविन्द के ये विचार सबके लिए अनुकरणीय हैं।

सरदार पटेल का क्षेत्र भिन्न था। उन जैसा खरा मानव और कुशल राजनेता आज के युग में मुश्किल से मिलेगा। आजादी की लम्बी लड़ाई में जहां उन्होंने देश में नये प्राण फूंके वहां भारत के स्वतंत्र होने के उपरान्त उन्होंने देश को एकसूत्र में पिरोया और शासन की लोकतंत्री प्रणाली के लिए स्वस्थ भूमिका तैयार की। लगभग ६०० छोटी-बड़ी रियासतों का बिना रक्तपात के समाप्त हो जाना मामूली बात नहीं थी और इसका श्रेय एकमात्र सरदार को है।

कर्मठ जीवन का वह एक ज्वलंत उदाहरण थे। वह सही मानों में कर्मवीर थे। जीवन के अंतिम क्षण तक वह कर्म-क्षेत्र में जूझते रहे।

वर्तमान युग में इन दोनों ही महापुरुषों की याद आती है। श्रीअरविन्द की इसलिए कि भारत अभी अपना अंतिम लक्ष्य निर्द्धारित नहीं कर पाया है। सरदार की इसलिए कि

इस समय की राजनीति को एक लौह-पुरुष की आवश्यकता है।

हम इन दोनों महान आत्माओं को अपनी श्रद्धांजलि अर्पित करते हैं।

शासन का अभिनंदनीय कदम

आखिर भारत सरकार ने दूरदर्शिता से काम लिया, और अंग्रेज़ी को हिन्दी की 'सखी भाषा' के रूप में अनिश्चित काल तक प्रतिष्ठित करने के विधेयक को स्थगित कर दिया। चीन के आक्रमण से आज देश में जो संकट उपस्थित हुआ है, उसे दूर करने के लिए संगठित शक्ति की अत्यन्त आवश्यकता है। आज ही क्यों, अब तो न जाने कबतक अपनी सीमा की रक्षा के लिए देश के एक और अविभाज्य रहने की ज़रूरत होगी। अतः सरकार अथवा जनता को कोई भी ऐसा काम नहीं करना चाहिए, जिससे आपस में मतभेद हो और आज की केन्द्रीभूत शक्ति विघटित हो। पाठक जानते हैं कि अंग्रेजी को असामान्य प्रतिष्ठा देनेवाले इस विधेयक ने देशभर में बड़ी बेचैनी उत्पन्न कर दी थी और हिन्दी-प्रेमी व्यक्तियों को उसके विरुद्ध स्वर और सक्रिय कदम उठाने के लिए बाध्य कर दिया था।

भाषा का प्रश्न महत्वपूर्ण होते हुए भी ऐसा नहीं है कि उसके लिए देश की एकता को खंडित किया जाय। इस समय देश को जिस प्रकार की असामान्य परिस्थिति का सामना करना पड़ रहा है, उससे अब हमारे शासकों को सावधान हो जाना चाहिए। हिन्दी को पूरा पोषण मिलना चाहिए। उसके भंडार की वृद्धि के लिए तेज़ी से प्रयत्न होना बहुत ही आवश्यक है।

अंग्रेज़ी-संबंधी विधेयक को स्थगित करने के लिए हम अपने शासन का अभिनंदन करते हैं और आशा करते हैं कि देश की एकता की जो प्रक्रिया आरंभ हुई है, वह अबाध गति से आगे बढ़ेगी और इसमें शासन तथा जनता, दोनों का पूरा योग होगा।

दो मनीषियों का निधन

४ नवम्बर १९६२ को हमने महात्मा भगवानदीनजी को खो दिया और उसके चार दिन बाद ही अर्थात् ८ नवम्बर को आचार्य कर्वे हमसे छिन गये। महात्मा भगवानदीनजी का जीवन अनेक गुणों से विभूषित था। वह मौलिक विचारक, निर्भीक वक्ता, शिक्षा-विशेषज्ञ तथा भाषा-शास्त्री थे। किशोरावस्था में नौकरी छोड़कर उन्होंने सेवा का व्रत लिया तो ऐसा लिया कि फिर पीछे मुड़कर नहीं देखा और अपने अंगीकृत मार्ग पर निरंतर आगे बढ़ते गये। हस्तिनापुर का ब्रह्मचर्याश्रम, नागपुर का झंडा सत्याग्रह आदि बीसियों ऐसी प्रवृत्तियां हैं, जो उनकी स्मृति को सदा बनाये रक्खेंगी। महात्माजी की सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि वह अपने प्रति सदा सच्चे रहे। जो उन्हें ठीक लगा, उसे कहने से कभी नहीं चूके, भले ही उससे किसीको चोट क्यों न लगी और जो करने की एक बार ठान ली, वह किया ही, भले ही उसमें भारी-से-भारी रुकावटें क्यों न आईं।

महात्माजी पर एक-के-बाद-एक अनेक संकट आये। उनकी पत्नी की मृत्यु हुई, भरी जवानी में उनका लड़का चला गया, पर महात्माजी के चेहरे पर शिकन तक नहीं आई। दमा उनका हर घड़ी का साथी था, पर वह उनकी तेजस्विता को तनिक भी कम नहीं कर सका। १९ अक्तूबर को जब हम उनसे नागपुर में अंतिम बार मिले तो दमे का कष्ट होते हुए भी उनका चैतन्य और ओज यथापूर्व बना हुआ था और स्वप्न में भी यह नहीं सोचा जा सकता था कि उनसे इतनी जल्दी बिछोह हो जायगा।

मृत्यु के समय उनकी अवस्था लगभग ८० वर्ष की थी, पर उनका जोश युवकों को भी लज्जित करनेवाला था।

आचार्य कर्वे अपने जीवन के १०४ वसंत देखकर गये। भारत को अपने इस मनीषी पर गर्व था। उनकी सेवाओं के उपलक्ष्य में भारत-सरकार ने उन्हें 'भारत-रत्न' की उपाधि से सम्मानित किया था।

महर्षि कर्वे की सेवाएं बहुमुखी थीं, पर स्त्री-शिक्षा के लिए उन्होंने जो कुछ किया, वह उनकी निराली देन थी। नारी-समाज को अशिक्षित रख कर हमारा देश उन्नति नहीं कर सकता था, यह बात कर्वे महोदय ने उस समय देखी, जब कि स्त्री-शिक्षा नहीं के बराबर थी और नारी-समाज को भांति-भांति की सामाजिक निर्योग्यताओं का शिकार होना पड़ता था। महर्षि कर्वे ने स्त्रियों के अभ्युदय को अपने जीवन का ध्येय बनाया और समाज के विरोध तथा आर्थिक संकटों की चिन्ता न करके उन्होंने सामाजिक रूढ़ियों के चंगुल से स्त्रियों को निकालने का प्रयत्न किया और उनकी शिक्षा की विधिवत् व्यवस्था करके दूसरों के लिए आदर्श उपस्थित किया।

हमें दो बार पूना में उनके दर्शन करने का सौभाग्य मिला था। हमनें उन्हें बच्चों की भांति निश्छल और आनंद से छलछलाते पाया। १०४ वर्ष की अवस्था में भी उनके कानों की श्रवण-शक्ति और उनकी आंखों की ज्योति मंद नहीं पड़ी थी और उनकी उन्मुक्त हँसी का स्मरण कर के तो आज भी चित्त गद्गद हो जाता है।

यह शरीर नश्वर है। जो जन्म लेता है, उसे एक-न-एक दिन जाना ही पड़ता है, पर जो दूसरों के लिए जीते हैं, वे जाते समय बहुतों के दिलों में दर्द छोड़ जाते हैं। महात्मा भगवानदीनजी और आचार्य कर्वे का निधन विशेष रूप से इसलिए अखर रहा है कि आज इन जैसे त्यागी तथा सेवाव्रती व्यक्तियों की अत्यन्त आवश्यकता है।

हम दोनों आत्माओं को अपनी श्रद्धांजलि अर्पित करते हुए कामना करते हैं कि उनकी जीवन-साधना देशवासियों को सदा स्फूर्ति प्रदान करती रहे।

'जीवन-साहित्य' का वर्ष

इस मास से 'जीवन-साहित्य' का तेईसवां वर्ष पूरा होता है अगले अंक से वह चौबीसवें वर्ष में प्रवेश करेगा। इस अवसर पर हम अपने लेखक, पाठक तथा ग्राहक बंधुओं का हृदय से आभार मानते हैं। कोई भी पत्र बिना इस त्रयी के सहयोग के नहीं चल सकता। लेखक पत्र को आत्मा प्रश्न करते हैं, पाठक उसको सार्थक बनाते हैं, और ग्राहक उसे जीने का सहारा देते हैं। हमें बड़ा हर्ष है कि पत्र को तीनों की ही सहायता मिली है। हम आशा करते हैं कि आगे भी उसे इसी प्रकार सहायता मिलती रहेगी।

पत्र से जो-कुछ सेवा बन सकती है, करता रहता है; लेकिन इससे उसे संतोष नहीं है। वह अपने क्षेत्र को और व्यापक बनाना चाहता है। पर उसके पृष्ठ और साधन बहुत ही सीमित हैं। इतने वर्ष से निकलने पर आज भी उसमें थोड़ा-बहुत घाटा रहता है। यदि वह अपने पृष्ठ बढ़ाये तो उसका घाटा और भी बढ़ जायगा। यदि हमारे ग्राहक तथा अन्य हितैषी अपने-अपने क्षेत्रों में कुछ ग्राहक बना दें तो सहज ही उसके घाटे की पूर्ति हो सकती है और उसे विकास का अवसर मिल सकता है।

हम पत्र के प्रेमियों से पुनः अनुरोध करते हैं कि उनमें से हरेक नये वर्ष में कम-से-कम पांच ग्राहक अवश्य बनादें और पच्चीस एसे संभावित ग्राहकों के पते भेज दें, जिनसे हम ग्राहक बनने के लिए पत्र-व्यवहार कर सकें।

पत्र का आगामी विशेषांक हम अप्रैल में प्रकाशित करने का विचार कर रहे हैं। अपने अन्य विशेषांकों की भांति यह विशेषांक भी किसी लोकोपयोगी विषय पर निकलेगा और सौ पृष्ठों का होगा। उसकी सूचना हम आगामी अंक में देंगे।

●

हिमाद्रि तुंग श्रृंग से
प्रबुद्ध शुद्ध भारती
स्वयं प्रभा समुज्ज्वला
स्वतंत्रता पुकारती।
अमर्त्य वीर पुत्र हो, दृढ़ प्रतिज्ञ सोच लो,
प्रशस्त पुण्य पंथ है, बढ़े चले, बढ़े चलो।

—जयशंकर 'प्रसाद'

●

'मंडल' की ओर से

सत्साहित्य को प्रोत्साहन

'मंडल' को अपनी शुभकामनाएं भेजते हुए हमारे प्रधान मंत्री पं० जवाहरलाल नेहरू ने कुछ समय पूर्व लिखा था, "'मंडल' ने हिन्दी की अच्छी सेवा की है। लेकिन अब समय तेजी से आगे बढ़ने का आया है। मैं आशा करता हूं कि राष्ट्र-भाषा के फैलाने में और हिन्दी-साहित्य की उन्नति में यह 'मंडल' और जोरों से काम करेगा।"

देश की वर्तमान संकटकालीन स्थिति ने काम की गति को और अधिक तीव्र करने की आवश्यकता उत्पन्न कर दी है। लेकिन पुस्तकों का उत्पादन सार्थक हो, इसके लिए जरूरी है कि उनका व्यापक प्रचार और प्रसार भी हो। दुर्भाग्य से हिन्दी में खरीद कर पुस्तक पढ़ने की परिपाटी अभी नहीं के बराबर है। जिनके साधन सीमित हैं, वे सिनेमा, नाटक, आदि में पैसा खर्च करने में नहीं हिचकते, पर पुस्तक लेने में आर्थिक कठिनाई को ढाल बना लेते हैं। जिनके पास साधन हैं, वे या तो पुस्तक खरीदते नहीं। यदि खरीदते हैं तो अंग्रेजी की। बाईस करोड़ व्यक्तियों की भाषा होते हुए भी हिन्दी की बहुत कम आम पुस्तकें हजारों की संख्या में छपती हैं, लाखों की तो बात ही दूर रही।

राष्ट्रभाषा के लिए यह स्थिति शुभ नहीं है। हम आशा करते हैं कि देश के बहुमुखी अभ्युदय के प्रयास की इस घड़ी में सत्साहित्य को भी उचित प्रोत्साहन मिलेगा।

'मंडल' ने अबतक लगभग छः सौ पुस्तकें निकाली हैं, जिनमें से कोई पांच सौ प्राप्य हैं। उनमें सभी विषयों के प्रकाशन हैं। आगे और भी प्रकाशन हो रहे हैं।

हिन्दी-प्रेमियों से हमारा अनुरोध है कि वे 'मंडल' के स्वस्थ, सात्विक तथा प्रेरणादायक साहित्य को घर-घर पहुंचाने में सहायता देने की कृपा करें। जीवन में क्रांति के लिए विचारों की क्रांति आवश्यक है और विचारों की क्रांति के लिए उत्तम साहित्य का अध्ययन बहुत जरूरी है।

वर्तमान संकट और हमारी विनम्र सेवाएं

चीन के हमले से हमारे देश में जो संकट पैदा हुआ है, उसने देशवासियों में गहरी भावना का उदय किया है। लोग भरसक सहायता दे रहे हैं। 'मंडल' के कर्मचारियों ने अपना एक दिन का वेतन दिया है। 'मंडल' ने नेफा तथा लद्दाख में सैनिकों के पढ़ने के लिए बहुत-सी पुस्तकें दी हैं। 'मंडल' में सेना के एक रिजर्विस्ट काम करते हैं। वह सरकार के बुलावे पर युद्ध-प्रयास में सहायता देने के लिए चले गये हैं। इसके अतिरिक्त नागरिक सुरक्षा से संबंधित दो पुस्तकें 'मंडल' ने निकाली हैं: (१) जान बचाने के तरीके, (२) आग से रक्षा। ये दोनों ही पुस्तक अपने-अपने विषय के बड़े महत्वपूर्ण प्रकाशन हैं और प्रत्येक नागरिक के लिए लाभदायक हैं। और भी कुछ पुस्तक निकालने की योजना है।

गांधी डायरी

१९६३ की गांधी डायरी के बारे में हमें सूचना देते हुए हर्ष होता है कि बड़ी डायरी समाप्त हो गई, छोटी डायरी की कुछ प्रतियां अभी शेष हैं। मांग को देखते हुए वे भी शीघ्र ही निकल जायंगी। अतः जिन्हें छोटी डायरी की आवश्यकता हो वे अपनी मांग तत्काल भेज दें, अन्यथा हमें खेदपूर्वक उन्हें निराश करना पड़ेगा। छोटी डायरी का मूल्य १।) है।

—मंत्री